श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ
साहित्य रत्नमाला का ५३ वां रत्न

तीर्थंकर चरित्र

भाग २

लेखक

रतनलाल डोशी

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन
संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर
शाखा - नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राज)

द्रव्य सहायक

उदारमना जिनशासन प्रेमी सुश्रावक, जामनगर (सौराष्ट्र)

प्राप्ति स्थान

१ श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन सस्कृति रक्षक सघ जोधपुर (राज)
२ शाखा-श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन सस्कृति रक्षक सघ, ब्यावर
३ श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पा बॉ न २२१७ बम्बई-२
४ श्रीमान् भवरलालजी बाठिया न ९ पुलियान ताप हाईरोड मद्रास-१२
५ श्रीमान् हस्तीमलजी किशनलालजी जैन ६७ बालाजीपेठ, जलगाव-१
६ श्री एच आर. डाशी जी-३९ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६ ✆ ३२३३५२१
७ श्री अशोकजी एस छाजेड १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद-२२ ✆ ५४६१२३४
८ श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
९ श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सागानेरी गेट, भीलवाडा
१० श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगज, इन्दौर (म प्र)

मूल्य : ५५-००

पाचवीं आवृत्ति
१०७०

वीर सवत् २५२६
विक्रम सवत् २०५७
सितम्बर २०००

मुद्रक - स्वास्तिक ऑफसेट प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर
✆ ४२३२९५, ४२७१३७

प्रथमावृत्ति का -

प्रासंगिक निवेदन

प्रथम भाग के बाद अब दूसरा भाग उपस्थित है। इसम भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी भगवान् नमिनाथ स्वामी और बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमिजी, ऐसे तीन तीर्थंकर भगवतों का चक्रवर्ती महापद्म, हरिसेन और जयसेन तथा आठवें नौवें वासुदेव-बलदेव के चरित्रो का समावेश हुआ हे। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के धर्म-शासन मे आठवे वासुदेव-बलदेव हुए। इनका चरित्र बडा है। सारी रामायण इनसे सम्बन्धित है। भगवान् अरिष्टनेमिजी के चरित्र के साथ पाण्डवा और श्रीकृष्ण वासुदेव तथा महाभारत युद्ध का सम्बन्ध है । यह चरित्र उससे भी विशाल है । सम्यग्दर्शन वर्ष १७ अक १२ दि. २०-६-६६ से लगा कर वर्ष २४ अक ८ दिनाक २०-४-७३तक की लेखमाला इसमें समाविष्ट है।

पहले विचार था कि भगवान् अरिष्टनेमिजी का चरित्र पृथक् तीसरे भाग में दिया जाय, परतु भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी और भगवान् नमिनाथजी का चरित्र २४८ पृष्ठ में ही पूरा हो जाने के कारण और बाइडिग आदि के खर्चे की बचत देखकर वर्त्तमान रूप दिया गया है । अब अतिम-तीसरे भाग के लिए अतिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और भगवान् पार्श्वनाथस्वामी तथा चरम तीर्थकर श्रमण भगवान् महावीर प्रभु का चरित्र रहेगा ।

प्रथम भाग मे ही मैं बता चुका हूँ कि इसमें लिखा हुआ चरित्र सर्वथा प्रामाणिक नहीं है। इस दूसरे भाग में भी ऐसे स्थान होगे जो आगम-विधान से भिन्नता रखते हों। यह एक अभाव की पूर्ति है। इसमें जा बात सिध्दात से विपरीत हो, उसका सुधार होकर शुद्ध होना आवश्यक है। यह ग्रथ मैंने मुख्यत त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के आधार पर लिखा है। इसे सशोधन करने और प्रूफ देखने वाला भी दूसरा कोई नहीं मिला। इसलिये भूलें रहना स्वाभाविक ही है।

धर्म प्रचार और ज्ञान वर्धन की दृष्टि से सघ की ओर से धर्म-साहित्य का प्रकाशन होता है। यह ग्रथ सघ द्वारा प्रकाशित सस्कृति रक्षक साहित्य-रत्नमाला का ५३ वा रत्न है। धर्मप्रिय उदार महानुभावों की सहायता से स्वल्प मूल्य में साहित्य दिया जाता है। तदनुसार इस ग्रथ का मूल्य भी लागत से कम ही रक्खा है। आशा है कि धर्मप्रिय पाठक अवश्य लाभान्वित होगे ।

सैलाना (म प्र) — रतनलाल डोशी

दिनाक १-३-७६

निवेदन

जैन दर्शन का उद्गम देव तत्त्व मे है। हमारे नमस्कार मत्र म प्रथम के दो पद अरिहत एव सिद्ध, देव पद के अतर्गत है। इसमें सिद्ध प्रभु तो अपने समस्त कार्य सिद्ध करके सिद्ध अवस्था म विराजमान है। अरिहत यानी तीर्थंकर प्रभु यद्यपि भरत एरवत क्षेत्र की अपेक्षा अभी हमारे यहाँ विद्यमान नहीं है फिर भी उन्हीं के द्वारा वपन किया हुआ जिनवाणी का बीज परम्परा से प्रभावित होता हुआ हमारे तक पहुँचा है। अतएव हमारे लिए व महापुरुष धर्म के आद्य प्ररूपक उपदेशक एव मार्गदर्शक है। इन महान् पुरुषो द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करके भूतकाल मे अनत जीव अपना आत्म-कल्याण कर गये, वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनेक जीव अपना आत्म-कल्याण कर रहे हैं एव भरत ऐरवत की अपेक्षा कई जीव आत्म-उत्थान की ओर अग्रसर हैं। भविष्य मे भी इसी मार्ग का अनुसरण करके अनत जीव अपना आत्म-कल्याण करेगे। ऐसे परमोपकारी तीर्थंकर भगवतो के उत्थान का क्रम पूर्वभवो का वर्णन, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन, तीर्थंकरभव के चारित्र पालन एव उनके द्वारा उपदेशित वाणी आदि को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक धर्मानुरागी उपासक की रहती है।

हमारे भरत क्षत्र म वर्तमान अवसर्पिणी काल में हुए २४ तीर्थंकर भगवतो का व्यवस्थित जीवन चारित्र हिन्दी भाषा में उपलब्ध नहीं था। इस अभाव की पूर्ति समाज के जाने माने विद्वान् साहित्यकार श्रीमान् रतनलाल जी सा. डोशी ने हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के आधार पर तैयार करके की। इस ग्रथ में आपने तीर्थंकरो भगवन्तो की जीवनी के साथ किस-किस तीर्थंकर के समय अन्य कौन-कौन से श्लाघनीय पुरुष जैसे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव हुए उनके चरित्र का भी इसम समावेश कर इसे विशेष उपयोगी बनाया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि इसका मुख्य आधार त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र है। फिर भी जहाँ कहीं भी त्रि० श० पु० चरित्र एव आगमिक विधान पर भेद दिखाई दिया वहाँ आदरणीय डोशी जी सा ने आगमिक विधानो को स्थान द कर ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने की कोशिश की है। इस कारण यह ग्रन्थ चरित्र के साथ आगमिक दृष्टि से भी काफी प्रामाणिक है।

ग्रन्थ के इस प्रथम भाग मे १९ तीर्थंकर भगवन्तो, ८ चक्रवर्तियो, ७ बलदेवो वासुदेवों एव प्रतिवासुदेवों के चरित्र समाविष्ट है। इसके अलावा प्रसगोपात इसमे अन्य सबधित चरित्र का भी समावेश है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्मकथानुयोग का विषय होने के साथ ही इसकी भाषा एक दम सरल एव सुपाठ्य है जिससे सामान्य पाठको को इस पढ़ने समझने में किसी प्रकार की कठिनाई की अनुभूति नहीं होती है फलत धर्मानुरागी बन्धु इसका खूब लाभ उठा रह है। इसकी उपयोगिता का अंकन इसी से लगाया जा सकता है कि इसके चार संस्करण जो पूर्व में प्रकाशित हुए वे समाप्त हो गये। परिणाम स्वरूप यह छठा संशोधित संस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। संघ के नियमानुसार तीर्थंकर चरित्र का विक्रय पूरे सेट के रूप में ही किया जायेगा।

बढ़ती हुई महगाई के कारण कागज, प्रिंटिग, बाईडिंग एवं कार्यालय खर्च आदि में काफी बढ़ोत्तरी हुई है किन्तु जामनगर (सौराष्ट्र) के एक उदारमना जिनशासन प्रेमी क अर्थ सहयोग से मूल्य वृद्धि न करके पूर्ववत् ही इसका मूल्य रखा गया है। आशा है धर्मानुरागी पाठक इससे ज्यादा से ज्यादा लाभान्वित होगे।

ब्यावर (राज.)
१५ सितम्बर २०००

विनीत
नेमीचन्द बाठिया, उपाध्यक्ष
श्री अ भा. सुधर्म जैन सस्कृति रक्षक सघ, जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी

तीर्थंकर-चरित्र

भ० मुनिसुव्रत स्वामी

पूर्वभव

इस जम्बूद्वीप के अपर-महाविदेह स्थित 'भरत' नाम के विजय में 'चम्पा' नाम की एक विशाल नगरी थी। सूरश्रेष्ठ नाम का श्रेष्ठ राजा राज्याधिपति था। वह दानवीर, रणवीर, आचारवीर और धर्मवीर था। उनके श्रेष्ठ पराक्रम से प्रभावित होकर अन्य सभी राजा उसके सामने झुकते थे। एकदा नन्दन नाम के श्रमण-श्रेष्ठ चम्पा नगरी के उद्यान में पधारे। वन्दना-नमस्कार करके धर्मोपदेश का श्रवण किया। राजा का उत्थान-काल आ गया था। वह विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया और उत्तर रीति से चारित्र का पालन कर तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर के, प्राणत नामक दसवें स्वर्ग मे गया। स्वर्ग से च्यव कर वह हरिवश में उत्पन्न हुआ।

प्रसगोपात हरिवश की उत्पत्ति बतलाई जाती है।

हरिवंश की उत्पत्ति

कौशाम्बी नगरी में सुमुख नाम का राजा शासन कर रहा था। वह पराक्रमी स्वरूपवान और तेजस्वी था। एक बार बसतोत्सव मनाने के लिए वह हाथी पर सवार होकर, नगरी के मध्य में होता हुआ उद्यान की ओर जा रहा था। मार्ग में वीरकुविद नामक जुलाहे की पत्नी वनमाला पर राजा की दृष्टि पडी। वह अत्यन्त सुन्दर थी। उसका मोहक रूप देख कर राजा आसक्त हो गया। उसका मन चचल हो गया। प्रधान-मन्त्री सुमति भी राजा के साथ था। उसने राजा का चेहरा देखकर मनोभाव जान लिया।

मत्री ने राजा से पूछा-"स्वामिन्! आप किन विचारा में खो गये हैं ? आपके हृदय में कुछ उद्वेग है? इस उल्लास एव विनोद के अवसर पर आपके चितित होने का क्या कारण हैं ?"

"सखे! उस रूप सुन्दरी ने मेरा मन चुरा लिया है। ऐसी अनुपम सुन्दरी मैंने अब तक नहीं देखी। जब तक यह कामिनी मुझे नहीं मिले, तब तक मेरा मन स्वस्थ नहीं रह सकता। तुम उसे अन्त पुर में पहुँचाने का यत्न करो।"

"स्वामिन्! मैंने उस सुन्दरी को देखा है। यह जुलाहे की पत्नी है। मैं उसे अन्त पुर में पहुँचाने का यत्न करूँगा। आप निश्चिन्त होकर उत्सव मनावें।"

मन्त्री ने 'आत्रेयी' नाम की परिव्राजिका को बुलाई। वह बडी चतुर और विदुषी थी। गृहस्थों के घरों मे उसकी पहुँच थी। वह सम्पन्न एव समृद्धजनो के लिए दूती (कुटनी) का काम भी करती थी। मन्त्री ने आत्रेयी को बुला कर राजा का काम बतलाया। आत्रेयी वनमाला के पास पहुँची और कहने लगी, -"वत्से! मैं देखती हूँ कि तुझ पर बसत की बहार नहीं है। तेरा चाँद-सा मुखडा मुरझा रहा है। बोल बिटिया! तुझे किस बात का दु ख है?"

"माता! मेरे दु ख की कोई दवा नहीं हो सकती। मेरा मन बहुत पापी है। यह धरती का कीड़ा होते हुए भी आकाश के चाद को प्राप्त करना चाहता है। असभव इच्छा कभी पूरी नहीं होती, फिर भी निरकुश मन व्यर्थ ही आशा क भँवर में पड़ा हुआ है। यह दुष्ट मन मानता ही नहीं। मैं क्या करूँ?"

"बेटी! तू अपने मन की बात कह। मैं तेरी इच्छा पूरी करन का जी-जान से प्रयत्न करूँगी"—आत्रेयी ने विश्वास दिलाया।

"माता! मैं किस मुँह से मन का भेद खोलूँ? मेरी हीन-जाति और हीन-स्थिति, मेरा भेद नहीं खोलने देती। फिर भी आपकी शक्ति पर मुझे विश्वास है, इसलिए मन का भेद खोलती हूँ।"

"देवी! इस बसत ने मर मन में आग लगा दी। ज्योंही महाराजा के दर्शन हुए, त्योंही मेरा मन निरकुश हो गया। महाराजा ने मेरा मन हरण कर लिया। अब मैं क्या करूँ?"

"पुत्री! तेरा दु ख साधारण नहीं है। महाराजाधिराज से तेरा सम्बन्ध मिलाना असभव है। फिर भी तेरा दुःख मुझ-से देखा नहीं जाता। इसलिए तेरे उपकार के लिए मैं देव की आराधना करके वशीकरणमन्त्र से राजा को वश में करूँगी। मैं जाती हूँ, साधना करके राजा का मन तेरी ओर कर दूँगी। तू मुझ पर विश्वास करके चिन्ता छोड़ दे। मैं आज रात भर साधना करके कल तुझे राजा के महल में पहुँचा दूँगी। तू तैयार रहना।"

इस प्रकार आश्वासन दकर आत्रेयी मन्त्री के पास आई और स्थिति समझाई। मन्त्री ने राजा से निवेदन कर विश्वस्त बनाया। दूसर दिन आत्रेयी ने वनमाला के पास जाकर अपनी साधना की सफलता के समाचार सुनाये और उसे साथ ले कर अन्त पुर में पहुँचा आई। वनमाला के साथ राजा कामक्रीड़ा करने लगा। वीरकुविंद बुनकर ने घर आकर पत्नी को नहीं देखा तो इधर-उधर खोजने का प्रयत्न

किया। जब वह कहीं भी नहीं मिली, तो वह उद्विग्न हो उठा। उसकी दशा विक्षिप्त जैसी हो गई। वह गली-गली घूमता और वनमाला को पुकारता हुआ भटकने लगा। उसके कपडे फट गए, बाल बढ गए, सारा शरीर धूल मलिन हो गया। उसकी दशा ही बिगड गई। उसे पागल समझ कर चिढाने के लिए बालकों का झुण्ड पीछे लग गया। एक बार वह वनमाला का रटन करता हुआ और दर्शको से घिरा हुआ राजमहल के निकट आ गया। कोलाहल सुन कर राजा और वनमाला खिडकी में आ कर देखने लगे। वीरकुविद पर दृष्टि पडते ही राजा और वनमाला स्तब्ध रह गए। उन दोनों के मन में ग्लानि भर गई। वे सोचने लगे, -

"हम कितने नीच हैं। हमने काम क वश हो कर दुराचार किया और इस बिचारे का जीवन बरबाद कर दिया। हम कितने पापी हैं। हमारे जैसा विश्वासघाती, निर्दयी, ठग और कौन होगा ? धिक्कार है हमारे जीवन और पापाचरण को और धन्य है,उन महापुरुषों को कि जो पापकर्मो का त्याग कर क धर्म का आचरण करते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करके कामरूपी कीचड से पृथक् रहते हैं इस प्रकार पश्चात्ताप कर रहे थे कि आकाश से बिजली गिरी और राजा तथा वनमाला दोनो मृत्यु को प्राप्त हो गए। पश्चात्ताप करत हुए शुभ भावों में मर कर वे दानो हरिवर्ष क्षेत्र म युगल मनुष्य के रूप में जन्मे। माता-पिता ने पुत्र का नाम 'हरि' और पुत्री का नाम 'हरिणी' रखा। पूर्व स्नेह के कारण दोनो सुखोपभोग करने लगे।

राजा और वनमाला की मृत्यु का हाल जान कर वीरकुविद स्वस्थ हुआ और अज्ञान तप करने लगा। बाल-तप क प्रभाव से वह प्रथम स्वर्ग में किल्विषी देव हुआ। अपने विभगज्ञान से उसने हरि और हरिणी को देखा। उन्हे सुखोपभोग करते देख कर उसका क्रोध भडक उठा। वह तत्काल हरिवर्ष क्षेत्र में आया और उन युगल दम्पत्ति को नष्ट करने का विचार करने लगा। किन्तु उसे विचार हुआ कि- 'इनकी आयु परिपूर्ण है। यदि यहा मरे, तो स्वर्ग मे उत्पन्न हो कर सुखभोग ही करेंगे।' इससे मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। मैं इन्हें दु खी देखना चाहता हूँ। इसलिये ऐसा उपाय करूँ कि ये यहाँ से मर कर नरक में उत्पन्न होकर दु खी बने । इस प्रकार विचार करके उस देव ने उस युगल का अपहरण किया, साथ में कल्पवृक्ष भी ले लिये और उन्हें इस भरत क्षेत्र की चम्पापुरी में लाया । उस समय वहा का इक्ष्वाकु वश का चन्द्रकीर्ति राजा, नि सतान मर गया था । राज्य के मन्त्रीगण राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न पर विचार कर रहे थे । उस समय वह देव उनके सामने आकाश में प्रकट हो कर बोला -

"प्रधानों और सामन्तो! तुम राज्याधिकारी के लिए चिन्ता कर रहे हो । मैं तुम्हारी चिन्ता दूर करने के लिए एक योग्य मनुष्य को भागभूमि से लाया हूँ । वह 'हरि' नाम का मनुष्य तुम्हारा राजा और हरिणी रानी होगी । उनके खाने के लिए मैं कल्पवृक्ष भी लाया हूँ । यह युगल तुम्हारे यहा का

अन्न नहीं खाएगा । इनके लिए इन वृक्षों के फल ही ठीक रहेंगे । इन फलों के साथ इन्हें पशु-पक्षियों का मांस भी खिलाया करना और मदिरा भी पिलाना । इससे ये संतुष्ट रहेंगे और तुम्हारा राज्य यथेच्छ चलता रहेगा ।"

युगल को मांस-भक्षी और मदिरा-पान करने वाला बना कर -उनको पतन के गर्त मे गिरा कर, नरक मे भेजने का देव का उद्देश्य था । इसलिए वह ऐसी व्यवस्था कर के चला गया । देव के उपरोक्त वचनो का मन्त्रियों और सामन्तों ने आदर किया । उन्होंने उस युगल को रथ में बिठा कर उपवन में से राज्यभवन में लाये और हरि का राज्याभिषेक किया○।

यह हरि राजा, भगवान् शीतलनाथ स्वामी के तीर्थ में हुआ। इसने अनेक राज-कन्याओं के साथ लग्न किया । इससे उत्पन्न सन्तान 'हरिवंश' के नाम से विख्यात हुई । इस अवसर्पिणी काल की यह आश्चर्यकारी घटना है ।

कालान्तर मे उस राजा के हरिणी रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'पृथ्वीपति' था । अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उपार्जन कर के हरि और हरिणी नरक में गये । हरि का पुत्र पृथ्वीपति राज्य का स्वामी हुआ । चिरकाल तक राज्य का संचालन करने के बाद में वह विरक्त हो गया और तप-संयम की आराधना कर के स्वर्ग मे गया । पृथ्वीपति का उत्तराधिकारी महागिरी हुआ । वह भी राज्य का पालन कर प्रव्रजित हो गया और तप-संयम की आराधना कर के मोक्ष प्राप्त हुआ । इस वंश में कई राजा त्याग मार्ग का अनुसरण करके मोक्ष में गये और कई स्वर्ग में गए।

तीर्थंकर का जन्म और मोक्ष

मगधदेश में राजगृही नाम का नगर था । हरिवंश में उत्पन्न सुमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था । वह नीतिवान्, न्याय-परायण, प्रबल पराक्रमी और जिनधर्म का अनुयायी था । महारानी पद्मावती उसकी अर्द्धांगना थी । वह भी उत्तम कुलोत्पन्न सुशीलवती, उत्तम महिलाओं के गुणों से युक्त और रूप-लावण्य से अनुपम थी । राजा-रानी का भोग जीवन सुखमय व्यतीत हो रहा था ।

सुरश्रेष्ठ मुनिराज का जीव, प्राणत कल्प का अपना आयुष्य पूर्ण कर के श्रावण-शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि को श्रवण नक्षत्र के योग में महारानी पद्मावती के गर्भ में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-कृष्णा अष्टमी की रात को श्रवण-नक्षत्र वर्तते पुत्ररत्न का जन्म हुआ, दिशाकुमारियों ने सूति-कर्म किया । इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया और पुत्र के गर्भ में आने पर माता, मुनि के समान सुव्रतों का पालन करने में अधिक तत्पर बनी । इससे महाराजा सुमित्रदेव ने

○ त्रि. श. पु. च में लिखा है कि - 'देवता ने अपनी शक्ति से उस दम्पत्ति का आयुष्य कम कर दिया ।' किन्तु यह बात संगत नहीं लगती । कदाचित् आयु के उत्तरकाल में उनका साहरण हुआ होगा ।

पुत्र का नाम 'मुनिसुव्रत' रखा । यौवनवय मे प्रभावती आदि राजकन्याओ क साथ आपका विवाह हुआ। राजकुमार श्री मुनिसुव्रतजी के प्रभावती रानी स 'सुव्रत' नाम का पुत्र हुआ । साढे सात हजार वर्ष तक कुमार अवस्था म रहने के बाद पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किये । पन्द्रह हजार वर्ष तक आपन राज्य-भार वहन किया । भोगावली-कर्म का क्षय होने पर लोकान्तिक देवों ने आ कर निवेदन किया और आपने वर्षीदान देकर और राजकुमार सुव्रत को राज्याधिकार प्रदान कर फाल्गुन-शुक्ला प्रतिपदा को श्रवण-नक्षत्र मे, दिन के चौथे प्रहर मे, बेले के तप सहित एक हजार राजाओ के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की । आपको तत्काल मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया । ग्यारह मास तक प्रभु छद्मस्थ रहे। फिर फाल्गुन कृष्णा १२ को श्रवण-नक्षत्र में, राजगृह के नीलगुहा उद्यान मे, चम्पकवृक्ष के नीचे, शुक्ल-ध्यान की उन्नत धारा में चारों घनघाति कर्मो का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया। देवों ने समवसरण रचा । प्रभु ने धर्मदेशना दी ।

भगवान् की प्रथम देशना इस प्रकार हुई-

धर्म देशना

मार्गानुसारिता

"समुद्र मे भरा हुआ खारा-पानी, मनुष्यों और पशुआ के पीने के काम में नहीं आता, किंतु उसमे रहे हुए रत्नों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जाता है । उसी प्रकार विषय-कषाय रूपी खारे पानी से लबालब भरे हुए ससार-समुद्र में भी उत्तम रत्न रूप धर्म रहा हुआ है । वह धर्म सयम (हिंसा त्याग) सत्य-वचन, पवित्रता (अदत्त-त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता- या दस प्रकार का है । अपने शरीर मे भी इच्छा रहित, ममत्व-वर्जित, सत्कार और अपमान करने वाले पर समान-दृष्टि, परीषह एव उपसर्ग को सहन करने मे समर्थ, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना युक्त हृदय क्षमाशील, विनयवन्त इन्द्रियों को दमन करने वाला, गुरु के अनुशासन में श्रद्धायुक्त रहने वाला और जाति-कुल आदि से सम्पन्न मनुष्य ही यति (अनगार) धर्म के योग्य होता है और सम्यक्त्व-मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत- यों बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म होता है ।

जिनधर्म पाने की योग्यता प्राय उसी में होती है जिसकी आत्मा में कषाय की मन्दता हो गई और जिसका गृहस्थ जीवन भी धर्मप्राप्ति के अनुकूल हो । इस प्रकार की अनुकूलता को 'मार्गानुसारिता' कहते हैं । वह नीचे लिखे ३५ गुणो से युक्त होती है ।

१ गृहस्थ को द्रव्य का उपार्जन करना पडता है, किन्तु वह अन्याय पूर्ण नहीं हो ।

२ वह शिष्टाचार का प्रशसक हो ।

३ उसका वैवाहिक-सम्बन्ध, असमान कुल शील वालों और अभिन्न गोत्रीय से नहीं हो❖ कि जिससे आचार-विचार और सस्कारों की भिन्नता के कारण क्लेश होने का अवसर उपस्थित हो । (जो रूप आदि से आकर्षित और मोह के फन्दे में पड कर विषम सस्कार वालों से सम्बन्ध जोड लेते हैं, वे थोडे ही दिनों में उसका परिणाम भुगतने लगते हैं ।)

४ पाप से डरने वाला हो । जो पाप से नहीं डरता, वह जैनत्व के योग्य ही नहीं होता ।

५ देश के प्रसिद्ध आचार का पालन करने वाला हो । जो शिष्टजन मान्य एव देश-प्रसिद्ध आचार का पालन नहीं करता, उसके साथ देशवासियों का विरोध होता है और उससे आत्मा में क्लेश हो कर शान्ति-भग होती है ।

६ अवर्णवाद नहीं बोलने वाला हो । किसी के अवर्णवाद (बुराई) निन्दा नहीं करने वाला । बुराई करने से प्रतीति नहीं रहती और अधिकारी या राजा आदि की बुराई करने से क्लेश की प्राप्ति एव धननाश आदि का भय रहता है ।

७ रहने का घर, अच्छे और सच्चरित्र पडोसी युक्त हो । घर में प्रवेश करने और निकलने के द्वार अधिक नहीं हो । घर में अत्यन्त अन्धेरा या अत्यन्त धूप नहीं हो । अधिक द्वार और अधिक खुला घर हो तो घर में तो, जार और अनजानपने मे अनिच्छनीय व्यक्ति के सरलता से घुसने और निकलने की सम्भावना रहती है । गुप्त घर में हवा और प्रकाश पर्याप्त रूप से नहीं आने के कारण रोगभय रहता है ।

८ सुसगति - सदाचारी और उत्तम मनुष्यों की सगति करनी चाहिए । बुरे मनुष्यों की सगति से खुद में भी बुराइयाँ आने का निमित्त हो जाता है और लोगों में हलकापन दिखाई देता है।

९ माता-पिता की सवा। माता-पिता जैसे महान् उपकारी की सेवा करने वाला । यह विनय-गुण के लक्षण हैं । जो माता-पिता की भी सेवा नहीं करता उसमें विनय-गुण होना असभव जैसा होता है।

१० उपद्रव वाले स्थान का त्याग । जिस स्थान पर स्वचक्र या परचक्र का अथवा और किसी प्रकार का उपद्रव हो, उस स्थान का त्याग कर देना चाहिए, जिससे धर्म, अर्थ आदि की हानि नहीं हो।

११ निन्दित कार्मों का त्याग। जो कार्य अपनी जाति और कुल में घृणित माने गये हैं, उनका त्याग कर देना चाहिए और वैसे कार्य भी नहीं करने चाहिए, जिनका निषेध है । घृणित कार्य करने वाले के अन्य अच्छे कार्य भी उपहास का विषय बन जाते हैं।

१२ आय के अनुसार व्यय। खर्च करते समय अपनी आय का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। आय का ध्यान नहीं रखने से कर्जदार बनने का अवसर आ सकता है और इससे दु ख होता है।

❖❖ इन पैंतीस गुणों का वर्णन इस ढग से हुआ है कि जिससे हमारे जैसे की दृष्टि में आस्रव सेवन के उपदश की अनुमति लगती है । इस प्रकार का विधान जिनेश्वर का नहीं होता । अतएव शकास्पद है ।

१३ उचित वेश-भूषा । देश, काल, जातिरिवाज तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार वेश परिधान करना चाहिए। अपनी स्थिति से अधिक मूल्यवान वस्त्र पहिनने से कठिनाई उत्पन्न होती है और लोक-निन्दा भी। तथा सम्पन्न होने पर घटिया वस्त्र पहिनने से कृपणता प्रकट होती है।

१४ बुद्धि के आठ गुण युक्त । वे आठ गुण ये हैं-१ शुश्रूषा सुनने की इच्छा २श्रवण-शास्त्र सुनना ३ ग्रहण-शास्त्र के अर्थ को समझना ४ धारण-याद रखना ५ ऊह-उस पर विचार करना ६ अपोह-जो बातें आगम से विरुद्ध हो उसमें दोष होने के कारण प्रवृत्ति नहीं करना ७ अर्थविज्ञान-ऊह और अपोह द्वारा ज्ञान में हुए सदेह को दूर करना ८ तत्त्वज्ञान-निश्चय पूर्वक ज्ञान करना। ये आठ गुण धारण करने से बुद्धि निर्मल रहती है और अहितकारी प्रवृत्ति से बचाव होता है ।

१५ प्रतिदिन धर्मश्रवण । धर्म का श्रवण प्रतिदिन करते रहना चाहिए, इससे पाप से बचाव हो कर धम प्राप्त करना सरल हो जाता है और गुणो म वृद्धि होती है ।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग कर देना । अजीर्ण रहते हुए भोजन करने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना है । रोगी व्यक्ति धर्म से वचित रहता है ।

१७ यथासमय भोजन । अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार, यथासमय भोजन करना चाहिए। यदि पाचन-शक्ति का ध्यान नहीं रख कर स्वाद के कारण अधिक खा लिया, तो रोग की उत्पत्ति का भय है। यथासमय भोजन नहीं करने से भी गडबडी हो जाती है।

१८ अबाधित त्रिवर्ग साधन। धर्म, अर्थ और काम, ये त्रिवर्ग कहलाते हैं। एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचे, इस प्रकार त्रिवर्ग को साधने वाला, धर्म के योग्य हो सकता है।

धर्म और अर्थ को छोड कर केवल काम का ही सेवन करने वाला, अधमदशा को प्राप्त होता है । धर्म और काम को छोड कर केवल अर्थ को साधने वाले लोभी का अर्थ (धन) व्यर्थ ही रहता है और अर्थ और काम को छोड कर केवल धर्म की ही सेवन करने वाले का गृहस्थाश्रम चलना कठिन हो जाता है। क्योकि केवल धर्म की सर्वसाधना तो साधु ही करते हैं । तथा धर्म साधना करते पुण्योपार्जन से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए धर्म को कभी नहीं छोडना चाहिए ।

यदि कभी तीनो में से किसी एक के त्याग का प्रसग उपस्थित हो जाय, तो धर्म और अर्थ को रख कर काम का त्याग कर देना चाहिए । शेष दो मे से भी कभी किसी एक को छोडने का प्रसग आवे, तो अर्थ को छोड कर धर्म को तो सदैव स्थिर रखना चाहिए ।

१९ अतिथि, साधु और दीन मनुष्या का सत्कार । बिना बुलाये अचानक आने वाले अतिथि साधु और दीन मनुष्यो को आहारादि का उचित रूप से दान करना । इस प्रकार दान करने की शुभ-प्रवृत्ति भी सद्गृहस्थ में होनी चाहिए ।

२० दुराग्रह का त्याग । जिस व्यक्ति में अभिमान की मात्रा विशेष होती है, वही दुराग्रह करता है। दुराग्रह ऐसा दुर्गुण होता है जो सत्य स दूर रखता है । यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो चुकी हो, तो उससे पतित कर देता है । अतएव दुराग्रह का त्याग भी धर्म-प्राप्ति में अति आवश्यक है ।

२१ गुणों का पक्षपाती । सद्गुणों का पक्षपाती होना भी एक गुण है । जिसमें सद्गुणों का पक्षपात नहीं होता, वह सद्गुणों का ग्राहक भी नहीं होता । गुणानुरागी ही गुणों का पक्षपाती होता है। सद्गुणों का पक्षपात करने से उनको प्रोत्साहन मिलता है और गुणों का पक्षपाती गुणधर हो सकता है।

२२ निषिद्ध देशकाल म नहीं जाना । जिस क्षेत्र जिस देश और जिस स्थान पर जिस काल में जाने की राज्यादि की मनाई हो, उस क्षेत्र और काल में नहीं जाना । इससे अप्रतीति और अनेक प्रकार के कष्ट आने की सम्भावना है ।

२३ बलाबल का ज्ञान । अपने और सामने वाले के बलाबल का ज्ञान भी होना आवश्यक है । यदि पहले से शक्ति का विचार कर लिया जाय, तो भविष्य में असफल हो कर पछताने का अवसर नहीं आवे और क्लेश से बचा रहे ।

२४ व्रतधारी और ज्ञानवृद्ध का पूजक । अनाचार का त्याग कर शुद्ध आचार का पालन करने वाले व्रतधारी, ज्ञानी एव अनुभवी का आदर-सत्कार और बहुमान करने से आत्मा में धर्म की प्रतिष्ठा सरल हो जाती है ।

२५ पोष्य - पोषक । जिनका भरण-पोषण करना आवश्यक है, उनका (माता, पिता सतान, बान्धव कुटुम्बी और अन्य आश्रित तथा पशु आदि) पोषण यथासमय करना उनके कष्टों को दूर करना उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना और रक्षा करना गृहस्थ का कर्तव्य है ।

२६ दीर्घदर्शी । आगे पर होने वाले हानि-लाभ का पहल स ही विचार कर के कार्य करने वाला हो । बिना विचारे काम करने से भविष्य में विपरीत परिणाम निकलता है और दु खी होना पड़ता है ।

२७ विशेषज्ञ । वस्तु के स्वरूप और गुण-दोष को विशेष रूप से जानने वाला । जो विशेषज्ञ नहीं होता, वह धर्म के बहाने अधर्म को भी अपना लेता है और विशेषज्ञ ऐसे धोखे से बच जाता है ।

२८ कृतज्ञ । किसी के द्वारा अपना हित हुआ हो, तो उसे याद रख कर उपकार मानने वाला और समय पर उस उपकार का बदला चुकाने वाला हो । कृतज्ञ की आत्मा मे ही विशेष गुणों की वृद्धि होती है।

२९ लोकप्रिय । विनय एव सेवा के द्वारा जनता का प्रिय होने वाला । लोकप्रिय व्यक्ति के प्रति जनता की शुभ भावना होती है । इससे जनता की ओर से किसी प्रकार की विपरीतता उपस्थित हो कर क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती वरन् आवश्यकता उपस्थित होने पर सहायता प्राप्त होती है।

३० लज्जावान् । लज्जा एक ऐसा गुण है जो कई प्रकार के कुकृत्य से रोकती है । जिस व्यक्ति में लोक-लाज होती है, वह बुरे कार्यों से बचता है । यदि कभी मन में बुरे भाव उत्पन्न हो जायँ, तो लज्जा गुण उस भावना को वहीं समाप्त कर देता है, जिससे यह भावना कार्य रूप में प्रवृत्त नहीं हो सकती ।

३१ दयालु । दु खी प्राणियो के दु ख को देख कर जिसके हृदय मे दया के भाव उत्पन्न होते हों और जो यथाशक्ति दु ख दूर करने का प्रयत्न करता हो । दयाभाव, मनुष्य के हृदय में धर्म की स्थापना को सरल बना देता है । दयालु हृदय मे सम्यक्त्व विरति आदि गुण प्रकट होते हैं ।

३२ सौम्य । शान्त स्वभाव वाला । उग्रता एव क्रूरता से रहित । उग्रता एव क्रूरता से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं । जीवन में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है । इसलिए धर्म प्राप्ति के लिए सौम्यता का गुण होना आवश्यक है ।

३३ परोपकार तत्पर । जिससे दूसरों का हित हो ऐसे सेवा सहायता, अन्न, वस्त्र, औषधि आदि का दान करने वाला । परोपकारी व्यक्ति का हृदय कोमल होता है, उसमे अन्य गुणों की उत्पत्ति सहज हो जाती है ।

३४ छह अन्तर्शत्रुओं को हटाने वाला - काम, क्रोध लोभ, मान, मद और हर्ष, ये छह अन्तरग - भाव शत्रु हैं । इनको हृदय मे से निकालने मे प्रयत्नशील रहने वाला । विवेक युक्त रह कर अयोग्य स्थल एव अयोग्य काल मे तो इन को पास ही नहीं फटकने दे, अन्यथा अशान्ति उत्पन्न हो जाती है ।

३५ इन्द्रियों को वश मे रखने वाला । इन्द्रियो को बिलकुल निरकुश छोड देने स ता एकात पापमय जीवन हो जाता है । ऐसा जीव, धर्म के योग्य नहीं रहता । धर्म पाने के योग्य वही जीव होता है, जिसका इन्द्रियो पर बहुत-कुछ अधिकार होता है ।

जिन मनुष्यो में इस प्रकार के सामान्य गुण होते हैं, वे गृहस्थ योग्य विशेष-धर्म (सम्यक्त्व मूल बारह व्रत) धारण करने के योग्य होते हैं। जा मनुष्य गृहवास मे रहकर ही मनुष्य-जन्म को सफल करना चाहते हैं और सर्व-विरत रूप यति-धर्म धारण करने में अशक्त हैं, उन्हे श्रावक-धर्म का सदैव आचरण करना चाहिए *।

प्रभु के इन्द्र आदि १८ गणधर हुए। केवलज्ञान होने के बाद भ मुनिसुव्रत स्वामी साढे ग्यारह मास कम साढे सात हजार वर्ष तक विचर कर भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

भगवान् के ३००००साधु, ५००००साध्वियें, ५०० चौदह पूर्वधर, १८००अवधिज्ञानी,१५००मन पर्यवज्ञानी१८००केवलज्ञानी, २०००वैक्रिय लब्धिधारी, १२००वादलब्धिधारी, १७२०००श्रावक और ३५००००श्राविकाएँ हुई। निर्वाणकाल निकट होने पर भगवान् सम्मेदशिखर पर्वत पर पधार और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अन्त में ज्येष्ठकृष्णा ९ को श्रवण-नक्षत्र में मोक्ष पधार। भगवान् की कुल आयु ३००००वर्ष की थी।

* इन पैंतीस गुणों का जो वर्णन किया गया है उसम सासारिक सावद्य-प्रवृत्ति का निर्देश भी है। तीर्थकर भगवत के उपदेश में ऐसा नहीं होता। यह आचार्यश्री की ओर से ही समझना चाहिये।

चक्रवर्ती महापद्म

भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी, तीर्थंकर नामकर्म के अनुसार विचर रह थे उस समय 'महापद्म' नाम के नौवें चक्रवर्ती सम्राट हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह के सुकच्छ नामक विजय में 'श्रीनगर' नाम का समृद्ध नगर था। 'प्रजापाल' नाम का नरेश वहा का शासक था। वे अकस्मात् आकाश स बिजली पडती हुई देखकर विरक्त हो गय और समाधिगुप्त नाम के मुनिराजश्री के पास निर्ग्रंथ-दीक्षा ले ली। वे विशुद्ध साधना करते हुए आयु पूर्ण कर ग्यारहव बारहवें देवलोक के इन्द्र - 'अच्युतेन्द्र' हुए।

इस जम्बूद्वीप क भरतक्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का नगर था। पद्मोत्तर नाम के नरेश वहाँ राज करते थे। ज्वालादेवी उनकी पटरानी थी। सिंह स्वप्न युक्त गर्भ मे आये हुए पुत्र का महारानी ज्वालादेवी ने जन्म दिया। पुत्र का नाम 'विष्णुकुमार' रखा। कालान्तर मे बारहवें देवलोक के इन्द्र पद से च्यव कर प्रजापाल मुनि का जीव श्रीज्वालादेवी के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देख। पुत्र का नाम 'महापद्म' दिया गया। विष्णुकुमार और महापद्म दोनों सहादर भ्राता योग्य-वय को प्राप्त होने पर सभी कलाओं मे प्रवीण हुए। राजकुमार महापद्म को राजा के उत्तम लक्षणों एव गुणों से तथा सर्वभौम सम्राट होने योग्य समझ कर पद्मोत्तर राजा ने उसे युवराज बनाया।

नमुचि का धर्मद्वेष

उस समय उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा नाम का राजा था। उनके मन्त्री का नाम 'नमुचि' था। भ श्रीमुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य आचार्य श्रीसुव्रतमुनि उज्जयिनी पधारे। नागरिकजनों का समूह आचार्यश्री को वन्दन करने के लिये उद्यान की ओर जा रहा था। राजा ने जन समूह को उद्यान की ओर जाता हुआ देख कर नमुचि से पूछा -

"इस समय लोगों का झुण्ड उद्यान की ओर क्यों जा रहा है? इस समय न तो कोई पर्व है, न उत्सव ही, फिर सभी लाग एक ही दिशा में क्यो जा रहे हैं?"

"नगर के बाहर कोई जैनाचार्य आये हुए हैं?" उनकी वन्दना करने ओर उपदेश सुनने के लिए लोग जा रहे हैं"-नमुचि ने कारण बताया।

"आचार्य पधारे हैं, तो अपन भी चलें। उनके दर्शन और उपदेश का लाभ लें"- राजा ने इच्छा व्यक्त की।

"महाराज। क्या रखा है- उम साधु के पास ? यदि आपको धर्मोपदेश सुनना है, तो मैं यहीं सुना देता हूँ"-नमुचि ने कहा ।

'नहीं, महात्माओं का दर्शन करना और अनुभवजन्य उपदेश सुनना लाभदायक होता है। इसलिए हमे वहा चलना ही चाहिए।'

"जैसी आपकी इच्छा। किंतु मेरी आप से एक विनती है आप वहाँ तटस्थ ही रहें। मैं उन्हे वाद म जीत कर निरुत्तर कर दूँगा"-मन्त्री नमुचि ने गर्वपूर्वक कहा।

राजा अपने परिवार और मन्त्री के साथ सुव्रताचार्य के पास आये। नमुचि आचार्यश्री के सामने अटसट बोलने लगा। आचार्यश्री मौन रहे। आचार्य श्री को मौन देख कर नमुचि जिनधर्म की विशेष निन्दा करने लगा, तब आचार्यश्री ने कहा,-

"तुम्हारी भावना कलुषित है। कदाचित् तुम्हारी जिह्वा पर खुजली चल रही होगी।" आचार्यश्री की बात सुन कर उनका लघु-शिष्य विनय पूर्वक कहने लगा,-

"गुरुदेव! विद्वत्ता के घमड में मत्त बने हुए नमुचि से आप कुछ भी नहीं कहें। आपकी कृपा से मैं इसे पराजित कर दूँगा।"

इस प्रकार गुरु से निवेदन कर के लघुशिष्य ने नमुचि से कहा,-

"आप अपना पक्ष उपस्थित करिये। मैं उसे दूषित करूँगा।"

एक छोटे साधु की बात सुन कर नमुचि क्रोधान्ध हो गया और कटुतापूर्वक कहने लगा,

"तुम सदैव अपवित्र रहने वाले पाखडी हो और वैदिक-मर्यादा से बाहर हो। तुम्हे मेरे देश में रहने का अधिकार नहीं है। बस, यही मेरा पक्ष है।"

"अपवित्र कौन है, यह तुम नहीं जानते"- लघु सत कहने लगे- "वास्तव मे अपवित्र वे हैं जो सभोगी हैं। भोग अपने आप में अपवित्र हैं। फिर भाग का सेवन किस प्रकार पवित्र हो सकता है? जो अपवित्र हैं, वे वेद-बाह्य एव पाखडी हैं। वैदिक सिद्धात है कि- १ पानी का स्थान, २ ओंखली ३ चक्की ४ चूल्हा और ५ मार्जनी (बुहारी-झाड़ू) ये पाँच गृहस्थों के पाप के स्थान हैं। जो इन पाँच स्थानो की नित्य सेवा करते रहते हैं वे अपवित्र एव वेद-बाह्य हैं और जो सयमी महात्मा इन पाँच स्थानों से रहित हैं, वे पवित्र हैं। वे इस दृष्टि से बाह्य नहीं है। म्लेच्छ लोगो मे उत्तम ऐसे निर्दोष महात्माओ को तुम्हारे जैसे दूषित लोगों में रहना उचित नहीं है।"

इस प्रकार नमुचि को युक्तिपूर्वक उत्तर दे कर उस छोटे साधु ने पराजित कर दिया। एक छोटे से साधु द्वारा थोडी ही देर म पराजित हुआ नमुचि स्वस्थान आया। उसके हृदय में पराजय का डक, शूल के समान खटक रहा था। वह आधी रात बीतने पर उठा और निशाचर के समान गुप्त रूप से उन मुनिजी को मारने के लिए उद्यान की ओर चला। किंतु उद्यान के बाहर ही देव-योग से उसके पाँव रुक गये। वह स्थभित-सा स्थिर हो गया। वह वहाँ से डिग भी नहीं सका। प्रात काल होने पर उसे इस प्रकार स्तभित देख कर लोग विस्मित हुए। नमुचि बडा अपमानित हुआ। उसका वहाँ रहना दुभर हो गया। वह वहाँ से निकल कर हस्तिनापुर आया। युवराज महापद्म ने उसे अपना प्रधानमन्त्री बना दिया।

महापद्म क राज्य मे सिंहबल नाम का एक राजा था। वह बलवान था। और उसका दुर्ग सुदृढ था। वह अपने दुर्ग से निकल कर आस-पास के प्रदेश में लूट मचा कर अपने दुर्ग में घुस जाता। उसको पकडना कठिन हो गया था। नमुचि ने दुर्ग को तोड कर उसे पकड़ लिया और महापद्म के सामने उपस्थित कर दिया। इस विकट कार्य की सफलता से प्रसन्न हो कर महापद्म ने नमुचि से इच्छित वस्तु मागने का आग्रह किया। नमुचि ने कहा - "आपका अनुग्रह अभी धरोहर के रूप में रहने दीजिए, जब मुझे आवश्यकता होगी तब माँग लूँगा।"

एक बार महारानी ज्वालादवी और रानी लक्ष्मीदेवी के परस्पर धार्मिक असहिष्णुता स मन-मुटाव हो गया। पद्मोत्तर ने उत्पन्न कलह का निवारण करने के लिए दोनो को शान्त रहने की आज्ञा दी। महारानी ज्वालादेवी को इससे आघात लगा। माता को हुए दु ख से क्षुब्ध हो कर महापद्म, रात्रि के समय गुप्त रूप से राजधानी छोड कर निकल गया। वह वन में भटकता हुआ तपस्वी ऋषियों के आश्रम मे पहुँच गया। तपस्वियों ने राजकुमार का सत्कार किया। महापद्म उस आश्रम में ही ठहर गया और शांति से रहने लगा।

चम्पा नगरी पर अन्य राजा ने चढ़ाई कर दी और जीत लिया। वहाँ का राजा जन्मेजय मारा गया। नगर में लूट मची। राजपरिवार निकल भागा। रानी नागवती अपनी पुत्री मदनावली के साथ उसी आश्रम मे पहुँची। राजकुमार महापद्म ने राजकुमारी मदनावली को देखा और मोहित हो गया। राजकुमारी भी महापद्म पर आसक्त हो गई। राजकुमारी को मोहित देख कर उसकी माता ने कहा- "बेटी! यह क्या? इतनी चपलता? भविष्यवेत्ता ने तुझे चक्रवर्ती महाराजा की रानी होने की बात कही थी, वह भूल गई? जैसे-तैसे पर आसक्त होना राजकुमारी के लिए उचित है क्या?"

आश्रम के आचार्य ने सोचा- युवक-युवती का साथ ही आश्रम में रहना निरापद नहीं है। उसने महापद्म से कहा;-

"वत्स! अब तुम्हें पुरुषार्थ कर अपने भाग्य को प्रकट करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण हो।"

महापद्म ने सोचा-"रानी ने अपनी पुत्री का पति चक्रवर्ती नरेश होने को कहा सो चक्रवर्ती तो मैं ही बनूँगा। मेरे सिवाय दूसरा कोई चक्रवर्ती नहीं होगा। इसलिए इसका पति तो मैं ही हूँगा। अब मुझे आचार्य की सलाह के अनुसार चल कर भाग्य के लिए अनुकूलता करनी चाहिए।"- यह सोच कर वह वहाँ से चल दिया और घूमता-फिरता 'सिन्धुसदन' नामक नगर म आया। उस समय उस नगर में वसतोत्सव मनाया जा रहा था। इसलिए नगर की स्त्रियाँ, नगर के बाहर उद्यान में एकत्रित हो कर विविध प्रकार की क्रीड़ा करती हुई और कामदेव की आराधना करती हुई रगराग में रत हो रही थी। अचानक गजशाला का एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और बन्धन तुड़ा कर चल दिया। वह उपद्रव मचाता हुआ उस उत्सव स्थल में आ पहुँचा। उसे वश में करने क लिये महावतों द्वारा किये हुए सभी उपाय व्यर्थ हो गए। काल के समान उपद्रव मचाते हुए हाथी को अपनी ओर आता हुआ देख कर

सभी महिलाएँ भयभीत हो कर स्तभित हो गई । वे इतनी दिग्मूढ हो गई कि उनसे हिलना-चलना भी कठिन हो गया । वे जोर-जोर से चिल्लाने लगीं । राजकुमार महापद्म भी उस उत्सव को देखने के लिए आ गया था । गजराज के उपद्रव से ललनाओ को मुक्त करने के लिए वह गजेन्द्र की ओर झपटा और ललकार कर उसके सामने अपना वस्त्र फेका । हाथी ने वस्त्र को ही मनुष्य समझ कर मर्दन करने लगा। उत्सव में उपस्थित सभी नागरिक और महासेन नरेश, हाथी के उपद्रव को देख रहे थे । उन्होंने महापद्म को हाथी की ओर बढते हुए देख कर रुकने को कहा । किंतु राजकुमार महापद्म, उन्हें आश्वासन देता हुआ हाथी के निकट चला गया और मुष्टि प्रहार किया । हाथी, कुमार को पकडने के लिए पलटा, इतने म महापद्म उसकी पूँछ पकड़ कर उस पर चढ गया और मुष्टि प्रहार करने लगा । मण्डुकासन आदि रक्षक उपायों से अपने को बचाता हुआ वह हाथी पर मुष्टि प्रहार करने लगा । कुभस्थल पर प्रहार, कठ पर अगुठे का दबाव, पीठ पर पाद प्रहार आदि विविध प्रकार के आघात से गजराज का मद उतर गया । वह अत्यत थक कर व्याकुल हो गया और सीधा हो कर खडा रह गया । महापद्म के अद्‌भुत पराक्रम को देख कर सभी लोग आश्चर्य करते हुए प्रशसा करने लगे । नरेश की प्रसन्नता का पार नहीं था । उसने महापद्म का सम्मान किया और योग्य तथा उत्तम कुल-सम्पन्न समझ कर अपनी सौ कन्याओ का उसके साथ लग्न कर दिया । अब महापद्म सुखपूर्वक वहीं रहने लगा किंतु उसके मन म आश्रमवासिनी राजकुमारी मदनावली का स्मरण रह-रह कर आता रहता था ।

राजकुमार सुखशय्या में सोया हुआ था कि उसके पास एक विद्याधरी आई और उसका हरण करने लगी । महापद्म जाग गया । उसने सहरण का कारण पूछा । विद्याधरी ने कहा,-

"वैताढय पर्वत पर सुरोदय नगर है । इन्द्रधनु वहाँ का विद्याधर राजा है । उसके 'जयचन्द्र' नाम की पुत्री है । योग्य वर नहीं मिलने के कारण जयचन्द्र पुरुष-द्वेषिनी हो गई । मैने भरत क्षेत्र के सभी राजाओं के चित्र ले जा कर उसे बताये, किंतु उसे एक भी पसन्द नहीं आया । परन्तु आपका चित्रपट देखते ही वह मुग्ध हो गई । आपका मिलना दुर्लभ समझ कर वह चिन्ता में जल रही है । उसकी प्रतिज्ञा है कि यदि आपका योग नहीं मिले, तो वह प्राण त्याग देगी । जयचन्द्र की बात मैने उसके माता-पिता से कही । उसकी आज्ञा से आपको लेने के लिये मैं यहा आई हूँ । अब शीघ्र चल कर उस परम सुन्दरी राजकुमारी को स्वीकार करें ।"

महापद्म विद्याधरी के साथ वैताढ्य पर्वत पर आया और जयचन्द्र का पाणिग्रहण किया । यह समाचार सुन कर जयचन्द्र के मामा के पुत्र गगाधर और महीधर उत्तेजित हो गए । वे दोनों जयचन्द्र को चाहते थे । उनका महापद्म के साथ युद्ध हुआ । वे दोनों हार कर पलायन कर गए । कालान्तर में महापद्म के यहाँ चक्र-रत्नादि प्रकट हुए । छह खड की साधना की और आश्रमवासिनी राजकुमारी मदनावली का पाणिग्रहण कर सुखमय भोग-जीवन व्यतीत करने लगा ।

नमुचि का उपद्रव और विष्णुकुमार का प्रकोप

अन्यदा भ० मुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य श्री सुव्रताचार्य हस्तिनापुर पधारे । राजा पद्मोत्तर और राज परिवार ने उपदेश सुना और वैराग्य पा कर पद्मोत्तर नरेश प्रव्रजित हो गए । ज्येष्ठ-पुत्र विष्णुकुमार भ प्रव्रजित हुए । पद्मोत्तर मुनिराज चारित्र की विशुद्ध आराधना करते हुए कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त हुए विष्णुकुमार मुनि ने विपुल तपस्या करके अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त की । कालान्तर में श्र सुव्रताचार्य अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर पधारे और चातुर्मास के लिए ठहर गए । प्रधानमन्त्री नमुचि के हृदय में महापद्म से अपना वह वर माँगा जो नरेश ने अपने पास धरोहर के रूप मे रखा था । उसने महापद्म से कहा-"मैं एक यज्ञ करना चाहता हूँ । जब तक यह यज्ञ पूरा नहीं हो जाय तब तक आपके सारे राज्य का राज्याधिकारी मैं रहूँ । यही मेरी माँग है ।" नरेश ने अपना राज्याधिकार नमुचि को दे दिया और स्वय अत पुर मे चला गया ।

नमुचि ने यज्ञ का आयोजन किया । उसके यज्ञ की सफलता एव श्रेय-कामना व्यक्त करने के लिए राज्य के मन्त्रीगण श्रेष्ठिजन और सभी धर्मों के धर्माचार्य आये । एक सुव्रताचार्य ही नहीं आये सुव्रताचार्य के नहीं आने पर नमुचि उनके पास गया और आक्रोश पूर्वक बोला,-

"जो राज्याधिपति होता है, उसका राज्य के सभी धर्माचार्य आदर करते हैं । वे उसके आश्रय मे रहते हैं और आश्रय चाहते हैं । राज्य के सभी तपोवन राजा द्वारा रक्षणीय हैं और अपने तप का छठ भाग राजा को अर्पण करते हैं । किंतु तुम अधम पाखडी हो । मेरे निन्दक हो । अभिमान से भरपूर हो कर मर्यादा का लोप करते हो । तुम राज्य के विरोधी हो । तुम्हें मेरे राज्य में नहीं रहना चाहिए । निकल जाओ यहा से । यदि तुम्हारे में से कोई भी साधु मेरे राज्य मे रहा, तो वह मृत्यु-दड का भागी होगा ।"

"हमारे मन में आपके प्रति दुर्भावना बिल्कुल नहीं है । हमारी आचार-मर्यादा के अनुसार हम आपके अभिषेक के समय नहीं आये । हमारे नहीं आने का यही कारण है । हम किसी की निन्दा नहीं करते अपितु निन्दा करना पाप मानते हैं । इसलिए आपको हम पर अप्रसन्न नहीं होना चाहिए । हम चातुर्मास पूर्ण होते ही यहाँ से चले जावेंगे ।"-आचार्य ने कहा ।

'आचार्य ! निर्दोष बनने की आवश्यकता नहीं । मैं तुम्हें सात दिन का समय देता हूँ । यदि सात दिन के भीतर तुम यहाँ से नहीं चले गए, तो तुम्हें कठोरतम दण्ड भोगना पडेगा"-इस प्रकार अपना अतिम निर्णय सुना कर नमुचि चला गया ।

आचार्य ने अपने मुनियों से पूछा-"अब क्या उपाय करना चाहिए ? चातुर्मास काल में विहार

करना निषिद्ध है और नमुचि अत्यत द्वेषी तथा वैरभाव से भरा हुआ है । इस आपत्ति का निवारण कैसे हो ?

"विष्णुकुमार मुनि लब्धिधर हैं । वे महाराजा महापद्म के ज्येष्ठ-बधु हैं । यदि वे आ जायँ, तो कदाचित् यह विपत्ति टल सकती है । किंतु उसके पास वही जा सकता है जो विद्याचारण-लब्धि से युक्त हो । वे अभी मेरुपर्वत पर हैं"- एक साधु ने कहा ।

"मैं आकाश-मार्ग से वहाँ जा सकता हूँ, किन्तु लौट कर आ नहीं सकता"- एक लब्धिधर मुनि ने कहा । "वत्स ! तुम विष्णुकुमार मुनि के पास जा कर सारी हकीकत कहो और उन्हें यहाँ लाओ । वे तुम्हें अपने साथ ले आवगे ।"- आचार्य ने आज्ञा दी ।

वे मुनि उसी समय आकाश-मार्ग से चल कर मेरुपर्वत पर आये और विष्णुकुमार मुनि को सारी स्थिति बतलाई । विष्णुकुमार मुनि तत्काल उन मुनि को साथ ले कर हस्तिनापुर आये और अपने गुरु सुव्रताचार्य को वन्दना की । फिर वे साधुआ को साथ ले कर नमुचि के पास आये । उन्होने नमुचि को बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं माना । उसने आवेश पूर्वक कहा,-

-" मैं तुम्हे नगर के बाहर उद्यान मे भी नहीं रहने देता । तुम पाखडियों की गध से भी मैं घृणा करता हूँ । तुम सब यहाँ से चले जाओ ।"

-"अरे कम से कम मेरे लिए तीन चरण भूमि तो दो"- मुनिश्री ने अतिम याचना की ।

-"मैं तुम्हारे लिए तीन चरण (तीन कदम में आवे जितनी) भूमि देता हूँ । यदि इसके बाहर कोई भी रहा, तो वह मार दिया जायेगा"-नमुचि ने कहा ।

"तथास्तु"-कह कर विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय-लब्धि से अपना शरीर बढाया और एक लाख योजन प्रमाण शरीर बढा कर भयकर दृश्य उपस्थित कर दिया । खेचरगण भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे । पृथ्वी कम्पायमान हो गई । समुद्र विक्षुब्ध हो गया । ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिषी और व्यतर देव-देवियाँ स्तब्ध एव चकित रह गए । विष्णुकुमार नमुचि को पृथ्वी पर गिरा कर अपना एक पाँव समुद्र के पूर्व और एक पाँव पश्चिम किनारे पर रख कर खडे रहे । उत्पात की बात सुनकर चक्रवर्ती महाराजा महापद्म भी आये और मुनिवर को वन्दना कर अपने उपेक्षाजन्य अपराध के लिए क्षमा माँगी । नरेन्द्र, नगरजन और सघ द्वारा बारबार प्रार्थना करने पर श्री विष्णुकुमार मुनि शात हुए । वे वैक्रिय रूप छोड कर मूलरूप मे आये और नमुचि को छोड दिया । चक्रवर्ती ने नमुचि को पद भ्रष्ट कर निकाल दिया । मुनिराज ने प्रायश्चित्त से चारित्र की शुद्धि कर, विशुद्ध साधना से समस्त कर्मों का क्षय कर दिया और मुक्ति प्राप्त कर ली ।

चक्रवर्ती महाराजा महापद्म ने भी ससार का त्याग कर दिया और दस हजार वर्ष तक चारित्र का पालन कर मोक्ष प्राप्त हुए । इनकी कुल आयु तीस हजार वर्ष की थी ।

राम चरित्र

[रामचरित्र अर्थात् रामायण का प्रचलन जैन वैदिक और बौद्ध-इन तीनों भारतीय समाज में है । भिन्न रचना एवं मान्यताओं के कारण चरित्रों में भेद भी है । बहुत-सी बातो में समानता है सो तो होनी चाहिए । क्योंकि चरित्र के मुख्य पात्र और मुख्य घटना तो एक ही है ।

वैदिकों में वाल्मिकी रामायण अधिक प्राचीन है तब जैन परम्परा में 'पउम चरिय' बहुत प्राचीन हैं । इसकी रचना विक्रम का छठी शताब्दी में बताई जाती है । इसके सिवाय 'सियाचरिय' 'वसुदेव हिण्डी और 'त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र' आदि कई रचनाएँ श्वेताम्बर जैन समाज मे हुई । दिगम्बर जैन समाज में 'पद्मपुराण' आदि हैं ।

मुख्य पात्र सम्बन्धी मत-भेद वैदिक रामायण में भी है । सीता को जनक राजा की पुत्री तो सभी मानते हैं किन्तु अद्भुत रामायण में सीता को मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री बताया गया है । दिगम्बर जैन समाज के 'उत्तर पुराण' में भी सीता का रानी मन्दोदरी से उत्पन्न रावण की पुत्री बतलाया है । बौद्धों के 'दशरथ जातक' म सीता को राम-लक्ष्मण की 'सगी बहिन' लिखा है और राम को बुद्ध के किसी पूर्व-भव का जीव बतलाया है । यह भेद किसी श्वेताम्बर रचित रामायण में नहीं है । अन्य भी कई प्रकार की भिन्नताएँ हैं । परम्परागन्य भेद तो सभी में है ही । आगमों में वासुदेव प्रतिवासुदेव और बलदेव की नामावली में नाममात्र है और प्रश्नव्याकरण (१-४) में- सीता के लिए युद्ध हुआ'- इस भाव को बतानेवाला मात्र 'सियाए'-ये तीन अक्षर हैं । इसके अतिरिक्त कोई उल्लेख ध्यान में नहीं हैं ।

मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक चरित्र अपने पूर्व-प्रसिद्ध चरित्र से प्रभावित होगा । इस प्रकार छद्मस्थ लेखकों द्वारा रचित चरित्रों को अक्षरश: प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।

प्रत्येक ग्रंथकार ने अपनी मान्यता के अनुसार चरित्र का निर्माण किया है । हम भी त्रि. श. पु. च. के आधार पर 'राम चरित्र' अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षेप में उपस्थित करते हैं ।]

राक्षस वंश

भ० श्री मुनिसुव्रत स्वामी के मोक्ष गमन के बाद उनके तीर्थ में और उसी हरिवंश मे पद्म (राम) नाम के बलदेव, लक्ष्मण नाम के वासुदेव और रावण नाम का प्रतिवासुदेव हुआ । उनका चरित्र इस प्रकार है ।

जब भ० अजितनाथ स्वामी विचरते थे, तब इस भरत क्षेत्र के 'राक्षस द्वीप' में लंका नाम की नगरी थी । उसमें राक्षसवंशीय राजा धनवाहन राज करता था । उस भव्यात्मा नरेश ने विरक्त हो कर अपने पुत्र महाराक्षस को राज्य देकर भ अजितनाथ जी के पास निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार करली और विशुद्ध साधना करके मोक्ष प्राप्त कर लिया । उसका पुत्र महाराक्षस भी कालान्तर में संयमी बन कर मोक्ष गया । इस प्रकार राक्षस द्वीप के असंख्य अधिपति हो गए ।

भ० श्रेयांसनाथ स्वामी के तीर्थ में 'कीर्तिधवल' नाम का राक्षसाधिपति हुआ । उसी समय वैताढ्य पर्वत पर मेघपुर नगर म अतीन्द्र नाम का विद्याधर राजा था । उसके 'श्रीकंठ' नाम का पुत्र और 'देवी' नाम की पुत्री थी । रत्नपुर के पुष्पोत्तर नामक विद्याधर राजा ने अपने पुत्र पद्मोत्तर के लिए

अतीन्द्र नरेश से राजकुमारी देवी की याचना की । किंतु उन्होंने इस याचना की उपेक्षा करके राजकुमारी के लग्न, कीर्तिधवल नरेश से कर दिये । यह समाचार सुन कर पुष्पोत्तर नरेश कुपित हुए और अतीन्द्र नरेश तथा राजकुमार श्रीकंठ से वैर रखने लगे । एक बार राजकुमार श्रीकंठ, मेरुपर्वत से लौट कर आ रहा था कि वन-विहार करती हुई पुष्पोत्तर नरेश की पुत्री कुमारी पद्मा, राजकुमार श्रीकंठ को दिखाई दी । उसके अनुपम रूप-लावण्य को देख कर वह मोहित हो गया । राजकुमारी भी राजकुमार को देख कर मोहित एवं आसक्त हो गई । वह बार-बार राजकुमार की ओर देख कर पुलकित होने लगी । राजकुमार श्रीकंठ समझ गया कि -'यह सुन्दरी मुझ पर अनुरक्त है ।' उसका अभिप्राय जान कर श्रीकंठ ने उसे ग्रहण किया और आकाश-मार्ग से चलता बना । राजकुमारी का हरण होता देख कर उसकी सखियाँ और दासियाँ चिल्लाई और कोलाहल करने लगी । कोलाहल सुन कर पुष्पोत्तर नरेश सेना लेकर श्रीकंठ का पीछा करने लगे । श्रीकंठ, पद्मा को लेकर अपने बहनोई श्री कीर्तिधवल नरेश के पास पहुँचा और पद्मा सम्बन्धी घटना सुनाई। इतने में पुष्पोत्तर राजा सैन्य सहित वहां आ गया । कीर्तिधवल नरेश ने पुष्पोत्तर नरेश के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि- "आप अकारण ही क्रुद्ध हुए और युद्ध करने को तत्पर हुए हैं । राजकुमारी श्रीकंठ के साथ अपनी इच्छा से ही आई है श्रीकंठ ने उसका हरण नहीं किया । आप अपनी पुत्री का अभिप्राय जान लीजिए और उसकी इच्छा के अनुसार उसके लग्न श्रीकंठ के साथ कर दीजिए ।"

राजकुमारी पद्मा ने भी एक दासी द्वारा पिता को ऐसा ही सन्देश भेजा । पुष्पोत्तर ने वास्तविकता समझी । उसका कोप शान्त हो गया और उसने वहीं अपनी पुत्री के लग्न श्रीकंठ के साथ करके राजधानी में लौट गया ।

वानर वंश

श्रीकंठ भी स्वस्थान जाना चाहता था, किंतु कीर्तिधवल नरेश ने श्रीकंठ को रोकते हुए कहा- "तुम अभी यहीं रहो । क्योंकि वैताढय पर्वत पर तुम्हारे शत्रु बहुत हैं । इस राक्षस द्वीप के निकट वायव्य दिशा में तीन सौ योजन प्रमाण 'वानर द्वीप' है । इसके सिवाय अन्य बर्बरकुल, सिंहल आदि द्वीप मेरे ही हैं । वे इतने सुन्दर हैं कि जैसे स्वर्ग से उतर कर स्वर्गपुरी आई हो । उनमें से एक द्वीप में रह कर वहाँ का राज करो । इस प्रकार मेरे निकट ही रह जाओ । तुम्हें शत्रुओं से किसी प्रकार का भय नहीं होगा ।"

कीर्तिधवल के स्नेहपूर्ण शब्द सुन कर तथा उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से श्रीकंठ भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था । अतएव श्रीकंठ, वानर द्वीप में रह गया । कीर्तिधवल नरेश ने वानर द्वीप के किष्किन्ध गिरि पर बसी हुई किष्किन्धा नगरी में उसका राज्याभिषेक कर दिया ।

उस प्रदेश के वनों में बड़े-बड़े बन्दर रहते थे । वे बड़े ही सुन्दर थे । श्रीकंठ ने उन बन्दरों के लिए अमारि घोषणा करवाई । वे सभी के लिए अवध्य हो गए और राजा की रुचि के अनुसार वहां के

लोग भी उन वानरों को अन्न आदि खिलाने लगे । उसकी सुन्दरता से आकर्षित हो कर विद्याधर लोग, अपने चित्रो में, लेप्यमय आलेखों म और ध्वज-छत्र आदि के चिह्नो में वानर का चित्र बनाने लगे । इस रुचि के कारण वे विद्याधर भी 'वानर' कहलाने लगे ।

श्रीकठ के, वज्रकठ नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ । वह युद्ध-प्रिय और बलवान था । श्रीकठ, ससार से विरक्त हो गया । उसने अपने पुत्र वज्रकठ को राज्य दे कर दीक्षा ले ली और चारित्र का पालन कर मुक्त हो गया । इसके बाद, वज्रकठ आदि अनेक राजा हुए । भ० श्री मुनिसुव्रत स्वामी क तीर्थ में 'घनोदधि' नाम का राजा हुआ । उस समय लकापुरी मे 'तडित्केश' नाम का राजा था । घनोदधि और तडित्केश मे स्नेह सम्बन्ध था । एक बार राक्षसाधिपति तडित्केश अपनी रानियो के साथ नन्दन उद्यान में गया । वहाँ वे क्रीडा कर ही रहे थे कि एक वानर, वृक्ष पर से नीचे उतरा और निकट खड़ी हुई रानी को पकड कर और उसके वक्ष पर अपने नाखून चुभा कर रक्त रजित कर दिया । बन्दर के उपद्रव से रानी चिल्लाई । राजा ने तत्काल बाण मार कर बन्दर को घायल कर दिया । वह घायल बन्दर उस स्थल से हट कर वहाँ पहुँचा-जहाँ के तपस्वी मुनि कायोत्सर्गयुक्त ध्यान में मग्न थे । बन्दर उनके निकट जा कर गिर पडा । मुनिवर का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने बन्दर की अतिम अवस्था जान कर उसकी भावना सुधारी और आर्त-रौद्र को दूर कर नमस्कार मन्त्र सुनाया। वानर उस शुभ अध्यवसाय में मर कर भवनपति देवों मे उदधिकुमार जाति का देव हुआ। अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव को जान कर वह तत्काल मुनि-वर की वन्दना करने आया। उसन देखा कि राजा के सुभट, वानरों का सहार कर, वानर जाति को ही नि शेष कर रहे हैं । वह क्रुद्ध हुआ और तत्काल महावानर के अनेक रूप बना कर तडित्केश के सुभटों पर बडे-बड़े पत्थरों की वर्षा करने लगा । राजा ने विचार किया- यह सब देव-प्रभाव है। अन्यथा वानर ऐसा नहीं कर सकते । इस प्रकार विचार कर तडित्केश ने महावानर को प्रणाम किया, वन्दना और अर्चना की। देव प्रसन्न हुआ । उसने कहा- मैं वही वानर हूँ जिसे आपने थोडी देर पहले बाण मार कर घायल किया था। मेरा शव अभी भी ऋषिश्वर के निकट पडा है। मैं मुनिश्वर की कृपा से देव हुआ और उनकी वन्दना करने आया था । जब मैंने देखा कि आप वानर-सहार करने लगे हैं तभी मैंने उपद्रव किया। इस प्रकार अपना परिचय दे कर देव चला गया। राजा मुनिराज की वन्दना करन गया। उपदेश सुन कर वानर के प्रति अपने द्वेष का कारण पूछा। मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी थे। उन्होंने उपयोग लगा कर कहा-

"तुम पूर्वभव में, श्रावस्ति नगरी में दत्त नाम के मन्त्री -पुत्र थे और वानर, काशी में पारधी था । तुम प्रव्रजित होकर काशी नगरी में प्रवेश कर रहे थे, उधर से वह वन में पशुओ को मारने जा रहा था । तुम्हें सामने आते देखा और अपशकुन मान कर क्रुद्ध हो गया। उसने तुम पर प्रहार करके गिरा दिया। तुम शुभ भावों में मृत्यु पा कर महेन्द्र-कल्प नाम के चौथे स्वर्ग में देव हुए और वहाँ से च्यव कर यहाँ लकाधिपति हुए। वह लुब्धक पारधी मर कर नरक में गया और वहाँ से आ कर वानर हुआ । पूर्व

वृत्तात सुन कर राजा विरक्त हो गया । अपने पुत्र सुकेश को राज्यभार और राक्षस द्वीप का अधिपत्य दे कर प्रव्रजित हो कर मोक्ष गया । घनोदधि भी किष्किधकुमार को वानर द्वीप का अधिपत्य दे कर प्रव्रजित हो मुक्त हो गया।

वैताढय पर्वत पर रथनुपुर नगर में अशनिवेग नाम का विद्याधर राजा राज करता था। उसके विजयसिह और विद्युद्वेग नाम के दो महापराक्रमी पुत्र थे। उसी वैताढ्य पर्वत पर आदित्यपुर नगर में 'मन्दिरमाली' नाम का विद्याधर राजा था। उसके श्रीमाला नाम की पुत्री थी। उनके लग्न करने के लिए राजा ने स्वयवर-मण्डप की रचना की । अनेक विद्याधर राजा उस आयोजन मे सम्मिलित हुए । श्रीमाला मण्डप में आई और प्रत्येक राजा का परिचय पा कर आगे बढती हुई किष्किन्ध नरेश के पास रुक गई और उनके गले मे वरमाला डाल दी । यह देख कर विजयसिह को असह्य क्रोध आया। वह किष्किन्ध नरेश का अपशब्दों द्वारा अपमान करने लगा और युद्ध के लिए तत्पर हो गया। उपस्थित राजाओं के दो विभाग हो गए। सुकेश नरेश आदि कुछ राजा, किष्किध के पक्ष में आ गये और कुछ विजयसिह के पक्ष में हो गए। लम्बे समय तक घमासान युद्ध होता रहा। किष्किध नरेश के अनुजबन्धु 'अन्धक' के प्रहार से विजयसिह का अन्त हुआ और साथ ही इस युद्ध का भी अन्त हो गया । कितु विजयसिह की मृत्यु की बात सुन कर उसके पिता राजा अशनिवेग ने किष्किधा पर चढाई कर दी। लका नरेश सुकेश और किष्किध नरेश, अपने भाई अन्धक के साथ युद्ध मे आ डटे। भयकर युद्ध हुआ। इसमे अन्धककुमार मारा गया। राक्षस-सेना और वानर-सेना भी भाग गई और लका नरेश सुकेश तथा किष्किध नरेश अपने परिवार के साथ भाग कर पाताललका❖ मे चले गये । अशनिवेग ने लका का राज्य 'निधति' नाम के विद्याधर को दिया । कालान्तर मे अशनिवेग ने अपने पुत्र सहस्रार को राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

पाताल-लका मे रहते हुए सुकेश के इन्द्राणी नाम की पत्नी से-माली, सुमाली और माल्यवान, ऐसे तीन पुत्र हुए और श्रीमाला के उदर से किष्किध के 'आदित्यरजा' और 'रुक्षरजा' नाम के दो पराक्रमी पुत्र हुए। एक बार किष्किध घुमता हुआ मधु नाम क पर्वत पर गया । वहाँ की शोभा देख कर वह आकर्षित हुआ और वहीं अपने परिवार के साथ रहने लगा । जब सुकेश के माली आदि पुत्र, समर्थ एव बलवान हुए और उन्होंने जाना कि हमारा राज्य शत्रुओ के अधिकार में है, तो वे तत्काल वहाँ से चले और लका में आकर निधति से युद्ध करके अपना राज्य पुन प्राप्त कर लिया और माली राज्य करने लगा। इसी प्रकार किष्किध का राज्य 'आदित्यरजा' ने ग्रहण कर लिया ।

रथनुपुर नगर के सहस्रार नरेश (अशनिवेग के पुत्र) की चित्तसुन्दरी रानी के गर्भ मे कोई उत्तम देव- मगलकारी शुभ स्वप्न के साथ आया । कुछ दिनो के बाद रानी के मन में अभिलाषा उत्पन्न हुई

❖ यह 'पाताल-लका' अधोलोक में इसी भूमि पर थी या इस भूमि के नीचे ? वहाँ व कितनी दूर थी ? अजैन-परम्परा में भी 'पाताल-लका' का उल्लेख है ।

कि- 'मैं इन्द्र के साथ सभोग करूँ । वह मन ही मन घुलने लगी । उसमे दुर्बलता बढ गई । यह देख कर राजा न उसकी उदासी एव दुर्बलता का कारण पूछा। पहले तो वह टालती रही, किन्तु शपथपूर्वक पर उसने कहा, - "महाराज ! मैं किस मुँह से कहूँ ? मेरे मन में ऐसी नीच एव दुराचारमय इच्छा चल रही है कि ऐसी इच्छा से तो मरना श्रेष्ठ है। यह इच्छा कभी पूर्ण नहीं की जा सकती। मेरे मन में इन्द्र के साथ सभाग करने की दुष्ट इच्छा चल रही है । यह बात मैं अपने मुँह से निकालू ही कैसे ?"

राजा ने उसे समझाया- "देवी ! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह गर्भस्थ जीव का प्रभाव हैं और इस इच्छा की पूर्ति मैं स्वय इन्द्र बन कर कर दूँगा। विद्या के बल से सहस्रार स्वय इन्द्र बन गया और रानी की इच्छा पूर्ण की । गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । दोहद के अनुसार उसका नाम इन्द्र रखा। यौवनवय आने पर राजा ने राज्य का भार इन्द्र को दे दिया और स्वय धर्म की आराधना करने लगा । इन्द्र ने सभी विद्याधर राजाओं को अधिनस्थ बना लिया और स्वय अपन आपको शक्ति-सामर्थ्य एव अधिकार आदि से इन्द्र ही मानने लगा। उसने देवेन्द्र की भाति चार लाकपाल सात सेना सात सेनाधिपति तीन परिषद्, वज्र, आयुध ऐरावत हाथी रभादि वारागना बृहस्पति नाम का मन्त्री और नैगमेषी नामक सेनानायक स्थापित किये। इस प्रकार वह इन्द्र के समान अखड राज करने लगा। उसका प्रताप और अहकार, लकापति माली नरेश सहन नहीं कर सका । उसने इन्द्र पर चढाई कर दी । युद्ध में माली की मृत्यु हुई । इन्द्र ने लका पर अधिकार करके विश्रवा के पुत्र वैश्रमण को राज्याधिकार दे दिये । माली का भाई सुमाली परिवार सहित पाताल-लका में चला गया।

रावण, कुंभकर्ण और विभीषण का जन्म

पाताल-लका में रहते हुए सुमाली को प्रीतिमति रानी से 'रत्नश्रवा' नाम का एक पुत्र हुआ। यौवन-वय में रत्नश्रवा विद्या की साधना करने के लिए कुसुमोद्यान में गया और एकान्त मे स्थिर एव अडिग रह कर जप करने लगा । उसी समय एक विद्याधर कुमारी, पिता की आज्ञा से वहा आई और कहने लगी - मैं मानव सुन्दरी नाम की महाविद्या हूँ और तेरी साधना से तुझे सिद्ध हो गई हूँ । रत्नश्रवा न विद्या सिद्ध हुई जान कर साधना समाप्त कर दी और दखा कि उसके सामने एक सुन्दर कुमारी खड़ी है। रत्नश्रवा न उसका परिचय पूछा । वह बाली;-

"मैं कौतुकमगल नगर के 'व्योमबिन्दु' विद्याधर राजा की पुत्री हूँ । कौशिका नाम की मेरी बडी बहिन, यक्षपुर नरेश विश्रवा की रानी है। उसके वैश्रमण नाम का पुत्र है वह इन्द्र की अधिनता में लका नगरी मे राज कर रहा है। मेरा नाम 'कैकसी' है। भविष्यवेत्ता के कहने से मेर पिता ने मुझे तुम्हारे पास भेजी है ।"

सुन्दरी कैकसी की बात सुन कर और रूप देख कर रत्नश्रवा प्रसन्न हो गया और अपने ईष्टजनों को पूछ कर कैकसी के साथ लग्न कर लिये और 'पुष्पक' नाम के विमान में बैठ कर क्रीडा करने के

लिए चले गए । कैकसी के उदर में सिंह के स्वप्न के साथ एक जीव उत्पन्न हुआ । गर्भ के प्रभाव से कैकसी के वदन पर और वाणी मे क्रूरता आ गई उसका शरीर कोमलता छोड कर दृढ हो गया । दर्पण उपस्थित होते हुए भी वह अपना मुँह, खड्ग की दमक मे देखने लगी । उसमे साहस इतना बढा कि वह इन्द्र पर भी अपनी आज्ञा चलाने का विचार करने लगी । अकारण ही वह मुँह से हुँकार करने लगी। उसने गुरुजनो को प्रणाम करना भी बन्द कर दिया । शत्रुओ के मस्तक अपने चरणो म झुके-ऐसे मनोरथ करने लगी । गर्भ के प्रभाव से इस प्रकार उसने दारुण भाव धारण कर लिया । गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक महापराक्रमी पुत्र को जन्म दिया । जन्म के बाद ही पुत्र की विशेषताएँ प्रकट होने लगी । वह माता के पास शय्या मे भी शाति से नहीं सोता और उछलता, हाथ-पाँव मारता हुआ चचलता प्रकट करता था । एक बार व्यन्तर जाति के राक्षसनिकाय के इन्द्र भीम ने उसके पूर्वज राजा मेघवाहन को दिया हुआ नौ मणियो वाला प्रभावशाली हार, उस बालक के देखने मे आया । उसने तत्काल उठा कर गले म पहन लिया । हार की मणिया में उसके मुँह का प्रतिबिब पडने लगा और वह दस मुँह वाला दिखाई देने लगा । इससे उसका नाम "दशानन" प्रसिद्ध हो गया । उसके साहस को देख कर माता आश्चर्य करने लगी तब रत्नश्रवा ने कहा-'मुझे चार ज्ञान के धारक मुनिराज ने कहा था कि इस हार को धारण करने वाला अर्द्धचक्री होगा ।'

कालान्तर मे कैकसी ने सूर्य के स्वप्न से गर्भ में आये हुए पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम 'भानुकर्ण' रखा गया । उसका दूसरा नाम 'कुभकर्ण' था । इसके बाद एक पुत्री को जन्म दिया जिसके नख, चन्द्र जैसे थे । इससे उसका नाम 'चन्द्रनखा' दिया । उसका विख्यात नाम 'सुर्पणखा' हुआ । इसके बाद एक पुत्र और हुआ जिसका नाम 'विभीषण' हुआ । तीनों भाई दिनोदिन बढने लगे ।

रावण की विद्या साधना

एक बार रावण अपने बन्धुओ के साथ खेल रहा था । अचानक उसने आकाश की ओर देखा । उसने देखा कि एक विमान उड रहा है और उसमे कोई बैठा है । उसने अपनी माता कैकसी से पूछा-'यह कौन उड रहा है- आकाश म ?' कैकसी ने कहा,-

"यह मेरी बडी बहिन कौशिका का पुत्र है । इसका नाम 'वैश्रमण' है । यह समस्त विद्याधरो के अधिपति इन्द्र का सुभट है । इन्द्र ने तेरे पितामह के ज्येष्ठ बन्धु माली नरेश को मार कर राक्षस द्वीप सहित लकापुरी इस वैश्रमण को दे दी । तभी से तेरे पिता अपने राज्य को पुन प्राप्त करने की आशा लिये हुए यहा रह रहे हैं ।

"राक्षसेन्द्र भीम ने, शत्रुओं के प्रतिकार के लिए अपने पूर्वज महाराज मेघवाहन को राक्षसी-विद्या के साथ राक्षस द्वीप, पाताल-लका और लकापुरी प्रदान की थी । ये लकानगरी मे राज करते थे । इस प्रकार वश-परम्परा से चला आता हुआ राज्य,शत्रुओं ने ले लिया और तेरे पितामह, पिता और हम सब

विवशतापूर्वक यहाँ रहते हैं और अपनी राजधानी पर शत्रु राज कर रहे हैं । तेरे पिता के हृदय में यह दु ख, शूल के समान सदैव खटकता रहता है ।"

"पुत्र ! मेरे मन में यह अभिलाषा है कि-कब वह शुभ दिन आवे कि मैं तुझे तेरे भाई के साथ लका के राजसिहासन पर बैठ कर राज करते और राज्य के इस लुटारुओं के तेरे कारागृह में बन्दी बने हुए देखूँ । जिस दिन यह शुभ सयोग प्राप्त होगा, वह दिन मेरी परम प्रसन्नता का होगा और मैं अपने को पुत्रवती होने का सौभाग्य समझूगी । बस, मैं इसी चिन्ता में जल रही हूँ ।"

माता के दु ख पूर्ण वचन सुनकर क्रोधाभिभूत हुए विभीषण ने भीषण मुँह बनाते हुए कहा -

"माता! तुम्हें अपने पुत्रों के बल का पता नहीं है । इन आर्य दशमुखजी के सामने बिचारा इन्द्र, वैश्रमण और अन्य विद्याधर किस गिनती में हैं ? हम आज तक अनजान थे । इसलिए आपका यह दु ख अब तक चलता रहा । दशमुखजी ही क्या ये कुभकर्णजी भी शत्रुओ को नष्ट-भ्रष्ट करने में समर्थ हैं । इनकी बात छोड दो, तो मैं भी आप सभी की आज्ञा एव आशीर्वाद से शत्रुओ का सहार करने के लिए तत्पर हूँ ।"

विभीषण की बात पूरी होते दशानन बोला-

"माता! आपका हृदय बडा कठोर एव वज्रमय है । आपने इस हृदय-भेदक शल्य को हृदय में क्यो छुपाये रखा ? इन इन्द्रादि विद्याधरो से भयभीत होने की क्या आवश्यकता है ? इन्हें छिन्न-भिन्न करना तो खेल-मात्र है । मैं इन्हें तृण के समान तुच्छ समझता हूँ ।"

"यद्यपि मैं अपने भुजबल से ही इन शत्रुआ का सहार कर सकता हूँ, तथापि कुल-परम्परानुसार पहले मुझे विद्या की साधना करना उचित है । इसलिए मैं छोटे भाई के साथ विद्या की साधना करना चाहता हूँ । अतएव आज्ञा दीजिए ।"

इस प्रकार निवेदन करके और माता-पिता की आज्ञा होते ही प्रणाम करके रावण अपने भाइयों के साथ अरण्य में गया । भयानक हिंसक-पशुआ से व्याप्त वन में प्रवेश करके योग्य स्थान पर तीनों भाई खडे हो गए और नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि स्थिर करके ध्यानस्थ हो गए । उन्होने दो प्रहर के ध्यान से ही समस्त वाछित-फलदायिनी अष्टाक्षरी विद्या सिद्ध कर ली । इसके बाद षोडशाक्षर मन्त्र का दस सहस्त्रकोटि जाप प्रारम्भ कर दिया ।

उस समय जम्बूद्वीप का अधिपति 'अनाहत' नाम का देव अपनी देवियों के साथ वहा क्रीडा करने आया । उसने इन तीनों साधकों को साधना करते देख [illegible] उसने इनकी साधना में बाधक बनने के लिए अपनी देवियो को उसके निकट [illegible] हो [illegible] करने का निर्देश दे कर भेजी । किन्तु देवियाँ उनके निकट आकर [illegible] हों [illegible] और कहने लगी-

"अरे ओ, ध्यान में जड के स[illegible] सा[illegible] देखो । हम देवियाँ तुम्हारे वश में हो चुकी हैं । अब इसके [illegible]

तपस्या कर रहे हो ? छोडो इस साधना को और चलो हमारे साथ । हम तुमको ससार का सभी प्रकार का सुख प्रदान करेंगी । तुम हमारे साथ यथेच्छ क्रीडा करना ।''

इस प्रकार देवियों ने आग्रह किया । किन्तु वे तीनों भाई अपनी साधना मे पूर्ण रूप से अडिग रहे और वे देवियाँ निराश हो गई । तब अनाहत देव ने स्वय आ कर कहा,-

''हे मुग्ध पुरुषो! तुम क्या व्यर्थ ही कष्ट उठा रहे हो ? तुम्हे किसने भ्रमजाल में फसाया ? किस पाखडी ने तुम्हें यह मिथ्या साधना बताई ? क्या होगा- इस कष्ट क्रिया से ? छोडो इस निरर्थक काय-क्लेश को और जाओ अपने घर । अथवा तुम्हारी इच्छा हो वह मुझ-से माँग लो मैं साक्षात् देव तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ । मैं तुम पर कृपावान हो कर तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर दूँगा ।''

देव के उपरोक्त वचन भी व्यर्थ गए और वे तीनों भाई ध्यान में अटल रहे । उन्हें अपने ध्यान में स्थिर देख कर देव क्रोधित हुआ और कहने लगा,-

''अरे ! मूर्खो मेरे जैसा कृपालु देव, तुम्हारे सामने होते हुए भी तुम अपनी हठ नहीं छोडते, तो तुम्हारा पाप तुम भुगतो ।''

इतना कह कर उसने अपने अनुचर व्यन्तरो को सकेत किया । व्यन्तरों ने उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया । वे किलकारिये करते हुए विविध रूप बना कर उछल-कूद मचाने, पत्थर फेकने, पर्वतो पर के शिखर तोड़ कर उनके सामने व आस-पास गिराने लगे । कोई सर्प का रूप धारण कर उनके शरीर पर लिपटने लगा, कोई सिह बन कर उनके निकट ही भयकर गर्जना करने लगा । कोई रींछ व्याघ्र, बिलाव आदि भयकर रूप धारण कर विविध प्रकार के शब्द करने लगे । किन्तु वे किंचित् भी चलायमान नहीं हुए । इसके बाद वे उसकी माता, पिता और बहिन सूर्पणखा के रूप बना कर उन्हे वन्दी रूप में उनके सामने लाये और उनसे करुण रुदन करवाने लगे । उन्होने उनसे कहलाया कि,-

''हे पुत्र! ये दुष्ट लोग हमे पशुओ की तरह मारते हैं । तुम्हारे देखते हुए ये क्रूर लोग हमें पीट रहे हैं । हे वीरवर दस मुख! तुम चुप क्यो हो ? बचाओ हमे इन दुष्टो से शीघ्र बचाओ । ये हमे जान से मार रहे हैं । बचा, बचा हे कुभकर्ण! हे विभीषण! अरे तुम हमारी रक्षा क्यो नहीं करते ?''

यों विविध प्रकार से करुणापूर्ण शब्दो के साथ विलाप करते रहे, किन्तु उन तीनो साधको मे से कोई भी किंचित् भी चलायमान नहीं हुआ । तब व्यन्तरो ने उन बनावटी मा-बाप के मस्तक काट कर उनके आगे डाल दिये । इतना होते हुए भी वे ध्यान मे अचल ही रहे । इसके बाद व्यन्तरो ने कुभकर्ण और विभीषण का मस्तक, रावण के आगे डाल दिया और रावण का मस्तक विभीषण और कुभकर्ण के आगे डाला । रावण तो अचल रहा, परन्तु विभीषण और कुभकर्ण क्षुब्ध हो गए । रावण के प्रति अनन्य प्रीति से वे विचलित हुए । किंतु रावण तो विशेष रूप से दृढ हो गया । उसकी दृढता देख कर आकाश में देवो ने 'साधु,साधु' कह कर हर्ष व्यक्त किया । उपद्रवी व्यन्तर भाग गये । उस समय रावण को एक हजार विद्याएँ सिद्ध हो गई । उनमें-

प्रज्ञप्ति, रोहिणी, गोरी, गान्धारी, नभ-सचारिणी, कामदायिनी, कामगमिनी, अणिमा लघिमा अक्षोभ्या, मन स्तभनकारिणी, सुविधाना, तपोरूपा, दहनि, विपुलोदरी, शुभप्रद, रजोरूपा, दिनरात्रि-विधायिनी, वज्रोदरी, समाकृष्टि अदर्शनी, अजरामरा, अनल-स्तभनी, तोयस्तभनी, गिरिदारिणी, अवलोकिनी वहनि, घोरा, धीरा, भुजगिनी, वारिणी, भुवना अवध्या, दारुणी, मदनाशिनी, भास्करी रूपसम्पन्ना, रोशनी, विजया, जया, वर्द्धनी, मोचनी, वाराही, कुटिलाकृति, चित्तोद्भवकरी, शाति, कौबेरी, वशकारिणी, योगेश्वरी, बलोत्साही, चडा, भीति, प्रघर्षिनी दुर्निवारा, जगत्कम्पकारिणी और भानुमालिनी इत्यादि महाविद्याएँ रावण को थाडे ही दिनों म सिद्ध हो गई ।

कुभकर्ण को-सवृद्धि, जृभिणी सर्वाहारिणी व्योमगामिनी और इन्द्राणी, ये पाँच विद्याएँ सिद्ध हुई ।

विभीषण को- सिद्धार्था, शत्रुदमनी,निर्व्याघाता और आकाशगामिनी- ये चार विद्या सिद्ध हुई ।

अनाहत देव ने रावण से क्षमा याचना की और रावण के लिए स्वयप्रभ नाम के नगर की वहा रचना की । रावण आदि को विद्या सिद्ध होने का शुभ समाचार सुनकर, उनके माता पिता, बहिन और अन्य स्वजन-परिजन हर्षोत्फुल्ल हो वहा आये । उन्होने उनका सत्कार किया और उसी नगर मे रहने लगे । इसके बाद रावण ने छह उपवास का तप कर के दिशाओ को साधने मे उपयोगी ऐसे 'चन्द्रहास' नाम के श्रेष्ठ खड्ग को सिद्ध किया ।

रावण का मन्दोदरी के साथ लग्न

उस समय वैताढय पर्वत पर सुरसगीत नामक नगर में 'मय' नाम का राजा राज करता था । उसकी हेमवती रानी से मन्दोदरी नाम की कन्या ने जन्म लिया । यौवनवय प्राप्त होने पर राजा, योग्य वर पाने का प्रयत्न करने लगा, किंतु योग्य वर नहीं मिलने पर चिन्ता करने लगा । तब उसके मन्त्री ने कहा,- "महाराज! चिन्ता क्यों करते हैं । रत्नश्रवा का पुत्र दशानन योग्य वर है । वह महाबली तो है ही, साथ ही उसने अभी सहस्र विद्या सिद्ध कर ली है । देव भी उसे डिगाने में समर्थ नहीं हो सका । उसके समान उत्तम वर अभी तो कोई दिखाई नहीं देता । आप उसी के साथ राजकुमारी के लग्न कर दीजिए ।" राजा को मन्त्री की सलाह उचित लगी । राजा अपनी रानी, परिवार और सेना के साथ पुत्री को ले कर स्वयप्रभ नगर आये और रावण के साथ मन्दोदरी का लग्न कर दिया ।

एक बार रावण, मेघरव नाम के पर्वत पर क्रीडा करने गया । वहाँ के सरोवर में सामूहिक रूप से छह हजार खेचर युवती कन्याएँ स्नानोत्सव मना रही थी । उन सब ने रावण को देखा । उसके रूप-यौवन एव बल को देख कर वे मुग्ध हो गई । उन सुन्दरियों में सर्वश्री और सुरसुन्दर की पुत्री पद्मावती, मनोवेगा और बुद्ध की पुत्री अशोकलता तथा कनक और सध्या की पुत्री विद्युत्प्रभा मुख्य थी। उनको तथा अन्य विख्यात कुलोत्पन्न अनुरागिनी युवतियो का रावण ने गन्धर्व विधि से वरण किया। यह देख कर उन कुमारियों के रक्षकों ने जा कर उनके माता-पिता को अवगत करते हुए कहा-

"आपकी पुत्रियो के साथ लग्न कर के कोई एक पुरुष ले जा रहा है ।" यह सुनकर विद्याधरा का राजा अमर-सुन्दर तथा उन कुमारियो के पिता क्रोधाभिभूत हो कर रावण पर चढ दौडे । इन्हें आता देख कर उन कुमारियों ने रावण से कहा-

"स्वामिन्! शीघ्र चलो, देर मत करो । यह अमरसुन्दर विद्याधरो का इन्द्र हैं और स्वय अजेय है, फिर इनके साथ कनक, बुद्ध आदि अनेक बलवान् वीर हैं। यदि ये आ पहुँचे, तो बचना कठिन होगा"

"सुन्दरियो! डरो मत । तुम मेरा रण-कौशल देखो । ये सभी गीदड अभी भाग जाते हैं ।"

इतने मे शत्रु-सेना आ गई । युद्ध हुआ और अन्त में रावण ने सभी को प्रस्वापन विद्या से मोहित कर के नागपाश मे बाध लिया । जब सभी कुमारियो ने पितृ-भिक्षा माँगी तब उन्हे मुक्त किया ।

कुभपुर के राजा महोदर की पुत्री तडिन्माला के साथ कुभकर्ण के और ज्योतिषपुर के राजा वीर की पुत्री पकजश्री के साथ विभीषण के लग्न हुए । रावण की रानी मन्दोदरी ने एक तेजस्वी पुत्र का जन्म दिया । उसका नाम 'इन्द्रजीत' रखा । उसक बाद दूसरा पुत्र हुआ उसका नाम 'मेघवाहन' दिया ।

रावण का दिग्विजय

लका नगरी पर वैश्रमण का राज्य था । अपने पूर्वजों के राज्य पर से पिता को हटा कर राज्य करने वाला वैश्रमण, अब रावण आदि भ्रातृ-मण्डल को खटक रहा था । कुभकर्ण और विभीषण लका में उपद्रव करने लगे । उनके उपद्रव से प्रभावित हो कर वैश्रमण ने अपना दूत, सुमाली के पास भेज कर कहलाया,-

"तुम्हारे पुत्र कुभकर्ण और विभीषण लका मे आ कर उपद्रव कर रहे हैं । इन मूर्ख बालको को रोको । यदि तुमने इन्हें नहीं रोका, तो उन्हें और उनके साथ तुम्हें भी माली के मार्ग-मृत्यु की ओर पहुँचा दिया जायेगा । ये उद्दड छोकरे हमारी शक्ति नहीं जानते, किन्तु तुम तो हमारे बल से पूर्ण परिचित हो । अतएव समझ जाओ और अपनी पाताल-लका में चुपचाप पडे रहो ।

दूत की इस प्रकार की अपमान-कारक बात सुन कर रावण क्रोधित हो गया और कहने लगा;-

"वह वैश्रमण किस बल पर घमण्ड कर रहा है ? बिचारा खुद दूसरे के आधीन हो कर पडा हैं और कर दे कर राज कर रहा है । उसे लज्जा आनी चाहिए । जा दूत! तू उस धीठ को कह दे कि अब तेरा शासन लका पर नहीं रह सकेगा ।"

दूत को चलता करने के बाद रावण आदि तीनो भाई सेना ले कर लका पर चढ आये । वैश्रमण भी सेना ले कर लका के बाहर आ कर रावण से जूझने लगा । थोडी देर के युद्ध से ही वैश्रमण की सेना का साहस टूट गया । वह भागने लगी । वैश्रमण ने देखा-"अब विजय रावण को वरण कर रही है। ऐसी दशा मे अपमानित हो ससार में रहने की अपेक्षा राज्य-मोह त्याग कर मोक्ष-मार्ग की ओर प्रयाण करना ही उत्तम मार्ग है । यह श्रेष्ठमार्ग ही पराजय की लज्जा एव अपमान से रक्षा कर क उच्च

स्थान प्रदान करने वाला है । राज्य-लिप्सा, विना विराग के शान्त नहीं होती और जब तक शात नहीं होती, तब तक वैर-विरोध विग्रह एव दुर्गति की सामग्री जुटती ही रहती है । उस समय मेरा पलडा भारी था, आज इनका पलडा भारी है । यह कर्म की उठा-पटक चलती ही रहती है । इसका छेदन करने के लिए निर्ग्रन्थ मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है '' - इस प्रकार विचार कर के वैश्रमण ने शस्त्र डाल दिये और युद्धभूमि से पृथक् हो कर स्वयमेव प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । वैश्रमण के प्रव्रजित होने की बात जान कर रावण ने भी शस्त्र रख दिये और तत्काल वैश्रमण मुनि के समीप आ कर नमस्कार किया और बोला

"हे महानुभाव! आप मेरे ज्येष्ठ बन्धु❖ हैं इसलिए अपने लघु-बन्धु का अपराध क्षमा करें । आप निश्चित हो कर लकापुरी में राज्य करें । हम यहा से अन्यत्र चले जावेंगे ।"

महात्मा वैश्रमणजी तो प्रव्रजित होते ही ध्यानस्थ हो गए थे । उन्होंने रावण की विनती की ओर लक्ष्य ही नहीं किया । महात्मा को निस्पृह जान कर रावण आदि उनकी क्षमा चाहते और वन्दना-नमस्कार करते हुए चल दिये और लकापुरी पर अपना अधिकार कर के विजयोत्सव मनाने लगे । इतने में वनपालक ने उपस्थित हो कर निवेदन किया कि-"वन मे एक प्रचण्ड उन्मत्त हाथी घूम रहा है । वह आपके वाहन के योग्य है उसके विशाल दतशूल हैं । मधुपिंगल वर्ण के नेत्र हैं शिखर के समान उन्नत कुभस्थल है । वह अन्य हाथियों से उत्तम है ।"

रावण, वनपालक की बात सुन कर तत्काल चल निकला और वन मे आ कर हाथी को वश में कर लिया तथा उस पर सवार हो कर लका में प्रवेश किया । गजराज के उत्तम गुणो से मुग्ध हो कर रावण ने उसका नाम 'भुवनालकार' दिया ।

रावण राज्य-सभा में बैठा था । उस समय 'पवनवेग' नाम का विद्याधर उपस्थित हो कर कहने लगा -

"देव! किष्किन्ध राजा के पुत्र सूर्यरजा और रुक्षरजा, पाताल-लका में से किष्किन्धा नगरी गये थे। वहा यम के समान भयकर यमराज के साथ उनका युद्ध हुआ । चिरकाल तक युद्ध करने के पश्चात् यम राजा ने दोनो को पकड कर बन्दीगृह मे डाल दिया और उन्हे नरक के नैरयिक के समान भयकर दु ख दे रहा है ।

"महाराज! वे आपके अनुचर-सेवक हैं, इसलिए पापात्मा यम से आप उनकी रक्षा करें । वे आपके हैं, इसलिए उनकी पराजय आपकी ही मानी जायगी ।"

पवनवेग की बात सुन कर रावण ने तत्काल सैन्य सज कर प्रयाण करने की आज्ञा दी और स्वय शस्त्र-सज्ज हो कर चला । किष्किन्धा नगरी के बाहर रावण ने यम का कारागृह देखा, जहा नरक के समान दु ख देने की कुछ व्यवस्था की गई थी । जैसे- शिलास्फालन (बन्दी को शिला पर पछाड़ कर मारना) परशुच्छेद (फरसे से काटना) आदि । यह देख कर रावण ने कारागृह के रक्षक नरकपालो को

❖ मासी का पुत्र ।

त्रासित कर भगा दिया और सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया । नरकपाल भाग कर यमराज के पास गये। यम क्रोध मे भभक उठा और युद्ध करने के लिए आ डटा । दीर्घकाल तक भयकर युद्ध हुआ । जब भीषणतम युद्ध से भी रावण का पराभव नहीं हो सका, तो यम एक भयकर दड उठा कर रावण पर प्रहार करने दौडा । रावण ने तत्काल क्षुरप्र बाण छोड कर उस दड के टुकडे कर दिए । यम ने रावण पर जोरदार बाण की वर्षा करके उसे बाणों से ढक दिया, किन्तु रावण की युद्ध-चातुरी ने सभी बाणों को व्यर्थ कर दिया और खुद ने भयकर बाण-वर्षा करके यम के देह को जर्जर एव बलहीन कर दिया। इस मार से यम की शक्ति नष्ट हो गई । वह युद्धभूमि से निकल कर विद्याधर नरेश इन्द्र के पास, रथनूपुर पहुँचा और निवेदन किया,-

"महाराज! मैं अब यम कार्य करने के योग्य नहीं रहा । मेरी सारी शक्ति रावण ने नष्ट कर डाली। वह यम का भी यमराज निकला । अब आप यह पद किसी अन्य बलवान् को दीजिए । रावण ने किष्किन्धा के नरकागार पर हमला कर के सभी नरकपाला को भगा दिया और सभी नारको को नरक से निकाल कर स्वतन्त्र कर दिया । रावण महाबली है, साथ ही क्षात्रव्रत का पालक है । इसी से मैं जीवित रह कर आपकी सेवा में पहुँच सका, अन्यथा मेरा प्राणान्त हो जाता ।"

"स्वामिन्! रावण ने वैश्रमण को जीत कर लका का राज्य और पुष्पक विमान पर भी अधिकार कर लिया है और सुरसुन्दर जैसे बलवान् विद्याधर को भी जीत लिया है । उसने विजयोन्मत्त हो कर किष्किन्धा पर अधिकार कर लिया होगा । अब क्या उपाय करना, यह आप ही सोचें । मैं तो शक्तिहीन बन चुका हूँ ।"

यम की दशा और रावण का पराक्रम जान कर विद्याधरपति इन्द्र कुपित हुआ । उसने सैन्य सगठित कर युद्धभूमि में जाने के लिए आज्ञा दी । किन्तु मन्त्रियो के समझाने से युद्ध स्थगित रखा और यमराज को सुरसगीत नगर दे कर सतुष्ट किया ।

रावण ने किष्किन्धा का राज, सूर्यरजा को और ऋक्षपुर का राज्य ऋक्षरजा को दिया और स्वय विजयोल्लासपूर्वक लकानगरी में आया और अपने पितामह के राज्य का सचालन करने लगा ।

बालि और सुग्रीव

वानराधिपति सूर्यरजा की इन्दुमालिनी रानी से 'बालि' नाम का एक महा बलवान् पुत्र हुआ । वह अत्यत पराक्रमी और उच्च शक्ति का स्वामी था । इसके बाद दूसरा पुत्र हुआ उसका नाम 'सुग्रीव' रखा गया और इसके बाद एक पुत्री हुई जिसका नाम 'श्रीप्रभा' हुआ ।

ऋक्षरजा के हरिकान्ता रानी से 'नल' और 'नील' नाम के विश्व-विख्यात दो पुत्र हुए । आदित्यरजा (सूर्यरजा) अपने महाबली पुत्र बालि को राज्य दे कर प्रव्रजित हो गया और सयम-तप का विशुद्ध रीति से पालन करके मोक्ष प्राप्त किया। बालि ने अपने ही समान सम्यग्दृष्टि,न्यायी, दयालु और पराक्रमी ऐसे अपने छोटे भाई सुग्रीव को 'युवराज' पद पर स्थापित किया ।

शूर्पणखा का हरण और विवाह

एक बार मेघप्रभ विद्याधर के पुत्र 'खर' की दृष्टि में शूर्पणखा आई । वह उसे देखते ही आसक्त हो गया । शूर्पणखा भी खर पर मोहित हो गई । दोनो की परम आसक्ति होने से खर शूर्पणखा का हरण कर के पाताल-लका मे चला गया और चन्द्रोदर को हटा कर स्वय राजा बन गया । शूर्पणखा के हरण के समय रावण लका में नहीं था । जब रावण आया और उसे खर द्वारा शूर्पणखा के हरण के समाचार मिले, तो वह रोष में भर गया और खर का निग्रह करने के लिए पाताल-लका जाने लगा । किंतु महारानी मन्दोदरी ने रोका । वह बोली,-

"आर्यपुत्र ! जरा विचार कीजिए । आपकी बहिन का बलपूर्वक हरण नहीं हुआ । वह स्वय खर पर आसक्त हुई । उसकी अनुमति स ही खर उसे ले गया है । आपको भी अपनी बहिन किसी को देनी ही थी । जब बहिन ने स्वय अपना वर चुन लिया, तो आपको रोष करने की बात ही क्या रही ? वैसे खर भी कुलवान् विद्याधर का पुत्र है । अतएव बहिन की इच्छानुसार पति मिलने की प्रसन्नता होनी चाहिए । अब आपका कर्त्तव्य है कि मन्त्रीगण को भेज कर दोनों के लग्न की तैयारी करें । खर आपका विश्वसनीय सुभट होगा । अतएव आपको तो प्रसन्न ही होना चाहिए ।"

महारानी मन्दोदरी की बात का कुभकर्ण और विभीषण ने भी समर्थन किया, तब रावण ने मय और मारीच नाम के दो राक्षसों को भेज कर शूर्पणखा का खर के साथ विवाह करवा दिया । रावण की आज्ञा में रह कर, खर पाताललका का राज करता हुआ शूर्पणखा के साथ भोगासक्त हो गया ।

खर द्वारा निकाले हुए चन्द्रोदर का आयुष्य अल्प ही था । वह थोडे ही दिनों में मर गया । उस समय उसकी रानी अनुराधा गर्भवती थी । वह भाग कर वन म चली गई । वन मे उसके पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'विराध' रखा । युवावस्था में वह सभी प्रकार की कलाओं म पारगत हुआ । वह नीति आदि गुणों से युक्त था । वह पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा ।

बालि के साथ रावण का युद्ध

रावण अपनी राजसभा में बैठा था । वार्त्तालाप के समय किसी सामन्त ने किष्किन्धा नरेश बालि के बल पराक्रम और अपराजेय शक्ति का वर्णन किया, जिसे सुन कर रावण आवेशित हो गया । उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और बालि के लिए सन्देश ले कर भेजा । दूत किष्किन्धा म बालि नरेश की सेवा में उपस्थित हो कर विनय पूर्वक बोला;-

"परम पराक्रमी महाराजाधिराज दशाननजी ने आपके लिए सन्देश भेजा है कि किष्किन्धा का राज्य मेरे पूर्वज महाराज कीर्तिधवलजी ने, आपके पूर्वज श्रीकठजी की शत्रुओं से रक्षा करके, निर्वाह के लिए दिया था । वे महाराजाधिराज कीर्तिधवलजी की आज्ञा में, उनके सामन्त रह कर राज्य करते रहे न यह

स्वामी-सेवक सम्बन्ध चलता रहा । इन्द्र के पराक्रम के सामने किष्किन्धराज को पराजित हो कर पलायन करना पड़ा । तुम्हारे पिता आदित्यरजा को यम ने बन्दी बना कर, नरक के समान यातना देता था, तब मैंने उन्हे कारागृह से छुड़ाया और पुन किष्किन्धा का राज्य दिया । वे लंका राज्य की अधिनता मे राज करते रहे । अब तुम्हें भी अपने पिता के समान हमारा अनुशासन स्वीकार कर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए ।"

दूत की बात, बालि नरेश को रुचिकर नहीं लगी । उन्होने कहा,-"लंकेश और किष्किन्धेश के परस्पर स्नेह सम्बन्ध रहा है स्वामी-सेवक सम्बन्ध नहीं । हम स्नेह सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए तत्पर हैं । स्वामी-सेवक संबध हमें मान्य नहीं है । यदि दशाननजी, पारस्परिक स्नेह सम्बध रखने और बढाने को तत्पर हो, तो हम भी तत्पर हैं । अन्यथा वे जैसा ठीक समझें वैसा करें ।"

बालि का उत्तर सुन कर, रावण युद्ध के लिए किष्किंधा पर चढ आया । युद्ध प्रारम्भ हो गया । सैनिक, घोडे और हाथी कटने लगे । बालि नरेश के मन में अनुकम्पा जाग्रत हुई । उन्होंने युद्ध बन्द करके रावण के पास सन्देश भेजा,-

"आप भी सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं । व्यर्थ की हिंसा से आपको भी बचना चाहिये । यदि युद्ध आवश्यक ही है, तो आपको व मेरे बीच ही युद्ध हो जाय । निर्दोष सैनिको और हाथी-घोडे को मरवाने और पृथ्वी को रक्त में रंगने से क्या लाभ है? "

रावण भी सम्यग्दृष्टि श्रावक था । उसने बालि की बात मान ली । सेना मे युद्ध स्थगन की आज्ञा प्रचारित हो गई । दोनों ओर की सेना आमने-सामने स्तब्ध खडी हो गई । दोनों वीर, युद्ध-भूमि में आमने-सामने आ कर खड़े हो गए और एक-दूसरे पर प्रहार प्रतिकार एव स्वरक्षण करने लगे । रावण ने जितने भी शस्त्र चलाये, बालि ने उन सभी को व्यर्थ कर दिय । अपने अस्त्रो को व्यर्थ जाते देख कर रावण ने सर्पास्त्र और वरूणास्त्र आदि चलाये, किंतु समर्थ बालि ने अपने गरुडास्त्र आदि से उन्हें भी नष्ट कर दिये । जब सभी शस्त्र-अस्त्र व्यर्थ गए, तब रावण ने चन्द्रहास नाम का भयंकर खड्ग पकडा और बालि पर झपटा । रावण जब प्रहार करने के लिए निकट आया तो चतुर बालि ने अपने बायें हाथ से उसे पकड़ कर ऊँचा उठा लिया और खड्ग छिन कर रावण को अपनी बगल में दबा दिया । इसके बाद दर्पीश्वर महावीर बालि नरेश, रावण को बगल में दबा कर दौडते हुए चक्कर लगाने लगे॰ । इसके बाद रावण को छोड दिया । वह लज्जित हो कर नीचा मुँह किये खडा रहा ।

महानुभाव बालि नरेश को कर्म की विचित्रता एव संसार की भयंकरता का विचार आया । वे विरक्त हो गए उन्होंने रावण से कहा,-

"हे रावण! वीतराग-धर्म को पाकर भी तेरा राज्यलोभ नहीं मिटा । इस महत्वाकांक्षा से युद्ध में

॰ आचार्यश्री हेमचन्द्रजी लिखते हैं कि बालि ने क्षणभर में चार समुद्र सहित पृथ्वी की परिक्रमा कर ली । किन्तु मानव-शरीर से (बिना वैक्रिय के) ऐसा होना सभव नहीं लगता ।

प्रवृत्त हो कर जीवो का सहार करता है। इस महापाप से तू कैसे छूटेगा? यह राज्यश्री किसी के पास स्थायी नहीं रहती । इस पर कई आते हैं और कई जाते हैं। मुझे इस पर तनिक भी रुचि नहीं रही । मैं निर्ग्रंथ-मार्ग पर चल कर मोक्ष का शाश्वत राज्य पाने जा रहा हूँ । मेरा छोटा भाई सुग्रीव यहाँ का राज्य करेगा और वह तेरी आज्ञा में रहेगा ।"

महानुभाव बालिजी ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया और आप श्रीगगनचन्द्र मुनि के पास जा कर प्रव्रजित हो गए । आप विविध प्रकार के अभिग्रह तथा तप का सेवन करते हुए पृथ्वी पर विचरने लगे । उन्हें अनेक प्रकार की लब्धियाँ पाप्त हो गई । कालांतर में वे मासखमण का तप करके अष्टापद पर्वत पर कायोत्सर्ग करने लगे ।

रावण का उपद्रव और बालि महर्षि की मुक्ति

सुग्रीव ने रावण के साथ अपनी बहिन श्रीप्रभा का लग्न करके स्नेह-सम्बन्ध स्थापित किया और बालि के पुत्र चन्द्ररश्मि को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया ।

रावण नित्यालोक नगर की राजकुमारी से लग्न करने के लिए पुष्पक-विमान से जा रहा था। जब वह अष्टापद गिरि पर पहुँचा, तो उसका विमान अटक गया। विमान के रुकने का कारण जानने के लिए रावण ने नीचे देखा, तो उसे महामुनि बालिजी दिखाई दिये। उसकी कषाय सुलगी। वह सोचने लगा- यह ढोंगी है। साधु होकर भी मुझ पर वैर रखता है। उस समय इसने चालाकी से मुझे पकड़ कर बगल में दबाया था, किंतु उसके मन में भय अवश्य था, इसीलिए उसने अपने भाई को मेरे अधीन कर के खुद ने प्रव्रज्या ले ली, परंतु अब भी मेरे प्रति इसका वैरभाव है, इसी से इसने मेरा विमान रोका। मैं इसे इसकी दुष्टता का मजा चखाता हूँ,- इस प्रकार विचार कर दशानन, ध्यानस्थ मुनि को कूट सहित ▼ उठा कर समुद्र में फेंकने लगा। मुनिराज ने दशानन की अधमता और उससे होने वाले जीवों के सहार का विचार कर अपने पाव का अंगुठा दबाया । उनके दबाते ही दशानन गिर पड़ा और उसका शरीर दब कर संकुचित हो गया । हाथ- पाव आदि में गंभीर आघात लगा । वह रक्त-वमन करने लगा। उसे मृत्यु निकट दिखाई देने लगी। उसके हृदय से करुणापूर्ण चित्कार निकल गई और वह रोने लगा। उसका रोना सुन कर दया के भण्डार-महर्षि ने अपना अंगुठा हटा लिया । रावण बड़ी कठिनाई से उठ कर स्वस्थ हुआ। उसके रोने के कारण उस दिन से उसका नाम 'रावण' हो गया। रावण को अपनी भूल

▼ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी लिखते हैं कि रावण अपनी सहस्र विद्या के बल से पृथ्वी फाड़ कर नीचे घुसा और अष्टापद गिरि को उठा कर समुद्र में डालने का प्रयत्न करने लगा । पर्वत उठाते ही सारा वातावरण भयानक बन गया । व्यंतर त्रस्त हो गए । समुद्र के क्षुब्ध होकर छलकने से रसातल जलपूरित होने लगा । पर्वत पर से गिरते हुए पत्थरों से हाथी भयभीत हो गए, वृक्ष टूटने लगे इत्यादि ।

दिखाई दी। वह समझ गया कि मुनिश्वर तो क्षमा के सागर हैं। मैं स्वय अधम हूँ । उसने ऋषिश्वर के चरणों मे गिर कर वन्दना की और क्षमा याचना की। फिर वह अपने अभीष्ट की ओर चल दिया◆ । महामुनि श्री बालिजी ने घाती -कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।

तारा के लग्न और साहसगति का प्रपंच.

वैताढ्य पर्वत पर के ज्योतिपुर नगर मे 'ज्वलनशिख' नाम का विद्याधर राजा था । उसकी श्रीमती रानी से 'तारा' नाम की पुत्री का जन्म हुआ । वह उत्कृष्ट एव अनुपम सुन्दरी थी । उसके रूप की महिमा दूर-दूर तक पहुँच गई थी । चक्राक नाम के विद्याधर राजा के पुत्र साहसगति ने राजकुमारी तारा का देखा । उसके रूप-यौवन पर वह मुग्ध हो गया । उसने राजा ज्वलनशिख के पास राजदूत भेज कर तारा की याचना की । उधर वानरपति राजा सुग्रीव ने भी अपना दुत भेज कर यही याचना की । ज्वलनशिख की दृष्टि मे दोनो याचक जाति-सम्पन्न, रूप, पराक्रम और वैभव-सम्पन्न थे । दोनों में से किसकी माग स्वीकार की जाय-यह प्रश्न राजा के सामने उपस्थित हुआ । उसने ज्योतिष-शास्त्री से दोनों याचक-पात्रो का भविष्य पूछा ? ज्योतिषी ने कहा-'साहसगति अल्पायु है और सुग्रीव दीर्घायु है ' यह सुन कर ज्वलनशिख ने सुग्रीव के साथ तारा के लग्न कर दिये । निराश साहसगति मन ही मन जलने लगा । सुग्रीव और तारा के भोगफल के रूप म 'अगद' और 'जयानद' नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए । वे प्रतापी एव दिग्गज हुए ।

साहसगति तारा को भूल नहीं सका । वह तारा को प्राप्त करने के उपाय खोजने लगा । उसने निश्चय किया कि चाहे बल से हो या छल से, मैं तारा को प्राप्त कर के ही रहूँगा । उसने क्षुद्र हिमाचल की गुफा मे रह कर रूप परावर्तनी विद्या की माधना प्रारभ की ।

◆ आचार्यश्री हेमचन्द्रजी लिखते हैं कि रावण ने अष्टापद पर्वत पर भरत चक्रवर्ती नरेश के बनाये जिन-बिबों की पूजा की और अपने हाथों में मे नसों को निकाल कर हाथ की ही वीणा बनाई और भक्तिपूर्वक बजाने लगा । उसकी रानियें मनोहर गान करने लगी । उस समय धरणेन्द्र भी तीर्थ की वन्दना करन वहाँ आया और रावण की अनुपम भक्ति से प्रसन हा कर 'अमोघविजया शक्ति' और 'रूपविकारिणी विद्या' प्रदान की ।

उपरोक्त कथन में भरतेश्वर के समय के बिबा का करोड़ों सागरोपम तक रहना बतलाया यह सर्वथा अशक्य है। सिद्धान्त में उत्कृष्ट स्थिति सख्येय काल की बतलाई है (भगवती श ८ उ ९) इस से अधिक कोई बिब मूर्ति या पत्थरादि की वस्तु नहीं रह सकती । तब करोड़ों सागरोपम तक रहना अविश्वसनीय ही है और न इस कथन में किसी आगम का आधार ही है ।

हाथों में से नस निकाल कर और हाथ ही की वीणा बना कर बजाना आदि वर्णन भी समझ में नहीं आता ।

रावण की दिग्विजय

रावण ने दिग्विजय करने के लिए लका से प्रयाण किया । अन्य द्वीपो मे रहे हुए विद्याधर राजाओं को वश में करता हुआ वह पाताल-लका में आया । उसकी बहिन शूर्पणखा के पति 'खर' विद्याधर ने रावण को मूल्यवान् भेंट दे कर रावण का स्वामित्व स्वीकार किया । अब रावण महाराजा इन्द्र को जीतने के लिए आगे बढ़ा । उसके साथ खर भी अपनी सेना लेकर चला और किष्किन्धापति सुग्रीव भी साथ हो गया । विशाल सेना के साथ रावण आगे बढ़ता रहा । मार्ग में रेवा नाम की महानदी थी । उसके आस-पास का प्रदेश बड़ा सुहावना था । वनश्री और सलिला की मनोहरता देख कर रावण प्रसन्न हुआ । उसने वहाँ पडाव डाल दिया और जलक्रीडा करने लगा । वह जलक्रीडा कर ही रहा था कि अकस्मात् नदी का पानी बढने लगा । उसमे बाढ आ गई और दोनों किनारे छोड कर बाढ का पानी सम-प्रदेश में प्रसर गया । सेना में हा-हाकार मच गया । किनारे के वृक्ष उखड कर बहने लगे । रावण असमय और अकस्मात् आई हुई बाढ देख कर आश्चर्य करने लगा । उसने सोचा-'यह किसी शत्रु मनुष्य विद्याधर अथवा असुर की कुचेष्टा है',- यह सोच कर वह बाहर निकला । उसने अपने सेनापतियों को इस उपद्रव का कारण पूछा । एक ने कहा-

"देव! यहाँ से थोड़ी दूर पर माहिष्मती नाम की नगरी है । एक हजार राजाओं द्वारा सेवित प्रबल पराक्रमी ऐसा सहस्रांशु महाराजा वहा का शासक है । उसने बाध बाध कर रेवा के पानी को रोक लिया । जब वह अपने अन्त पुर सहित जलक्रीडा महोत्सव मनाता है और उत्साहपूर्वक कराघात करता है, तो पानी उछलता है और छलक कर सेतु से बाहर निकलता है । इससे रेवा में जल-वृद्धि होती है और जब वह सेतु के द्वार खोल देता है, तो भयकर बाढ आ जाती है । उसने आज सेतु का द्वार खोला है, इसी से बाढ आई है । वह अपनी सेना और अन्त पुर के साथ उत्सव मना रहा है" ॐ।

ॐ आचार्यश्री लिखते है कि रावण रेवा नदी में स्नान करके किनारे आया और मणिमय पट्ट पर रत्नमय जिनबिंब रख कर पूजा करने लगा । जब वह पूजा में मग्न था तभी रेवा में बाढ आई और रावण की की हुई पूजा को धो कर बहा ले गई । इस पर रावण क्रुद्ध हुआ । जब उसे मालूम हुआ कि सहस्रांशु और उसकी हजार रानियों के शरीर से दूषित हुए जल से उसकी देव-पूजा दूषित हो गई तो उसने इस महापाप का दड देने के लिए सेना भेजी और युद्ध कराया । यह कल्पना रावण की जिनभक्ति के साथ बुद्धिहीनता विवेक-विकलता एव क्षुद्रता प्रकट करती है। किसी भी नदी में ऊपर कोई नहीं नहाता-धोता मल-मूत्र नहीं करता - ऐसी धारणा रावण ने कैसे बना ली थी ? सहस्रांशु जिसमें स्नान कर रहा था उसके कुछ दूर भैंसे-गाय आदि भी पानी पीती और मल-मूत्र त्यागती रही होगी और मत्स्य कच्छादि तो उसमें जन्मते मल-मूत्र त्यागते भोग करते झूठन छोडते और मरते रहते है । उनसे पूजा दूषित नहीं हुई किन्तु राजा-रानी के नहाने से दूषित हो गई ? खुद रावण ने भी तो नदी में स्नान कर के जल को दूषित बनाया जिससे सारी नदी का जल दूषित हुआ । इतना विचार भी रावण को नहीं हुआ । फिर इस दोष के परिहार का उपाय क्या युद्ध ही था?

जो बाढ बडे-बडे जहाज पत्थरों और पेडों को बहा कर ले गई वह मात्र पूजा ही ले गई मणिपट्ट और मूर्ति नहीं ले गई इसका क्या कारण है ?

रावण यह सुन कर क्रोधित हुआ। उसने सेना भेज कर युद्ध प्रारंभ करवाया घमासान युद्ध हुआ। जब सहस्रांशु की सेना दबने लगी, तो वह स्वयं युद्ध में आ कर अपना पराक्रम दिखाने लगा। सहस्रांशु की मार सहन नहीं कर सकने के कारण रावण की सेना क्षति उठा कर भाग गई। अपनी सेना की पराजय देख कर रावण स्वयं समरभूमि में आया। अब दोनों महावीरों का साक्षात् युद्ध था। दोनों चिरकाल तक लड़ते रहे। रावण अपना पूरा बल लगा कर भी जब सहस्रांशु को नहीं हरा सका, तो उसने विद्या से मोहित कर के उसे पकड़ लिया और बन्दी बना कर अपनी छावनी में लाया, फिर भी वह सहस्रांशु के बल एवं साहस की प्रशंसा करता रहा। रावण अपनी विजय का हर्ष मना ही रहा था कि आकाश-मार्ग से शतबाहु नाम के चारण-मुनि आ कर वहां उपस्थित हुए। रावण ने मुनिवर को वन्दना-नमस्कार किया और विनयपूर्वक पदार्पण का कारण पूछा। मुनिराजश्री ने कहा,-

"मेरा नाम शतबाहु है। मैं माहिष्मती का राजा था। वैराग्य प्राप्त होने पर मैंने पुत्र को राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की।

मुनिराज इतना ही कह पाए कि रावण समझ गया और तत्काल बीच ही में बोल पड़ा-"क्या महाबाहु सहस्रांशु आपके पुत्र हैं?" मुनिश्री के स्वीकार करने पर रावण ने तत्काल सहस्रांशु को बुलाया। उसने आते ही लज्जायुक्त नीचा मुंह किये मुनिवर को नमस्कार किया। रावण ने उसे सम्बोध कर कहा;-

"सहस्रांशु! तुम मुक्त हो, इतना ही नहीं, आज से तुम मेरे भाई हुए। तुम प्रसन्नतापूर्वक रहो और विशेष में भूमि का कुछ हिस्सा मुझ से भी लेकर सुखपूर्वक राज करो।"

सहस्रांशु मुक्त हो गया, किन्तु उसने राज्य ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया और अपने पिता मुनिराज के पास प्रव्रजित होने की इच्छा बतलाई। उसने अपने पुत्र को राज्य का भार दिया और दीक्षा-महोत्सव होने लगा। मित्रता के कारण दीक्षोत्सव के समाचार अयोध्या नरेश 'अनरण्यजी' को पहुँचाये। समाचार सुन कर अयोध्यापति ने भी प्रव्रजित होने का संकल्प किया। उनके और सहस्रांशु के पहले ऐसा वचन हो गया था कि-'अपन दोनों साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे।' तदनुसार अनरण्यजी ने अपने पुत्र दशरथ को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। रावण ने मुनियों को नमस्कार कर प्रस्थान किया।

नारदजी का हिंसक यज्ञ रुकवाना

रावण आगे बढ़ रहा था कि-"अन्याय, अन्याय"-इस प्रकार पुकार करते हुए नारदजी वहां आये और रावण से कहने लगे;-

"इस राजपुर नगर में 'मरुत' नाम का राजा है। वह मिथ्यात्वियों से भरमाया हुआ, हिंसक-यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ में होमने के लिए बहुत से निरपराध पशु एकत्रित किये गये हैं। मैं आकाश-मार्ग से उधर जा रहा था तो मुझे चिल्लाते बिलबिलाते और आक्रन्द करते हुए पशुओं का समूह दिखाई दिया। मैं नीचे उतरा। यज्ञ का आयोजन देख कर मैंने राजा से पूछा-"यह क्या हो रहा है?"

राजा ने कहा-"यज्ञ कर रहा हूँ । ये याज्ञिक कहते हैं कि ऐसे यज्ञ से देवगण तृप्त होते हैं । इससे महान् धर्म होता है ।"

मैने कहा-"राजन्! तुम महान् अधर्म कर रहे हो । ऐसे यज्ञ से धर्म नहीं, पाप होता है । धर्म करना हो, तो अपने आप में ही यज्ञ करो । अपने शरीर की वेदी बनाओ, आत्मा को यजमान करो तपस्या रूपी अग्नि प्रज्वलित करो, ज्ञान का घृत और कर्म की समिधा तैयार करो । फिर सत्यरूपी स्तंभ गाड कर क्रोधादि कषायरूपी पशुओं को उस स्तभ से बाध दो । यह सब सामग्री तैयार करके ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूपी त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की स्थापना करो और उनके सामने शुभयोग से एकाग्र हो कर साधना करो । वह साधना मोक्ष-फल प्रदायक होगी । इस यज्ञ में समस्त प्राणियों की रक्षा ही दक्षिणा है । इस प्रकार का उत्तम यज्ञ ही तुम्हे करना चाहिए । क्या निरपराध पशुओं को मार कर प्राण लूटने से धर्म होता है ? और क्या देवों को रक्त और मास जैसी घृणित वस्तु ही प्रिय है ? राजन् ! तुम भ्रम में हो । तुम्हे ऐसा घोर पाप नहीं करना चाहिए ।"

मेरी उपरोक्त बात सुन कर ब्राह्मण क्रुद्ध हुए और डडे ले कर मुझे पीटन लगे । मैं भाग कर इधर आया । आपके मिलने से मेरी रक्षा तो हो गई, किंतु आप वहा चल कर उन पशुओ को बचाइए ।"

नारदजी की बात सुन कर रावण, यज्ञ-स्थान पर आया । राजा ने रावण का सत्कार किया और सिहासन पर बिठाया । रावण ने मरूत राजा को समझाया कि-"जिस प्रकार अपने शरीर को शस्त्र का घाव लगे, तो दु ख होता है, उसी प्रकार पशुओं को भी दु:ख होता है । दूसरे प्राणियों को दु ख देने से मुक्ति तो नहीं मिलती, किन्तु असह्य दु खों से भरपूर नरक मिलती है । तुम इस मिथ्यात्व को छोडो और वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त द्वारा प्ररूपित अहिसा-प्रधान धर्म की आराधना करो । इसी से महाफल की प्राप्ति होगी ।"

रावण की आज्ञा मान कर मरूत राजा ने वह यज्ञ बन्द कर के सभी पशुओं को मुक्त कर दिया ।

पशुबलि का उद्गम

रावण ने नारदजी से पूछा,-"महात्मन्! ऐसे पशुवधात्मक यज्ञो की प्रवृत्ति कब से प्रारम्भ हुई ?"

"राजन् । चेदी देश मे शुक्तिमति नामक एक विख्यात नगरी है । उसके बाहर शुक्तिमति नदी बहती है । उस नगरी में अनेक सदाचारी नरेश हो गए हैं । भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ में अभिचन्द्र नाम का श्रेष्ठ शासक हुआ । उनके पुत्र का नाम 'वसु' था । वह महाबुद्धिमान था और जनता में 'सत्यवादी' माना जाता था । वहा 'क्षीरकदम्ब' नामक उपाध्याय के विद्यालय में उपाध्याय पुत्र पर्वत, राजकुमार वसु और मैं भी विद्याध्ययन करता था । कालान्तर में रात्रि के समय हम तीनों आवास की छत पर सो रहे थे । उस समय दो चारण-मुनि आकाश-मार्ग से, इस प्रकार कहते हुए जा रहे थे;-

"ये जो तीन विद्यार्थी हैं इनमें से एक स्वर्गगामी होगा और दो नरकगामी होंगे ।"

मुनिवर की यह बात क्षीरकदम्ब उपाध्याय ने सुनी । वे चिन्ता-मग्न हो कर सोचने लगे-'मेरे पढ़ाये हुए विद्यार्थी नरक मे जावेगे ? 'उन्होंने परीक्षा करनी चाही और हम तीनों को आटे का बना हुआ एक-एक मुर्गा दे कर कहा-''जहाँ कोई नहीं देखता हो ऐसे एकान्त स्थान में जा कर इस मुर्गे को मार कर मेरे पास लाओ ।'' वसु और पर्वत तो उसी समय किसी जन-शून्य स्थान मे जा कर पिष्टमय कुर्कुट को मार कर ले आये । किन्तु मैं नगर से बहुत दूर वन में जाकर विचार करने लगा - ''गुरु ने इस कुर्कुट को ऐसे स्थान पर मारने की आज्ञा दी है कि जहाँ कोई देखता नहीं हो । यह जन-शून्य प्रदेश होते हुए भी यह कुर्कट स्वय देख रहा है । मैं भी देख रहा हूँ, नभचर पक्षी देख रहे हैं, लोकपाल देख रहे हैं और सर्वज्ञ भी देख रहे हैं । ससार मे ऐसा कोई स्थान नहीं कि जहाँ कोई भी नहीं देखता हो। गुरु की आज्ञा है कि 'जहाँ कोई नहीं देखता हो वहा मारना ।' इसका फलितार्थ तो यही हुआ कि इसे मारना ही नहीं और वैसे ही ले जाना । गुरुजी स्वय अहिसक एव दयालु हैं । न तो किसी को मारते हैं और न मारने की शिक्षा ही देते हैं । वे हिंसा के विरोधी हैं । कदाचित् हमारी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए उन्होंने यह आज्ञा दी है ।'' उस प्रकार विचार कर उस कुर्कुट को वैसा ही ले कर मैं गुरुजी के समीप आया और उसे नहीं मारने का कारण बतलाया । मेरी बात सुनकर गुरु ने-'धन्य धन्य' शब्द से प्रसन्नता व्यक्त की और समझ लिया कि यही शिष्य स्वर्ग के योग्य है । शेष दोनो नरक में जाने योग्य है । उपाध्याय ने पर्वत और वसु को कहा-'पापियो ! तुम स्वय देख रहे थे, नभचर देख रहे थे और सर्वज्ञ देख रहे थे । इसके देखते हुए तुमन कुर्कुट को क्यों मारा ? मेरी आज्ञा एव अभिप्राय पर विचार क्यो नहीं किया ? पापपूर्ण परिणति ने तुम्हारी मति ही दूषित कर रखी है । तुम विद्याभ्यास के योग्य नहीं हो ।' इस प्रकार कह कर उनका अध्ययन बन्द कर दिया । उपाध्याय को अपने प्रिय पुत्र और राजपुत्र की पापपूर्ण परिणति और अन्धकार युक्त भविष्य जान कर खेद हुआ और यह खेद उनकी विरक्ति का निमित्त बन गया । वे ससार त्याग कर निर्ग्रंथ बन गए । उनके प्रव्रजित होते ही उनका पुत्र पर्वत उपाध्याय बन गया और छात्रों को विद्याभ्यास कराने लगा । मैं अपने स्थान पर चला गया । कुछ काल बाद अभिचन्द्र नरेश के प्रव्रजित होने पर राजकुमार वसु, शासक-पद पर प्रतिष्ठित हुआ । प्रजा में वह 'सत्यवादी नरेश' के रूप में विख्यात हुआ ।

अधर सिंहासन ?

एक समय कोई शिकारी विंध्यगिरी के निकट शिकार खलने आया । उसने बाण छोड़ा किंतु वह मध्य मे ही रुक कर गिर गया । शिकारी को आश्चर्य हुआ । उसने सोचा मेरे बाण के स्खलित होने का क्या कारण है ? जब पत्थर आदि कोई रोक जैसा नहीं है, फिर बाण किस वस्तु से टकरा कर रुका?

वह निकट जा कर हाथ लम्बा कर स्पर्श करता है, तो उसे आकाश के समान निर्मल स्फटिक शिला स्पर्श हुआ। उसने सोचा-कहीं अन्यत्र चरते हुए मृग परछाई, इस स्फटिक-शिला पर पड़ी होगी और उसी को मृग मान कर मैने बाण मारा होगा? वह सत्यवादी राजा वसु के पास आया और एकान्त में नरेश को स्फटिक-शिला की बात बताई। राजा स्वयं वन में आया और स्फटिक शिला को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने शिकारी को बहुत-सा धन दिया और उस शिला को उठवा कर राज्य प्रासाद में लाया। फिर गुप्त रीति से राजसभा में उस शिला को वेदिका के समान स्थापित कर उस पर अपना सिंहासन रखवाया और वेदी बनाने वाले शिल्पकारों को मरवा दिया (जिससे रहस्य प्रकट नहीं हो सके)। स्फटिक वेदिका के बीच में आ जाने से सिंहासन भूमि से ऊपर-आकाश में अधर दिखाई देने लगा। यह देख कर अबुझ लोग कहने,-"राजा के सत्यवादी होने से-सत्य के प्रभाव से सिंहासन पृथ्वी से ऊपर उठ कर अधर (आकाश में) टिका है। सत्य-व्रत के प्रभाव से आकर्षित हो कर देवता, इस राजा के सिंहासन को आकाश में अधर लिये हुए है।" राजा अपनी मिथ्या मान-बड़ाई में मग्न हो कर इस पाखण्ड को चलाता रहा। उसकी सत्यवादिता, देवाधिष्ठित के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई। अन्य राजागण उसके प्रभाव से आतंकित हो कर उसके अधीन हो गए।

अर्थ का अनर्थ

नारद ने आगे कहा-एक बार मैं घूमता हुआ उपाध्याय पर्वत की पाठशाला में चला गया। वह अपने शिष्यों को ऋग्वेद की व्याख्या समझा रहा था। उसमें "अजैर्यष्टव्य" शब्द का-'भेड़ से यज्ञ करना'-अर्थ सिखाया जाता था। यह सुन कर मैंने उससे कहा-"भाई! तुम असत्य अर्थ कर रहे हो। गुरुजी ने इस शब्द का अर्थ-'तीन वर्ष पुराना धान्य" किया था जो फिर उगने की शक्ति नहीं रखता है। ऐसा धान्य-'अज' कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है-"न जायंते इति अज"-जो उत्पन्न नहीं हो वह 'अज' कहलाता है। इस प्रकार गुरुजी का बताया हुआ सत्य अर्थ तू भूल गया है क्या?"

पर्वत ने कहा-"नहीं, पिताजी ने इसका ऐसा अर्थ नहीं बताया था। उन्होंने 'अज' का अर्थ 'मेष' (मेढा) ही किया था और निघटु (कोष) में भी ऐसा ही अर्थ किया है।"

मैंने कहा-"शब्दों के अर्थों की कल्पना मुख्य और गौण-यों दो प्रकार से होती है। गुरुजी ने यहाँ गौण अर्थ बताया है। गुरु तो धर्म का ही उपदेश करते हैं। जो वचन धर्मात्मक हो, वही 'वेद' कहलाता है। इसलिए मित्र! बिना विचार किये अनर्थ करके पाप का उपार्जन करना तेरे लिए उचित नहीं है।"

मेरी बात सुन कर पर्वत आक्षेपपूर्वक बोला -

"नारद! गुरु ने तो अज का अर्थ 'मेढा' ही बताया है । तू स्वय अपनी इच्छा से अनर्थ करके अधर्म कर रहा है । अब इस का निर्णय सत्यवादी राजा वसु से करवाना चाहिए । नरेश के निर्णय से जो झूठा ठहरे, उसकी जिह्वा काट दी जाय ।" इस शर्त के साथ दोनों ने राजा से निर्णय कराना स्वीकार किया ।

इस विवाद एव शर्त की बात, पर्वत की माता ने सुनी, तो वह चिंतित हो गई । उसने एकांत में पुत्र से कहा-

"पुत्र ! तेने बडी भारी भूल कर डाली । मैंने भी तेरे पिता के मुँह से अज शब्द का वही अर्थ सुना- जो नारद कहता है । तेने आवेश में आ कर जिह्वा-छेद की शर्त करके बहुत ही बुरा काम किया है ।"

पर्वत ने कहा- "मा! मैं तो वचन-बद्ध हो चुका, अब पलटने का नहीं । जो होना है वह होगा ।"

पुत्र-वियोग की कल्पना से दु खित हो कर, पर्वत की माता, राजा वसु के पास गई । राजा ने गुरु-पत्नी का सत्कार किया और आने का कारण पूछा । पर्वत की माता ने पुत्र के जीवन की भिक्षा माँगी । राजा ने कहा-

"गुरुपुत्र तो मेरे लिए आदरणीय है । वह गुरु का उत्तराधिकारी होने के कारण गुरु-स्थानीय है । उसका अनिष्ट करने वाले को मैं समूल नष्ट कर दूँ । कौन है वह दुरात्मा जो उपाध्याय पर्वत का अनिष्ट करना चाहता है ? बताओ मा! मैं उसका नाम जानना चाहता हूँ ?"

गुरु-पत्नी ने सारा वृत्तांत सुनाया । सुन कर वसु स्तब्ध रह गया । उसने कहा-

"माता! पर्वत ने झूठा पक्ष लिया है । गुरु ने 'अज' का अर्थ मेढा नहीं किंतु तीन वर्ष पुराना-नहीं उगने वाला-धान्य ही बताया है । यदि मैं पर्वत का किया हुआ अर्थ मान्य करूँ, तो सत्य की घात होगी। गुरुवचन का लोप होगा और अधर्म होगा । अर्थ का अनर्थ करना तो बहुत बुरा है । माता! यह मैं कैसे कर सकूँगा ? पर्वत ने ऐसा मिथ्या पक्ष क्यों लिया और ऐसी कठोर शर्त क्या लगाई ?"

"यदि तुम गुरु के वश की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते हो, तो तुम्हे इस आपत्ति-काल में थोडी देर के लिए सत्य के आग्रह का छोडना होगा । अन्यथा तुम्हारे गुरु का वश ही डूब जायेगा । तुम्हें मेरे दु ख और गुरु वश के नष्ट होने का कुछ भी विचार नहीं है ? तुम अपनी हठ पर ही अडे हो तो तुम जानो ।" इस प्रकार कह कर वह रोषपूर्वक जाने लगी । उसे निराश एव रोषपूर्वक जाती हुई देख कर राजा पसीज गया और उसने उसे बुला कर पर्वत का मान रखने का वचन दिया ।

राज-सभा में सत्यासत्य का भेद करने वाले एव माध्यस्थ गुण से सुशोभित सभ्यजन उपस्थित थे। वे हस के समान न्याय करने मे निपुण थे । वसु नरेश स्फटिक-शिला की वेदी पर रखे सिंहासन पर

आसीन थे । मैं व पर्वत, सभा में उपस्थित हुए और वाद का विषय प्रस्तुत कर निर्णय माँगा । राजा ने सत्य की उपेक्षा कर के गुरु-पत्नी को दिये हुए वचन के वश होकर कह दिया कि- "गुरु ने 'अज' का अर्थ- 'मेढा' किया था ।"

राजा के मुँह से ये शब्द निकलते ही, निकट रहे हुए और राजा के निर्णय की प्रतीक्षा करने वाले व्यंतर देवों ने राजा को सिंहासन से नीचे गिरा दिया और उस स्फटिक मय वेदिका के टुकडे-टुकडे कर डाले । देवों की मार से मृत्यु पा कर वसु राजा नरक में गया । वसु का राज्याधिकार उसके पुत्र पृथुवसु ने ग्रहण किया । किंतु रुष्ट देव ने उसे भी मार डाला । इस प्रकार चित्रवसु, वासव शुक्र विभावसु, विश्वावसु, शूर और महाशूर, कुल आठ पुत्र राज्यासन पर बैठते ही मार डाले गये । नौवा पुत्र सुवसु, राज्य छोड कर नागपुर चला गया और बृहद्ध्वज नामक दसवाँ पुत्र मथुरा चला गया । नगरजनों ने अनर्थ के मूल ऐसे पर्वत को नगर से बाहर निकाल दिया, जिसे महाकाल असुर ने ग्रहण किया ।"

महाकाल असुर का वृत्तान्त

रावण ने नारदजी से पूछा-"महाकाल असुर कौन था ?"

नारदजी ने कहा-

"चारणयुगल नाम का एक नगर है । वहा अयोधन नामक राजा राज करता था । उसकी दिति नाम की रानी से 'सुलसा' नाम की पुत्री का जन्म हुआ । वह रूप-लावण्य से युक्त थी । युवावस्था में उसे 'इच्छित वर मिले'- इस विचार से राजा ने अनेक राजाओं को एकत्रित कर स्वयंवर का आयोजन किया । आमन्त्रित राजाओ मे 'सगर' नाम का राजा सभी राजाओं से विशेष सम्पन्न था । उसकी आज्ञा से मन्दोदरी नाम की प्रतिहारिका अयोधन राजा के अन्त पुर म बारबार जाने लगी । एक बार वह गृहोद्यान में होकर अन्त पुर में जा रही थी कि उसने देखा- रानी और राजकुमारी कदलिगृह में बैठी बाते कर रही है । उसके मन मे उनकी बाते सुनने की इच्छा हुई । वह चुपके से उनके पीछे लताकुञ्ज की आड मे छिप गई । उसने रानी के मुँह से निकले ये शब्द सुने -

"पुत्री ! तेरे पिताश्री ने तेरे वर के लिए अनेक राजाओ को आमन्त्रित किया है । इन सब राजाओं में से अपनी पसन्द का वर चुनने का तुझे अधिकार होगा । तू किसे पसन्द करेगी-यह मैं नहीं जानती । मेरी इच्छा है कि तू मेरे भतीजे मधुपिंग का वरण कर । तेरे पिता और मेरे पिता की वश-बेली भ. ऋषभदेवजी के पुत्र भरत-बाहुबली से प्रारंभ हुई है । तू भी उसी उज्ज्वल वश में जावे - ऐसी मेरी इच्छा है । बोल मेरी इस इच्छा को तू पूरी करेगी ?"

राजकुमारी ने माता के वचन स्वीकार करके वचन दे दिया । यह बात पीछे खडी हुई मन्दोदरी ने सुन ली । वह तत्काल वहाँ से निकली और सीधी सगर नरेश के पास पहुँची और माता-पुत्री की बात बतलाई । राजा उसकी बात सुन कर चिंतित हुआ । मधुपिग को किस प्रकार अपने मार्ग से दूर करना इसका उपाय सोचते हुए उसने अपने पुरोहित विश्वभूति से 'राजलक्षण-सहिता' नामक काव्य-ग्रथ शीघ्र रचने की आज्ञा दी, जिसमें इस प्रकार का निरूपण हो कि सगर, समस्त लक्षणों से युक्त और मधुपिग राजलक्षणो से रहित माना जाय । विश्वभूति शीघ्र-कवि था । उसने तत्काल वैसी सहिता की रचना की और पुरातन ग्रथ बताने के लिए एक पेटी में बद करके उन राजाओ की सभा में लाया, जो स्वयवर सभा मे सम्मिलित होने आये थे । उसने उस सहिता को खोलते हुए कहा-"यह राजलक्षण सहिता है । इसमें उन लक्षणो का वर्णन है-जो एक राजा मे अवश्य होना चाहिए । जिसमे ये लक्षण नहीं हो, वह राज करने योग्य नहीं होता ।"

विश्वभूति की बात सुन कर सगर राजा ने कहा-"यदि किसी राजा या युवराज मे राजा के याग्य लक्षण नहीं हो, तो उसका वध कर देना चाहिए, अथवा त्याज्य समझना चाहिए ।"

पुरोहित ने सहिता का वाचन प्रारभ किया । उसमें लिखे सभी लक्षण, सगर में तो स्पष्ट दिखाई देते थे, किंतु मधुपिग में एक भी लक्षण नहीं था । उसने अपनी पुस्तक म वैसे एक भी लक्षण का उल्लेख नहीं किया था जो मधुपिग म थे । सहिता के वाचन के उपरान्त मधुपिग ने अपने को अपमानित समझा और आवेश में सभा का त्याग कर गया । उसके हट जाने पर सुलसा ने सगर का वरण कर लिया और उसके साथ उसका लग्न हो गया ।

अपमानित मधुपिग बालतप करके असुरकुमार देवा में, साठ हजार असुरो का स्वामी 'महाकाल' नामक असुर हुआ । उसने अपने अवधि (अथवा विभग) ज्ञान से, अपने वैरी सगर राजा के निर्देश से विश्वभूति द्वारा निर्मित षडयन्त्र पूर्ण सहिता की वास्तविकता जानी । उसके हृदय मे रोष उत्पन्न हुआ । उसने सोचा-'इन सभी राजाओ को मृत्यु के घाट उतार दूँ ।' वह उन राजाओं का छिद्र देखने लगा । एक बार सुक्तिमति नगरी के पास नदी के तट पर उसने पर्वत-विप्र को देखा । वह तत्काल ब्राह्मण का रूप बना कर उसके सामने आया और कहने लगा,-

"मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूँ । मेरा नाम शाडिल्य है । मैं और तेरे पिता, सहपाठी थे । हम दोनों उपाध्याय श्री गौतम-शर्मा के पास साथ ही पढे हैं । अभी नारद ने और नगरजनों ने तेरा अपमान किया है । यह सुन कर मुझे दु ख हुआ और इसी दु ख से पीडित हो कर मैं तेरे पास आया हूँ । मैं मन्त्रबल से विश्व को मोहित कर के तेरे पक्ष को सबल बनाऊँगा । तू अपने पक्ष का साहस के साथ प्रचार करता रह ।"

इस प्रकार महाकाल की शक्ति से पर्वत, हिंसक अर्थ को सफल करने वाले पशु-वध रूपी यज्ञ का प्रवर्त्तन करने लगा । उसने बहुत से लोगों को मोहित करके अधर्म में लगा दिया । लोगा मे व्याधि तथा भूतप्रेतादि के रोग उत्पन्न कर के पशु-यज्ञ रूप उपाय से उपद्रवो की शाति करने लगा । इस प्रकार लोकोपकार के बहाने, हिसक यज्ञों का प्रचार किया । सगर राजा के अत पुर और परिवार म भी उस महाकाल ने भयकर रोग उत्पन्न किये। राजा भी लोकानुसरण कर के पर्वत का सम्मान करके यज्ञ करवाने लगा । इस प्रकार शाडिल्य रूपी असुर की सहायता से पर्वत ने हिसक यज्ञा द्वारा रोगो क उपद्रव को दूर किया ।

इसके बाद पर्वत, शाण्डिल्य के कहने से लोगों में प्रचार करने लगा कि-"सौत्रामणि-यज्ञ में विधिपूर्वक सुरपान करने से दोष नहीं लगता । गोसव नामक यज्ञ में अगम्या स्त्री के साथ गमन करना, मातृमेध यज्ञ में माता का वध पितृमेध यज्ञ में पिता का वध, अन्तर्वेदी में करना चाहिए । यह सब निर्दोष है। कछुए की पीठ पर अग्नि रख कर "जुष्यकाख्याय स्वाहा"-इस प्रकार बोल कर हुत द्रव्य से हवन करना। यदि कछुआ नहीं मिले तो गजे सिर वाला, पीतवर्ण वाला क्रिया-रहित और कुस्थानोत्पन्न किसी शुद्ध द्विजाति के जल से पवित्र किय हुए कुर्माकार मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें आहुति देना ।"

"जो हो गया है और जो हाने वाला है यह सभी पुरुष (ईश्वर)ही है। जो अमृत के स्वामी हुए हैं (मोक्ष प्राप्त हैं) और जो अन्न स निर्वाह करते हैं , वे सभी ईश्वर रुप ही हैं । इस प्रकार सभी एक पुरुष (ईश्वर) रूप ही है। इसलिए कौन किसे मारता है? मरने और मारने वाला कौन है ? अतएव यज्ञ के लिए इच्छानुसार प्राणियो का वध करना और यज्ञ में यजमान को मास-भक्षण करना चाहिये । यह देवताओ द्वारा उपदिष्ट है और मन्त्रादि से पवित्र किया हुआ है। "

इस प्रकार समझा कर सगर नरेश को अपने मत में सम्मिलित कर के उससे कुरुक्षेत्र आदि में बहुत-से यज्ञ करवाए । इस प्रकार इस मत का प्रसार करके उसने 'राजसूय यज्ञ' भी करवाए । उस महाकाल असूर ने यज्ञ होमे हुए उन राजा आदि को विमान पर बैठे हुए आकाश में दिखाए । इससे लोगो में विश्वास जमा और इससे पर्वत के मत की वृद्धि हुई । हिसक यज्ञ बढे । सगर राजा भी अपनी रानी सहित यज्ञ में जल-मरा । उसके मरने के बाद महाकाल असुर कृतार्थ हो कर अपने स्थान चला गया ।"

नारदजी ने कहा-"राजन् ! इस प्रकार पापी पर्वत के द्वारा इन हिंसक यज्ञों की उत्पत्ति हुई है। आपको इनकी रोक अवश्य करनी चाहिए ।"

रावण ने नारदजी की उपरोक्त बात स्वीकार की और उनका सत्कार करक उन्हें विदा किया।

नारद की उत्पत्ति

नारदजी के चले जाने के बाद राजा मरुत ने रावण से पूछा-"स्वामिन् ! यह परोपकारी पुरुष कौन था जिसकी कृपा से मैं पापरूपी अन्धकूप से निकला ?" मरुत को नारद की उत्पत्ति बतलाते हुए रावण कहने लगा –

"ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था । वह घरबार छोड कर तापस बन गया था । तापस होने के बाद उसकी कुर्मी नाम की पत्नी गर्भवती हुई । कालान्तर में राह चलते कुछ श्रमण, उस तापस के यहा आ कर ठहर । उन साधुओ मे से एक ने तापस से कहा-"तुम घरबार छोड कर वन में आ कर तप कर रहे हो फिर भी तुम्हारी वासना-स्त्री-सहवास चालू है, फिर घर छोड कर वनवास करने का क्या लाभ हुआ ? ब्रह्मरुचि, साधु की बात सुन कर विचार करने लगा । उसे उनकी बात उचित लगी और साधु के उपदेश से प्रतिबोध पा कर उसने साधु-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । उसकी पत्नी श्राविका हुई गर्भकाल पूर्ण होने पर उसके पुत्र का जन्म हुआ । जन्म के समय वह बच्चा रोया नहीं, इसलिए (रुदन नहीं करने, कारण) उस बच्चे का नाम 'नारद' रखा । कालान्तर मे कुर्मी कहीं बाहर गई, बाद में जृभक देव ने नारद का हरण कर लिया । पुत्र-वियोग से दु खी हो कर कुर्मी ने, सती इन्दुमालाजी के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली । जृभक देव ने नारद का पालन-पोषण किया और शास्त्रों का अभ्यास भी कराया । उसके बाद नारद को आकाशगामिनी विद्या भी दी । नारद श्रावक के व्रतों का पालन करता हुआ विचरने लगा । उसने मस्तक पर शिखा रखी और ऐसा रूप बनाया कि जिससे वह न तो गृहस्थ-दशा मे और न साधु-वेश मे माना जावे । वह गीत और नृत्य में रुचि रखता है और कलहप्रिय है । दो पक्षो को आपस में लडा कर मनोरजन करने में वह तत्पर रहता है । वह वाचाल भी बहुत है । दो राज्या में सधि या विग्रह करवा देना उसके लिए खेल मात्र है । हाथ में छत्र, अक्षमाला, कमडलु रखता और पाँवो में पादुका पहिन कर चलता है । इसका पालन देव ने किया इसलिए यह 'देवर्षि' कहलाता है । यह ब्रह्मचारी है किन्तु स्वेच्छाचारी है ।"

मरुत ने रावण के साथ अपनी 'कनकप्रभा' नाम की पुत्री का लग्न किया ।

सुमित्र और प्रभव

मरुत राजा की पुत्री के साथ लग्न करके रावण मथुरा आया । मथुरा नरेश हरि-वाहन, अपने पुत्र मधु के साथ रावण के स्वागत के लिए आया । स्वागत-सत्कार के पश्चात् रावण ने हरिवाहन राजा से पूछा-"कुमार के हाथ में त्रिशूल क्या है ?" पिता का सकेत पा कर मधु ने कहा-

"मेरे पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र ने मुझे यह त्रिशूल दिया है । त्रिशूल प्रदान करते समय उसन मुझे पूर्व-जन्म का वृत्तात इस प्रकार सुनाया था-

"धातकीखण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में, शतद्वार नगर के राजकुमार 'सुमित्र' और 'प्रभव' नाम के कुलपुत्र, सहपाठी थे । उन दोनों में अत्यत गाढ मैत्री सम्बन्ध था । वे सदैव साथ ही रहा करते थे । जब राजकुमार सुमित्र राजा हुआ, तो अपने मित्र प्रभव को भी उसने अपने समान ऋद्धि-सम्पन्न कर दिया । एक बार राजा सुमित्र, अश्वारूढ हो कर वनक्रीडा कर रहा था । घोडे के निरकुश हो जाने से मार्ग भूल कर चोरपल्ली में चला गया । पल्लीपति की युवती कुमारी वनमाला के अनुपम सौंदर्य पर मुग्ध हो कर राजा ने उसके साथ लग्न कर लिया । सुन्दरता की साकार लक्ष्मी वनमाला पर प्रभव की दृष्टि पडते ही वह मोहित हो गया । काम-पीडा से प्रभव चिन्तित रहने लगा । चिन्ता का प्रभाव शरीर पर भी पडा । वह दुर्बल होने लगा । अपने मित्र की दुर्बलता से राजा को खेद हुआ । उसने आग्रहपूर्वक कारण पूछा। प्रभव ने कहा -

"मित्र ! मैं क्या कहूँ ? कहना तो दूर रहा, सोचने योग्य भी कारण नहीं । जिसके विचार के पूर्व ही प्राणान्त होना श्रेयस्कर है- ऐसा अधमाधम कारण मैं तुम्हारे सामने कैसे बताऊँ ?"

"बन्धु ! तुम मुझसे भी बात छुपा रहे हो, यह मैंने अब जाना। तुम्हार मन मे मेरे प्रति वचना क्यों कर उत्पन्न हुई - राजा ने खिन्न होकर पूछा।

मित्र ! बात कहने के पूर्व मरना अच्छा है, फिर भी तुम्हारे सामने छुपाना नहीं चाहता। जब स मैंने रानी वनमाला को देखा है, तभी से मेरे पापी मन म पाप उत्पन्न हुआ और उसी पाप ने मेरी यह दशा कर दी। क्या, ऐसी अधमाधम बात मेरे मुँह से निकलना उचित है- दु खपूर्वक प्रभव ने कहा।

"मित्र ! तुम्हारे लिए मेरा राज्य और रानी ही क्या, यह जीवन भी अर्पण है। तुम प्रसन्न होओ। रानी तुम्हारे पास आ जायगी" - इतना कह कर सुमित्र चला गया।

रात्रि के समय वनमाला प्रभव के प्रासाद म पहुँची । उसने कहा- "नरेन्द्र ने मुझे आपके पास भेजी है। अब आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ?" रानी के निर्दोष मुख और राजा की अनुपम मित्रता देख कर प्रभव की पाप-भावना लुप्त हो गई। उसने रानी से कहा, -

"माता ! धिक्कार है मुझ पापी, नीच एव मित्र-द्रोही अधम को। मुझे पलभर भी जीवित रहने का अधिकार नहीं। सुमित्र तो आदर्श मित्र एव सत्त्वशाली है। मुझ अधम पर उसका उत्कृष्ट प्रेम है। क्योंकि ससार में कोई भी मित्र, प्राण तो दे सकता है, परन्तु प्राण-प्रिया नहीं देता। यह महान् दुष्कर कार्य सुमित्र ने किया है । माता ! अब तुम शीघ्र ही अपने भवन में जाओ । इस पापी की छाया भी तुम पर नहीं पडनी चाहिए" - खेद पूर्वक प्रभव ने कहा।

सुमित्र, प्रच्छन्न रह कर प्रभव की बात सुन रहा था। उसे अपने मित्र के शुभ विचार सुन कर प्रसन्नता हुई । रानी को प्रणाम कर के विदा करने के बाद पश्चाताप से दग्ध प्रभव ने खड्ग निकाला और अपना मस्तक काट ही रहा था कि राजा ने प्रकट हो कर उसका हाथ पकड लिया और उसके मन को शान्त करने के बाद वहा से हटा। कालान्तर में सुमित्र नरेश प्रव्रजित हो कर सयम का पालन करने लगे और आयु पूर्ण कर ईशान देवलोक म देव हुए । वहा से च्यव कर यहा तुम मधु के रूप में उत्पन्न हुए।

प्रभव का जीव भव-भ्रमण करता हुआ विश्वावसु की ज्योतिर्मती पत्नी से श्रीकुमार नाम का पुत्र हुआ। उसने उस भव में निदान युक्त तप किया और मर कर भवनपति मे चमरेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। मैं चमरेन्द्र अपने पूर्वभव के मित्र को देख कर स्नेहवश तुम्हारे पास आया हूँ । लो मैं तुम्हें यह आयुध देता हूँ । यह त्रिशूल दो हजार योजन पर जा कर अपना कार्य कर के लौट आता है।

चमरेन्द्र का कहा हुआ वृत्तात पूर्ण करते हुए राजकुमार मधु ने कहा- "महाराज! यह त्रिशूल वही है ।" राजकुमार मधु की भक्ति एव शक्ति देख कर रावण प्रसन्न हुआ और अपनी मनोरमा नाम की पुत्री राजकुमार को ब्याह दी ।

नलकूबर का पराभव

पराक्रमी नरेश इन्द्र❀ का लाकपाल 'नलकूबर' दुर्लध्यपुर मे राज करता था । रावण की आज्ञा से कुभकर्ण आदि ने सेना ले कर उस पर चढाई कर दी । नलकूबर ने आशाली विद्या के प्रयाग से नगर के चारो ओर सौ योजन पर्यन्त अग्निमय कोट खडा कर दिया और उसमे ऐसे अग्निमय यन्त्रो की रचना की कि जिनमे से निकलते हुए स्फुलिग आकाश में छा जाते हैं और ऐसा लगे कि जिससे आकाश प्रज्वलित होने वाला हो । इस अग्निमय प्रकोष्ट में अपनी सना सहित नलकूवर निर्भय हो कर रहता था और विभीषण पर क्रोधातुर हो रहा था । कुभकर्ण आदि ने जब अग्नि का किला देखा, तो चकित रह गए । उनकी किले पर दृष्टि जमाना भी दुभर हो गया । उन्होने विचार किया-'यह किला दुर्लध्य है। हम इसे जीत नहीं सकते ।' वे हताश हो कर पीछ हट गए और रावण का आग के किले के कारण उत्पन्न बाधा से अवगत कराया । रावण तुरन्त वहाँ पहुँचा और स्थिति देख कर स्वय स्तभित रह गया। वह सेनापतियों के साथ विचार-विमर्श कर के उपाय खोजने लगा । वे इसी चिन्ता मे थे कि रावण के पास एक स्त्री आई । उसने कहा-

"मैं नलकूवर की रानी उपरभा का सन्देश लाई हूँ । वह आप पर पूर्णरूप से मुग्ध है और आपके साथ रति-क्रीडा करना चाहती है । यदि आप उसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे, तो वह आपको आशाली विद्या देगी, जिससे आप इस अग्निकोट को शान्त कर के नलकूवर पर विजय प्राप्त कर सकगे । इसके सिवाय यहा 'सुदर्शन' नाम का एक चक्र-आयुध है, वह भी आपको प्राप्त हा जायगा ।"

दूती की बात सुन कर रावण ने विभीषण की ओर देखा । विभीषण ने 'एवमस्तु' कह कर दासी को रवाना कर दी । विभीषण की स्वीकृति रावण को अरुचिकर लगी । उसने क्रोधपूर्वक कहा,-

"तुमने स्वीकार क्यों किया ? अपने कुल में किसी भी पुरुष ने रणभूमि मे शत्रुआ का पीठ और परस्त्री को हृदय कभी नहीं दिया । तुमने स्वीकृति दे कर अपने उज्ज्वल कुल को कलकित किया है । तुम्हारे मुँह से ऐसी अशोभनीय बात की स्वीकृति कैसे हुई ?"

❀ इसका वर्णन पृष्ठ २० पर देखें ।

"आर्य ! शुद्ध हृदय से कही गई बात से कलंक नहीं लगता । उपरंभा को आने दो । उससे विद्या प्राप्त करो और शत्रु पर विजय प्राप्त कर के उसे युक्तिपूर्वक समझा कर लौटा दो । इससे हमारा काम भी बन जायगा और नीति भी अक्षुण्ण रह जायगी"-विभीषण ने कहा ।

रावण ने विभीषण की बात स्वीकार की । थोड़ी देर में उपरम्भा वहाँ आ पहुँची और रावण को आशाली विद्या दे दी, साथ ही अन्य कई अमोघ शस्त्र - जो व्यन्तर-रक्षित थे रावण को दिये । रावण ने उस विद्या का प्रयोग कर के अग्नि-प्रकोष्ट का समाप्त कर दिया और सेना सहित नगर पर चढ़ आया । नलकूवर ने रावण की सेना का सामना किया, किन्तु विभीषण ने उसे दबोच कर बंदी बना लिया और उसका सुदर्शन चक्र भी ले लिया । नलकूवर के आधीन हो कर क्षमा याचते ही रावण ने उसे छोड़ दिया और उसका राज्य उसे लौटा दिया । रावण ने उपरम्भा से कहा-

"भद्रे ! तू कुलांगना है । तुझे अपने उच्चकुल की रीति-नीति का प्राणपण से पालन करना चाहिए । तूने मुझे विद्यादान दिया है, इसलिए तू मेरे लिए गुरु स्थानीय है । इसके अतिरिक्त मैं पर-स्त्री का त्यागी हूँ । तू मेरी बहिन के समान है । अब तू अपने पति के पास जा ।" इस प्रकार कह कर उसे नलकूवर को दे दी । नलकूवर ने रावण का बहुत सत्कार किया । विजयी रावण और सेना वहाँ से प्रस्थान कर गई ।

इन्द्र की पराजय

नलकूवर पर विजय पा कर रावण की सेना रथनूपुर नगर की ओर गई । रावण की शक्ति और सैन्य-बल का विचार कर के राजा सहस्रार ने (जो उस समय संसार में ही थे) अपने पुत्र इन्द्र से कहा-

"पुत्र ! तुम परम पराक्रमी हो । तुमने अपने वंश की राज्यश्री में वृद्धि की है । दूसरों का राज्य जीत कर अपने राज्य में मिलाया है । दूसरे राजाओं के प्रताप का हनन कर के अपना प्रभाव जमाया है। इस प्रकार तुम्हारे शौर्य, पराक्रम और प्रताप से हमारा वंश गौरवान्वित हुआ है । अब तुम्हें समय का विचार कर के ऐसे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जो सुखकारी हो और प्राप्त सिद्धि सुरक्षित रहे ।"

"वत्स ! समय सदा एकसा नहीं रहता । संसार में कभी किसी का पुण्य-प्रताप बढ़ता रहता है, तो कभी घटता भी है । समय-समय बल-वीर्य पराक्रम और प्रभाव में अधिकता वाले मनुष्य होते रहते हैं। मैं सोचता हूँ कि अभी रावण का पुण्य-प्रताप उदयवर्ती है । उसने अनेक राजा-महाराजाओं पर विजय पाई है । वह चढ़ाई कर के आ रहा है । मेरी सम्मति है कि तुम रावण का आदर-सत्कार कर के तुम्हारी पुत्री रूपमती का लग्न उसके साथ कर दो । इससे परम्परागत वैर भी नष्ट हो जायगा और अपना गौरव भी बना रहेगा । प्रचण्ड दावानल के सामने जाना हितकारी नहीं होता । इसलिए तुम उसका सत्कार करने की तैयारी करो ।"

पिता की बात इन्द्र को रुचिकर नहीं हुई । उसका क्रोध शान्त नहीं होकर विशेष उग्र हुआ । उसने अपने पिता से कहा,-

"पिताजी ! वध करने योग्य शत्रु रावण का मैं सत्कार करूँ और पुत्री दूँ ? आप कैसी अनहोनी बात कर रहे हैं ? वह तो हमारा परम्परा का वैरी है । आप किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करें । जैसी उसके पितामह की दुर्गति हुई वैसी ही उसकी भी होगी ।"

इन्द्र, अपने पिता की सम्मति आक्रोशपूर्वक ठुकरा रहा था कि रावण का दूत आया और कहने लगा,-

"मेरे स्वामी, महाराजाधिराज दशाननजी की प्रबल शक्ति, अपरिमित बल एव उत्कट प्रताप से अभिभूत होकर अन्य राजाओ ने, महाराजाधिराज का सम्मान करके अधीनता स्वीकार कर ली । अब वे अपने दलबल सहित यहाँ आये हैं और आपके नगर के बाहर स्थित हैं । यदि आप भी उनका स्वामित्व स्वीकार कर लेंगे, तो सुरक्षित रह कर राज्य-भोग कर सकेंगे अन्यथा आप उनके कोपानल में नष्ट हो जावगे । आप अपना हित सोच लें और उचित का आदर करें ।"

दूत का सन्देश सुनकर इन्द्र का कोप विशेष बढा । उसने दूत से कहा -

"दूत! दशानन का काल उसे यहाँ खींच लाया है । निर्बल और सत्व हीन राजाओ पर विजय पाने से उसका अभिमान बढ गया । अब उसका घमड उसे विनाश के निकट ले आया है । अब भी यदि उसमे विवेक है तो मेरी भक्ति कर के अपनी रक्षा कर ले । अन्यथा मेरी शक्ति उसे यहीं नष्ट कर देगी । जा तू अपने स्वामी से मेरा आदेश शीघ्र सुना दे ।"

दूत ने इन्द्र की बात रावण को सुनाई । दोनो ओर की सेना युद्ध में सलग्न हो गई । जन-सहार होने लगा । रावण ने सोचा-'बिचारे सैनिको को मरवाने से क्या लाभ होगा । मुझे स्वय को इन्द्र से ही भिड जाना चाहिए ।' उसने अपने भुवनालकार नाम के हाथी को आगे बढाया और ऐरावत हाथी पर सवार इन्द्र के समक्ष उपस्थित हुआ । दोनो गजराजो की सूड परस्पर गूथ गई । विशाल दाँत टकराए । जिससे उडती हुई चिनगारियाँ सब का ध्यान आकर्षित करने लगी । दाँतो में पहिनाये हुए स्वर्णाभूषण टूट कर गिरने लगे और दाँतो के प्रहार से गडस्थल से रक्तधारा बहने लगी । उधर दोनो योद्धा, धनुषबाण मुद्गर, शल्य आदि से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे । वे एक-दूसरे के अस्त्रो को तोड कर अपने प्रहार को शत्रु-घातक बनाने का यत्न करने लगे । बहुत देर तक घात-प्रतिघात होते रहने के बाद रावण ने मौका देख कर अपने हाथी पर से छलाग मारी । वह इन्द्र के हाथी पर आ गया और उसके महावत को मार कर इन्द्र को दबोच लिया । बस, इन्द्र दब गया और रावण ने उसे बाँध कर बन्दी बना लिया । रावण विजयी हो गया और युद्ध रुक गया । अब रावण वैताढ्य के विद्याधरों की

दोनों श्रेणिया का अधिपति हो गया था । वह विजयोल्लास में आनदित होता हुआ, सेना सहित लका आया और इन्द्र को अपने कारागृह म बन्द कर दिया । जब इन्द्र के पिता सहस्त्रार को इन्द्र की पराज और बन्दी होने की बात मालूम हुई, तो वह दिक्पालो सहित लका में आया और रावण के सम उपस्थित होकर करबद्ध हो विनति करने लगा, -

"नरेन्द्र! आप महाप्रतापी हैं । आप जैसे प्रबल पराक्रमी मे पराजित होने में मुझे या मेरे पुत्र क किसी भी प्रकार की लज्जा नहीं है। एक योद्धा और पराक्रमी ही दूसरे योद्धा से लडता है । भयभी होकर अधीनता स्वीकार करना कायरों का काम है और साहसपूर्वक दुर्दम्य योद्धा से भिड़ जाना व पुरुप का ही कार्य है । विजय और पराजय होना दूसरी बात है । ससार में एक से एक बढ कर व योद्धा एव पराक्रमी होते हैं । आप जैसे वीरवर से पराजित होने में हमें किसी प्रकार की लज्जा नहीं है अब आप से मेरी प्रार्थना है कि आप उदारता पूर्वक मेरे पुत्र को छोड़ द ।"

"मैं इन्द्र को मुक्त कर सकता हूँ- यदि यह अपने दिक्पालों सहित इस नगरी की सफाई निरन्त करने और सुगन्धित जल से छिडकाव करते रहने का आश्वासन दे । यदि वह स्वीकार कर, तो इन मुक्त होकर अपना राज्य ग्रहण कर सकता है ।"

रावण की उपरोक्त शर्त स्वीकार हुई और इन्द्र रावण के कारागृह से मुक्त हुआ । वह मुक्त होकर रथनूपुर आकर रहने लगा । किंतु पराजय का दु ख, महाशल्य के समान उसके हृदय म खटक रहा था उसे अपना जीवन मृत्यु से भी अधिक दु ख-दायक लग रहा था ।

थोड़े दिनों बाद 'निर्वाणसगम' नाम के ज्ञानी मुनि वहाँ पधारे । इन्द्र उनको वदन करने गया और पूछा, -

"भगवन्! मैं किस पाप के फलस्वरूप रावण से पराजित हुआ ?"

मुनिराज बोले- "अरिंजय नगर में ज्वलनसिह नाम का विद्याधर राजा था । उसकी अहिल्या नाम की रूप सम्पन्न पुत्री थी । उसक स्वयवर में विद्याधरो के अनेक राजा उपस्थित हुए । उन राजाओ में चन्द्रावर्त नगर का 'आनन्दमाली' और सूर्यावर्त नगर का राजा 'तडित्प्रभ '- तू भी था । तुझे विश्वास था कि अहिल्या तुझे वरण करेगी, किन्तु उसने आनन्दमाली को वरण किया । तेने इसमें अपना अपमान माना और आनन्दमाली पर द्वेष रखने लगा । कालान्तर मे आनन्दमाली ने ससार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की और उग्र तप करता हुआ वह मुनियों के साथ रथावर्त नाम के पर्वत पर आया और ध्यानस्थ हुआ । सयोगवश तू भी पत्नी सहित उस पर्वत पर पहुँचा । जब तेने उस मुनि को देखा, तो तेरी ईर्षा प्रकट हो गई । तेने उस ध्यानस्थ मुनि को बाँध लिया और मारने लगा । तपस्वी मुनि समभाव युक्त मार सहन करते रहे । जब उस मुनि क भाई कल्याण नाम के मुनि ने, मुनि पर प्रहार करते तुझे

देखा, तो वे कुपित हो गए और तुझ पर तजोलेश्या फेकने लगे, किन्तु तेरी पत्नी ने भक्ति पूवक प्रार्थना करके मुनि को शान्त किया और तू बच गया । वहा का आयु पूर्ण कर तू भव-भ्रमण करने लगा । फिर पुण्योपार्जन से तू इन्द्र हुआ । तू इस समय जिस पराजय के दु ख को भोग रहा है यह तेरे उस पाप का फल है, जो तेने मुनि को बाँध कर प्रहार करने से उपार्जन किया था ।''

अपने पूर्व पाप का फल जान कर, इन्द्र विरक्त हुआ और प्रव्रजि॥ ग उत्कृष्ट आराधना से मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

रावण का भविष्य

कालान्तर म रावण, स्वर्णतुग गिरि पर केवलज्ञानी महर्षि अनतवीर्यजी को वन्दन करने गया । धर्मदेशना सुनने के बाद रावण ने पूछा- ''भगवन्! मेरी मृत्यु का निमित्त क्या होगा । मैं किस के द्वारा मारा जाऊँगा ?''

भगवान् ने कहा- ''रावण! भविष्य मे उत्पन्न होने वाले वासुदेव क द्वारा पर-स्त्री के निमित्त से तू मारा जायगा ।''

भगवान् से अपना भविष्य सुन कर, रावण ने प्रतिज्ञा की कि- ''जो पर स्त्री मुझे नहीं चाहगी मैं उसके साथ रमण नहीं करूँगा ।''

पवनंजय के साथ अंजनी के लग्न और उपेक्षा

वैताढ्य पर्वत पर 'आदित्यपुर' नाम का नगर था । 'प्रहलाद' नाम का राजा वहा का अधिपति था। उसके 'केतुमती' रानी स 'पवनजय' पुत्र का जन्म हुआ । पवनजय बलवान् एव साहसी था । आकाशगामिनी विद्या से वह यथेच्छ भ्रमण करता रहता था । उस समय भरत क्षेत्र में समुद्र के कि नारे, महेन्द्रनगर मे 'महेन्द्र' नरेश राज्य करते थे । उनकी 'हृदयसुन्दरी' रानी से 'अजना सुन्दरी' नामक पुत्री उत्पन्न हुई । जब वह यौवनावस्था मे आई, तब नरेश को वर खोजने की चिन्ता हुई । मन्त्रियो ने सैकडो-हजारो विद्याधर युवकों का परिचय दिया पट-चित्र दिखाये । एक मन्त्री ने राजा हिरण्याभ के पुत्र 'विद्युत्प्रभ' और प्रहलाद-नन्दन 'पवनजय' का पट-चित्र बतलाकर परिचय कराया । राजा को ये दोनों राजकुमार ठीक लगे । उन्होने मन्त्री से उनकी विशेषताएँ पूछी । मन्त्री ने कहा- ''दोनों राजकुमार समान कुल शील और रूप वाले हैं । किन्तु विद्युत्प्रभ तो युवावस्था मे प्रवेश होते ही प्रव्रजित होकर मोक्ष प्राप्त कर लगा-ऐसा भविष्यवेत्ता ने बतलाया है और पवनजय दीर्घायु है । इसलिये मेरा निवदन है कि राजनन्दिनी के लिए पवनजय उपयुक्त वर होगा ।''राजा को पवनजय सर्वथा योग्य वर प्रतीत हुआ।

राजा महेन्द्र और प्रहलाद नरेश के मध्य सन्देशों का आदान-प्रदान होकर सबध हो गया और लग्न की तिथि निश्चित हो गई । राजकुमार पवनजय के मन में अपनी भावी पत्नी को दखने की इच्छा हुई । उसके 'प्रहसित' नाम का मित्र था । राजकुमार ने मित्र से कहा-

"बन्धु! तुमने राजनन्दिनी अजना को देखा है ? वह कैसी है ?"

-हा बन्धु । मैंने उसे देखा है । वह देवागना के समान सर्वांग सुन्दरी है । उसका सौंदर्य देखने स ही जाना जा सकता है, वाणी द्वारा बताया नहीं जा सकता ।"

-"मैं अपनी होने वाली अर्द्धांगना को लग्न के पूर्व देखना चाहता हूँ, किन्तु गुप्तरूप स । इसका उपाय शीघ्र होना चाहिए"-पवनजय को विलम्ब सहन नहीं हो रहा था ।

"काई कठिनाई नहीं अपर रात्रि के समय, विद्या के याग से अदृश्य रह कर उसे देख सकेंगे"-मित्र ने उपाय बताया ।

रात्रि के समय दोना मित्र विद्या के बल से अदृश्य बन कर अजनासुन्दरी क भवन में पहुँचे । उस समय वह अपनी सखियों के साथ बैठी थी । दोनो मित्र अदृश्य रह कर देखने लगे । अजनासुन्दरी का अप्सरा के समान सौंदर्य देख कर पवनजय को प्रसन्नता हुई । वह प्रच्छन्न रह कर सखियों की बातें सुनने लगा । वसतमाला, अजनासुन्दरी से कहने लगी;-

"सखी । तू सद्भागनी है कि तुझे दव के समान उत्तम पति मिला है ।"

"क्या धरा है पवनजय मे । वह विद्युत्प्रभ की समानता कर सकता है, क्या"-मिश्रिका नाम की दूसरी सखी बोली ।

"विद्युत्प्रभ तो साधु होने वाला है और उसकी आयु भी थाडी है । इसलिए एसा वर किस काम का"-वसतमाला ने कहा ।

"देव समागम तो थोडा भी उत्तम है । अमृत यदि थोडा भी मिले, ता समुद्रभर खार पानी से तो श्रेष्ठ ही है "-मिश्रिका ने कहा ।

पवनजय मिश्रिका की कर्ण-कटु बात से क्रुद्ध हो उठा । अजनासुन्दरी की मौन और तटस्थता से उसका आवेश विशेष* भडका । उसने साचा-अजना को विद्युत्प्रभ प्रिय लगता है, इसलिए वह मेरी निन्दा सुन रही है । यदि इसके मन में मेर लिए स्थान होता, तो यह मेरी निन्दा नहीं सुन सकती और तत्काल रोकती । क्रोधावेश म ही वह प्रकट हो गया और खड्ग निकाल कर बोला-

* अन्य चरित्रकार लिखते हैं कि - वसतमाला की बात सुन कर अजनासुन्दरी ने विद्युत्प्रभ को बालब्रह्मचारी त्यागी निर्ग्रंथ एव मुक्त होने वाला जान कर धन्यवाद देते हुए भक्ति बतलाई । वह स्वय धर्म के रग में रगी हुई थी । अजना को विद्युत्प्रभ के प्रति श्रद्धा एव भक्ति व्यक्त करते देख कर पवनजय के मन में भ्रम उत्पन्न हुआ और वह क्रुद्ध हो गया ।

"जिसके मन में विद्युत्प्रभ के प्रति प्रेम है और जो उसकी प्रशसक है, उन दोनों का पवनजय का यह खड्ग स्वागत करेगा ।"

इस प्रकार कहता हुआ वह आगे बढता ही था कि उसके मित्र प्रहसित ने हाथ पकड कर रोक लिया और समझाने लगा,-

"मित्र ! शात बनो । तुम जानते हो कि स्त्री का अपराध हो, तो भी वह गाय के समान अवध्य है, फिर क्रोध क्यों करते हो ? और अजनासुन्दरी तो सर्वथा निरपराधिनी है । वह केवल लज्जा के वश हो कर ही चुप रही होगी । उसे अपराधिनी मान लेना अन्याय है ।"

दोनों मित्र वहाँ से लौट आये । पवनजय को रातभर नींद नहीं आई । प्रात काल उसने मित्र से कहा-

"बन्धु ! जो स्त्री अपने से विरक्त हो, वह देवागना से भी अधिक सुन्दर हो, तो किस काम की ? वह अशाति और आपत्ति का ही कारण बनती है इसलिए मुझे ऐसी स्त्री नहीं चाहिए । तुम पिताश्री से कह कर लग्न रुकवा दो ।"

"मित्र ! तुम्हारी बुद्धि मे विकार आ गया है । अरे ! अपने दिये हुए वचन का भी सज्जन लोग पालन करते हैं तब तुम्हारे पूज्य पिता के दिये हुए वचन का तुम उल्लघन करना चाहते हो ? यह तुम्हारे जैसे सुपुत्र के लिए उचित है क्या ? गुरुजन यदि तुम्हे बेच दें या किसी को दे दे तो भी सुपुत्र उसका पालन करता है, तो तुम अपने पिता का वचन कैसे तोड सकोगे ? तुम अजनासुन्दरी मे दोष देख रहे हो यह तुम्हारा भ्रम है । तुम उसके शुभ आशय को समझे बिना ही दूषित मानने की भूल मत करो"- प्रहसित ने पवनजय को शात करते हुए कहा ।

पवनजय को मित्र की शिक्षा से सतोष तो नहीं हुआ, किन्तु उसने लग्न करना स्वीकार कर लिया। निर्धारित समय पर दोनों के लग्न हो गए ।

अजनासुन्दरी के लिए श्वशुर ने सात खण्ड का भव्य भवन दिया और सभी प्रकार के सुख-साधन प्रदान किये । किंतु पवनजय उससे विमुख ही रहा । उसके मन में भ्रम से उत्पन्न रोष भरा हुआ था । इसलिए उसने अजना के सामने देखा भी नहीं । पति की विमुखता के कारण अजनासुन्दरी चिंतित रहने लगी । उसका खाना पीना सोना, बैठना आदि सभी क्रियाएँ उदासीनतापूर्वक होने लगी । उसके हृदय में से बार-बार नि श्वास निकलने लगा । उसकी रातें करवट बदलते एव तडपते हुए बीतने लगी । उसकी सखियाँ उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती हुई मीठी-मीठी बातें करती, किंतु अजना तो प्राय मौन ही रहती । इस प्रकार दु ख में काल निर्गमन करते २२ वर्ष बीत गए ।

राक्षसराज रावण का दूत, प्रहलाद नरेश के पास युद्ध मे सम्मिलित होने का निमन्त्रण ले कर आया । वरुण नाम का राजा रावण की अवज्ञा करता था । वह उद्दडतापूर्वक कहता कि-"रावण बहुत घमण्डी हो गया है । नलकूबर, सहस्राशु, मरुत,यमराज और इन्द्र आदि अशक्त राजाओ पर विजय

प्राप्त कर के उसका गर्व सीमातीत हो गया है । किंतु मेरे सामने उसका गर्व स्थिर नहीं रह सकेगा यदि उसने लडने का साहस किया, तो उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो जायगा," आदि ।

वरुण के अपमानजनक वचन, रावण सहन नहीं कर सका । उसने वरुण पर चढाई कर के उस नगर को घेर लिया । वरुण भी अपने 'राजीव' और 'पुडरीक' आदि पुत्रो और सेना को ले कर युद्ध क्षेत्र मे आया । घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया । इस युद्ध में रावण के वीर सामन्त खरदूषण को वरुण पुत्रों ने पकड कर बन्दी बना लिया और अपने नगर मे ले जा कर बन्दीगृह मे डाल दिया । राक्षसों सेना हताश हो कर छिन्न-भिन्न हो गई । वरुण इस विजय का हर्षोल्लास पूर्वक उत्सव मनाने लगा अपनी सना की दुर्दशा देख कर रावण ने अपने सभी विद्याधर राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजा उसी युद्ध का एक निमन्त्रण प्रहलाद नरेश के पास भी आया था । दूत का सन्दश सुन कर प्रहलाद नरे युद्ध की तैयारी करने लगे । जब पवनजय ने यह बात सुनी, तो पिता के पास गया और उनका जा रोक कर स्वय युद्ध में जाने को तत्पर हो गया । अजनासुन्दरी ने पति के युद्ध मे जाने और प्रयाण मुहूर्त की बात सुनी, तो वह पति की युद्ध-यात्रा देखने और पति के दशन करने के लिए भवन से ना उतर कर एक खम्बे के सहारे खडी हो गई । वह बहुत दुर्बल हो गई थी उसका मुख म्लान और दे कृश हो गई थी । जब राजकुमार पवनजय की सवारी निकट आई और कुमार की दृष्टि अपनी स्वक पत्नी पर पडी तो उसके रोष में वृद्धि हुई, उनकी भृकुटी चढ गई । उसने कुपित हो कर मुँह मो लिया । अजना ने पति द्वारा हुई अपनी अवगणना की कडवी घूँट पीते हुए निवेदन किया -

"स्वामी ! आप युद्ध मे जाने के पूर्व सब से मिले किन्तु मेरी ओर तो देखा तक नहीं ? नाथ कम से कम रण में जाते समय एक बार भी मुझ से बोल लेते, तो मेरे मन में शाति रहती । अस्तु । आ विजयी होवें । आप यशवत होव और क्षेम-कुशल शीघ्र पधारें ।"

पत्नी की उपरोक्त बात भी कुमार को शूल के समान खटकी । वे उस ओर से मुँह फिरा क आगे बढ गए ।

अजना को इस अवगणना से बहुत निराशा हुई । वह हताश हो गई । कुमार के दुर्व्यवहार को वसतमाला सहन नहीं कर सकी और वह उसे 'क्रूर निष्ठुर एव कठोर हृदयी' आदि कहने लगी । अजना ने सखी को रोकते हुए कहा-

"सखी ! तू क्रूद्ध मत हो । रणभूमि में जाते हुए आर्यपुत्र के प्रति दुर्भाव नहीं लाना चाहिए । वे निर्दोष हैं । जो कुछ दोष है, मरे अशुभ कर्मों का है ।"

अजना अपने खड में आ कर शय्या पर पड गई और तड़पने लगी । उधर राजकुमार अपने मित्र के साथ सेना की छावनी मे पहुँचे । सेना का पडाव मानसरोवर पर हुआ । सध्या के समय सरोवर के किनारे एक चक्रवाकी की ओर युवराज का ध्यान गया ।

उन्होंने देखा- वह पक्षिणी, मृणाल को ग्रहण करके भी नहीं खाती और अपने प्यारे के वियोग में

तडप रही है । चक्रवाकी की दशा पर विचार करते, पवनजय को अपनी पत्नी की दशा का विचार आया । उसन सोचा-'चक्रवाकी अपने पति के एक रात के वियोग से ही इतनी घबडा गई, तो अजना की क्या दशा होगी ? वह तो वर्षो से तडप रही है । मैने देखा है कि उसकी देह दुर्बल, निस्तेज और दु खपूर्ण थी । मैने आते समय उसकी अवगणना और अपमान किया । कदाचित् वह इस आघात को सहन नहीं कर सके और देह त्याग दे, क्योंक अब उसे किसी प्रकार की आशा नहीं रहीं ।" उपरोक्त विचार आते ही राजकुमार स्वय चिंतित हो गया । उसकी चिता बहुत बढ गई । उसने तत्काल मित्र से परामर्श किया । मित्र ने कहा-

"अब तुमने सही दिशा म विचार किया है । तुम्हारे निष्ठुर व्यवहार को सहन कर वह जीवित रह सकेगी-इसमें सन्देह है । इसलिए तुम अभी जाओ और उसे आश्वस्त करके प्रात काल होते यहाँ आ जाओ ।"

पवनजय को अब क्षणभर का विलम्ब भी असह्य हो रहा था । वह उसी समय मित्र को साथ ले कर आकाशगामिनी विद्या के बल से उड कर, अजनासुन्दरी के भवन में आया और द्वार पर ठहर कर दखने लगा । उसने देखा कि-अजना पलग पर पडी हुई तडप रही है । उसके हृदय से निश्वास निकल रहे हैं और हाथ-पाँव पछाड रही है । उसकी प्रिय सखी वसतमाला उसे धीरज बँधा रही है । अचानक अजना की दृष्टि द्वार पर पडी । प्रहसित को खडा देख कर वह चौंकी और बोली,-

"अरे तू कौन है ? यहाँ क्यो आया ? जा भाग यहाँ से ? वसतमाला ! निकाल इस लुच्चे को यहाँ से। अभी निकाल । इस भवन मे मेरे पति के सिवाय दूसरा कोई पुरुष नहीं आ सकता । निकाल धक्का दे कर शीघ्र इस अधम को ।"

"युवराज्ञी ! आपकी महापीडा का शमन करने के लिए युवराज पवनजय पधारे हैं । मैं उसका अभिन्न मित्र आपका बधाई देने के लिए आया हूँ"-पवनजय उसके पीछ खडा देख रहा था ।

"भाई प्रहसित ! क्या मेरी दशा पर हँसने के लिए तुम यहाँ आये हो । तुम्हें तो आर्यपुत्र के साथ युद्ध में जाना था । तुम यहाँ क्यों आये ? मेरे दुर्भाग्य पर हँसने से तुम्हे क्या मिलेगा ? मैं तो अब इस शरीर को ही शीघ्र त्यागना चाहती हूँ । जाओ भाई ! युद्ध-भूमि में जा कर अपने मित्र की सहायता और रक्षा का कार्य करो । भगवन्! तुम्हारा कल्याण हो ।"

'प्रिये ! बस, बस, हो चुका । बहुत हो चुका । मेरा पाप सीमा लाँघ चुका । मेरी मूर्खता और दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच गई । मुझे क्षमा कर दे। कल्याणी! मुझे क्षमा कर दे"- कहता हुआ पवनजय अजनासुन्दरी के निकट आया और उसके चरणो में झुकने लगा । उसके हृदय में पश्चात्ताप का वेग उमड रहा था। अजना इस अप्रत्याशित आनन्ददायक सयोग से अवाक् रह गई।

वह तत्काल सभली और पलग से नीचे उतर कर पति को प्रणाम करने के लिए झुकी। पवनजय ने उसे अपने भुज-पाश में आवेष्ठित कर पलग पर बिठा दिया । इस अभूतपूर्व आनन्द ने अजनासुन्दर के शरीर मे शक्ति का सचार कर दिय । मुखचन्द्र पर आभा व्याप्त हो गई। पति-पत्नी का मिलन देख कर प्रहसित और वसतमाला वहाँ से हट कर अन्यत्र चले गए। आमोद-प्रमोद में रात्रि शीघ्र व्यतीत हो गई । उषाकाल में पवनजय ने कहा- प्रिये मैं गुप्त रूप से आया हू और अभी गुप्त रूप से ही मुझे छावनी में पहुँचना है। तुम आनन्द म रहना। अब किसी प्रकार की चिन्ता मत करना और अपनी आरोग्यता बढाना । मैं शीघ्र ही विजय लाभ कर आऊँगा।"

"नाथ! आप आनन्दपूर्वक पधारें और विजयश्री प्राप्त कर के शीघ्र लौटें । मैं ऋतु-स्नाता हूँ । कदाचित् गर्भ रह जाय तो अन्य लोग मेरे चरित्र पर शका करगे और मुझ पर कलक लगावगे तब मैं क्या उत्तर दूँगी ? अपने पारिवारिकजन और दूसरे लोग जानते हैं कि लग्न के साथ ही आपकी मुझ पर पूर्ण विरक्ति रही । आप और मैं एक क्षण के लिए भी नहीं मिल सके । ऐसी दशा में सन्देह होना स्वाभाविक है । इसलिए आप मातेश्वरी से मिल कर पधारें तो अच्छा होगा" -अजना ने निवेदन किया।

"नहीं, प्रिये! उत्सव के साथ विजय प्रयाण करने के बाद मेरा गुप्तरूप से पुनरागमन पिताजी के मन में सन्देह भर देगा और वे मुझ पर विश्वास नहीं रख सकेंगे । इसलिए मेरा प्रच्छन्न रहना ही उत्तम है । मैं वसतमाला को समझा दूँगा और लो, यह मेरी नामाकित मुद्रिका । आवश्यकता पड़ने पर इसे दिखा देना । वैसे मैं भी शीघ्र ही लौट आऊँगा ।"

अजना न मुद्रिका लेते हुए कहा- "आर्यपुत्र! आप अवश्य विजयी होगे । मुझे आपकी विजय में तनिक भी सन्देह नहीं है । अपने स्वास्थ्य और शरीर की सभाल रखते रहें और अपनी दासी पर कृपा भाव रखें ।"

अजना ने अश्रुपूरित नयनों से पति को विदा किया । पवनजय ने वसतमाला को समझा कर मित्र के साथ प्रयाण किया ।

अंजनासुन्दरी निर्वासित

अजना सुन्दरी गर्भवती हुई । उसके अवयवों म सौंदर्य की दमक बढने लगी । अग-प्रत्यग विकसित एव सुशोभित होने लगे और गर्भ क लक्षण स्पष्ट होने लगे । यह देखकर उसकी सास रानी केतुमती को सन्देह हुआ । वह अजना की भर्त्सना करती हुई बोली -

"पापिनी! तूने यह क्या किया ? कुलटा! तूने तेरे और मेरे दोनो घरानों को कलकित कर दिया । मेरा पुत्र तुझ से घृणा करता रहा, तब मैं उसकी घृणा का कारण भ्रममात्र मानती रही । मैं नहीं जानती

थी कि तू खुद व्यभिचारिणी है । पवनजय के युद्ध मे जाने के बाद तू गर्भवती हो गई । तेरा पाप छुपा नहीं रह सका । तेरा मुँह देखने से भी पाप लगता है ।"

सासु द्वारा हुए तिरस्कार एव लगाये हुए घोर कलक से अजना के हृदय पर वज्रपात के समान आघात लगा । उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला । उसने बिना बोले ही पवनजय की दी हुई मुद्रिका सासु के सामने रख दी । किन्तु उससे उसका समाधान नहीं हुआ । उसने तिरस्कार पूर्वक कहा,-

"दुष्टा! तेरा पति, तेरे नाम से ही घृणा करता था । वह तेरी छाया से भी दूर रहा । इसलिए मैं तेरी किसी भी बात को नहीं मानती । कुलटा स्त्रियाँ अपना पाप छिपाने के लिए अनेक छल और षड्यन्त्र करती हैं । तेने भी कोई जाल रचकर मुद्रिका प्राप्त कर ली और सती बनने का ढोग कर रही है। मैं तेरी चालबाजी में नहीं आ सकती । तू यहाँ से निकल जा । मैं तुझे अब यहाँ नहीं रहने दूगी । जा, तू इसी समय तेरे बाप के यहाँ चली जा❖ ।"

वसतमाला ने अजना की निर्दोषता और पवनजय के आगमन की साक्षी देते हुए, केतुमती को शात करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका उलटा प्रभाव हुआ । जब विपत्ति आती है- अशुभ कर्म का उदय होता है, तो अनुकूल उपाय भी प्रतिकूलता उत्पन्न कर देते हैं । वसतमाला की बात ने केतुमती की क्रोधरूपी आग में घृत का काम किया । उसने वसतमाला को ताडना करते हुए कहा-

"कुटनी! तू ही इस पापिनी के पाप की दूतिका और सचारिका रही है । यदि तू सच्ची और सती होती, तो यह पाप चल ही नहीं सकता । तेने ही बाहर के पुरुष को लाने ले जाने का काम किया और मेरे पुत्र की आँखो में धूल डाल कर मुद्रिका चुरा लाई । चल निकल राँड, तू भी अपना काला मुँह कर यहाँ से । तेरे जैसी कुटनियाँ अच्छे उच्च घरानों की प्रतिष्ठा पर कालिमा पोत देती है । चल हट कलमुही"-कहते हुए जोर का धक्का दिया, जिसे घबराई हुई वसतमाला सहन नहीं कर सकी और भूमि पर गिर पड़ी । उस पर दो चार लाते जमाती हुई केतुमती वहाँ से चली गई और अपने पति प्रहलाद नरेश से कह कर अजना को निर्वासित करने की आज्ञा प्राप्त कर ली । उसके लिए रथ आकर खडा हो गया ।

❖ ग्रन्थकार ने केतुमती को क्रूर एव राक्षसी लिखा किन्तु केतुमती का क्रुद्ध होना सकारण ही था । ऐसी स्थिति में कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति सहन नहीं कर सकता । हम लोग अजना को प्रारम्भ से ही निर्दोष मान कर विचार करते हैं । किन्तु केतुमती के सामने अजना का सतीत्व सिद्ध नहीं हुआ था । वह जानती थी कि पवनजय ने युद्ध में जाते समय तक पत्नी के सामने नहीं देखा फिर वह उसकी निर्दोषता का विश्वास कैसे करे ? उसे सन्देह होना और क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था और प्रमाण में दिखाने योग्य वस्तुओ को चोरी कर के प्राप्त करना भी असभव नहीं है । अतएव केतुमती के इस कार्य को राक्षसीपन या क्रूरता मानना उचित नहीं लगता ।

अजनासुन्दरी और वसतमाला रोती विलखती हुई रथ में बैठ गई । रथ उन दु खी और रोती-कलपती हुई कुलागनाओं को लेकर निकला । महेन्द्रनगर के वन में ही रथ रुक गया । सन्ध्या हो चुकी थी । रथी ने विनयपूर्वक अजना को प्रणाम किया और क्षमा याचना करते हुए उतर जाने का निवेदन किया* ।

अजना और वसतमाला पर दु ख का असह्य भार आ पडा । अन्धेरा बढ़ रहा था । उल्लू बोल रहे थे । जम्बुक-लोमडी आदि की डरावनी चीखें सुनाई दे रही थी और सारा दृश्य ही भयावना हो गया राजभवन मे रहने वाली कोमलागियों के जीवन सहसा ऐसी घोर विपत्ति असह्य हो जाती है । फि मिथ्या कलक लेकर माता-पिता के सामने आने से तो मृत्यु वरण करने की इच्छा उत्पन्न कर देता है अन्धेरे में मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था । किधर जावे किससे पूछें । वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गई और चिता करने लगी । अजना के मन में भयानक भविष्य मण्डरा रहा था । उसने सखी से कहा-

"बहिन! माता-पिता के पास जाना भी व्यर्थ रहेगा । उनकी प्रतिष्ठा का प्रश्न उन्हें दु:खी करेगा । वे भी हमें कलकिनी मान कर आश्रय नहीं देंग । तब वहा जाकर उनके सामने समस्या खड़ी करने से क्या लाभ है ? तू नगर में चली जा । तुझ पर कोई कलक नहीं है । तुझे आश्रय मिल जायेगा । मुझे अपने फूटे भाग्य के भरोसे यहीं छोड दे । मैं अपना अपमानित मुँह लेकर माता-पिता के पास जाना नहीं चाहती ।"

-"नहीं बहिन! ऐसा नहीं हो सकता । मैं तुम्हें अकेली नहीं छोड सकती । अब तो सुख-दु ख और जीवन-मरण साथ ही होगा । दु ख की घडी में मैं तुम्हें अकेली छोड कर जाऊँ- यह कैसे हो सकता है ? मैं तुम्हारे साथ रहूँगी, तो तुम्हें भी कुछ हिम्मत दिलाती रहूँगी । अकेली का दु ख दुगुना हो जाता है । तुम घबराओ मत । माता-पिता अपनी बात सुनेंगे सोचगे । उन्हें अपनी बात पर विश्वास होगा । वे तुम्हारे दु:ख को अपना दु ख समझेंगे और अवश्य ही आश्रय देंगे । यह दु ख थोड़े ही दिनों का है । युद्ध समाप्त होते ही सारा भ्रम दूर हो जायेगा और सुख का समय आ जायेगा । तुम धीरज रखो। यदि माता-पिता ने आश्रय नहीं दिया, तो फिर यह स्थिति तो है ही । अभी मन को दृढ बना लो और जो भी स्थिति उत्पन्न हो उसे सहन करने का साहस करो । तुम्हें अपने लिए नहीं, तो गर्भस्थ जीव के लिए भी अपनी रक्षा करनी है । इसलिए साहस रखकर स्थिति को सहन करने को तत्पर रहो ।"

अजना को वसतमाला का परामर्श उचित लगा । उसने इन्हीं विचारों में रात बिताई ।

प्रात काल होने पर अग सकोचती और अपने को वस्त्र में छुपाती हुई दोनों दु खी महिलाओं ने

---

* जब अजना को पीहर पहुँचाना था तो पिता के भवन पर जा कर ही उतारना था । नगर के बाहर उतारना और अपनी ओर से लोक निन्दा का प्रसग उपस्थित करना अवश्य ही बुरा है ।

नगर मे प्रवेश किया । उसका मन दु ख, अपमान एव लज्जा के भार से दबा हुआ था । वे धीमी गति से राजप्रासाद के पास पहुँची । द्वारपाल ने विस्मयपूर्वक दोनो को देखा । वसतमाला ने द्वारपाल क द्वारा महाराज से अपने आगमन और स्थिति का निवेदन करवा कर अन्त पुर प्रवेश की आज्ञा माँगी । द्वारपाल ने नरेश के सामने उपस्थित होकर अजना के आगमन और वर्तमान दुरवस्था का निवदेन किया, और अन्त पुर प्रवेश की आज्ञा माँगी । अजना की दुर्दशा एव कलकित अवस्था सुन कर नरेश एकदम चिन्तामग्न हो गए । पुत्री और जामाता के अनबन की बात वे जानते थ । उन्ह भी अजना का गर्भवती होना शकास्पद लगा । पुत्री के मोह पर, प्रतिष्ठा के विचार ने विजय पाई । वे सभले और सोचने लगे,-

"ससुराल से समादरयुक्त आई हुई पुत्री का मैं आदर कर सकता हूँ । उसे छाती से लगा कर रख सकता हूँ, किंतु कलकित हो कर आई हुई पुत्री को अपनी सीमा म भी प्रवेश करने देना नहीं चाहता । यह कलकित हो कर मेरे यहाँ कैस आ गई ? क्या मरने के लिए उसे वहीं कोई उपाय नहीं सूझा ? या कोई दूसका स्थान नहीं मिला

राजा विचार कर ही रहा था कि उसका पुत्र प्रसन्नकीर्ति कहने लगा-

"पिताजी ! इस कलकिनी को यहा आना ही नहीं था । यदि वह वहीं आत्म-घात करके मर जाती, तो यह कलक-कथा वहीं समाप्त हो जाती और किसी को मालूम भी नहीं होता । अब इसे रख लेने से हम भी कलकित होंगे । हमारा न्याय कलकित होगा । जनता की नीति पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा । इसलिए इसे तत्काल यहाँ से निकाल देना ठीक होगा । जिस प्रकार सडे हुए अग और सर्पदश से विपाक्त बनी हुई अगुली को लोग काट कर फक देते हैं, उसी प्रकार इन्हे इसी समय यहाँ से हटा देना चाहिए ।"

राजकुमार की बात सुन कर मन्त्री बोला -

-"पुत्रियों को सास-ससुर की ओर से कष्ट हो, तो वे पिता के पास ही आती है । ऐसी स्थिति में उनका हितचितक पोषक एव रक्षक पितृगृह ही होता है । पितृगृह के सिवाय ससार में दूसरा कोई आश्रय नहीं होता । यदि पुत्री के साथ अन्याय होता है, तो उसका न्याय, पिता या भाई ही कर सकते हैं अबलाओ का आश्रय-स्थान श्वशुरगृह या पितृगृह होता है । इसलिए हमे राजदुहिता की बात सुन कर न्यायदृष्टि से विचार करना चाहिए । यदि विचार करने पर वह कलकिनी प्रमाणित हो, तो निकाल देनी चाहिए । यदि बिना विचार किये ही निकाल देगे, तो सभव है उसके साथ अन्याय हा जाय और बाद में पश्चात्ताप करना पड़े । इसलिए मेरा ता यही निवेदन है कि जब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो जाय उन्हे आश्रय देना ही चाहिए और गुप्तरूप से पुत्री का पालन-पोषण करना चाहिए ।"

-"मन्त्री ! तुमने कहा वह ठीक है । सास तो प्राय सभी जगह कठोर होती है और क्रूर भ होती है, किंतु वधू को सच्चरित्र होना ही चाहिए । यदि पुत्री शीलवती हो, तो पिता उसकी रक्षा करने में अपनी शक्ति भी लगा देता है, किंतु चरित्रहीन पुत्री को आश्रय देने वाले पिता की प्रतिष्ठा नहीं रहती। जब सामान्य मनुष्य भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करता है, तो शासक को विशेष रूप से करनं चाहिए । मैं जानता हूँ कि अजना और पवनजय के प्रारम्भ से ही मनमुटाव रहा और उसी दशा मे पवनजय रणभूमि मे गया । फिर अजना के गर्भ रहना क्या अर्थ रखता है ? इसलिए तुम विना विचा किये ही उसे यहाँ से हटा दो ।"

"महाराज ! न्याय कहता है कि आरोपी की बात भी सुननी

-"बस बस, मन्त्री ! कोई सार नहीं-इस प्रपन्च मे । मैं आज्ञा देता हूँ कि इसी समय उन्हें नग की सीमा से बाहर निकाल दिया जाय"-कह कर नरेश उठ गए ।

द्वारपाल ने राजा की आज्ञा अजनासुन्दरी को सुनाई । अजना की आशका सत्य निकली । उसे राज-भवन छोड कर जाना पडा । उन दोनों की आँखों स अश्रुधारा बह रही थी उनकी दयनीय दशा देख कर लोगों का हृदय भर आया । किंतु वे राजा के भय से कुछ भी सहायता नहीं कर सकते थे और न अजना ही लोगों से सहायता लेना चाहती थी । वे दोनों सखियाँ भूखी-प्यासी श्रात और दु खी थी । उनके पाँवो में छाले हो गए थे । काँटे चुभ कर रक्त निकल रहा था । किंतु वे चली ही जा रही थी । नगर को छोड कर शीघ्र ही वन में पहुँचने के लिए वे चली जा रही थी । जीवन में पहली बार ही इनको भूमि पर नग्न पाँवों से चलना पड़ा था । व गिरती-पडती डगमगाती वन में पहुँची । उनको आश्रय नहीं देने की राजाज्ञा नगर में ही नहीं आसपास के अन्य ग्रामो और बसतियों में भी पहुँच गई थी । उनके लिए वन में भटकने के सिवाय और कोई स्थान ही नहीं बचा था । वे भटकती हुई क्रमश महावन मे पहुँच गई । फिर एक वृक्ष क नीचे बैठ कर हृदय के आवेग को विलाप के द्वारा निकालने लगी । वह रोती हुई अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त करने लगी,-

"सासुजी ! आपका कोई दोष नहीं । आपने अपन कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए मुझे निकाला । यह उचित ही था । हे पिता ! मैं आपको बहुत प्रिय थी, किंतु आपने अपने कुल गौरव और सदाचार की रक्षा के लिए मुझे आश्रय नहीं दिया फिर मेरे श्वशुर पक्ष का भय भी आपके राज्य पर उपस्थित हो सकता था । हे मातेश्वरी ! आपने अपने पति का अनुसरण कर, अपने वात्सल्य का बलिदान किया, यह भी उचित ही था । हे भ्राता ! पिता का अनुसरण करना आपका कर्त्तव्य था । मैं आप किसी को दोष नहीं दती।"

"हे नाथ ! आपके दूर होते ही ससार मेरा शत्रु हा गया । पति के बिना पत्नी का जीवित रहना

विडम्बना पूर्ण ही होता है । वास्तव मे मैं स्वय हतभागिनी हुँ, जो पति से बिछुडी और स्वजनों द्वारा अपमानित होकर कलक का असह्य भार ढोती हुई भी जीवित हूँ । मेरे प्राण इस भीषण दु ख मे भी क्यो नहीं निकलते ?''

वसतमाला अजना को ढाढस बँधाने लगी । वे दोनो उठकर आगे चलने लगी । वे थक जाती, तो किसी वृक्ष के नीचे पड जाती । थोडी देर बाद फिर आगे बढती । नदी-नाले और झरनों का पानी पीती, वृक्षो के फलों से पेट की ज्वाला शात करती और रात के समय किसी वृक्ष के नीचे पड कर, धूल और पत्थरों तथा सूखे पौधा के तीक्ष्ण डठला पर शरीर को लम्बा कर लेट जाती । भयानक वनचर पशुओ की चीख, सर्प की फुँकार और सिहगर्जनादि भीषण वातावरण में, बिना निद्रा के भयभ्रान्त स्थिति में रात बिताती थी । एक दिन चलते-चलते एक पर्वत के पास पहुँची । उनकी दृष्टि एक गुफा पर पडी। वे गुफा के मुहाने पहुँची, तो उन्हें एक ध्यानस्थ मुनिराज दिखाई दिये । ऋषीश्वर के दर्शन से उनके मन में सतोष हुआ । महात्माजी को नमस्कार करके वे उनके सामने बैठ गई । मुनिराज ने ध्यान पूर्ण किया । वसतमाला ने अजना का परिचय देकर उसकी विपत्ति की कहानी सुनाई और बोली, -

''महात्मन्! इसके गर्भ में कैसा जीव है ? किस पाप के उदय से यह दुर्दशा हुई और भविष्य में क्या फल भोगना पडेगा ? यदि आप ज्ञानी हैं, तो बतलाने की कृपा करें ।''

हनुमान का पूर्वभव

महर्षि श्री अमितगतिजी ने अजना के वर्तमान दु ख का कारण बताते हुए कहा-

''इस भरतक्षेत्र मदिर के नगर में प्रियनन्दी नाम का एक व्यापारी रहता था । उसकी जया नामकी पत्नी से दमयत नाम का पुत्र था । वह रूप-सम्पन्न और सयमप्रिय था । एक बार वह क्रीडा के निमित्त उद्यान म गया । वहाँ एक मुनिराज ध्यान मे मग्न थे । दमयत ने मुनिश्वर को वन्दना की और बैठ गया। ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज ने दमयत को धर्मोपदेश दिया । दमयत उस उपदेश से प्रभावित होकर, सम्यक्त्व और विविध प्रकार के व्रत ग्रहण किये और धर्म में अत्यत रुचि रखता हुआ और सुपात्र-दानादि देता हुआ काल कर के दूसरे स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ । देवभव पूर्ण कर मृगाकपुर क राजा वीरचद्र को प्रियगुलक्ष्मी रानी के गर्भ से पुत्रपने उत्पन्न हुआ । उसका नाम सिहचन्द्र था । वह वहाँ भी जैनधर्म प्राप्त कर यथाकाल मृत्यु पाकर देव हुआ । देवभव पूर्ण कर वैताढ्य पर्वत पर वरुण नगर क राजा सुकठ की रानी कनकोदरी का पुत्र सिहवाहन हुआ । चिरकाल तक राज करने के बाद श्रीविमलनाथ भगवान् के तीर्थ के श्री लक्ष्मीधर मुनि के पास सर्व-विरति स्वीकार की और तप-सयम का निष्ठापूर्वक पालन करके लातक देवलोक में देव हुआ और वहा का आयु पूर्ण कर वह जीव इस अजनासुन्दरी के गर्भ में आया है । यह जीव गुणों का भडार, महापराक्रमी विद्याधरों का अधिपति, चरमशरीरी और स्वच्छ हृदयी होगा ।''

अंजनासुन्दरी का पूर्वभव

ऋषीश्वर ने आगे कहा- "अब अजनासुन्दरी का पूर्वभव कहता हूँ,-

"कनकपुर नगर में कनकरथ राजा था । उसके कनकवती और लक्ष्मी नाम की दो रानियाँ था कनकवती थी मिथ्यात्वप्रिय एव श्री जिनधर्म की द्वेषिनी और लक्ष्मीवती थी जिनधर्मानुरागिना कनकवती ने द्वेषवश एक मुनि का रजोहरण❖ चुपके से हरण करके छुपा दिया । रजोहरण के अभाव में साधु कहीं जा नहीं सकते । उसका आहार-पानी छूट गया । अत में कनकवती का द्वेष हटा । उसने रजोहरण देकर क्षमा याचना की । मुनिवर के उपदेश से वह धर्मप्रिय हुई और जिनधर्म का पालन करने लगी । यथाकाल आयु पूर्ण कर सौधर्म स्वर्ग में देवी हुई और वहा से च्यव कर अजना सुन्दरी हुई । कनकसुन्दरी क रजोहरण छुपाने में सहायक बनने वाली तू यहा सखी रूप मे हुई । दोना सखिया उस पाप का फल भोग रही हो । अब वह अशुभ कर्म समाप्त होने वाला है । थोड़े ही समय में अजना का मामा अकस्मात् आकर ले जाएगा और कुछ दिना बाद पति का मिलाप हो जायेगा । तुम जिनधर्म को ग्रहण करके पालन करती रहोगी, तो भविष्य मे ऐसी विपत्ति कभी नहीं आएगी । यह सारा दु ख, क्लेश विपत्ति और कलक आदि पूर्वभव के पाप का ही फल है । धर्म का आचरण करने से जीव सुखी होता है ।"

भयंकर विपत्ति

इस प्रकार भविष्य बतला कर और दोनों सखिया के मन में धर्म एव सतोष की स्थापना करक विद्याचारण मुनिराज उठे और 'णमो अरिहंताणं' उच्चारण करके गरुड़ के समान आकाश म उड गए। मुनिराज के जाने के थोड़ी देर बाद ही एक विकराल सिह वहाँ आया । वह मस्ती में झूम रहा था और गर्जना करके सार वनचर जीवो को भयभीत कर रहा था । खरगोश, श्रृगाल और हिरन ही नहीं बड़े-बडे गजराज भी सिह की दहाड सुन कर भागे जा रहे थे । दोनों सखियाँ घबराई । उनका हृदय दहल उठा और घिग्घी बध गई । वे ऋषिवर के बताये हुए नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करने लगी ।

हनुमान का जन्म

मुनिराज न जिस गुफा म ध्यान किया था उस गुफा का अधिपति मणिचूल नामक गन्धर्व (व्यन्तर जाति का देव) था । वनराज की दहाड़ और उससे वनचर पशुओं में मची हुइ भगदड एव कोलाहल सुनकर मणिचूल ने अष्टापद का रूप बनाकर सिह का पराभव किया । उसके बाद अपने मूल स्वरूप मे उन दोनों सखियों के सामने प्रकट हुआ । उसने और उसकी दवी ने दोना सखियों का

❖ त्रि श पु च म जिनबिंब हरण करने का उल्लेख है ।

आश्वासन देकर आश्रय दिया । वे वहाँ शाति से रहने लगीं । गर्भकाल पूर्ण होने पर अजनासुन्दरी ने एक पुत्र को जन्म दिया । बालक बडा तेजस्वी और सुलक्षणो से युक्त था। उसके चरण में वज्र अकुश और चक्र के चिह्न थे । वसतमाला ने उत्साह एव हर्षपूर्वक प्रसूति कर्म और परिचर्या की। अजना के मन में खेद हो रहा था। वह सोच रही थी,-

यदि अशुभ कर्मों का यह दुर्विपाक नहीं होता और मैं अपने स्थान पर होती, तो इस प्रसग पर राज्यभर मे कितनी प्रसन्नता होती ? सारे नगर और राज्यभर मे तथा पीहर के राज्य मे उत्सव मनाया जाता। समस्त वातावरण ही मगलमय हो जाता। किन्तु मेरे पाप-कर्मों से आज यह राजपुत्र, वनखण्ड की जनशून्य गुफा मे उत्पन्न हुआ, जहाँ किसी प्रकार की अनुकूलता नहीं है। एक वनवासी भील के घर पुत्र जन्म हो, तो वह और उसका परिवार भी अपने योग्य उत्सव मनाता है, परन्तु यह राजकुमार आज पशु के समान परिस्थिति में मानवरूप मे आया। इसका हर्ष मनाने वाला यहाँ कोई नहीं है। हा मैं कितनी हतभागिनी हूँ ।''

अजना को आर्त्तध्यान करती हुई देख कर वसतमाला ने साहस बढाने के लिए कहा-

''देवी! राजमहिषी वीरपत्नी और वीरमाता हो कर कायर बनती है ? क्या तू नहीं जानती कि तेरी कायरता का इस बालक पर क्या प्रभाव पडेगा ? तू इसे कायर बनाना चाहती है, या शूरवीर ? क्या कायर का दूध भी कभी वीरता उत्पन्न करता है ? वीरागना कभी विपत्ति से घबडाती है ?

बहिन! सावधान हो और धर्म तथा साहस को धारण कर । अब अपना नहीं, बालक का हित देखना है। अब तो हमारी विपत्ति के बादल भी हटने वाले हैं।''

मामा-भानजी का मिलन और वनवास का अंत

इस प्रकार वे दोनों बात कर रही थी कि इतने में एक विद्याधर उसी वन में, उनके पास हो कर निकला। उसने राजघराने जैसी महिलाओं को देख कर उनका परिचय पूछा। वसतमाला ने विवाह से लगा कर वर्तमान दशा तक सारी कथा कह सुनाई। अजना की विपत्ति की बात सुन कर आगत व्यक्ति की आँखों मे आँसू छलक आये। उसने कहा-

''मैं हनुपुर का राजा प्रतिसूर्य हूँ । मनोवेगा मेरी बहिन है और तू (अजना) मेरी भानजी है। मेरा सद्भाग्य है कि इस भयानक वन में तुझे जीवित देख सका। अब तेरी विपत्ति के दिन गये । चल तू मेरे साथ।''

मामा को सामने देख कर अजना का दु खपूर्ण हृदय उभर आया। वह जोर-जोर से रोने लगी। प्रतिसूर्य ने अजना को सान्त्वना दी और वसतमाला सहित विमान में बिठा कर उडा ।

'उदय मित्र ! तुम भी समझो और छोड़ो इस विषैली काम-भोग रूपी गन्दगी को । चलो मेरे साथ और आत्मानन्द की अमृतमयी सुधा का पान करो । तुम भी मृत्युजय हो कर अमर बन जाओगे ।"

उदयसुन्दर भी प्रभावित हुआ । उसकी विचारधारा पलटी । वह भी त्याग-मार्ग स्वीकार करने पर तत्पर हो गया । वज्रबाहु और उदयसुन्दर ने प्रव्रज्या धारण की । उनका अनुकरण नवपरिणीता सुन्दरी मनोरमा और बारात में आये हुए अन्य पच्चीस राजकुमारों ने किया । जब ये समाचार अयोध्या पहुँचे तो वज्रबाहु के पिता विजय नरेश भी विरक्त हो गए । उन्होंने अपने छोटे पुत्र पुरन्दर को राज्याधिकार दे कर निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण करली । पुरन्दर भी कालान्तर में विरक्त हो गया और अपने पुत्र कीर्तिधर को शासन सौंप कर श्रमण-धर्म स्वीकार किया ।

रानी ने पति-तपस्वी संत को निकलवाया

कालान्तर में कीर्तिधर नरेश भी संसार से उदासीन हो कर चारित्र-धर्म को स्वीकार करने में तत्पर हुए, किंतु राज्य के मन्त्री ने रोकते हुए कहा-"आपके कोई पुत्र नहीं है । जब तक पुत्र नहीं हो जाय तब तक आपको गृहवास में ही रहना चाहिए । राज्य को अनाथ छोड़ने से अनर्थ होने की सम्भावना है ।" मन्त्री की बात मान कर राजा रुक गया । कालान्तर में सहदेवी रानी के गर्भ से 'सुकोशल' पुत्र का जन्म हुआ । सह देवी ने सोचा-'यदि पुत्र-जन्म की बात पति को मालूम हो जायगी, तो वे साधु बन जायेंगे ।' यह सोच कर उसने पुत्र-जन्म की बात गुप्त रखी । पुत्र को गुप्त रख कर मृत-बालक जन्मने की बात प्रकट की । किन्तु राजा को किसी [illegible] भेद [illegible] गया । उसने बालक का राज्याभिषेक कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । उग्र त[illegible] का सहन करते हुए राजर्षि कीर्तिधर गुरु आज्ञा से एकाकी विहार करते [illegible] ध्या नगरी में पारणा लेने के लिए आये और नगरी [illegible] लगे । [illegible] में बैठ कर नगर-चर्या देख रही [illegible] दृष्टि [illegible] को पहिचान लिया । उसने [illegible] छोड़ व [illegible] वह भी साधु हो जायगा । [illegible] हो जायगा । इसलिए इसका यहीं [illegible] दिया जाय। जिससे पुत्र पिता [illegible] वेशधारियों को प्रेरित कर के [illegible] नगर के भूतपूर्व स्वामी एव [illegible] प्रपन्च को, सुकोशल नरेश [illegible]

भवितव्यता वश उस समय नरेश उधर ही आ निकले । उन्होंने धायमाता से रोने का कारण पूछा और माता का प्रपन्च जान कर खेदित हुए । वे उसी समय नगर के बाहर आये और महात्मा को वन्दन कर क्षमा याचना की तथा ससार से विरक्त हो कर प्रव्रजित होने की तैयारी करने लगे । उस समय उसकी रानी चित्रमाला गर्भवती थी । वह मन्त्रियो के साथ आ कर कहने लगी,-"आप को निर्नायक राज्य छोड कर दीक्षित होना उचित नहीं है ।" राजा ने कहा-"तुम्हारे गर्भ में पुत्र है, वह राज्याधिपति होगा। उसका तुम और मन्त्रीगण सहायक बनना ।" इस प्रकार सभा के समक्ष उद्घोषणा कर के सुकोशल नरेश महाव्रतधारी साधु हो गए ।

सिंहनी बनी पत्नी ने तपस्वी का भक्षण किया

पुत्र-वियाग से सहदेवी का गम्भीर आघात लगा और वह अशुभ ध्यान में मर कर किसी पर्वत की गुफा में बाघिन (सिहनी) के रूप मे उत्पन हुई ।

मुनिवर कीर्तिधरजी और सुकोशलजी, चारित्र-तप की उत्तम आराधना करते विचर रहे थे । वे दमितेन्द्रिय थे और शरीर के प्रति भी उदासीन रहते थे । उन्होने पर्वत की गुफा मे चातुर्मास-काल स्वाध्याय, ध्यान और तप की साधना करते हुए व्यतीत किया । कार्तिक चौमासी के बाद वे पारणे के लिए बस्ती म जाने के लिए निकले । मार्ग मे वह बाघिन मिली । तपस्विया पर दृष्टि पडते ही व्याघ्री के हृदय मे पूर्व-भव का द्वेष जाग्रत हो गया । वह क्रुद्ध हो कर तपस्वी सतों पर झपटी । तपस्विया ने भयकर-देहघातक उपसर्ग उपस्थित देखा, तो वहीं स्थिर हो कर अतिम साधना म तत्पर हो गए । व्याघ्री छलाग मार सुकोशल मुनि पर पडी और उन्ह नीच गिरा कर अपने नाखून से उनका देह चीरने लगी और रुधिर पान करने लगी । उनका मास नाच-नोंच कर और हड्डियें तोड-तोड कर खाने लगी । उपसर्ग की तीव्रता के साथ ही मुनिवर के ध्यान में भी तीव्रता आ गई । उपसर्ग के प्रारम्भ में युवक तपस्वी ने सोचा-"यह व्याघ्री मेरे कर्म-मल को नष्ट कर के आत्मा को पवित्र करने मे सहायक बन रही है ।" वे ध्यान मे अधिक दृढ हो गए और धर्म-ध्यान की सीमा को पार कर, शुक्ल-ध्यान में प्रविष्ट हो गए । मोह-महाशत्रु को पराजित कर नष्ट करने की घडी आ पहुँची । वे क्षपक-श्रेणी चढ कर घाती-कर्मों को नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए और अयोगी बन कर सिद्ध हो गए । उसी प्रकार कीर्तिधर मुनि भी सिद्ध हो गए ।

मस्तक पर श्वेत बाल देख कर विरक्ति

सुकोशल नरेश की रानी चित्रमाला के पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' रखा गया, क्योंकि वह गर्भ में ही राजा हो गया था। यौवनावस्था में मृगावती नाम की एक राजकुमारी के साथ

लगे हुए । मृगावती से पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'नघुष' रखा । कालान्तर में हिरण्यगर्भ दर्प देख रहा था कि उसे अपने मस्तक पर श्वेत बाल दिखाई दिया । उस बाल को 'मृत्यु का दूत' समझ कर वह संसार से विरक्त हो गया और युवराज नघुष को राज्यभार सौंप कर विमलचन्द्र मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गया ।

रानी के सतीत्व का चमत्कार

नघुष नरेश के 'सिंहिका' नाम की रानी थी। कालान्तर में नघुष नरेश ने, उत्तरापथ के राजाओं पर विजय पाने के लिए प्रयाण किया । उनके जाने के बाद दक्षिणा-पथ के राजाओं ने मिल कर अयोध्या पर हमला कर दिया और अयोध्या को सभी ओर से घेर लिया । रानी सिंहिका ने रणचण्डी बन कर शत्रुओं से युद्ध किया और उन्हें अपने राज्य से खदेड़ कर राज्य को बचा लिया ।

नघुष नरेश ने उत्तरापथ के राजाओं पर विजय प्राप्त की और अयोध्या लौटने पर जब उन्होंने दक्षिणापथ के राजाओं की चढ़ाई और रानी की विजय के समाचार सुने, तो उनके मन में रानी के चरित्र पर सन्देह उत्पन्न हो गया । उन्होंने सोचा-"जो कार्य शूरवीर योद्धा के लिए भी दुष्कर होता है, वह एक अबला स्त्री कैसे कर सकती है ? अवश्य ही रानी दुराचारिणी है ।" इस प्रकार सन्देह युक्त हो कर, रानी का त्याग कर दिया । कालान्तर में नरेश को दाहज्वर हो गया और सैकड़ों प्रकार के उपचार करने पर भी रोग शांत नहीं हुआ । दिनोदिन रोग बढ़ता ही गया । सर्वत्र निराशा व्याप्त हो गई । उस समय रानी, राजा के पास आई और हाथ में जल-पात्र ले कर बोली-"स्वामिन् ! यदि मेरा चरित्र एवं मन निर्मल एवं निष्कलंक रहा हो, तो इस जल के सिंचन से आपका रोग शमन हो जायगा ।" इस प्रकार कह कर उसने जल से पति के देह पर अभिषेक किया । जल के शरीर पर बहने के साथ ही राजा का रोग भी शांत हो गया । जैसे जल के साथ ही धुल कर बह गया हो । देवों ने पुष्पवृष्टि की । राजा को रानी के सतीत्व का विश्वास हो गया । उसने रानी को सम्मानपूर्वक अपनाया । कालान्तर में नघुष नरेश के सिंहिका रानी से एक पुत्र का जन्म हुआ । पुत्र का नाम 'सोदास' रखा । वय प्राप्त होने पर राजा ने सोदासकुमार को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली ।

मनुष्य-भक्षी सोदास

सोदास राजा मांसभक्षी हो गया । अठाई-महोत्सव के महापर्व पर मन्त्रियों ने, पूर्व परम्परानुसार अमारी घोषणा की । राजा को भी आठ दिन तक निरामिषभोजी रहने का निवेदन किया । उस मांसलोलुप राजा ने मन्त्रियों के सामने तो स्वीकार किया, किन्तु उससे रहा नहीं गया । उसने रसोइये को गुप्त रूप से मांस लाने को कहा । जब रसोइये को कहीं मांस नहीं मिला, तो वह तत्काल के मरे हुए

बालक का शव (जो तत्काल ही भूमि में गाडा गया था) निकाल कर लाया और काटकूट कर राजा के लिए बना दिया । बालक का मास राजा को बहुत स्वादिष्ट लगा । उसने रसोइये से पूछा-''इतना स्वादिष्ट मास किस पशु का है ?'' रसोइये ने कहा-''छाटे बालक का ।'' राजा ने कहा-''यह बहुत स्वादिष्ट है । अब तुम सदैव मेरे लिए मनुष्य का मास ही बनाना ।'' रसोइया, राजा के लिए बालको का हरण करने लगा और मार कर राजा का खिलाने लगा । राजा का राक्षसी-कृत्य छुपा नहीं रह सका। मन्त्रियों ने उस अधम राजा को पदभ्रष्ट कर के निकाल दिया और उसके पुत्र सिहरथ का राज्याभिषेक कर दिया ।

मास-भक्षण करता हुआ सोदास वन मे भटकता रहा । एक बार उसे वन में एक महर्षि के दर्शन हुए । महात्मा के उपदेश से, सोदास प्रतिबाध पा कर श्रावक हो गया । कुछ दिन बाद महापुर का राजा पुत्रविहीन मर गया । भाग्योदय से सोदास वहा का राजा हो गया । उसने दूत भेज कर अपने पुत्र से अपनी आज्ञा मानने का कहलाया । सिहरथ ने अस्वीकार कर दिया । फिर पिता-पुत्र म युद्ध हुआ । युद्ध में सोदास की विजय हुई । किंतु विजयी सोदास न पुत्र को दोनो राज्यों का राज्य दे कर, निर्ग्रन्थ-धर्म स्वीकार कर लिया ।

बाल नरेश दशरथजी

सिहरथ का पुत्र ब्रह्मरथ हुआ । उसके बाद अनुक्रम से चतुर्मुख, हमरथ, शतरथ, उदयपृथु, वादिरथ, इन्दुरथ आदित्य रथ मान्धाता, वीरसेन प्रतिमन्यु पद्मबन्धु, रविमन्यु, वसततिलक , कुबेरदत्त, कुथु, शरभ, द्विरथ, सिहदर्शन, हिरण्यकशिपु, पुञ्जस्थल, काकुस्थल और रघु आदि अनेक राजा हुए । इनम से कुछ ता मोक्ष प्राप्त हुए और कुछ स्वर्गवासी हुए । उसके बाद अयोध्या म 'अनरण्य' नाम का राजा हुआ । उसकी 'पृथ्वीदेवी' नाम की रानी से 'अनतरथ' और 'दशरथ'-ये दो पुत्र हुए । अनरण्य राजा के 'सहस्रकिरण' नाम का एक मित्र था । वह रावण के साथ युद्ध करते हुए, जन-विनाश देख कर विरक्त हो गया । उसने प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । मित्र के साथ अनरण्य नृप और उनके ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथ भी विरक्त हुए और एक मास के छोट बालक दशरथ का राज्याभिषेक कर प्रव्रजित हो गए । राजर्षि अनरण्यजी मोक्ष प्राप्त हुए और अनन्तरथजी भूतल पर विचरने लगे ।

दशरथ बाल्यावस्था मे ही राजा हा चुका था । वय के साथ उसका पराक्रम भी बढने लगा। वह उस प्रदेश के अनक राजाआ में प्रतिभा-सम्पन्न था और अपने प्रभाव से शोभायमान हो रहा था । दशरथ नरेश बाल्यावस्था म राजा हुए । इससे लोगो में परचक्र का भय उत्पन्न हो गया था । किन्तु वह भय एव आशका मात्र भ्रम रूप ही रही । दशरथ नरश याचका को मुक्त-हस्त से दान देते थे जिससे लाग उन्हे कल्पवृक्ष की उपमा देते । दशरथ नरश वश-परम्परा से मान्य श्री जिनधर्म का रुचिपूर्वक पालन करने लगे । याग्य वय प्राप्त होने पर दशरथ नरेश का दर्भस्थल नगर के सुकोशल नरेश की रानी

अमृतप्रभा से उत्पन्न पुत्री अपराजिता (अपर नाम कौशल्या) के साथ लग्न हुआ । इसके ब' कमलसकुल नगर के राजा सुबन्धुतिलक की रानी मित्रादेवी से उत्पन्न पुत्री सुमित्रा से और इसके ब राजकुमारी सुप्रभा भी दशरथ नरेश की तीसरी रानी हुई । दशरथ नरेश सुखभोग करते हुए काल निर्गमन करने लगे ।

जनक और दशरथ का प्रच्छन्न वास

एक बार रावण अपनी राज्यसभा में बैठा हुआ राज्य-व्यवस्थादि पर विचार कर रहा था । उ समय एक भविष्यवेत्ता सभा में आ कर उपस्थित हुआ । रावण को विश्वास था कि यह भविष्यवेत्त यथार्थवादी है। उसने सभा का कार्य पूर्ण होने पर भविष्यवेत्ता से कहा-

"जो जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है । पल्योपम और सागरोपम काल तक जीवित रहने और 'अमर' कहलाने वाले देव भी मरते हैं । इस प्रकार उत्पन्न पर्याय का नष्ट होना निश्चित ही है । मैं भी मरूँगा ही । किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरी मृत्यु स्वाभाविक ढग से होगी य. किसी शत्रु प्रहार से ? यदि शत्रु के प्रहार से होगी तो वह शत्रु कौन होगा ?"

भविष्यवेत्ता ने विचार कर अपना निर्णय इस प्रकार बताया--

"राजेन्द्र ! आपका देह-विलय, स्वपरिणाम स नहीं, किंतु भविष्य में उत्पन्न होने वाली रा जनक की पुत्री के निमित्त से राजा दशरथ के भविष्य में उत्पन्न होने वाले पुत्र के हाथों होगा ।"

भविष्यवेत्ता के इस निर्णय के समय विभीषण भी उपस्थित था । अपने बडे भाई का ऐसा भवि सुन कर बोला,-

"यद्यपि इस भविष्यवेत्ता की भविष्यवाणी सदैव सत्य ही हुई है, तथापि मैं इस भविष्यवाणी क सरलतापूर्वक असत्य बना दूँगा । इसमें जनक और दशरथ को मार डालने से ही समस्या हल ह सकेगी। जब ये दोनों राजा नहीं रहेंगे, तो पुत्र और पुत्री होंगे ही नहीं और वैसा निमित्त बनेगा ही नहीं उपादान रूपी मृत्यु को तो नहीं टाला जा सकता । किन्तु निमित्त को तो टाला या परिवर्तित किया ज सकता है । मैं यही करना चाहता हूँ ।"

रावण ने विभीषण को आज्ञा दे दी । विभीषण सभा में से उठ कर चला गया । उस सभा में नारदजी भी उपस्थित थे । उन्होंने विभीषण की योजना सुनी । वे सभा में से निकल कर सीधे दशरथ नरेश के पास पहुँचे । नारदजी को आते देख कर दशरथ नरेश आसन छोड कर खडे हुए, सामने गये नमस्कार किया और सम्मानपूर्वक उनको उच्चासन पर बिठाया । कुशल समाचार पूछने के पश्चात् नरेश ने नारदजी से पदार्पण का प्रयोजन पूछा । उन्होंने कहा-

"राजन् ! मैं सीमन्धर स्वामी का निष्क्रमण उत्सव देखने के लिए पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में गया था । वहा से लौटते हुए लका म रावण की सभा मे गया । एक भविष्यवेत्ता ने रावण को

बताया कि-"तुम्हारी मृत्यु जनक की पुत्री के निमित्त से दशरथ के पुत्र द्वारा होगी ।" इस भविष्य कथन को सुन कर विभीषण तुम्हें और जनक को मारने को तत्पर हुआ है । वह शीघ्र ही सेना ले कर आयेगा । तुम सावधान हो जाओ । अब मैं जनक को सावधान करने के लिए मिथिला जाता हूँ ।"

नारदजी चले गए । दशरथ ने मन्त्रियों से परामर्श किया और विभीषण से बचने के लिए गुप्त रूप से राजधानी छोड कर निकल गए । मन्त्रियो ने शत्रु को छलने के लिए दशरथ नरेश की लेप्यमय प्रतिमा बना कर राजभवन के अन्धेरे कक्ष मे, शय्या में सुला दी और उन्हें असाध्य रोग के रोगी प्रसिद्ध कर दिया । वैद्यों को खरल ले कर औषधि तैयार करने बैठा दिया । आसपास का वातावरण भी उदासीनता पूर्ण हो गया । नगर मे राजा को भयकर व्याधि की बात फैल गई । आसपास के गाँवो मे भी वैसा प्रचार और उदासीनता व्याप्त हो गई । मन्त्रियो ने विश्वस्त दूत भेज कर जनक नरेश को भी वैसा उपाय करने का परामर्श दिया ।

विभीषण सेना ले कर पहले दशरथ नरेश के राज्य में आया । राज्य में प्रवेश करते ही उसके जासूसों ने सूचना दी कि 'दशरथ भीषण दशा में रोगशय्या पर मूर्च्छित पडा है । राज्यभर में उदासीनता और भावी अनिष्ट की आशका छा गई है ।' विभीषण यह सुन कर प्रसन्न हुआ । उसने सोचा-'बिना युद्ध के ही कार्यसिद्धि हो जायगी ।' वह सेना को नगर के बाहर छोड कर, कुछ योद्धाओ के साथ राजभवन में आया । मन्त्रियों ने उसका अच्छा स्वागत किया और राजा की मूर्च्छितावस्था बतलाई । विभीषण ने मन्त्रियो से कहा-"हमें आपसे या दशरथजी से कोई द्वेष या वैर नहीं है । दशरथजी हमारे मित्र और साम्राज्य के निष्ठा सम्पन्न स्तभ है । हम उनका अनिष्ट नहीं चाहते, किन्तु भविष्यवेत्ता ने दशरथजी के पुत्र द्वारा साम्राज्याधिपति महाराजाधिराज दशाननजी का अनिष्ट होना बतलाया । सम्भव है भविष्य में कोई वैसा पुत्र जन्मे और विरुद्ध हो कर शत्रु बन बैठे, तो इस सम्भावना को समाप्त करने के लिए मैं यहा आया हूँ । यह अच्छा हुआ कि दशरथजी मूर्च्छित हैं । ऐसी स्थिति में मारने से कुछ नहीं बिगडेगा और आप लोग स्वाभाविक मृत्यु की बात प्रचारित कर सकेगे ।" विभीषण शयन-कक्ष में आया । वैद्य खरल में दवाई घोट रहे थे । रानियाँ और परिवार की स्त्रियाँ उदास हो कर बैठी थी। मुख्य-मन्त्री का सकेत पाकर अन्त पुर परिवार वहाँ से हट गया । विभीषण शय्या के निकट आया । उसने दखा-दशरथ के सारे शरीर पर रेशमी चादर ओढाई हुई है, केवल मुँह ही खुला है । विभीषण ने दूर से ही देखा-दशरथ सोया हुआ है । उसके मन में विचार हुआ-'मूर्च्छित एव निर्दोष व्यक्ति को क्यों मारूँ ?" फिर दूसरा विचार हुआ-'भावी अनिष्ट को नष्ट करने के लिए तो आया ही हूँ ।' उसने अन्य विचारो को छोड कर तलवार खींच ली और निकट आ कर गरदन पर एक हाथ मार ही दिया । गरदन कट कर अलग जा पडी । तलवार से गरदन काट कर विभीषण उलट पाँव लौट गया । उधर रानियाँ चित्कार कर उठीं । विभीषण ने उन्हे समझाते हुए कहा-"तुम घबडाओ मत । दशरथजी का बचना अशक्य था । वे स्वर्ग सिधार गए । तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा । अपने धर्म का पालन करती हुई तुम शाति से रहना ।"

विभीषण उस दु खद वातावरण से निकला और सैनिक-शिविर में आकर प्रस्थान कर दिया अब उसने मिथिला जाना भी उचित नहीं समझा । उसने सोचा-'जिसके पुत्र से भय था, वही मार डा गया तो अब पुत्री के पिता को मारने की आवश्यकता ही क्या है ? पुत्री तो शत्रु को मोहित करने वा मात्र है मारने वाली नहीं । जब मारने वाले का बीज ही नष्ट हो गया तो पुत्री के पिता को मारने आवश्यकता ही क्या रही ?' इस प्रकार विचार कर विभीषण राजधानी लौट आया और रावण से को सरलतापूर्वक मारने की घटना सुना कर निश्चिंत हो गया । रावण को भी संतोष हो गया ।

अयोध्या के मन्त्रियों ने दशरथ नरेश की मरणोत्तर क्रिया सम्पन्न कर दी । थोड़े दिनों की शो संतप्तता के बाद अयोध्या का वातावरण शान्त हो गया और सभी काम यथापूर्व चलने लगे ।

दशरथजी का कैकेयी के साथ लग्न और वरदान

दशरथजी वेश-परिवर्तन कर विदेशों में भ्रमण कर रहे थे । मिथिलेश जनकजी उनके साथ हो लिए । दोनों नरेश मित्रवत् साथ रह कर के एक स्थान से दूसरे स्थान, अपने को गुप्त रखते हुए भटक लगे । वे फिरते हुए उत्तरापथ में आये । 'कौतुकमंगल' नगर के शुभमति राजा की पृथ्वीश्री रानी उत्पन्न राजकुमारी कैकेयी के स्वयंवर का आयोजन हो रहा था । यह समाचार सुन कर दोनों राज स्वयंवर मण्डप में गये । वहां अन्य कई राजा आये थे । ये दोनों राजा भी यथास्थान बैठ गए । कैकेय सर्वालंकार से विभूषित एवं लक्ष्मी के समान सुसज्जित हो कर सभा में आई । उसके हाथ में एक भव्य पुष्पमाला झूल रही थी । धायमाता उसे विवाहेच्छुक नरेश का परिचय एवं विशेषता बताती और वह दासी के हाथ में रहे हुए दर्पण में उसका रूप देख कर आगे बढ़ती रही । चलते हुए वह दशरथ नरेश के पास आई । दशरथजी को देखते ही वह रोमांचित एवं मोहित हो गई और उसने अपने हाथ की माला उनके गले में पहिना कर वरण कर लिया । दशरथजी को वरण करते देख कर अन्य राजा कुपित हो गए । हरिवाहन आदि राजा कहने लगे-'इस कंगाल एवं असहाय जैसे एकाकी पर मोहित हो कर कैकेयी ने भयंकर भूल की । हम इस सुन्दरी को छिन लेंगे, तो यह हमारा क्या कर लेगा? हम श सज्ज हो कर आवें और इससे इस अनमोल स्त्री-रत्न को छिन लें ।' इस प्रकार सोच कर सभी र अपनी-अपनी छावनी में गये । एकमात्र शुभमति नरेश उनके साथी नहीं हुए । उन्होंने सोचा-'स्व में कन्या को अधिकार है कि वह चाहे जिसे वरण करे । उसे रोकने या उसके चुनाव में हस्तक्षेप क का किसी को भी अधिकार नहीं है ।' उन्होंने दशरथजी से कहा-''आप घबड़ावें नहीं मैं अपनी से सहित आपका साथ दूँगा ।'' दशरथजी ने शुभमति नरेश का आभार मानते हुए कहा-

''महाभाग ! आपकी अकारण कृपा एवं न्यायप्रियता का मैं पूर्ण आभारी हूँ । यदि मुझे एक र शस्त्र और कुशल सारथि मिल जाय, तो मैं अकेला ही इन से लोहा ले कर सभी को अपनी करणी फल चखा सकता हूँ ।''

दशरथजी की बात सुन कर कैकेयी बोली,-"मैं रथ को अच्छी तरह चला सकती हूँ ।" दशरथजी शस्त्र-सज्ज हो कर रथ पर चढे । कैकेयी सारथि बनी । अन्य राजा भी उपस्थित हुए । लड़ाई प्रारभ हुई । दशरथजी जम कर बाणवर्षा करने लगे और कैकयी कुशलतापूर्वक, इस प्रकार विभिन्न स्थाना पर रथ आगे बढाती, मोडती बगल दे कर बचाती आर शत्रु सेनाध्यक्षो की आग अभिमुख करती कि जिससे शत्रु, दशरथजी के शीघ्रवेधी बाण की मार क अनुरूप होता और बाणवषा कर के रथ दूसरे शत्रु की ओर अभिमुख होता । कैकयी क रथ चालन से दशरथजी का प्रहार अचूक रहता और उनका रक्षण भी हो जाता । थोडी देर के युद्ध मे कइ राजाओ के रथ टूट गये कई घायल हो गये और शेप भय के मारे पलायन कर गये । दशरथजी की विजय हुई । शत्रुआ की सेना और शस्त्रास्त्र दशरथजी के हाथ लगे । कैकेयी के साथ दशरथजी के लग्न हो गय । उन्हाने प्रसन्न हो कर कैकयी से कहा-"देवी ! तुम्हारे कुशलतापूर्वक किये हुए सारथ्य से ही मैं विजयी हुआ । मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । तुम जो इच्छा हो, मागा । मैं तुम्हें दूँगा ।" चतुर कैकेयी ने कहा-"स्वामी ! मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है, फिर भी आप प्रसन्न हैं तो अभी अपने वचन को अपने पास ही-मेरी धरोहर के रूप में रखिये । जब मुझे आवश्यकता होगी, माग लूँगी ।"

शत्रुओं की सेना और शस्त्रास्त्र ले कर, कैकेयी रानी सहित दशरथजी राजगृह नगर पहुँचे और मगध नरेश को जीत कर उस राज्य पर अधिकार किया । वे वहाँ रहने लगे । जनक नरेश मिथिला चले गये । दशरथजी ने अयोध्या से अपनी तीना रानियों का राजगृह बुला लिया और सब के साथ सुखभोग करते हुए काल व्यतीत करने लगे ।

राम-लक्ष्मण का जन्म

अन्यदा रानी कौशल्या को रात्रि के अतिम प्रहर म चार महास्वप्न आये । यथा-हाथी, सिह चन्द्र और सूर्य । एक महर्द्धिक देव, ब्रह्म देवलोक से च्यव कर रानी के गर्भ में आया । स्वप्न पाठका ने स्वप्न का फल बतलाया-"कोई महा पराक्रमी जीव महारानी के गर्भ म आया है । वह महाबली और 'बलदेव' पद का धारक हागा ।" "गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र-रत्न का जन्म हुआ । दशरथ नरेश ने हर्पातिरेक से याचकों को बहुत दान दिया । राज्यभर मे उत्सव मनाया गया । पुत्र का नाम-'पद्म' रखा गया लोगो मे वे 'राम' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए ।

कालान्तर म रानी सुमित्रा ने भी एक रात्रि में सात स्वप्न देखे । यथा-हाथी सिह, सूर्य चन्द्र अग्नि, लक्ष्मी और समुद्र उनके गर्भ में एक महर्द्धिक देव आ कर उत्पन्न हुआ । गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया । अत्यधिक हर्ष और उत्साह के साथ जन्मोत्सव मनाया गया । पुत्र का नाम 'नारायण' दिया गया, किंतु प्रसिद्धि म 'लक्ष्मण' नाम रहा । अनुक्रम से बढते हुए वे युवावस्था को प्राप्त हुए । वे सभी विद्याओं एव कलाओं में प्रवीण हुए । वे महापराक्रमी और अजेय योद्धा हो कर

अपने बल एव पौरुष से बडे-बड़े वीरो को भी विस्मित करने लगे । दशरथ नरेश अपने युगल पुत्रों के अपार भुजबल एव शस्त्रास्त्र प्रयोग की परम निपुणता से अपने को अजेय मानने लगे ।

अयोध्या आगमन और भरत-शत्रुघ्न का जन्म

जब दशरथजी ने देखा कि उनके पुत्र राम और लक्ष्मण जोरावर हैं । शत्रु का दमन करने योग्य हैं। उनकी माता को आये स्वप्नों के फलस्वरूप वे दोनो भाई अपने समय के महापुरुष और परम विजेता होंगे, ऐसा उनका विश्वास था । अतएव उन्हाने अब अपना परम्परागत राज्य सम्भालना उचित समझा। वे अपने परिवार को लेकर अयोध्या आये ।

कुछ काल के बाद रानी कैकयी के पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'भरत' रखा और सुप्रभा के पुत्र हुआ उसका नाम 'शत्रुघ्न' रखा । भरत और शत्रुघ्न भी पराक्रमी वीर और समस्त कलाओं में पारगत हुए ।

सीता का वृत्तान्त

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में 'दारु' नामक ग्राम था । वहा वसुभूति नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके अनुकोशा नाम की पत्नी से एक पुत्र हुआ । पुत्र का नाम 'अतिभूति' था और 'सरसा' नाम की सुन्दरी उसकी पत्नी थी । सरसा पर एक 'क्यान' नाम का ब्राह्मण मोहित हो गया और उसका अपहरण कर अन्यत्र ले गया । पत्नी का अपहरण जान कर अतिभूति उसकी खोज करने के लिए निकल गया । वह विक्षिप्त के समान भटकने लगा । पुत्र के जाने पर वसुभूति और उसकी पत्नी भी पुत्र की खोज में चल निकले । भटकते-भटकते सद्भाग्य से उन्हे एक मुनिराज के दर्शन हुए । सत-समागम से उनका मोह कम हुआ और वह सुव्रती बन गया । उसकी पत्नी भी कमलश्रीजी साध्वी के पास प्रव्रजित हो गई। आयु पूर्ण होने पर वे मृत्यु पा कर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए । वसुभूति देवलोक से च्यव कर वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नगर के राजा का पुत्र हुआ और योग्य अवसर पर वहा का 'चन्द्रगति' नाम का राजा हुआ । अनुक्रोशा भी प्रथम स्वर्ग से च्यव कर राजकुमारी हुई । पूर्व-भवो के सम्बन्ध इस भव में भी बन गए । वह चन्द्रगति राजा की रानी हो गई । उसका नाम 'पुष्पवती' था । वह सुशीला थी । उसका चरित्र उत्तम था ।

वह सरसा (जिसका अपहरण हुआ था) भी सुयोग पा कर प्रव्रजित हुई और आयु पूर्ण कर ईशान देवलोक में देवी हुई । उसका विरही पति अतिभूति भी उसे खोजता भटकता हुआ मर कर भव-भ्रमण करते हुए कालान्तर में एक हस के रूप में उत्पन्न हुआ उसे बाल अवस्था मे ही एक बाज-पक्षी ने झपट लिया और उड गया । हसपुत्र भयभीत हो कर तड़पने लगा और बाज के पजे से छूट कर भूमि पर, उस स्थान पर गिरा-जहा एक मुनि बैठे थे । मुनि ने देखा कि पक्षी मरणासन्न है । उन्होने उसे

नमस्कार महामन्त्र सुनाया । मुनि के शब्दो से आश्वस्त हो और सावधानी पूर्वक सुनते हुए आयु पूर्ण कर वह किन्नर जाति के व्यन्तर देवो में उत्पन्न हुआ । वहा का आयु पूर्ण कर वह विदग्ध नगर के प्रकाशसिह नृप की प्रवरा रानी का 'कुलमण्डित' पुत्र हुआ । उधर सरसा का हरण करने वाला वह क्यान भोगासक्ति में ही मर कर, भवभ्रमण करता हुआ चक्रपुर नगर के धुम्रकेश पुरोहित का पिगल नाम का पुत्र हुआ । वह विद्याचार्य के पास पढने लगा । उसके साथ वहा की राजकुमारी 'अतिसुन्दरी' भी पढती थी । दोनो के सम्पर्क से स्नेह सम्बन्ध हो गया और पुरोहित पिगल, राजकुमारी को ले कर विदग्ध नगर मे आया । विद्या, कला और योग्यता से रहित होने के कारण वह दरिद्र हो गया और तृण-काष्ठादि बेच कर जीवन चलाने लगा । वहा के राजकुमार कुलमण्डित की दृष्टि अतिसुन्दरी पर पडी । अतिसुन्दरी को देखते ही वह आसक्त हो गया । अतिसुन्दरी भी राजकुमार पर आसक्त हो गई । उसका भी पूर्व-भव का स्नेह जाग्रत हो गया । कर्मोदय वश कुलमडित, कुलमर्यादा और राजसुख का त्याग कर, अतिसुन्दरी के साथ वन में चला गया और दूर देश में एक छोटे से गाँव में रहने लगा। पूर्वभव में परस्त्री का हरण करनेवाले की प्रिया का, उसके उस भव के पति द्वारा साहरण हुआ । पिगल भी प्रिया के लुप्त हो जाने से भानभूल हो कर भटकने लगा । कालान्तर में उसे आचार्यश्री आर्यगुप्तजी का सुयोग मिला । उनके उपदेश से प्रभावित हो कर वह श्रमण हो गया और साधना करने लगा । किंतु उसके मन मे से अतिसुन्दरी का स्नेह कम नहीं हुआ । रह-रह कर वह उसी का स्मरण और चिन्तन करता रहता ।

भामण्डल का हरण

कुलमण्डित अपनी प्रिया के साथ पल्ली में रहता और अयोध्या नरेश श्री दशरथजी की सीमा म लूट मचा कर धन प्राप्त करने लगा । किंतु उसकी वह लूट अधिक दिन नहीं चल सकी । राज्य के सामन्त बालचन्द्र ने कुलमण्डित को अपने जाल मे फाँस कर बन्दी बना लिया और कारागृह मे डाल दिया । कुछ काल के बाद दशरथ नरेश ने उसे उच्चकुल का जान कर योग्य शिक्षा दे कर छोड दिया । कारागृह से छूटने के बाद वह अपने पिता का राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा । किन्तु इस बीच ही उसे मुनिचन्द्र स्वामी के दर्शन हुए । वह धर्मोपदेश सुन कर श्रावक हो गया और अपूरित राजेच्छा में ही मर कर मिथिलेश श्री जनकराजा की विदेहा रानी की कुक्षि से पुत्रपने उत्पन्न हुआ और वह सरसा मर कर एक पुरोहित की 'वेगमती' नाम की पुत्री हुई । इस भव में सयम पाल कर वह ब्रह्मदेवलोक में गई और वहा से च्यव कर विदेहारानी की कुक्षि में, उस कुलमण्डित के जीव के साथ ही गर्भ में आई । गर्भकाल पूर्ण होने पर विदेहारानी ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया । जिस समय इनका जन्म हुआ लगभग उसी समय वे पिगल मुनि, मृत्यु पा कर प्रथम स्वर्ग में देव हुए और अपनी प्रिया का हरण करने वाले शत्रु को देखने लगे । पूर्वभव का सचित किया हुआ वैर जाग्रत हुआ । उस देव ने देखा कि-'मेरा शत्रु मिथिला की महारानी का पुत्र हुआ है । उसका क्रोध उदय में आया । उसने

तत्काल के उत्पन्न यालक का अपहरण किया और विचार किया कि 'इसे किसी शिला पर पछाड क मार दूँ,' किंतु इस विचार के साथ ही उसकी धर्म-चेतना जगी । उसने सोचा-'याल-हत्या यह भयकर पाप है । मुझे इस पाप से यचना चाहिए ।' उसने यालक को उत्तम आभूपणों से विभूपित कर आकाश से नीचे उतारा और वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे आये हुए रथनूपुर नगर के नदन उद्यान रख दिया । आकाश से उतरते समय यालक की कुण्डल की कान्ति - किरण नगर में दिखाइ दी चन्द्रगति नरेश ने उस कान्ति को उद्यान म उतरते देखा तो वे शीघ्र ही उद्यान में आये । उन्हें आभूप से सुसज्जित सुन्दर यालक देख कर यडी प्रसन्नता हुई । वे स्वय पुत्र-विहीन थे । तत्काल यालक व उठा कर भवन में ले आय और रानी को दे कर लोगों में प्रसिद्ध कर दिया कि 'गूढगर्भा महारानी वे पुत्र का जन्म हुआ है ।' जन्मोत्सव होने लगा । पुत्र के पृथ्वी पर आते समय प्रभा दिखाई दी इसलि पुत्र का नाम "भामण्डल" दिया । यालक सुखपूर्वक यढने लगा ।

मिथिला की महारानी विदेहा के साथ जन्मे हुए दानों यालक उसके पास ही सोये थे, कि पलक मारते ही पुत्र लोप हुआ जान कर रानी घयडाइ । यह रुदन करने लगी । पुत्र के अपहरण क समाचार सुन कर जनक नरेश भी स्तभित रह गए । चारों ओर खोज की गई परन्तु पुत्र का कहीं पर नहीं लगा । विवश हो नरेश ने पुत्री से ही सतोष किया और उसमें अनेक पकार के सुलक्षण तथ अनेक सद्गुणों के अकुरित होने का पात्र समझ कर "सीता" नाम दिया । बालिका, रूप लावण्य युक्त यढ़ने लगी । धीरे-धीरे यह चन्द्रमा की प्रभा के समान कला से परिपूर्ण हुई । यौवनवय प्राप्त होने प उसके रूप एव सौन्दर्य मे अपूर्व उभार आया । वह लक्ष्मीदेवी जैसी दिखाई देने लगी । जनक नरेश उसके योग्य वर की चिन्ता करने लगे । उन्होने कई राजकुमारो का देखा उन पर विचार किया किन् किसा एक पर भी उनकी दृष्टि नहीं जमी ।

जनकजी की सहायतार्थ राम-लक्ष्मण का जाना

उस समय जनक की भूमि पर आ कई म्लेच्छ उपद्रव करने लगे । जनकजी ने उन म्लेच्छा का दमन करने का प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली । म्लेच्छा के राक्षसी उपद्रव कम नहीं हुए । अन्त में जनक नरेश ने दशरथजी से सहायता पाने के लिए दूत भेजा । दूत ने दशरथजी को नमस्कार किया और अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए कहा-

"महाराज ! मेरे स्वामी ने निवेदन किया है कि मेरे लिये आप ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं और सुख-दु ख म सहायक हैं । जब मुझ पर सकट आता है तो मैं आप का कुलदेव की तरह स्मरण करता हूँ । मेरे राज्य की सीमा से लगता हुआ अर्ध यर्बर देश है। उसके लोग म्लेच्छ हैं । उनका आचरण अनार्य एव अशिष्ट है । मयूरशाल नगर में आतरग नामक अत्यत क्रूर प्रकृति वाला म्लेच्छ राजा है । उसके हजारों पुत्र शुक मकन और कयाज आदि देशों पर आधिपत्य जमा कर राज कर रहे हैं । उनकी सेना

शक्तिशाली है । अब वे मेरे राज्य पर आक्रमण कर रहे हैं और प्रजा तथा सम्पत्ति का विनाश कर रहे हैं। इसलिए निवेदन है कि मेरी सहायता कर के राज्य और प्रजा की रक्षा करन की कृपा करें ।' यह सन्देश ले कर मुझे आपकी सेवा म भेजा है। आप ही का हम विश्वास है ।''

दूत की बात सुन कर दशरथ नरश ने युद्ध की तैयारी प्रारभ कर दी । श्रष्ठजन, सज्जनो की रक्षा करने मे सदैव तत्पर रहते हैं । युद्ध की तैयारी देख कर राजकुमार रामचन्द्र पिता क पास आये और नम्रतापूर्वक निवेदन किया;–

''पिता श्री ! मैं अपने अनुज बन्धु क साथ युद्ध मे जाऊँगा । आप हमे आज्ञा दीजिए और विश्वास करिये कि हम शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लगे । आप युद्ध म पधारें और हम यहाँ रह कर आलसी बने बैठे रह यह अच्छी बात नहीं । आप निश्चिंत हो कर आज्ञा प्रदान करे ।''

बडी कठिनाई से दशरथजी ने पुत्रो को युद्ध मे भेजना स्वीकार किया । राम और लक्ष्मण, एक विशाल सेना ले कर मिथिला गये । म्लेच्छ योद्धाओं ने इस नयी सेना और इसके वीर सेनापतियो का देख कर आक्रमण बढा दिया और अस्त्र-वर्षा कर राम की सेना को आच्छादित कर दिया । इस आक्रमण से म्लेच्छ आक्रामका को अपनी विजय का आभास हुआ और जनकजी को भी अपनी पराजय दिखाई देने लगी । प्रजा मे भी निराशा फैल गई । तत्काल रामचन्द्रजी ने धनुष सभाला, पणच पर टकार किया और बाण-वर्षा कर बहुत-से म्लेच्छो का छेदन कर डाला । अचानक हुई इस सफल बाण-वर्षा से म्लेच्छ नरश और उनके सेनापति चकित रह गगए । उन्होने अग्रभाग पर आ कर जोरदार अस्त्र प्रहार प्रारभ किया, किंतु दुरापति, दृढघाति और शीघ्रवेधी राघव ने अपने प्रबल प्रहार से थोडे ही समय में शत्रुआ को परास्त किया । शत्रु-सेना भाग गई ।

राम-लक्ष्मण के इस प्रभावशाली पराक्रम और विजय से जनक नरश और समस्त प्रजा अत्यत प्रसन हुई । पराजय को एकदम विजय में परिवर्तित करने वाले वीर रामचन्द्र के प्रति सब की श्रद्धा बढी । जनक नरेश ने सोचा-''मुझे तो विजय भी मिली और पुत्री के लिए योग्यवर भी प्राप्त हुआ-एक पथ दो कार्य जैसा हुआ ।''

विजयोत्सव मनाया जाने लगा । राम-लक्ष्मण का अभूतपूर्व भव्य स्वागत किया जाने लगा । जनक नरेश अपनी विजय, राज्य की स्थिरता और पुत्री के योग्य वर के मिलने से अत्यत प्रसन्न थे । बढ चढ कर उत्सव मनाया जाने लगा ।

नारद की करतूत ×जनक का अपहरण

जनक नरेश की पुत्री सीता सौंदर्य का भण्डार थी । युवावस्था में उसका रूप-लावण्य एव आभा पूर्ण विकसित हो गई थी । उसके सौंदर्य की प्रशसा दूर-दूर तक फैल चुकी थी । नारदजी ने भी सीता की अपूर्व सुन्दरता की बात सुनी । वे पर्यटक विनोदप्रिय बखेड़ा खडा कर तमाशा देखने वाले राज्यों

को परस्पर लडा कर प्रसन्न हाने वाले, याग मे आग और आग मे याग लगाने वाले, सधि म विग्रह और विग्रह म सधि कराने वाल थे । सीता के सौंदर्य की प्रशसा सुनकर, ये उसे देखने को चल दिये और मिथिला जा पहुँचे । अन्त पुर म ये सीता का खाज करने लग । लगोटीधारी, दण्ड और छत्र लिये हुए, कृशकाय नारदजी का अपनी ओर आता हुआ दख कर सीता डरी और माता को सम्बोधन करता हुई गर्भागार म चली गई । मीता का तीव्र स्वर सुनते ही अनेक दासियाँ दौडी आई । द्वारपाल भी आ गए। उन्हाने विद्रूप नारद का पकडा और धक्का दते हुए अन्त पुर के बाहर कर दिया ।

नारदजी की सभी राज्यों म प्रतिष्ठा थी, आदर-सत्कार था । वे ब्रह्मचारी और विश्वस्त थे। अन्त पुर में जान की उन्ह स्वतन्त्रता थी । वे इच्छित स्थान पर बिना किसी रोक के जा सकते थे। मिथिला म वे बहुत दिना के बाद आये थे और अन्त पुर म उनका यह आगमन सीता और दास-दासिया के लिए प्रथम ही था । इसलिए उनका वहाँ तिरस्कार हुआ । नारदजी क्रुद्ध हो गए । उनका क्रोध बिना विग्रह खडा किये, शान्त नहीं हाता था । वे नगर से चल कर वैताढ्य गिरि पर आये। उन्हाने सीता का चित्र एक वस्त्र पर बनाया और प्रबल पराक्रमी राजकुमार भामण्डल के पास आकर उसे दिखाया । नारद को विश्वास था कि भामण्डल इस पर माहित हो कर सीता का अपहरण करेगा। इससे मेरे अपमान का बदला चूक जायेगा ।

पटचित्र देखते ही भामण्डल मोहमत्त हो गया । वह पटसुन्दरी उसके मन में ऐसी बसी कि खानपान छूट गया और एक योगी के समान उसी के ध्यान में लीन हो गया । अचानक पुत्र की ऐसी दशा हो जाने की बात सुन कर चन्द्रगति राजा उसके पास आया और कारण पूछने लगा । भामण्डल तो नीचा मुँह किये बैठा रहा किंतु उसके मित्रों ने कहा-"यहाँ अभी नारदजी आय थे । उन्हाने भामण्डल को एक सुन्दरी का पट-चित्र दिया । उस चित्र को देखते ही राजकुमार की यह दशा हुई है ।" राजा ने नारदजी से एकात म पूछा । उन्होंने कहा-"वह चित्र मिथिलेश जनक की राजकुमारी सीता का है । वह मनुष्य रूप में देवागना है- देवागना से भी बढ कर । मेरे चित्र म उसका पूरा सौंदर्य नहीं आ सका, न मैं अपनी वाणी से उसके सौंदर्य का पूरा वर्णन ही कर सकता । वह अलौकिक सौंदर्य एव उत्तमोत्तम गुणो की स्वामिनी है । मैंने उसे भामण्डल के योग्य समझ कर उसे उसका पट-चित्र दिया है ।"

नारदजी की बात सुन कर राजा नें भामण्डल को विश्वास दिलाते हुए कहा-"पुत्र ! यह तेरी पत्नी होगी, चिन्ता मत कर मैं यह प्रयत्न करता हूँ । चन्द्रगति ने अपने विश्वस्त विद्याधर चपलगति को जनक नरेश का अपहरण कर के लाने की आज्ञा दी । चपलगति आकाश मार्ग से रात्रि को मिथिला पहुँचा और जनक का अपहरण कर के रथनूपुर में ले आया । चन्द्रगति राजा ने जनकजी का सत्कार कर अपने पास बिठाया और कहा-

"मित्र ! क्षमा कीजिए । मैंने अपने स्वार्थवश आपको कष्ट दिया । मैं आपकी प्रिय पुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूँ । कृपया यह सम्बन्ध स्वीकार कीजिए ।"

जनकजी अपने अपहरण का कारण समझ गए । किन्तु वे इस माँग को स्वीकार करने की स्थिति मे नहीं थे । उन्होने विवशता बताते हुए कहा-

"महाशय ! मैं विवश हूँ । मैने सीता का वाग्दान कर दिया है । दशरथ नरेश क सुपुत्र रामचन्द्र के साथ उसका लग्न करना निश्चित हो चुका है । अब मैं इससे मुकर कैसे सकता हूँ ?"

चन्द्रगति उपरोक्त उत्तर सुनकर निराश हुआ । वह समझता था कि वाग्दान होने के बाद अकारण ही मुकरना प्रतिष्ठित जना के लिए सम्भव नहीं है । फिर क्या किया जाय ? विचार करते उसे एक उपाय सूझा । उसने कहा -

"महानुभाव ! मैंने जिस प्रकार आपका अपहरण किया, उसी पकार राजदुलारी का अपहरण कर के उसके साथ अपने पुत्र का लग्न करने म भी समर्थ हूँ । किन्तु मैं तो अपन-दानो मे मधुर सम्यन्ध जोड कर स्नेह सर्जन करना-चाहता हूँ । इसलिए मैं आपसे याचना कर रहा हूँ । मैं आपकी विवशता समझता हूँ । यदि आप स्वीकार करें, तो एक उपाय है । इससे आपकी गुत्थी सुलझ सकती है ।"

"बताइए, क्या उपाय है"-जनकजी ने पूछा ।

"मेरे पास दु सह तेजयुक्त 'वज्रावर्त' और 'वरूणावर्त' नाम के दो धनुप हैं । ये यक्ष-सेवित हैं । मैं इन धनुषो की देव के समान पूजा करता हूँ । ये इतने दृढ, भारी, तेजस्वी और प्रभावयुक्त हैं कि सामान्य योद्धा तो इन्हे देख कर ही सहम जाता है । विशेष बलवान् योद्धा इन्हे उठाने का प्रयत्न करता है तो वह असफल होता है । इन्हें उठाने की शक्ति तो वासुदव-यलदव जैसे महान् वीर पुरुप म ही होती है । आप दोनो धनुष ले जाइए और इस शर्त के साथ उद्घापणा कीजिए कि-

"जो महावाहु वीर इनम से किसी एक धनुप की प्रत्यचा चढा देगा उसक साथ सीता का लग्न होगा ।"

"यदि रामचन्द्र धनुष चढा देगा, तो हम अपनी पराजय मान लेगे और राम के साथ सीता के लग्न हो जावेगे । अन्यथा भामण्डल यह याजी जीत कर सफल मनोरथ हो जायगा ।"

जनकजी को विवश हा कर उपरोक्त यात स्वीकार करनी पडी । उन्हे धनुप के साथ मिथिला पहुँचा दिया गया और चन्द्रगति नरेश स्वय पुत्र और परिवार सहित मिथिला पहुँचे तथा नगर के बाहर डेरा डाला ।

जनक नरेश ने इस घटना का वर्णन महारानी विदेह से किया, तो वह यहुत निराश हुई और रुदन करती हुई बोली,-

"मेरा भाग्य अत्यन्त विपरीत है । इसने पहल तो मेरे पुत्र को जन्म लेते ही छिन लिया और अय इस प्रसन्नता के समय पुत्री को भी लुटाना चाहता है । ससार में माता-पिता की इच्छानुसार पुत्री के लिए वर होता है किन्तु मैं इस अधिकार से वचित हो कर दूसरा की इच्छा के मानने क लिए याध्य की जा रही हूँ । यदि राम धनुष नहीं चढा सकेंगे और काई दूसरा चढा लेगा ता अवश्य ही मरी पुत्री को अनिष्ट वर की प्राप्ति होगी । हा, दैव ! अय मैं क्या करूँ ।"

विदेहा क रुदन और निराशाजन्य उद्गार द्रवित हो जनकजी ने कहा-

"प्रिय ! निराश क्यो होती हो ? तुमने रामचन्द्र के यत्न को नहीं देखा । मैं तो अपनी आँखों से देख चुका हूँ और उसी का परिणाम वर्तमान स्थिति है । अन्यथा आप अपनी और इस राज्य की क्या दशा होती ? दुर्दान्त शत्रु-समूह को नष्ट-भ्रष्ट करने की शक्ति सौधर्म-ईशान इन्द्रद्वय के समान इन दो बन्धुओ म ही है । तुम निराश मत बनो और उत्साह पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करो ।

स्वयवर का आयोजन

महारानी को समझा कर जनकजी प्रात कार्य से निवृत्त हुए और चारों ओर दूत भज कर राजाओं और राजकुमारो को सीता के स्वयवर में सम्मिलित होने क लिए बुलाया । एक भव्य स्वयवर मण्डप बनाया गया । आगत राजाओ और राजकुमारो के बैठने के लिए आसन लगाये गए । एक स्थान पर दोनों धनुप रख दिये गए । उनकी अर्चना की गई । राजकुमारी सीता लक्ष्मीदेवी क समान सर्वालंकारों से सुसज्जित हो कर अपनी सखिया के साथ मण्डप मे उपस्थित हुई और धनुप की अर्चना करके एक ओर खडी रही । सीता का साक्षात् निरीक्षण कर के भामण्डल अत्यन्त आसक्त हुआ । सीता राम को चाहती हुई भूमि पर दृष्टि जमाए हुई थी । इतने म जनक नरेश के मत्री ने सभा को सबोधित करते हुए कहा -

"स्वयम्वर मण्डप के प्रत्याशी नरेशो और राजकुमारो ! यह आयोजन जनक- राजदुलारी के लिये वर का चुनाव करने के लिए किया गया है । परन्तु यह स्वयवर विशेष प्रकार का है । साधारण स्वयवर में राजकुमारी की इच्छा प्रधान रहती है । वह अपनी इच्छानुसार वर चुन सकती है । किंतु इस आयोजन में वैसा नहीं है । इसमें किसी व्यक्ति की इच्छा को अवकाश नहीं, परतु योग्यता को स्थान मिला है । मेरे स्वामी, जनक महाराज ने एक विशेष दाँव (शर्त) रखा है-इस चुनाव में । ये जा दो धनुष रखे हैं । इनमें से किसी भी एक धनुष को उठा कर प्रत्यचा चढाने वाला ही राजकुमारी के योग्य माना जायगा । अब आप अपने सामर्थ्य का विचार कर उचित समझें वैसा करें ।"

मन्त्री की उद्घोषणा सुन कर प्रत्याशी विचार मे पड गए । उन्हे इस मण्डप म दो ही वस्तुओ ने आकर्षित किया था-धनुषद्वय और राजकुमारी ने । अब उनकी दृष्टि राजकुमारी को छोड कर धनुष पर ही जम गई । वे धनुष मामूली बाँस या लकडी के नहीं थे । वे वज्रमय, अत्यत दृढ और बहुत भारी थे। रत्न के समान ज्योतिर्मय थे । वे देव-रक्षित थे । उन पर साँप लिपटे थे । उन्हें देख कर ही कई नरेश निराश हो गए । उन्ह यह कार्य अपनी शक्ति के बाहर लगा । वे चुप ही रह गए । कुछ साहस करके उठे धनुष को निकट से देखा, अपनी शक्ति तोली और लौट आये । कुछ ने हाथ लम्बा कर उठाने का प्रयत्न किया, किंतु उस डिगा भी नहीं सके । उन्हें भी नीचा मुँह कर के लौटना पडा । दशरथनन्दन राम-लक्ष्मण बैठे हुए यह खेल देख रहे थे । कई प्रख्यात याद्धा और अनेक युद्धो में विजय

प्राप्त किये हुए बलवान् नरेशो को निष्फल देख कर तो शेष प्रत्याक्षी उठे ही नहीं । भामण्डल का क्रम तो अतिम था । निष्फल नरेशों और कुमारा को देख कर उसकी प्रसन्नता बढ रही थी। उसके मन मे दृढ विश्वास था कि-राम-लक्ष्मण उठेंगे ही नहीं, यदि उठे भी तो इनकी दशा भी ऐसी ही होगी और बाद में मैं अपना कौशल दिखा कर सीता भी प्राप्त कर लूँगा और महावीर पद की प्रतिष्ठा भी । वह अपने लिए पूर्णरूप से विश्वस्त था । उपस्थित दर्शकों में निराशा छा गई । दर्शका में यह विचार व्यक्त होने लगा कि-

"राजकुमारी को निराश लौटना पडेगा, अथवा जनक नरेश को अपना दाँव हटा लेना पडेगा ।" बहुत विलब होने पर भी जब काई नहीं उठा तो दर्शका में भी वीरत्व के विरुद्ध स्वर निकलने लगे और चन्द्रगति ने तो वीरों को लक्ष्य कर व्यग-बाण छोडते हुए कहा-"क्या पृथ्वी वीर-विहीन हो गई? इस सभा मे ऐसा कोई भी योद्धा नहीं जो इस दाँव को जीते ? युद्ध मे वीरत्व दिखा कर कायर लोगों को अस्त्रबल और सैन्यबल से मार कर जीतने वाले वीर अब नीचा मुह कर के क्या बैठे हैं ? यहाँ अपना वीरत्व क्यों नहीं दिखाते ?"

चन्द्रगति का यह वाक्प्रहार सीधा राम-लक्ष्मण पर ही था । लक्ष्मणजी इस व्यग को सहन नहीं कर सके । वे तत्काल उठे और बाले -

"महानुभाव ! आप बडे हैं । आपको हम बच्चों पर वाक्-प्रहार नहीं करना चाहिए । हम अवश्य ही आपकी बात का आदर कर के इस कलक को धो देगे ।"

इतना कह कर उन्होने ज्येष्ठ-बन्धु से निवेदन किया -"कृपया अब आप कष्ट कर के इस कलुप को धो दीजिए ।"

यह सुनते ही रामचन्द्रजी उठे और धनुष के निकट आये । रामचन्द्रजी को साहस करते हुए देख कर चन्द्रगति आदि नरेशा ने उनका उपहास किया और निष्फल और अपमानित लौटने के क्षण की प्रतीक्षा करने लगे । जनकजी का हृदय धडकने लगा । उनके मन में शका उत्पन्न हुई-'कहीं रामचन्द्र भी निष्फल रहे, तो क्या होगा ?'

रामचन्द्रजी के कर-स्पर्श से ही उस पर लिपटे हुए साँप पृथक् हो गए । उन्होंने वज्रावर्त धनुष को सहज में ही उठा लिया और उस वज्रमय धनुष को नरम बाँस को नमाने क समान झुका कर प्रत्यचा चढा दी तथा कान तक खिच कर ऐसी ध्वनि निकाली कि जो विजयघोष के समान गूँज उठी । तत्काल ही सीता ने आगे बढ कर राम के गले में वरमाला पहिना दी । चन्द्रगति और भामण्डल इस दृश्य को देख कर निराश हो गए । यह उनकी आशा एव इच्छा के विपरीत हुआ । राम के सफल हाने के बाद उनकी आज्ञा पा कर लक्ष्मण भी उठे । उन्होंने अरूणावर्त धनुप को सहज ही म चढा दिया और उसकी टकार से ऐसी भयकर ध्वनि निकाली कि लोगों के कानों को सहन नहीं हो सकी । उपस्थित विद्याधरो और राजाआ ने अपनी अठारह कुमारिकाएँ लक्ष्मण को दी । चन्द्रगति भामण्डल और अन्य निराश प्रत्याशी, उदासीनतापूर्वक नीचा मुँह किये हुए अपने स्थान पर चले गये ।

जनक नरेश का सन्देश पा कर दशरथ नरेश मिथिला पहुँचे और राम के साथ सीता का लग्न बड़ी धूमधाम और उत्साहपूर्वक हुआ । जनकजी के भाई कनकजी ने अपनी पुत्री सुभद्रा को लक्ष्मणजी के साथ ब्याही । लग्नोत्सव पूर्ण होने पर दशरथ नरेश, पुत्रों और पुत्रवधुओं सहित अयोध्या आये और अयोध्या में विवाहोत्सव मनाया जाने लगा ।

दशरथ नरेश की विरक्ति

दशरथ नरेश के पास इक्षु-रस के घड़े ☐ भेंट में प्राप्त हुए । उन्होंने वे घड़े अंतःपुर में रानी के पास भेजे । महारानी के पास रस-कुंभ लाने वाला, अन्तःपुर-सेवक वृद्ध एवं जर्जर शरीर वाला था और धीरे-धीरे चल रहा था । अन्य रानियों की चपलदासियें शीघ्रतापूर्वक रस-कुंभ ले गई जब महारानी कौशल्या देवी ने देखा कि-'और सभी रानियों का स्वामी की ओर से रसकुंभ मिल पर मैं वंचित रह गई' तो उन्हें अपना अपमान लगा । वह सोचने लगी-"स्वामी मुझ पर रुष्ट हैं इसलिए मुझे रस-दान से वंचित रखा । सभी सौतों के सामने मुझे अपमानित किया । अब मेरा जीवित रहना व्यर्थ है । अपमानित हो कर जीवित रहने से तो मरना ही अच्छा है।" इस प्रकार विचार कर आत्मघात के लिए फाँसी लगा कर मरने का प्रयत्न करने लगी । वह ऐसा कर ही रही थी कि नरेश वहाँ आ पहुँचे । वे महारानी की दशा देख कर चकित रह गए । उन्होंने उन्हें आश्वस्त किया धैर्य दे कर अप्रसन्नता का कारण पूछा । जब रस-कुंभ से वंचित रहने के कारण अपमानित अनुभव करने की बात खुली, तो दशरथजी ने कहा-"वाह, यह कैसी बात है ! मैंने सब से पहले तुम्हारे लिए ही भेजा था कंचुकी के साथ । कहाँ रह गया वह आलसी ? ठहरो, मैं उसकी खबर लेता हूँ-अभी ।"

वे उठने ही वाले थे कि उन्हें घड़ा उठाये हुए कंचुकी आता दिखाई दिया । वह वृद्ध गलित-गात्र शिथिल-अंग, धूँधली आँख, पोपला मुँह, हाँफते-रुकते आ रहा था । राजा ने उससे पूछा-"अरे इतनी देर क्या कर दी तैने ? वह हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाता हुआ बोला-"स्वामिन् ! विलम्ब का दोष मेरा नहीं इस बुढ़ापे का है । यह बुढ़ापा वैरी सेवा में बाधक बन रहा है । मैं विवश हूँ महाराज ! यह दुष्ट किसी को नहीं छोड़ता चाहे राव हो या रंक । लम्बी आयु में बुढ़ापा वैरी बन ही जाता है-पालक !"

राजा विचार में पड़ गए-"क्या वृद्धावस्था अनिवार्य है ? मैं भी ऐसा बूढ़ा हो जाऊँगा ? मेरी भी ऐसी दशा हो जायगी ? और एक दिन यह काया ढल जायगी ?" उनका चिन्तन चलता रहा । मन में विरक्ति बस गई । उन्होंने सोचा-"अब शेष जीवन को सुधार कर मुक्ति का मार्ग ग्रहण कर लेना ही उत्तम है ।" वे उदासीनता-पूर्वक रहने लगे ।

☐ कविवर श्री सूर्यमुनिजी म. की रामायण के अनुसार । श्री हेमचन्द्राचार्य ने यहाँ 'चैत्योत्सव का स्नात्र जल' बतलाया है ।

भामण्डल का भ्रम मिटा

उस समय निर्ग्रंथ मुनिराजश्री सत्यभूतिजी, नगर के बाहर पधारे । वे चार ज्ञान के धारक थे । दशरथ नरेश पुत्रादि परिवार सहित मुनिवदन करने आये और धर्मदेशना सुनने लगे ।

सीता का राम के साथ विवाह होने से भामण्डल को गभीर आघात लगा था । वह उदासीन ही रहा करता था । उसका मन कहीं नहीं लग रहा था । पुत्र की यह दशा देख कर चन्द्रगुप्त नरेश चिंतित थे । वे पुत्र और अन्य विद्याधर नरेशों के साथ अपने स्थान पर आने के लिए विमान द्वारा चले । पुत्र की उदासी मिटाने के लिए वे निकट के दर्शनीय प्राकृतिक स्थानों को देखते हुए आ रहे थे । जब वे अयोध्या के उपवन पर हो कर जाने लगे, उन्हे मनुष्यो की विशाल सभा और मुनिराज धर्मोपदेश देते हुए दिखाई दिये । उन्होने विमान नीचे उतारा और मुनिराज की वन्दना करके देशना सुनने बैठ गए । देशना पूर्ण होने पर भामण्डल की जिज्ञासा पूर्ण करते हुए महात्मा ने चन्द्रगति पुष्पवती भामण्डल और सीता के पूर्वभवों का वृत्तात सुनाया और यह भी कहा कि 'सीता और भामण्डल तो इस भव के भी सगे और एक साथ जन्मे हुए भाई-बहिन हैं । भामण्डल का जन्म होते ही अपहरण हो गया था,' इत्यादि समस्त वृत्तात सुनाया जिसके सुनते ही भामण्डल मूर्च्छित हो कर गिर पडा । कुछ देर मे सावचेत होने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । उसने तत्काल सीता और रामचन्द्र को प्रणाम किया । सीता के भी हर्ष का पार नहीं रहा । उसका खोया हुआ भाई मिल गया । भामण्डल कहने लगा-"अच्छा हुआ कि मैं अज्ञान से महापाप में पडते हुए बच गया ।" मुझे लज्जा आ रही है अपने पापपूर्ण विचार और कृत्य पर । मैं इस पाप को धोना चाहता हूँ ।" चन्द्रगति नरेश ने विद्याधरो को भेज कर मिथिला से जनक नरेश और विदेहा रानी को बुलाया । माता-पिता को अपना खोया हुआ पुत्र एक योद्धा राजकुमार के रूप मे मिला । विदेहा का पुत्र-स्नेह उमडा । उसके स्तनों मे दूध आ गया । सवत्र हर्ष ही हर्ष छा गया । भामण्डल ने भी अपने वास्तविक माता-पिता के चरणो म प्रणाम किया । चन्द्रगति नरेश ने राज्यभार भाण्डल को दे कर आचार्य श्री सत्यभूतिजी के पास प्रव्रज्या गहण कर ली और शेष सभी अपने-अपने स्थान पर गये ।

दशरथजी का पूर्वभव

दशरथ नरेश ने महर्षि सत्यभूतिजी से अपना पूर्वभव पूछा । मुनिराज श्री ने कहा -

"सोनपुर नाम के नगर म 'भावन' नामक व्यापारी रहता था । उसकी 'दीपिका' नाम की पत्नी से कन्या का जन्म हुआ । उसका नाम 'उपास्तिका' था । वह साधु-साध्विया से शत्रुता रखती थी । वहाँ से मर कर वह चिरकाल तक तिर्यञ्च आदि के दु ख सहन करती हुई परिभ्रमण करती रही। फिर वह यगपुर के धन्य नाम के व्यापारी की सुन्दरी नामक पत्नी के गर्भ से पुत्रपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'वरुण' था। वह प्रकृति से ही उदार एव दानशील था और साधु-साध्विया का भक्तिपूर्वक दान दिया

करता था। आयु पूर्ण कर के वह धातकीखण्ड के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलिक हुआ । फिर देव हुआ उसके बाद पुष्कलावती विजय की पुष्कला नगरी के नदिघोष राजा का नन्दिवर्द्धन नाम का पुत्र हुआ। पिता ने पुत्र को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और चारित्र पाल कर ग्रैवेयक मे उत्पन्न हुआ और पुत्र अर्थात् तू श्रावक व्रत का पालन कर ब्रह्म देवलाक म उत्पन्न हुआ । वहाँ से च्यव कर वैताढ्यगिरि की उत्तरश्रेणी के शिशिपुर नगर के विद्याधर पति रत्नमाली की विद्युल्लता रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ । तेरा नाम 'सूर्यजय ' था । तू महापराक्रमी था। तेरा पिता रत्नमाली, वज्रनयन नाम के विद्याधर पर विजय प्राप्त करने के लिए सिहपुर गया। वहाँ उसने उपवन सहित नगर को जला कर भस्म करने का घोरातिघोर दुष्कर्म करना प्रारभ किया। तेरे पिता का पूर्वभव का पुराहित सहस्रार देव लोक में देव हुआ था। उसने जब देखा कि रत्नमाली भयकर पाप कर रहा है, तो वह तत्काल उसके पास आया और समझाते हुए कहा-

"रत्नमाली! ऐसा भयकर कृत्य मत कर। तू अन्य जीवों की और अपनी आत्मा की भी दया कर। तू पूर्वजन्म में भूरिनन्दन राजा था । तेने माँसभक्षण का त्याग किया था, किंतु बाद म उपमन्यु पुरोहित के कहने से तेने प्रतिज्ञा तोड दी। कालान्तर में पुरोहित को अन्य पुरुष ने मार डाला । वह हाथीपने जन्मा। उस हाथी को भूरिनन्दन राजा ने पकड लिया । वह हाथी, युद्ध म मारा गया और उसी राजा की गान्धारी रानी क पेट से 'अरिसूदन ' नामक पुत्र हुआ। वहाँ जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हाने पर उसने प्रव्रज्या ली। वहाँ से काल कर वह सहस्रार देवलोक मे देव हुआ । वह देव मैं ही हूँ । भूरिनन्दन राजा मर कर वन में अजगर हुआ । वहाँ दावानल म जल कर दूसरी नरक का नैरयिक हुआ । पूर्व के स्नेह से मैंने नरक में जा कर उसे प्रतिबोध दिया। वहाँ से निकल कर वह रत्नमाली राजा हुआ। अब तू इस महापाप से विरत हो जा। अन्यथा करोडों जीवों को भस्म कर के तू अपने लिए दु ख का महासमुद्र बना लेगा और करोडा भवों मे भोगने पर भी नहीं छूटेगा। "

अपना पूर्वभव सुन कर रत्नमाली सम्भला और युद्ध का त्याग कर तेरे पुत्र सूय-नन्दन को राज्य दे कर श्री तिलकसुन्दर आचार्य के पास तुम दोनो पिता पुत्र ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सयम का पालन कर दानो मुनि आयु पूर्ण कर महाशुक्र देवलोक म देव हुए । वहा से च्यव कर सूर्यजय का जीव तू दशरथ हुआ और रत्नमाली का जीव जनक हुआ। पुराहित उपमन्यु भी सहस्रार से च्यव कर, जनक का छोटा भाई कनक हुआ। नदिवर्द्धन के भव में जो तेरा पिता नन्दिघोष था, वह ग्रैवेयक से च्यव कर मैं सत्यभूति हुआ हूँ। "

कैकयी का वर माँगना

अपना पूर्वभव सुनकर दशरथजी को ससार की विचित्रता से वैराग्य हो गया। वे निवृत्त होने का मनोरथ करते हुए स्वस्थान आये और राम का राज्याभिषेक कर के निर्ग्रंथ बनने की अपनी भावना रानियों और मन्त्रियों आदि के सामने व्यक्त की । यह सुन कर भरत ने कहा - "देव । मैं भी आपके साथ ही प्रव्रजित होना चाहता हूँ । आप मुझे अपने साथ ही रखे ।"

भरत की बात कैकयी पर बिजली गिरने के समान आघात-जनक हुई वह शीघ्र ही सँभली ओर सोचने लगी- यदि पति और पुत्र दोनों चले गये। तो मैं तो निराधार हो जाउँगी । फिर आर्यपुत्र क दिये हुए वे वचन मेरे किस काम आएँगे । उसे अपना कर्त्तव्य स्थिर करके पति से निवेदन किया ,-

"स्वामी ! आपने मुझे जो वचन दिये थे, वे यदि आपकी स्मृति मे हो, तो अब पूरे कर दीजिए।"

-"हा, हा, मुझे याद है। अच्छा हुआ तुमने याद कर के माग लिया, अन्यथा तुम्हारा ऋण मेरे सिर पर रह जाता। बोलो, क्या माँगती हो ? मेरे सयम मे बाधक बनने के अतिरिक्त तुम मुझ- से जो चाहो सो माँग सकती हा। यदि वह वस्तु मेरे पास होगी, तो अवश्य ही दे दूँगा ।"

"प्रभो! यदि आपका गृहत्याग कर साधु होना निश्चित ही है, तो राज्याभिषेक भरत का हा। आपका उत्तराधिकारी वही बने और मेरा राजमाता बनने का मनोरथ पूरा हो। "

कैकयी की माँग सुन कर दशरथजी को आघात लगा। वे विचार में पड गए। रामचन्द्र का अधिकार वे भरत को कैसे दे ? राम, राज्य करने के सर्वथा योग्य है और उत्तम शासक हो सकता है । यदि मैं उसे अधिकार से वचित रख कर भरत को दे दूँ, तो यह अन्याय होगा । मन्त्री और प्रजा क्या कहगी ? महारानी और राम क्या सोचेगे ? उनके हृदय पर कितना आघात लगेगा? दशरथजी चिन्ता-सागर मे डूब गये । पति को विचारमग्न देख कर कैकयी उठ कर अपने आवास मे चली गई । इतने मे रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी आ गए । उन्होने पिता को प्रणाम किया । पिता को चिन्तामग्न देख कर रामचन्द्रजी बोले-

"देव ! मैं देखता हूँ कि आप कुछ चिन्तित हैं । क्या कारण है पूज्य ! मेरे रहते आप के श्रीमुख पर चिन्ता का क्या काम ? शीघ्र बताइए प्रभो !"

"मैं क्या कहूँ राम ! इस विरक्ति के समय मेरे सामने एक कठिन समस्या खडी हो गई । युद्ध में सहायता करने के कारण मैंने तुम्हारी विमाता रानी कैकयी को कुछ माँगने का वचन दिया था । उस समय उसने कुछ नहीं मागा और अपना वचन धरोहर के रूप मे मरे पास रहने दिया । अब वह माँग रही है । उसकी माँग ही मेरी चिन्ता का कारण बन गई ।" दशरथजी ने उदास हो कर कहा-

"इसमे चिन्ता की कौनसी बात है पूज्य! माता की माँग पूरी कर के ऋण-मुक्त होना तो आवश्यक ही है । क्या माँग है उनकी जा आपके सामने समस्या बन गई है ? कृपया शीघ्र बताईए"- रामचन्द्रजी ने आतुरता से पूछा ।

"वत्स ! उसकी माँग मैं किस मुँह से तुम्हें सुनाऊँ ? मेरी जिह्वा सुनाने के लिए खुल नहीं रही। मैं कैसे कहूँ ?"-दशरथजी नि श्वास छोड कर दूसरी ओर देखने लगे ।

"देव ! इस प्रकार मौन रह कर तो आप मुझे भी चिता मे डाल रहे हैं । आज मैं देख रहा हूँ कि आपश्री को मेरे प्रति विश्वास नहीं । इसलिए आप मुझे अपने मन का दु ख नहीं बताते ? यह मेरे लिए दुर्भाग्यपूर्ण है ।"

"नहीं, वत्स ! तुम अपना मन छोटा मत करो । मैं तुम्हारे प्रति पूर्ण विश्वस्त हूँ और तुम जैसे आदर्श पुत्र को पा कर मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ । तुम सभी पुत्र योग्य हो । मेरी चिन्ता तुम्हें बतानी ही पडेगी । लो अब मैं वज्र का हृदय बना कर तुम्हे अपनी चिन्ता सुनाता हूँ;-

"पुत्र ! कैकयी की माँग है कि राज्याभिषेक तुम्हारा नहीं भरत का हो । अब मैं इस माँग को पूरी कैसे करूँ ? यह अन्यायपूर्ण माँग ही मुझे खाए जा रही है, वत्स ।"

"पूज्य ! इस जरासी बात मे चिन्ता करने जैसा तो कुछ है ही नहीं । मेरे लिए तो यह परम प्रसन्नता की बात है । माता ने यह माँग रख कर तो मुझे बचा लिया है । राज्य के झझटो में पडने से बचा कर मेरा उपकार ही किया है । मैं परम प्रसन्न हूँ-देव ! आप चिन्ता छोड कर प्रसन्न हो जाइए । मैं स्वय अपने भाई के राज्याभिषेक को अतिशीघ्र देखना चाहता हूँ । मैं अभी महामन्त्री को भरत के राज्याभिषेक की तैयारी करने का आपका आदेश पहुँचाता हूँ ।"

भरत का विरोध

"आप क्या कह रहे हैं,-ज्येष्ठ ? आपके बोलने मे कुछ अन्यथा हुआ है या मेरे सुनने मे"-कहते हुए भरत ने प्रवेश किया ।

"नहीं बन्धु ! सत्य ही कह रहा हूँ । तुम्हारा राज्याभिषेक का आयोजन होगा । तुम अवधेश बनोगे"-रामचन्द्रजी ने भाई को छाती से लगाते हुए कहा ।

-"नहीं, नहीं यह अनर्थ कदापि नहीं हो सकता । मैं तो पिताजी के साथ इस गृह, गृहवास और ससार का त्याग कर रहा हूँ और आप मेरे गले मे राज्य की फासी लगा रहे हैं । जिनका अधिकार हो, वे राज्य करें । अपना फन्दा दूसरे के गले में क्या डाल रहे हैं-आप ? क्या आप मेरे, प्रजा के राज्य के और कुल-परम्परा के साथ न्याय कर रहे हैं ?"

"पूज्य ! ये ज्येष्ठ कैसी बातें कर रहे हैं ? ऐसी ठठोली तो आज तक मुझसे नहीं की-इन्होंने । आज क्या हो गया इन्हे"-पिता की ओर अभिमुख होते हुए भरतजी ने पूछा ।

-'राम सत्य कह रहे हैं, वत्स ! तुम्हारा राज्याभिषेक होने से ही मैं ऋण-मुक्त हो सकता हूँ । तुम्हे मुझे उबारना ही होगा"-दशरथजी ने उदासीनता पूर्ण स्वर मे कहा ।

"यह तो महान् अनर्थ है, घोर अन्याय है । मैं इस अन्याय के भार को वहन करने योग्य नहीं हूँ। मुझे आत्म-साधना करनी है । मैं काम-भोग रूपी कीचड से निकल कर त्याग-तप की सुरम्य वाटिका में रमण करना चाहता हूँ । मैं नहीं बँधूँगा इस पाश में, नहीं बँधूगा, नहीं! नहीं!! नहीं!!!"-कहते हुए भरत, रामचन्द्रजी के चरणों में गिर गए ।

राम ने दशरथजी से कहा-"पूज्य ! मेरे यहाँ रहते, भरत राज्यासीन नहीं होगा इससे न तो आपका वचन पूरा होगा और न माता की इच्छा पूरी होगी । आप पर ऋण बना रहेगा । अतएव मैं वन में जाता हूँ । आशीर्वाद दीजिए और अपने मन का प्रसन्न रखिये ।"

महारानी कौशल्या पर वज्राघात

राम की बात सुन कर दशरथजी अवाक् रह गए । उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था । राम को वन में जाने की आज्ञा वे कैसे दें ? किस प्रकार पुत्र-विरह सहन करे ? उनका हृदय बैठा जा रहा था । रामचन्द्र पिता की चरणरज, धनुष और बाणो से भग हुआ, तूणीर ले कर चल दिए । राम के चलते ही दशरथजी मूर्च्छित हो कर गिर पडे । भरत छाती-फाड रुदन करने लगे । रोते-रोते भरत ने दशरथजी को सँभाला और पलँग पर लिटाया । राम वहाँ से निकल कर अपनी माता कौशल्या के पास गए । उनके चरण मे प्रणाम किया और बोले-

"मातेश्वरी ! पिताश्री ने माता कैकयी को युद्धकाल में वरदान दिया था । यह पिताश्री पर ऋण था । अब ऋण उतारने का समय आ गया है । मेरा सौभाग्य है कि उस ऋण से मुक्त होने का निमित्त मैं हुआ हूँ । छोटी माता, भाई भरत का राज्याभिषेक कराना चाहती है । भरत अस्वीकार करता है । वह मेरे रहते राज्यासीन होना स्वीकार नहीं करता । इसलिए मैं वन में जा रहा हूँ । माता ! प्रसन्न हो कर आज्ञा प्रदान करो और भरत को अपना ही पुत्र समझो । आपकी भरत पर पूरी कृपा रहे और मेरे वन-गमन से आप किचित् भी चितित या कायर भाव नहीं लावे । मुझे बडी प्रसन्नता है कि मैं आज अपने विशिष्ठ कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ । आशीष दो माँ !"

वज्र से भी अधिक आघात-कारक, राम के वचन सुन कर महारानी कौशल्या मूर्च्छित हो गई । दासियो ने चन्दन-जल का सिचन कर उनकी मूर्च्छा दूर की । सावधान होते ही रुदन करती हुई महारानी कहने लगी-

"अरे, तुमने मुझे सावधान क्यों किया ? मैं मूर्च्छा मे ही क्या न मर गई ? जीवित रह कर जलते रहने में कौन-सा सुख है ? पति ससार त्याग रहे हैं और पुत्र गृह त्याग रहा है । फिर मैं जीवित रह कर क्या करूँगी ? मेरा हृदय किस आधार से शान्त रहेगा ? नहीं, मेरे लिए मृत्यु ही सुखकर है । बस मुझे मर जाने दो कोई मत रोको । ऐसा करो कि ये प्राण शीघ्र ही इस शरीर से निकल जायँ-महारानी के हृदय मे विरह-वेदना समा नहीं रही थी ।

"माता ! आप वीरागना हैं और वीरमाता हैं । आपकी सहन-शक्ति तो अजोड एव आदर्श होनी चाहिए । सामान्य महिला की भाँति अधीर एव कातर होना और रुदन करना आपको शोभा नहीं देता । आप तो सिहनी के समान हैं । सिह-शावक बड़ा हो कर स्वतन्त्र अकेला ही-वन-विहार करता है । सिहनी को उसकी कोई चिन्ता नहीं होती । आप स्वस्थ हो जाइए और पिताश्री की ऋण-मुक्ति मे एक पल का भी विलम्ब मत कीजिए । इस प्रकार माता को धैर्य्य बँधा कर और प्रणाम कर, वे कैकयी के पास पहुँचे । उन्हे प्रणाम किया और वन में जाने की आज्ञा मागी ।

कैकयी ने कहा-"राम ! तुम आदर्श पुत्र हो । प्रसन्नता से जाओ । तुम्हारे लिए सब स्थान आनन्ददायक और मंगलमय होंगे । संसार के पुत्रों और बन्धुओं के सामने तुम्हारा आदर्श लाखों वर्षों तक रहेगा । तुम महान् हो । मैं क्षुद्र नारी हूँ । अपने स्वार्थ को मैं नहीं रोक सकी। मेरे विषय में अपने मन में दुर्भाव मत लाना ।"

इसके बाद राम, अन्य विमाताओं के पास पहुँचे और प्रणाम कर चल निकले ।

सीता भी वनवास जा रही है

राम के वनगमन की बात युवराज्ञी सीता ने सुनी, तो वह भी तैयार हो गई । उसने दूर से ही दशरथजी को प्रणाम किया और कौशल्या के पास पहुँची । कौशल्या ने सीता को छाती से लगाते हुए कहा-

"बेटी ! पुत्र तो मुझे छोड़ कर जा रहा है, अब तू कहा चली ? ऋण का भार तो राम के वन जाने से ही उतर जायगा । तेरे जाने की क्या आवश्यकता है ? तू कोमल है, सुकुमार है । राम ने तो युद्ध किये हैं, वन में भी घुमा है और वह वीर है, नरसिंह है । तू वन-गमन के योग्य नहीं। तू किस प्रकार चल सकेगी ? भूख-प्यास के कष्ट सहन कर सकेगी ? तुझ से शीत ताप और वर्षा के असह्य दुःख कैसे सहन हो सकेंगे ? तेरे यहां रहने से मुझे कुछ धीरज रहेगी किन्तु पति का अनुगमन कर के तू एक आदर्श पत्नी का कर्त्तव्य पालन कर रही है । मैं तुझे कैसे रोकूँ ! न हाँ करते बनता हैं, न ना कह सकती हूँ । किंतु तेरे चले जाने से मेरा सहारा ही क्या रहेगा ? पुत्री ! मेरा हृदय कितना कठोर है ? यह फट क्यों नहीं जाता ? हा, मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ !"

"मातेश्वरी ! आप प्रसन्न हृदय से मुझे विदा कीजिए । आपका शुभाशीष मेरा रक्षक होगा। जहाँ आर्यपुत्र हैं, वहाँ विकट वन भी मेरे लिये नन्दन-कानन सम सुख-दायक होगा । मैं कष्टों को भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकूँगी । उनके बिना यहां के सुख मेरे मन को शान्ति नहीं दे सकेंगे। अनुज्ञा दीजिए माता ?"-सीता ने याचक नेत्रों से सीख माँगी ।

महारानी ने गद्‌गद् कंठ से कहा-"जाओ पुत्री ! पति का अनुगमन करो । कुलदेवी तुम्हारी रक्षा करेगी । शासन-देव तुम्हारे सहायक होंगे । तुम्हारा धर्म तुम्हारी सभी बाधाएँ दूर करेगा । वनवास की अवधि पूर्ण कर सकुशल आओ । ये आँखें तुम्हारी मार्ग मे बिछी रहेगी ।"

युवराज्ञी सीताजी, रामचन्द्रजी के पीछे-पीछे चल कर राज-भवन के बाहर निकली । राम और सीता के वन-गमन की बात नगर में फैल चुकी थी । हजारों नर-नारी बाहर जमा हो गए थे । जनता इस अप्रिय प्रसंग से क्षुब्ध थी । राम का वनगमन उन्हें अपने प्रिय-वियोग-सा खटक रहा था । सभी की आँखों से आँसू झर रहे थे । लोग गद्‌गद् कंठ से राम का जय-जयकार कर रहे थे । महिलाएँ सीता की जय बोलती हुई उसकी पति-भक्ति त्याग और उत्तम शील की प्रशंसा कर रही थी । राम और सीताजी नगर-जनों के विरही हृदय से निकली हुई भक्तिपूर्वक शुभकामनाओं का नम्र-भाव से स्वीकार करते हुए नगर के बाहर निकले ।

लक्ष्मणजी भी निकले

ज्येष्ठ-भ्राता रामचन्द्रजी के वनवास का दु खद वृतान्त लक्ष्मणजी ने विलम्ब से सुना । सुनते ही उनके हृदय मे क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो गई । उन्होने सोचा "पिताजी की सरलता का विमाता कैकयी ने अनुचित लाभ लिया । स्त्रियाँ मायाचार मे प्रवीण होती है । भाई भरत को राज्य दे कर पिताश्री तो ऋण-मुक्त हो जाएँगे उसके बाद मैं भरत को राज्य-च्युत कर के ज्येष्ठ बन्धु को प्रतिष्ठित कर दूँगा तो पुन स्थिति यथावत् हो जायगी ।" किन्तु जब उन्होने पिताजी के हृदय की दशा और रामचन्द्रजी के अस्वीकार की आशका पर विचार किया तो उन्हें अपनी पूर्व-विचारणा निष्फल लगी । वे भ्रातृ-वियोग सहन नहीं कर सके और उन्हीं का अनुगमन करने का निश्चय करके धनुष तथा बाणो से भरा हुआ तूणीर ले कर चल दिये । वे पिता की आज्ञा लेने आये । लक्ष्मण का भी राम का अनुगमन करता देख कर दशरथजी के आहत हृदय पर फिर आघात लगा । उनकी वाणी अवरुद्ध रही । लक्ष्मण का तमतमाया मुँह देख कर वे उसका हृदय जान गए । उन्होंने हाथ ऊँचा कर दिया । भरत तो जानते ही थे कि लक्ष्मण भी जाने वाले हैं । उन्हे वियोग में भी यह आश्वासन तो मिलता था कि लक्ष्मणजी के साथ रहने से रामचन्द्रजी और सीताजी का वनवास का समय निरापद रहेगा और उनके कष्टो में कमी होगी।

लक्ष्मणजी, माता सुमित्रा के पास आए, प्रणाम किया और अपना अभिप्राय व्यक्त किया । सुमित्रादेवी पुत्र का अभिप्राय जान कर आहत हरिनी की भाँति नि श्वास छोडने लगी-

"वत्स ! तेरा निर्णय तो उचित है । राम और सीता के साथ तुम्हारा जाना आवश्यक भी है । किंतु मेरा हृदय अशाति का घर बन जायगा । मैं भी ज्येष्ठा कौशल्या के समान तडपती रहूँगी । अच्छा, जाओ पुत्र ! तुम्हारा प्रवास निर्विघ्न मगलमय और शीघ्र ही पुनर्मिलन वाला हो ।"

माता को प्रणाम कर लक्ष्मणजी महारानी कौशल्याजी के पास पहुँचे । उनसे भी आज्ञा माँगी । रो-रो कर थकी हुई राज-महिषी फिर रोने लगी । वे लक्ष्मणजी से भी प्रेम और वात्सल्य भाव रखती थी। अन्त मे शुभाशीष के साथ आज्ञा प्राप्त कर शीघ्र ही भवन से निकल गए और वन मे पहुँच कर राम और सीताजी के साथ हो लिए ।

नागरिक भी साथ चले

लक्ष्मणजी को भी वन मे जाते हुए देख कर नागरिकजन अधीर हो गए और उनके पीछे-पीछे जाने लगे । इधर दशरथजी ने सोचा-

"मेरे दोनो प्रिय एव राज्य के लिए आधारभूत पुत्र वनवासी हो गए, तो मैं यहा रह कर क्या करूँगा ? विरहजन्य शोकाग्नि मे जलते-तडपते रहने से तो पुत्रो के साथ वन मे जाना ही उत्तम है । वैसे मैं इन सब को छोड कर प्रव्रजित होना चाहता ही था । वे राज्यप्रासाद से निकल गए और उनके

पीछे अन्त पुर परिवार भी निकल गया । राजा अत पुर और अयोध्या के नागरिक-सभी, राम लक्ष्मण और सीता क पीछे-पीछे अयोध्या छोड कर निकल गये । अयोध्या नगरी जन-शून्य हो गई । राम, लक्ष्मण और सीता प्रसन्नता पूर्वक वन में चल जा रह थे । उन्होंने पीछे स कोलाहल पूर्ण सम्बोधन सुना, तो ठिठक गये । उन्होने पिता माता आदि परिवार और नगरजना को बड़ी कठिनाइ से समझा कर लौटाया और आगे बढे । सभी लोग रानी कैकयी की निन्दा करते नगर मे लौट आये । वनवासी त्रय को मार्ग में आये हुए गाँवा के निवासियों ने अपने यहाँ रह जाने का अत्यत आग्रह किया, किंतु वे नहा माने और आगे बढते रहे ।

भरत द्वारा कैकयी की भर्त्सना

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजी के वनवास के बाद भरतजी को राज्यासीन करने का विचारणा होने लगी । किंतु भरतजी ने स्वीकार नहीं किया और सर्वथा निषेध कर दिया । वे भ्रातृ-वियोग से खेदित एव चिन्तित रहते हुए अपनी माता कैकयी पर आक्रोश करने लगे । उन्होने माता स कहा-

"*माँ ! आपको यह कुबुद्धि क्या सुझी ? आपने कैसे मान लिया कि मैं ज्येष्ठ भ्राता की उपेक्षा* एव अवहेलना कर के राजा हो जाऊँगा ? अरे, कम-से-कम मुझे तो पूछा होता ? हा, आपने सारे ससार के सामने अपने को हीन बना लिया । आपकी इस कुत्सित माँग ने पिताश्री, माताओ भ्रातागण समस्त परिवार और राज्य को दु ख के गर्त में डाल दिया । मेरी शान्ति छिन् ली । सदा प्रसन्न एव प्रफुल्ल रहने वाला यह महालय गभीर उदास, शोक,रुदन एव निश्वासा स भरपूर हो गया । आपकी एक भूल ने सभी को अशान्त बना दिया। हा दैव ! मेरी माता से ऐसा अनर्थ क्यों हुआ ?"

कैकयी का चिन्तन

पुत्र की बातें कैकयी के हृदय मे शूल के समान लगीं । रामचन्द्रादि के प्रस्थान के समय उसका हृदय भी कोमल हो गया था और जन-निन्दा के समाचारो ने उसे अपने दुष्कृत्य का भान करा दिया था, फिर भी वह अपने मन को आश्वस्त कर रही थी । उसने सोचा था-'यह परिवर्तन, विषमता तो उत्पन्न करेगा ही । थोडे दिना तक उदासी चिन्ता एव विषाद रहेगा फिर भरत के राज्याभिषेक से पुन परिवर्तन होगा और भरत और मैं अपने कौशल से पुन अनुकूल परिस्थिति का निर्माण कर लेंगे । उसके मन में यह शका ही नहीं उठी कि भरत ही मेरी सारी आशा-आकाक्षाओं को नष्ट कर देगा । जब उसका पुत्र भरत ही उसकी निन्दा करने लगा तो वह हताश हो गई और-अपने आपको महा पापिनी मानने लगी । उसे लगा कि-" किसी को अपना मुख दिखाने योग्य भी नहीं रही । अब मेरा जीवित रहना उचित नहीं है । अपमानित जीवन से मरण उत्तम है ।" फिर विचारा मे परिवर्तन हुआ-मैं

मर कर भी अपने कलक को नहीं धो सकती, किंतु अपनी माँग को समाप्त कर, राम को लौटा सकती हूँ । राम आदि के वनवास का कारण मेरी माँग ही है । जब मैं अपनी माँग ही निरस्त कर दूँगी, तो राम के लौट आने मे कोई बाधा ही नहीं रहेगी । इस प्रकार मैं अपनी बिगडी हुई स्थिति सुधार लूँगी ।"

राम को लौटाने का प्रयास

कैकयी अपने भवन-कक्ष मे इस प्रकार विचार कर रही थी । उधर दशरथ नरेश ने विचार किया कि-"मैंने अपने वचन का निर्वाह कर लिया । मैं भरत को राज्य देने को तत्पर हूँ । किंतु जब भरत ही राज्याधिकार नहीं चाहता, तो अब राज्यासन को रिक्त एव निर्नायक तो नहीं रखा जा सकता । मुझे आत्म-साधना मे लगना है । इसलिए वन-वासी राम को बुला कर राज्याभिषेक करना ही आवश्यक और एक मात्र मार्ग रह गया। उन्होने मन्त्रियो और सामन्तो को बुलाया और उन्हे राम-लक्ष्मण को लौटा लाने के लिए भेजा। उनके साथ सन्देश भेजा-"भरत, राज्यभार स्वीकार नहीं करता और मैं अपना अतिम जीवन सुधारने के लिए निवृत्त होना चाहता हूँ । राज्यधुरा को धारण करने वाला यहाँ कोई नहीं है और कैकयी की माँग भी पूर्ण हो चुकी है, इसलिए शीघ्र लौट आओ ।"

मन्त्रियो और सामन्तों का दल चल निकला । उन्होने राम के पास पहुँच कर महाराज का सन्देश सुनाया । किंतु राम ने लौटना स्वीकार नहीं किया । उन्हें लगा कि इस प्रकार लौटने से अपने वचन का निर्वाह नहीं होकर भग होता है । मन्त्रियो और सामन्तों का समझाना व्यर्थ रहा । राम आगे बढने लगे । मत्रीगण आदि भी उनके पीछे-पीछे जाने लगे । आगे चलते भयकर अटवी आई, जिसमें व्याघ्र-सिहादि हिंसक पशु रहते थे । मार्ग में एक गभीरा नामक नदी थी । वह बहुत गभीर, विशाल और प्रबल वेग वाली थी । उसमे आवर्त्त (चक्कर) पड रहे थे । नदी के किनारे रुक कर राम ने उन मन्त्रियों को समझाया और दृढता पूर्वक कहा-

"मैने आपके और पिताश्री के अनुरोध पर गभीरता पूर्वक विचार किया । मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि मुझे अपने निर्णय पर अटल रहना चाहिए । अब मैं तत्काल लौटना प्रतिज्ञा-भग के समान मानता हूँ । आप लौट जाइए ।"

-"स्वामिन्! आपने जिस उद्देश्य से प्रतिज्ञा ली थी, वह पूर्ण हो चुकी है । महाराज का वचन भी पूर्ण हो गया । अब वचन का पालन शेष रहा ही नहीं । भरतजी जब राज्य ग्रहण करना नहीं चाहते,तब आप राज्य को किस के भरोसे छोड रहे हैं ? अब कौनसी बाधा है-आप के लौटने में ?"

-"मैने प्रतिज्ञा करते समय यह नहीं सोचा था कि-"यदि भरत नहीं मानेगा, तो मैं लौट आऊँगा। अतएव अब लौटना प्रतिज्ञा-भग के समान मानता हूँ ।"

मन्त्रिया और सामन्तो का प्रयत्न व्यर्थ हुआ । वे सर्वथा निराश रो कर अवाक् खडे रह । रामचन्द्रजी ने उन्हे विदा करते हुए कहा-

''पिताश्री से हम सब का प्रणाम एव कुशल-क्षेम कहना । भाई भरत स कहना-'तुम राज्य का भार वहन करके प्रसन्नता एव तत्परता से सचालन करो । आप सभी का कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार राज्य का कार्य करते रहे, उसी प्रकार भरत नरेश को अपना स्वामी समझ कर करो और राज्य का उत्तम नीति-रीति और व्यवस्था से सुख-शाति एव समृद्धि मे वृद्धि करते रहो ।''

रामचन्द्रजी की अतिम आज्ञा सुन कर सारा शिष्टमडल गद्गद् हो गया । सभी की छाती भर गई। आँखो से आँसू झरने लगे । वे अनिच्छापूर्वक लौटने को विवश हुए । मन्त्रिया और सामन्तो के मुँह स सहसा ये शब्द निकल गए-''हमारा दुर्भाग्य है कि हमें श्रीरामचन्द्रजी को मनाने और सेवा करन का सौभाग्य नहीं मिला ।''

कैकयी और भरत, राम को मनाने जाते है

रामादि उस करुण परिस्थिति से आगे बढ और उस दुस्तर नदी को पार कर किनारे पर पहुँचे । शिष्टमडल, अश्रु-पूरित नयनो से देखता रहा और उनके दृष्टि से ओझल हो जाने पर लौट चला । अयोध्या पहुँच कर उन्होने अपनी विफलता की कहानी नरेश को सुनाई । हृदय में आशा लिए और वनवासी पुत्रों और पुत्रवधू के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए नरेश को निराशा का धक्का लगा । वे कुछ समय मौन रहे, फिर शक्ति सचय कर भरतजी से बोले-

''वत्स ! अब तुम राज्य-सत्ता ग्रहण करो और मेरे निष्क्रमण का प्रबन्ध करो ।''

''नहीं पूज्य ! मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि मैं अयोध्या का राज्य ग्रहण नहीं करूँगा । मैं सवक रहूँगा, स्वामी नहीं । अब मैं स्वय ज्येष्ठगण के समीप जा कर उन्ह लाऊँगा

''मैं भी जाऊँगी स्वामिन् ! यह विपत्ति मैने ही उत्पन्न की है । इसका निवारण मैं ही कर सकता हूँ''- कहते हुए कैकयी ने प्रवेश किया । उसने आगे कहा-''आपश्री न तो अपने वचन के अनुसार भरत को राज्य दिया । किंतु भरत भी परम विनयी, नीतिवान् और निर्लोभी सिद्ध हुआ । मेरी दुर्मति ने भरत की भव्यता का विचार ही नहीं किया और सहसा अपनी तुच्छ माँग उपस्थित कर दी । मैं महा-पापिनी हूँ-नाथ । मेरी अधमता ने मेरी बहिनों को शोक-सागर मे डाल दिया । सारे महालय को विषाद में ढक दिया । सारे राज्य को उदास कर दिया । मैं अपनी लगाई हुई आग में ही झुलस रही हूँ देव ! मुझे आज्ञा दीजिए । मैं भरत को साथ ले कर जाऊँगी और उन पुण्यात्माओं को मना कर लाऊँगी ।''

दशरथजी को कैकयी का पश्चात्ताप युक्त स्वच्छ हृदय देख कर सतोष हुआ । उन्होने कैकयी की प्रशसा करते हुए कहा,-

''भूल तो तुम से हुई ही है प्रिये ! किंतु यह भवितव्यता ही थी । यदि मैं भी उस समय तुम्हें समझा कर इस आशका से अवगत करता, भरत का अभिप्राय जान कर फिर अपन विचार करते, तो कदाचित् यह स्थिति नहीं आती । नहीं, नहीं होनहार हो कर ही रहता है । तुम भरत के साथ अवश्य जाओ । सम्भव है तुम्हें सफलता मिल जाय ।''

राम से भरत की प्रार्थना

कैकयी, भरत और मन्त्रीगण, रामचन्द्रजी के मार्ग पर शीघ्रतापूर्वक बढ चले और छह दिन मे ही वे रामत्रय से जा मिले । उन्होने दूर से राम-लक्ष्मण और सीताजी को एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा। उन पर दृष्टि पडते ही कैकयी रथ से नीचे उतरी और-"हे वत्स ! हे वत्स ! करती हुई रामचन्द्रजी के पास पहुँची । रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजी ने उन्हें प्रणाम किया । कैकयी उनका मस्तक चूमती हुई गद्गद स्वर से शुभाशीष देने लगी । भरत ने रामचन्द्र के चरणों मे प्रणाम किया और भावावेश मे मूर्च्छित हो गया । रामचन्द्रजी ने भरतजी को उठाया, छाती से लगाया, समझाया और सावधान किया । भरतजी भाव-विभोर हो कर कहने लगे,-

"बन्धुवर ! आप मुझे अविनीत, द्रोही एव विरोधी के समान छोड कर वन में आये । मैने आपका क्या अपराध किया था ? माता की भूल का दण्ड मुझे क्यों दिया- आपने ? क्या मैं राज्यार्थी हूँ ? मैने तो पिताश्री के साथ प्रव्रजित होने की अपनी इच्छा पहले ही स्पष्ट बतला दी थी ? अब आप अयोध्या में पधार कर राज्यभार सम्भालो । बन्धुवर लक्ष्मणजी आपके मन्त्री हो , मैं प्रतिहारी और भाई शत्रुघ्न आप पर छत्र लिए रहे । यदि आप मेरी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं करे, तो मुझे भी अपने साथ रख ले । मैं अब आपका साथ नहीं छोड सकता ।"

कैकयी ने कहा-"वत्स ! अपने छोटे भाई की यह याचना पूर्ण करो । तुम तो सदैव भ्रातृ-वत्सल रहे हो । तुम्हारे पिताजी और यह छोटा भाई सर्वथा निर्दोष हैं । दोष एक मात्र मेरा ही है । स्त्री-सुलभ तुच्छ-बुद्धि-कुबुद्धि के कारण मुझ-से यह भूल हुई है । मेरी दुर्बुद्धि ने ही यह दु खद स्थिति उत्पन्न की है । मैं ही तुम्हारे पति के अपनी स्नेहमयी बहिनो के और समस्त परिवार तथा राज्य के दु ख, शोक एव सताप की कारण बनी हूँ । मुझे क्षमा कर दो- पुत्र ! तुम मेरे भी पुत्र हो । क्या मुझे क्षमा नहीं करोगे ? मेरी इतनी-सी याचना स्वीकार नहीं करोगे ?" कैकयी की वाणी अवरुद्ध हो गई । उसकी आँखो से आँसू झर रहे थे ।

रामचन्द्रजी ने कहा-"माता ! मैं महाराज दशरथजी का पुत्र हो कर, अपनी प्रतिज्ञा को भग करूँ- यह नितान्त अनुचित है । पिताश्री ने भरत को राज्य दिया और मैने उसमें अपनी पूर्ण सहमति दे कर भरत को अयोध्यापति मान लिया । अब इससे पलटना मेरे लिए असम्भव है । माता ! तुम्हारा कोई दोष नहीं, तुम्हारी तो मुझ पर कृपा है, किंतु मेरी और पिताश्री की प्रतिज्ञा की अवगणना नहीं की जा सकती । आप तो हमें आशीष दीजिए ।"

"भाई ! तुम क्या पिताजी को और मुझे प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हो ? जिसकी प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो, उस मनुष्य का मूल्य ही क्या रहता है ? तुम्हें हमारे वचन का निर्वाह करने में सहायक बनना चाहिए । फिर मेरी आज्ञा भी यही है, उसका पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है । तुम मेरी आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते ।"

उन्होने सीताजी को सकेत किया । वे जल का कलश भर लाई । रामचन्द्रजी ने भरतजी को पूर्व की ओर मुँह कर के विठाया और अपन हाथो से उनके मस्तक पर जल-धारा दे कर उन्हें 'अयोध्यापति' घोपित किया । जयध्वनि की और विसर्जित किया -!- । सभी जन दुखित-हृदय से चल जाते हुए रामत्रय को देखने लगे । उनके दृष्टि ओझल होते ही भरतादि उदास हृदय से अयोध्या आये। भरतजी से रामचन्द्र के समाचार जानकर दशरथजी ने कहा-"पुत्र ! राम आदर्शवादी है । अपने वश के गौरव की रक्षा करने में वह अपना जीवन भी दे सकता है । अब तुम राज्य-धुरा को धारण करो और मुझे निवृत्त कर के सयम-धुरा धारण करने दो ।"

भरतजी, कर्त्तव्य-बुद्धि से राज्य का सचालन करने लगे । दशरथजी, महामुनि सत्यभूतिजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार करके साधना मे जुट गए ।

सिंहोदर का पराभव

भरतजी का वन में ही राज्याभिषेक कर रामत्रय दक्षिण की ओर चल दिये । चलते-चलते वे महामालव भूमि में पहुँचे । एक वट वृक्ष के नीचे बैठ कर राम ने लक्ष्मण से कहा,-

यह प्रदेश अभी थोडे दिनो से उजाड हुआ लगता है । देखो, ये उद्यान सूख रहे हैं किन्तु पानी की तो न्यूनता नहीं लगती । इक्षु के खेत सूख रहे हैं खलों में धान्य यों ही पडा है, जिसे सम्भालने वाला कोई दिखाई नहीं दे रहा । लगता है कोई विशेष प्रकार का उपद्रव इस प्रदेश पर छाया हुआ है। उसी समय उधर से एक पथिक निकला । राम ने उससे पूछा-"भद्र! इस प्रदेश में यह श्मशान-सी निस्तब्धता क्यो है ? बिना सम्भाल के ये खेत क्यों सूख रहे हैं ? इस खलों के स्वामी कहा चले गए ? यह प्रदेश उजाड जैसा क्यो लग रहा है ?"

पथिक ने कहा-"यह महामालव का अवति देश है । इसका सिहोदर नाम का महा पराक्रमी शासक है । दशागपुर नगर भी इसके राज्य में ही हैं, किंतु वहाँ इसका सामन्त राज्य कर रहा है । उसका नाम वज्रकर्ण है । एक बार वज्रकर्ण वन में आखेट के लिए गया और एक गर्भिणी हरिणी को मारा। तत्काल उसकी दृष्टि थोडी दूर पर ध्यानस्थ रहे हुए मुनि श्रीप्रीतिधरजी पर पडी । वह आकर्पित हो कर मुनि के पास पहुँचा । मुनिराज का ध्यान पूर्ण हुआ । राजा ने मुनिवर का परिचय पूछा । मुनिराज ने उस अपनी-अपनी साधना का परिचय दे कर धर्मोपदेश दिया । शिकारी का बुद्धि विकार मिटा और वह उपासक हो गया । भावोल्लास में उसने अरिहत देव, निर्ग्रंथ गुरु के अतिरिक्त दूसरे के आगे नहीं झुकने की दृढ प्रतिज्ञा ले ली । वह सिहोदर नरेश (अपने स्वामी) से भी बच कर रहने लगा जिससे साक्षात्कार

-!- अन्य ग्रथों में भरत द्वारा रामचन्द्रजी की चरणपादुका राज्य-सिहासन पर स्थापित करने और रामचन्द्रजी के नाम से स्वय अनुचर की भाँति राज्य चलाने का अधिकार है किन्तु त्रि. श. पु च में ऐसा उल्लेख नहीं है ।

का प्रसग ही उपस्थित नहीं हो *। किसी विद्वेषी ने सिहसेन से चुगली कर के इस रहस्य को खोल दिया। सिहोदर क्रुद्ध हो गया । वज्रकर्ण को दण्डित कर दशागपुर हस्तगत करने की उसने योजना बनाई । उसने वज्रकर्ण पर चढाई करने की आज्ञा दे दी । रात को वह सोया, किन्तु इन्हीं विचारो मे मग्न हो जाने से उसे नींद नहीं आ रही थी । रानी ने नींद नहीं आने का कारण पूछा । राजा ने वज्रकर्ण की उद्दडता की बात कही ।

एक मनुष्य ने वज्रकर्ण को सूचना दी-"सिहोदर आप पर चढाई कर के आने ही वाला है । सावधान हो जाइए ।" राजा ने पूछा-"तुम्हे कैसे मालूम हुआ ?" उसने अपना वृत्तान्त सुनाया,-

"मैं कुन्दरपुर के समुद्रसगम नामक व्यापारी श्रावक का विद्युगम नाम का पुत्र हूँ । मैं व्यापारार्थ उज्जयिनी गया था । वहा की अनिन्द्यसुन्दरी वारागना कामलता पर मैं मुग्ध हो गया । उसके मोह में फँस कर मैंने अपना सारा धन लूटा दिया । कामलता ने मुझसे महारानी के कानों की कुण्डलजोड माँगी । मैं चुरा कर लाने के लिए राजभवन में गया । राजा को नींद नहीं आ रही थी । रानी द्वारा कारण पूछने पर उसने आपके नहीं झुकने और चढाई कर के जाने की बात बताई । वह बात मैं वहाँ छुपा हुआ सुन रहा था । आपको साधर्मी जान कर सावधान करने की भावना से मैं आपको सूचना देने आया हूँ ।"

वज्रकर्ण सावधान हो गया । उसने धान्य, घास, पानी आदि आवश्यक वस्तुओ का सग्रह करके दुर्ग के द्वार बद करवा दिये । सिहोदर सेना ले कर आया और दशागपुर के घेरा डाल कर बैठ गया । वज्रकर्ण ने सिहोदर से कहलाया कि-"मेरे मन मे आपके प्रति विपरीत भाव नहीं है । मैं केवल देवगुरु को ही वन्दनीय मानता हूँ । इसी दृष्टि से मैंने प्रतिज्ञा की है । यदि आपको मेरी प्रतिज्ञा उचित नहीं लगे, तो मैं राज्याधिकार छोड कर अन्यत्र चला जाने को भी तय्यार हूँ । अब आप ही उचित मार्ग निकालें ।"

सिहोदर इस निवदेन से भी प्रसन्न नहीं हुआ । वह धर्म के प्रति आदर वाला नहीं था । उसके घेरा डालते ही यहाँ की सारी व्यवस्था बिगड गई । प्रजा में भय, त्रास एव अस्थिरता वढी । सेना के दुर्व्यवहार से लोग अपने गाँव, घर, खेत, बाग, उद्यान और खले आदि छोड कर, दूर प्रदेश में भाग गए। इसी से शून्यता छा रही है । मैं भी उसी प्रकार भागा हुआ हूँ । आग लग जाने से कुछ घर जल गए । मेरी पत्नी ने धनवानो के शून्य घरो मे से चोरी करने के लिए मुझे भेजा सो मैं यहा आया हूँ । सद्भाग्य से आपके दर्शन हुए ।"

---

* ग्रन्थकार कहते हैं कि उसकी अगूठी में मुनिसुव्रत जिनेश्वर की प्रतिमा थी और वह सिहसेन को नमस्कार करते समय अरिहत को स्मरण कर, मुद्रिका युक्त हाथ सिर पर लगाता था । इस प्रकार वह अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करता था ।

पथिक की बात सुन कर रामचन्द्रजी ने उसे स्वर्णसूत्र दे कर संतुष्ट किया और स्वयं आगे आये । राम की आज्ञा से लक्ष्मणजी दशागपुर में प्रवेश कर के वज्रकर्ण के पास पहुँचे ।

वज्रकर्ण, श्रीलक्ष्मणजी को देख कर प्रभावित हुआ । उसने सोचा- इस भव्य आकृति में ही एक महान् आत्मा है । अभिवादन करते हुए वज्रकर्ण ने श्रीलक्ष्मणजी से आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना की । लक्ष्मणजी ने कहा-'मेरे पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता अपनी पत्नी के साथ बाहर उद्यान में हैं । उनके भोजन ग्रहण करने के बाद मैं ले सकता हूँ ।' वज्रकर्ण ने उत्तम भोज्य सामग्री ले कर अपने सेवकों को लक्ष्मणजी के साथ उद्यान में भेजा । भोजनोपरान्त रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी, सिहोदर के पास आये और कहने लगे,-

"सभी राजाओं को अपने सेवक समान समझने वाले महाराजाधिराज श्रीभरतजी ने तुम्हारे लिए आदेश दिया है कि तुम वज्रकर्ण के साथ अपना संघर्ष समाप्त कर के लौट जाओ ।"

-"श्रीभरत नरेश का अनुग्रह अपने भक्तिवान् सेवकों पर होता है अभिमानी एवं अविनम्र सेवकों पर अनुग्रह नहीं करते । यह वज्रकर्ण मेरा सामंत होते हुए भी मेरे सामने नहीं झुकता तब मैं इसे कैसे छोड़ दूँ"-सिहोदर ने कारण बताया ।

-"वज्रकर्ण तुम्हारे प्रति अविनयी नहीं है । यह धर्म-नियम का पालक है । उसकी प्रतिज्ञा अर्हन्त देव और निर्ग्रंथ गुरु को प्रणाम करने की है । इनके अतिरिक्त वह किसी को प्रणाम नहीं करता । यह इसकी धर्मदृढ़ता है, उद्दंडता या अविनय नहीं, न द्वेष, मान या लाभ के वश हो कर यह हठी बना है । उसके शुभाशय को समझ कर तुम्हें यह घेरा उठा लेना चाहिए ।"

"महाराजाधिराज भरतजी का आदेश तुम्हें शिरोधार्य करना चाहिए । वे समुद्रांत सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी हैं ।"

लक्ष्मणजी के उपरोक्त वचन, सिहोदर सहन नहीं कर सका । वह कोपायमान हो कर बोला;-

"कौन है ऐसे भरतजी, जो मुझे आदेश देते हैं ? नहीं मानता मैं उनके आदेश को । मैं स्वयं प्र सत्ता सम्पन्न शासक हूँ । मुझे आदेश देने वाला कोई नहीं है । मैं तुम्हारी बात को स्वीकार नहीं कर सकता ।"

-"मूर्ख ! तू महाराजा भरतजी को नहीं पहिचानता और अपने ही घमंड में अकड़ रहा है । ले, मैं तुझ-से भरतेश्वर का आदेश मनवाता हूँ । तैयार होजा युद्ध करने के लिए मेरे साथ'-लक्ष्मणजी ने क्रोधावेश में अरुणनेत्र करते हुए कहा ।

सिहोदर युद्ध करने को तत्पर हो गया । लक्ष्मण तत्काल हाथी को बाँधने का खूँटा उखाड़ कर उसी से शत्रुओं पर प्रहार करने लगे । उन्होंने एक छलांग लगायी और हाथी पर बैठे हुए सिहोदर के पास पहुँचे तथा उसे दबोच लिया, फिर उसी के वस्त्र से उसे बाँध कर वश में कर लिया । लक्ष्मणजी के रणकौशल को देख कर सेना दंग रह गई । लक्ष्मणजी सिहोदर को इस प्रकार खिंचते हुए रामचन्द्रजी

के पास लाये, जिस प्रकार गाय को रस्सी से बाँध कर लाया जाता है । सिहोदर ने रामचन्द्रजी को प्रणाम किया और बोला-

"हे रघुकुल-तिलक ! आप यहाँ आये हैं- यह मैं नहीं जानता था । कदाचित् आप मेरी परीक्षा लेने के लिये यहा पधारे हों । आप जैसे महाबलि मुझ जैसे पर अपनी शक्ति का प्रयोग करें, तब तो मेरा अस्तित्व ही नहीं रहे । स्वामिन् ! मेरा अपराध क्षमा करे और आज्ञा प्रदान करें कि मैं क्या करूँ ।"

"वज्रकर्ण के साथ समझौता करो" - रामचन्द्रजी ने कहाँ । सिहोदर ने आज्ञा स्वीकार की । श्री रामचन्द्रजी का सन्देश पा कर वज्रकर्ण वहाँ आया और विनय पूर्वक हाथ जोड कर बोला -

"स्वामिन्! आप भ ऋषभदेव कुल में उत्पन्न बलदेव और वासुदेव हैं -ऐसा मैंने सुना था। सद्भाग्य से आज आपके दर्शन हुए । आप अर्द्ध-भरत के अधिपति हैं । मैं और अन्य राजागण आपके किंकर हैं । देव! मुझ पर कृपा करें और मेरे स्वामी इन सिहोदर नरेश को मुक्त कर दे, साथ ही इन्हें ऐसी शिक्षा प्रदान करें कि जिससे ये अन्य के प्रणाम नहीं करने के मेरे दृढ अभिग्रह को सदैव सहन करते रहें ।'

श्रीरामचन्द्रजी के आदेश को सिहोदर ने स्वीकार किया। उसके स्वीकार कर लेन पर लक्ष्मणजी ने उसे मुक्त कर दिया। सिहोदर और वज्रकर्ण आलिगन पूर्वक मिले । सिहोदर ने अपना आधा राज्य वज्रकर्ण को दे दिया जिससे वह सामत नहीं रह कर समान नरेश हो गया। अब प्रणाम करने का प्रश्न ही नहीं रहा।

दशागपुर नरेश वज्रकर्ण ने अवतिकाधिपति सिहोदर से, रानी श्रीधरा की कुण्डल जोडी माँग कर विद्युगम ✿ को दी। वज्रकर्ण ने अपनी आठ कन्याएँ और सिहोदर ने अपने सामता सहित तीन सौ कन्याएँ लक्ष्मण का दी । लक्ष्मण ने उन कन्याओ को वनवास के समय तक पितृगृह में ही रखने का आग्रह करते हुए कहा- जब तक हम प्रवास में रहें, तब तक के लिए इन स्त्री-रत्नों को अपने यहाँ ही रहने दें। जब अनुकूल समय आयगा, पाणि-ग्रहण कर लग्नविधि की जायगी ।" वज्रकर्ण और सिहोदर अपने-अपने स्थान पर गए और रामचन्द्रादि रात्रिकाल वहीं व्यतीत कर किसी निर्जल प्रदेश की ओर आगे बढे।

कल्याणमाला या कल्याणमल्ल ?

चलते-चलते श्री सीतादेवी को प्यास लगी और उन्होंने पानी पीने की इच्छा प्रकट की । श्रीरामभद्र और सीताजी को एक वृक्ष के नीचे बिठा कर, लक्ष्मण जल लेने क लिए चले । कुछ दूर आगे बढने पर उन्होने मनोहर कमल-पुष्पो से सुशोभित एक सुन्दर सरोवर दिखाई दिया । उस सरोवर

✿ इसका वृत्तात पृ ९५ पर देख ।

पर कुबेरपुर का राजा 'कल्याणमल्ल' क्रीडा करने आया था । कल्याणमल्ल की दृष्टि लक्ष्मण पर पड़ी ही मोहावेश बढा । उसके नयनो में मादकता आ गई। हृदय में काम व्याप्त हो कर विचलित करने लगा उसके शरीर पर स्त्री के लक्षण प्रकट होने लगे । कल्याणमल्ल ने लक्ष्मण को आतिथ्य ग्रहण करने का निमन्त्रण दिया । पुरुषवेशी कल्याणमल्ल के मुख-कमल पर स्त्रीभाव के चिह्न देख कर समझ गए कि यह है तो स्त्री, परन्तु कारण वश पुरुषवेश में रहती है। उन्होंने प्रकट रूप से कहा-"थोड़े दूर पर मेरे ज्येष्ठ-भ्राता भावज सहित बैठे हैं। मैं उन्हे छोड कर आपका निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सकता ।" कल्याणमल्ल ने अपने चतुर प्रधान को रामभद्रजी के पास भेज कर आमन्त्रित किया। उनके लिए वहीं पटकुटी (तम्बू) तैयार करवा कर ठहराया और भोजन कराया । भोजनादि से निवृत्त हो कर और परिजनादि को हटा कल्याणमल्ल ने स्त्रीवेश धारण किया और अपने प्रधानमन्त्री के साथ अतिथियों के समुख आ कर नतमस्तक हो प्रणाम किया। रामभद्र ने कहा,

"भद्रे! अपने स्वाभाविक स्त्रीत्व को गुप्त रख कर पुरुषवेश में रहने का क्या प्रयोजन है?"

उत्तर मिला-"यहाँ के शासक (मेरे पिता) वाल्यखिल्य नरेश थे । उनकी प्रिय रानी पृथ्वीदेवी की कुक्षि म मैं आई। थोड़े दिन बाद ही राज्य पर म्लेच्छों ने आक्रमण कर दिया और छलबल से पिताश्री को बाँध कर ले गए । उसके बाद मेरा जन्म हुआ । बुद्धिमान् प्रधानमन्त्री ने जाहिर किया कि 'रानी के पुत्र का जन्म हुआ हैं' और उत्तराधिकारी पुत्र के रूप में मेरा राज्याभिषेक हो गया। मैं पुरुषवेश और पुरुष नाम से दूसरो के सामने आने लगी। मेरी परिचर्या माता और अत्यत विश्वस्त एक सेविका द्वारा होने लगी, जिससे किसी को मेरे पुत्री होने का पता नहीं चले। मैं 'कल्याणमाला' के बदले 'कल्याणमल्ल कहलाने लगी। पुत्र-जन्म के समाचार पा कर पडोसी राज्य के नरेश सिंहोदर ने मेरे पिताजी क लौट आने तक मुझे राज्याधिपति की मान्यता दी । अब तक मैं पुरुष रूप में ही प्रसिद्ध हूं। मातेश्वरी, प्रधानमन्त्री और एक सेविका के सिवाय मेरे स्त्रीत्व का किसी को पता नहीं है। पिताश्री को छुडाने के लिए मैंने म्लेच्छों को बहुत-सा धन दिया । वे दुष्ट धन भी ले गये और उन्हे मुक्त भी नहीं किया । इसलिए आप से प्रार्थना है कि आप उन दुष्टों से मेरे पिताश्री को मुक्त कराने की कृपा करें। आप महाबली है, पर दु खभजक हैं। पहले भी आपने सिंहोदर के भय से वज्रकर्ण की रक्षा की। अब मुझ पर यह उपकार कर के अनुग्रहित करें ।"

रामभद्र ने कहा- "हम तुम्हारे पिता को मुक्त करा कर लावें, तब तक तुम पुरुष-वेश में ही रह कर राज्य का सचालन करती रहो ।" कल्याणमाला ने पुन पुरुषवेश धारण कर लिया । उसके प्रधानमन्त्री ने कहा-"राजकुमारी के पति लक्ष्मणजी होंगे।"

-"अभी हम देशाटन कर रहे हैं। लौटते समय राजकुमारी के लग्न, लक्ष्मण के साथ हो जायेंगे श्री रामभद्रजी ने कहा।"

म्लेच्छ सरदार से वालिखिल्य को छुड़ाया

तीन दिन वहाँ रुक कर श्री राम-लक्ष्मण और सीता ने रात्रि के समय-सभी को निद्रामग्न कर प्रयाण किया । प्रात काल होने पर जब अतिथियो को नहीं देखा, तो कल्याणमाला खिन्न-हृदय से नगर में चली गई। रामभद्रादि नर्मदा नदी उतर कर विंध्य प्रदेश की भयकर अटवी में पहुँचे । पथिको ने उधर जाने से इन्हे रोकते हुए, म्लेच्छो के भयकर उपद्रव का भय बतलाया। किंतु यात्रीत्रय उधर ही चलते रहे। आगे चलते हुए उन्हें कटकवृक्ष पर बैठे हुए पक्षी की विरस बोली रूप अपशकुन और क्षीरवृक्ष पर रहे हुए पक्षी की मधुर ध्वनिरूप शुभशकुन हुए, किन्तु उस ओर ध्यान नहीं दे कर वे चलते ही रहे। आगे बढने पर उन्हें हाथी-घोडे और उच्च प्रकार के विपुल अस्त्रशस्त्रादि से युक्त म्लेच्छों की विशाल सेना मिली । वह सेना किसी राज्य का विनाश करने के लिए जा रही थी । उस सेना के युवक सेनापति की दृष्टि सीतजी पर पडी वह सीता जी का रूप देख कर विमोहित हो गया और विकार-ग्रस्त हो कर अपने सैनिको को आज्ञा दी कि-

"इन सामने आ रहे दोनों पुरुषो को बन्दी बना कर अथवा मार कर इस सुन्दर स्त्री को मेरे पास लाओ।"

म्लेच्छ-सैनिकों ने रामभद्रादि पर आक्रमण कर दिया और बाण-वर्षा करते हुए उनके निकट आने लगे। लक्ष्मण ने राम से निवेदन किया -"आर्य! जब तक इन दुष्टो का मैं दमन नहीं कर लूँ तब तक आप दोनो इस वृक्ष की छाया में विराजे । उन्हें बिठा कर लक्ष्मण ने धनुषसभाला और टकार ध्वनि उत्पन्न की। धनुप की सिहनाद से भी अधिक भयकर ध्वनि सुन कर आक्रमणकारियों का दल लौट कर भागने लगा । म्लेच्छों की विशाल सेना के प्रत्येक सैनिक के मन मे यह प्रश्न उठ खडा हुआ कि "जिस महावीर के धनुष की टकार (ध्वनि) ही हमारे कानो के पर्दे फोड दे, बल साहस तथा सामर्थ्य की इतिश्री कर दे, उसके बाणो की मार कितनी भयानक एव सहारक होगी ?"

म्लेच्छाधिपति के मन मे भी यही विचार उत्पन्न हुआ। वह परिस्थिति का विचार कर और शस्त्रादि का त्याग कर, श्रीरामभद्र के पास आया और कहने लगा,-

"देव! कौशाबी नगरी के वैश्वानर ब्राह्मण का मैं पुत्र हूँ । मेरा नाम 'रुद्रदेव' है। मैं जन्म से ही क्रूर हूँ। चोरी जारी आदि अनेक दुर्गुणो की खान हूँ । मेरे मन में दया-करुणादि शुभभाव आते ही नहीं ससार में ऐसा कोई दुराचरण नहीं रहा, जो मैंने नहीं किया हो। एक बार चोरी करते हुए मैं पकडा गया। राजा ने मुझे प्राणदण्ड दिया और मैं वधस्थल पर ले जाया जाने लगा, किन्तु एक दयालु श्रावक ने राजा को धन दे कर मुझे बचा लिया और मुझे समझाते हुए कहा;-

"तू यह पाप-कृत्य छोड दे और धर्म का आचरण कर के प्राप्त मानव भव को सफल कर ले ।"

उस उपकारी जीवन-रक्षक की बात को मैं स्वीकार नहीं कर सका । मेरी दुष्ट-प्रकृति मुझ से बदली नहीं जा सकी । मैंने उस देश का त्याग कर दिया और भटकता हुआ चोरपल्ली मे पहुँच गया। यहाँ आ कर मैंने अपना नाम बदल कर 'काक' रख लिया और अनुकूलता पा कर पल्लीपति बन गया। मेरी सैन्यशक्ति दिनोदिन बढने लगी । मैं गाँवों नगरों और राज्यो को लूटने लगा और घात लगा कर राजाओ को पकडने और गुप्त स्थानो पर बन्दी बनाने लगा । मेरा स्थान तथा हलचल सुरक्षित एव गुप्त रहती आयी । किन्तु अचानक आज मैं आपके समुख आ कर, आपकी अद्भुत शक्ति के वशीभूत हो गया । अब आप आदेश दें कि मैं क्या करूँ । मैं आपश्री का किंकर हूँ । मेरा अविनय क्षमा करें ।"

"वालिखिल्य राजा को मुक्त करो"-रामभद्रजी ने आज्ञा दी । आज्ञा का पालन करते हुए वालिखिल्य को छोड दिया । वालिखिल्य ने मुक्त होते ही अपने उद्धारक श्रीरामभद्रजी के चरणों में नमन किया । म्लेच्छाधिपति काक ने उसी समय वालिखिल्य राजा को उसके स्थान पर पहुँचा दिया। वालिखिल्य, राजधानी म पहुँच कर स्वजनादि से मिला और राज्य का सचालन करने लगा ।

वालिखिल्य को मुक्त करा कर रामभद्रादि आगे बढे और विध्य-प्रदेश की अटवी को पार कर के ताप्ति नदी उतरे तथा आगे बढते हुए अरुण नामक ग्राम में पहुँचे । उस समय सीताजी को प्यास लगी इससे वे कपिल नाम के ब्राह्मण के घर गय । कपिल अत्यत क्रोधी स्वभाव वाला था, किन्तु उस समय वह घर में नहीं था । उसकी पत्नी ने रामभद्रादि का सत्कार कर के जलपान कराया । इतने में कपिल आ गया । उसने अपरिचित पथिकों को घर मे बैठे देखा, तो भडक उठा और अपनी पत्नी को गालिया देता हुआ बोला;-

"रे दुष्टा ! तेने इन मलिन और अपवित्र मनुष्यों को घर मे क्यों बिठाया ? पापिनी तेने अपने अग्निहोत्री घर की पवित्रता का कुछ भी विचार नहीं कर के अशुद्ध कर दिया । तू स्वय पापिनी है । मैं तेरी नीचता को सहन नहीं कर सकता"-इस प्रकार बकता हुआ वह ब्राह्मणी की ओर झपटा । उसी समय लक्ष्मणजी ने उसे कमर से पकड लिया और ऊँचा उठा कर उसे चक्र के समान घुमाने लगे । कपिल का क्रोध उड गया । वह भयभीत हो कर चिल्लाने लगा । रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को समझा कर कपिल को छुड़ाया । इसके बाद तीनो वहाँ से निकल कर आगे बढे ।

यक्ष द्वारा रामपुरी की रचना

चलते-चलते तीनों एक महावन में पहुँच गए । वर्षाऋतु का आगमन हो चुका था । वर्षा हो रही थी । रामादि प्रवासीत्रय वर्षा से बचने के लिए विशाल वटवृक्ष के नीच आ कर ठहरे । उन्होंने इस वृक्ष को उपयुक्त समझ कर भाई से कहा- "बन्धु ! अब वर्षाकाल इस वृक्ष के नीचे ही व्यतीत करना ठीक

रहेगा।" लक्ष्मण और सीताजी भी सहमत हो गए। उस वृक्ष पर 'इभकर्ण' नाम का यक्ष रहता था। यक्ष ने यह बात सुनी और उनकी भव्य आकृति देखी तो भयभीत हो गया। वह अपने स्वामी गोकर्ण यक्ष के पास गया और विनय पूर्वक बोला-

"स्वामिन्! मैं विपत्ति में पड़ गया हूँ। दो अप्रतिम-तेजस्वी पुरुष और एक महिला मेरे आवास पर आये हैं। वे पूरा वर्षाकाल वहीं बिताना चाहते हैं। इससे मैं चिन्तित हूँ। अब आप ही मेरी समस्या का हल करें।"

गोकर्ण ने इभकर्ण की बात सुन कर अवधिज्ञान से आगत प्रवासियों का परिचय जाना और प्रसन्नतापूर्वक बोला;-

"भद्र! तुम भाग्यशाली हो। तुम्हारे यहाँ आने वाले महापुरुष हैं। उनमें आठवें बलभद्र और वासुदेव हैं और अशुभोदय से प्रवासी दशा में हैं। ये सत्कार करने योग्य हैं। चल मैं भी चलता हूँ।"

गोकर्ण यक्ष, इभकर्ण के साथ वहां आया और वैक्रिय-शक्ति से वहाँ एक विशाल नगरी का निर्माण कर दिया। इतना ही नहीं, उसने नगरी को सभी प्रकार के साधनों से सुसज्जित एवं धन-धान्यादि से परिपूर्ण कर दी। हाट बाजार आदि से भरपूर उस नगरी का नाम-'रामपुरी' रखा गया। प्रातःकाल मंगल-वाद्य सुन जाग्रत हुए रामभद्रादि ने जब अपने सामने वीणाधारी यक्ष और महानगरी देखी, तो आश्चर्य करने लगे। यक्ष ने निवेदन किया-

"स्वामिन्! यह नगरी आपके लिए है। मैं गोकर्ण यक्ष हूँ। आप हमारे अतिथि हैं। आप जब तक यहाँ रहेंगे, तब तक मैं परिवार सहित आपकी सेवा में रहूँगा।

रामभद्रादि आनन्दपूर्वक उस देव-निर्मित रामपुरी में रहने लगे और यक्ष द्वारा प्रस्तुत धनधान्यादि का उपभोग एवं दान करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

कपिल का भाग्योदय

वह कपिल ब्राह्मण हवन के लिए समिधा एवं पुष्प-फल आदि लेने के लिए वन में आया। वह धुन ही धुन में आगे बढ़ा और दृष्टि लगा कर देखने लगा, तो उसे एक भव्य नगरी और उनके भवन-शिखर आदि दिखाई देने लगे। वह चकित रह गया। उसने वहाँ कभी कोई बस्ती देखी ही नहीं थी। अचानक इस महावन में यह नगरी कैसे बस गई? दूर जाती हुई एक सुन्दर महिला को देख कर वह उसके निकट गया और नगरी के विषय में प्रश्न किया-'भद्रे! यह क्या देव-माया है, इन्द्रजाल है, या गन्धर्वपुरी है? अचानक यह नगर कैसे बन गया?"

महिला यक्षिणी थी। उसने कहा-

"यह रामपुरी है । श्री राम-लक्ष्मण और सीता के लिए गोकर्ण यक्ष ने बनाई है । यहाँ दयानिधि श्री रामभद्रजी, दीनजनो को दान देते हैं । यहाँ जो याचक आते हैं, उनकी मनो-कामना वे पूरी करते हैं। यहाँ आ कर कोई खाली हाथ नहीं जाता ।"

कपिल प्रसन्न हो गया । अपने सिर पर लदे हुए लकडियों के बोझ को एक ओर पटक कर उसने विनयपूर्वक महिला से पूछा;-

"कल्याण-वेलि! मुझे बता । मैं उन रामभद्रजी की सेवा में कैसे पहुँच सकता हूँ? "

-"यदि तू अपनी मिथ्या हठ और आग्रह छोड कर आर्हत् धर्म स्वीकार करले और फिर इस नगरी के पूर्वद्वार से प्रवेश कर के राजभवन में जावे, तो तेरा धर्म और अर्थ-दारिद्रय दूर हो सकता है।"

कपिल की दुर्दशा का अन्त निकट ही था। यक्षिणी की सलाह उसे भाई। वह शीघ्र ही स्वस्थान आया और पूछता हुआ जैन-साधुओं के निकट पहुँचा । धर्म-शिक्षा ग्रहण की । धर्म सुनते ही रुचि भी उत्पन्न हो गई। कपिल का भाग्योदय एव भव्यता परिपक्व होने ही वाली थी। वह श्रावक हो गया। घर आ कर उसने पत्नी को भी धर्म समझा कर श्राविका बना ली। फिर दोनो रामपुरी में आये। राजभवन में प्रवेश करने के बाद जब कपिल की दृष्टि श्रीराम-लक्ष्मणादि पर पड़ी तो पहिचान कर उलटे पाँव भागने लगा। उसे अपने दुर्व्यवहार का स्मरण हो आया था। उसे भागता देखकर लक्ष्मणजी ने रोकते हुए कहा-

"द्विज! निर्भय रह और जो इच्छा हो वह माँग ले।"

कपिल का भय दूर हुआ । उसने श्री रामभद्रजी से विनयपूर्वक अपनी विपन्न दशा का परिचय दिया। उसकी पत्नी सीताजी से मिली । श्रीरामभद्रजी ने ब्राह्मण को इतना धन दिया कि वह सम्पन्न हो गया। उसकी विपन्नता नष्ट हो गई। कालान्तर में कपिल ससार से विरक्त हो कर नन्दावतस नामक आचार्य के समीप दीक्षित हो गया।

वर्षाऋतु व्यतीत होने पर रामभद्रजी ने आगे बढ़ने का विचार किया। वे प्रस्थान की तय्यारी करने लगे, तब गोकर्ण यक्ष ने विनयपूर्वक निवेदन किया -

"यहाँ के निवास के समय व्यवस्था करने में मेरी ओर से कोई त्रुटि रह गई हो, या अविनय हुआ हो, तो क्षमा कीजिएगा । " इतना कह कर उसने अपना स्वयप्रभ नाम का एक हार श्री राम को अर्पण किया। लक्ष्मणजी का रत्नमय दिव्य कुडल जोड और सीताजी को चूडामणि तथा इच्छानुसार भजन वाली वीणा भेट की। रामभद्रजी ने यक्ष का सम्मान किया और उस नगरी को छोड कर तीनो प्रवासी चल दिये। यक्ष-निर्मित वह मायापुरी भी विलीन हो गई ।

वनमाला का मिलन

रामभद्रादि चलते-चलते और कितने ही वनो, पर्वतों और नदी-नालो का उल्लघन करते विजयपुर नगर के निकट आये । सध्या का समय था । नगर के बाहर उद्यान म दक्षिण-दिशा में एक विशाल वट वृक्ष था । उसकी शाखाएँ बहुत लम्बी थी । जटाएँ भूमि मे घुस गई थी । वह सघन वृक्ष पथिकों के लिए आकर्षक एव शातिदायक था । उस वृक्ष को घर जैसी सुविधा वाला देख कर रामभद्रादि ने उसके नीचे विश्राम किया ।

विजयपुर नरेश महीधरजी के 'वनमाला' नाम की एक पुत्री थी । बालवय मे उसन लक्ष्मणजी की कीर्ति-कथा सुन ली थी और उसी समय से वह लक्ष्मणजी के प्रति प्रीति वाली हो गइ । युवावस्था म भी उसने लक्ष्मणजी को ही अपना पति माना और उन्हीं से मिलने के मनारथ करती रही । पुत्री का मनोरथ महीधर नरेश जानता था और वह भी यह सम्बन्ध जोडना चाहता था । किन्तु जब दशरथजी की दीक्षा और राम-लक्ष्मण तथा सीता के वनगमन की बात सुनी तो महीधर नरेश खेदित हुआ । उसन पुत्री के याग्य समझ कर चन्द्रनगर के राजकुमार सुरेन्द्ररूप के साथ सम्बन्ध निश्चित किया । राजकुमारी वनमाला ने जब अपने सम्बन्ध की बात सुनी तो उसे गम्भीर आघात लगा । वह आत्म-घात का निश्चय कर चुकी और अर्द्धरात्रि के बाद भवन से निकल गई । वह चली-चली उसी उद्यान म आइ, जहाँ रामभद्रादि ठहरे थे । वहाँ के यक्षायतन मे प्रवेश कर के उसने बलदेव की पूजा की और प्रार्थना करती हुई बोली,-

"देव ! इस भव मे मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ । मैं हताश हो कर प्राण त्याग रही हूँ । किंतु अगले भव मे तो मेरे पति श्री लक्ष्मणजी ही हो ।"

इस प्रकार प्रार्थना कर के वह देवालय से निकली और उसी वटवृक्ष के नीचे आई । उसने अपना उत्तरीय वस्त्र उतारा और वृक्ष की एक डाल से बाँध कर उसका पाश बनाया । फिर उच्च स्वर से बोली,-

"नभ मे विचर रहे चन्द्र देव, नक्षत्र और तारागण तथा दिग्पाल ! मुझ दुर्भागिनी की आशा पूर्ण नहीं हो सकी । मैं हताश हो कर अपने जीवन का अन्त कर रही हूँ - इस आशा के साथ कि उस पुनर्जन्म मे सुमित्रानन्दन श्री लक्ष्मणजी की ही अर्द्धांगना बनूँ ।"

श्री राम और सीताजी भर नींद मे थे और लक्ष्मणजी जागृत हो कर चौकी कर रहे थे । लक्ष्मणजी ने देखा-उस वृक्ष की ओर एक मानव छाया आ रही है । वे सावधान हो गए । उन्होंने सोचा-'यह कौन है ? वनदेवी है, या वटवृक्ष की अधिष्ठात्री ? छाया, वृक्ष के नीचे आ कर रुकी और थाडी ही देर में उपरोक्त घोष सुनाई दिया । वे तत्काल दौडे और डाल से झूलती हुई राजकुमारी का फन्दा काट कर उसे बचा लिया । राजकुमारी इस बाधा से भयभीत हो गई । किंतु जब उसे ज्ञात हुआ कि उसके रक्षक

स्वय उसके आराध्य ही हैं, तो हर्ष की सीमा नहीं रही । दोनो श्री राम के पास आये । निद्रा-त्याग के बाद लक्ष्मण ने, राजकुमारी वनमाला का परिचय दे कर पूरा वृत्तात सुना दिया । वनमाला ने लज्जा से मुँह ढक कर राम और सीताजी के चरणो में नमस्कार किया और पास ही बैठ गई ।

उधर वनमाला को शयन-कक्ष मे नहीं देख कर दासियाँ चिल्लाई । महारानी रोने लगी । राजा, अनुचरगण युक्त खोज करने निकल गए । पदचिह्नों के सहारे वटवृक्ष तक आए और पुत्री को अपरिचित्त पुरुषो के पास बैठी देख कर राजा गर्जा,-

"पकडो इन चोरो को । ये राजकुमारी का अपहरण कर लाये हैं । "

सैनिक शस्त्र ले कर झपटे । लक्ष्मणजी ने धनुष उठा कर टकार किया तो सभी सैनिको की छाती बैठ गई । कुछ वहीं गिर पडे और कुछ भाग खडे हुए । महीधर नरेश ही अकेले खडे रहे । उन्हें विश्वास हो गया कि-यह पराक्रमी वीर लक्ष्मणजी ही हैं । वे प्रसनता पूर्वक आगे बढते हुए बोले;-

'अहोभाग्य ! स्वागत है वीर ! मैंने आपको पहिचान लिया है । मेरी पुत्री के भाग्योदय से ही आपका शुभागमन हुआ है ।' श्री रामभद्रजी के निकट आ कर उन्होंने प्रणाम किया और बोले-

"महानुभाव ! हमारी चिर अभिलाषा आज पूरी हुई । मेरे असीम पुण्य का उदय है कि मुझे लक्ष्मणजी जैसे जामाता और आप जैसे समधी मिले । अब कृपा कर महालय में पधारें ।"

महीधर नरेश, सम्मानपूर्वक रामभद्रादि को राजभवन में लाये । वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे ।

अतिवीर्य से युद्ध

एक दिन नद्यावर्तपुर के अतिवीर्य नरेश का दूत, महीधर नरेश की राजसभा मे आ कर निवेदन करने लगा-

"मेरे स्वामी राजाधिराज अतिवीर्यजी का, अयोध्यापति भरत नरेश से विग्रह हो गया है । युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी हैं । मैं आपको सेना-सहित पधारने का आमन्त्रण ले कर उपस्थित हुआ हूँ । पधारिये। भरत नरेश की ओर भी बहुत से राजा आये हैं । इसलिए आपको हमारी सहायता करनी चाहिए ।"

लक्ष्मणजी ने पूछा-"तुम्हारे राजा को भरत नरेश से युद्ध करने का क्या कारण है ?"

-"मेरे स्वामी महाप्रतापी और अनुपम शक्तिशाली हैं । अन्य कई नरेश उनका अधिपत्य स्वीकार करते हैं, किन्तु अयोध्या नरेश उनकी शक्ति मान्य नहीं करते । इसी से यह विग्रह उत्पन्न हुआ है"-रामचन्द्रजी ने पूछा ।

-"मेरे स्वामी तो महाबली हैं ही, भरतजी भी सामान्य नहीं हैं । दोनो में से किसकी विजय होगी-कहा नहीं जा सकता"-दूत ने कहा ।

महीधर नरेश ने दूत को बिदा करते हुए कहा-"मैं अपनी सेना ले कर आ रहा हूँ, तुम जाओ ।"

दूत को रवाना कर महीधर नरेश ने श्रीरामभद्र से कहा-"मुझे लगता है अयोध्यापति के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आमन्त्रित करने वाले अतिवीर्य के दुर्दिन आ गये हैं । मैं भरतजी के शत्रु ऐसे अतिवीर्य के साथ युद्ध कर के उसका मद चूर्ण करूँगा ।"

"नहीं राजन् ! आप यहीं रहे । मैं आपके पुत्रो के साथ लेना ले कर जाऊँगा"-रामभद्र ने कहा ।

रामभद्र, लक्ष्मण और महीधर के पुत्र, विशाल सेना ले कर चले और नद्यावर्तपुर के बाहर उद्यान मे पडाव किया । उस क्षेत्र के अधिष्टायक देव ने श्रीरामभद्र की सेवा में उपस्थित हो कर कहा-

"महानुभाव ! मैं आपकी सेवा के लिए तत्पर हूँ । कहिये, क्या हित करूँ ?"

-"देव ! तुम्हारी सद्भावना से मैं प्रसन्न हूँ । यही पर्याप्त है"-गमभद्रजी ने कहा ।

-"आप समर्थ हैं, किंतु मैं चाहता हूँ कि अतिवीर्य को ऐसा सबक मिले कि जिससे वह लज्जित बने और लोक मे वह-"स्त्रियो से हारा हुआ" माना जाय । इसलिए मैं आपकी समस्त सेना को वैक्रिय द्वारा स्त्री रूप मे परिवर्तित कर देता हूँ ।"

देव ने राम-लक्ष्मण सहित समस्त सेना को स्त्री रूप मे बदल दिया । रामभद्र ने सेना सहित नगर के समीप आ कर द्वारपाल द्वारा नरेश को सूचना करवाई । नरेश ने पूछा-

-"महीधर नरेश आये हैं क्या ?"

-"नहीं, वे नहीं आये ।"

-"वह अभिमानी हैं । मुझे उसका घमण्ड उतारना पडेगा । जाओ उसकी सेना को लौटा दो । भरत के लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ"-अतिवीर्य ने क्रोधपूर्वक कहा ।

- "क्या स्त्रिया की सेना ? निकालो उन रांडों को मेरे राज्य मे से । गर्दन पकड कर धकेलते हुए सीमा पार कर दो । निर्लज्ज कहीं का" - नरेश ने क्रोधावेश में कहा ।

"महाराज ! महीधर ने सेना भी स्त्रियो की ही भेजी है । उसमें पुरुष ता एक भी नहीं है । यह कितनी बडी दुष्टता है"-द्वारपाल ने कहा ।

सैनिक और सामतगण उस स्त्री-सेना को लौटाने के लिए आये और अपनी शक्ति लगाने लगे । स्त्रीरूपधारी लक्ष्मण ने हाथी को बाँधने का स्तभ उखाड कर उसी से प्रहार करना शुरू किया । सभी सैनिक और सामत भूमि पर लौटने लगे । सामन्तों की दुर्दशा से अतिवीर्य का क्रोधानल विशेष भड़का। वह स्वय खड्ग ले कर झपटा । निकट आने पर लक्ष्मणजी ने उसका हाथ पकड कर खड्ग छिन लिया और नीचे गिरा कर उसके ही वस्त्र से उसे बाँध दिया और जनता के देखते हुए उसे घसीट कर ले चले। अतीवीर्य की दुर्दशा देख कर सीताजी का हृदय करुणामय हो गया । उन्होंने लक्ष्मणजी से उस

छुडवाया । इधर देवमाया हटने से सभी पुन पुरुष रूप म हो गए । अतिवीर्य ने देखा कि ये तो रामभद्र लक्ष्मण और सीताजी हैं । वह लज्जित हुआ । क्षमा माँगी । रामभद्रजी ने उसे भरतजी के साथ शातिपूर्वक समझौता कर के राज करने की सूचना की । किन्तु अतिवीर्य के मन पर मानमर्दन की गहरी चोट लगी थी । वे राज्य और ससार से विरक्त हो कर और अपने पुत्र विजयरथ को राज्य दे कर प्रव्रजित हो गए ।

विजयरथ ने अपनी बहिन रतिमाला लक्ष्मण को दी और भरतजी की अधीनता स्वीकार की। और अपनी छोटी बहिन विजयसुन्दरी भरतजी को अर्पित की ।

अब श्री रामभद्रजी ने महीधर नरेश से प्रस्थान करने की आज्ञा माँगी । लक्ष्मणजी ने भी वनमाला से अपने प्रस्थान की बात कही, तो वह उदास हो गई और आसू गिराती हुई बोली,-

"यदि आपको मुझे छोड कर ही जाना था तो उस समय क्यो बचाई ? मरने देते मुझ, तो यह वियोग का दु ख उत्पन्न ही नहीं होता । नहीं, ऐसा मत करिये । मेरे साथ लग्न कर के मुझे अपने साथ ले चलिये । अब मैं पृथक् नहीं रह सकती ।"

"मनस्विनी ! मैं अभी पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता की सेवा में हूँ । तुम्हे साथ रखने पर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन बराबर नहीं कर सकूँगा । मैं अपने ज्येष्ठ को इच्छित स्थान पर पहुँचा कर शीघ्र ही तुम्हारे पास आऊँगा और तुम्हे ले जाऊँगा । तुम्हारा निवास मेरे हृदय म हो चुका है । मैं पुन यहाँ आ कर तुम्हे अपने साथ ले जाने की शपथ लेने को तत्पर हूँ ।"

"इच्छा नहीं होते हुए भी वनमाला को मानना पडा । उसने लक्ष्मणजी को 'रात्रि भोजन के पाप' की शपथ लेने को कहा ।" लक्ष्मणजी ने कहा--

"जो मैं पुन लौट कर यहाँ नहीं आऊँ तो मुझे रात्रि-भोजन का पाप लगे।"

जितपद्मा का वरण

इसके बाद पिछली रात को रामत्रय ने वहाँ से प्रस्थान किया और वन-पर्वत तथा नदी-नाले लाघते हुए 'क्षेमाँजलि' नामक नगर के समीप आये । उद्यान में विश्राम किया, फिर लक्ष्मण के लाये हुए और सीता द्वारा साफ कर के सुधारे हुए वनफलों का आहार किया । इसके बाद लक्ष्मणजी ने नगर प्रवेश किया । नगर के मध्य में पहुँचने पर उन्हे एक उद्घोषणा सुनाई दी;-

"जो वीर पुरुष ! महाराजाधिराज के शक्ति-प्रहार को सहन कर सकेगा । उसे नरेन्द्र अपनी राजकुमारी अर्पण करेंगे ।"

लक्ष्मणजी ने किसी नागरिक से उद्घोषण का कारण पूछा। उसने कहा-" यहाँ के नरेश शत्रुदमनजी एक पराक्रमी एव बलवान् नरेश हैं। उनकी कन्यकादेवी रानी की कुक्षि से जन्मी राजकुमारी जितपद्मा अनुपम सुन्दरी और लक्ष्मी के अवतार जैसी है। उसका वर भी वीर ही होना चाहिए, इसलिए राजा ने यह निश्चय किया है कि जो उसके शक्ति-प्रहार को सह सके, वह वीर पुरुष ही मेरी पुत्री का पति होगा। यही इस घोषणा का अर्थ है। अब तक उसके योग्य वर नहीं मिला। प्रति दिन उद्घोषणा होती रहती है।"

लक्ष्मणजी तत्काल राजसभा मे पहुँचे। नरेश के परिचय पूछने पर अपने को राजाधिराज भरतजी का दूत बतलाया और कहा।

"मैं कार्य-विशेष से इधर से जा रहा था कि आपकी उद्घोषणा और उसमें रही हुई चिन्ता की बात सुनने में आई। मैं आपको चिंता-मुक्त करने के लिए आया हूँ। आपकी प्रिय पुत्री को मैं ग्रहण कर सकूँगा।"

एक दूत की धृष्टता से राजा रुष्ट हुआ। फिर भी पूछा,-

-"आप मेरी शक्ति के प्रहार को सहन कर सकेंगे।"

-"एक ही क्या, पाँच शक्ति का प्रहार करिये। मैं सहर्ष तत्पर हूँ" -लक्ष्मणजी ने साहसपूर्वक कहा।

ये समाचार अन्त पुर में भी पहुँचे। राजमहिषी झरोखे में आ कर लक्ष्मणजी को देखने लगी। राजकुमारी भी एक ओर छुप कर देखने लगी। लक्ष्मणजी को देखते ही राजकुमारी मोहित होगई। वह सोचने लगी-"पिताजी शक्ति-प्रहार नहीं करे, तो अच्छा हो।" वह अनिष्ट की आशका से चिन्तित हुई। उससे रहा नहीं गया। वह राज-सभा में चली आई। उसने पिता को शक्ति-प्रहार करने से रोकते हुए कहा,-

"पिताजी! रुकिये। अब परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रही। मैं इन्हें ही वरण करूगी। अब आप इस घातक परीक्षा को बन्द करिये।"

वैसे राजा भी लक्ष्मण की आकृति देख कर प्रभावित हुआ था, किन्तु दूत जैसे हीन व्यक्ति को जामाता कैसे बना ले? इसलिए उसने शक्ति प्रहार आवश्यक माना और उठ खडा हुआ- शक्ति ले कर प्रहार करने। चलादि शक्ति लक्ष्मण पर। लक्ष्मणजी ने दो प्रहार हाथ पर झेले, दो छाती पर और एक दाँत पर। पाँचों प्रहार सह कर भी लक्ष्मणजी अडिग रहे। उनके मुख पर हास्य छाया रहा। उपस्थित जन-समूह अनिष्ट की आशका से चिन्तित था। किन्तु शक्ति की विफलता और लक्ष्मण की अजेयता देख कर जयजयकार किया। जितपद्मा ने प्रफुल्ल-वदन हो लक्ष्मण के गले में वरमाला डाल दी। नरेश

भी लक्ष्मणजी का स्वागत करने को तत्पर हो गए। लक्ष्मणजी ने कहा कि-मेरे ज्येष्ठ पूज्य उद्यान में है। उन्हे छोड कर मैं आपका आतिथ्य ग्रहण नहीं कर सकता । जब राजा ने जाना कि-'ये तो दशरथ नन्दन राम-लक्ष्मण है,तो उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहीं। वह तत्काल उद्यान में आया और बडे आदर के साथ राम-सीता को लेकर राज-भवन मे आया। रामचन्द्रादि कुछ दिन वहाँ रहे और फिर यात्रा प्रारम्भ हो गई। लक्ष्मणजी ने यहाँ भी कहा-'मैं लौटते समय लग्न करूँगा।''

मुनि कूलभूषण देशभूषण

क्षेमाजलि नगरी से निकल कर रामभद्रादि वसशैल्य पर्वत की तलहटी पर बसे हुए वसस्थल नामक नगर के निकट आए। उन्होने देखा-वहाँ के नागरिक और राजा, सभी भयभीत हैं। राम ने एक मनुष्य से कारण पूछा। उसने कहा- ''तीन दिन से रात्रि के समय इस पर्वत पर भयकर ध्वनि होती है इससे यहा के सभी लोग भयभीत हैं और नगर छोड कर अन्यत्र रात व्यतीत करते हैं। लोग उद्विग्न रहते हैं। अनिष्ट की आशका से सभी लोग चिंतित हैं।''

नगरजनो की कष्टकथा से द्रवित तथा लक्ष्मण से प्रेरित हो कर राम पर्वत पर चढे। उन्होंने पर्वत पर ध्यानस्थ रहे हुए दो मुनिवरो को भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर के बैठ गए। रात्रि के समय वहाँ अनलप्रभ नाम का एक देव आया। उसने भयकर वेताल का रूप बनाया और अनेक बेतालो की विकुर्वणा की। वह देव घोर गर्जना और भयकर अट्टहास करता हुआ मुनिवरो पर उपद्रव करने लगा। उस दुराशय दानव की दुष्टता देख कर राम-लक्ष्मण सन्नद्ध हो गए । सीता को मुनिवरों के निकट बैठा कर वे उस दुरात्मा बेताल पर झपटे । रामलक्ष्मण के साहस और प्रभाव से उदभ्रात हुआ देव भाग कर स्वस्थान चला गया । दोनों महात्मा निर्भीक हो कर ध्यान में लीन थे । उनके घाती कर्म झड रहे थ। वे धर्मध्यान से शुक्लध्यान मे प्रविष्ट हो कर निर्मोही हो गए और घातिकर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। रामभद्रजी ने केवल ज्ञानी भगवत को नमस्कार कर के उपद्रव का कारण पूछा । सर्वज्ञ भगवान् कूलभूषणजी ने कहा -

''पद्मिनी नगरी म विजय पर्वत राजा राज करता था। उसके 'अमृतसर' नामक दूत था। उपयोगा नाम की दूत पत्नी से 'ठदित' और 'मुदित' नाम के दो पुत्र हुए थे।

अमृतसर के 'वसुभूति' नाम का एक ब्राह्मण मित्र था। अमृतसर की पत्नी ठपयोग वसुभूति ब्राह्मण पर आसक्त थी। वह इतनी मोह-मूढ बनी कि अमृतसर को मार कर वसुभूति के साथ रहना चाहती थी । वसुभूति भी उपयोगा पर आसक्त था। राजाज्ञा से अमृतसर का विदेश जान का प्रसग आया। वसुभूति भी उसके साथ गया। उसने अनुकूल अवसर देख कर अमृतसर को मार डाला । इसके बाद वह लौट आया और लोगो में कहने लगा कि-

"अमृतसर ने अपने आवश्यक एव गुप्त कार्य के लिए मुझे लौटा दिया और खुद आगे बढ गया।" उसने उपयोगा से मनोरथ सफल होने की बात कही। उपयोगा ने कहा–

"इन दोनो छोकरों को भी मार डाला जाय, तो फिर कोई बाधा नहीं रहेगी। ये छोकरे हमारे लिए दु खदायक बन जावेंगे । इसलिए इस बाधा को भी हटा दो, जिससे हम निराबाध रह कर सुख भोग सकेंगे।"

वसुभूति ने स्वीकार कर लिया । वह उन दोनो बन्धुओ को समाप्त करने का अवसर देखने लगा। यह बात वसुभूति की पत्नी को मालूम हो गई। उसने चुपके से उन दोनो भाइयो को सावधान कर दिया। उदित और मुदित वसुभूति को पितृ-घातक तथा दोनो की घात की ताक म रहने वाला जान कर क्रुद्ध हुए। उदित ने वसुभूति को मार डाला। वह मृत्यु पा कर नवपल्ली मे म्लेच्छ कुल मे उत्पन्न हुआ।

कालान्तर में मतिवर्द्धन मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर राजा ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उसके साथ मुदित और उदित भी दीक्षित हो गए। विहार करते मार्ग भूल कर वे नवपल्ली में चले गए। वसुभूति का जीव जो म्लेच्छ हुआ था मुनियों को देख कर क्रोधित हो गया। उस पर पूर्व का वैर उदय में आ गया था। वह उन मुनियो को मारने के लिए तत्पर हुआ, किंतु म्लेच्छ नरेश ने उसे रोका । म्लेच्छ नरेश अपने पूर्वभव में पक्षी था और उदित तथा मुदित कृषक थे। उन्हाने पक्षी को शिकारी के पास से छुडा लिया था। पक्षी को अपने रक्षक के प्रति शुभ भावना थी । वह इस भव मे उदित होकर मुनियों का रक्षक बना। दोनो मुनियों ने चिरकाल सयम पाला और समाधि मरण मर कर महाशुक्र देवलोक में 'धूमकेतु' नाम का मिथ्यादृष्टि दुष्ट देव हुआ । उदित और मुदित के जीव महाशुक्र देवलोक से चव कर इस भरतक्षेत्र के रिष्टपुर नगर के प्रियवद नरेश की पद्मावती रानी की कुक्षि से रत्नरथ और चित्ररथ नाम के पुत्र हुए और धूमकेतु भी देवभव पूरा कर के उसी राजा की कनकाभा रानी के उदर से 'अनुद्धर' नामक पुत्र हुआ '। वह पूर्वभव के वैर से अनुप्राणित हो कर अपने विमाताजात बन्धुओ पर द्वेष एव मात्सर्य रखने लगा । किन्तु वे दोनों भाई उससे स्नेह करते थे । योग्य समय पर रत्नरथ को राज्य तथा चित्ररथ और अनुद्धर को युवराज पद दे कर प्रियवद नरेश प्रव्रजित हो गए और केवल छह दिन सयम पाल कर देवलोकवासी हो गए।

रत्नरथ राजा ने 'श्रीप्रभा' नाम की राजकुमारी से लग्न किया। इसी राजकुमारी के लिए पहले युवराज अनुद्धर ने भी याचना की थी। हताश अनुद्धर का नरेश पर द्वेष बढा । वह अपने ही क्रोध की आग में जलता हुआ युवराज पद छोड कर निकल गया और डाकू बन कर राज्य मे लूट-पाट करने लगा। इस डाकू भाई के द्वारा प्रजा का पीडन, रत्नरथ नरेश मे सहन नहीं हुआ । जब समझाना-बुझाना भी व्यर्थ हो गया तो नरेश ने उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया और उचित शिक्षा दे छोड दिया । इसके

बाद अनुद्धर जागी बन कर तपस्या करने लगा, किन्तु स्त्री-प्रसग से तपभ्रष्ट हो गया और मृत्यु पा कर भवभ्रमण करते-करते मनुष्यभव पाया। मनुष्यभव मे पुन तपस्वी बन कर अज्ञान-तप करने लगा और मर कर ज्योतिषी में अनलप्रभ देव हुआ ।

रत्नरथ नरेश और चित्ररथ युवराज ने सयम स्वीकार किया और चारित्र का विशुद्ध पालन करते हुए भव पूर्ण कर अच्युत कल्प मे अतिबल और महाबल नाम के महर्द्धिक देव हुए । वहा से च्यव कर सिद्धार्थपुर के क्षेमकर नरेश की रानी विमलादेवी की कुक्षि से मैं कुलभूषण और यह देशभूषण उत्पन्न हुआ । योग्यवय मे पिताश्री ने हमे घोष नाम के उपाध्याय के पास अभ्यास करने भेजा । हमने उपाध्याय के पास बारह वर्ष तक रह कर अभ्यास किया । अभ्यास पूर्ण कर के हम उपाध्याय के साथ राजभवन मे आ रहे थे कि हमारी दृष्टि महालय के गोखडे में बैठी एक सुन्दर कन्या पर पड़ी । हमारे मन म उसके लिये अनुराग उत्पन्न हुआ । हम काम-पीडित हो गए और उसी चिन्तन में मग्न हम पिताश्री के पास आये । पिताश्री ने उपाध्याय को पारितोषिक दे कर विदा किया । हम अन्त पुर में माता के पास पहुँचे । उसी सुन्दरी को माता के निकट बैठी देख कर हमें आश्चर्य हुआ । माता ने उसका परिचय कराते हुए कहा,-''यह तुम्हारी छोटी बहिन कनकप्रभा है । इसका जन्म तब हुआ था-जब तुम उपाध्याय के यहा विद्याभ्यास करने गये थे ।'' यह बात सुन कर हम लज्जित हुए । बहिन के प्रति अपनी दुष्ट भावना के लिए पश्चात्ताप करते हुए हम दोना विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और उग्र तप करते हुए हम इस पर्वत पर आये । हमारे पिता हमारा वियोग सहन नहीं कर सके और अनशन कर मृत्यु पा कर महालोचन नामक गरुडपति देव हुए । आसन कम्पन से हम पर उपसर्ग जान कर पूर्व स्नेह के कारण यहाँ आये हैं ।

कालान्तर में यह मिथ्यादृष्टि अनलप्रभ देव, अन्य देवों के साथ कौतुक देखने की इच्छा से अनन्तवीर्य नाम के केवलज्ञानी भगवत के पास गया । धर्मदेशना के पश्चात् किसी ने प्रश्न किया- 'भगवन् ! मुनिसुव्रत भगवान् के इस धर्म-शासन मे आपके बाद केवल ज्ञानी कौन होगा ?' सर्वज्ञ ने कहा - ''मेरे निर्वाण के बाद कुलभूषण और देशभूषण नाम के दो साधु केवली होगे ।'' यह बात अनलप्रभ ने भी सुनी । कालान्तर में उसने पूर्व-वैर के उदय से विभगज्ञान से हमें इस पर्वत पर देख और मिथ्यात्व के जोर से केवली का वचन अन्यथा करने यहाँ आया और हमें दारुण दु ख देने लगा । लगातार चार दिन तक उपसर्ग करते रहने पर आज तुम्हारे भय से वह भाग गया है । उसके योग से हमें घातिकर्म क्षय करने मे सफलता मिली ।''

महालोचन देव ने रामभद्र से कहा-''तुमने यहाँ आ कर मुनिवरों का उपसर्ग दूर किया यह अच्छा किया । मैं तुम पर प्रसन्न हूँ । कहो मैं तुम्हारा क्या भला करूँ ?''

रामभद्र ने कहा-"हमे किसी प्रकार की चाहना नहीं है ।"-मैं कभी किसी प्रकार तुम्हारा हित करूँगा"- कह कर देव चला गया ।

नगर का भय दूर होने और महामुनियो को केवलज्ञान होने की बात सुन कर वसस्थल नरेश भी पर्वत पर आये । केवलज्ञानी भगवतों को वदना कर रामभद्रजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया । रामभद्रादि वहाँ से प्रस्थान कर आगे बढे ।

दण्डकारण्य में++जटायु परिचय

चलते-चलते रामभद्रादि 'दण्डकारण्य' नामक प्रचण्ड अटवी में आये और एक पर्वत की गुफा मे प्रवेश किया । उस गुफा में रहने की सुविधा होने से वे वहाँ कुछ दिन के लिए ठहर गए । एक दिन वहाँ 'त्रिगुप्त' और 'सुगुप्त' नाम के दो चारण मुनि आये । वे दो मास के उपवासी साधु थे और पारणे के लिए वहाँ आये थे । रामभद्रादि ने उनको भक्तिपूर्वक वदना की और प्रासुक आहार-पानी से प्रतिलाभित किया। उस दान से प्रभावित हो कर देवा ने वहाँ सुगन्धित जल और रत्नो की वर्षा की। उसी समय कबुद्वीप के विद्याधरपति 'रत्नजटी' और दो देव वहाँ आये। उन्होंने प्रसन्न हो कर राम को अश्वयुक्त रथ दिया । वहाँ एक वृक्ष पर गन्ध नाम के रोग से पीडित एक गिद्ध पक्षी बैठा था।

देवो द्वारा की हुई सुगन्धित जल की वृष्टि की सुगन्ध से आकर्पित हो कर वह नीचे उतरा। मुनि का दर्शन होते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वह मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पडा । सीताजी ने उस पर जल-सिचन किया। कुछ समय बाद वह सावधान हो कर मुनिवरो के पास पहुँचा और चरणा में गिरा। मुनिवरो को स्पर्शोंपधि लब्धि पात थी। चरणो का स्पर्श होते ही वह पक्षी नीरोग हो गया। उसके पख सोने के समान, चोच परवले के समान लाल पाँव पद्मराग मणि जैसे और सारा शरीर अनेक प्रकार के रत्नों की काति वाला हो गया। उसके मस्तक पर रत्न के अकुर की श्रेणी के समान जटा दिखाई देने लगी। इस जटा से उस पक्षी का नाम "जटायु" प्रसिद्ध हुआ।

पॉच सौ साधुओं को घानी में पिलाया

रामभद्र ने मुनिराज से पूछा,-"भगवन्! गिद्ध-पक्षी तो मासभक्षी एव कलुपित भावना वाला होता है, फिर यह आपके चरणो में आ कर शात कैसे हो गया? तथा यह पहले ता अत्यन्त विरूप था अब क्षण भर में सुवर्ण एव रत्न की काँति के समान कैसे बन गया?"

सुगुप्त मुनि से कहा- "पूर्व काल मे यहाँ 'कुभकारट' नाम का एक नगर था। यह पक्षी अपने पूर्वभव में उस नगर का 'दण्डक' नाम का राजा था । उसी काल में श्रावस्ति नगरी में जितशत्रु नाम का राजा था। उसकी धारणी रानी से स्कन्दक पुत्र और पुरन्दरयशा पुत्री जन्मी थी । पुरन्दरयशा का दण्डक

बाद अनुद्धर जोगी बन कर तपस्या करने लगा, किन्तु स्त्री-प्रसग से तपभ्रष्ट हो गया और मृत्यु पा क भवभ्रमण करते-करते मनुष्यभव पाया। मनुष्यभव म पुन तपस्वी बन कर अज्ञान-तप करने लगा और मर कर ज्योतिषी में अनलप्रभ देव हुआ ।

रत्नरथ नरेश और चित्ररथ युवराज ने सयम स्वीकार किया और चारित्र का विशुद्ध पालन क हुए भव पूर्ण कर अच्युत कल्प मे अतिबल और महाबल नाम के महर्द्धिक देव हुए । वहा स च्यव क सिद्धार्थपुर के क्षेमकर नरेश की रानी विमलादेवी की कुक्षि से मैं कूलभूषण और यह देशभूषण उत हुआ । योग्यवय में पिताश्री ने हमें घोष नाम के उपाध्याय के पास अभ्यास करने भेजा । हम उपाध्याय के पास बारह वर्ष तक रह कर अभ्यास किया । अभ्यास पूर्ण कर के हम उपाध्याय के स राजभवन म आ रहे थे कि हमारी दृष्टि महालय के गोखडे में बैठी एक सुन्दर कन्या पर पडी । हम मन में उसके लिये अनुराग उत्पन हुआ । हम काम-पीडित हो गए और उसी चिन्तन म मग्न ह पिताश्री के पास आये । पिताश्री ने उपाध्याय को पारितोषिक दे कर विदा किया । हम अन्त पुर में मा के पास पहुँचे । उसी सुन्दरी को माता के निकट बैठी देख कर हमें आश्चर्य हुआ । माता ने उसक परिचय कराते हुए कहा,-"यह तुम्हारी छोटी बहिन कनकप्रभा है । इसका जन्म तब हुआ था-जब तु उपाध्याय के यहा विद्याभ्यास करने गये थे ।" यह बात सुन कर हम लज्जित हुए । बहिन के प्रति अपनी दुष्ट भावना के लिए पश्चात्ताप करते हुए हम दोनों विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और उग्र त करते हुए हम इस पर्वत पर आये । हमारे पिता हमारा वियोग सहन नहीं कर सके और अनशन क मृत्यु पा कर महालोचन नामक गरुडपति देव हुए । आसन कम्पन से हम पर उपसर्ग जान कर पूर्व स्नेह के कारण यहाँ आये हैं ।

कालान्तर में वह मिथ्यादृष्टि अनलप्रभ देव अन्य देवो के साथ कौतुक देखने की इच्छा से अनन्तवीर्य नाम के केवलज्ञानी भगवत के पास गया । धर्मदेशना के पश्चात् किसी ने प्रश्न किया 'भगवन् ! मुनिसुव्रत भगवान् के इस धर्म-शासन में आपके बाद केवल ज्ञानी कौन होगा ?' सर्वज्ञ ने कहा - "मेरे निर्वाण के बाद कूलभूषण और देशभूषण नाम के दो साधु केवली होंगे ।" यह बा अनलप्रभ ने भी सुनी । कालान्तर मे उसने पूर्व-वैर के उदय से विभगज्ञान से हमें इस पर्वत पर दे और मिथ्यात्व के जोर से केवली का वचन अन्यथा करने यहाँ आया और हमें दारुण दु ख देने लगा, लगातार चार दिन तक उपसर्ग करते रहने पर आज तुम्हारे भय से वह भाग गया है । उसके योग से हमें घातिकर्म क्षय करने मे सफलता मिली ।"

महालोचन देव ने रामभद्र से कहा-"तुमने यहाँ आ कर मुनिवरों का उपसर्ग दूर किया यह अच्छा किया । मैं तुम पर प्रसन्न हूँ । कहो मैं तुम्हारा क्या भला करूँ ?"

रामभद्र ने कहा-"हमे किसी प्रकार की चाहना नहीं है ।"-मैं कभी किसी प्रकार तुम्हारा हित करूँगा"- कह कर देव चला गया ।

नगर का भय दूर होने और महामुनियों को केवलज्ञान होने की बात सुन कर वसस्थल नरेश भी पर्वत पर आये । केवलज्ञानी भगवतों को वदना कर रामभद्रजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया । रामभद्रादि वहाँ से प्रस्थान कर आगे बढे ।

दण्डकारण्य में++जटायु परिचय

चलते-चलते गमभद्रादि 'दण्डकारण्य' नामक प्रचण्ड अटवी मे आये और एक पर्वत की गुफा मे प्रवेश किया । उस गुफा में रहने की सुविधा होने से वे वहाँ कुछ दिन के लिए ठहर गए । एक दिन वहाँ 'त्रिगुप्त' और 'सुगुप्त' नाम के दो चारण मुनि आये । वे दो मास के उपवासी साधु थे और पारणे के लिए वहाँ आये थे । रामभद्रादि ने उनको भक्तिपूर्वक वदना की और प्रासुक आहार-पानी से प्रतिलाभित किया। उस दान से प्रभावित हो कर देवो ने वहाँ सुगन्धित जल और रत्नो की वर्षा की। उसी समय कबुद्वीप के विद्याधरपति 'रत्नजटी' और दो देव वहाँ आये। उन्होंने प्रसन्न हो कर राम को अश्वयुक्त रथ दिया । वहाँ एक वृक्ष पर गन्ध नाम के रोग से पीडित एक गिद्ध पक्षी बैठा था।

देवो द्वारा की हुई सुगन्धित जल की वृष्टि की सुगन्ध से आकर्षित हो कर वह नीचे उतरा। मुनि का दर्शन होते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वह मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पडा । सीताजी ने उस पर जल-सिचन किया। कुछ समय बाद वह सावधान हो कर मुनिवरो के पास पहुँचा और चरणों में गिरा। मुनिवरो को स्पर्शौषधि लब्धि प्राप्त थी। चरणो का स्पर्श होते ही वह पक्षी नीरोग हो गया। उसके पख सोने के समान, चोच परवले के समान लाल, पाँव पद्मराग मणि जैसे और सारा शरीर अनेक प्रकार के रत्नो की काति वाला हो गया। उसके मस्तक पर रत्न के अकुर की श्रेणी के समान जटा दिखाई देने लगी। इस जटा से उस पक्षी का नाम "जटायु" प्रसिद्ध हुआ।

पाँच सौ साधुओं को घानी में पिलाया

रामभद्र ने मुनिराज से पूछा,-"भगवन्! गिद्ध-पक्षी तो मासभक्षी एव कलुषित भावना वाला होता है, फिर यह आपके चरणो में आ कर शात कैसे हो गया? तथा यह पहले तो अत्यन्त विरूप था अब क्षण भर में सुवर्ण एव रत्न की काँति के समान कैसे बन गया?"

सुगुप्त मुनि से कहा- "पूर्व काल में यहाँ 'कुभकारट' नाम का एक नगर था। यह पक्षी अपने पूर्वभव में उस नगर का 'दण्डक' नाम का राजा था । उसी काल मे श्रावस्ति नगरी में जितशत्रु नाम का राजा था। उसकी धारणी रानी से स्कन्दक पुत्र और पुरन्दरयशा पुत्री जन्मी थी । पुरन्दरयशा का दण्डक

राजा के साथ लग्न हुआ था। दण्डक राजा के पालक नामका दूत था। कार्यवश दण्डक ने पालक दूत को जितशत्रु नरेश के पास भेजा। जब पालक उनके समीप पहुँचा, तब वे धर्म-गोष्ठी में सलग्न थे। पालक धर्मद्वेषी था। वह उस धर्मगोष्ठी में अपनी मिथ्यामति से विक्षेप करने लगा। राजकुमार स्कन्दक ने पालित से वाद कर के निरुत्तर कर दिया। निरुत्तर एव पराजित पालक अपने को अपमानित समझ कर राजकुमार पर डाह रखने लगा। कालान्तर में राजकुमार स्कदक, अन्य पाँच सौ राजकुमारो के साथ तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के पास दीक्षित हो गया। कुछ काल के बाद स्कन्दक अनगार ने भगवान् से प्रार्थना की-

"प्रभो! मेरी इच्छा कुभकारट नगर जा कर पुरन्दरयशा और उसके परिवार को प्रतिबोध देने की है। आज्ञा प्रदान करें।"

"स्कन्दक ! कुभकारट जाने पर तुम्हें और सभी साधुओं को मरणान्तिक उपसर्ग होगा।"

-"भगवन् हम आराधक बनेगे, या विराधक ?"

-"तुम्हारे सिवाय सभी आराधक होगे।"

-"यदि मेरे सिवाय सभी साधु आराधक होगे, तो मैं अपने को सफल समझूँगा ।"

स्कन्दक मुनि ने अपने पाँच सौ साधुओं के साथ विहार कर दिया। वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए कुभकारट नगर के समीप पहुँचे । उन्हें आते देख कर पालक का वैर जागृत हुआ । उसने तत्काल एक षड्यन्त्र की योजना की। साधुओं के ठहरने के लिए उपयोगी ऐसे एक उद्यान मे उसने गुप्तरूप से बहुत-से शस्त्रास्त्र, भूमि में गडवा दिये। स्कन्दक अनगार, अपने परिवार सहित उस उद्यान मे ठहरे। दण्डक राजा, मुनि आगमन सुन कर वन्दन करने गया। मुनिराज ने राजा-प्रजा को धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुन कर परिषद् स्वस्थान चली गई।

पालक ने राजा को एकान्त में कहा- "यह स्कन्दक मुनि बगुलाभक्त-दभी है। इसके साथ के साधु बडे शूर-वीर हैं । प्रत्येक में एक हजार शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति है। ये आपका राज्य हड़पने के लिए आये हैं । इन्होने अपने शस्त्र, उद्यान की भूमि में गाड रखे हैं । अवसर पा कर ये आप पर आक्रमण कर के आपके राजसिहान पर अधिकार करना चाहते हैं। मुझे अपने भेदिये द्वारा विश्वस्त सूचना प्राप्त हुई है। आपको पूर्णरूप से सावधान रहना होगा। यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो, तो स्वय चल कर देख लीजिए।"

राजा यह सुन कर स्तभित रह गया। वह पालक के साथ उद्यान में आया। पालक द्वारा दिखाई गई भूमि खुदवा कर उसने शस्त्र निकलवाये। हृदय में मुनि-वृन्द के प्रति उग्रतम क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने पालक से कहा,-

"सन्मित्र ! तू मेरा रक्षक है। तेरी सावधानी से ही यह षडयन्त्र सफल नहीं हो कर पकड में आ गया। यदि तू नहीं होता, या असावधान होता, तो यह ढोंगी-समूह अपना मनोरथ पूर्ण कर लेता और मेरी तथा मेरे परिवार की क्या गति होती? किस दुर्दशा से मृत्यु होती? तू मेरा व इस राज्य तथा मेरी वश-परम्परा का उपकारी है। अब तू ही इस दुष्ट-समूह को दडित कर। इन सब को उचित दण्ड दे। अब मुझ-से पूछने की आवश्यकता नहीं, तू स्वय समझदार है।"

राजाज्ञा प्राप्त होते ही पालक ने तत्क्षण मनुष्य को पिलने का यन्त्र (घाना) मँगवा कर वहीं गडवा दिया और आचार्य स्कन्दक के सामने एक-एक साधु को पिलने लगा। पिलते समय साधुओ को स्कन्दकजी ने उपदेश देकर आराधना में तल्लीन बनाया। सभी उच्च भावो मे रमण करते हुए, श्रेणि का आरोहण कर घाति-कर्मों को नष्ट कर दिये और घाणी में पिलाते हुए केवलज्ञान पाये, तथा बाद में योग-निरोध कर मोक्ष प्राप्त हुए। शेष रहे आचार्य और उनका लघुशिष्य। आचार्य ने पालक से कहा- 'पहले मुझे पेर लो, इस बालक को बाद में पेरना। मैं इस बाल-मुनि का पेरा जाना नहीं देख सकूँगा।'

पालक के मन मे उत्कट वैर था। वह आर्य स्कन्दकजी को अत्यधिक दु खी देखना चाहता था। उसने उनकी माँग ठुकरा दी और बालमुनि को पेरना प्रारम्भ किया। आचार्य ने भी अतिम प्रत्याख्यान तो किये, किंतु पालक की दुष्टता को सहन नहीं कर सके। उन्होने द्वेषपूर्ण भावो से निदान किया;-

"मेरी तपस्या के फलस्वरूप, मैं दण्डक राजा, पालक, इनके कुल तथा देश को नष्ट करने वाला बनूँ। मेरे ही हाथो ये सभी छिन्न-भिन्न होवें।"

इस प्रकार निदान करते और इन्हीं भावों मे लीन बने आचार्य स्कन्दकजी को पालक ने पिलवा दिया। आचार्य मृत्यु पा कर अग्निकुमार जाति के भवनपति देव रूप में उत्पन्न हुए।

पाँच सौ मुनियों को घानी मे पेर कर हत्या करने के कारण वह सारा उद्यान ही मास और हड्डियों का ढेर बन गया। रक्त की नदी बह चली। मास भक्षी कुत्ते श्रृगाल आदि आ आ कर भक्षण करने लगे। चील, कौए, गिद्ध आदि पक्षी भी भक्ष को चोंच एव पाँवों में भर कर उडने लगे।

रानी पुरन्दरयशा-जो स्कन्दाचार्य की बहिन थी, अपने भवन में बैठी थी। उसे इस मुनि-सहार रूपी घोरतम हत्याकाड का पता भी नहीं था। अचानक उसके सामने, भवन के आँगन में रक्त एव मास के लोथड़ो से सना हुआ रजोहरण गिरा। एक पक्षी रजोहरण को ही, रक्तमास लिप्त होने के कारण हाथ का हिस्सा या आत के भ्रम में उठा कर उड गया था। वह उसे सम्भाल नहीं सका और उसके पाँवों से छूट कर अन्त पुर के आगन में गिरा। रानी उसे देख कर चौंकी। उसने पता लगाया तो इस घोरतम हत्या-काण्ड का पता लगा। इस महापाप से उस रानी को गम्भीर आघात लगा। वह रुदन करती हुई राजा की घोर निन्दा करने लगी। शोकग्रस्त रानी को कोई व्यन्तर देवागना उठा कर ले गई और भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के समवसरण में रख दी। वहाँ उसने बोध प्राप्त कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

राजा के साथ लग्न हुआ था। दण्डक राजा के पालक नामका दूत था। कार्यवश दण्डक ने पालक दूत को जितशत्रु नरेश के पास भेजा। जब पालक उनके समीप पहुँचा, तब वे धर्म-गोष्ठी में मग्न थे। पालक धर्मद्वेषी था। वह उस धर्मगोष्ठी में अपनी मिथ्यामति से विक्षेप करने लगा। राजकुमार स्कन्दक ने पालित से वाद कर के निरुत्तर कर दिया। निरुत्तर एव पराजित पालक अपने को अपमानित समझ कर राजकुमार पर डाह रखने लगा। कालान्तर में राजकुमार स्कदक, अन्य पाँच सौ राजकुमारों के साथ तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के पास दीक्षित हो गया। कुछ काल के बाद स्कन्दक अनगार ने भगवान् से प्रार्थना की-

"प्रभो! मेरी इच्छा कुभकारट नगर जा कर पुरन्दरयशा और उसके परिवार को प्रतिबोध देने की है। आज्ञा प्रदान करें।"

"स्कन्दक ! कुभकारट जाने पर तुम्हें और सभी साधुओ को मरणान्तिक उपसर्ग होगा।"

-"भगवन् हम आराधक बनेंगे, या विराधक ?"

-"तुम्हारे सिवाय सभी आराधक होगे।"

-"यदि मेरे सिवाय सभी साधु आराधक होगे, तो मैं अपने को सफल समझूँगा ।"

स्कन्दक मुनि ने अपने पाँच सौ साधुओ के साथ विहार कर दिया। वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए कुभकारट नगर के समीप पहुँचे । उन्हें आते देख कर पालक का वैर जागृत हुआ । उसने तत्काल एक षडयन्त्र की योजना की। साधुओं के ठहरने के लिए उपयोगी ऐसे एक उद्यान में उसने गुप्तरूप से बहुत-से शस्त्रास्त्र भूमि में गडवा दिये। स्कन्दक अनगार, अपने परिवार सहित उस उद्यान में ठहरे। दण्डक राजा, मुनि आगमन सुन कर वन्दन करने गया। मुनिराज ने राजा-प्रजा को धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुन कर परिषद् स्वस्थान चली गई।

पालक ने राजा को एकान्त में कहा- "यह स्कन्दक मुनि बगुलाभक्त-दभी है। इसके साथ के साधु बडे शूर-वीर हैं । प्रत्येक में एक हजार शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति है। ये आपका राज्य हडपने के लिए आये हैं । इन्होंने अपने शस्त्र, उद्यान की भूमि में गाड रखे हैं । अवसर पा कर ये आप पर आक्रमण कर के आपके राजसिहान पर अधिकार करना चाहते हैं। मुझे अपने भेदिये द्वारा विश्वस्त सूचना प्राप्त हुई है। आपको पूर्णरूप से सावधान रहना होगा। यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो, तो स्वय चल कर देख लीजिए।"

राजा यह सुन कर स्तभित रह गया। वह पालक के साथ उद्यान में आया। पालक द्वारा दिखाई गई भूमि खुदवा कर उसने शस्त्र निकलवाये। हृदय में मुनि-वृन्द के प्रति उग्रतम क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने पालक से कहा-

ी। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक उस खड्ग को ग्रहण किया और म्यान से बाह
ा की परीक्षा के लिए वंशजाल पर हाथ चला दिया। प्रहार से वंशजाल बड़ी
साथ ही शंबूक का मस्तक भी कट कर लक्ष्मणजी के निकट गिर गया। रक्त
लक्ष्मणजी यह देख कर चौंके। उन्होंने वंशजाल में घुस कर देखा, तो वटवृक्ष की
ता हुआ शंबूक का धड़ दिखाई दिया। उन्हें पश्चात्ताप हुआ-"अरे, एक निरपराध मनुष्य
गया। यह साधक सूर्यहास खड्ग की साधना कर रहा था। इसका मनोरथ पूर्ण होने ही
था कि मेरे हाथ से इसकी मृत्यु हो गई। धिक्कार है मेरे इस अविचारी दुष्कृत्य को।"
रामभद्रजी के पास आये और अपने पाप की आलोचना करते हुए वह खड्ग बताया।
रामचन्द्रजी ने कहा- "हे वीर! यह सूर्यहास खड्ग है। इसके साधक को तुमने मार डाला।
इसका उत्तर-साधक भी कहीं निकट ही होगा।"

कर्म की गति विचित्र है। शंबूक बारह वर्ष तक कठोरसाधना कर रहा था। उसे साधना का फल प्राप्त होने ही वाला था कि मृत्यु ने अपना ग्रास बना लिया और लक्ष्मणजी को बिना साधना के ही अनायास फल प्राप्त हो गया। यह सब शुभाशुभ कर्म का फल है।

काम-पीड़ित चन्द्रनखा

रावण की बहिन एवं विद्याधर की रानी चन्द्रनखा को अपने पुत्र शंबूक की साधना पूर्ण होने का समय स्मरण हो आया। वह पूजा और भोजन-पान की सामग्री ले कर साधना स्थान पर पहुँची। वहाँ
ुत्र के स्थान पर उसका कटा हुआ, कुण्डलयुक्त मस्तक आदि देख कर उसे गंभीर आघात लगा। हाथ
ी सामग्री छूट कर गिर गई और "हा पुत्र! हा, वत्स!" कह कर वह विलाप करने लगी। शोक का
कम होने पर उसने सोचा-'ऐसा कौन दुष्ट है, जिसने आज ही मेरे पुत्र का वध कर दिया।'
की खोज करने के लिए पृथ्वी पर चरणचिह्न देखने लगी। तत्काल ही उसे मनुष्य के पाँवों
दिखाई दी। विशेष देखने पर उसे ज्ञात हुआ कि ये चरण किसी सुलक्षणा सम्पन्न
व्यक्ति के है। वह अनुकरण करती हुई आगे बढ़ी। कुछ दूर चलने पर उसे एक वृक्ष के नीचे
एक स्त्री दिखाई दी। उसकी प्रथम दृष्टि श्रीरामभद्रजी पर पड़ी। उनका सुन्दर रूप
सबल अंग देख कर वह आसक्त हो गई। शोक का स्थान काम ने ले लिया।
कर वह कामातुर हो गई। उसने रामभद्रजी को मोहित करने के लिए वैक्रिय
आपको अप्सरा के समान अनुपम सुन्दरी बना लिया और राम के निकट आई। उसे
ने पूछा-

अग्निकुमार देव हुए स्कन्दकाचार्य ने अवधिज्ञान से अपने और श्रमण-सघ के घोर-शत्रु पा को देखा। उसके महापाप का स्मरण कर वह देव, क्रोधावेश में आ गया और अपनी दाहक-शक्ति दण्डक राजा, पालक और समस्त नगर को जला कर भस्म कर दिया। उस समय जल कर-भस्म हु यह क्षेत्र 'दण्डकारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

दण्डक राजा अनेक योनियो में जन्म-मरण करता और पापकर्म का फल भोगता हुआ यह ग नाम का महा रोगी पक्षी हुआ । पाप-कर्म विपाक हलका होने पर इसके ज्ञानावरणीय का क्षयोप हुआ । हमारे दर्शन से इसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। हमें प्राप्त स्पर्शौषधि लब्धि के प्रभाव से इसके स रोग नष्ट हो गए ।" अपना पूर्व भव सुन कर गिद्धपक्षी प्रसन्न हुआ। उसने पुन मुनिवरों को नमस्त किया और धर्म श्रवण कर के श्रावक व्रत स्वीकार किये । महर्षि ने अवधिज्ञान से उसकी इच्छा ज कर उसे जीव-हिसा, मास-भक्षण और रात्रि-भोजन का त्याग कराया। "हे रामभद्र! अब यह पक्ष तुम्हारा सहधर्मी है। सहधर्मी-बन्धुआ पर वात्सल्य भाव रखना कल्याणकारी है- ऐसे जिनेश्वर भगवा का वचन है।"

रामभद्रादि ने महर्षि के वचनों का आदर किया। दोनो मुनिराज आकाश-मार्ग से प्रस्थान कर गए। राम-लक्ष्मण और सीता, जटायु पक्षी के साथ दिव्य रथ मे बैठ कर आगे बढे।

सूर्यहास खड्ग साधक शंबूक का मरण

पाताल-लका में खर विद्याधर का शासन था। उसकी पत्नी चन्द्रनखा के 'शबूक' और 'सुन्द' नाम के दो पुत्र थे। यौवन-वय प्राप्त होने पर महा साहसी शबूक कुमार ने वन में जा कर सूर्यहास खड्ग साधने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की इच्छा की अवहेलना कर के शबूक कुमार सूर्यहास खड्ग साधने के लिए दण्डकारण्य मे आया। कचरवा नदी के किनारे वशजाल के गव्हर को उसने अपना साधना-स्थल बनाया । उसने निश्चय किया कि-"यहाँ रहते हुए मुझे कोई रोकेगा तो मैं उसे मार डालूगा।" दिन मे एक बार भोजन करता ब्रह्मचर्य पालता एव जितेन्द्रिय रहता हुआ वह विशुद्धात्मा वटवृक्ष की शाख से अपने पाँव बाँध कर तथा औंधा लटकता हुआ सूर्यहास खड्ग साधने की विद्या का जाप करने लगा। यह विद्या बारह वर्ष और सात दिन की साधना से सिद्ध हो सकती थी । शबूक को साधना करते हुए बारह वर्ष और चार दिन बीत चुके थे और केवल तीन दिन ही शेष रह गए थे। इस साधना के बल से सूर्यहास खड्ग आकाश से नीचे उतरता हुआ वश-गव्हर के निकट आ गया और अपना तेज तथा सुगन्ध फैलाने लगा। उस समय रामभद्रादि भी उसी क्षेत्र में, कुछ दूर ठहरे हुए थे। लक्ष्मणजी इधर-उधर घुमते हुए उस वशजाल के निकट आ गए। उनकी दृष्टि अपने तेज से प्रकाशित

सूर्यहास खड्ग पर पड़ी । उन्होंने उत्सुकतापूर्वक उस खड्ग को ग्रहण किया और म्यान से बाहर निकाल कर उसकी तीक्ष्णता की परीक्षा के लिए वशजाल पर हाथ चला दिया । प्रहार से वशजाल बडी सरलता से कट गई और साथ ही शबूक का मस्तक भी कट कर लक्ष्मणजी के निकट गिर गया। रक्त की धारा बह चली। लक्ष्मणजी यह देख कर चौंके। उन्होंने वशजाल में घुस कर देखा, तो वटवृक्ष की शाखा से लटकता हुआ शबूक का धड़ दिखाई दिया। उन्हें पश्चात्ताप हुआ-"अरे, एक निरपराध मनुष्य का वध हो गया । यह साधक सूर्यहास खड्ग की साधना कर रहा था । इसका मनोरथ पूर्ण होने ही वाला था कि मेरे हाथ से इसकी मृत्यु हो गई। धिक्कार है मेरे इस अविचारी दुष्कृत्य को।" वे रामभद्रजी के पास आये और अपने पाप की आलोचना करते हुए वह खड्ग बताया। रामचन्द्रजी ने कहा- "हे वीर! यह सूर्यहास खड्ग है। इसके साधक को तुमने मार डाला । इसका उत्तर-साधक भी कहीं निकट ही होगा।"

कर्म की गति विचित्र है। शबूक बारह वर्ष तक कठोरसाधना कर रहा था। उसे साधना का फल प्राप्त होने ही वाला था कि मृत्यु ने अपना ग्रास बना लिया और लक्ष्मणजी को बिना साधना के ही अनायास फल प्राप्त हो गया। यह सब शुभाशुभ कर्म का फल है।

काम-पीड़ित चन्द्रनखा

रावण की बहिन एवं विद्याधर की रानी चन्द्रनखा को अपने पुत्र शबूक की साधना पूर्ण होने का समय स्मरण हो आया । वह पूजा और भोजन-पान की सामग्री ले कर साधना स्थान पर पहुँची । वहाँ पुत्र के स्थान पर उसका कटा हुआ, कुण्डलयुक्त मस्तक आदि देख कर उसे गंभीर आघात लगा । हाथ की सामग्री छूट कर गिर गई और "हा, पुत्र ! हा, वत्स!" कह कर वह विलाप करने लगी । शोक का भार कम होने पर उसने सोचा-'ऐसा कौन दुष्ट है, जिसने आज ही मेरे पुत्र का वध कर दिया ।' वह उसकी खोज करने के लिए पृथ्वी पर चरणचिह्न देखने लगी । तत्काल ही उसे मनुष्य के पाँवों की आकृति दिखाई दी । विशेष देखने पर उसे ज्ञात हुआ कि ये चरण किसी सुलक्षणा सम्पन्न विशिष्ट व्यक्ति के है । वह अनुकरण करती हुई आगे बढी । कुछ दूर चलने पर उसे एक वृक्ष के नीचे दो पुरुष और एक स्त्री दिखाई दी । उसकी प्रथम दृष्टि श्रीरामभद्रजी पर पडी । उनका सुन्दर रूप यौवन और सुगठित सबल अग देख कर वह आसक्त हो गई । शोक का स्थान काम ने ले लिया । पुत्र-वियोग भूल कर वह कामातुर हो गई । उसने रामभद्रजी को मोहित करने के लिए वैक्रिय प्रक्रिया से अपने आपको अप्सरा के समान अनुपम सुन्दरी बना लिया और राम के निकट आई । उसे देख कर श्रीराम ने पूछा-

"भद्रे ! इस यमधाम जैसे दारुण दडकारण्य में तू अकेली किस लिए आई ?"

-"महानुभाव ! मैं अवती नरेश की प्रिय पुत्री हूँ । गत-रात्रि को मैं अपने प्रासाद पर सोई थी कि कोई खेचर मेरा हरण कर यहाँ ले आया । इस वन में किसी अन्य विद्याधर कुमार ने हमे देखा। वह भी मुझे देख कर मोहित हो गया। वह तत्काल खड्ग लेकर मेरा हरण करने वाले से भिड गया। दोनों मत्त-हाथिया के समान आपस मे लडने लगे। अन्त मे दोनो गम्भीर रूप से घायल हो कर गिर पड और थोडी देर म ठण्डे पड गए। मैं अकेली निराधार रह गई। मैं इधर-उधर भटकती हुई आश्रय की खोज म यहा चली आई । पुण्य-योग्य से मुझे आप जैसे भव्य-पुरुष की प्राप्ति हुई है। अब आप मुझे शीघ्र ही स्वीकार कर ले। मैं अपने-आपको आपके चरणो में समर्पित करना चाहती हू। आप मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करें।"

चन्द्रनखा की मानसिक स्थिति उसके चेहरे और आँखों से प्रकट होती हुई काम-विव्हलता एव सहसा प्रणय-याचना से भ्रातृ-युगल के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। उन्होने सोचा-"यह कोई मायाविनी नारी ह और कोई जाल रच कर अपने को फाँसने आई है।" एक-दूसरे ने सावधान रहने का सकेत किया।

"सुन्दरी! मैं तो प्रणय-बन्धन में बधा हुआ हूँ। मरी पत्नी मेरे साथ है। इसलिए मैं तो तुम्हारा मनारथ पूर्ण नहीं कर सकता। किन्तु लक्ष्मण अकेला है । तू उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न कर।"

चन्द्रनखा, लक्ष्मणजी के पास गई और प्रणय प्रार्थना की। लक्ष्मणजी ने कहा-

-"आप पहले मेरे ज्येष्ठ-भ्राता के पास गई थी। आपके हृदय में उन्हे स्थान मिल चुका है। इसलिए आप तो मेरे लिए पूज्य भावज हो गई। अब मैं आपके साथ प्रणय का विचार ही नहीं कर सकता ।"

याचना की उपेक्षा से हुए मान-मर्दन ने उसके हृदय मे ग्लानि उत्पन्न कर दी। हठात् पुत्र-शोक उदित हो गया। वह क्रोधित हो कर नागिन की तरह तडपी और शीघ्र ही पाताल-लका म पहुँच कर पुत्रघात का वृत्तात अपने पति खर को सुनाया। पुत्र विरह की बात सुनते ही शत्रु के प्रति भयकर क्रोध से जलते हुए खर नरेश ने विद्याधरों की सेना लेकर राम-लक्ष्मण पर चढाई कर दी और दण्डकारण्य में पहुँच गए।

सीता का अपहरण

खर नरेश को सेना-सहित युद्धार्थ आता देख कर लक्ष्मणजी उठे और ज्येष्ठ-भ्राता से बोले "पूज्य! आप यहीं विराजे और मुझे आज्ञा प्रदान करें। आपके आशीर्वाद से मैं इस गीदड-दल को छिन्न-भिन्न करूगा।" लक्ष्मणजी का अत्याग्रह देख कर रामभद्रजी ने आज्ञा देते हुए कहा- "तुम्हारी यही इच्छा है तो जाओ। किन्तु सकट का समय उपस्थित हो जाय तो शीघ्र ही सिहनाद करना। मैं उसी समय पहुँच जाऊँगा ।" लक्ष्मणजी ने प्रणाम किया और धनुष-बाण ले कर चल दिए। युद्ध प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार सर्प-समूह पर गरुड झपटे, उसी प्रकार शत्रु-दल पर लक्ष्मण प्रहार करने लगे ।

क्ष्मणजी का प्रबल पराक्रम, अनुपम शूरवीरता एव अटूट शक्ति के आगे खर-सेना धराशायी होने लगी। सैनिको का मनोबल टूटने लगा । दूर खडी हुई चन्द्रनखा युद्ध का दृश्य देख रही थी। वह चिन्ता-सागर में मग्न हो गई-"अब क्या करूँ।" तत्काल उसे एक युक्ति सूझी। वह वहाँ से उड कर अपने भाई रावण के पास पहुँची और कहने लगी -

"बन्धु ! दण्डकारण्य मे राम और लक्ष्मण-दो भाई आये हुए हैं । वे बडे गर्व-गण्ड हैं । तेरे भानेज को विद्या साधते समय लक्ष्मण ने मार डाला। तेरे बहनोई महाराज उनसे युद्ध करने गये हैं । राम के सीता नाम की पत्नी है । वह रूप में देवागना को भी लज्जित करे ऐसी त्रिभुवन- सुन्दरी है। उसके समान रूपवती स्त्री इस ससार मे दूसरी कोई नहीं। वह चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न के समान है। भाई तुम चक्रवर्ती के तुल्य हो। ससार मे जो उत्तम वस्तु होती हैं। उसके भोक्ता नरेन्द्र ही होते हैं। इसलिए उस अनुपम स्त्री-रत्न को प्राप्त कर सुखी बनो। बिना उस महिला-रत्न के तुम्हारा अन्त पुर दरिद्र के समान रहेगा और तेरा 'महाराजाधिराज' नाम निरर्थक रहेगा। बहिन की बात सुन कर रावण मोहान्ध हो गया। वह तत्काल अपने पुष्पक विमान मे बैठ कर दण्डकारण्य में आया। जब रावण की दृष्टि श्री रामचन्द्रजी पर पडी तो एक बारगी वह सहम गया। उनके प्रखर तेज को देख कर उसके मन मे भय उत्पन्न हुआ और एक ओर प्रच्छन्न खडा रह कर सोचने लगा- "इस अप्रतिम योद्धा के पास से महिला-रत्न प्राप्त करना अत्यन्त कठिन एव कष्टकर हैं। मैं इस उत्कृष्ट सुन्दरी को कैसे प्राप्त करूँ ।" उसकी बुद्धि कुंठित हो गई। उसने अपनी 'अवलोकिनी' विद्या का स्मरण किया विद्या देवी के उपस्थित होने पर रावण ने कहा- "सीता-हरण में तू मेरी सहायता कर।"

"वासुकी नाग के मस्तक पर से मणि-रत्न लेना कदाचित् सम्भव हो जाय, परन्तु राम की उपस्थिति में सीता को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता। फिर भी एक उपाय है । युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय राम ने लक्ष्मण से कहा था कि-"सकट उपस्थित होने पर सिहनाद करना।" यदि सिहनाद कर के राम को यहाँ से हटा दिया जाय तो अकेली रहने पर सीता का साहरण करना सरल हो जायगा"- देवी ने उपाय बताया।

"यह काम भी मुझे ही करना होगा। तू लक्ष्मण के समान स्वर बना कर सिहनाद कर सकेगी"- रावण ने यह काम विद्यादेवी को ही करने का कहा।

देवी वहाँ से युद्ध की दिशा में गई और गुप्त रह कर सिहनाद किया ×। सिहनाद सुनते ही राम के हृदय में आघात लगा। वे सोचने लगे- "गजेन्द्र-मल्ल के समान अजेय ऐसे लक्ष्मण को पराजित करने वाला ससार में कोई नहीं है । फिर सिहनाद क्या हुआ?"

राम व्यग्र हो उठे। सीता ने भी चिंतित हो कर कहा,-

× 'चउपन्न-महापुरिस चरियं' में सिहनाद के स्थान पर - "मारीय-मयकयारावयवणा ' लिखा है इस प्रकार यहाँ भेद है ।

"आर्यपुत्र ! लक्ष्मण भाई पर सकट उपस्थित हुआ है। उन्होने आप से सहायता की याचना करने के लिए सिंहनाद किया है। आप इसी समय अविलम्ब पधार कर उनकी रक्षा करें।"

राम उठ खडे हुए और धनुष-बाण ले कर लक्ष्मण की सहायता करने चल दिए। वे जाने लगे तब उन्हे अपशकुन हुए, किन्तु उनकी उपेक्षा करते हुए वे युद्ध-स्थल की ओर गए । रावण ने अकेली सीता को बल पूर्वक उठाया और अपने विमान मे बिठा कर ले जाने लगा *। सीता पर अचानक विपत्ति आ गई। वह चिल्ला कर सहायता की याचना करने लगी। जटायु पक्षी पास ही था । सीता की चिल्ल सुन कर वह बोला-"माता! मैं आ रहा हूँ, डरो मत।" जटायु तत्काल उडा और रावण को सबोधित करते हुए बोला,-

"ऐ दुष्ट निशाचर! ऐ नीच निर्लज्ज छोड दे माता को । नहीं तो अभी तेरे पाप का फल चखाता हूँ।"

वह रावण पर झपटा और अपने तीक्ष्ण चोंच नाखून तथा धारदार पखों से रावण के शरीर पर घाव करने लगा। उसने शीघ्रतापूर्वक रावण पर इतने वार किए कि जिससे अनेक स्थानो से रक्त बहने लगा जलन होने लगी। रावण क्रोधित हुआ और खड्ग से उसके पख काट कर नीचे गिरा दिया। जटायु भूमि पर पडा तडपने लगा। और रावण आकाश-मार्ग से निर्विघ्न अपने स्थान की ओर जाने लगा। सीताजी उच्च स्वर से विलाप करती हुई कहने लगी,-

"हे शत्रु के काल प्राणेश! हे वत्स लक्ष्मण! हे पिता! हे वीर भामण्डल! यह पापी रावण मेरा अपहरण कर के मुझ ले जा रहा है। बचाओ, कोई इस पापी से मुझे बचाओ।"

मार्ग में अर्कजटी के पुत्र रत्नजटी खेचर ने सीता का रुदन सुना और सोचा कि-

"यह करुण-क्रन्दन तो मेरे स्वामी भामण्डल की बहिन सीता का लगता है। अभी वह राम के साथ वनवास में है। कदाचित् किसी लम्पट ने राम-लक्ष्मण को भ्रम में डाल कर सीता का अपहरण किया हो । मेरा कर्त्तव्य है कि मैं सीता को मुक्त करवाऊँ" - इस प्रकार विचार कर वह खड्ग ले कर उछला और रावण के समुख आ कर कहने लगा-

"अरे धूर्त, लम्पट! छोड दे इस सती को । अन्यथा तू जीवित नहीं बच सकेगा। मैं तुझे इस घोर पाप का फल चखाऊँगा।"

रावण ने रत्नजटी को अपने पर आक्रामक बनता देख कर उसकी समस्त विद्याओं का हरण कर लिया %। विद्या-हरण के साथ ही रत्नजटी नीचे गिरा और वहा के कम्बुगिरि पर रहने लगा।

---

* राम द्वारा कार लगाने और रावण के योगीवेश म आ कर भिक्षा के मिस बाहर बुला कर हरण करने का उल्लेख त्रि. श. पु. च. और 'चउपन्न महापुरिस चरिय' में नहीं है ।

% धन-जन की भाँति विद्या का भी हरण हो सकता है ? कदाचित् बुद्धि-विभ्रम उत्पन्न कर दिया जाता हो ?

सीता को ले कर रावण आकाश मार्ग से आगे बढने लगा । सीता को सतुष्ट एव प्रसन्न करने के लिए वह बडी विनम्रता पूर्वक करने लगा,-

"सुन्दरी ! तू खेद क्यों करती हैं? मैं समस्त भूचर और खेचरो का स्वामी हूँ । शक्ति, अधिकार एव वैभव में मेरे समान ससार में दूसरा कोई नहीं है मैं तुझे राज-महिषी के सम्मानपूर्ण पद पर शोभित करूँगा । तेरी आज्ञा मे मैं स्वय त्रिखण्डाधिपति सदैव उपस्थित रहूँगा । उस दुर्भागी और भील जैसे वनवासी राम के साथ तो तू दु खी थी। तेरा जीवन कष्टमय था। उस दरिद्र के साथ रह कर यह देवागना जैसा उत्कृष्ट रूप-यौवन नष्ट करने मे कौन-सा लाभ था? मैं तुझे दैवोपम सुख प्रदान करूँगा। तू इन्द्राणी के समान गौरव-शालिनी हो जावेगी। राम जैसे हजारों, तेरे सेवका के भी सेवक होंगे। अब तू शोक एव विषाद को त्याग कर मुझ मे अनुरक्त हो जा और मेरी बन जा। मैं तेरे समस्त मनोरथ पूर्ण करूँगा ।"

सीता तो अपने शोकसागर मे निमग्न ही थी । उसने रावण की बात पर ध्यान ही नहीं दिया। रावण ने उसे प्रसन्न करने के लिए उसके चरणों में अपना मस्तक झुका दिया। सीता उसके मस्तक क स्पर्श स बचने के लिए पीछे हटी और आक्रोश पूर्वक बोली -

"नीच, निर्दय, निर्लज्ज। तेरा हृदय पाप से ही भरा है क्या? याद रख कि इस महापाप का फल तुझे अवश्य मिलेगा। अब तेरे अध पतन और मृत्यु का समय निकट आ रहा है। तेरा दुष्ट मनोरथ कभी सफल नहीं हो सकेगा। मैं महापुरुष राम की ही हूँ और उन्हीं की रहूँगी मेरे सामने तू तो क्या, पर इन्द्र का वैभव भी धुल के समान है। मैं ऐसे प्रलोभनो को ठुकराती हूँ । तेरा भला इसी में है कि तू मुझे लौटा कर मेरे स्थान पर रख आ। वे महापुरुष तुझे क्षमा कर देंगे। अन्यथा तेरा विनाश निकट है।"

रावण विवश रहा। वह सीता को ले कर लका में आया। मन्त्रिया और सामन्तो ने उसका स्वागत किया। लका नगरी के बाहर पूर्वदिशा म रहे हुए देवरमण उद्यान में, रक्त अशोक वृक्ष के नीचे सीता को बिठाया और उसकी रक्षा के लिए त्रिजटा आदि को लगा कर रावण अपने भवन में आया।

विराध का सहयोग+++खर का पतन

रामभद्रजी, लक्ष्मण के सिहनाद के भ्रम में युद्धस्थल पर पहुँचे, तो लक्ष्मण को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा- "आप भाभी को अकेली छोड कर यहाँ क्यो आए ?"

राम ने प्रति-प्रश्न किया-"तुमने सिहनाद क्यो किया?" लक्ष्मण ने कहा-"मैने सिहनाद नहीं किया ।" किसी धूर्त ने आपको धोखा दिया है। अवश्य ही किसी दुष्ट ने पूज्या का अपहरण कर लिया होगा? नि सदेह यह धूर्तता देवी को उडा ले जाने के लिए ही की गई है। आप जाइए, अभी जाकर देवी की रक्षा कीजिए। मैं अभी इन शत्रुओ को समाप्त कर, आपके पीछे ही आता हूँ।" लक्ष्मण की बात सुन कर राम तत्काल लौटे। जब वह स्थान सीता-शून्य दखा तो उनके हृदय को प्रबल आघात लगा। वे

मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पडे । मूर्च्छा दूर होने पर उठे । इधर-उधर देखा, तो उ
मरणोन्मुख हुआ जटायु दिखाई दिया। वे समझ गए कि प्रिय सीता के हरण में बाधक बनने क का
उस डाकू ने इस प्रियपक्षी को घायल कर दिया। वे उसके निकट गये और अन्तिम समय
धर्म-सहाय्य देने के लिए नमस्कार महामन्त्र सुनाया। समाधिभाव से मृत्यु पा कर जटायु माहेन्द्रकल्प
(चौथे देवलोक) मे देव हुआ। जटायु की मृत्यु हो जाने पर रामभद्रजी, सीता की खोज में इधर उ
भटकने लगे।

खर की सेना के साथ अकेले लक्ष्मणजी युद्ध कर रहे थे । इस बीच खर के छोटे भाई त्रिशि
ने अपने ज्येष्ठबन्धु खर से कहा-''इस धृष्ट से मुझे समझने द और आप एक आर बैठ कर विश्रा
करें। ''लक्ष्मण ने अभिमानपूर्वक आये और गर्वोक्ति सुनाने वाले त्रिशिरा को तत्काल पुनर्भव करने
विदा कर दिया। उसी समय पाताल- लका का अधिपति चन्द्रोदर राजा का पुत्र 'विराध' अप
सुसज्जित सेना को ले कर युद्ध क लिए आ डटा । उसने लक्ष्मणजी के निकट पहुँच कर प्रणाम कि
और निवेदन करने लगा,-

''महाभाग। मैं आपकी सेवा में अपनी सेना सहित उपस्थित हूँ। ये आपके शत्रु मर भी शत्रु है
ये रावण के सेवक हैं। रावण न मेरे पराक्रमी पिता को राज्य च्युत कर के निकाल दिया था और हम
पाताल लका के स्वामी बन गए थे। हे स्वामी। आप तो सूर्य के समान स्वय समर्थ हैं । आप को मे
सहायता की आवश्यकता नहीं, किन्तु मैं आपको शत्रुओ का विनाश करने के कार्य में किंचित् स
अर्पण करना चाहता हूँ। इसलिए मुझे अपनी और से युद्ध करने की आज्ञा प्रदान करें।''

''सखे! मैं अभी इनको इस जीवन से मुक्त कर परलोक-यात्रा करवाता हूँ। तुम दखते रहो। आज
से तुम्हारे स्वामी मेरे ज्येष्ठबन्धु रामभद्रजी हैं और तुम इसी समय से पाताल-लका के राजा हो। मैं तुम्हें
यही यह राज्य प्रदान करता हूँ।''

विराध को लक्ष्मण के पास-उनके पक्ष में देख कर खर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मण से
बोला,-

''अरे ओ विश्वासघाती! मेरे पुत्र शम्बूक का घातक! तू अब इस तुच्छ पामर विराध की सहायता
से बच जायगा क्या? मैं तुझे अभी तेरी करणी का फल चखाता हूँ।''

''तुम्हारा अनुज-बन्धु, तुम्हारे पुत्र शबूक से मिलना चाहता था मैंने उसे उसके पास भेज दिया
है। यदि तुम भी पुत्र से मिलना चाहते हो तो तुम्हे भी वहाँ भज सकता हूँ। मूर्ख! शबूक का वध तो मा
प्रमाद एव अनजान म हुआ है। वह कृत्य मेरे पराक्रम का नहीं था। किन्तु तू अपने को वीर एव योद्धा
मानता हो तो मैं तत्पर हूँ । इस वनवास में भी मैं यमराज को तरा दान कर के सतुष्ट कर सकूँगा''
लक्ष्मणजी ने खर को सम्बोधित कर कहा।

लक्ष्मणजी की बात सुन कर खर के क्रोध में अभिवृद्धि हुई। वह तीक्ष्ण एव घातक प्रहार करने

लगा। लक्ष्मण ने भी बाण-वर्षा कर के उसे ढक दिया। इस प्रकार खर और लक्ष्मण के मध्य भयकर युद्ध हुआ । उस समय आकाश मे देववाणी सुनाई दी कि - "जो वासुदेव के साथ भी इतनी वीरता से लड रहा है। ऐसा खर नरेश महान् योद्धा है।"

यह देववाणी सुन कर लक्ष्मण ने सोचा-'खर के वध मे विलम्ब होना, खर के महत्त्व को बढाने के समान हैं।' उन्होने 'क्षुरप्र' अस्त्र का प्रहार कर के खर का मस्तक काट डाला । खर के गिरते ही उसका भाई दूषण, राक्षसों की सेना ले कर युद्ध मे आ डटा किन्तु थोडी ही देर में लक्ष्मण ने उसका और उसकी सेना का सहार कर डाला ।

युद्ध समाप्त कर और विराध को साथ ले कर लक्ष्मणजी राम के पास पहुँचे। उस समय उनका बायाँ नेत्र फडक रहा था। उन्हें अपने और देवी सीता के विषय मे अनिष्ट की आशका हुई । निकट आने पर राम को अकेले तथा विषाद में डूबे देख कर लक्ष्मण को अत्यन्त खेद हुआ। लक्ष्मण, राम के अत्यन्त निकट पहुँच गए, किन्तु राम को इसका ज्ञान ही नहीं हुआ। वे आकाश की ओर देखते हुए कह रहे थे।

"हे वनदेव! मैं इस सारी अटवी में भटक आया, किन्तु सीता का कही पता नहीं लगा। कहा होगी वह ? कौन ले गया उसे ? मैं भ्रम में क्या पडा ? लक्ष्मण की शक्ति पर विश्वास नहीं कर के मैने कितनी मूर्खता की ? मैने उसे अकेली क्या छोडी? हा! उधर भाई लक्ष्मण हजारो शत्रुओं के मध्य अकेला ही जूझ रहा है। मैं उसे भी अकेला छोड कर चला आया और यहाँ सीता भी किसी दुष्ट के फन्दे में पड गई। क्या करूँ अब ? हा, प्रभो।" इस प्रकार बोलते हुए शोकाकुल हो कर रामभद्रजी पुन मूर्च्छित हो गए। उनकी यह दशा देख कर लक्ष्मण भी विचलित हो गए। वे बन्धुवर से पास बैठ कर कहने लगे,-

"हे आर्य! यह क्या कह रहे हैं आप। मैं आपका भाई अपने समस्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर आपके पास आ गया हूँ।" लक्ष्मण के वचन सुनते ही राम मे स्फूर्ति आई। लक्ष्मण का आना उनके लिए अमृत तुल्य हुआ। वे उठे और लक्ष्मणजी को अपनी दोनों भुजाओ में बाँध कर आलिगन किया लक्ष्मणजी का भी हृदय भर आया। उन्होंने कहा -

"पूज्य! किसी धूर्त ने छलपूर्वक सिहनाद कर के आपको ठगा और देवी का अपहरण किया। किन्तु मैं उस दुष्ट को देवी के साथ लाऊँगा। वह अधम अपने पाप-कर्म का फल अवश्य भुगतेगा। हमें तत्काल खोज प्रारम्भ करनी है। सर्व प्रथम इस विराध को पाताल-लका का राज्य प्रदान करें। युद्ध के समय यह मेरे पक्ष मे आ कर शत्रु से लडने को तत्पर हुआ था, तब मैंने इसके पिता का राज्य वापिस दिलाने का वचन दिया था। अब उस वचन को पूरा करें और फिर देवी की खोज में चले।"

विराध ने भी उसी समय अपने विद्याधर अनुचरो को सीता की खोज के लिए चारो ओर भेज दिये । उन विद्याधरो के आने तक रामभद्रादि वहीं रहे और शोक, चिन्ता तथा उद्वेगपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। बहुत दूर-दूर तक खोज करने के बाद वे विद्याधर निराशायुक्त लौट आये । उन्हें निराश एव अधोमुख देख कर रामभद्रजी आदि समझ गए। उन्होंने कहा-

"भाई! तुमने परिश्रम किया, किन्तु हमारे दुर्भाग्य ने तुम्हारा परिश्रम सफल नहीं होने दिया।इ तुम्हारा क्या दोष? जब अशुभ-कर्म का उदय होता है, तब कोई उपाय सफल नहीं होता।"

"स्वामिन् ! आप खेद नहीं करें। खेद-रहित हो कर प्रयत्न करने म ही सफलता का मूल रहा ।। मैं आपका अनुचर हूँ। आज आप मेरे साथ पधार कर मुझे पाताल-लका मे प्रवेश करवा दें । वहा द देवी की खोज करना बहुत सरल होगा।"

राम-लक्ष्मण, विराध और उसकी सेना के साथ पाताल-लका के निकट आये। उधर खर का पु सुन्द अपने पिता और काका की मृत्यु जान कर, बडी भारी सेना ले कर निकल रहा था। नगर के बाह ही विराध के साथ उसका युद्ध छिड गया। लक्ष्मण भी विराध की सहायता के लिए युद्ध-भूमि में आ डटे। जब चन्द्रनखा न देखा कि लक्ष्मण और राम, विराध के पक्ष मे लड़ने को तत्पर हैं, तो उसने अपने पुत्र सुन्द को एकान्त मे बुला कर समझाया। उसे राम-लक्ष्मण की शक्ति का भान करा कर अपने भाई रावण के पास लका म भेज दिया। युद्ध समाप्त हो गया। विजयी सेना ने नगर मे प्रवेश किया। विराध को पाताल-लका का राज्य दिया। राम-लक्ष्मण, खर के भवन में ठहरे । विराध सुन्द के भवन में रहने लगा।

दो सुग्रीव में वास्तविक कौन ?

किष्किधा के राजा सुग्रीव की रानी तारा अत्यन्त सुन्दरी थी । उसके रूप पर साहसगति विद्याधर मुग्ध था। साहसगति ने तारा को प्राप्त करने के लिए हिमाचल की गुफा में रह कर तप किया और प्रतारिणी विद्या सिद्ध कर ली। इस विद्या के द्वारा वह इच्छित रूप बना कर अपना मनोरथ साधना चाहता था। सुग्रीव वन विहार कर रहा था, तब साहसगति प्रतारिणी विद्या के द्वारा सुग्रीव का रूप बना कर अन्त पुर मे चला गया। उसके पीछे वास्तविक सुग्रीव वन-विहार से लौट कर आया और अन्त पुर में प्रवेश करने लगा तो अन्त पुर रक्षक आश्चर्य म पड गया । उसने अपना कर्त्तव्य स्थिर कर के बा में आये हुए सुग्रीव को रोकते हुए कहा,-"महाराज तो अभी अन्त पुर मे पधारे हैं, आप कौन हैं? जब तक आपके विषय में विश्वस्त नहीं हो जाऊँ आप प्रवेश नहीं कर सकेंगे ।"

-"कचुकी! मैं वास्तविक सुग्रीव हूँ। पहले कोई धूर्त व्यक्ति आया होगा। तुम उस धूर्त को पकडो । वह पाखण्डी कुछ अनर्थ नहीं कर डाले इसलिए अन्त पुर और युवराज को सावधान कर दो। मैं यहीं हूँ।"

रानी और युवराज (वालीकुमार) को सूचना मिलते ही अन्त पुरस्थ मायावी सुग्रीव को रोका। रानी कुमार तथा अन्य स्व-परजन दोनों मे से किसी एक को चुनने में असमर्थ थे । दोनों सर्वथा समान थ। कोई अन्तर नहीं था उन दोनों में । होते-होते दोनो के पक्ष हो गए। सेना में भेद पड गया। कुछ एक-ओर तो कुछ दूसरी-ओर । दोनो में युद्ध छिड गया। दोनो वीर, योद्धा और उनकी सेना

लडने लगी। भारी लडाइ हुई। वास्तविक सुग्रीव को विशेष क्रोध आया। झूठे, पाखण्डी एव दभी को सचाई का ढाग कर के आगे वढता हुआ देख कर,सच्चे एव आक्रात का शात रहना महा कठिन होता है। सुग्रीव उस ढोगी के साहस तथा गर्वोक्ति सहन नहीं कर सका। वह स्वय शस्त्र धारण कर उस धूर्त को ललकारता हुआ सम्मुख आया। साहसगति भी तत्पर हो गया । दोनो परस्पर युद्ध करने लगे । आघात-प्रत्याघात के दाव चलने लगे। दोनो बलवान् और युद्ध कला विशारद थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा । शस्त्र समाप्त होने पर दोनो मल्ल की भाति भिड गए। मल्लयुद्ध भी बहुत देर तक चला । वास्तविक सुग्रीव ने हनुमान से सहायक बनने का निवेदन किया। किन्तु 'सच्चाई किसके पक्ष मे है'-यह निर्णय नहीं हो सकने के कारण वे दर्शक ही रहे । इधर नकली सुग्रीव-साहसगति ने भुलावा दे कर सुग्रीव को दबाया और मार्मिक प्रहार कर के उसे निर्बल बना दिया। वह उठ कर नगर के बाहर किसी आवास में रहा। साहसगति राज्यभवन मे ही रहा- अन्त पुर से दूर । सुग्रीव उस धूर्त से पार पाने का उपाय सोचने लगा। उसकी दृष्टि रावण की ओर गई, किन्तु फिर रुक गई। रावण स्वय लम्पट है। यदि उसने धूर्त से रक्षा की भी, तो तारा के रूप पर मुग्ध हो , वह स्वय ही विपत्ति रूप बन सकता है।'-इन विचारो ने उसे रावण की ओर से मोडा । उसने फिर सोचा - ''पाताल -लकापति खर पराक्रमी योद्धा था, किन्तु लक्ष्मण ने उसे मार डाला। मैं राम-लक्ष्मण की सहायता प्राप्त कर सकूँ, तो मेरा कार्य सफल हो सकता है ''- इस विचार से सुग्रीव ने अपने विश्वासी दूत को विराध के पास भेजा । दूत की बात सुन कर सुग्रीव ने कहा-''तुम जाओ और सुग्रीव को ही यहा भेज दो । '' दूत की बात सुन कर विराध सुग्रीव के पास आया। विराध और सुग्रीव राम-लक्ष्मण के पास आये और अपनी व्यथा सुनाई। रामभद्रजी स्वय ही सकट मे थे , किन्तु सुग्रीव की विपत्ति देख कर वे सहायक बनने को तत्पर हो गए और दोनो भाई उसके साथ हो लिये। विराध राजा भी साथ ही आना चाहता था, परतु रामभद्रजी ने उसे रोक कर राज्य-व्यवस्था सम्भालने की सूचना की । किष्किधा पहुँचने के बाद सुग्रीव ने उस नकली सुग्रीव को युद्ध के लिए ललकारा । वह फिर सामने आया और दोनो वीर भिड गए। रामभद्रजी स्वय भी निर्णय नहीं कर सके कि-'दानो मे वास्तविक कौन है ।'' कुछ क्षण विचार करने के बाद उन्होने वज्रावर्त धनुष सम्हाला और उसका टकार किया। उस टकार-ध्वनि के प्रभाव से साहसगति की परावर्तनी (रूपान्तरकारी)विद्या निकल कर पलायन कर गई। अब उसका वास्तविक रूप खुल गया था। राम ने उसे फटकारते हुए कहा-

''दुष्ट पापी! परस्त्री-लम्पट अब । अपने पाप का फल भोग ''- इतना कह कर एक ही बाण म उसे समाप्त कर दिया। सुग्रीव का सकट समाप्त हो गया। वह पूर्व की तरह राज्याधिपति हुआ। उसने अपनी तेरह कन्याएँ राम को देने का प्रस्ताव किया। राम ने कहा- ''मुझे इनकी आवश्यकता नहीं । तुम सीता की खोज करो।''सुग्रीव आज्ञाकारी सेवक बन गया। उसने खोज प्रारभ की। राम-लक्ष्मण नगर के बाहर, उद्यान में रहने लगे।

चन्द्रनखा का रावण को उभाड़ना

खर-दूषण आदि के युद्ध में मारे जाने के समाचार रावण के पास पहुँचे । उसकी बहिन चन्द्रनखा अपने पुत्र सुन्द के साथ रोती, छाती कूटती तथा कुहराम मचाती हुई आई, तो एक विषादोत्पादक वातावरण हो गया । अन्त पुर में रोना-पीटना मच गया । रावण अपनी बहिन से मिलने आया, तो वह भाई के गले लिपट कर फूट-फूट कर रोने लगी । उसने कहा, -

"भाई ! मैं लूट गई । मेरे पति, देवर, पुत्र और चौदह हजार कुलपति मारे गए । हमारा राज्य छिन कर हमें निकाल दिया । बन्धु ! तेरा दिया हुआ राज्य तेरे सामने ही शत्रुओ ने छिन लिया और हमारे पराक्रमी बहनोई तथा भानजे को मार कर बहिन को विधवा एव भिखारिणी बना डाली । यह तेरा एक भानजा बचा है । यह भी निराश्रित हो कर दरिद्र दशा में यहाँ आया है । मेरे वीर-बन्धु ! तुझ त्रिखण्डाधिपति की बहिन की ऐसी दुर्दशा तुझ से कैसे सहन हो सकेगी ? बता अब मैं क्या करूं ? कहाँ जा कर रहूँ ? मेरे हृदय मे भडकी हुई ज्वाला कौन शान्त करे ? पाताल-लका के राज्य पर, मेरा और तेरे भानजे का सर्वस्व लूटने वाला वहाँ अधिकार कर के बैठा आनन्द कर रहा है और हम भटकते-भिखारी बना दिया है । इसका तेरे पास कोई उपाय है भी, या नहीं ?"

सारे अन्त पुर में रोना-पाटना मच गया । सर्वत्र शोक व्याप्त हो गया और रावण स्वय भी उदास हो कर चिन्तामग्न हो गया । उसने बहिन को आश्वासन देते हुए कहा;-

"बहिन ! तू शान्त हो जा । तेरा सुहाग लूटने वाले, पुत्र-घातक और राज्य-हडपने वालों को मैं यमधाम पहुँचाऊँगा और तेरा राज्य तुझे दूँगा । तू यहाँ शान्ति के साथ रह । जो मर गये, वे तो अब आने वाले नहीं है, अब उनके लिए शोक करना छोड दे ।"

मन्दोदरी रावण की दूती बनी

रावण साहस कर के सीता को ले आया । किन्तु उसकी मनोकामना पूरी नहीं हुई । सीता उससे सर्वथा विमुख ही रही । वह रावण के सामने भी नहीं देखती थी और उसके समुख आते ही दुत्कारती रहती थी । इतना ही नहीं, सीता भूखी रह कर प्राण गँवाने के लिए तत्पर थी । रावण के मन मे सीता की प्रतिकूलता भी स्थायी चिन्ता का कारण बन गई । सीता के सौंदर्य पर रही हुई आसक्ति ने जो कामाग्नि प्रज्वलित कर दी थी, उसमे भी वह सुलग रहा था । दूसरी ओर उसकी बहिन विशेष चिन्ता ले कर आ गई । इस परिस्थिति ने रावण को अशान्त एव उद्विग्न बना दिया । वह शय्या पर पडा हुआ करवटें बदल रहा था । उसी समय उसकी महारानी 'मन्दोदरी' आई । उसने पति की उद्विग्नता देख कर पूछा -

" स्वामिन् ! आप उद्विग्न क्यों हैं ? एक साधारण मनुष्य की भाति आपको अशात नहीं बनना

चाहिये । आपको तडपते देख कर मुझे भी दु ख हा रहा है । कहिये क्या कारण है आपकी चिन्ता का ?"

"प्रिये ! मैं क्या कहूँ - अपनी अशाति की बात ? सीता क विना मुझे शान्ति नहीं मिन सकती । यदि तू मुझे प्रसन्न देखना चाहती है, तो स्वय जा और सीता को मना कर मेर अनुकूल बना । यही मुझे प्रसन्न करने एव जीवित रखने का उपाय है अन्यथा मग प्रसन्नता आर जीवन की आशा छोड दे । मैं बलात्कार कर क भी अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता था किन्तु किसी स्त्री के साथ यलात्कार नहीं करने की मैने शपथ ले रखी है । मै अपनी प्रतिज्ञा नहीं ताड सकता । अब तू ही मरा दु ख मिटा सकती है ।"

रावण की बात सुन कर मन्दोदरी विचार म पड गई । वह उठी आर वाहनारूढ हो कर देवरमण उद्यान मे आई । उसने सीता के सामने उपस्थित हो कर विनयपूर्वक कहा -

"देवी ! मैं महाराजाधिराज दशाननजी की पटरानी मन्दादरी हूँ किन्तु तेरे सामने तो मैं सेविका के रूप में उपस्थित हुई हूँ । यदि तू मेरी सवा स्वीकार कर ल ता मे तुझ मेर स्थान पर प्रतिष्ठित कर के जीवनभर तरी सेवा करने को तत्पर हूँ । सुन्दरी ! तेरा भाग्य उदय हुआ है । तू त्रिखण्डाधिपति की हृदयेश्वरी हो जायगी और समस्त सामाज्य तेरा आज्ञाकित रहगा । अब तक तेरा भाग्योदय नहीं हुआ था इसलिए तू उस दरिद्री राम के साथ भिखारियो की तरह वन म भटक रही थी । तेरा यह जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा था । अब तू उस विश्वपूज्य पुरुषोत्तम के हृदय मे बस गई है जिसके चरणो मे सारा ससार झुक रहा है । उठ मेरे साथ राज्यभवन म चल । मै आज ही तेरा अग्रमहिषी का अभिषेक, महाराजाधिराज द्वारा कराऊँगी और स्वय तेरी सेवा म तत्पर रहूँगी ।"

"चल हट कुटनी ! तू उस लम्पट चार को महापुरुष बताती है - जो डाका डाल कर मुझ ले आया । वह गीदड मेरे केसरीसिह जैस जीवनाधार की समानता क्या करेगा ? मैं ता समझती थी कि रावण ही दुराचारी है, परन्तु अब जाना कि तू भी दुराचारिणी है जो कुटनी का काम कर सती महिलाओ को दुराचार मे लगाने की चेष्टा करती है । जा हट यहाँ से । तेरी छाया क स्पर्श से भी पाप लगता है," - सीता ने रोषपूर्वक कहा -

रावण छिप कर यह वार्तालाप सुन रहा था । वह प्रकट हो कर कहने लगा,-

"सुन्दरी ! मन्दोदरी को क्यों दोष देती है ? वह तो तरे भले के लिए, अपना सवस्व त्याग कर तेरी सेवा करने को तत्पर हुई है । मैं स्वय भी मेरा साम्राज्य और जीवन तेर चरणों पर न्यौछावर करने का तत्पर हूँ । मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ कि जीवनपर्यन्त मैं तेरा सवक रहूँगा । अब तू अपना हठ छोड कर चल हमारे साथ ।"

"दुष्ट नराधम ! तेरे पतन का समय निकट आ रहा है । यमराज तुझ पर अपना कालहस्त शीघ्र ही फैलावेगा । तेरे मन मे घुसा हुआ पाप तुझ नष्ट-भ्रष्ट कर नरक में डाल देगा । तू उस अध पतन

और मृत्यु का पथिक हो गया है, जिसे कोई भी सत्पुरुष नहीं चाहता । अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले चाण्डाल ! कुत्ते ! भाग जा यहाँ से ।"

"तू निश्चय जान कि पुरुषोत्तम राम अपने अनुज वीर लक्ष्मण के साथ आ कर तुझे यमधाम पहुँचा देंगे । उस महाबाहु युगल के सामने तू मच्छर जैसा है । यदि सुमति ने तेरा साथ नहीं दिया, तो तेरा विनाश अवश्यभावी है ।"

रावण कामान्ध था । उसकी वासना प्रबल थी और दुर्भाग्य का उदय होने जा रहा था । उसे सन्मति आवे कहाँ से ? उसने सोचा - "यह सीधी तरह नहीं मानेगी । कई प्राणी ऐसे होते हैं, जो भय उत्पन्न होने पर ही प्रीति करने लगते हैं, उन पर समझाने का प्रभाव नहीं पड़ता । मुझे भी अब कठोर उपाय काम में लाना चाहिए" - इस प्रकार सोच कर अपनी वैक्रिय-शक्ति से वह उपद्रव करने लगा। सध्या हो चुकी थी । अन्धकार सर्वत्र व्याप्त हो चुका था । अन्धकार वैसे भी भयानक होता है, फिर शत्रुतापूर्ण वातावरण तथा एकाकीपन हो, तो भयकरता विशेष बढ जाती है । ऐसे समय रावण-विकुर्वित उल्लू का बोलना, गीदड़ा का रोना सिंह की गर्जना, सर्पों की फुत्कार बिल्लो का क्रोधपूर्वक लड़ना भूत-पिशाच एव बेताल के भयकर अट्टहास इत्यादि उपद्रव, पहले तो दूर भासित होने लगे, फिर निकट आते हुए उसे घेर कर भय का उग्र प्रदर्शन करने लगे । सीता तो पहले से ही आत्म-विश्वासी थी । वह अपने शीलधर्म पर प्राण न्यौछावर करने के लिए तत्पर हो चुकी थी । इसी से तो रावण जैसे महापराक्रमी का प्रभाव भी उस विचलित नहीं कर सका । जिसके मन में जीवन से भी धर्म का महत्व अधिक होता है और धर्म के लिए प्राण देने को तत्पर हो जाता है उसे भय किस बात का ? साध्वी निश्चल रह कर परमेष्ठी का स्मरण करने लगी । रावण के उत्पन्न किये हुए भय विफल हुए और उसे निराश लौटना पडा ।

रावण से विभीषण की प्रार्थना

प्रात काल होने पर विभीषण ने सुना - " रावण किसी सुन्दरी का अपहरण करके लाया है और उसके अनुकूल नहीं होने पर भाँति-भाँति के उपद्रव कर के उस कष्ट देता है ।" विभीषण तत्काल देवरमण उद्यान मे आया और सीता के पास आ कर सान्त्वना देता हुआ बोला,-

"भद्रे ! तुम कौन हो ? किस भाग्यशाली की पुत्री ? तुम्हारे पति कौन है ? यहाँ आने का क्या कारण है ? तुम अपना वृत्तात निस्सकोच मुझ सुनाओ । मुझसे भय मत रखो । मैं पर-स्त्री सहोदर हू ।"

विभीषण की बात पर सीता को विश्वास हुआ । उसने कहा;-

"बन्धुवर ! मैं जनक नरेश की पुत्री और भामण्डल विद्याधर की बहिन हूँ । दशरथ नरेश मेरे श्वशूर हैं । रामभद्रजी मेरे पति हैं । मैं अपने पति और देवर लक्ष्मणजी के साथ दण्डकारण्य में थी । मेरे देवर लक्ष्मण इधर-उधर घूम कर वन-विहार कर रहे थे । अचानक उनकी दृष्टि आकाश में अधर

रहे हुए श्रेष्ठ खड्ग पर पडी । उन्होने उसे ले लिया और कौतुकवश निकट रही हुई वशजाल पर एक हाथ चला दिया । उस झाडी में ही खड्ग का साधक उलटा लटक कर साधना कर रहा था । खड्ग का प्रहार झाडी में रहे हुए साधक की गरदन पर पडा और वह कट कर लक्ष्मण के पास ही आ गिरा । यह देख कर लक्ष्मण को बहुत पश्चात्ताप हुआ । वे अपने ज्येष्ठ-भ्राता के पास आये और इस दुर्घटना का पश्चात्तापपूर्वक निवेदन किया । इतने में लक्ष्मण क चरण-चिह्नो पर चलती हुई कोई क्रोधित महिला आई । कदाचित् वह साधक की उत्तर-साधिका थी । किन्तु ज्याही उसकी दृष्टि इन्द्र के समान स्वरूपवान् मेरे पति पर पडी वह मोहित हा गई और अनुचित याचना करने लगी । मेरे पति ने उसकी माँग अस्वीकार की, तो वह एक राक्षसी सेना ले कर आइ । उस विशाल सेना से युद्ध करने के लिए लक्ष्मण गए । मेरे पति ने लक्ष्मण का जाते समय कहा था कि सकट उपस्थित होने पर सिहनाद करना । इसके वाद रावण ने मायापूर्वक नकली सिहनाद कर के मेरे पति को मेर पास से हटाया और मेरा अपहरण कर के मुझे यहाँ ले आया है । रावण के मन में पाप भरा हुआ है । किन्तु उसकी पापी इच्छा कभी भी पूर्ण नहीं होगी । में धर्म पर जीवन को न्यौछावर कर दूँगी ।"

"बहिन शान्त रहो । मैं जाता हूँ । अपने भाई को समझा कर तुम्हें मुक्त करने का प्रयत्न करूँगा ।" - विभीषण ने कहा और चल दिया ।

रावण को विनयपूर्वक नमस्कार करने के वाद विभीषण ने कहा-

"स्वामिन् ! सीता का अपहरण कर के आपने बहुत बुरा काम किया है । अनीति और दुराचार अपने कुल के प्रतिकूल है । आप महापुरुष हैं । आपक द्वारा ऐसा चार्यकर्म और जारकर्म नहीं होना चाहिए । इस प्रकार की हीनदृष्टि विनाश की नींव लगाती है । अब भी आप सीता को लौटा द तो बिगडी वात सुधर जायेगी । अन्यथा यह निमित्त दुर्भाग्य जनक होगा ।"

"अरे ओ भीरु कायर ! तू इस प्रकार बोलता है ? मेरी शक्ति का तुझे पता नहीं । क्या तू मुझे उन वनवासी राम-लक्ष्मण से भी गया-बीता मानता है ? आने दे उन्हे यहा । मैं उन्हें क्षणमात्र में ही गत-प्राण कर दूँगा । जा निश्चित रह " -रावण बोला ।

"भ्रातृवर ! ज्ञानी की भविष्यवाणी सत्य होती दिखाई देती है । सीता के निमित्त से अपने कुल का विनाश होन वाला है । पतन-काल का उदय ही मेरी प्रार्थना व्यर्थ करवा रहा है। यही कारण है कि मेरे मारने पर भी दशरथ जीवित रहा । भावी अन्यथा होने वाली नहीं है । फिर भी मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप सीता को लौटा ही दे । इसी म हम सब का हित है" - विभीषण ने पुन प्रार्थना की ।

रावण ने विभीषण की प्रार्थना की उपेक्षा की और उठ कर देवरमण उद्यान में आया । वह सीता का विमान में विठा कर आकाश मे ले गया और अपने भव्य-भवन उपवन वाटिकाएँ, निमल जल के झरने, प्रपात नदिये कुण्ड आदि प्राकृतिक रम्य एव क्रीडास्थान तथा अन्य रमणीय स्थल दिखा कर ललचाने लगा । परन्तु सीता पर इसका काई प्रभाव नहीं पडा । अन्त में इस प्रयत्न में भी विफल हो कर सीता को अशोकवन में छोड कर रावण चला गया ।

रावण पर अपनी प्राथना कोई प्रभाव नहीं दख कर विभीषण ने मन्त्री-मण्डल को एकत्रित किय और कहा-

"मन्त्रीगण ! अपना स्वामी कामपीडित हा कर दुराचारी बन गया है । कामप्रकोप ता वैसे भ हानिकारक होता है । किन्तु परस्त्री लम्पटता तो रसातल में ले जाने वाली है । ज्ञानिया की भविष्यवाण सफल होती दिखाई देती है । मैने विनम्र प्रार्थना की - वह व्यर्थ गई । कहो, अब क्या किया जाय ?"

मन्त्रिया ने कहा - "हम तो नाम के ही मन्त्री हैं, शक्तिशाली मन्त्री तो आप ही है । जय आपकी हितकारी प्रार्थना नहीं मानी तो हमारी कैसे मानेंगे ? हमने तो सुना है कि राम-लक्ष्मण के पक्ष में सुग्रीव और हनुमान भी मिल गये हैं । न्याय नीति और धर्म उनके पक्ष में है । इसलिए हमें भय है कि हमारा भविष्य अच्छा नहीं है । फिर भी हम अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये ।"

आपस मे परामर्श कर के उन्होने लका के प्रकोष्ट पर यान्त्रिक शस्त्र रखवा दिये और आवश्यक प्रबन्ध कर दिया ।

सीता की खोज

सीता के विरह स रामभद्रजी ✲ दग्ध चिंतित एव खेदित रहने लगे । उनकी प्रसन्नता एव सुख शाति लुप्त हो गई थी । लक्ष्मणजी उन्ह सात्वना देते किन्तु कोरी सात्वना से तुष्टि नहीं होता । उनका एक-एक दिन वर्ष के समान बीतने लगा । सुग्रीव अपने अन्त पुर मे मग्न रहने लगा । वह भोग-विलास में पड कर अपना वचन भूल गया । जय लक्ष्मणजी को अनुभव हुआ कि सुग्रीव भोग-विलास मे अपना कर्त्तव्य ही भूल गया तो वे कुपित हा गए और धनुष-बाण तथा खड्ग ले कर नगरी में आये। उनके कोपयुक्त आगमन से भूमि कम्पित होने लगी, मार्ग के पत्थर चूर्ण होने लगे । उनका कोपयुक्त मुख देख कर द्वारपाल भयभीत हो गए और नम्रतापूर्वक पीछे हट गए । जब सुग्रीव को लक्ष्मणजी के आगमन की सूचना मिली तो वह दौडा हुआ उनक निकट आया और हाथ जोड कर खडा रहा । लक्ष्मणजी क्रोधावेश मे बोले -

"कपिराज ! तुम तो कृताथ हो गए । तुम्हारा दु ख मिट गया । अब भोगासक्त हो कर अन्त पुर में ही निमग्न हो गए । तुम्हारे स्वामी रामभद्रजी वन म वृक्ष के नीचे बैठे हुए दु खपूर्ण समय व्यतीत कर रहे हैं, इसका तुम्हें भान ही नहीं रहा । तुम अपना वचन भी भूल गए । क्या तुम्हें भी साहसगति के रास्ते - यमधाम जाना है ? चल साथ हो जा और सीताजी की खोज प्रारम्भ कर ।"

- "स्वामी ! मुझ से अपराध हा गया है । क्षमा करें और मुझ पर प्रसन होवें । आप ता मेरे स्वामी हैं । मैं अभी से सेवा में लग जाता हूँ" सुग्रीव ने लक्ष्मणजी को शान्त किया और उनके साथ

✲ 'रामभद्रजी' नाम पर हमारे पास कुछ भाइया के पत्र आये हैं किन्तु त्रि श. पु चरित्र में सर्वत्र यही नाम लिखा है और 'चउपन्न महापुरिस चरिय' में भी यही नाम है । अतएव हमने यही दिया है ।

रामभद्रजी के पास आ कर प्रणाम किया । उसने अपने सैनिको को चारो ओर खोज करने के लिए भेजा और स्वय भी खोज में लग गया ।

सीता के अपहरण के समाचार सुन कर भामण्डल चिंतित हुआ । वह तत्काल रामभद्रजी के पास आया और उन्हीं के पास रहने लगा । विराध नरेश भी अपने स्वामी के दु ख से दु खी होकर सेना सहित आ पहुँचा था और वहीं उपस्थित था ।

रत्नजटी से सीता का पता लगना

सुग्रीव स्वय भी खोज करने क लिए आकाश-मार्ग से गया था । वह कम्बुद्वीप पहुँचा । सुग्रीव को अपने निकट आता देख रत्नजटी चिन्तित हुआ । उसने सोचा - "रावण मुझ पर क्रुद्ध है । उसने मेरी समस्त विद्याओं का हरण कर लिया और अब मुझे मारने के लिए वीर सुग्रीव को भेजा है ।" वह इस प्रकार चिन्ता-मग्न था कि सुग्रीव उसके पास ही आ गया और बोला - "रे रत्नजटी ! क्या तू मुझे पहिचानता नहीं । यहाँ क्या कर रहा है ?"

-"महानुभाव ! रावण ने मेरी दुर्दशा कर दी ! रावण सीता का हरण कर के ले जा रहा था । मैने सीता का विलाप सुन कर रावण का सामना किया तो, उस दुष्ट ने मेरी समस्त विद्याएँ हरण कर ली । बस, उसी समय मैं यहाँ पडा और यहीं भटक रहा हूँ आप इधर कैसे पधारे ?"

"मैं सीताजी की खोज मे ही आया हूँ । तू अच्छा मिला । चल मेरे साथ ।"

सुग्रीव रत्नजटी को साथ ले कर रामभद्रजी के पास आया । रत्नजटी ने सीता का हाल सुनाते हुए कहा,-

"देव ! सीताजी का हरण रावण ने किया है । जब रावण उन्हें ले कर विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जा रहा था तब वे विलाप करती हुई पुकार रही थी । उनकी पुकार इस प्रकार मेरे कानों में पडी -

"ह प्राणेश राम ! हे वत्स लक्ष्मण ! हे वीर भामण्डल ! दौड़ो । यह दुरात्मा चोर मुझे लिये जा रहा है । इस पापात्मा डाकू से मुझे छुडाओ ।"

मैने पुकार सुनी तो समझ लिया कि यह मेरे मित्र भामण्डल की बहिन है । कोई दुष्ट उसका हरण कर के ल जा रहा है । मुझ-से नहीं रहा गया । मैं तत्काल उडा और रावण से भिड गया । उस दुष्ट ने मेरी समस्त विद्याओ का हरण कर लिया जिससे मैं यहीं नीच गिर पडा । वानरपति सुग्रीवजी का सुयोग मिलने पर मैं आज वहाँ से यहाँ आ सका ।"

रत्नजटी की बात सुन कर रामभद्रजी प्रसन्न हो गए । वे बार-बार उससे सीताजी की बात पूछन लगे । उन्हाने रत्नजटी का छाती स लगाकर आलिंगन किया ।

लक्ष्मण का कोटिशिला उठाना

सीता के चोर का पता रत्नजटी से पा कर रामभद्रजी ने सुग्रीव आदि से पूछा,-

"यहाँ से रावण की लंका कितनी दूर है ?"

"स्वामिन् ! लंका दूर हो या निकट ! मूल प्रश्न तो यह है कि उस प्रचण्ड राक्षस से हम सीताजी को कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? उस विश्वविजेता के सामने हम तो तृण के समान तुच्छ हैं । हमें अपनी शक्ति का विचार सब से पहले करना चाहिये ।"

"नहीं, नहीं, तुम्हें यह विचार करने की आवश्यकता नहीं ! तुम सब निश्चिंत रहो । तुम तो मुझे उसे दिखा दो, फिर मैं उससे समझ लूँगा । जब लक्ष्मण के बाण रावण के रक्त का पान करेंगे, तब तुम उसके सामर्थ्य को देख लोगे" - रामभद्रजी ने कहा ।

"रावण यदि शक्तिशाली होता तो चोर की भांति धोखा दे कर हरण करता ? उसे हमसे युद्ध कर के हमें जीतना था । उस दुष्टात्मा का पतनकाल निकट है । इससे उसे कुमति उत्पन्न हुई और उसने यह अधर्म कर्म किया। आप उसकी शक्ति की चिन्ता नहीं करें । आप सभी मात्र दर्शक ही रहें । मैं क्षत्रियोचित युद्ध से उसे मार कर यमधाम पहुँचाऊँगा" - लक्ष्मणजी ने राजाओं को विश्वास दिलाया ।

"वीरवर ! आपका कथन सत्य हैं । आप अजेय योद्धा हैं । आपकी शक्ति भी अपूर्व है, किन्तु रावण भी परम शक्तिशाली है । हम आपके सेवक हैं । आपका पक्ष भी न्यायपूर्ण है, फिर भी परिणाम का विचार करके ही कार्य में प्रवृत्त होना उचित है । अनलवीर्य नाम के ज्ञानी महात्मा ने कहा था कि "जो पुरुष, कोटिशिला को उठा लेगा, वही रावण को मारेगा ।" अतएव यदि आप कोटिशिला को उठा लेंगे, तो हमें विश्वास हो जायगा । फिर किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहेगा ।"

लक्ष्मणजी ने स्वीकार किया । सभी वहाँ से आकाश-मार्ग से चल कर कोटिशिला के पास आये। लक्ष्मणजी ने सरलतापूर्वक तत्काल कोटिशिला उठा ली । उस समय देवों ने आकाश में 'साधु, साधु' शब्दोच्चार करते हुए पुष्प-वृष्टि की । अब सभी साथियों को लक्ष्मणजी की शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो गया । वे समझ गए थे कि इनके हाथों से रावण का विनाश अवश्य ही होगा । वे सभी आकाश-मार्ग से ही किष्किंधा में श्री रामभद्रजी के पास आये ।

हनुमान का लंका गमन

अब आगे के कार्य का विचार होने लगा । वृद्धजनों ने कहा -

"हमें विश्वास है कि रावण के पतन का काल निकट है और वह आप ही के द्वारा होगा । यद्यपि रावण ने अनीति अपनाई तथापि हम तो नीति से ही काम करना है । इसलिए सर्वप्रथम एक दूत के द्वारा रावण के पास अपना सन्देश भेजना चाहिए । यदि वह समझ कर अपने पाप का परिमार्जन कर ले,

अन्य मार्ग की आवश्यकता नहीं रहे । किन्तु किसी पराक्रमी एव समर्थ को ही दूत का कार्य सोपना ाहिए । क्योंकि लकापुरी में प्रवेश करना और निकलना विकट कार्य है । अपना दूत लका की जसभा म जा कर प्रधानमन्त्री विभीषण क सामने सीता क प्रत्यपर्ण की माँग करेगा । राक्षस-कुल मे ्भीषण बडा ही नीतिवान् है । विभीषण रावण से सीता को लौटाने का कहेगा । यदि रावण विभीषण की अवज्ञा करेगा। तो वह तत्काल अपने पास आयेगा ।''

वृद्धा की बात रामभद्रजी ने स्वाकार की । सुग्रीव ने श्रीभूति का सकेत कर के हनुमान को ुलाया । अप्रतिम तेजस्वी हनुमान तत्काल मन्त्रणा-स्थल पर उपस्थित हुए और रामभद्रजी को प्रणाम किया । हनुमान की ओर सकेत करते हुए सुग्रीव ने रामभद्रजी से कहा ,-

''देव ! यह पवनजय क विनयी पुत्र हनुमान विपत्ति के समय हमारे बन्धु हो कर उपस्थित हुए हैं। हम सभी विद्याधरो मे इनके समान तेजस्वी एव पराक्रमशील अन्य कोई भी नहीं है । इसलिए सीताजी की खोज तथा रावण की सभा में सन्देश पहुँचाने का काम इन्हीं को सोंपना चाहिए ।''

-''स्वामिन् ! इस सभा में अनेक बलवान् और प्रतिभा-सम्पन्न महानुभाव उपस्थित हैं । य गव गवाक्ष, गवय शरभ, गधमादन नील द्विविद मैंद जाम्बवान्, अगद नल, नील तथा अन्य महानुभाव उपस्थित हैं । किन्तु महामना सुग्रीवजी की मुझ पर बहुत कृपा है । स्नेह के वशीभूत हो कर ये मेरी प्रशसा कर रह हैं । मैं स्वय भी सेवा के लिए सहर्ष तत्पर हूँ । यदि आज्ञा हो तो राक्षसद्वीप सहित लका को ला कर आपके सामने उपस्थित करूँ । बान्धवो सहित रावण को बदी बना कर लाऊँ । मरे लिए करणीय आज्ञा प्रदान करें ।''

''वीर हनुमान ! तुम योद्धा हो, अजेय हो, पराक्रमी हो । तुम्हारी शक्ति से मैं परिचित हूँ । तुम सब कुछ कर सकते हो । किन्तु अभी तो तुम्हें लकापुरी मे जा कर सीता की खाज करना है । सीता क विश्वास के लिए तुम मेरी यह मुद्रिका लेते जाओ । यह तुम सीता का देना और मरा सन्देश इस प्रकार कहना -

''हे देवी ! रामभद्र तुम्हारे वियोग से अत्यन्त पीडित हैं और तुम्हारा ही ध्यान करत रहते हैं । ह जीवितेश्वरी ! मेरे वियोग से तुम दु खी तो होगी किन्तु जीवन क प्रति निराश हो कर मृत्यु स प्रीति मत कर लना । तुम विश्वास रखना कि थोडे ही दिनो म लक्ष्मण क हाथो रावण की मृत्यु हो जायगी । हम इसी कार्य में लगे हुए हैं और वीर हनुमान ! लौटते समय सीता का चूडामणि मेर सताप क लिए ले आना ।''

''प्रभो ! मैं कृतार्थ हुआ । किन्तु जब तक मैं लौट कर नहीं आऊँ तब तक आप यहीं-इसी स्थान पर रह । मैं यहीं आऊँगा ।''

हनुमान एक शीघ्रगति वाल विमान में बैठ कर लका की ओर उड चले ।

हनुमान का मातामह से युद्ध

लका की आर जाते हुए मार्ग में महेन्द्रपुर नगर आया । इस नगर पर दृष्टि पडते ही हनुमान को स्मरण हा आया कि यह मेरे मातामह (नाना) का नगर है । मेर नाना और मामा ने विपत्तिकाल में मेरी माता को आश्रय नहीं द कर अपमान पूर्वक निकाल दिया था । उनका क्राध जाग्रत हुआ । उन्होंने आवेश मे आ कर रणवाद्य बजा दिया और युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी । हृदय एव पर्वतों का कम्पित करन वाला हनुमान का युद्ध-घाष सुन कर महेन्द्र नरेश और उनके पुत्र तत्काल सेना ले कर आ गये। भयकर युद्ध हुआ । हनुमान सर्वत्र घूम-घूम कर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगा । महेन्द्र नरश का ज्येष्ठ-पुत्र प्रसन्नकीर्ति भी वैसा ही पराक्रमी याद्धा था । उसका सामना करन म हनुमान को बहुत समय लगा । उन्हे विचार हुआ - "मैं स्वामी क काय के लिए लका जाते हुए, मार्ग में ही दूसर झगडे में उलझ गया । यह मेरी भूल हुई । फिर यह तो मेरा मामा है । किन्तु अब तो युद्ध जीत कर ही आगे बढ़ा जा सकेगा"-इस प्रकार विचार कर हनुमान ने विशष शक्ति से प्रहार किया और पसन्नकीर्ति को चकित करते हुए उसके रथ को ताड दिया तथा उसे पकड लिया और अन्त में महन्द्र राजा को भी पकड़ लिया। युद्ध रूक गया । इसके बाद महेन्द्र नरेश और प्रसन्नकीर्ति युवराज का मुक्त कर क उनके चरणों में प्रणाम किया और अपना परिचय दिया तथा क्षमा याचना की । अपने दोहित्र और भानज को एसा उत्कट पराक्रमी योद्धा जान कर महेन्द्र नरेश और प्रसनकीर्ति आदि प्रसन्न हुए । उन्हाने कहा "हमने तुम्हारे पराक्रम की बातें सुनी अवश्य थी परन्तु आज प्रत्यक्ष दख कर हमें बहुत प्रसन्नता हुई। अब राज्य-महालय में चलो ।"

-"नहीं पूज्य । मैं स्वामी की आज्ञा से सीताजी की खोज करन लका जा रहा हूँ । मार्ग में महेन्द्रपुर देख कर माता के विपत्तिकाल की बात स्मरण हो आई और अचानक यह बखेडा खडा कर दिया । मुझे शीघ्र ही लका पहुँचना है और आपसे भी निवदन है कि आप अपनी सेना ले कर राम लक्ष्मण के पास जाइए ।"

हनुमान आगे बढे और महेन्द्र नरेश सेना ल कर किष्किन्धा की आर चले ।

दावानल का शमन

आगे बढते हुए हनुमान की दृष्टि दधिमुख द्वीप पर पडी । उन्हाने दा मुनिया का ध्यानमग्न तथा उनक समीप ही तीन कुमारिया को भी साधनारत देखी साथ ही उस द्वीप पर उठ रही दावानल की भयकर ज्वालाएँ भी देखी । उन्होने सोचा - 'यह दावानल इन महामुनिया, कुमारियों और अन्य अनेक प्राणियो का सहार कर देगा । इसको बुझाना अत्यत आवश्यक है ।' उन्हाने अपनी विद्या का प्रयाग कर

भयकर अग्नि का तत्काल शमन कर दिया । हनुमान ने मुनियो को वदना की । तीनो कुमारिया की भी साधना पूर्ण हो चुकी थी । उन्होने मुनिवरो को वन्दना करके हनुमान से कहा ।

"हे परमार्हत् ! आपने हमे इस भयकर एव विनाशकारी दावानल से बचाया है । आपकी सहायता से स्वल्पकाल मे ही हमारी विद्या सिद्ध हो गई । हम आपकी पूर्ण आभारी हैं ।"

- "परन्तु तुम्हारा परिचय क्या है"- हनुमान ने पूछा ।

- "हम दधिमुख नगर के अधिपति गन्धर्वराज की पुत्रियाँ हैं । हमे प्राप्त करने के लिए बहुत-से विद्याधरो ने पिता के सामने याचना की । उनमें 'अगारक' नाम का एक विद्याधर भी था । हमारे पिताश्री ने किसी की भी माँग स्वीकार नहीं की । एक बार उन्होने किसी ज्ञानी मुनि को पूछा, तो उन्हाने कहा कि - " साहसगति नामक विद्याधर को मारने वाला ही तुम्हारी पुत्रिया का पति होगा ।" मेरे पिता साहसगति को मारने वाले की खोज कर रहे थे, किन्तु अबतक पता नहीं लगा । हम तीनो बहिनें भी अपने भावी पति को जानने के लिए यहाँ आ कर विद्या साध रही थी कि हम पर अत्यन्त आसक्त होने के बाद निराश हो कर रुष्ट हुए अगारमर्दक ने हमें साधना-भ्रष्ट करने के लिए आग लगा दी । किन्तु आपने अकारण ही कृपा कर के हमें बचा लिया । जो मनोगामिनी विद्या छह महीने मे सिद्ध होती थी, वह आपकी सहायता से क्षण भर में सिद्ध हो गई । आपने हम पर बडा उपकार किया" - सब से बडी राजकुमारी ने कहा ।

- "राजनन्दिनी ! साहसगति को मारने वाले तो रामभद्रजी हैं । मैं उन्हीं के कार्य के लिए लका जा रहा हूँ ।" उन्होने सीता-हरण सम्बन्धी वृत्तात कह सुनाया । तीनो राजकुमारियाँ अपने पिता के पास आई । गन्धर्वराज, अपनी पुत्रियाँ और विशाल सेना ले कर रामभद्रजी की सेवा में किष्किधा गये ।

विद्याओं का विनाश और लंकासुन्दरी से लग्न

लका के समीप आते ही लका की रक्षा करने वाली 'शालिका' नाम की विद्या - जो अत्यन्त काले वर्ण की और भयकर रूप वाली थी हनुमान को दिखाई दी । वह क्रोध पूर्वक हनुमान को ललकारती हुई बोली - " अरे ओ वानर ! तू यहाँ क्यो आया और कहाँ जा रहा है ? मैं आज तेरा भक्षण करूँगी" - इस प्रकार कह कर उसने अपना मुँह खोला । हनुमान सावधान ही थे । वे गदा ले कर उसके मुँह मे घुस गए और पेट फाड कर बाहर निकल आए । उस विद्या ने लका के बाहर एक किल जैसा रक्षा-प्राकार बना रखा था । हनुमान ने अपनी विद्या के सामर्थ्य से उसे मिट्टी के पात्र की भाँति तोड कर नष्ट कर दिया । वज्रमुख नामक एक राक्षस उस प्राकार की रक्षा कर रहा था। वह उग्र क्रोधावेश मे युद्ध करने आया । किन्तु हनुमान ने उसे भी मार डाला । वज्रमुख के मरते ही उसकी 'लकासुन्दरी' नाम की पुत्री - जो अनेक प्रकार की विद्याओ मे निपुण थी, हनुमान से युद्ध करने आई । वह हनुमान पर बारबार प्रहार करने लगी और हनुमान कौतुक पूर्वक उसक प्रहार को निष्फल करने

लगे । अन्त मे वह अस्त्र-विहीन हो गई । उसको आश्चर्य हुआ कि - "यह वीर पुरुष कौन है ? कितना तेजस्वी और पराक्रमी है ।" वह अनिमेष दृष्टि से हनुमान को देखने लगी । उसके मन में काम ने प्रवेश किया । वह हनुमान पर मोहित हो गई । उसने हनुमान से कहा,-

"हे धीर वीर महानुभाव ! मैंने पिता के वध से क्रुद्ध हो कर आप से युद्ध किया किन्तु आपने मेरे सभी अस्त्र व्यर्थ कर दिये । सचमुच आप अद्भुत पुरुष हैं। मुझे पहले एक साधु ने कहा था कि "तेरे पिता को मारने वाला ही तेरा पति होगा ।" उन महात्मा की बात आज सफल हो रही है । अब आप मुझे स्वीकार करलें । आप जैसे महापराक्रमी पति को पा कर मैं गौरवान्वित होऊँगी ।"

हनुमान ने लका सुन्दरी से वहीं गन्धर्व-विवाह कर लिया । उस समय सूर्य अस्त होने वाला था * । हनुमान रात भर लका सुन्दरी के साथ क्रीडा करते रहे ।

हनुमान का विभीषण को सन्देश

प्रात काल लकासुन्दरी से विदा हो कर हनुमान ने नगर में प्रवेश किया और विभीषण के समक्ष उपस्थित हुआ । विभीषण ने हनुमान का सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा । हनुमान ने कहा,-

"आप दशाननजी के बन्धु हैं और न्यायपरायण महामन्त्री हैं । रावण रामभद्रजी की पत्नी सीताजी का अपहरण कर के ले आये हैं । मैं श्री रामभद्रजी का सन्देश ले कर आया हू कि आप रावन से सीताजी को मुक्त करवा दें । मैं जानता हूँ कि रावण बलवान् हैं, किन्तु उसका यह कार्य अत्यत अधम है । इससे उनका परलोक ही नहीं, यह लोक भी बिगडेगा । आप इस पाप का परिमार्जन करवाइये । अन्यथा इसका दु खद परिणाम उन्हे भुगतना पडेगा ।"

"हनुमान ! तुम्हारा कहना सत्य है । मैंने पहले भी बन्धुवर से सीता को मुक्त करने का निवेदन किया था । किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी । मैं पुन आग्रहपूर्वक प्रार्थना करूँगा ।"

सीता को सन्देश

हनुमान विभीषण के पास से निकल कर देवरमण उद्यान में आया और छुप कर सीता को देखने लगा । सीता अशोक वृक्ष के नीचे उदास और आँसू बहाती हुई दिखाई दी । वह अत्यत दुर्बल, म्लान एव अशक्त हो गई थी । उसके हृदय से सतत नि श्वास निकल रहे थे । सीता को देखते ही हनुमान ने सोचा - "सीता महासती है । उसके दर्शन से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है । यह योगिनी की भाति राम का ही ध्यान कर रही है । रामभद्रजी को इस सीता का विरह सतप्त कर रहा है - यह उचित ही है । ऐसी रूपसम्पन्न शीलसम्पन्न एव पवित्र पत्नी, किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होती है । दुष्ट रावन अपने पाप से सती के नि श्वास से और राम के प्रताप से अवश्य गिरेगा । उसके दुर्दिन आ गये हैं ।"

* आचार्य श्री ने इस स्थल पर सध्या रात्रि और उषाकाल का बडा ही मोहक तथा अलकारो से भरपूर विस्तृत वर्णन किया है । इस सारे वर्णन मे सुन्दरी युवती के अगोपाँगों तथा मदन भावयुक्त उपमा प्रचुरता से व्यक्त हुई ।

हनुमान ने अदृश्य रह कर ही रामभद्रजी की मुद्रिका सीताजी की गोद मे डाल दी । अचानक पतिदेव की मुद्रिका देख कर सीता हर्षित हो गई । उसे विश्वास हो गया कि पतिदेव पधारे हैं, या उनका सन्देश ले कर कोई आया है । वह हर्षित होती हुई मुद्रिका को बारबार देखने लगी । उसे मस्तक और हृदय से लगाने लगी । सीता को प्रसन्न देख कर त्रिजटा दौडी हुई रावण के पास पहुँची और बोली ;-

"स्वामिन् ! सीता प्रसन्न हो गई है । मैंने उसे हँसती हुई देखी है । यह प्रथम समय है कि वह प्रसन्न एव हँसती हुई दिखाई दी ।" त्रिजटा की बात ने रावण को उत्साहित किया । उसने मन्दोदरी से कहा,-

"प्रिये ! सीता की प्रसन्नता का कारण यही हो सकता है कि वह अब राम से विरक्त हो गई है और मेरी इच्छा कर रही है । तुम इसी समय जाओ और उसे मिष्ट वचनो से समझा कर अनुकूल बनाओ ।"

मन्दोदरी फिर सीता के पास पहुँची और कहने लगी,-

"महाभागे ! मेरे पतिदेव इस ससार में सर्वोत्तम महापुरुष हैं । वे अपूर्व शक्ति शौर्य, वैभव और अधिकारों के स्वामी हैं । हजारो राजा उनके सेवक हैं । उनके लिए हजारों अपूर्व सुन्दरियाँ स्वापण करने के मनोरथ कर रही है, फिर भी वे उनकी ओर देखते भी नहीं । उनका स्नेह तुझ पर हुआ है । तू महान् भाग्यशालिनी है । तेरा यह देवागना जैसा सौन्दर्य, वन के भटकते दरिद्रिया के योग्य नहीं है । यह दुर्भाग्य का ही फल है कि तू अप्सरा जैसी होकर भी उस भील जैसे राम के पल्ले पडी । विधाता की इस भूल को सुधारने का समय आ गया है । अब तू मान जा और स्वीकार कर ले । तेरी सेवामे मैं अन्य हजारा रानिया सहित रहूँगी । स्वय सम्राट तेरे सेवक बन कर रहेंगे । तुझे यह अनुपम अवसर नहीं गँवाना चाहिये ।"

सीता मन्दोदरी की बात सहन नहीं कर सकी । उसने क्रोधित हो कर कहा -

"अरी कूटनी ! तू क्या समझती है मुझे ? मैं अब तेरा मुँह भी देखना नहीं चाहती । तू याद रख कि तेरा पापी पति भी उसी रास्ते जाने वाला है - जिस रास्ते खरदूषणादि गये और तेरी भी वही दशा होने वाली है, जो चन्द्रनखा की हुई । मेरे हृदयेश्वर, अपने अनुज बान्धव के साथ आने ही वाले हैं । तेरे वैधव्य का समय अब निकट ही है । तू जा यहाँ से, चली जा । अब फिर अपनी छाया से मुझे दूषित करने यहाँ मत आना ।"

मन्दोदरी हताश हो कर चली गई । उसके जाते ही हनुमान प्रकट हुए और सीता को प्रणाम करते हुए बोले,-

"देवी ! श्रीराम-लक्ष्मण स्वस्थ हैं । मैं उनका सन्देश ले कर आया हूँ । यह मुद्रिका भी मैं ही आपके विश्वास के लिए लाया हूँ । मेरे लौटते ही वे शत्रु को नष्ट करने के लिए यहा आएगे ।"

राम का समाचार सुन कर सीता आश्चर्यपूर्वक बोली,-

"हे वीर ! तुम कौन हो और इस दुर्लंघ्य समुद्र को लाघ कर यहाँ कैसे आये ? तुमने मेरे प्राणेश्वर और वत्स लक्ष्मण को कहाँ देखे । वे अभी कहा हैं और किस दशा मे हैं ?"

- "माता ! मैं महाराज पवनजयजी और महासती अजना का पुत्र हनुमान हूँ । आकाशगामिनी विद्या से समुद्र लाघ कर मैं यहा आया हूँ । मैं पहले रावण की सहायता कर चुका हूँ । रावण की अनीति से उसका पक्ष त्याग कर मैंने श्री राम-लक्ष्मण की सवा स्वीकार की है । रामभद्रजी आपके वियोग में सदैव चिंतित, उदास एव सतप्त रहते हैं । गाय के वियोग से बछडा दु खी रहता है, वैसे लक्ष्मण भी आपक वियोग में दु खी हैं । अभी वे किष्किन्धापुरी म हैं । वानरराज सुग्रीव, भामण्डल, विराध और महेन्द्र नरेश आदि अनेक विद्याधर, राम-लक्ष्मण की सेवा में हैं । मेरे लौटते ही वे लकापुरी के लिए प्रयाण करेंगे । आपकी खोज करने के लिए महाराज सुग्रीवजी ने मुझ चुना और मैं रामभद्रजी का सन्देश और मुद्रिका ले कर यहाँ आया । उन्होंने मुझे आपसे चूडामणि लाने का कहा अत आप दीजिये और आहार ग्रहण करके अपने शरीर को स्वस्थ रखिये ।"

हनुमान से सारा वृत्तात सुन कर सीता प्रसन्न हुई और अपनी इक्कीस दिन की तपस्या पूर्ण कर के भोजन किया । इसके बाद अपना चूडामणि देते हुए सीताजी ने हनुमान से कहा,-

"वत्स ! अब तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ । यदि शत्रु को तुम्हारे यहाँ आने का पता लग गया, तो उपद्रव खडा हो जायगा । ये क्रूर राक्षस तुम्हे पकड कर अनिष्ट करेंगे ।"

- "माता ! आप चिन्ता नहीं करें । मैं विश्व-विजेता पुरुषोत्तम राम-लक्ष्मण का दूत हूँ । मेरे सामने रावण और उसकी सेना का कोई महत्त्व नहीं । यदि आप कह, तो मैं रावण और उसकी सेना का पराभव कर के आपको अपने कन्धे पर बिठा कर ले जा सकता हूँ " - हनुमान न अपनी शक्ति का परिचय देते हुए कहा ।

"भद्र ! तुम समर्थ हो और सब कुछ कर सकते हो । किन्तु इससे तुम्हारे स्वामी की कीर्ति को क्षति पहुँचती है । वे स्वय रावण को पराजित करके मुझे ले जावें, इसी में उनकी शोभा है । दूसरी बात यह कि मैं पर-पुरुष का स्पर्श नहीं करती, इसलिए तुम्हारे साथ मैं नहीं आ सकती । अब तुम यहाँ से शीघ्र जाओ और अपने स्वामी को मेरा सन्देश दे कर निश्चिन्त करो । तुम्हारे जाने के बाद ही आर्य पुत्र यहा के लिए उद्यम करेंगे "- सीता ने हँसते हुए कहा ।

- "देवी ! मैं यहीं जाऊगा । किन्तु मेरे आने का थोड़ा परिचय इन राक्षसा को भी दे दू । जिससे इनको सद्बुद्धि प्राप्त होने का निमित्त मिले ।" सीता ने हनुमान की इच्छा को मान्य करते हुए कहा - 'बहुत अच्छा ।"

हनुमान का उद्यान में उपद्रव करना

हनुमान अपने बाहुबल का परिचय देने के लिए उस दवरमण उद्यान को नष्ट करने लगे । वे उछलते-कूदते हुए लताओ से लगा कर बडे-बड वृक्षो तक को तोड-उखाड कर इधर-उधर फैंकने लगे । उस उद्यान के चारो ओर के द्वारों पर राक्षसो की चौकी थी । उद्यान को नष्ट किया जाता हुआ देख कर राक्षस दौडे और अपने मुद्‌गर से हनुमान पर प्रहार करने लगे । किन्तु उनके सभी शस्त्रास्त्र व्यर्थ गए । हनुमान, उन टूटे हुए वृक्षा की शाखाओ से राक्षसो को मारने लगे । उनके प्रहार से आक्रामक धराशायी हो गए । उनके कुछ साथी राक्षस भागते हुए रावण के पास गए और इस घटना का वृत्तात सुनाया रावण ने अपने पुत्र अक्षयकुमार को, हनुमान को मारने के लिए आज्ञा दी । अक्षयकुमार सेना ले कर चढ आया । दोनो म अस्त्र-प्रहार होने लगा । अन्त में हनुमान ने अक्षयकुमार को गत-प्राण कर दिया । भाई के मरने का दु खद समाचार सुन कर इन्द्रजीत हनुमान से युद्ध करने आया । दोनों वारो में बहुत देर तक घोर सग्राम हुआ । दोनों के अस्त्र घनघोर मेघ-वर्षा की भाँति एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे । इन्द्रजीत के सभी अस्त्रो को हनुमान ने अपने अस्त्रो से बीच ही में काट कर गिरा दिये और अपने युद्ध-कोशल से इन्द्रजीत की सेना को भी घायल तथा छिन्न-भिन्न कर दी । अपने अस्त्रों को व्यर्थ तथा सेना की दुर्दशा देख कर इन्द्रजीत ने हनुमान पर नागपाश फैंका, जिससे हनुमान पाँव मे से लगा कर मस्तक तक बध गया । हनुमान, नागपाश तोड कर शत्रु पर विजय पाने में समर्थ थे। परन्तु उन्हें रावण के पास पहुँच कर अपना सामर्थ्य बताना था, इसलिए वे बध गए । इन्द्रजीत हर्ष एव विजयोल्लासपूर्वक हनुमान को रावण के सामने लाया । राव और अन्य राक्षसगण, प्रसन्नतापूर्वक बन्दी हनुमान को देखने लगे ।

हनुमान द्वारा रावण की अपभ्राजना

हनुमान को अपने सामने बन्धन में जकडा हुआ देख कर रावण कडक उठा । हनुमान ने उसके पुत्र और अनेक योद्धाओं को मार डाला था । वह रोषपूर्ण भाषा में बोला,-

"क्या रे दुष्ट ! तेरी बुद्धि कहाँ चली गई ? तू मेरा आश्रित है । भटकते हुए दरिद्र ऐसे राम-लक्ष्मण का साथ देने में तुने कौनसा लाभ देखा ? वे अस्थिर, निर्वासित, असहाय और वन-फल खा कर जीवन-निर्वाह करने वाले हैं । उनके वस्त्र मलिन हैं । वे साधु के समान अकिंचन और किरात जैसे असभ्य हैं । उनका सहायक बनने से तुझे क्या मिलेगा ? तू क्या सोच कर यहाँ आया और इतना ऊधम मचाया तथा अपने प्राण सकट में डाल दिये ? वे राम-लक्ष्मण बड़े धूर्त हैं । वे स्वय दूर रहे और तुझे यहाँ धकेल दिया । अब तेरे ये बन्धन कौन छुड़ाएगा ? तू मेरा सेवक हो कर उनका दूत कैसे बना ?"

- "दशाननजी ! तुम मुझे अपना सेवक समझते हो यह तुम्हारी भूल है । मैंने तुम्हारा स्वामित्व कब स्वीकार किया था ? तुम्हारा घमण्डी सामन्त खर वरुण के कारागृह मे पडा था, तब मेरे पूज्य पिताश्री ने उसे मुक्त कराया था । उसके बाद दूसरी बार तुम्हारी माँग होने पर मैं खुद तुम्हारी सहायता के लिए आया था और वरुण क पुत्रों के सकट से तुम्हारी रक्षा की थी । यह तुम्हे हमारी सहायता थी। हम तुम्हारे सेवक नहीं थे । अब तो तुम पाप, अन्याय और अनार्य कर्म करने वाले हो । ऐसे दुराचारी का साथ मैं क्या देने लगा ? राम-लक्ष्मण के पक्ष मे सत्य है न्याय और नीति है, इसलिए मैं उनका साथी ही नहीं सेवक हू । वे महान् हैं और मर्यादाशील हैं और तुम्हें तुम्हारे पाप का दण्ड देने में समर्थ हैं । उन्होंने मेरे द्वारा जो सन्देश दिया है, वह नीति का पालन करने के लिए है । यदि अब भी तुम नहीं समझे तो निश्चय समझो कि उन्हीं के हाथो तुम्हारा पतन होगा, अवश्य होगा । उन दोनो में से एक लक्ष्मण अकेले ही तुम्हें धूल मे मिला सकते हैं" - हनुमान ने रावण को खरी-खरी सुनाते हुए कहा ।

- "रे कपि ! तू मेरे शत्रु का पक्ष ले कर मुझ से झगड रहा है । फिर भी तू दूत होने के कारण अवध्य है । किन्तु तेरी उद्दण्डता दूत की सीमा से बाहर है, फिर भी मैं प्राण-दण्ड देना नहीं चाहता । किन्तु तेरा काला मुँह और पच शिखा कर के गधे पर बिठाया जायगा और नगरी के प्रत्येक मार्ग पर, लोक-समूह के साथ घुमाया जायगा ।"

रावण के वचन से हनुमान का क्रोध भडका । उन्होने झटका दे कर नागपाश तोड फेंका और उछल कर रावण के मुकुट पर पदाघात कर क गिरा दिया । इसके बाद वे कूदते-फाँदते लका को रौंदते उसके भव्य भवनों को नष्ट करते हुए निकल गए । रावण- "पकडो, बाँधो मारो वह गया दौडो" -बकता ही रह गया । सभाजन यह असभवित दृश्य देख कर स्तब्ध रह गए । उन्ह इस घटना की आशका ही नहीं थी ।

हनुमान, किष्किन्धा लौट आए और वहाँ घटित घटना का विस्तार से वर्णन कर के सुनाया तथा सीताजी का चूडामणि, रामभद्रजी को दिया । रामभद्रजी को इससे बहुत सतोष हुआ । वे चूडामणि को बारबार हृदय से लगाने लगे । उन्होने हनुमान को प्रसन्न हो कर छाती से लगाया और सीता का वृत्तात बारबार पूछने लगे ।

राम-लक्ष्मण की रावण पर चढ़ाई
समुद्र और सेतु से लड़ाई

हनुमान से सीता के समाचार और रावण के अपमान की बात जान कर, राम-लक्ष्मण और सुग्रीव भामण्डल, नल, नील महेन्द्र, हनुमान, विराध, सुसेन जाम्बवान अगद आदि ने रावण पर चढाई कर दी । वे आकाश-मार्ग से चले । उनके साथ अन्य राजाओ ने भी अपनी सेना सहित प्रयाण किया । उनके विजय कूच के वादित्रों के नाद से आकाश गुजित हो गया । अपने स्वामी के कार्य की

सिद्धि में पूर्ण विश्वास से अभिभूत हो कर विद्याधर-गण विमान, रथ, अश्व, हाथी आदि वाहनो पर आरूढ हो कर आकाशमार्ग से चलने लगे । वे सभी वेलधर पर्वत पर बसे हुए वेलधरपुर के निकट आये । वहाँ 'समुद्र' और 'हेतु' नाम के दो बलवान् एव दुर्धर्ष राजा थे । उन्होंने राम-सेना के साथ युद्ध छेड दिया । यह देख कर नल और नील नरेश भी उनसे भिड गए और समुद्र तथा सेतु को परास्त कर बाध लिया तथा रामभद्रजी के सम्मुख ला कर खडे कर दिये । रामभद्रजी ने उन्हे क्षमा कर दिया और उनका राज्य उन्हीं के पास रहने दिया । समुद्र राजा ने अपनी अत्यन्त सुन्दर ऐसी तीन कुमारियाँ लक्ष्मणजी को दी । रातभर वहीं विश्राम करके दूसरे दिन फिर विजयकूच प्रारभ की । समुद्र और सेतु भी इस विजय-यात्रा में सम्मिलित हो गए । थोडी ही देर मे वे सुवेलगिरि के निकट पहुँच गए । वहाँ सुवेल राजा से युद्ध करना पडा । वह भी पराजित हुआ और आज्ञाकारी बन गया । यह रात्रि वहीं बिता कर सेना आगे बढी । तीसरे दिन लका के निकट हस-द्वीप पहुँचे तो प्रजाजन भयभीत हो गए । सीताहरण के पाप से लकावासी, भावी-अनिष्ट की कल्पना कर ही रहे थे । हनुमान के उपद्रव ने भी उन्हें चौंका दिया था और समुद्र पार कर रावण से लडने के लिए आये हुए राम-लक्ष्मणादि विशाल सैन्य के समाचारो ने लकावासियो को विशेष डरा दिया उन्हें विनाश-काल निकट दिखाई देने लगा ।

विभीषण की रावण और इन्द्रजीत से झड़प

राम-लक्ष्मण का आगमन जान कर रावण के हस्त, प्रहस्त, मारी और सारण आदि हजारों सामन्त, युद्ध की तैयारी करने लगे । करोडों सैनिक युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो गए । युद्ध के बाजे बजने लगे। विभीषण इस युद्ध के अनिष्ट परिणाम को जानता था । रावण की अनीति मे ही उसे पतन का सकेत दिखाई दिया । वह फिर रावण के पास पहुँचा और नम्रतापूर्वक कहने लगा,-

"बन्धुवर! प्रसन्न होओ और मेरी विनम्र प्रार्थना सुनो । आपने उभय-लोक घातक तथा वश-विनाशक ऐसा परस्त्रीहरण का पाप किया है । उस पाप को अब भी धो डालो और राम-लक्ष्मण का सम्मान कर के सीता को उन्हें दे दो, तो यह युद्ध टल जायगा और हमारे कुल पर लगा हुआ कलक भी मिट जायगा ।"

-"काकाजी ! आप तो जन्म से ही भीरु और कायर हैं" -

इन्द्रजीत बीच मे ही बोल उठा - "आपने हमारे कुल को दूषित कर दिया । क्या आप मेरे इन पूज्य पिताश्री के बन्धु हैं ? आप इनके बल को नहीं जानते ? परम पराक्रमी इन्द्र नरेश को भी जीतने वाले समस्त सम्पत्ति के स्वामी ऐसे त्रिखण्डाधिपति के सामने आप इस प्रकार बोलते हैं ? मुझे लगता है कि आपका जीवन समाप्त होने की घडी आ पहुँची है । पहले भी आपने झूठ बोल कर पिताश्री को ठग लिया और दशरथ के वध की प्रतिज्ञा भग कर उसे छोड दिया था । अब आप राम-लक्ष्मण जैसे भूचर का भय बता कर उन्हें बचाने का निर्लज्ज प्रयत्न कर रहे हैं । मुझे लगता है कि आप राम के पक्षपाती हो गए हैं । राम ने आपको अपने पक्ष में मिला लिया है । इसलिए अब आप युद्ध-मन्त्रणा में सम्मिलित करने के योग्य भी नहीं रहे ।"

- "इन्द्रजीत ! तू साहस कर रहा है । जरा न्याय-नीति को देख और परिणाम का विचार कर। जिन्हें तू उपेक्षित समझ रहा है, उन्होने खर-दूषण जैसे महारथी का ससैन्य नष्ट कर दिया । साहसगति जैसे दुर्द्धर्ष योद्धा को मारडाला । तू भूल गया - उनके दूत हनुमान के पराक्रम की बात ? यह तो मेरे और सभी के सामने हुई । भरी सभा मे वह बन्धन तोड कर और बन्धुवर के मस्तक पर लात मार कर नगर के भवनो को नष्ट करता हुआ और हमारे प्रताप को रौंदता हुआ निरापद चला गया । इन प्रत्यक्ष घटनाओ को देख कर भी तू नहीं समझता और मुझे मूर्ख, भीरु और शत्रु-पक्ष मे मिला हुआ समझता है ? वास्तव में तू स्वय पितृकुल का नाशक है । तेरा पिता कामान्ध हो गया है । जरा न्याय दृष्टि से देख । बन्धुवर ! समझो । मैं फिर निवेदन करता हूँ कि कुमति छाडो और सुमति अपनाओ। यह गया हुआ अवसर फिर नहीं आयेगा" - विभीषण ने पुन निवेदन किया ।

विभीषण की हितशिक्षा ने रावण की क्रोधाग्नि में घृत का काम किया । उसके दुर्दिन आ गये थे। खड्ग ले कर विभीषण को मारने के लिए तत्पर हुआ । रावण को अपने पर झपटता हुआ देख विभीषण भी क्रुद्ध हो गया । उसके पास कोई शस्त्र नहीं था । उसने वहीं से एक खभा उखाड लिया और रावण से लडने को तत्पर हो गया । दोनो बन्धुओ को आपस में लडते देख कर कुभकर्ण और इन्द्रजीत, बीच-बचाव करने के लिए तत्पर हुए । उन्हाने दोनो को वहाँ से हटा कर अपने-अपने स्थान पर पहुँचाया । वहाँ से हटते समय रावण ने विभीषण से कहा,-

"विभीषण ! तू अब मेरी नगरी से निकल जा । अब तेरा यहाँ रहना, मेरे हित में नहीं होगा। तू वह आग है - जा अपने आश्रय को भी जला देती है ।"

विभीषण राम के पक्ष में आया

रावण के वचन सुनकर विभीषण घर आया और उसी समय अपने परिवार को ले कर लका से निकलने लगा । विभीषण जैसे न्यायी और जन-प्रिय नेता के नगर-त्याग को भी अनिष्ट का विशेष चिह्न मान कर अनेक कुटुम्ब नगर-त्यागने लगे । राक्षसा और विद्याधरों की बड़ी भारी-तीस अक्षोहिणी सेना भी रावण के पक्ष से निकल कर विभीषण के साथ हो गई । ये सब लका का त्याग कर राम-लक्ष्मण के सैन्य-शिविर की ओर चले । विभीषण को सेना सहित अपने शिविर की ओर आता देख सुग्रीव आदि विचार में पड गए । वे उनके उद्देश्य के प्रति सन्देहशील थे । विभीषण ने अपना एक दूत श्री रामभद्रजी के पास भेज कर, अपने आगमन का उद्देश्य बतलाया । राम ने सुग्रीव की ओर देखा। सुग्रीव ने कहा--

"महानुभाव ! राक्षस लोग तो जन्म से ही विशेष मायावी तथा क्षुद्र होते हैं तथा विभीषण आ रहा है तो आने दीजिये । हम उसके आशय का पता लगा कर योग्य उपाय कर लेंगे ।"

सुग्रीव की बात सुन कर 'विशाल' नाम के एक विद्याधर ने कहा -

"स्वामिन् ! विभीषण, सभी राक्षसो मे उत्तम, न्यायप्रिय एव धर्मात्मा है । मैं उसे जानता हूँ । सीता को स-सम्मान समर्पित करने की विभीषण की प्रार्थना पर क्रुद्ध हो कर रावण ने इसे निकाल दिया है और इसी से यह यहाँ आ रहा है । उस पर सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है । उसका आना हमारे लिए लाभकारी ही होगा ।"

विशाल की बात सुन कर रामजी ने द्वारपाल को आज्ञा दी । विभीषण को आदर सहित शिविर मे लाया गया । राम को देखते ही विभीषण प्रणाम करने के लिए झुका । रामभद्रजी उठे और विभीषण को भुजाओ मे बाँध कर छाती से लगा लिया । विभीषण ने कहा -

"देव ! मैं अपने अन्यायी ज्येष्ठ-बन्धु का साथ छोड कर आपकी सेवा में आया हूँ । आप मुझे भी सुग्रीवजी के समान अपना सेवक समझे और सेवा प्रदान करें ।"

"नीति-निपुण महात्मन् ! आपके उदार एव शुभ आशय स मैं प्रसन्न हूँ । आप ही उत्तम शासक बनने के योग्य हैं । हम लका के राज्य-सिहासन पर आप ही का प्रतिष्ठित करेंगे । आप प्रसन्नतापूर्वक हमारे सहायक रह ।"

युद्धारम्भ-नल-नील आदि का पराक्रम

हस द्वीप मे आठ दिन रह कर रामसेना ने लका की ओर प्रयाण किया । लका के निकट बीस योजन लम्बे-चौडे मैदान में सेना का जमाव हुआ । सेना शस्त्रास्त्र से सज्ज हो कर युद्ध के लिए तैयार हो गई । इस विशाल सेना के कोलाहल से गभीर नाद उत्पन हो कर महासागर के गर्जन जैसा दिगत - व्यापी हो गया । इस महाघोष से लकावासियो के मस्तिष्क और हृदय आतकित हो गये । उनका पारस्परिक वार्तालाप भी सुनाई देना कठिन हो गया ।

रावण की सेना भी तैयार हो कर आ डटी । उसके प्रहस्त आदि सेनापति भी पहुँच गए । कितने ही योद्धा हाथी पर, कई घोडे पर, कई गधे पर कई रथ पर कोई भैंसे पर कोई मनुष्य पर सवार हो कर आये, तो कोई-कोई भडवीर सिहपर चढ कर आ पहुँचे । सभी ने रावण को चारों ओर से घेर लिया । रावण सब के मध्य मे था । रावण विविध प्रकार के आयुधो से सज्ज हो कर रथ में बैठा । यम के समान भयकर दिखाई देने वाला भानुकर्ण त्रिशूल लिये हुए रावण के निकट पार्श्व-रक्षक के रूप में खडा रहा । राजकुमार इन्द्रजीत और मेघवाहन रावण की दोनो भुजाओ के पास रहे । इनके सिवाय बहुत से राजकुमार सामन्त और शुक, सारण, मारिच, मय और सुन्द आदि वीर भी आ डटे । इस प्रकार सहस्रो अक्षोहिणी सेना से युक्त रावण ने, शत्रु-सैन्य के सामने, पचास योजन भूमि पर पडाव लगाया ।

सैनिक अपने विपक्षी सैनिक को सम्बोध कर अपनी और अपने नायक की प्रशसा और उसके नायक तथा उनकी निन्दा करने लगे । कोई अपने समुख खड शत्रु को कायर, नपुसक राक आदि

कहता,गालियाँ देता और अपमान करता । इस प्रकार आराप-प्रत्यारोप से द्वेष, ईर्षा एव क्रोध में वृद्ध होने लगी । सैनिक अपने-अपने अस्त्र दिखा कर एक-दूसरे को धराशायी करने के वाक्‌बाण छोड़ने लगे । युद्ध प्रारम्भ हो गया । शस्त्र-प्रहार एव अस्त्र प्रक्षेप की झडिया लग गई और साथ ही हस्त, पद तथा मस्तकादि कटकट कर भूमि पर गिरने लगे । शरीरो मे से रक्त की पिचकारियाँ छूट कर पृथ्वी को रगने लगी । रुण्ड-मुण्डों का ढेर लगने लगा । मनुष्य ही क्या, घोडो और हाथियों के अग प्रत्यग भी कट-कट कर गिरने लगे । बहुत देर तक युद्ध चलता रहा । वानर तथा राक्षस-सेना का युद्ध विकराल बन गया । वानरा के भीषण प्रहार से राक्षसा का विनाश देख कर हस्त और प्रहस्त नाम के प्रचण्ड योद्धा, अग्रभाग पर पहुँचे । उनका सामना करने के लिए रामसेना के वीर नल और नील आगे आये । नल ने हस्त का सामना किया और नील ने प्रहस्त का । दोनों वीर रथारूढ हाकर एक-दूसरे पर बाण वर्षा करने लगे । कभी नल क गले में विजयमाला जाती हुई दिखाई दी, तो कभी हस्त क पक्ष में । अन्त में नल ने क्षुरप्र बाण का प्रहार कर के हस्त का मस्तक काट कर गिरा दिया । जिस प्रकार नल ने हस्त को मारा उसी प्रकार नील ने प्रहस्त को मार डाला । इसक बाद रावण सेना से मारीच, सिंहघ्न, स्वयभू, सारण शुक आदि योद्धा आगे बढे । इनका सामना करने के लिए रामसेना से मदनाकुर, सताप, प्रथित, आक्रोश नन्दन आदि उपस्थित हुए । युद्ध की भीषणता चलती ही रही । दिनभर युद्ध चलता रहा । सूर्यास्त होने पर युद्ध स्थगित हो गया । दानो ओर की सेना अपने-अपन पडाव म चली गई । घायलों और मृतकों की व्यवस्था होने लगी ।

माली वज्रोदर जम्बूमाली आदि का विनाश

दूसरे दिन फिर युद्ध प्रारम्भ हुआ । रावण गजरथ पर आरूढ था और अपनी सेना में शौर्य जगाता हुआ युद्ध को विशेष उग्र बना दिया । राक्षसो की आज की मार ने वानरों के पाँव उखाड दिय । वानरों की दुर्दशा देख कर सुग्रीव नरेश कोपायमान हुए और आगे आये । किन्तु उन्ह बीच में ही राकते हुए हनुमान आगे बढे । वे राक्षसा के दुर्भेद्य व्युह का भीषण प्रहार द्वारा भेद कर छिन्न भिन्न करने लगे । उन्हें आगे बढते दख कर माली नाम का दुर्जय राक्षस मेघ के समान गर्जना करता हुआ तथा धनुष पर टकार करता हुआ उपस्थित हुआ और बाणवर्षा करने लगा । दानो वीरा म भीषण युद्ध हुआ । अन्त में माली राक्षस के सारे शस्त्रास्त्र व्यर्थ गए और वह नि शस्त्र हो गया, तब हनुमान ने उससे कहा - 'अरे वृद्ध राक्षस ! जा भाग यहाँ से । मैं तुझ निहत्थे को मारना नहीं चाहता ।' हनुमान के वचन वज्रोदर राक्षस मे सहन नहीं हुए । वह क्रोधपूर्वक आगे बढा और बोला - "ए निर्लज्ज पापी ! मुँह सम्हाल कर बोल । मैं अभी तेरा गर्व एव जीवन समाप्त किये देता हूँ ।" वज्रादर क असह्य वचनों का उत्तर हनुमान ने अस्त्र-प्रहार से दिया । दोनों वीरा म भीषण बाण वर्षा हुई । युद्ध दृश्य दखने वाल देव कभी हनुमान के युद्धकौशल की प्रशसा करते आर कभी वज्रोदर की । वज्रोदर की प्रशसा हनुमान सहन नहीं कर सके । उन्होंने कुछ विचित्र अस्त्रा का एक साथ प्रहार कर के वज्रोदर को मार डाला ।

वज्रोदर के गिरते ही रावण का पुत्र जम्बूमाली आगे बढा और क्रोधपूर्ण कटुतम वचनो से गरजता तथा बाण चलाता हुआ आया । दोना महारथियो में बहुत समय तक भीषण युद्ध चलता रहा । अन्त में हनुमान के प्रबल प्रहार से जम्बूमाली का रथ घाडा और सारथी नष्ट हो गये और वह स्वय भी मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर गये । उसके गिरते ही महोदर नाम का राक्षस आगे आया । उसके साथ अन्य राक्षस भी झपटे । हनुमान ने सभी पर प्रहार कर के घायल कर दिये । उसी समय मारुती नाम का राक्षस वीर भी हनुमान पर प्रहार करता हुआ आगे बढा । किन्तु उन सभी आक्रामको को, महापराक्रमी हनुमान ने धराशायी कर दिया ।

कुंभकर्ण का मूर्च्छित होना- -

राक्षसी-सेना की दुर्दशा देख कुभकर्ण स्वय युद्ध करने आया । उस प्रचण्ड योद्धा ने वेगपूर्वक चलते हुए किसी को मुक्के से, किसी को ठोकर से, किसी को धक्के से और किसी को चपेटा मार कर गिराते हुए, पाँवो से रोदते और बहुतो को मुद्गर त्रिशूल आदि से मारते हुए, कई वानरों के प्राण ले लिए । कुभकर्ण के आन्तक से वानर-सेना घबडान लगी । कुभकर्ण के आन्तक को रोकने के लिए वानरपति सुग्रीव उपस्थित हुआ । साथ ही भामण्डल, दधिमुख महेन्द्र कुमुद अगद आदि कई वीर आये और एक साथ अस्त्र-वर्षा करके कुभकर्ण की गति रोक दी । कुभकर्ण ने उस समय प्रस्वापन नामक अस्त्र फेंका । उस अस्त्र के प्रभाव से वानर-सेना निद्राधीन हो गई । सुग्रीव ने अपनी सेना को निद्रामग्न देख कर प्रबोधिनी महाविद्या का स्मरण किया । उसके प्रभाव से सुप्त-सेना पुन जागृत होकर युद्धरत हो गई । सुग्रीव ने भी भीषण प्रहार कर कुभकर्ण के सारथी, घोडे और रथ को नष्ट कर दिया । अब कुभकर्ण हाथ म मुद्गर ले कर सुग्रीव पर दौडा । उसकी दौड की झपट में आ कर कई मनुष्य गिर गए और पैरो से कुचल कर मर गए । उसने जाते ही सुग्रीव के रथ को चूर्ण कर डाला । सुग्रीव उसी समय आकाश मे उडा और एक भारी शिला उठा कर कुभकर्ण पर फेकी । कुभकर्ण ने उस शिला पर मुद्गर मार कर टुकडे-टुकडे कर दिये । इसके बाद सुग्रीव ने विद्युत् दडास्त्र का प्रहार कर कुभकर्ण को भूमि पर गिरा दिया । कुभकर्ण मूर्च्छित हा गया ।

इन्द्रजीत और मेघवाहन का अतुल पराक्रम

कुभकर्ण के मूर्च्छित होत ही रावण का क्रोध भडका । वह स्वय आगे बढने लगा तब उसके पुत्र इन्द्रजीत ने आगे बढ कर निवेदन किया -

"पिताजी ! इन मामूली वानरा के लिए आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है । मैं स्वय उन्ह यमधाम पहुँचा दूँगा ।"

इन्द्रजीत अपना पराक्रम बताता हुआ वानरसेना म घुसा । उसक पहुँचते ही भय क मारे वानर लोग भाग कर इधर-उधर छिपने लगे । वानरो को भागते देख कर इन्द्रजीत बोला -

"ओ, वीर वानरो ! अब भागते क्यो हो ? खडे रहो । मैं युद्ध नहीं करने वाले को नहीं मारता। मैं विश्वविजेता सम्राट रावण का पुत्र हूँ । मैं कायरो से नहीं, वीरो से लडने वाला हूँ । कहाँ है - वह घमण्डी सुग्रीव और हनुमान ? कहाँ है वे राम और लक्ष्मण ?"

इन्द्रजीत की गर्वोक्ति सुनते ही वानरपति सुग्रीव नरेश आगे आये और इन्द्रजीत को ललकारा। उधर भामण्डल ने इन्द्रजीत के छोटे भाई मेघवाहन के साथ युद्ध ठाना । इन योद्धाओ के परस्पर आस्फालन तथा आघात-प्रत्याघातादि से पृथ्वी कम्पित होने लगी, पर्वत डोलने लगे और समुद्र क्षुभित हो गया । उनके अस्त्र-प्रहार निरन्तर होने लगे । उन्होने लोहास्त्रो और देवाधिष्ठित अस्त्रों से चिरकाल युद्ध किया किन्तु इससे किसी को भी विजयश्री प्राप्त नहीं हुई । शत्रु को अजेय देख कर इन्द्रजीत और मेघवाहन ने क्रोधपूर्वक भामण्डल और सुग्रीव पर नागपाशास्त्र फेका जिससे दोनो वीर दृढ़ता पूर्वक बन्ध गए । उधर मूर्च्छित कुभकर्ण भी सावधान हो गया था । उसने हनुमान पर गदा का भीषण प्रहार किया जिससे हनुमान मूर्च्छित हो गए । कुभकर्ण, मूर्च्छित हनुमान को अपने बगल में दबा कर युद्धभूमि से निकलने लगा । इन वीरा का शत्रु द्वारा बद्ध देख कर विभीषण चिन्तित हुआ । उसने रामभद्रजी से कहा -

"स्वामिन् ! हमारी सेना में ये सुग्रीव और भामण्डल महाबलवान् और प्रबल सेनापति हैं । इन्हें बन्धन-मुक्त करवाना अति आवश्यक है । शत्रु इन्हें लका में ले जा कर बन्दी बनाना चाहता है । आप मुझे आज्ञा दीजिए । मैं अभी इन्हें छुडा लाता हूँ । तथा कुभकर्ण से हनुमान को भी छुड़ाना है । इन वीरा के बिना हमारी सेना, वीरविहीन हो जायगी । मुझे अविलम्ब आज्ञा दीजिए ।"

विभीषण इस प्रकार आज्ञा प्राप्त कर रहा था कि दूसरी ओर रणकुशल वीर अगद, कुभकर्ण पर झपटा । अगद को अपने पर आक्रामक देख कर, कुभकर्ण उधर मुडा । उसके हाथ उठते ही हनुमान मुक्त हो गए और उछल कर निकल गए । उधर विभीषण रथारूढ हो कर इन्द्रजीत और मेघवाहन की ओर दौडे । पूज्य काका को अपनी ओर आता हुआ देख कर दोनो भाइयों ने सोचा - "काकाजी, पिताजी के समान हैं । इनके साथ युद्ध करना उचित नहीं । सुग्रीव और भामण्डल, नागपाश मे जकड़े हुए मर जाएगे" - इस प्रकार साच कर और उन बदियों को वहीं डाल कर वे अपने शिविर की ओर चल दिये । विभीषण सुग्रीव और भामण्डल के निकट पहुँच कर रूक गए । राम-लक्ष्मण भी वहाँ पहुँचे । वे चिन्तापूर्वक दोनों मूर्च्छित वीरा को देखने लगे और उन्हें नागपाश से मुक्त करने का उपाय सोचने लगे ।

रामभद्रजी को उपाय सूझा । उन्होंने अपने पूर्वपरिचित महालोचन नाम के सुवर्णकुमार जाति के देव का स्मरण किया । इस देव ने पहले रामभद्रजी को वरदान दिया था । स्मरण करते ही देव का आसन कम्पित हुआ । उसने ज्ञान द्वारा वृत्तात जान कर तत्काल युद्धस्थल पर आया । देव ने रामभद्रजी को सिहनिनादा नामक विद्या मूसल हल और रथ दिया तथा लक्ष्मणजी को गारुड़ी विद्या, विद्युद्वदना

दा तथा रथ दिया । इसके सिवाय दोनो बन्धुओ को वारुण, आग्नेय और वायव्यादि दिव्यास्त्र तथा दो त्र भी दिये । इसके बाद लक्ष्मणजी, सुग्रीव और भामण्डल के समीप आये । लक्ष्मणजी के आते ही सके वाहनरूप गरुड को देख कर, सुग्रीव और भामण्डल को बाधे हुए नागपाश के भयकर सर्प, उन्हे छोड कर भाग गए और दोनों वीर मुक्त हो गए । रामदल ने प्रसन्नता पूर्वक जयजयकार किया । सध्या हो जाने से युद्ध स्थगित हो गया ।

कुंभकर्ण इन्द्रजीत आदि बन्दी हुए

तीसरे दिन दोनो पक्ष की सेनाएँ अपने सम्पूर्ण बल से युद्ध के लिए आ-डटी । भयकर युद्ध प्रारम्भ हो गया । दोनो ओर की सनाएँ एक-दूसरे को सर्वथा मिटाने देने के लिए, पूरे जोर से जूझने लगी । जैसे प्रलयकाल उपस्थित हुआ हो । मनुष्य, मनुष्य का ही विनाशक बन गया । मध्यान्ह काल होते राक्षसी-सेना ने वानर-सेना को विचलित कर दिया । अपनी सेना को भग्नप्राय देख कर, सुग्रीव आदि वीर - योद्धाओं ने राक्षसी-सेना पर भीषण प्रहार किया और उसमें घुस कर सहारक पराक्रम किया । जिससे राक्षसी सेना टूट गई । राक्षसा का पराभव देख कर रावण ने क्रोधपूर्वक अपना रथ आगे बढाया । रावण के आगे बढते ही वानर-सेना अपने-आप पीछे हट कर उसका मार्ग खुला करने लगी । इस प्रकार रावण के प्रभाव से पराभूत सेना का मानस देख कर, रामभद्रजी स्वय रावण से युद्ध करने के लिए आगे बढने लगे । किन्तु विभीषण ने उन्हे रोका और स्वय रावण का निरोध करने के लिए उसके सामने आया । विभीषण को अपने सामने देख कर रावण बोला,-

"विभीषण ! तू मूर्खता मत कर । राम बडा धूर्त है । उसने सिह जैसे मुझ से अपने प्राण बचाने के लिए तुझे आगे कर दिया और वह छिप गया । भाई ! मेरे ह्रदय में तेरे प्रति वही प्रेम है । तू यहाँ से हट जा । मैं आज राम-लक्ष्मण का सेना सहित मार डालूगा । तू प्रसन्नतापूर्वक यहाँ से हट कर अपने घर चला जा । मैं तुझ पर वैसी ही कृपा रखता हूँ । जा, चला जा और राम-लक्ष्मण को आने दे - मेरे सामने ।"

"आप अज्ञान तथा भ्रम म ही भूल रहे हैं - भ्रातृवर ! राम स्वय आपके लिए यमराज बन कर आ रहे थे । किन्तु मैने ही उन्हे रोका है - आपको एक बार फिर समझाने के लिए । यह मेरी अन्तिम विनति है । आपसे कि आप सीता को लौटा कर अपने कुल-विनाश तथा मानव-सहार का रोक दें । आप विश्वास रखें कि मैं न तो राज्य के लोभ से आपके शत्रु पक्ष में मिला हूँ और न आपसे भयभीत होकर ही । मैं मात्र आपकी कलकित नीति कुल को दाग लगाने वाले पापाचार तथा इसका विनाशक परिणाम देखकर न्याय-पक्ष में आया हू । यदि आप अब भी भूल सुधार लेंगे तो मैं राम-पक्ष से निकल कर आपकी सेवा में आ जाऊँगा । आप अब भी समझें । शासक ही न्याय नीति एव सदाचार का निर्वाह नहीं करे, तो कौन करेगा ? सदाचार का त्याग करन वाला शासक तो अराजकता फैलाता है ।"

"अरे कायर ! भ्रष्ट-मति ! तू अब भी मुझे डराता है ? मैने तो भ्रातृ-प्रेम से समझाया और भ्रातृ-हत्या के पाप से बचने के लिए तुझ-से दो शब्द कहे । किन्तु तू अपनी कुबुद्धि नहीं छोड़ता, तो भुगत अपनी करणी का फल ।"

रावण ने धनुष चढा कर टँकार किया । विभीषण भी धनुष पर टँकार करके युद्ध करने को तत्पर हो गया । दोनों भाई विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र से युद्ध करने लगे । इस युद्ध मे इन्द्रजीत कुभकर्ण आदि राक्षस रावण के पक्ष मे युद्ध करने को आये । कुभकर्ण का सामना राम ने और इन्द्रजीत का लक्ष्मण ने किया । रावण की ओर के सिहजघन से युद्ध करने, रामपक्ष के वीर नल, घटोदर के सामने दुर्मुख, दुर्मति के विरुद्ध स्वयभू, शभु के विरुद्ध नील मय राक्षस के विरुद्ध अगद चन्द्रनख के विरुद्ध स्कन्द विघ्न के सामने चन्द्रोदर का पुत्र केतु के सामने भामण्डल, जबूमाली के विरुद्ध श्रीदत्त कुभकर्ण के पुत्र कुभ के विरुद्ध हनुमान सुमाली के विरुद्ध सुग्रीव, धुम्राक्ष के विरुद्ध कुन्द और सारण राक्षस के सामने बाली का पुत्र चन्द्ररश्मि । इस प्रकार अन्य राक्षसो के सामने रामपक्ष के वीर सन्नद्ध हो कर लड़ने लगे । युद्ध उग्र से उग्रतम हो गया और नर-सहार का भयकरतम दौर चलने लगा । सभी के मन मे क्रोधानल भयकर रूप से जलने लगा । इन्द्रजीत ने लक्ष्मण को मारने के लिए तामस अस्त्र का प्रहार किया, किन्तु लक्ष्मण भी सावधान थे । शत्रु को तामस अस्त्र साधते देख कर लक्ष्मणजी ने पवनास्त्र सम्हाला और उसी सीध में छोडा, जिसके प्रभाव से तामसास्त्र मध्य मे ही गल कर नष्ट हो गया । तत्पश्चात् ही लक्ष्मणजी ने क्रोधपूर्वक इन्द्रजीत पर नाग-पाश फेंका । इससे इन्द्रजीत बध कर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा । इन्द्रजीत के गिरते ही, लक्ष्मण के आदेश से विराध ने इन्द्रजीत को उठा कर अपने रथ में डाला और अपने शिविर मे ले गया । उधर राम ने कुभकर्ण को नाग-पाश मे बाध लिया और उसे भामण्डल अपने रथ मे डाल कर शिविर मे ले गया । रावण के मेघवाहन आदि योद्धाओ को भी राम पक्ष के योद्धागण बन्दी बना कर अपने सैनिक - शिविर में ले गए ।

लक्ष्मणजी मूर्च्छित

अपने पुत्र और बान्धव आदि को शत्रु द्वारा बन्दी बनाने की घटना, रावण का शोक के साथ क्रोध बढाने वाली हुई । वह स्वय विकराल बन गया । उसने त्रिशूल उठाया और बलपूर्वक विभीषण पर फेंका । रावण को त्रिशूल चलाते देख कर लक्ष्मण ने अपने अचूक बाण से आकाश-मार्ग मे ही त्रिशूल के टुकडे-टुकडे कर डाले । अपने त्रिशूल को व्यर्थ एव नष्ट देख कर रावण क्रोधावेश में उद्विग्न हो गया । उसने धरणेन्द्र द्वारा प्रदत्त 'अमोघविजया' नामक शक्ति सम्हाली और उसे चक्र के समान घुमाने लगा । शक्ति से ज्वालाएँ निकलने लगी । तड़-तड़ करती हुई विद्युत्-तरगे छूटने लगी । उसके प्रभाव से सैनिक अभिभूत हो कर इधर-उधर हो गए । उनके नेत्र बन्द हो गए । उनकी अस्वस्थता बढ़ गई । यह स्थिति देख कर राम ने लक्ष्मण से कहा -

"भाई ! रावण जिस शक्ति का प्रहार करने को उद्यत है उससे यदि अपना अभ्यागत विभीषण मारा गया, तो यह हमारे लिए कलक की बात होगी । अपन आश्रित को मरवाने वाले कहलाएँगे । इसको बचाना चाहिए ।"

राम का अभिप्राय समझ कर लक्ष्मण शीघ्र ही गरुडवाहन पर सवार हो कर विभीषण के आगे, रावण के समुख खडे हो गए । लक्ष्मण को आगे आया दख कर रावण बोला,-

"अरे लक्ष्मण ! तू क्या सामने आया ? मैने यह शक्ति तेरे लिए नहीं, उस भातृद्रोही वशोच्छेदक विभीषण के लिए उठाई है । वैसे तू भी मरा शत्रु है । यदि तू मरेगा तो भी मुझे लाभ ही होगा । अच्छा, ले और पहुँच जा मृत्यु के मुह म ।"

इस प्रकार आक्रोशपूर्वक बोलते हुए रावण ने शक्ति को बलपूर्वक घुमा कर लक्ष्मण पर फेंकी । इधर सुग्रीव, हनुमान, नल, भ्रामण्डल और विराध आदि वीरो ने उस शक्ति को मध्य में ही नष्ट करने के लिए अपने-अपने अस्त्रा से प्रहार किया, किन्तु उस शक्ति पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ और वह सीधी जा कर लक्ष्मण के वक्षस्थल पर लगी । शक्ति के वज्राघात से लक्ष्मणजी मूर्च्छित हो कर गिर पडे । उनके गिरते ही राम-सेना में हाहाकार मच गया । भाई के मूर्च्छित होते ही रामभद्रजी का कोपानल भडका । वे स्वय रावण पर झपटे और तीव्र प्रहार से रावण का रथ, सारथि और घोडे का चकनाचूर कर दिया । रावण तत्काल दूसरे रथ पर सवार हो कर आया, किन्तु उसकी भी वही दशा हुई। इसी प्रकार रावण के पाँच रथ, सारथि और घोडे नष्ट हो गए । रावण ने सोचा -

"अभी युद्ध स्थल से हट जाना चाहिये । लक्ष्मण की मृत्यु, राम को भी मार देगी । राम, लक्ष्मण का विरह सहन नहीं कर सकेगा । अभी राम, क्रोध से प्रचण्ड बन रहा है । शोक का प्रभाव होते ही क्रोध उतर जायगा ।"

रामभद्रजी हताश

रावण युद्ध-भूमि से निकल कर लका में चला गया । रावण के चले जाने पर रामभद्रजी, लक्ष्मणजी के पास पहुँचे । लक्ष्मणजी को अचेत देख कर वे स्वय धसक कर गिर पडे और अचेत हो गए । सुग्रीव आदि ने शीतल जल आदि से रामभद्रजी को सावधान किया । सावधान होते ही रामभद्रजी लक्ष्मणजी को मूर्च्छित देख विलाप करने लगे । बहुत देर तक विलाप करने के बाद उनका ध्यान, लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार करने वाले रावण की ओर गया और वे धनुप-बाण उठा कर रावण को समाप्त करने के लिए जाने लगे, तब सुग्रीव ने विनयपूर्वक कहा -

"स्वामिन् ! रुकिये, रावण निशाचर है । वह लका में चला गया है । रात्रि के समय उसे पाना कठिन है । सर्वप्रथम हम लक्ष्मणजी को सावधान करना है । रावण कहीं जाने वाला नहीं है । आज नहीं तो कल । अब उसका समय बहुत निकट आ गया है ।"

"बन्धुओ ! मैने आप सब को कष्ट दिया । आप सभी ने हमारा साथ दिया । किन्तु दैव विपरीत है । पत्नी का हरण हुआ भाई का वध हुआ, अब किस भरोसे आप सब को युद्ध में घ, अब मैं भी शीघ्र ही भाई के रास्ते जाने वाला हूँ । आप सब अपने अपने स्थान पर जाइये" ने सुग्रीव, अगद, हनुमान, भामण्डल आदि को सबोध कर कहा । विशेष म विभीषण स कह "बन्धु! मुझे सब से अधिक दु ख इस बात का है कि मैं तुम्हारा लकेश्वर का अभिषेक करने अपना वचन पूरा नहीं कर सका । दुर्भाग्य ने मुझे विफल कर दिया । किन्तु मैं कल प्रात काल ही रा को लक्ष्मण के मार्ग पर भेज कर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर दूँगा और उसके बाद मैं भी उस मार्ग चला जाऊँगा । बिना लक्ष्मण के मुझे अपना जीवन और सीता भी दु खरूप लगेंगे" - रामभद्रजी अ हो कर बोले ।

- "महाभाव ! धीरज रखिये । शक्ति से बाधित व्यक्ति रात्रिपर्यन्त जीवित रहता है । अभी रात्रि शेष है । इसी बीच, यन्त्र-मन्त्रादि उपचार हो सकते हैं । हम अन्य सभी विचार छोड़ कर लक्ष्मणजी को सावधान करने का यत्न करना चाहिए" - विभीषण ने कहा ।

विभीषण की बात सभी को स्वीकार हुई । सुग्रीव आदि न विद्याबल स एक प्रासाद बना प्रासाद मे राम और लक्ष्मण को रखा । प्रासाद के सात परकोटे बनाये । प्रत्येक परकोट का चा दिशाओं म चार द्वार बनाये । पूर्व के द्वार पर अनुक्रम से - सुग्रीव हनुमान तार कुन्द, दधिमुख, ग और गवय रहे । उत्तरदिशा के द्वार पर अगद कुर्म, अग, महेन्द्र, विहगम, सुषेण और चन्द्ररश्मि रहे पश्चिम द्वार पर - नील, समरशील दुर्धर, मन्मथ, जय, विजय और सम्भव रहे और दक्षिण के द्वार पर भामण्डल, विराध गज, भुवनजीत, नल, मैंद और विभीषण रहे और पहरा देने लगे ।

लक्ष्मण के शक्ति लगने और रामभद्र के जीवन-निरपेक्ष होने के समाचार सीताजी ने सुने, उन्हें भी आघात लगा । वे भी मूर्च्छित हो गई । मूर्च्छा हटने पर वह विलाप करने लगी । सीताजी का रुदन, एक विद्याधर-महिला से नहीं देखा गया । उसने अवलोकिनी विद्या से देख कर कहा -

"देवी ! तुम्हारे देवर लक्ष्मणजी, प्रात काल स्वस्थ हो जावेंगे और अपने ज्येष्ठबन्धु रामभद्र सहित यहाँ आ कर तुम्हें आनन्दित करेंगे ।"

उपरोक्त भविष्यवाणी सुन कर सीता स्वस्थ हुई और प्रात काल की प्रतीक्षा करने लगी ।

उधर, रावण कभी प्रसन्न, तो कभी शोकाकुल होने लगा । लक्ष्मण की मृत्यु और उससे राम की भी होने वाली मृत्यु तथा युद्ध समाप्ति की कल्पना कर के रावण प्रसन्न होता, किन्तु जब कुंभकर्ण, से सहोदर और इन्द्रजीत मेघवाहन आदि पुत्रों जम्बुमाली आदि वीरों को शत्रु के बन्दी होने का स्मरण आता, तो शोक-मग्न हो जाता और रुदन करने लगता ।

विशल्या के स्नानोदक का प्रभाव

राम-प्रासाद के प्रथम परकोट के दक्षिण द्वार के रक्षक भामण्डल के पास एक विद्याधर आया और कहने लगा –

"यदि आप राम-लक्ष्मण के हितचिन्तक हैं, तो मुझे अभी राम के पास ले चलिए । मैं लक्ष्मण के जीवन का उपाय बताऊँगा ।"

भामण्डल उस विद्याधर को ले कर राम के पास आये । विद्याधर ने प्रणाम कर के कहा –

"स्वामी ! मैं सगीतपुर नरेश शशिमण्डल का पुत्र हूँ । मेरा नाम प्रतिचन्द्र है । एक बार मैं अपनी स्त्री के साथ आकाश-मार्ग से जा रहा था् कि सहस्रविजय विद्याधर ने हमें देखा । वह मेरी पत्नी पर आसक्त हो गया था । उसने उसे प्राप्त करने के लिए मुझसे युद्ध किया । युद्ध चिरकाल चलता रहा । अन्त में सहस्रविजय ने चण्डरवा शक्ति मार कर मुझे गिरा दिया । मैं अयोध्या नगरी के माहेन्द्रोदय उद्यान मे पडा-पडा तडप रहा था कि आपके बन्धु श्री भरत जी ने मुझे देखा । उन्होने मुझ पर तत्काल सुगन्धी जल का सिचन किया । जल-स्पर्श होते ही शक्ति मेरे शरीर से निकल कर अदृश्य हो गई । और मेरे शरीर का घाव भी भर गया । मैं स्वस्थ हो गया । मैने अपने उपकारी श्री भरतजी से उस जल की विशेषता पूछी तब उन्होने कहा –

"गजपुरी का 'विन्ध्य' नाम का सार्थवाह यहाँ आया था । उसके साथ एक भैंसा था । अत्यत भार से वह भग्न हो कर वहीं गिर पडा । नागरिकजन उसके मस्तक पर पाँव रख कर जाने-आने लगे । उपद्रव से पीडित हो कर भैंसा मर गया और अकाम-निर्जरा से पवनपुत्रक नाम का वायुकुमार देव हुआ । अपनी कष्टप्रद मृत्यु से क्रोधित हो, उसने नगर मे विविध प्रकार के रोग उत्पन्न किये । द्रोणमेघ नामक राजा, मेरे मामा हैं और मेरी ही राज्य मे रहते हैं । किन्तु उनकी जागीर की सीमा में किसी को भी कोई रोग नहीं हुआ । जब मुझे ज्ञात हुआ, तो मैने उनसे इसका कारण पूछा । उन्होने कहा ;–

"मेरी रानी, व्याधि से अत्यन्त पीडित रहती । किन्तु गर्भवती होने के बाद वह नीरोग हो गई । उसक गर्भ से पुत्री का जन्म हुआ । 'विशल्या' उसका नाम है । जब रोग सर्वत्र व्याप्त हो रहा था, तो मैने विशल्या के स्नान-जल का रोगियो पर सिचन किया । जल का सिचन होते ही व्याधि नष्ट हो गई और सभी जन स्वस्थ हो गए । कालान्तर में सत्यभूति नाम के चारण-मुनि पधारे । मैंने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा – "पूर्वभव के तप के फलस्वरूप विशल्या में यह विशेषता प्रकट हुई है। इस जल से व्रण का सरोहण, शल्योद्धार और व्याधियाँ नष्ट होती हैं ।" उन्हाने यह भी कहा था कि – "इस बालिका के पति लक्ष्मणजी होंगे ।"

"उपरोक्त घटना सुना कर द्रोणमघ मामा ने मुझे विशल्या के स्नान का जल दिया । उसके
स नागरिकजन स्वस्थ हो गए और उसी जल से मैने तुम्ह स्वस्थ किया है ।"

"स्वामिन् ! यह मेरे और आपके भाई के अनुभव की बात है । आप उस जल का प्राप्त
सिचन करेंगे, तो अवश्य लाभ होगा ।"

उपरोक्त बात सुनकर रामभद्रजी ने विशल्या के स्नान का जल लाने के लिए भामण्डल हनु
और अगद को आज्ञा दी । वे तत्काल विमान ले कर उडे और अयोध्या पहुँचे । भरत नरेश निद्रा
थे । उन्होने आकाश में रह कर गान करना प्रारम्भ किया । गान सुनते ही भरतजी जागृत हुए । भरत
ने जब सभी बात जानी, तो वे उसी समय उनके साथ हो गए और कौतुकमगल नगर पहुँचे ।
नरेश ने अपने मामा से विशल्या की याचना की । द्रोणमेघ ने अन्य एक हजार कन्याओं के
विशल्या को प्रदान की । वे उसी समय उन्हें ले कर चले और भरतजी को अयोध्या में छोड
रामभद्रजी के पास पहुँचे । विमान म प्रकाश हो रहा था । विमान प्रकाश सूर्योदय का आभास करा
था । दूर से प्रकाश देख कर रामभद्रजी घबडाने लगे कि - 'सूर्योदय' हो गया, किन्तु स्नानजल
तक नहीं आया । उन्ह लक्ष्मणजी के जीवन की आशा टूटने लगी । इतने मे विमान आ पहुँचा
विशल्या ने लक्ष्मण का स्पर्श किया । उसका स्पर्श होते ही शक्ति शरीर से निकल कर जाने लगी
हनुमान ने जाती हुई शक्ति को पकड लिया । शक्ति बोली,-

" मैं तो देवरूपी हूँ और प्रज्ञप्ति-विद्या की बहिन हूँ । मेरा कोई दोष नहीं । धरणेन्द्र ने
रावण को दी थी । मैं विशल्या के तप-तेज को सहन नहीं कर सकती, इसलिए जा रही हूँ । मुझे
दीजिए ।"

हनुमान ने उसे छोड दिया और वह अन्तर्धान हो गई । राजकुमारी विशल्या ने फिर लक्ष्मण
स्पर्श किया और गोशीर्ष चन्दन का लेप किया जिससे लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गए और नींद में स
हो वैसे उठ बैठे । लक्ष्मणजी को स्वस्थ देख कर राम अत्यन्त प्रसन्न हुए और भाई को छाती स
कर भुजाओं से बाँध लिया । सारे शिविर में मगलवाद्य बजने लगे । उत्सव मनाया जाने लगा और
विशल्या तथा अन्य कुमारिया के साथ लक्ष्मण के लग्न हुए । विशल्या के स्नान-जल से अन्य घा
सैनिकों को भी लाभ हुआ ।

रावण की चिन्ता

लक्ष्मण के जीवित होने क समाचारा ने रावण को चिन्ता-सागर म डाल दिया । उसने पर
करने के लिए अपने मन्त्रि-मण्डल को बुलाया । परिषद् के सामने युद्धजन्य परिस्थिति का वर्णन क
हुए रावण ने कहा--

"मेरा विश्वास था कि शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण मर जायगा और लक्ष्मण क मरन पर राम भी मरेगा ही । क्योकि दोनो भाइयो मे स्नेह अत्यधिक है । इन दोनों के मरने पर युद्ध का अन्त आ जायगा। इससे कुभकर्ण आदि भी छूट जायेंगे किन्तु बात उलटी बनी । लक्ष्मण जीवित है और स्वस्थ है । मेरी योजना सर्वथा निष्फल हुई । अब क्या करना और कुभकण आदि को कैसे छुडाना । इसी विचार के लिए आप सब को बुलाया है । आपकी दृष्टि मे उचित मार्ग कौनसा है ।"

- "स्वामिन् ! हमारी दृष्टि म सीता की मुक्ति ही सब से सरल और उत्तम उपाय है । सीता को मुक्त करते ही युद्ध समाप्त हो जायेगा और सभी बन्दी छूट जावेंगे । हमारी दृष्टि में इसके सिवाय अन्य मार्ग नहीं आता । यदि यह मार्ग नहीं अपनाया गया तो सर्वनाश भी हो सकता है । दैव अपने अनुकूल नहीं लगता । इसलिए राम को प्रसन्न करना ही एक-मात्र उपाय है" - मन्त्रियो ने एकमत हो कर कहा।

रावण के सन्धि-सन्देश को राम ने ठुकराया

मन्त्री-मण्डल का परामर्श रावण को नहीं भाया । उसका दुर्भाग्य अभिमान के रूप में खडा हो कर, उसको सन्मार्ग पर नहीं आने देता था । उसने मन्त्रिया के सत्परामर्श की अवगणना की और दूत को बुलाकर राम-लक्ष्मण को समझाने के लिये भेजा दूत राम-लक्ष्मण के सैनिक-शिविर में आया । उस समय भ्रातृद्वय सुग्रीवादि वीरो के साथ युद्ध सम्बन्धी विचार-विनिमय कर रहे थे । दूत ने रामभद्रजी को प्रणाम किया और विनयपूर्वक निवेदन किया,-

"मेरे स्वामी ने कहलाया है कि आप मेरे बन्धु आदि को मुक्त कर द और सीता की माँग छाड दें, तो आपको अपना आधा राज्य और तीन हजार कुमारिय दी जायगी । आप बहुत लाभ में रहेग । यदि आपने हमारी इतनी उदारता की भी उपेक्षा की, तो फिर आप या आपकी सेना में से कोई भी नहीं बच सकेगा ।"

- "न तो मुझे राज्य का लोभ और न राजकुमारिया के साथ भोग की कामना है । यदि रावण, सीता को सम्मान के साथ ला कर हमारे अर्पण करेगा तो मैं सभी बन्दियों को छोड दूँगा और युद्ध का भी अन्त आ जायगा । समझौते का एकमात्र यही उपाय है । इसके सिवाय सभी बातें व्यर्थ है" - रामभद्रजी ने अपना निर्णय सुनाया ।

-"जरा गभीरता पूर्वक विचार कीजिए । एक स्त्री के लिए इतना भयानक एव विनाशकारी युद्ध छेडना बुद्धिमानी नहीं है जबकि आपको एक के बदले तीन हजार सुन्दर राजकुमारियाँ और आधा राज्य मिल रहा है । ऐसा लाभ-दायक सौदा तो विजेता को ही मिलता है जबकि आपकी विजय की कुछ भी आशा नहीं है । आप यह मत सोचिये कि एक बार जीवित रहे लक्ष्मण फिर भी जीवित रह

सकेंग । मरे स्वामी दशाननजी अकेले ही आप सब को समाप्त करने में समर्थ हैं । यह सन्द॰ केवल सद्भावनावश भेजा है सो आपका स्वीकार कर लेना चाहिए ।"

"रे अधम ! तेरा स्वामी किस भम में भूल रहा है । उसे अपनी शक्ति का बडा घमण्ड है उसकी आँखे अब भी नहीं खुली - जब कि उसका परिवार, सामन्त और योद्धागणों में स बहुत- युद्ध म खप गए और बहुत-से वन्दी हो गए । अब उसक पास स्त्रियें ही रही है, जिन्हें दे कर वह यु क विनाशक परिणामा से बचना चाहता है ।"

"हे दूत ! पुत्रों की माँग तो ससार में होती है किन्तु पत्नी-माँग ता तेरे दुराचारी स्वामी जैसा कर सकता है । फिर भी वह तो चोर है । अब विना शाखा-प्रशाखा के बचे हुए उस ठूँठ स कह यदि उसमें अपनी शक्ति का घमण्ड है, तो शीघ्र ही रणभूमि म आ जाय । मेरी भुजाएँ उसका गर्व करने को उद्यत है" - लक्ष्मणजी ने आवेशपूर्वक कहा ।

विजय के लिए रावण की विद्या-साधना

दूत ने रावण को प्रति-सन्देश सुनाया । रावण न फिर मन्त्रियों से पूछा किन्तु सीता के प्रत्यर्पण का परामर्श रावण को नहीं भाया । वह एकान्त मे चिन्तासागर में डूबने-उतरने लगा । अन्त में उसने 'बहुरूपा' नामक विद्या साध कर फिर युद्ध करने का निश्चय किया । वह पूरी तैयारी करक विद्या का साधना में लग गया । यह बात भेदियो द्वारा सुग्रीव को मालूम हुई । सुग्रीव ने रामभद्रजी स निवेदन किया कि - "रावण विद्या साधना म लगा है । इसके पूर्व ही आप बहुरूपा विद्या साध लगे तो अच्छा रहेगा ।" सुग्रीव की बात सुन कर रामभद्रजी ने कहा - "रावण ध्यान करने में प्रवीण है, उसे छलना उचित नहीं ।" रामभद्रजी की बात सुन कर कुछ साथी निराश हुए । अगद आदि वीर, गुप्त रूप स चल कर रावण के साधनस्थल पर पहुँचे और उसे विविध प्रकार के उपसर्ग करने लगे । किन्तु रावण विचलित नहीं हुआ । उसकी अडिगता देख कर अगद ने कहा -

"हे रावण ! राम से भयभीत हो कर तेने यह पाखण्ड खड़ा किया है । इसस क्या होगा ? तेने तो महासती सीता का चोरी-छुप हरण किया किन्तु देख मैं तेरे सामने ही तेरी महारानी मन्दोदरी का हरण करता हूँ । यदि साहस हो तो रोक मुझे ।"

इस प्रकार कह कर उसने विद्या से मन्दोदरी का रूप बनाया और चोटी पकड कर घसीटने लगा । मन्दोदरी चिल्लाने लगी - "नाथ ! मुझे बचाओ । यह अगद पापी मुझे अन्त पुर से पकड लाया और घसीट कर ले जा रहा है । छुडाओ, स्वामी ! इस पापी से मुझे ।" किन्तु रावण अडिग ही रहा । अगद को निष्फल लौटना पडा । रावण की धीरता और एकाग्रता स विद्यादेवी प्रकट हुई । उसने रावण से

हा - "मैं उपस्थित हूँ । बोल, क्या चाहता है ?" रावण ने कहा - "जिस समय मैं तेरा स्मरण करूँ, स समय तू उपस्थित हो कर मेरा कार्य करना ।" विद्या अन्तर्धान हा गई ।

काम के स्थान पर अहंकार आया

साधनागृह से चल कर रावण स्वस्थान आया और भोजनादि से निवृत्त हो कर देवरमंण उद्यान म ीता के पास आ कर कहने लगा -

"सुन्दरी ! मैंने बहुत लम्बे समय स तेर हृदय परिवर्तन की प्रतीक्षा की । अब अन्तिम बार पुन हता हूँ कि तू मान जा । अन्यथा तेरे पति और देवर को मार कर तुझे बलपूर्वक अपनी बना लूँगा और पना मनोरथ पूर्ण करूँगा । बोल तू अब भी मानती है या नहीं ?"

रावण के ऐसे विषमय वचना को सीता सहन नहीं कर सकी । वह तत्काल मूर्च्छित हो कर गिर ड़ी । सावधान होने पर सीता ने प्रतिज्ञा की, कि -

"यदि राम-लक्ष्मण का देहावसान हो जाय, तो उमी समय से मेरा आजीवन अनशन होगा ।"

सीता की प्रतिज्ञा सुन कर रावण निराश हो गया । उसने समझ लिया - "सीता की दृढता में कोई कमी नहीं आई । अब इसे अपनी बनाने की आशा रखना व्यर्थ है । इसे राम को सौंप देना ही उत्तम होगा । मैंने यह बडी भूल की कि भाई विभीषण का अपमान कर निकाल दिया मन्त्रियो का सत्परामर्श नहीं माना और प्रारम्भ में ही अनीति का मार्ग पकड कर कुल को कलकित किया । अब सीता को लौटा देना ही उचित है । परन्तु यो सामने ले जा कर अर्पण करना तो अपमानजक होगा । मेरी पराजय मानी जायगी । मैं युद्ध में राम-लक्ष्मण को जीत कर बन्दी बनालूँ और यहाँ लाऊँ और सीता उन्हे दे कर सद्भावना बना लूँ । ऐसा करने से मेरा अपवाद मिटेगा, नीति अक्षुण्ण रह जायगी और यश भी बढेगा । बस यही ठीक है ।" इस प्रकार सोच कर वह लौट आया और दूसरे दिन युद्ध के लिए तैयार हो कर चल निकला ।

अपशकुन और पुनः युद्ध

प्रस्थान करते हुए और मार्ग मे उसे अनेक प्रकार के अपशकुन हुए । किन्तु वह चला ही गया । दानों सेनाएँ प्राणपण से भिड गई । लक्ष्मणजी, अन्य सभी शत्रुओ को छोड कर रावण पर ही प्रहार करने लगे । लक्ष्मणजी के तीव्र-प्रहार से रावण आशकित हा गया । उसे अपनी विजय में अविश्वास हो गया । उसने बहुरूपा विद्या का स्मरण किया । विद्या उपस्थित हुई । विद्याबल से रावण न अपने महाभयकर अनेक रूप बनाये और सभी रूपा से विविध प्रकार के अस्त्रो स लक्ष्मण पर प्रहार किया

इन्द्रजीत आदि का पूर्व-भव

उस समय लका के बाहर कुसुमायुध उद्यान में अप्रमेयबल नाम के चार ज्ञानवाले मुनि पधारे। उन्हें वहाँ उसी रात्रि म केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवो ने उनके केवलज्ञान की महिमा की। प्रातःकाल राम-लक्ष्मण और कुभकर्ण आदि ने केवली भगवत को वन्दना की और धर्मोपदेश सुना। देशना पूर्ण होने पर इन्द्रजीत और मेघवाहन ने अपना पूर्वभव पूछा। भगवत ने बतलाया;-

"इसी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी मे तुम प्रथम और पश्चिम नाम के दो निर्धन भाई थे। तुम्हें उदरपूर्ति भी कठिन हो रही थी। भवदत्त अनगार के उपदेश से प्रव्रजित हो कर तुम दोनों साधु हुए। कालान्तर म तुम विचरते हुए कौशाम्बी आये। उस समय कौशाम्बी में वसन्तोत्सव हो रहा था। उस उत्सव में वहाँ क राजा को अपनी रानी के साथ क्रीडा करते देख कर पश्चिम मुनि विचलित हो गए और निदान कर लिया कि - "यदि मेरे तप-सयम का फल हो, तो मैं इसी राजा और रानी का पुत्र बनूँ।" इस निदान से अन्य साधुओ ने रोकने का प्रयत्न किया किन्तु वे नहीं माने। मृत्यु पा कर वे उसी राजा और रानी क रतिवर्द्धन नाम के पुत्र हुए और प्रथम नामक मुनि सयम का पालन कर पाँचवे देवलोक म ऋद्धि-सम्पन्न देव हुए। रतिवर्द्धन कुमार, अपनी रानियो के साथ क्रीडा करने लगे। जब प्रथम देव ने अपने भ्राता को भोगासक्त देखा तो प्रतिबोध देने के लिए साधु का वेश बना कर आया और अपना पूर्वभव का सम्बन्ध बता कर धर्म-साधना करने की प्रेरणा की। अपने पूर्व सम्बन्ध तथा साधना की बात सुन कर रतिवर्द्धन एकाग्र हो गया। अध्यवसायो की शुद्धि से उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने खुद ने अपना पूर्वभव देख लिया। उसकी जीवन-धारा ही पलट गई। वह सयमी बन गया और चारित्र का पालन कर उसी पाँचवे देवलोक में देव हुआ। वहाँ से तुम दोनों भाई च्यव कर महाविदेह क्षेत्र के विबुध नगर में उत्पन्न हुए। राजऋद्धि का त्याग कर, सयम पाल कर अच्युत स्वर्ग मे गए। वहाँ से च्यव कर तुम दोनो यहा रावण प्रतिवासुदेव के इन्द्रजीत और मेघवाहन नाम के पुत्र हुए और रतिवर्द्धन भव की माता रानी इन्दुमुखी तुम्हारी माता मन्दोदरी हुई।"

पूर्वभव सुन कर इन्द्रजीत मेघवाहन, कुभकर्ण और मन्दोदरी आदि ने ससार - त्याग कर चारित्र अगीकार किया।

सीता-मिलन

केवली भगवत को वन्दना-नमस्कार करके रामभद्रजी लक्ष्मणजी सुग्रीव आदि ने महोत्सव पूर्वक लका में प्रवेश किया। श्रीराम के सेवक क रूप में विभीषण आगे चल रहे थे। विद्याधर महिलाएँ मगल गीत गा रही थी। चलते-चलते पुष्पगिरि क उद्यान म पहुँचने पर सीता जी दिखा

दये । ज्योही रामभद्रजी की दृष्टि सीताजी पर पडी, उनके हर्ष का पार नहीं रहा । वे नव-जीवन पाये हों - ऐसा अनुभव करने लगे । उन्होने उसी समय सीताजी को अपने पास बिठाया । उपस्थित सभी गन्धर्वों ने आकाश मे और जन-समूह ने 'महासती सीताजी की जय'- जयघोष किया, हर्षनाद किया और अभिनन्दन करने लगे । लक्ष्मणजी ने सीताजी के चरणो में नमस्कार किया । सीताजी ने उन्हे आशीष दिया – '' चिरकाल जीवित रहो आनन्द करो और विजयी बनो '' और उनके मस्तक का आघ्राण किया । भामण्डल ने अपनी बहिन सीताजी को प्रणाम किया । सीता ने उन्हें शुभाशीष दे कर प्रसन्न किया । इसके बाद सुग्रीव, विभीषण, हनुमान अगद और अन्य वीरो ने अपना परिचय देते हुए सीताजी को प्रणाम किया । श्रीराम-लक्ष्मण के मिलन से सीताजी मे उत्पन्न हर्ष एव उल्लास से वे ऐसी दिखाई देने लगी जैसे चन्द्रमा के पूर्ण उदय होने पर कमलिनी विकसित हुई हो ।

विभीषण का राज्याभिषेक

इसके बाद श्रीरामभद्रजी, सीताजी के साथ रावण के भुवनालकार गजराज पर आरूढ हो कर सुग्रीवादि नरेशवृन्द के साथ उत्सवपूर्वक रावण के भव्य प्रसाद में आये । स्नान एव भोजनपानादि से निवृत्त हो कर राज्य-सभा जुडी, जिसमें राम-लक्ष्मण सुग्रीवादि के अतिरिक्त विभीषण तथा लका-राज्य के अधिकारी और सम्बन्धित राजा आदि भी सम्मिलित हुए । विभीषण ने खडे हो कर श्री रामभद्रजी से निवेदन किया,–

"स्वामिन् ! लका का विशाल साम्राज्य, यह अखूट भण्डार और समस्त ऋद्धि को स्वीकार कीजिये और आज्ञा दीजिये कि हम आपका विधिवत् राज्याभिषेक करें ।"

रामभद्रजी ने विभीषण को सम्बोधित करते हुए कहा,–

"महाभाव ! यह राज्य आपका है । मैंने पहले ही आपसे कहा था और अब भी यही कहना है कि इस राज्य पर आपका अभिषेक होगा । आप न्याय-नीति से राज्य करेंगे । आपके शासन मे राज्य और प्रजा सुखी एव समृद्ध रहेगी । जिन-जिन के अधिकार में जो जो राज्य हैं, वे यथावत् रहेंगे और सभी नीति एव धर्म को आदर्श रख कर राज्य का सचालन करेंगे ।"

इस प्रकार घोषणा करके विभीषण का हाथ पकड कर सिहासन पर बिठाया और राज्याभिषेक उत्सव मनाने की आज्ञा दी । तत्काल शुभ-मुहूर्त में विभीषण का राज्याभिषेक किया गया और राजतिलक तथा दान-सम्मान के बाद उत्सव पूर्ण किया । इसके पश्चात् रामभद्रजी की आज्ञा से विद्याधरो ने जा कर सिहोदर राजा आदि की कुमारियो को वहाँ लाये । इनके साथ लग्न करने का पहले ही निश्चित हो चुका था । उन कुमारियो से विद्याधर महिलाओ ने मगलाचार एव मगल-गानपूर्वक, पूर्व निश्चयानुसार राम और लक्ष्मण ने लग्न किया । इसके बाद राम-लक्ष्मणादि छह वर्ष पर्यन्त लका में सुखपूर्वक रहे ।

माता की चिंता और नारदजी का सन्देश लाना

राम-लक्ष्मण आदि लका मे सुखपूर्वक समय बिता रहे थे । उधर अयोध्या में राजमाता कौश- और सुमित्रादि पुत्र-वियोग से दु खपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थी । उन्हें लका में लक्ष्मण के घा- होने और विशल्या के जाने के बाद कोई समाचार नहीं मिले थे । वे यह सोच कर कि 'लक्ष्मण बचे य नहीं और युद्ध क्या परिणाम हुआ । अभी राम लक्ष्मण और सीता किस अवस्था म हैं ' आदि - चि- में ही घुल रही थी । ऐसे समय अचानक नारदजी वहाँ आय । उन्हाने राजमाताओं की शोकमग्न द- दख कर कारण पूछा । राजमाता कौशल्या ने कहा -

"राम-लक्ष्मण और सीता वन म गये । सीता का रावण ने हरण किया । लक्ष्मण को शक्ति क भयकर आघात लगा । उसके निवारण के लिए विशल्या को ले गए । उसके बाद क्या हुआ कुछ समाचार नहीं मिले । उनसे बिछुडे वर्षो हो गए । हम उन्ह देख सकेंगे या नहीं यही हमारी चिन्ता क कारण है ।"

नारदजी ने उन्हें आश्वासन दते हुए कहा - "भद्रे ! तुम चिन्ता मत करो । वे स्वस्थ हैं । उन कोई नहीं मार सकता । तुम विश्वास रखो । मैं अब वहीं जाऊँगा और उन्ह यहाँ लाऊँगा ।"

नारदजी राजमाताओं को आश्वासन दे कर आकाश-मार्ग से उड कर सीधे लका पहुच रामभद्रजी ने नारदजी का सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा । नारद से अपनी माताओं क मनोवेदना जान कर रामजी ने तत्काल विभीषण से कहा - "तुम्हारी सेवा से हम अपनी माताओं क भी भूल गए और इतने वर्ष तक यहीं जमे रह । अब हम शीघ्र ही अयोध्या जाना चाहते हैं । मातेश्वर की वेदना हमसे सहन नहीं होती । अब हमारे प्रस्थान की व्यवस्था करो ।" विभीषण ने कहा "स्वामिन् ! आप पधारना चाहते हैं, तो मैं नहीं रोक सकता किन्तु निवदन है कि सोलह दिन ठह जाइए, तब तक मैं अपने कलाकारों को अयाध्या भेज कर नगर की सजाई करवा दूँ-जिससे आपक नगर प्रवेश उत्सवपूर्वक किया जा सके। वैसे ही मुझे अचानक पहुँच जाना अच्छा नहीं लगता।' रामभद्रजी ने विभीषण की विनती स्वीकार कर ली। विभीषण ने अपने विद्याधर कलाकारों को अयोध्य भेजा जिन्होंने अयोध्या को सजा कर स्वर्गपुरी के समान अत्यन्त मनोहर बना दी। नारदजी भी तत्क्ष अयोध्या पहुँचे और राम-लक्ष्मण के आगमन क समाचार सुना कर सब का सतुष्ट किया । भरत शत्रुघ्नजी माताएँ और समस्त नागरिक, राम-लक्ष्मण के आगमन के समाचार जान कर अत्यन्त प्रम हुए और उत्सकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे ।

भ्रातृ-मिलन और अयोध्या प्रवेश

सोलह दिन के बाद राम-लक्ष्मण, अपने अन्त पुर सहित और विभीषण, सुग्रीव, भामण्डल आदि राजाओ के साथ पुष्पक-विमान से प्रस्थान कर अयोध्या की ओर चले । भरत-शत्रुघ्न हाथी पर बैठ कर अपने पूज्य ज्येष्ठ-बन्धु का सत्कार करने के लिए सामने आये । उन्हें दूर से आते देखकर, रामभद्रजी की आज्ञा से विमान पृथ्वी पर उतारा गया । विमान को उतरता देख कर भरतजी और शत्रुघ्नजी भी हाथी पर से नीचे उतर । उधर राम-लक्ष्मण भी विमान से उतर कर भाई स मिलने आगे बढे । निकट आते ही भरत-शत्रुघ्न उनके चरणो मे गिर पडे । उनका हृदय भर आया और आँखों से आँसू बहने लगे। रामभद्रजी ने उन्हे उठा कर आलिगन में बाँध लिया और मस्तक चूमने लगे । इसी प्रकार लक्ष्मणजी ने भी भाइयो को गले लगा कर आलिगन किया । इसके बाद सभी विमान में बैठ कर अयोध्या पहुँचे । नगर के बाहर ही नागरिक जन प्रतीक्षा मे खडे थे । वादिन्त्र बज रहे थे और उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही थी । उधर रामभद्रजी आदि मानव महासागर जयनाद करता हुआ उमड आया । इधर रामभद्रजी आदि भी शीघ्रतापूर्वक विमान से उतर कर हाथ फैलाते हुए आगे बढ । बड़ी कठिनाई से सवारी जुड पाई और शनै शनै आगे बढने लगी । नागरिकजन पद-पद पर जय-जयकार कर रहे थे । महिलाएँ उल्लासपूर्वक बधाइयाँ एव मगल-गीत गा रही थी । चारो ओर से कुकुम, अक्षत एव पुष्पादि की वर्षा हो रही थी । स्थान-स्थान पर विशष, सत्कार हो रहा था । भेंट अर्पित की जा रही थी । केवल अयोध्यावासी ही नहीं आसपास के गावो और नगरो का जनसमूह भी विभिन्न दिशाओ से आ कर समुद्र मे मिलती हुई नदिया के समान, इस मानव-महासागर मे मिल कर एकाकार हो गया था । लम्बे विरह के बाद प्रियजनों के मिलन का यह अपूर्व उत्सव, एक अपूर्व भावावेग से छलक रहा था । जनता का हर्षावेग हृदय म नहीं समा कर आँखो द्वारा बरस रहा था ।

मातृ-भवन मे माताएँ और अन्य सम्बन्धित महिलाओं से मिलन की बारी तो अन्त मे ही आई । हर्ष के आवेग मे सभी की भूख-प्यास ही दब गई थी और सभी अट्टालिकाओं और गवाक्षो से इस प्रिय प्रवेशोत्सव के आनन्द को आँखो से देख और कानों से सुन कर हर्ष-विभोर हो रही थीं । ज्योंही सवारी राजभवन में पहुँची, त्योंही श्रीरामभद्रादि मातृभवन में पहुँचे और माताओ की चरण-वन्दना की। माताओं ने पुत्रों का मस्तक चूमा और आशीर्वाद दिया । पुत्र वधुओ को भी आशीर्वादों की वर्षा स नहलाया । आज का आनन्द अपूर्व ही था । राजमाता कौशल्या और सुमित्रा मान रही थी कि जैसे पुत्र का जन्म आज ही हुआ हो । उनके वर्षों पुराने शाक और बिछोह का अन्त आ गया था । आज के हर्षावेग ने उनकी वर्षों की वेदना, उदासी, मन स्ताप और अशक्ति नष्ट कर, नई शक्ति एव स्फूर्ति भर दी थी । उनके पुत्र त्रिखण्डविजेता और वधू, स्वर्ण की भाँति शुद्ध शीलवती सिद्ध होकर आई थी । ये त्रिखण्डाधिपति महाराजाधिराज की माताएँ थीं ।

माता कौशल्या ने लक्ष्मणजी से कहा,-

"वत्स ! राम और सीता ने तुम्हारे सहयोग से ही विजय प्राप्त की । तुमने इनकी सेवा का दुः सहे और विजयमाला भी पहिनाई ।"

- "नहीं, माता ! जैसा मैं यहाँ तुम्हारे लाड-प्यार में था, वैसा वहाँ भी मुझे इनकी ओर से म पिता की भांति लालन-पालन और रक्षण मिला मैं तो वन में भी सुखी था । मेरी स्वेच्छाचारिता और निरकुशता से ही निरपराध शम्बूक मारा गया और उसी के निमित्त युद्ध और रावण द्वारा पू भावज का हरण हुआ और लंका पर चढ़ाई आदि घटनाएँ घटी । यदि मैं बिना समझे काम नहीं करता तो इतनी विपदाएँ, महायुद्ध और रक्तपात नहीं होता" - लक्ष्मणजी ने अपना दोष बतलाया ।

- "पुत्र ! भवितव्यता टाली नहीं जा सकती । तुम खेद मत करो । बाद में हम तुमसे वनवास की सारी कथा सुनेंगी" - माता ने कहा ।

भरतजी का मन अत्यन्त प्रसन्न था । अब वे अपने को बहुत हलका समझने लगे थे । वे अनुभव करते थे कि रामभद्रजी के आने के बाद राज्य का सारा भार अपने सिर से उतर गया । उन्होंने नगर में महोत्सव मनाने का आयोजन पहले से ही कर दिया था । प्रजा अपनी इच्छा से ही अनेक प्रकार के उत्सवों में मग्न हो रही थी ।

भरतजी की विरक्ति

उत्सव पूर्ण होने और सभी प्रकार से सामान्य स्थिति हो जाने के बाद एक दिन भरतजी ने रामभद्रजी से निवेदन किया -

"पूज्य ! आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर के इतने वर्षों तक मैने राज्य का संचालन किया और धर्म-साधना से वंचित रहा । अब आप पधार गये हैं इसलिये यह भार सम्भालिये और मुझे आज्ञा दीजिये, सो मैं अपने चिरकाल के मनोरथ को पूरा करूँ ।"

भरत की विरक्ति और होने वाले विरह का विचार कर के रामभद्रजी की छाती भर आई । उनकी आँखों में अश्रु भर आये । गद्‌गद् स्वर में उन्होंने कहा;-

"वत्स ! ऐसी बात क्या करते हो ? हम तो तुम्हारे बुलाने से ही आये हैं । राज्य तुम्हारा है । तुम यथावत् राज करते रहो । हम सब को त्याग कर विरह-वेदना उत्पन्न करना उचित नहीं है ।"

रामभद्रजी का उत्तर सुन कर भरतजी निराश हो कर जाने लगे तो लक्ष्मणजी ने उन्हें हाथ पकड़ कर बिठाया । भरतजी के संसार-त्याग की बात सुन कर सीताजी विशल्या आदि रानियाँ भी वहाँ पहुँची । उन्होंने भरतजी का विचार पलटने के लिए जलक्रीड़ा करने का प्रस्ताव रखा और भरतजी

उसमें सम्मिलित होने का आग्रह किया । उनके आगह को मान कर भरतजी अपने अन्त पुर सहित जलक्रीडा करने गये और सब के साथ क्रीडा करने लगे ।

भरत-कैकयी का पूर्वभव और मुक्ति

भरतजी मात्र कुटुम्बियो का मन रखने के लिए, उदासीनतापूर्वक जलक्रीडा करके सरोवर से बाहर निकले । उधर गजशाला से भुवनालकार नामक प्रधान गजराज मदान्ध हो गया और स्तभ उखाड कर भागा । वह किसी भी प्रकार वश में नहीं आ रहा था । महावत आदि उसके पीछे आ रहे थे । समाचार सुन कर राम-लक्ष्मण भी सामन्ता सहित अपने प्रिय हाथी के पीछे आ रहे थे । किन्तु उसे पकडने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो चुके थे । गजराज भागता हुआ उसी स्थान पर आया यहाँ जलक्रीडा हो रही थी । गजराज की भरतजी पर दृष्टि पडते ही शात हो गया । उसका मद उतर चुका था । भरतजी भी उसे देख कर हर्षित हुए । हाथी वश में हो गया । उसे गजशाला में ले जा कर बाध दिया गया । सभी जन चकित रह गए कि - भरतजी को देखते ही हाथी एक दम शात कैसे हो गया, क्या कारण है इसका ? कोई समझ नहीं रहा था । भरतजी नहीं जानते थे । उसी समय देशभूषणजी और कुलभूषणजी ये दो मुनिराज अयोध्या के उद्यान में पधारे । महामुनि देशभूषणजी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे । राम-लक्ष्मण और समस्त परिवार तथा नगरजन मुनिराज को वन्दन करने उद्यान मे आये । धर्म-देशना सुनी । इसके बाद रामभद्रजी ने पूछा - "भगवन् ! मेरा भुवनालकार हाथी, भरत को देख कर मद-रहित एव शात कैसे हुआ, क्या कारण है इसका ?"

केवली भगवान् ने भरतजी और भुवनालकार का पूर्व सम्बन्ध बतलाते हुए कहा;-

"इस अवसर्पिणी के आदि जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेवजी के साथ चार हजार राजाओ ने निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की थी । किन्तु जब भगवान् निराहार रह कर मौनपूर्वक तप करने लगे, तो वे सभी क्षुधा-परीषह से पराजित हो कर वनवासी तापस बन गए और फल-फूल खा कर जीवन बिताने लगे । उनमें चन्द्रोदय और सूरोदय नाम के दो राजकुमार थे । चिरकाल भव-भ्रमण करने के बाद चन्द्रोदय तो गजपुर में कुलकर नामक राजकुमार हुआ और सूरोदय उसी नगर मे श्रुतिरति नामक पुरोहित पुत्र हुआ । पूर्वभव के सम्बन्ध के कारण दोनों म मित्रता हो गई । राजकुमार कुलकर यथासमय राजा हुआ। एक दिन वह तापस के आश्रम में जा रहा था कि मार्ग में अभिनन्दन मुनि मिले । व अवधिज्ञानी थे । उन्होंने राजा से कहा - "राजन् ! तुम जिसके पास जा रहे हो ? वह तापस पचाग्नि तप करता है। उसकी धुनी में दहन करने के लिए जो काष्ठ लाया गया है उसमे एक सर्प है ? वह सर्प पूव-भव में तुम्हारा क्षेमकर नामक पितामह था । यदि तापस ने काष्ठ को बिना देखे ही अग्नि में डाल दिया तो वह सर्प जल मरेगा । कितना अज्ञान है जीवा में ?"

मुनिराज के वचन सुन कर राजा व्याकुल हो गया और तत्काल आश्रम म पहुँच कर उसे लक्ड को फडवाया । लकडा फटते ही सर्प उछल कर बाहर निकल आया । यह देख कर राजा के विस्म का पार नहीं रहा । राजा की विचारधारा सुलट गई । उसने ससार की भयानकता समझी और विरक्त ह गया । उसने ससार-त्याग कर श्रमण-जीवन स्वीकार करने की इच्छा की । वह सोच ही रहा था कि वह श्रुतरति पुरोहित वहा आया और राजा को विरक्त जान कर कहने लगा -

"हिंसा तो ससार में होती ही रहती है । हम नित्य ही देख रहे हैं । बिना हिसा के ससा व्यवहार नहीं चल सकता । हिंसा देख कर आपकी तरह यदि सभी लोग साधु हो जायँ तो यह सस चले ही कैसे ? फिर भी यदि साधु बनना ही है तो इतनी शीघ्रता क्या करते हैं ? अभी तो जीवन ब लम्बा है । वृद्धावस्था आन पर साधु बनेंगे, तो राजधर्म और आत्मधर्म दोनो का पालन हो जायगा ।"

पुरोहित की बात सुन कर राजा का उत्साह मन्द हो गया और वह राजकाज में लगा रहा । उस राजा के श्रीदामा नाम की रानी थी । वह पुरोहित पर आसक्त थी । कालान्तर में रानी को सन्देह हुआ कि - 'यदि हमारे गुप्त पाप की बात राजा को मालूम हो गई तो हमारी क्या दशा होगी ?' इस विचार से ही वह भयभीत हो गई । उसने सोचा - "इस भय से मुक्त हो कर नि शक सुखभोग का एक ह मार्ग है और वह है - राज-हत्या । इसी स हमारी बाधा दूर होगी और यथेच्छ सुखभोग सकेंगे ।" रानी ने अपना मनोभाव श्रुतिरति पुरोहित को बतलाया । वह इस पाप में सम्मत हो गया । रानी ने राजा को विष दे कर मार डाला । कुछ काल के बाद श्रुतिरति भी मरा । दोना चिरकाल तक भव भ्रमण करते रहे । कालान्तर में राजगृह नगर म वे ब्राह्मण के यहाँ युगल पुत्र रूप मे जन्म । एक का नाम विनाद और दूसरे का रमण । रमण वेदाध्ययन के लिए विदेश गया । कुछ वर्षों तक अभ्यास करने के बाद वह राजगृही लौट आया । रात के समय पुर-द्वार बन्द होने के कारण वह एक यक्ष-मन्दिर में आ कर सो गया । उसक भाई विनाद की पत्नी, दत्त नाम के एक ब्राह्मण से गुप्त सम्बन्ध रखती थी । रात क समय विनोद को निद्रामग्न जान कर वह पूर्व योजनानुसार दत्त से मिलने उसी यक्ष-मन्दिर में आई । उसने नींद में सोये हुए रमण को ही दत्त समझ कर जगाया और उसके साथ कामक्रीड़ा करने लगी । विनोद को पत्नी के व्यभिचार का सन्देह हो गया था । इसलिए वह अवसर की ताक में था । पत्नी के घर से निकलते ही वह भी खड्ग ले कर पीछे हो लिया और रमण पर प्रहार कर के उसे मार डाला । अन्धकार म कोई किसी को पहिचान नहीं सकता । पत्नी ने अपने पाप का भण्डा फूटा देख कर अपने पति विनोद पर छुरी से प्रहार किया जिससे वह भी मर गया । दोना भाई फिर भव-भ्रमण करते हुए विनोद एक धनाढ्य सेठ का 'धन' नामक पुत्र हुआ और रमण भी उसी सेठ की लक्ष्मी नाम की पत्नी

का 'भूषण' नाम वाला पुत्र हुआ । सेठ ने भूषण का बत्तीस कन्याओं के साथ लग्न किया । भूषण सुखभोग मे लीन था । वह अपने भवन की छत पर सोया था । रात के अन्तिम प्रहर में उसने देवों का आवागमन देखा । उसे ज्ञात हुआ कि महामुनि श्रीधर स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। देवगण केवल-महोत्सव क लिए जा रहे हैं । भूषण के मन मे धर्म-भावना उत्पन्न हुई। वह उठा और केवली भगवान् को वन्दन करने के लिए चल दिया । मार्ग में उसे सर्प ने काटा । शुभ परिणाम में देह को त्याग कर, शुभगति मे गया । शुभ गतियो मे जन्म-मरण करते वह जम्बूद्वीप के अपर-विदेह क्षेत्र मे रत्नपुर नगर मे अचल नाम के चक्रवर्ती की हरिणी नाम की रानी के प्रियदर्शन नाम का पुत्र हुआ । वह बाल्यकाल से ही धर्मप्रिय था । वह ससार का त्याग कर प्रव्रज्या लेना चाहता था, परन्तु पिता के आग्रह से तीन हजार कुमारियो से लग्न किया । लग्न करने पर भी उसका वैराग्य स्थायी रहा और गृहवास में भी चौसठ हजार वर्ष तक व्रत तथा तप का आराधन कर के ब्रह्म देवलोक में देव हुआ ।

धन भी ससार में भटकता हुआ पोतनपुर नगर मे मृदुमति नाम का ब्राह्मण-पुत्र हुआ । पुत्र की उद्दण्डता देख कर पिता ने घर से निकाल दिया । वह इधर-उधर भटकता रहा और कुसगति से अनेक प्रकार के व्यसन तथा धूर्तता आदि मे प्रवीण हो कर पुन घर आया । द्युत-क्रीडा मे तो वह इतना कुशल हो गया था कि उसे कोई जीत ही नहीं सकता था । उसने जुआ खेल कर बहुतसा धन जुटा लिया और वसतसेना नाम की वेश्या के मोह में पड कर भोगासक्त रहने लगा । बाद मे सद्गुरु क उपदेश से विरक्त हो कर सयमी बन गया और आयु पूर्ण कर वह भी ब्रह्मदेवलोक मे देव हुआ । देव-भव से च्यव कर वह पूर्वभव के मायाचार से भुवनालकार हाथी हुआ और प्रियदर्शन का जीव, देवभव छोड कर भरतजी हुए हैं । भरतजी को देखते ही गजराज को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और उस ज्ञान से ही वह निर्मद हुआ ।''

सर्वज्ञ भगवान् से पूर्वभव सुन कर भरतजी के वैराग्य में वृद्धि हुई । उन्होंने एक हजार राजाओ क साथ प्रव्रज्या ग्रहण की और चारित्र का पालन कर मुक्त हुए । साथ ही दीक्षित राजा भी चारित्र का पालन कर मोक्ष गए । भुवनालकार हाथी भी व्रत एव तप का आचरण कर पुन ब्रह्म देवलोक में गया और राजमाता कैकेयी सयम साधना कर विमुक्त हुई । भरतजी के दीक्षित होते ही अन्य नरेशो और प्रजा के अग्रगण्यो ने रामभद्रजी का राज्याभिषेक करने की प्रार्थना की । रामभद्रजी न विचार करक कहा - ''लक्ष्मण का वासुदेव पद का अभिषेक करो ।'' इस अभिषेक के साथ ही रामभद्रजी का बलदेव पद का अभिषेक हुआ ।

शत्रुघ्न को मथुरा का राज्य मिला

रामभद्रजी ने विभीषण को क्रमागत राक्षसद्वीप, सुग्रीव को कपिद्वीप, हनुमान को श्रीपुर, विराध को पाताललंका नील को ऋक्षपुर, प्रतिसूर्य को हनुपुर, रत्नजटी को देवोपगीत नगर और भामण्डल को वैताढ्य गिरि पर का रथनुपुर नगर दिया । दूसरे राजाओ को भी अन्य-अन्य देश दिये, फिर शत्रुघ्न से कहा - "वत्स ! तुझे जो देश ठीक लगे, वह ले ले ।" शत्रुघ्न जी ने कहा - "आर्य ! मुझे मथुरा दीजिये ।" रामभद्रजी ने कहा -

"वत्स ! मथुरा की प्राप्ति दु साध्य है । वहा मधु राजा का राज्य है । वह अपनी राजधानी सरलता से नहीं देगा । उसे चमरेन्द्र से एक अत्यत प्रभावशाली त्रिशूल मिला है । वह त्रिशूल दूर से ही शत्रु-सैन्य का हनन कर के लौट कर फैंकने वाले के हाथ म चला जाता है । इसलिए तू कोई दूसरा राज्य माँग ले ।"

- "आर्य ! आपने प्रबल एव शक्तिशाली राक्षसकुल को विनष्ट कर के विजय प्राप्त कर ली, तो बिचारा मधु किस गिनती में है ? मैं आपका छोटा भाई हूँ । मेरे साथ रह कर आप युद्ध करेंगे, तो मधु बच नहीं सकेगा । इसलिए मुझे मथुरा दिलवाइए । मैं स्वय मधु के साथ विग्रह करूँगा ।" शत्रुघ्न ने पुन निवेदन किया ।

शत्रुघ्न का आग्रह जान कर रामभद्रजी ने कहा- "भाई ! यह उचित तो नहीं है, परन्तु तुम्हारी यही इच्छा है तो जब मधु प्रमाद में हो, उसके पास त्रिशूल नहीं हो, तभी उससे युद्ध करना" - इतना कह कर राम ने शत्रुघ्न को अक्षय बाण वाले दो तूणीर (तरकश-भाथा) दिये और कृतांतवदन नामक सेनापति को साथ भेजा । लक्ष्मणजी ने अपने अग्निमुख बाण और अर्णवावर्त धनुष दिया । शत्रुघ्न ने निरन्तर प्रयाण करते हुए मथुरा नगरी के निकट पहुँच कर, नदी के किनारे पडाव किया । उन्होंने अपने गुप्त सेवक (भेदिये) भेज कर मधु की गतिविधि का पता लगाया । भेदियों ने आ कर कहा -

"मधु नरेश अपनी रानी के साथ इस समय नगरी से बाहर कुबेरोद्यान में क्रीडा कर रहे हैं । उनका त्रिशूल शस्त्रागार में है । इसलिए इस समय युद्ध करना सरल होगा ।"

शत्रुघ्न ने सेना सहित रात के समय प्रयाण किया और मधु नरेश के नगरी में आने का मार्ग रोका। जब मधु नरेश उद्यान से लौट कर अपने भवन म आने लगे तो उनके साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया । थोड़े ही समय म शत्रुघ्न ने मधु क लवण नाम के पुत्र को मार डाला । पुत्र-मरण से अत्यधिक क्रुद्ध हो कर मधु, शत्रुघ्न से प्रचण्ड युद्ध करने लगा । दोना योद्धाओं में बहुत समय तक युद्ध होता रहा । अन्त में शत्रुघ्न ने लक्ष्मण के दिये अर्णवावर्त धनुष और अग्निमुख बाण ग्रहण किया और मधु पर प्रहार करने लगे । उन बाणों का प्रहार मधु को असह्य हो गया । वह शक्ति-रहित होने लगा । उसे विचार हुआ कि 'मेरा वह त्रिशूल अभी मेरे पास होता तो शत्रु को विनष्ट किया जाता । अब रक्षा नहीं हो सकती

उसन जीवन की आशा छोड दी । उसका विचार पलटा - "हा ! मैने मनुष्य-भव पा कर भी व्यर्थ गँवा दिया । न तो मैने सयम साधना की, न दर्प त्याग और ज्ञान-ध्यानादि से आत्मा को पवित्र किया । मेरा सारा भव ही व्यर्थ गया ।" - इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसकी आत्मपरिणति सयम के योग्य बन गइ । इस प्रकार भावसयम मे प्राण छोड कर वह सनत्कुमार देवलोक में महर्द्धिक देव हुआ । मधु के मृत शरीर पर देवों ने पुष्प-वृष्टि की और जय-जयकार किया ।

मधु के पास जो देवरूपी त्रिशुल था, वह मधु के मरते ही उसके शस्त्रागार से निकल कर चमरेन्द्र के पास पहुँचा और शत्रुघ्न द्वारा मधु के छलपूर्वक मारे जाने की बात सुनाई । चमरेन्द्र, अपने मित्र की मृत्यु पर दु खी हुआ । वह क्रोधपूर्वक शत्रुघ्न को मारने क लिए चला । चमरेन्द्र को जाते देख कर वेणुदारी नाम के गरुडपति इन्द्र न पूछा - "आप कहा जा रहे हैं ?" चमरेन्द्र कहा -"मैं अपने मित्र-घातक शत्रुघ्न का मारने के लिए मथुरा जा रहा हूँ ।" तब वेणुदारी इन्द्री ने कहा,-

"रावण ने धरणेन्द्र से अमोघविजया शक्ति प्राप्त की थी । उस महाशक्ति उस प्रबल पुण्यशाली लक्ष्मण ने जीत ली और रावण को मार डाला, तो शत्रुघ्न तो उन वासुदेव और बलदेव का भाइ है । उसक सामने बिचारा मधु किस गिनती म है ?"

चमरेन्द्र ने कहा - 'लक्ष्मण विशल्या कुमारी के प्रभाव से उस शक्ति को जीत सका । यदि विशल्या नहीं होती, तो लक्ष्मण नहीं बच सकते और अब तो विशल्या कुमारिका नहीं रही । इसलिए उसका प्रभाव भी नहीं रहा । अतएव मैं मेरे मित्रघातक का अवश्य ही मारूँगा ।' इस प्रकार कह कर चमरन्द्र शीघ्र ही मथुरा आया । उसने देखा कि शत्रुघ्न क राज्य से समस्त प्रजा प्रसन है, सतुष्ट है स्वस्थ है, तो उसने प्रजा मे व्याधि उत्पन्न कर शत्रुघ्न को विचलित करने का प्रयत्न किया । शत्रुघ्न चिन्तामग्न हो गए, तो कुलदेवों ने आ कर उपद्रव का कारण बताया । "चमरन्द्र से रक्षा किस प्रकार हो"- इसका उपाय करने के लिए शत्रुघ्न राम-लक्ष्मण के पास अयाध्या पहुँचे ।

शत्रुघ्न का पूर्वभव

जिस समय शत्रुघ्न अयोध्या म आये, उसी समय मुनिराज श्रीदेशभूषणजी और कुलभूषणजी भी वहाँ आये । राम-लक्ष्मण और शत्रुघ्न, मुनिराज को वन्दन करन गए । सर्वज्ञ भगवान् से रामभद्रजी ने पूछा - "भगवन् ! शत्रुघ्न को इस विशाल भरतक्षेत्र म कवल मथुरा लेने का ही आग्रह क्यों हुआ ? इसकी मथुरा पर इतनी आसक्ति क्यों है ?"

सर्वज्ञ भगवान् देशभूषण जी ने कहा -

"शत्रुघ्न का जीव मथुरा मे अनेक बार उत्पन्न हुआ था । एक बार वह 'श्रीधर' नाम का ब्राह्मण था । वह रूपवान् था और साधु-सतों का भक्त भी । एक बार वह कहीं जा रहा था कि राजमहिषी ललिता की दृष्टि उस पर पडी । वह श्रीधर पर मोहित हो गई । उसने उसे अपने पास बुलाया । श्रीधर

महारानी के पास आया ही था कि अकस्मात् राजा भी वहाँ आ पहुँचा । राजा को देख कर महारानी घबडाई और चिल्लाई – "इस चोर को पकडो । यह चोरी करने आया है ।" राजा ने श्रीधर को पकड़ लिया और राजाज्ञा से वह वधस्थान ले जाया गया । श्रीधर साधुओ की सगति करता ही था । इस मरणान्त उपसर्ग को देख कर उसके मन में ससार के प्रति तीव्र विरक्ति हो गई और उसने प्रतिज्ञा की कि – "यदि जीवन शेष रहे और यह विपत्ति टल जाय, तो मनुष्य-भव का सुफल प्राप्त कर लूँ। सद्भाग्य से उधर से निर्ग्रन्थ मुनि श्री कल्याणचन्द्र जी पधार रहे थे । उन्होंने श्रीधर की दशा देखी । अधिकारी को समझाया और राजा को प्रतिबोध दे कर श्रीधर को मुक्त कराया । बन्धन-मुक्त होते ही श्रीधर प्रव्रजित हो गया और तपस्या कर के देवलोक में गया । वहाँ से च्यव कर उसी मथुरा में चन्द्रप्रभ राजा की रानी काचनप्रभा की कुक्षि से 'अचल' नाम का पुत्र हुआ । अचलकुमार अपने पिता को अत्यन्त प्रिय था । उसके भानुप्रभ आदि आठ बडे सपत्न-बन्धु (सौतेली माता के पुत्र) थे । उन ज्येष्ठ-भ्राताओं ने सोचा – "अचल पिताश्री का अत्यन्त प्रिय है, इसलिए यही राज्य का उत्तराधिकारी होगा और हम इसके अधीन हो जावेंगे । ऐसा नहीं हो जाय, इसलिए अचल को इस जीवन से हटा देना ही उचित है ।" वे इसी ताक में रहने लगे । राज्य के चतुर मन्त्री को उनके पापपूर्ण विचार और दुष्ट योजना का पता लग गया । उसने राजकुमार अचल को सावधान कर दिया । अचल अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के षड्यन्त्र से बचने के लिए राजभवन छोड़ कर चल दिया । वन म भटकते हुए उसके पाँव में एक बडा काँटा चूभ गया । उसकी तीव्र पीडा से अचलकुमार रोने लगा, जोर-जोर से आक्रन्द करने लगा ।

श्रीवस्ती नगरी का निवासी 'अक' नाम का एक मनुष्य सिर पर काष्ठभार उठाये हुए उधर से निकला । उस उसके पिता ने घर से निकाल दिया था । अचल का आक्रन्द सुन कर वह उसके पास आया और उसका काँटा निकाल कर पीडा मिटा दी । अचल ने सतुष्ट हो कर उससे कहा – "भद्र ! तुम मेरे परम उपकारी हो । जब तुम सुनो कि'– अचल मथुरा का राजा हुआ है," तो वहाँ चले आना । मैं तुम्हारे उपकार का पारितोषिक दूँगा ।

अचलकुमार वहाँ से चल कर कौशाम्बी नगरी गया । वहाँ उसने 'सिह' नामक युद्धकला-विशारद गुरु के पास कौशाम्बी नरेश को धनुर्विद्या का अभ्यास करते देखा । अचलकुमार इस विद्या में प्रवीण था। उसने नरेश को अपना कौशल दिखाया । राजा ने देखा, – 'यह कुमार कोई सामान्य युवक नहीं है। यह उच्च-कुलोत्पन्न राजकुमार है ।' राजा ने उसे अपने पास रख लिया और जब उसे विश्वास हो गया कि 'अचल उच्च कुल का युवक है' – उसने अपन राज्य का कुछ भाग और अपनी प्रिय पुत्री दे कर जामाता बना लिया । अचलकुमार ने अपने पराक्रम से सैन्य-बल बढा कर अग आदि कुछ देश जीत कर अपने राज्य में मिला लिये । इसके बाद उसने मथुरा पर चढाई की । उसका सामना करने के लिए उसके भानुप्रभ आदि आठो भाई आये । युद्ध प्रारम्भ हुआ । अन्त मे आठो भाइयों को

वन्दी वना कर सैन्य-शिविर मे रख लिया । अपनी सेना के पराजय और आठो पुत्रो के बन्दी हो जाने के समाचार से चन्द्रप्रभ नरेश निराश हो गए । उन्होने अपने मन्त्रियो को सन्धि करने के लिए भेजा । अचलकुमार ने मन्त्रियो का स्वागत किया और अपना परिचय दिया । मन्त्रीगण हर्षविभार भागते हुए नरेश के पास आये और अचलकुमार के आगमन की सूचना दी । राजा के हर्ष का पार नहीं रहा । महोत्सवपूर्वक राजकुमार अचल का नगर-प्रवेश हुआ । राजा ने राजकुमार अचल को विशेष पराक्रमी जान कर राज्य का उत्तराधिकार दिया और भानुप्रभ आदि वडे पुत्रो का निकल जाने की आज्ञा दी । किन्तु अचल नरेश ने इस आज्ञा को स्थगित करवा कर उन्हे वहीं - अपने अदृष्ट सेवक (बाह्य सम्मानयुक्त, किन्तु अन्तर में सेवकपन) बना कर रख लिये ।

एक बार नाट्यशाला में नाटक देखते हुए अचल नरेश की दृष्टि उधर चली गई, जिधर कोई आरक्षक, एक मनुष्य को धक्का मार कर निकाल रहा था । नरेश को यह व्यक्ति परिचित लगा । उसे निकट बुला कर कहा - "कहो, महानुभाव ! मुझे पहिचाना ? मैं वही हूँ - जिसका काँटा निकाल कर आपने उपकार किया था ।" उन्होने उस अक को अपने पास बिठाया और उसकी जन्मभूमि श्रावस्ति नगरी उसे दे कर अपने समान राजा बना लिया । फिर दोनो राजा मैत्री सम्बन्ध रखते हुए राज करने लगे। कालान्तर मे उन्होने समुद्राचार्य के पास प्रव्रज्या स्वीकार की और मृत्यु पा कर ब्रह्म देवलोक में देव हुए। अचल नरेश का जीव वहाँ से च्यव कर तुम्हारे कनिष्ट भ्राता के रूप म शत्रुघ्न हुए और अक का जीव यह कृतातवदन सेनापति है । मथुरा के साथ इनका पूर्वभवो का विशेष सम्बन्ध रहा इसीसे इनकी आसक्ति उस पर हुई ।

इस प्रकार शत्रुघ्न का पूर्वभव बताने के बाद मुनिराज विहार कर गए और रामभद्रजी आदि स्वस्थान आये ।

सात ऋषियों का वृत्तांत

प्रभापुर के राजा श्रीनन्द की धारणी रानी के अनुक्रम से सात पुत्र हुए । उनके नाम - १ सुरनन्द २ श्रीनन्द ३ श्रीतिलक ४ सर्वसुन्दर ५ जयत ६ चामर और ७ जयमित्र । इसके बाद आठवाँ पुत्र हुआ । वह एक मास का ही था कि राजा ने उसका राज्याभिषेक कर दिया और स्वय अपने सात पुत्रों के साथ प्रव्रजित हो गए । श्रीनन्द नरेश तो तप-सयम का पालन कर के मोक्ष पधार गए और सातों मुनिवर विहार करते हुए मथुरा आए और वर्षाऋतु होने के कारण एक पर्वत की गुफा म चातुमास रहे । वे बेले-तेले आदि तपस्या करते रहते थे और आकाश-विहार कर पारणा करते थे । पारण के बाद फिर गुफा म आ कर रहते थे । उन मुनिवरों के प्रभाव से चमरेन्द्र की उत्पन्न की हुई व्याधि दूर हो कर शाँत हो गई ।

सातो चारण मुनिवर गुफा मे रह कर निरन्तर तप करते रहते और पारणे के दिन गगन-विहार क
बस्ती म जाते पारणा करते और पुन पर्वत-गुफा में आ कर तप साधना में लग जाते । ऐसे तप-साधन
के धनी एव आत्मबल सम्पन्न महात्माओं के प्रभाव से मथुरा के सारे राज्य में, देव द्वारा उत्पन्न किय
हुआ उपद्रव शात हो गया । इससे प्रजा और राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । भरत नरेश ने मुनिवरों क
सेवा मे उपस्थित हो कर निवेदन किया –

"महात्मन् ! नगर में पधारें और मेरे यहाँ से आहारादि ग्रहण कर अनुग्रहित करें ।"

"नहीं राजन् ! हमारे लिए राजपिण्ड ग्राह्य नहीं है और निमन्त्रित स्थान से आहारादि ग्रहण करन
भी हमारा आचार नहीं है । तुम किसी प्रकार का विचार मत करो"– प्रमुख मुनिराज ने अपना निय
बतलाया ।

"भगवान् ! कृपा कर कुछ दिन और विराजे और धर्मोपदेश से जनता को लाभान्वित कर भर
नरश न प्रार्थना की ।

"राजन् ! चातुर्मास काल पूर्ण हो चुका है । अब एक दिन भी अधिक ठहरना हमारे लिए निषिद्ध
है अब हम विहार करेंगे"+ ।

लक्ष्मण का मनोरमा से लग्न

वैताढ्य गिरि की दक्षिण-श्रेणी के रत्नपुर नगर का राजा रत्नरथ था । उसकी चन्द्रमुखी रानी ने
मनोरमा नाम की कन्या का जन्म हुआ। मनोरमा रूप-लावण्य मे अति सुन्दर एव मनोहारी थी। यौवन
वय म उसकी काति विशेष बढ गई । राजा उसके योग्य वर की खोज में था । अचानक नारदजी वह
पहुँच गए । राजा के पूछन पर नारदजी ने कहा – 'लक्ष्मणजी इस कन्या क लिए योग्य वर है ।' उनक
अभिप्राय सुनते ही वश-वैर से अभिभूत राजकुमारों में क्रोध व्याप्त हो गया। उन्होने नारदजी क
अपभ्राजना करने के लिए अपने सेवका को सकेत किया । नारदजी परिस्थिति समझ गए और तत्काल

+ इस स्थल पर श्री हमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि– व सप्तर्षि एक बार पारणे के लिए अयोध्या नगरी में अर्हद
सेठ क घर गये । सेठ के मन म सन्देह उत्पन्न हुआ – 'ये कैसे साधु हैं जो वर्षाकाल में भी विहार करते रहते हैं'
उसने उपेक्षापूर्वक व्यवहार किया किन्तु उसकी पत्नी ने आहार-दान दिया । वे मुनिवर आहार ले कर द्युति' क
आचार्य क उपाश्रय में पहुँचे । आचार्य ने उन सप्तर्षियों को वन्दना की और आदर-सत्कार किया । किन्तु उनके शिष
के मन मे भी यही सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्हें अकाल-विहारी जान कर वन्दनादि नहीं किया । सातों मुनिवर पार
कर के चले गये । उनके जाने क बाद द्युति आचार्य न उन मुनियों की महानता और चारणलब्धि का वर्णन किया । इस
उनके शिष्यों को पश्चात्ताप हुआ । अर्हद्दत्त श्रावक को भी पश्चाताप हुआ आर उसने मथुरा जा कर मुनिवरों से क्षम
याचना की ।'

श्रावक और साधुओं का सन्देह उचित था । वर्षाकाल में पाद-विहार म जीव-विराधना बहुत होती है और
निषिद्ध भी है । गगन विहार में वैसा नहीं होता और उनका इस प्रकार आना मर्यादा के अनुकूल हुआ क्या ?

गगन-विहार कर अयोध्या पहुँचे । उन्हाने राजकुमारी मनोरमा का चित्र एक वस्त्रपट्ट पर आलेखित किया और लक्ष्मण को दिखाया । लक्ष्मण मुग्ध हो गए । उन्होने परिचय पूछा । नारदजी ने परिचय देते हुए बीती हुई सारी बात बतला दी । राम-लक्ष्मण ने सेना ले कर प्रयाण किया और थोडी देर के युद्ध मे रत्नरथ को जीत लिया । राम के साथ राजकुमारी श्रीदामा और लक्ष्मण के साथ मनोरमा के लग्न हुए । इसके बाद राम-लक्ष्मण, वैताढ्यगिरि की समस्त दक्षिण-श्रेणी को जीत कर अयोध्या में पहुँचे और सुखपूर्वक राज करने लगे ।

लक्ष्मणजी के १६००० रानियाँ हुई । इनमें पटरानियाँ आठ थीं । यथा – १ विशल्या २ रूपवती ३ वनमाला ४ कल्याणमाला ५ रत्नमाला ६ जितपद्मा ७ अभयवती और ८ मनोरमा । इनके ढाई-सौ पुत्र हुए, जिनमे आठ महारानियों के ये आठ पुत्र मुख्य थे – १ विशल्या का पुत्र श्रीधर, २ रूपवती का पुत्र पृथिवीतिलक, ३ वनमाला का पुत्र अर्जुन, ४ कल्याणमाला का पुत्र मगल, ५ रत्नमाला का पुत्र विमल, ६ जितपद्मा का पुत्र श्रीकेशी ७ अभयवती का पुत्र सत्यकीर्ति और ८ मनोरमा का पुत्र सुपार्श्वकीर्ति ।

रामभद्रजी के चार रानियाँ थीं – १ सीता २ प्रभावती ३ रतिनिभा और ४ श्रीदामा ।

सगर्भा सीता के प्रति सौतिया-डाह एवं षड्यन्त्र

सीता को रात्रि के समय अर्द्ध-निद्रित अवस्था में स्वप्न दर्शन हुआ । उसने दो अष्टापदा का आकाश में रहे देवविमान से उतर कर अपने मुँह में प्रवेश करते देखा और जाग्रत हुई । वह उत्साहपूर्वक उठी और पति के कक्ष मे पहुँची । उन्हे मधुर सम्बोधन से जाग्रत किया । रामभद्रजी ने महारानी सीता को आदरपूर्वक आसन पर बिठाया और प्रिय एव मधुर सम्बोधन के साथ आने का प्रयोजन पूछा । सीता ने स्वप्न विवरण सुनाया । स्वप्न को उत्तमता जान कर रामभद्रजी प्रसन्न हुए और फल बतलाते हुए कहा – "देवी ! दो देव स्वर्ग से च्यव कर तुम्हारी कुक्षि म आये हैं । वे पुत्र रूप में उत्पन्न हो कर अपने वश की ध्वजा दिगन्त तक फहरावेगे । यह उत्तम स्वप्न तुम्हें कल्याणकारी होगा, मगलप्रद होगा और आनन्द में वृद्धि करेगा," किन्तु मुझे थोडी शका यह होती है कि विमान में से अष्टापद पक्षी उतरे, यह कुछ ठीक नहीं लगता । सीता ने पति के मुख से स्वप्न फल बडी विनम्रता से ग्रहण किया और कहा – "प्रभो ! धर्म तथा आपके माहात्म्य से उत्तम फल की ही प्राप्ति होगी । अपन मन से सन्देह निकाल द ।" गर्भ धारण के पश्चात् सीताजी, रामभद्रजी को विशेष प्रिय लगने लगी । वे सीता पर अत्यन्त प्रेम रखने लगे और उसकी प्रसन्नता के लिए विशेष प्रयत्न करने लगे ।

सीताजी को सगर्भा जान कर तथा उसके प्रति पति का विशेष प्रेम देख कर उनकी सौतें उन पर विशेष द्वेष रखने लगी । ईर्षा से उनका हृदय जलने लगा । वे किसी भी प्रकार से सीताजी को अपमानित कर, पति और प्रजा की दृष्टि से गिराना चाहती थीं । उन्हान मिल कर षड्यन्त्र रचा और

सीता से प्रेमपूर्वक पूछा,- "रावण आपके पास आता था । आपने उसे देखा ही होगा । यह ब
कि उसका रूप कैसा था । आकृति राक्षस जैसी थी या देव जैसी ? आप एक पट पर लिख क
बतावें ।"

"बहिनो ! मैंने रावण के सामने ही नहीं देखा । वह आता तब मैं नीचे - पृथ्वी पर देखा क
इसलिए मुझे उसके मुख आदि अगो का तो ज्ञान ही नहीं हुआ । हाँ, उसके पाँवों पर दृष्टि पड़ता
उसके पाँव ही देखे हैं" -सीताजी ने कहा ।

"अच्छा आप रावण के चरणो का आलेखन कर के ही बता दें । हम उसी पर से कुछ अ
कर लेगी" – सौतों ने आग्रह किया ।

सीता उनके षड्यन्त्र को नहीं समझ सकी और सरल भाव से रावण के चरणो का आलेख
दिया । उस चरणचित्र को सपत्नियो ने ले लिया और अवसर पा कर रामभद्रजी को बता कर
लगी;-

"नाथ ! यह देखिये, आपकी अत्यन्त प्रिय महारानी का कृत्य । यह रावण पर अत्यन्त आस
है । उसका स्मरण करती रहती है और उसके चरणों का आलेखन कर अपना भक्तिभाव व्यक्त कर
रहती है । यह इतनी गूढ और मायाविनी है कि अपना पाप बडी सफाई से छुपाये रखा और आप प
तथा लोगो पर महासती होने का झूठा रग जमाती रही । उसका यह गुप्त पाप हमने देखा । इस स्थि
पर आप विचार करें । यह साधारण बात नहीं है । अपने विश्वविख्यात उत्तम कुल को कलंकित कर
वाले अत्यन्त गम्भीर प्रसग है । अपने वश की पवित्रता को बनाये रखने के लिए आपको योग्य निर्ण
करना चाहिये । सीताजी हमारी बडी बहिन है, हमारी उन पर अत्यन्त प्रीति है । हम उनका हित ह
चाहती है । किन्तु यह प्रसग, कुल की पवित्रता से सम्बन्ध रखता है । इसलिए बडे दु ख के सा
श्रीचरणों में यह कटु प्रसग उपस्थित करना पडा है ।"

रामभद्रजी को इस अप्रत्याशित विषय पर आघात लगा । उनके मन में यह तो पूर्ण विश्वास
कि सीता पूर्ण रूप से पवित्र है । उसे कलंकित एव अपमानित करने के लिये यह चाल रची गई ।
किन्तु वे तत्काल अपना विश्वास व्यक्त कर पत्नियो की बात काटना नहीं चाहते थे । अतएव उपे
कर दी । पति की उपेक्षा जान कर रानियें लौट गई । वे अपनी दासिया द्वारा नागरिकजनों में सीता क
निन्दा कराने लगी । लोग, पराई निन्दा में विशेष रुचि लेते हैं और बात को विशेष बढा-चढ़ा कर सुन
रहते हैं । इस प्रकार सीता की बुराई सर्वत्र होने लगी ।

वसतऋतु के आगमन पर राम ने महेन्द्रोदय उद्यान मे जा कर क्रीडा करने का विचार किया और
सीता से कहा-

"प्रिये ! तुम गर्भ के कारण खेदित हो इसलिए ... न म चलें । अभी वसत

श्रया तथा स्पर्शादि से विकसित होते हैं । बडा सुहावना समय है । चलो, तुम्हे प्रसन्नता होगी, सुस्ती मटेगी और बदन में स्फूर्ति आएगी ।''

रामभद्रजी, सीताजी और अन्य परिवार को ले कर उद्यान में गये । वहाँ नागरिकजन भी वसन्तोत्सव मना रहे थे । सीता आदि ने भी उत्साहपूर्वक उत्सव मनाया विविध प्रकार की क्रीडाएँ की और भोजनादि किया । वे सुखपूर्वक बैठ कर विनोदपूर्ण आलाप-सलाप कर रहे थे कि अचानक सीताजी का दाहिना नेत्र फरका । स्त्री का दाहिना नेत्र फरकना अनिष्ट सूचक माना जाता है । सीता के मन म से प्रसन्नता लुप्त हो गई और मुख पर चिन्ता झलकने लगी । उन्होंने राम से कहा - ''नाथ । मेरा दक्षिण-नेत्र फरक रहा है । यह अशुभ-सूचक है । मैने राक्षस-द्वीप म रह कर इतने कष्ट सहन किये, फिर भी दु ख की इतिश्री नहीं हुई । क्या अभी और भुगतना शेष रह गया है ? क्या फिर दुर्दिन देखने की घडी निकट आ रही है ?''

- ''देवी ! चिन्ता मत करो । कर्मों का फल तो जीव को भोगना ही पडता है । चिन्ता और सताप छोडकर प्रभु-स्मरण करो, धर्म की आराधना करो और सत्पात्र को दान दो । विपत्तिकाल मे धर्म ही सहायक होता है ।''

सीताजी धर्म-साधना और दानादि में विशेष प्रवृत्त हुई ।

गुप्तचरों ने सीता की कलंक-कथा सुनाई

सपत्नियों ने योजनापूर्वक सीताजी पर दोषारोपण कर के नगरभर म प्रचार कर दिया । लोगा में यह चर्चा मुख्य बन गई । नगर मे होती हुई हलचल और अच्छी-बुरी प्रवृत्ति की जानकारी प्राप्त करने के लिए, राज्य की ओर से उत्तम विश्वास-योग्य एव चारित्र-सम्पन्न अधिकारी नियुक्त किये गये थे । वे आवश्यक भेद की बातें प्राप्त कर के नरेश को निवेदन करते । सीता की होती हुई निन्दा उन अधिकारियों ने भी सुनी । वे अधिकारी सीता पर लगाया हुआ दोषारोपण सर्वथा असत्य मानते थे । किन्तु उनका कर्त्तव्य था कि इसकी जानकारी रामभद्रजी को करवाये । व चिंतित हो गए । अन्त में वे श्री रामभद्रजी के निकट आये । परन्तु उनकी वाणी अवरुद्ध हो रही थी । व थरथर काँपने लगे । श्रीराम ने उन अधिकारियो की ऐसी दशा देख कर कहा;-

''मूक क्या हो ? बोलते क्यों नहीं ? घबडाओ नहीं जैसी बात हो, स्पष्ट कह दो । मैं तुम पर विश्वास करता हू । तुम्हें राज्य का हितैषी मानता हूँ । तुम्हे निर्भय हो कर सत्य बात बतला देनी चाहिये ।''

राम का अभय-वचन पा कर विजय नाम का अधिकारी बोला -

''स्वामिन् ! आपको एक बात अवश्य निवेदन करनी है । मुझे पूर्ण विश्वास है कि बात झूठी है और आपश्री के लिए विशेषरूप से आघातजनक है । किन्तु उस दु खदायक बात को दबा कर रखना भी स्वामी को अन्धकार म रखना है । इसलिए यह महादु खदायक बात भी कहने को विवश हो रहा हूँ ।''

"प्रभो ! परम पवित्र महारानी सीतादेवी पर नागरिकजन दोषारोपण कर रहे हैं । लोग असत्य को भी कुयुक्ति से सत्य जैसा बना कर घटित कर रहे हैं । नगर में यह चर्चा विशेषरूप से चल रही है कि रावण ने रतिक्रीडा की इच्छा से ही देवी सीता का हरण किया था । सीताजी उसके यहा अकेली ही थी और लम्बे काल तक रही थी । भले ही देवी, रावण से विरक्त रही हो, परन्तु महाबली रावण अपनी इच्छा पूर्ण किये बिना कैसे रहा होगा ? उसने बलात्कार कर के भी अपनी इच्छा पूर्ण की ही होगी । कौन था वहाँ उस कामान्ध नरवृषभ को रोकने वाला ? अतएव सीता की पवित्रता नष्ट हो चुकी है । फिर भी राम ने मोहवश उसे हृदयेश्वरी बना कर सर्वाधिक सम्मान दिया है । क्या यह उत्तम राजकुल के योग्य है ? बडे लोग खोटा काम कर लें तो उन्हे कोई नहीं कह सकता । यदि ऐसा ही काम कोई साधारण मनुष्य करता, तो उसकी क्या दशा होती ?"

इस प्रकार नगर के लोग परस्पर चर्चा करते हैं । लोग महादेवी को कलकित बता कर, आपके व आपके उत्तम कुल को भी मलिन बनाने की चेष्टा कर रहे हैं । स्वामिन् ! यह सब झूठा बातें हैं किन्तु हैं, युक्तियुक्त । युक्तियुक्त असत्य की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए । नाथ ! आपको गभीरतापूर्वक विचार कर के इस अपवाद को मिटाना ही चाहिए ।"

विजय अधिकारी की बात सुन कर रामभद्रजी दु खित हुए । उन्होंने सोचा – मन-कल्पित युक्ति पवित्र को भी पतित बना देती है । पवित्रता की रक्षा के लिए लोक-भ्रम मिटाने के लिए दु सह्य स्थिति अपनानी पडती है । हा, कितनी विचित्र है – लोकरुचि ?' उन्होंने धैर्य धारण कर कहा,-

"भद्र ! तुम्हारा कहना ठीक है । तुम हितैषी हो । राजभक्त जन के कर्त्तव्य का तुमने पालन किया है । मैं भी ऐसे कलक को सहन नहीं करूँगा ।"

अधिकारीगण प्रणाम कर चले गये । उसी रात्रि को राम स्वय गुप्त वेश में नगर म फिरे । उन्होंने भी वैसी ही कलककथा सुनी और दु खित हृदय से लौट आए । उन्होंने आते ही पुन गुप्तचरो को लोक-प्रवाद जानने के लिए भेजा ।

रामभद्रजी सोचने लगे – "*कर्मोदय की यह कैसी विडम्बना है-कि जिसके लिए* मैंने सेना का सग्रह कर राक्षसकुल का विध्वस किया, लक्ष्मण मरणासन्न दशा तक पहुँचा, अनेक राजाओं का राजसुख छोडना पडा और युद्ध में सम्मिलित हो कर घायल होना पडा, जिसके पीछे लाखों मनुष्यों का रक्त बहा, वही सीता आज कलकित की जा रही है । उस महासती पर असत्य दोषारोपण हो रहा है हा अब मैं क्या करूँ ? इस विपत्ति का निवारण किस प्रकार हो ?"

कुल की प्रतिष्ठा ने सत्य को कुचला

प्रातःकाल लक्ष्मण, सुग्रीव विभीषणादि रामभद्रजी को प्रणाम करने आये । उन्हें बिठा कर उनके सामने गुप्तचरो को बुलाया और नागरिकों मे व्याप्त अपवाद सुनाया । गुप्तचरा की बात सुन कर

लक्ष्मणजी आदि सभी उत्तेजित हो गए । उन्होंने कहा,- लोगो मे पर-निन्दा की रुचि होती है । उनका क्या, वे कभी कुछ और कभी कुछ, यो पलटते ही रहते हैं । मैं इस प्रकार मन कल्पित झूठे दोषारोपण को सहन नहीं कर सकता । मैं उन नीच मनुष्यो को उनकी नीचता का कठोर दण्ड दूँगा ।"

"भाई ! जरा शान्ति से विचार कर । नगर के महाधिकारियो ने भी मुझे लोक प्रवाद सुनाया । मैं स्वय भी नगर में घूम कर सुन कर आया और ये गुप्तचर भी कह रहे हैं । मैं जानता हूँ कि लोक-प्रवाद पलटते देर नहीं करता । मैं सीता का त्याग कर दूँ, तो लोकधारा पलट कर दूसरी बातें करने लगेगी । किन्तु इस कलक को मिटाने के लिए हमे उचित प्रयत्न तो करना ही होगा" -रामभद्रजी ने कहा ।

"आर्य ! लोगो की झूठी बाता मे आ कर पूज्या महादेवी का त्याग करने का विचार ही मन मे नहीं लावें । लोगो का साँच-झूठ से विशेष सम्बन्ध नहीं होता । लोग प्राय परनिन्दा-रसिक होते हैं । लोगो के मुँह को कौन बन्द कर सकता है । राज्य-व्यवस्था उत्तम एव सुखद हो तो भी राजा की बुराई लोग करते ही रहते हैं । आप अपनी अच्छाई ही देखे और लोकापवाद की उपेक्षा ही करें' - लक्ष्मणजी ने निवेदन किया ।

'आतवर ! मैं सब से बडा साक्षी हूँ । मैं तो लका में ही था और रावण की गतिविधि पर पूरी दृष्टि रख रहा था । महादेवा ने रावण को और उसकी महारानी मन्दोदरी का दुत्कारा, फटकारा और अन्त मे तपस्या कर के शरीर को कृश कर दिया । किन्तु कभी भी उसके सामने नहीं देखा । मैं जनता का समाधान कर सकूँगा । आप चिन्ता नहीं करें" - विभीषण ने निवेदन किया । इसी प्रकार अन्य स्वजनो ने भी निवेदन किया । उन सब को अपना अन्तिम उत्तर देते हुए रामभद्रजी ने कहा,-

"आप सब का कहना ठीक है, किन्तु जो बात समस्त लोक के विरुद्ध हा, उसका तो यशस्वीजन को त्याग ही करना चाहिए" - इस प्रकार कह कर रामभद्रजी ने सेनापति कृतातवदन को आदेश दिया,-

"तुम सीता को रथ मे बिठा कर वन में छोड आओ"

रामभद्रजी की आज्ञा, लक्ष्मण के हृदय को आघात-कारक लगी । उनका हृदय द्रवित हो गया । वे रोते हुए राम के चरणो में पड कर बोले - "आर्य ! ऐसा अत्याचार नहीं करें । निर्दोष को दण्ड दे कर न्याय को खण्डित नहीं करें । आपके द्वारा किसी पर अन्याय नहीं होना चाहिए ।"

"लक्ष्मण ! अब तुम्हें चुप ही रहना चाहिए, एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिए ।"

सीता को वनवास

लक्ष्मण अपना मुँह ढक कर रोते हुए वहाँ से चले गये । राम ने सेनापति कृतांतवदन स कहा - "तुम वन-विहार क छल से सीता को रथ में बिठा कर ले जाओ । वह चली आएगी । उसे गर्भ

के प्रभाव स वन विहार की इच्छा भी है * फिर वन मे ले जा कर छोड देना और कहना कि तुम्हारा त्याग कर के वन मे छाडन की आज्ञा दी है । मैं उस आज्ञा का पालन कर रहा हूँ ।"

सेनापति ने दुखित मन से रथ ले कर, सीता क भवन में आ कर निवेदन किया । सीता प्रसन्नतापूर्वक रथ म बैठ कर चली दी । प्रस्थान-वेला में कई प्रकार के अपशकुन हुए, किन्तु सीता ने धैर्य धारण किया । गगा पार कर सिहनिनाद नामक वन के मध्य में रथ रुका । सेनापति को साहस नहीं हुआ कि वह सीता का राम की भयानक आज्ञा सुनावे । उसकी छाती भर आई । आखों से आसू बहने लगे । हिचकियाँ बन्ध गई । रथ को रुका देख कर सीतादेवी ने सेनापति की ओर देखा। उसे शोक सतप्त एव रुदन करता हुआ दख कर पूछा -

"क्या सेनापति ! रुक क्या ? तुम्हारी आँखा मे आँसू क्या झर रहे हैं ? बोला, क्या बात है ?"

"माता ! वह भीपण बात मैं आपका कैस सुनाऊँ ? आज मुझे मेरा सेवकपन दु ख दायक हो रहा ह । मुझ आज वह पापकृत्य करना पड रहा है जिसके लिए मेरा हृदय रो रहा है । कैसे कहू ?"

"भाई ! शीघ्र बोलो क्या बात है ? कर्त्तव्य-पालन म शोक क्यों कर रहे हो ?"

"पवित्र माता ! आप लका म रावण के यहाँ रही उस प्रसग का निमित्त बना कर, लोगों ने आपकी पवित्रता पर कलक लगाया गया । लोकापवाद के भय से स्वामी ने आपको वनवास दिया । छोटे स्वामी लक्ष्मणजी ने बहुत विरोध किया अनुनय-विनय किया किन्तु अटल आज्ञा क आगे उनकी नहीं चली । वे राते हुए चल गये और मुझे विवश हो कर आपको लाना पडा । महादेवी ! मैं महापापी हूँ जो आपको इस भयकर जन्तुओ से भरे हुए वन में छोड रहा हूँ । अब धर्म क सिवाय दूसरा कोई आपका रक्षक नहीं है ।"

सीता का पति को सन्देश

सेनापति के वचन सुनते ही सीता मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी । वन की शीतल वायु से मूर्च्छा हटने पर सीता सावधान हुई । किन्तु अपनी दशा का विचार होते ही पुन पुन मूर्च्छित हाने लगी । अन्त में पूर्ण सावचेत हो कर सीता ने कहा,-

"भद्र ! मेरे दुष्कर्मों का उदय है । तुम जाओ और स्वामी से मेरा सन्देश निवेदन करना -

"यदि आपको लोक-निन्दा का भय था तो मुझे वहीं कहते । मैं अपनी कठोरतम परीक्षा देती । आपको दिव्य आदि से मेरी परीक्षा करके लोकापवाद मिटाना था । क्या आपने यह कार्य अपने विवेक तथा कुल के योग्य किया है ? '

*चरित्रकार सम्मेदशिखर की यात्रा का उल्लेख करते हैं ।

"हे स्वामिन् ! जिस प्रकार लोकप्रवाद के वश हो कर आपने मुझे त्याग दी, उस प्रकार किसी अनार्य एवं मिथ्यादृष्टि के वचनों में आ कर अपने धर्म को नहीं छोड़ दें ।" इतना कहने के साथ ही सीता पुनः मूर्च्छित हो गई । फिर सावधान हुई । राम के दुःख का विचार आने पर वह बोली -

- "हाय, मेरे बिना स्वामी कैसे रहेंगे ? उनका हृदय कितना दुःखी होगा ? हा ! वे मेरा विरह कैसे सहन कर सकेंगे ? हे वत्स ! तुम जाओ । स्वामी को मेरी ओर से कल्याण कामना और लक्ष्मण को आशीष कहना । जाओ तुम्हारा कल्याण हो ।"

सेनापति बड़े दुखित हृदय से सीता को प्रणाम करके लौट गया ।

सीता वज्रजंघ नरेश के भवन में

उस भयानक वन में अकेली भयभीत सीता मूर्च्छित दशा में कुछ समय पड़ी रही । शीतल पवन एवं समय के बहाव ने मूर्च्छा दूर की । वह उठी और विक्षिप्त-सी इधर-उधर भटकने लगी । वह रोती-बिलखती गिरती-पड़ती निरुद्देश चलती रही । विचारों के वेग में वह अपने दुर्भाग्य को कोसने लगी - "हा, दुरात्मन् ! तूने पूर्व-भव में अत्यन्त अधर्म कोटि के पापकर्म किये हैं । उन्हीं दुष्कर्मों का यह फल है । मेरे पतिदेव तो पवित्र हैं । उनका स्नेह भी मुझ पर पूरा है । मेरे विरह में वे राज्यप्रसाद तथा सभी प्रकार की भोग-सामग्री के होते हुए भी दुःख में तड़पते होंगे । मुझ हतभागिनी के दुष्कर्म के उदय ने उन्हें भी दुःखी किया । मेरा जीवन रहे या जाय इसकी मुझे चिन्ता नहीं । अपने किये हुए पापकर्मों का फल तो मुझे भोगना ही पड़ेगा । मेरे मन में चिन्ता है - स्वामी के दुःख की और गर्भस्थ जीव की । इसके लिए मुझे उपाय करना ही पड़ेगा । परन्तु मैं करूँ भी क्या ? कहाँ जाऊँ ?" उसकी बुद्धि कुंठित हो गई । वह भाग्य के भरोसे एक ओर चल दी । चलते-चलते दुःख के आवेग से आँखें भर आतीं और ठोकर लग कर गिर पड़ती । फिर भी वह आगे बढ़ती ही गई । अचानक उसकी दृष्टि सामने से आते हुए मनुष्यों पर पड़ी । एक विशाल सेना उधर से आ रही थी । शस्त्र-सज्ज जन-समूह को देख कर सीता सोच में पड़ गई । वह भय को दूर कर नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगी । निकट आये हुए सैनिकों की दृष्टि सीता पर पड़ी । उन्होंने सोचा - "यह देवांगना जैसी स्त्री कौन है ? इस वन में अकेली क्यों है ? उस समय सीता पुनः आर्त्त हो कर रुदन करने लगी थी । सैनिकों ने एक देवांगना जैसी महिला के एकाकी रुदन करने की बात राजा से कही और यह भी कहा कि 'यह महिला गर्भवती दिखाई देती है।' राजा सीता के निकट आया । राजा को अपने निकट आता हुआ देख कर सीता घबड़ाई । उसने समझा यह कोई चोर या डाकू होगा । अपने सभी आभूषण उतार कर सीता ने राजा के सामने रख दिये । सीता को भयभीत एवं गहने समर्पित करती देख कर राजा बोला -

"बहिन ! तुम निर्भय बनो और इन आभूषणों को पुनः धारण कर लो । तुम यहाँ क्यों आई ? क्या कोई दुष्ट तुम्हारा हरण कर लाया या तुम्हारे स्वामी ने निर्दय बन कर तुम्हें इस दशा में निकाल

दिया ? मैं समझता हूँ कि तुम निर्दोष हो, किन्तु तुम्हारे पूर्वभव क किसी अशुभ कर्म क उदय स तुम वनवास का दु ख भोगना पड रहा है । तुम मुझे अपनी कष्ट-कथा सुनाओ निःशंक होकर कहा तुम्हारे दु ख से मैं दु खी हो रहा हूँ ।"

राजा की बात सुन कर सीता विचार म पड गई । "यह कौन है । इस अपनी कष्टकथा कहनी चाहिए या नहीं । कहीं यह भी धोखा तो नहीं देगा ?" आदि प्रश्न उसक मन म उठन लगे । राजा के सुमति नामक मन्त्री सीता की उलझन समझ गया वह बोला –

"बहिन ! य पुण्डरीक नगर क स्वामी हैं । इनके पिता स्व महाराज गजवाहनजी और माता बन्धुदवी थे । य परम श्रमणोपासक हैं परनारी-सहोदर हैं । य इस वन म हाथियों को पकडने आये थे। अब काय सिद्ध कर के लौट रह हैं । तुम्हें इन पर विश्वास रख कर अपनी दु ख-गाथा सुना देनी चाहिए ।"

मन्त्री की बात सुन कर सीता विश्वस्त हुई और रात-गत बीती हुई घटना सुनाई । सीता की विपत्ति सुन कर नरेश ने कहा –

"सीता ! तुम मेरी धर्म-बहिन हो । मुझे अपने भाइ भामण्डल के समान समझ कर मेरे साथ चलो । स्त्रियों के लिए पतिगृह के सिवाय दूसरा स्थान भ्रातृगृह है । रामभद्रजी ने केवल लोकापवाद के बचन के लिए ही तुम्हारा त्याग किया है । व विवश थे । मैं मानता हूँ कि व अब पश्चात्ताप की आग में जल रह होगे । थोडे ही दिनो में वे तुम्हारी खोज करेंगे और तुम्हें अपनावेंगे । अभी तुम मेरे साथ चलो । तुम्हारा वन म रहना उचित नहीं है ।"

सीता को वज्रजंघ नरेश पर विश्वास हुआ । वज्रजंघ ने सीता के लिये शिविका मँगवाई और सीता पुण्डरीकपुर के राजभवन में पहुँच गई । वह भवन के एक कक्ष में रह कर धर्मसाधना करने लगी ।

रामभद्रजी की विरह-वेदना और सीता की खोज

सीता को वन में छोड़ कर सेनापति अयोध्या आया और सीता का सन्देश सुनाते हुए कहा –

"मैं सिंहनिनाद नामक वन में सीता को छोड कर आया हूँ । जब मैंने उन्हें आपकी निर्वासन आज्ञा सुनाई तो वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पडी । बहुत देर बाद उन्हें चेतना आई किन्तु अपनी दुरवस्था का भान होते ही वे बारबार मूर्च्छित होने लगी । कुछ सावचेती आने पर भरे हुए हृदय और रूँधे हुए कण्ठ से उन्होंने आपके लिए एक सन्देश दिया है । उन्होने कहा –

"नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र और स्मृति में कहीं भी ऐसा नियम है कि एक पक्ष के किये हुए दोषारोपण से दूसरे पक्ष को पूछे बिना और उसकी बात सुने बिना ही दण्ड दिया जाय ? यदि न्यायशास्त्र और धर्म-शास्त्र में नहीं, तो किसी आर्यदेश के राज्य में ऐसा आचार है ?"

"मैं मानती हूँ कि आप सदैव सोच-समझ कर ही कार्य करने वाले हैं फिर मेरे लिए ऐसा क्यों किया गया ? मैं सोचती हू – यह सब अकार्य आपका नहीं मेरे भाग्य का है ? मेरे पापोदय ने ही मुझे

वनवास दिलाया - आपक हाथ स । आप सदैव निर्दोष रहे और रहेगे । फिर भी मेरा, निवेदन है कि जिस प्रकार आपका मरी निर्दोपता का विश्वास होते हुए भी दुर्जनों द्वारा की हुई निन्दा से भयभीत हो कर मेरा त्याग किया, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के वचनो मे आ कर, कभी परमोत्तम जिनधर्म का त्याग नहीं कर बैठ ।"

इतना कह कर सीता मूर्च्छित हो गई थी । पुन चैतन्य प्राप्त कर वे आपकी चिन्ता करने लगी और कहन लगी - "मर बिना स्वामी का शाति कैस मिलेगी । हाय, उनकी अशान्ति एव दु ख कैस दूर हागा ?" इस पकार चिन्ता करती हुए पुन मूर्च्छित हा गई ।

सेनापात स सीता का सन्दश वदना पूण उद्गार सुन कर एव भीषण विपत्ति की कल्पना क आघात स गम भी मूर्च्छित हा कर गिर गए । उनकी मूच्छा क समाचार सुनत ही लक्ष्मणजी तत्काल दौड आय आर चन्दन के शातल जल का सिचन कर उन्हें सावधान किया । सावधान होत ही गम बाल -

"कहाँ ह वह महासती जिसका दुजना क वचना म आ कर मैन त्याग किया ? अब मैं उसे कहाँ पा सकूँगा ?"

"स्वामिन् ! आप चिन्ता नहा कर । वह महासती अपने धर्म के प्रभाव से वन म भी सुरक्षित हागी । इसलिए आप तत्काल विमान ल कर पधार ऐसा नहीं हा कि विलम्ब करन पर विरह-वेदना सहन नहीं करके वे स्वय प्राण त्याग दें । आप सेनापति के साथ स्वय पधारें आर उन्ह ले आवे ।"

राम, कृतातवदन सेनापति और अन्य विद्याधरा सहित विमान में बैठ कर सीता की खाज म चल दिय । वे वन में बहुत भटके वृक्षों की झाडियाँ, पर्वत गुफाएँ और जलाशया म खाज करत फिर । किन्तु सीता का कहीं पता नहीं लगा । अन्त में निराश हा कर अयाध्या लौट आए और सीता का देहावसान हाना मान कर मृत्यु क बाद हाने वाला लौकिक कार्य किया । किन्तु राम की दृष्टि म, वाणी में और हृदय मे सीता ही बसी हुई थी । वे उसे भूल नहीं सकते और दु ख, शोक एव चिन्ता में समय बिताने लगे ।

अब नागरिकजन भी सीता क शील की प्रशसा और राम क न्याय की निन्दा कर रहे थे ।

सीता के युगल-पुत्रों का जन्म

सीता, वज्रजघ नरश के यहाँ रह कर, जीवन तथा गर्भ का पालन कर रही थी । अपनी विरह-वेदना एव निर्वासित जीवन की टीस क अतिरिक्त वहाँ उसे कोई कष्ट नहीं था । राजा और रानी उसका प्रेमपूर्वक पालन कर रहे थे । गर्भकाल पूर्ण होने पर सीता ने दो पुत्रा को जन्म दिया । नरश ने उनका जन्मोत्सव अपने खुद के पुत्र-जन्म स भी अधिक उत्साहपूर्वक किया और नामकरण के समय उनके नाम क्रमश 'अनगलवण' और 'मदनाकुश' दिय । धात्रिया द्वारा सेवित एव लालित वे दोनों

प्रवेश । मेरे निर्वासित होने का कारण उपस्थित है तब तक मैं अयोध्या में नहीं आ सकता। मैं दिव्य करने को तैयार हूँ" - सीता ने कहा -

सुग्रीवादि ने रामभद्रजी के पास आ कर सीता की प्रतिज्ञा सुनाई । राम उठे और सीता के निकट आ कर बोले -

"तुम रावण के अधिकार मे रही तब रावण ने तुम्हारे साथ भोग नहीं किया हो और तुम सर्वथा पवित्र ही रही हो इस बात की सच्चाई प्रकट करने के लिए तुम दिव्य करो । उसमें सफल हो जाओगी, तो मैं तुम्हें स्वीकार कर लूँगा ।"

- "ठीक है । मैं दिव्य करने को तत्पर हू । किन्तु आप जैसा न्यायी पुरुष मेरे देखने में न आया कि जो बिना न्याय किये ही किसी को दोषी मान कर दण्ड दे दे और दण्ड देने के बाद सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए तत्पर बने । यह राम-राज्य का अनूठा न्याय है । चलिये मुझे दिव्य करना ही है" - कह कर सीता हँसने लगी ।

- "भद्रे ! मैं जानता हूँ तुम सर्वथा निर्दोष हो । किन्तु लोगों ने तुम पर जो दोषारोपण किया, उसे मिटाने लिए ही मैं कह रहा हूँ ।"

- मैं एक नहीं, पाँचों प्रकार के दिव्य करने के लिए तत्पर हूँ । आप कहे, तो मैं - १ अग्नि प्रवेश करूँ २ मन्त्रित तन्दुल भक्षण करूँ, ३ विषपान करूँ, ४ उबलते हुए लोह-रस या सीसे का रस पी जाऊँ और ५ जीभ से तीक्ष्ण शस्त्र को ग्रहण करूँ । जिस प्रकार आप संतुष्ट हों, उसी प्रकार करने के लिए मैं तत्पर हूँ, इसी समय" - सीता ने राम से निवेदन किया ।

उस समय नारदजी सिद्धार्थ और समस्त जनसमूह ने एक स्वर से कहा-

"महादेवी सीता निर्दोष है शुद्ध है सती है महासती है । हमें पूर्ण विश्वास है । किसी प्रकार दिव्य करने की आवश्यकता नहीं है ।"

समस्त लोकसमूह की एक ही ध्वनि सुन कर रामभद्रजी बोले,-

"क्या कह रहे हो तुम लोग ? पहले सीता को कलंकिनी कहने वाला भी अयोध्या का जन-समूह ही था और आज सर्वथा निर्दोष घोषित करने वाला भी यही है । यदि इनके कहने का विश्वास कर लूँ, तो बाद में फिर इन्हीं में से सदोषता का स्वर निकलेगा । दूसरों की निन्दा करने में इन्हें आनन्द आता है । वे यह नहीं सोचते कि इस प्रकार की निराधार बातों से किसी का जीवन कितना संकटमय हो जाता है । तुम लोगों के लगाये हुए कलंक को धोने और भविष्य में इस कलंक की संभावना को नष्ट करने के लिए सीता को अग्नि में प्रवेश करने की आज्ञा देता हूँ ।"

तीन सौ हाथ लम्बे-चौडे और दो पुरुष-प्रमाण ऊँचे खड्डे का चन्दन के काष्ठ से भरा गया । ग्नि प्रज्वलित की गई ।

वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में हरिविक्रम राजा का पुत्र जयभूषण कुमार था । उसके आठ सौ नियाँ थी । एक बार रानी किरणमण्डला को उसके मामा के पुत्र के साथ क्रीडा करती देख कर क्रुद्ध आ । उसने उस रानी को निकाल दी और स्वय विरक्त हो कर श्रमण बन गया । किरणमण्डला रानी रभाव लिये हुए दु खपूर्वक जीवन पूर्ण कर राक्षसी हुई । जयभूषण मुनि विशुद्ध सयम और उग्र तप करते हुए अयोध्या नगरी के समीप उद्यान मे भिक्षुप्रतिमा धारण कर ध्यानस्थ हो गए । राक्षसी अपने पूर्वभव के वैर से खिची हुई आई और उपद्रव करने लगी । मुनिवर अपने दृढ चरित्र-बल से अडिग रहे और शुभ ध्यान मे तल्लीन हो कर घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-कवलदर्शन पाप्त कर लिया । केवलोत्सव करने के लिए इन्द्र और देवी-देवता आए ।

इधर केवलज्ञानी भगवान् का केवलोत्सव हो रहा था उधर - दूसरी ओर सीता के दिव्य की तैयारियाँ हो रही थी । केवलोत्सव के लिए आए हुए देवो ने सीता के दिव्य की तैयारी देख कर इन्द्र को निवेदन किया - "स्वामिन् ! जनता के द्वारा झूठी निन्दा सुन कर राम ने सीता को वनवास दिया था । आज उसकी पवित्रता की परीक्षा करने के लिए अग्निप्रवेश कराया जा रहा है ।"

इन्द्र ने अपने सेनाधिपति को सीता की सहायता करने की आज्ञा दी और स्वय केवलोत्सव मे सलग्न हो गए ।

सीता दिव्य करने के लिए उस अग्निकुण्ड के समीप आई । कुण्ड मे से उठती हुई विशाल ज्वालाएँ देख कर रामभद्रजी के मन मे विचार उत्पन्न हुआ - "मैं कितना अस्थिर एव भीरु मन का हूँ । सीता को पवित्र समझता हुआ भी मैने उसे वनवास दिया और उसका तथा अपना जीवन दु खमय बनाया । आज फिर मैं आगे हो कर उसे अग्नि मे झोंक रहा हूँ । दैव और दिव्य की विषम गति है । अशुभ कर्मों का उदय हो तो जीवित स्त्री को जलाने और स्वय आयुपर्यन्त पश्चाताप की आग में जलने का उपाय कर लिया है - मैने । मैने ही चाह कर महाकष्ट उपस्थित किया है । अब क्या होगा " राम चिन्ता मे डूबे हुए थे । इधर सीता अग्निकुण्ड के समीप आ कर खडी हो गई । उसने पञ्च परमेष्ठी का स्मरण किया और अरिहन्त प्रभु को नमस्कार कर के बोली -

"उपस्थित जन-समूह लोकपालो, देवी-देवताओ ! सुनो ! मैने अपने जीवनभर मे, अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य की अभिलाषा भी मन मे की हो, तो यह अग्नि मुझे तत्काल जला कर भस्म कर दे और मैने अपने शील की पवित्रता सुरक्षित रखी हो तो यह महाज्वाला शात हो कर जलकुण्ड बन जाय ।"

इस प्रकार कह कर नमस्कार महामन्त्र का उच्चारण करती हुई सीता अग्निकुण्ड में कूद प उसके कूदते ही तत्काल अग्निकुण्ड, जलकुण्ड बन गया । वह कुण्ड शीतल जल से पूर्ण भरा हुआ सीता के सतीत्व से सतुष्ट हुए देव के प्रभाव से सीतादेवी लक्ष्मीदेवी के समान एक विशाल कम पुष्प पर रखे हुए सिहासन पर बैठ कर हिलोरे ले रही थी ।

जनता जय-जयकार करने लगी । विजय एव हर्ष के नादो और वादिन्त्रों से आकाश-म गुजने लगा । सारा वातावरण हर्षोत्फुल्ल हो गया । अचानक जलकुण्ड से पानी उछल कर बा निकलने लगा । विद्याधर - गण जल प्रवाह बढता देख कर, आकाश में उड़ गए, किन्तु भूचर मनु कहाँ जाय ? उन्होंने यह सती प्रकोप समझा और विनय पूर्वक वन्दन करके प्रार्थना करने लगे- "है महासती । हमारी रक्षा करो । हम आपकी शरण मे हैं ।" सीता ने उसी समय अपने दोनों हाथों पानी को दबाया । पानी उसी समय कुण्ड प्रमाण रह गया । कुण्ड अनेक प्रकार के कमल पुष्पों और उस पर गुञ्जारव करते हुए भ्रमरो से सुशोभित होने लगा ।

वह खड्डे जैसा जलाशय, एक सुरम्य सुनिर्मित कलापूर्ण एव मनोहर कुण्ड बन गया था । चारों ओर मणिमय सोपान थे । देवगण सीता पर आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे थे और जय जयकार कर रहे थे । नारदजी हर्ष से नाचते हुए गान करने लगे ।

अपनी माता का उत्कृष्ट प्रभाव देख कर राजकुमार लवण और अकुश बहुत हर्षित हुए और दौ हुए उनके पास पहुँचे । माता ने पुत्रा का प्रेम से मस्तक चूमा और अपने दोनों ओर बिठाया । उस समय लक्ष्मण, शत्रुघ्न भामण्डल विभीषण और सुग्रीव आदि वीरों ने सीता क निकट आ कर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । श्री रामभद्रजी भी सीता के निकट आय और पश्चात्ताप तथा लज्जा से नतमस्तक हो कर बोले -

"हे महादेवी । लोग तो स्वभाव से ही दोषग्राही होते हैं और असत्य को शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं ऐसे लोगो के दोषपूर्ण विचारों और दोषारोपण से प्रभावित होकर मैने तुम्हारा त्याग किया था और तुम्हें एसे भयानक वन में अकेली छोड दिया था जहाँ क्रूरतम भयकर प्राणी रहते थे । मैं निन्दा को सहन नहीं कर सका और आवेश मे आ कर तुम्हें - गर्भावस्था मे ही - मृत्यु के साक्षात् आवास म पहुँचा दिया । वहाँ तुम जीवित रही और उचित सहायता प्राप्त कर सकी । यह तुम्हारा खुद का प्रभाव था वह अपने आपमें एक दिव्य था । मैं अपने कुकृत्य के लिए क्षमा चाहता हूँ । अब तुम चलो । मैं तुम्हें सम्मानपूर्वक ले चलता हूँ । तुम्हारा सम्मान पहले से भी अत्यधिक होगा ।"

"महानुभाव । यह मेरे अशुभ कर्मों का उदय था । इसमें जनता और आपका काई दाष नहीं मैंने अपने पूर्वभव के दुष्कर्मों का फल पाया है । अब मैं इन सचित कर्मों की जड ही काट दना चाहती हूँ और इसी समय ससार का त्याग कर आत्म-साधना के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती हूँ," - इस प्रकार कह कर सीता सती ने अपने हाथा से केशो का लोच किया और उन केशो का राम को अर्पण किया ।

प्रिया-वियोग से रामभद्रजी मूर्च्छित

राम के हृदय को प्रिया के वियाग स गभीर आघात लगा । वे मूर्च्छित हो गए । सीताजी तत्काल वहाँ से चल कर, केवलज्ञानी भगवान् जयभूषणजी के निकट गई । भगवान् ने उन्हे विधिवत् प्रव्रजित किया और उन्हें महासती आर्या सुप्रभाजी की नेश्राय में रखा । महासती सीताजी सयम-साधना में सलग्न हो गई ।

मूर्च्छित रामभद्रजी पर चन्दन के शीतल जल का सिचन किया गया । उनकी मूर्च्छा दूर हुई । उन्हाने पूछा -

"कहा है वह उदार हृदया पवित्र हृदयश्वरी ? कहा गई वह ? राजाओ ! सामन्तो ! देखते क्या हो ? जाओ, भागो वह जहाँ हो वहा से ले आओ । वह मुझे त्याग कर चली गई । मैं उस लुचित-केशा को भी स्वीकार करूँगा । तुम जाते क्यो नहीं ? क्या मरना चाहते हो मेरे हाथ से ? लक्ष्मण ! मेरा धनुष-बाण लाओ । मैं अत्यत दु खी हूँ और ये सब खडे-खडे मेरा मुँह देख रहे हैं ?"

- "पूज्य ! आप यह क्या कर रहे हैं" - लक्ष्मणजी हाथ जोड़ कर कहने लगे-"मैं और ये सभी राजागण आपके सेवक हैं । इनका कोइ दाष नहीं । जिस प्रकार कुल को निष्कलक रखने के लिए आपने महादेवी का त्याग किया था, उसी प्रकार आत्मविमुक्ति के लिए महादेवी ने हम सब का त्याग कर दिया है । जिस दिन आपने उनका त्याग किया, उसी दिन से उन पर से आपका अधिकार भी समाप्त हो गया । वे स्वतन्त्र थी ही । उन्होंन अपना मोह-ममत्व त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । अपनी नगरी के बाहर महामुनि जयभूषणजी पधारे हैं । उन्ह यही केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई है । दव और इन्द्र केवल-महोत्सव कर रहे हैं । महादेवी भी उन्हीं के पास दीक्षित हुई है । आपका व हम सब का कर्त्तव्य है कि हम भी केवल-महोत्सव करें । महाव्रतधारिणी महासती सीताजी भी वहीं है। हम वहाँ चल कर उनके दर्शन करेंगे ।"

लक्ष्मण की बात सुन कर राम का शोकावेग मिटा । उन्होंने कहा - "बन्धु ! महासती हम छोड कर चली गई । उसने माह-ममता को नष्ट कर दिया । अब उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । उसे लौटाने का विचार करना भी पाप है । ठीक है, अच्छा ही किया है उसन । यह ससार त्यागने योग्य ही है । चलो, अपन सब वीतरागी महामुनि के समवसरण म चले ।"

राम का भविष्य

धर्मोपदेश सुन कर रामभद्रजी ने सर्वज्ञ भगवान् से पूछा -

"भगवान् ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?"

"राम ! तुम मात्र भव्य ही नहीं किन्तु इसी जन्म में वीतराग सर्वज्ञ बन कर मुक्ति प्राप्त करोगे ।"

-"भगवन् ! इसी भव में मुक्ति ? यह तो असभव लगती है - प्रभो ! मुक्ति की साधना सर्व त्यागी होने पर होती है । मैं और सब का त्याग कर सकता हूँ, किन्तु लक्ष्मण को नहीं छोड सकता फिर मेरी मुक्ति किस प्रकार हो सकेगी ?"

"भद्र ! तुम अभी त्यागी नहीं हो सकते । अभी तुम्हें राज्यऋद्धि और बलदेव पद का भोग करना शेष है । जब वे भोगकर्म समाप्त हो जावेंगे, तब तुम नि सग हो कर मुक्ति प्राप्त करोगे।"

रावण सीता और लक्ष्मणादि का पूर्व सम्बन्ध

विभीषणजी ने सर्वज्ञ भगवान् से पूछा -

"स्वामिन् ! मेरे ज्येष्ठ-बन्धु दशाननजी न्याय-नीति सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने सीता का अनीतिपूर्वक हरण करने का दुष्कार्य क्यों किया ? और वे लक्ष्मणजी के हाथा कैसे मारे गए ? और ये सुग्रीव, भामण्डलादि और मैं स्वय, इन रामभद्रजी पर इतना स्नेह क्यो रखते हैं ? भ्रातृ-घातक कुलविध्वशक के प्रति भी मेरी इतनी भक्ति क्यो है ? हम सब का पूर्वजन्म का परस्पर सम्बन्ध है क्या ?"

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ने कहा -

"हाँ, सुग्रीव ! पूर्वजन्म का सम्बन्ध है । इस दक्षिण-भरत में क्षेमपुर नगर में नयदत्त नाम का एक व्यापारी था । उसकी सुनन्दा स्त्री से धनदत्त और वसुदत्त नाम के दो पुत्र थे । उन दोनो पुत्रों का याज्ञवल्क्य नाम के ब्राह्मण से मित्रता हो गई । उसी नगर में सागरदत्त नाम का एक व्यापारी रहता था । उसके गुणधर नाम का पुत्र और गुणवती नाम की पुत्री थी । सागरदत्त ने अपनी गुणवती पुत्री का सम्बन्ध नयदत्त के पुत्र धनदत्त से कर दिया । किन्तु उसी नगरी का धनाढ्य व्यापारी श्रीकान्त गुणवती पर मोहित था । उसने गुप्त रूप से गुणवती की माता रत्नवती को धन का लाभ दे कर अपने पक्ष में कर लिया । रत्नवती ने गुप्त रूप से पुत्री का सम्बन्ध श्री कान्त से स्वीकार कर लिया और प्रच्छन्न रूप से विवाह करने की चेष्टा करने लगी । इनके इस गुप्त षड्यन्त्र का पता वसुदत्त के मित्र याज्ञवल्क्य शर्मा को लग गया । उसने अपने मित्र को सूचना दी । वसुदत्त को यह बात सुन कर क्रोध चढा । उसने रात के समय श्रीकान्त के घर में घुसकर श्रीकान्त पर घातक प्रहार किया । श्रीधर ने भी सावधान हो कर वसुदत्त पर घातक प्रहार किया । दोनों लड कर वहीं मर गए । ये दोना मर कर विन्ध्याचल के वन में मृग हुए । गुणवती भी कुमारी ही मृत्यु पा कर उसी वन म मृगी हुई। उस मृगी को पाने के लिए दोनों मृग लड कर मर गए । इस प्रकार उनकी वैर-परम्परा तथा भव-परम्परा चलती रही और जन्म मरण करते रहे ।

वसुदत्त का भाई धनदत्त भाई के वध से शोकाकुल हो कर घर से निकल गया और इधर-उधर भटकने लगा । एक बार भटकता हुआ और क्षुधा से पीडित, रात के समय साधुओं के स्थान पर पहुँच गया और उनसे भोजन माँगने लगा । मुनिजी ने कहा -

"भाई ! हम तो दिन को भी आहार का सग्रह नहीं रखते, तब रात को तो रखे ही कैसे ? रात का भोजन निषिद्ध है । भोजन मे बारीक जीव आ जाय तो दिखाई नहीं देते । तुम्हें रात का खाना बन्द कर देना चाहिए । इससे तुम्हे लाभ होगा ।"

इस बोध का धनदत्त पर प्रभाव हुआ । उसने मुनिवर से श्रावक के व्रत ग्रहण किये । व्रत का पालन करता हुआ वह मृत्यु पा कर सौधर्म-देवलोक में देव हुआ । वहा स च्यव कर वह महापुर नगर में एक सेठ का पद्मरुचि नाम का पुत्र हुआ । वह यहाँ भी श्रावक के व्रतों का पालन करने लगा । एकबार वह घोडे पर सवार हो कर गोकुल की ओर जा रहा था । मार्ग मे उसने एक बुड्ढे बैल को तड़प कर मरते हुए देखा । वह तत्काल घोडे पर से नीचे उतरा और उस बैल के कान मे नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करने लगा । नमस्कार मन्त्र का श्रवण करता हुआ बैल मृत्यु पा कर उसी नगर म राजा के पुत्रपने उत्पन्न हुआ । उसना नाम वृषभध्वज रखा । बडा होने पर राजकुमार इधर-उधर घुमता हुआ उस स्थान पर पहुँचा- जहाँ वह बैल मरा था । वह स्थान उसे परिचित लगा । वह सोचने लगा । सोचते-सोचते उस जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । उसने उस स्थान पर एक दवालय बनाया और उसकी भींत पर वृद्ध वषभ की मरणासन्न दशा और पद्मरुचि द्वारा दिया जाता धम-सहाय्य आदि का चित्रण कराया । इसके बाद उस देवालय पर रक्षक रख कर उन्हें आज्ञा दी कि - "यदि कोई मनुष्य इन चित्रा का रहस्य जानता हो, तो उसकी सूचना मुझे दी जाय ।" कालान्तर मे वह पद्मरुचि सेठ उस देवालय मे आया और भीत्ति पर आलेखित चित्रावली देख कर विस्मित हो कर बाला - "ये चित्र तो मुझसे ही सम्बन्ध रखते हैं ।" देवालय के रक्षक ने पद्मरुचि की बात सुन कर तत्काल राजकुमार को निवेदन किया । राजकुमार उसी समय चल कर मन्दिर पर आया और पद्मरुचि ने कहा - "महानुभाव ! इस चित्र म जिस घटना का चित्रण हुआ है, वह मुझ-से सम्बन्ध रखती है । वृद्ध एव मरणासन्न वृषभ को नमस्कारमन्त्र सुनाने वाला मैं ही हूँ । इस घटना को जानने वाले किसी ने यह चित्र बनाया होगा ।"

"भद्र ! वह वृद्ध बैल मैं ही हूँ । आपने कृपा कर मुझे नमस्कार-महामन्त्र का सबल सबल प्रदान किया था । उसीके प्रभाव से मैं वर्तमान अवस्था को पहुँचा हूँ । आप मेर उपकारी हैं । यदि आपकी कृपा नहीं होती तो मेरी दुर्गति होती । आप मेरे देव हैं, गुरु हैं, स्वामी हैं । मेरा यह विशाल राज्य आपके अर्पण हैं ।"

इस प्रकार भक्ति व्यक्त की और श्रावक व्रतों का पालन करते हुए वह पद्मरुचि के साथ अभेद रह कर धर्म की आराधना करने लगा और काल कर के दोनों ईशान देवलोक में महर्द्धिक देव हुए । देवलोक से च्यव कर पद्मरुचि तो मेरु पर्वत के पश्चिम मे वैताढ्य गिरि पर नन्दावर्त नगर म नन्दीश्वर नाम के राजा का पुत्र हुआ । उसका नाम नयानन्द रखा गया । वहाँ राज्य-सुख का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की और सयम का पालन कर, चौथे स्वर्ग म देव हुआ । देवभव पूर्ण कर के विदेह में क्षेमापुरी नगरी के राजा विपुल वाहन का श्रीचन्द नाम का पुत्र हुआ । वह राज्य-वैभव का त्याग कर समाधिगुप्त मुनि के पास प्रव्रजित हुआ और सयम पाल कर पाँचवें देवलोक म इन्द्र हुआ । वहाँ से च्यव कर ये रामभद्र नाम के आठवें बलदेव हुए ।

वह श्रीकान्त सेठ का जीव (जो गुणवती के साथ गुप्तरूप से लग्न करना चाहता था) भवभ्रमण करता हुआ मृणालकन्द नगर मे शभु राजा की हेमवती रानी की कुक्षि से वज्रकठ नामक पुत्र हुआ और वसुदत्त भी जन्म-मरण करता हुआ उसी राजा के पुरोहित का श्रीभूति नाम का पुत्र हुआ और गुणवती भी भवभ्रमण करती हुई श्रीभूति की पत्नी सरस्वती की कुक्षि से कन्या हुई । उसका नाम वगवती था। यौवनवय के साथ उसमें चञ्चलता भी बढ गई । वह जैन मुनियो पर द्वेष रखती थी । उसने सुदर्शन नाम के प्रतिमाधारी मुनि को ध्यानमग्न देखा और द्वेषवश लोगो म पचारित कर दिया कि- "य साधु दुराचारी हैं । मैने इन्हे एक स्त्री के साथ दुराचार करते देखा । ऐसे व्यभिचारी को वन्दना नहीं करना चाहिए ।" उसकी बात सुन कर लाग भ्रमित हो गए और मुनि को कलकित जान कर उपद्रव करने लगे । निर्दोष एव पवित्र मुनिराज के हृदय को इस मिथ्या कलक से मानसिक क्लेश हुआ । उन्होंने निश्चय कर लिया कि- "जब तक मेरा यह कलक नहीं मिटेगा मैं कायोत्सर्ग म ही रहूँगा ।" मुनिराज की अडिगता एव आत्मबल स शासन-सेवक देव आकर्षित हुआ । उसने वगवती का मुख विकृत कर दिया - व्याधिमय एव कुरूप । लागों ने जब यह जाना ता वगवती के पाप की निन्दा करने लगे । उसके पिता न भी उसका तिरस्कार किया । अपन पाप का तत्काल भयकर परिणाम देख कर वगवती मुनिराज क निकट आई और समस्त जन-समूह के समक्ष पश्चाताप करती हुई बोली,-

"ह स्वामी ! आप सर्वथा निर्दोष हैं । मैने द्वेषवश आप पर मिथ्या दोषारोपण किया । हे क्षमा के सागर ! मरा अपराध क्षमा कर ।"

मुनिराज का कलक दूर हुआ । वगवती पुन स्वस्थ हुई । उसकी सुन्दरता विशष बढ गई । वह श्राविका बन कर धर्म का पालन करने मे दत्तचित्त हुई । जनता ने भी मुनिराज से क्षमा याचना की । वेगवती का रूप देख कर राजा शभु उस पर मोहित हुआ । उसने वेगवती के साथ लग्न करन के लिए उसके पिता श्रीभूति से याचना की । श्रीभूति ने कहा - "मरी पुत्री मिथ्यादृष्टि को नहीं दी जा सकती ।" यह सुन कर राजा क्रोधित हुआ । उसन श्रीभूति को मार डाला और वेगवती को बलपूर्वक ग्रहण कर भोग किया । वेगवती अबला थी । उसने राजा को शाप दिया - "भवान्तर म मैं तेरी मृत्यु का कारण बनूँगी ।" राजा क पाश से मुक्त हो कर वेगवती न हरिकान्ता नाम की साध्वीजी से प्रव्रज्या स्वीकार की । चारित्र का पालन कर वह ब्रह्म-दवलाक म गई । वहाँ से च्यव कर जनक नरेश की पुत्री सीता हुई और शभु राजा के जीव रावण की मृत्यु की कारण बनी । सुदर्शन मुनि पर मिथ्या दोषारोपण करने से इस भव मे सीता पर मिथ्या कलक आया ।

शभु राजा का जीव भव-भ्रमण कर के कुशध्वज ब्राह्मण की पत्नी सावित्री के उदर से प्रभास नाम वाला पुत्र हुआ । उसने मुनि विजयसेनजी के पास निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की और सयमपूर्वक उग्र तप करने लगा । एक बार इन्द्र के समान प्रभावशाली विद्याधर नरेश कनकप्रभ को देख कर प्रभास मुनि ने समृद्धिशाली नरेश होने का निदान कर लिया और मृत्यु पा कर तीसर दवलाक में उत्पन्न हुआ और

हाँ से च्यव कर राक्षसाधिपति रावण हुए । याज्ञवल्क्य (जो धनदत्त और वसुदत्त का मित्र था) भव-भ्रमण करते हुए तुम विभीषण हुए । आज भी तुम्हारी वह पूर्व-भव की मित्रता कायम रही ।

श्रीपति (जिसे राजा शभु ने मार डाला था) स्वर्ग च्यव कर सुप्रतिष्ठपुर म पुनर्वसु नाम का विद्याधर हुआ । उसने कामातुर हो कर पुडरीक विजय के चक्रवर्ती सम्राट की पुत्री अनगसुन्दरी का हरण किया । चक्रवर्ती के विद्याधरों से आकाश में युद्ध करते समय अनगसुन्दरी घबडा गई और विमान में से गिर कर लतागृह पर पडी । वह वन में अकेली भटकने लगी । अचानक एक अजगर ने उसे निगल लिया और समाधिपूर्वक मृत्यु पा कर देवलोक में गई । वहाँ से च्यव कर वह विशल्या (लक्ष्मणजी की पत्नी) हुई । अनगसुन्दरी के विरह मे पुनर्वसु ने दीक्षा ली और निदान करके देवलोक मे गया । वहाँ से च्यव कर दशरथजी के पुत्र लक्ष्मणजी हुए ।

गुणवती का भाई गुणधर भी जन्ममरण करता कुडलमडित नामक राजपुत्र हुआ और चिरकाल श्रावक व्रत पालन कर के सीता का भाई भामण्डल हुआ ।

लवण और अंकुश के पूर्वभव

काकदी नगरी के वामदेव ब्राह्मण के वसुनन्द और सुनन्द नाम के दो पुत्र थ । एक बार उन दोनों भाइयों के माता-पिता कहीं अन्यत्र गये हुए थे, ऐसे समय उनके घर एक मासोपवासी तपस्वी महात्मा पधारे, जिन्हें दोना बन्धुओ ने भक्तिपूर्वक आहार दिया । उस दान के प्रभाव से वे मरणोपरान्त उत्तरकुरु में युगलिकपने उत्पन्न हुए । युगलिक भव पूर्ण करके सौधर्म-स्वर्ग मे देव हुए । स्वर्ग से च्यव कर फिर काकन्दी नगरी मे राजपुत्र हुए । राज्य-वैभव का त्याग कर वे सयमी बने और दीर्घकाल तक सयम का पालन कर ग्रैवेयक देव हुए । वहाँ से च्यव कर लवण और अकुशपने उत्पन्न हुए । उनके पूर्वभव की माता ने भव-भ्रमण कर के सिद्धार्थ हो कर दोनो बन्धुओ का अध्यापन कार्य किया था ।

वीतराग-सर्वज्ञ महामुनि श्री जयभूषणजी महाराज ने इस प्रकार पूर्वभवो का वर्णन किया । जीव ने भवचक्र मे कितने दुष्कर्म किये और उनका कटुफल भोगा इसका विवरण सुन कर बहुत-से लोग ससार से विरक्त हुए । सेनापति कृतात तो उसी समय प्रव्रजित हुए । राम-लक्ष्मण आदि महर्षि को वन्दना करके महासती सीता के पास आये । सीता को देख कर राम के मन में चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह कोमलागी सीता सयम के भार को कैसे वहन कर सकेगी ? पुष्प के समान अत्यत सुकुमार इसका शरीर, शीत और ताप के कष्ट किस प्रकार सहन करेगा ? फिर उनके विचार पलटे । नहीं यह महासती रावण जैसे महाबली के सामने भी अडिग रही है । यह सयम-भार का वहन करने में समर्थ होगी । इस प्रकार का विचार करके रामभद्रजी ने महासती को वन्दना की । श्री लक्ष्मण आदि ने भी श्रद्धापूर्वक वन्दना की और स्वस्थान आये । सीताजी सयम और तप की आराधना करके मासिक सलेषणापूर्वक आयु पूर्ण कर अच्युतेन्द्र हुए । उनकी स्थिति २२ सागरोपम हुई । कृतातवदन मुनि भी सयम पाल कर ब्रह्मदेवलोक में देव हुए ।

राम-लक्ष्मण के पुत्रो में विग्रह

वैताढ्यगिरि पर काचनपुर नगर के कनकरथ नरेश के मदाकिनी और चन्द्रमुखी नाम की कुमारियाँ थी। उनके स्वयवर में अन्य नरेशों और राजाओं के अतिरिक्त राम-लक्ष्मण को राजकुमारों सहित आमन्त्रण दिया था। वे भी आये। राजकुमारी मदाकिनी ने राजकुमार अनगलव गले मे और चन्द्रमुखी न मदनाकुश क गले म, स्वेच्छा से वरमाला पहिना कर वरण किया। यह कर लक्ष्मण के श्रीधर आदि २५० कुमारों मे उत्तेजना उत्पन्न हुई। वे युद्ध के लिए तत्पर हो गए। भाईया का अपने विरुद्ध युद्ध मे तत्पर देख कर लवण और अकुश क्षुब्ध हो गए। उन्होंने अपने भ्र के विरुद्ध शस्त्र उठाना उचित नहीं समझा। अपने पिता और काका का भ्रातृ-स्नेह उनका आदर्श था। उन्होन अपने मे और श्रीधरादि लक्ष्मण-पुत्रो म भेद मानना ठीक नहीं समझा। जब उन्होंने यह मनोभावना व्यक्त की तो श्रीधरादि पर भी उसका प्रभाव पड़ा। व लवणाकुश के समीप आये और अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप किया। उन सभी ने ससार से विरक्त हो कर महाबली मुनि के प प्रव्रज्या ले कर सयम-साधना में तत्पर हुए और लवण और अकुश का उन राजकुमारिया के साथ विवा हुआ।

भामण्डल का वैराग्य और मृत्यु

एक समय भामण्डल नरेश अपने भवन की छत पर बैठे थे। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि "मैने वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियों का राज्याधिकार और सुखोपभोग किया। अब ससार का त्याग क के सयम-साधना करूँ और मानव-भव सफल करूँ"- इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे कि उसी समय उ पर आकाश मे से बिजली पडी और वे मृत्यु पा कर देवकुरु क्षेत्र में युगलिक मनुष्य हुए।

हनुमान का मोक्ष

एक बार हनुमानजी मेरु पर्वत पर क्रीड़ा करने गये। सध्या का सुहावना समय था। वे प्राकृति दृश्य देख रहे थे कि अस्त होते हुए सूर्य पर उनके विचार अटके। वे सोचने लगे -

"ससार में उदय और अस्त चलता ही रहता है। आज जो उदय के शिखर पर चढा हुआ है कालान्तर म अस्त के गहरे गड्ढे में गिर जाता है। जो आज राव है, वह रक भी हो जाता है। विज पराजित हो जाता है और जो जन्म लेता है वह मरता ही है। यह ससार की रीति है। उदयभाव जीव उत्थान और पतन के चक्कर में घुमता रहता है। वे भव्यात्माएँ धन्य हैं जो ससार से उदासीन कर सयम और तप से ... छेदन कर, शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लेती है। मुझे भी अब साव हो कर इस उदय-अस्त ... काट देना चाहिए।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए हनुमान विरक्त हो गए । वे नगर में आये और पुत्र को राज्यभार सौंप कर आचार्य धर्मरत्नजी के पास निर्ग्रन्थ अनगार बन गए । उनके साथ अन्य सात सौ पचास राजा भी दीक्षित हुए । उनकी रानियो ने महासती श्री लक्ष्मीवतीजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की । मुनिराज श्री हनुमानजी, साधना के शिखर पर चढे और वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने । फिर आयुकर्म पूर्ण होने पर मोक्ष को प्राप्त हुए ।

लक्ष्मणजी का देहावसान और लवणांकुश की मुक्ति

हनुमानजी की दीक्षा के समाचार सुन कर रामभद्रजी ने विचार किया - "प्राप्त राज्य-वैभव और सुखभोग छोड कर हनुमान साधु क्यो बना ? क्या ऐसे उत्कृष्ट भोग बार-बार मिलते हैं ? ऐसे भोगों को छोड कर महाकष्टकारी दीक्षा लेने मे उसने कौनसी बुद्धिमानी की ?" रामभद्रजी की ऐसी विचारधारा चल ही रही थी कि प्रथम स्वर्ग के स्वामी सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान से रामभद्रजी की चित्तवृत्ति जानने का प्रयत्न किया । उन्हाने अपनी देवसभा को सम्बोधित करते हुए कहा - "कर्म की कैसी विचित्र गति है चरम-शरीरी राम जैसे महापुरुष भी इस समय विषय-सुख की अनुमोदना और धर्म-साधना की अरुचि रखते हैं ? वास्तव मे इसका मुख्य कारण राम-लक्ष्मण का परस्पर गाढ-स्नेह सम्बन्ध है । यह बन्धु-स्नेह ही उन्हे धर्म के अभिमुख नहीं होने देता ।"

इन्द्र की यह बात सुन कर दो देव कौतुक वश अयोध्या में आये । उन्होने अपनी वैक्रिय-लब्धि से ऐसा दृश्य उपस्थित किया कि जिससे अन्त पुर की समस्त रानियाँ रोती विलाप करती और आक्रन्द करती दिखाई दी । वे -'हा, पद्म ! हा राम ! हा, अयोध्यापति कुलश्रेष्ठ ! आप अचानक तथा असमय ही हम सब को छोड कर परलोक क्यो सिधार गए," आदि ।

रानियों का आक्रन्द तथा शोकमय वातावरण ने लक्ष्मण को आकर्षित किया । अपने ज्येष्ठ-बन्धु की मृत्यु की बात वे सहन नहीं कर सके, तत्काल उनकी हृदयगति रुक गई और वे मृत्यु को प्राप्त हो गए । कर्म का विपाक गहन और अलघ्य होता है ।

देवों को अपने कौतुक का ऐसा दुष्परिणाम देख कर पश्चात्ताप हुआ । वे खेदपूर्वक बोले - "हा, हमने महापुरुष का घात कर दिया । हम कितने अधम हैं ।" आत्मनिन्दा करते हुए स्वस्थान चले गए ।

लक्ष्मणजी को मृत्यु प्राप्त जान कर सारा अन्त पुर परिवार आक्रन्द करने लगा । अन्त पुर का विलाप तथा शोकोद्गार सुन कर रामभद्रजी तत्काल दौडे आये और रानिया से बोले ।

"तुम क्यो रोती हो ? कौनसी दुर्घटना हो गई ? कौन मर गया ? ऍं लक्ष्मण ? नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता । मुझे छोड कर लक्ष्मण नहीं मर सकता । उसे काई रोग हुआ होगा । मैं अभी उसका उपाय करता हूँ । तुम सब शान्त रहा ।"

रामभद्रजी ने तुरन्त वैद्यो और ज्योतिषिया को बुलाया । अनेक प्रकार के औषधोपचार किये म तन्त्र के पयोग भी कराये, पग्न्तु सभी निष्फल रहे । राम हताश हो कर मूर्च्छित हो गए । कुछ समय मूर्च्छा दूर होने पर उनका हृदयावेग उमडा । वे रोने और विलाप करने लगे । विभीषण सुग्रीव और श आदि भी रोने लगे । सभी की आँखे झरने लगी । सारी अयोध्या शोकसागर में निमग्न हो गई । इस दु ने लवण और अकुश के हृदय में वैराग्य भर दिया । उन्होंने रामभद्रजी से निवेदन किया - "पूज्य ! ह लघुपिता परलोकवासी हो कर हम शिक्षा दे गये हैं कि यह ससार और कामभोग नाशवान् हैं । इन्हें छ कर बरबस मरना पडेगा । हम अब ऐसे वियोग परिणाम वाले सयोगों से विरक्त हैं । आप आज्ञा प्रदान हम स्वेच्छा से ससार का त्याग करेंगे ।" दोना बन्धु, राम को प्रणाम करके चल दिये और अमृतघोष के पास दीक्षित हो कर अनुक्रम से मुक्ति प्राप्त कर ली ।

राम का मोह-भंग, प्रव्रज्या और निर्वाण

प्राणप्रिय भाई के अवसान और पुत्रो के ससार-त्याग के असह्य आघात से राम बार शोकाकुल हो मूर्च्छित होने लगे । मोहाभिभूत होने क कारण लक्ष्मण की मृत्यु का उन्हें विश्वास नहीं होता था। वे सोचते थे - "लक्ष्मण रूठ गया है । किसी कारण वह सभी लोगों से विमुख हो मौन है ।" वे कहने लगे -

"हे भाई ! मैने तेरा क्या अपराध किया ? यदि अनजान में मुझ-से कोई अपराध हो गया हो, तो बता दे । तेरे रूठने से लव-कुश भी मुझे छोड कर चले गये । एक तेरी अप्रसन्नता से सारा संसार मेरे लिए दु खमय हो गया है । बन्धु ! मान जा । प्रसन्न हो जा । तेरी प्रसन्नता मेरा जीवन बन जायगी । सीता गई और पुत्र भी गये । यदि तू मेरा बना रहा तो मैं अन्य अभाव भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लूँगा । बोल, बोल कुछ तो बोल ! तू इतना निर्मोही क्यों हो गया है ?"

इस प्रकार रामभद्रजी अनेक प्रकार से करुणापूर्ण वचन बोलते हुए लक्ष्मणजी के सिंहासनारूढ शरीर के सामने बैठ कर विविध प्रकार के मनौती करने लगे । रामभद्रजी की एसी दशा देख कर विभीषण आदि गद्‌गद् स्वर से समझाने लगे -

"हे स्वामी ! आप पुरुषोत्तम हैं, धीरवीर हैं । आपको इस प्रकार मोह में डूबना नहीं चाहिए । अब आप सावधान बन और लक्ष्मणजी के शरीर की लोक-प्रसिद्ध उत्तरक्रिया करने की तैयारी करें । अब इस शरीर मे आत्मा नहीं रही । वह अपनी स्थिति पूर्ण कर चली गई । जो जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य मरता है । धीरजन ऐसे वियोग के दु ख को शान्ति स सहन करत हैं । आप यहाँ से दूसरे कक्ष में चलिये । अब इस समय शरीर की सस्कार-विधि प्रारम्भ करवाएँगे ।

रामभद्रजी यह बात सहन नहीं कर सके । भ्रकुटि चढा कर क्रोधपूर्ण स्वर में बोले ,-

"दुष्टो ! तुम्हें भी क्या मुझ से शत्रुता है ? तुम लक्ष्मण को मग हुआ कहते हो ? तुम्हें दिखाई नहीं देता कि यह रूठा हुआ है । यह हजारो को मारने वाला वीर भी कभी मर सकता है और मुझे छोड कर ? तुम धृष्ट हो । तुम भी मुझसे वैर रखते हो । में तुम्हारी इस अधमता को सहन नहीं करूँगा । यदि अग्निदाह करना है, तो तुम्हारा ही सपरिवार होना चाहिये । मेरा भाई तो जीवित है । यह दीर्घायु है । मुझ-से पहले यह नहीं मर सकता । यह मुझ-से रूठ गया है । मैं इसे मनाऊँगा । हे प्रिय लक्ष्मण ! बोल, शीघ्र बोल । तेरे रूठने से इन सब दुर्जनो का साहस बढ गया है । अब तुम्हारा मौन रहना ठीक नहीं । तुम कोप को दूर करो और प्रसन्न होओ । चलो, अपन यहाँ से कहीं दूर वन में चलें । वहाँ इन दुष्टो की छाया भी न पड सकेगी । मैं एकान्त स्थान मे तुम्हे मनाऊँगा ।" इस प्रकार कहकर रामभद्रजी ने लक्ष्मणजी को कन्धे पर उठाया और चल दिये । वे लक्ष्मण के शरीर को स्नानगृह में ले जा कर स्नान कराने लगे, फिर चन्दन का विलेपन किया, वस्त्राभूषण पहिनाये और अपनी गाद में ले कर चुम्बनादि करने लगे । कभी भोजन का थाल मँगवा कर खाने का आग्रह करते, कभी पलग पर सुला कर पखा झलते, कभी पाँव दबाते और कभी कन्धे पर उठा कर चलते । इस प्रकार मोह मे भान भूल कर, वे भाई के शव को ले कर घुमने लगे । इस प्रकार करते छह महीने बीत गए । लक्ष्मण का देहावसान और राम की विक्षिप्त जैसी दशा का समाचार पा कर इन्द्रजीत और सुन्द राक्षस के पुत्रो तथा अन्य खेचर शत्रुओ ने राम को मारने के विचार से सेना ले कर अयोध्या के निकट आये और घेरा डाल दिया । जब राम ने शत्रुसेना से अयोध्या को अवरुद्ध पाया तो उन्होने लक्ष्मण के शव को गोद में ले कर अपना धनुष सम्हाला और आस्फालन किया । उस वज्रावर्त धनुष ने अकाल में भी सवर्तक मेघ की वर्षा की । उस समय राम के पूर्व-स्नेही जटायुदेव का आसन चलायमान हुआ । वह कुछ देवो के साथ यहाँ आया । देवों को राम की सहायता मे आया दख कर शत्रु भयभीत हुए और घेरा उठा कर चले गये । साथ ही इन्द्रजीत के पुत्रो आदि कई प्रमुख व्यक्ति, ससार से विरक्त हो कर, अतिवेग नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए ।

जटायुदेव ने राम का भ्रम दूर करने के लिए युक्ति रची । वह सूखे हुए वृक्ष के ठूँठ के मूल में पानी डाल कर सिचन करने लगा । यह देख कर राम उसकी मूर्खता पर खीजे और बोले - 'अरे मूर्ख कहीं सूखा ठूँठ भी रहा होता है ?" देव बोला - "यदि सूखा हुआ ठूँठ हरा नहीं होता, तो मरा हुआ मनुष्य भी कभी जीवित होता है ?" राम ने देव की युक्ति पर ध्यान नहीं दिया और आगे चलन लगे । कुछ दूर चलने के बाद उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति पत्थर की शिला पर कमल उगाने का प्रयत्न कर रहा है । राम ने उसकी मूर्खता का भान कराने के लिए कहा तो उन्हे भी वैसा ही उत्तर मिला । आगे चलने पर उन्हे एक किसान मरे हुए बैल के कन्धे पर हल का जुआ रख कर खेत जोतने का प्रयत्न करते हुए दिखा । उसके बाद एक तेली को घानी में रत डाल कर तेल निकालने की चेष्टा करते हुए दखा । उनके उलटे प्रश्न से भी राम का भ्रम दूर नहीं हुआ । उस समय उनके कृतातवदन सारथी के

जीव-देव ने अवधिज्ञान से रामभद्रजी की दशा देखी, तो वह भी उन्हें बोध देने के लिए आया और मनुष्य रूप में एक स्त्री के शव को कन्धे पर उठाये और प्रेमालाप करते हुए उनके सामने से निकला। रामभद्रजी ने उसे टोका - "अरे मूर्ख ! तेरे कन्धे पर स्त्री का मूर्दा शरीर है । इसमे प्राण नहीं रहे। इससे प्रेमालाप करना छोड कर इसकी उत्तर-क्रिया कर दे ।"

- "नहीं, आप झूठ बोलते हैं, यह मेरी प्राणप्रिया-पत्नी है । मुझे छोड कर यह नहीं मर सकती। यह मुझ-से रूठ गई है । मैं इसे मनाऊँगा" - देव बोला ।

- "अरे भोले ! यह जीवित नहीं, मरी हुई है । अब यह किसी भी प्रकार जीवित नहीं हो सकती। कोई देव-दानव और इन्द्र भी इसे जीवित नहीं कर सकता । तू मूर्खता छोड कर इसकी अग्नि - क्रिया कर दे" - राम ने उसे समझाया ।

- "क्या मैं मूर्ख हूँ, बेभान हूँ ? फिर आप अपने कन्धे पर क्या जीवित मनुष्य को ढो रहे हैं ? महानुभाव ! इतना तो सोचो कि यदि लक्ष्मण जीवित होते , तो आपके कन्धे पर रहते ? आपको पिता के समान पूज्य मानने वाले, आपके कन्धे पर चढते ? इनके श्वासोच्छ्वास बन्द रहते ? चेतना लुप्त होती ? छह महीने तक ये निश्चल रहते ?"

इस युक्ति से राम प्रभावित हुए । अब उन्हें भी लक्ष्मणजी के जीवन में सन्देह होने लगा । फिर जटायु देव और कृतांत देव ने प्रकट रूप से रामभद्रजी को समझाया और स्वस्थान चले गए । इसके बाद राम ने लक्ष्मण के देह का अतिम-सस्कार किया और शत्रुघ्न को राज्य दे कर ससार का त्याग करने की इच्छा व्यक्त की । किन्तु शत्रुघ्न भी ससार से विरक्त थे, अतएव लवण के पुत्र अनगदेव को राज्यासन पर स्थापित कर के मोक्ष-साधना में तत्पर हुए और विभीषण शत्रुघ्न, सुग्रीव और विराध आदि नरेशों के साथ रामभद्रजी, भ० मुनिसुव्रतनाथ की परम्परा के महामुनि सुव्रताचार्य के समीप प्रव्रजित हुए । अन्य सोलह हजार नरेश भी दीक्षित हुए और तेतीस हजार रानियें भी श्रीमती साध्वीजी के पास दीक्षित हुईं ।

मुनिराज श्री रामभद्रजी ने चौदह पूर्व और द्वादशागीरूप श्रुत का अभ्यास किया और विविध प्रकार के अभिग्रह से युक्त तपस्या करते हुए साठ वर्ष व्यतीत किये । इसक बाद एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार की और निर्भय होकर किसी पर्वत की गुफा मे ध्यान करने लगे । उन्हें तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हो कर अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया । वे लोक के रूपी पदार्थों को हाथ में रही हुई वस्तु के समान प्रत्यक्ष देखने लगे । उन्होने जान लिया कि-लक्ष्मण की मृत्यु, देवों के कपटयुक्त व्यवहार से हुई और वे पकप्रभा नामक चतुर्थ पृथ्वी में दिखाई दिये । उन्हे देखकर मुनिराज श्री का विचार हुआ -

"मैं पूर्वभव में धनदत्त था और लक्ष्मण मेरा छोटा भाई वसुदत्त था । वह बिना शुभ कृत्य किये मृत्यु पा कर भवभ्रमण करता रहा और अत में मेरा छोटा भाई हुआ । इस भव में भी वह बिना ही धर्म आराधना के बारह हजार वर्ष का लम्बा जीवन पूर्ण कर के नरक में गया । कर्म का फल ही ऐसा है ।

इसमें उन दो देवों का कोई दोप नहीं ।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए रामभद्रजी, कर्मों का दहन करने में विशेष तत्पर हुए और उग्र तप युक्त ध्यान करने लगे । एक बार वे तप की पूर्ति पर पारणा लेने के लिये 'स्यन्दन स्थल' नगर में गये । मुनिराज का चन्द्रमा के समान सौम्य एव देदीप्यमान रूप देखकर नगरजन अत्यत हर्षित हुए । स्त्रियें उन्हे भिक्षा देने के लिये भोजन-सामग्री ले कर द्वार पर आ खडी हुई। उस समय नगरजनों मे इतना कोलाहल बढा कि जिसमे चमत्कृत हो कर हाथी, बन्धन तुडा कर भागने लगे । घोडे, खूँटे उखाड कर इधर-उधर दौडने लगे । रामभद्रजी तो उज्झित धर्म वाला (फैंकनेयोग्य) आहार लेने वाले थे । उन्हं इस प्रकार सामने ला कर दिया हुआ आहार नहीं लेना था । वे बिना आहार किये ही वन मे लौटने लगे । किन्तु राजगृह में प्रतिनन्दी राजा के यहा से उन्हें वैसा आहार मिल गया । देवो ने पच-दिव्य का वर्षा की । नागरिको का हलचल और हाथी-घोडो की भगदड देख कर उन्होने यह अभिग्रह कर लिया कि 'यदि मुझे अरण्य में ही भिक्षा मिलेगी तो तप का पारणा करूँगा, अन्यथा पारणा नहीं करूँगा ।' इस प्रकार अभिग्रह धारण कर के शरीर से निरपेक्ष हो कर समाधिपूर्वक विचरने लगे ।

उस समय विपरीत शिक्षा वाले वेदवान अश्व से आकर्षित, प्रतिनन्दी राजा वहा आया । घोडा अत्यत प्यासा था । वह नन्दनपुण्य सरोवर को देख कर पानी पीने के लिए उसमे गया किन्तु दलदल में फँस गया । उसका बाहर निकलना कठिन हो गया । थोडी देर मे राजा की सना भी वहाँ पहुँची और राजा तथा घोडे को दलदल से निकाला । राजा ने उस सरोवर के किनारे ही पडाव लगा दिया और भोजन बना कर सभी ने खाया-पिया । उधर मुनिराज रामभद्रजी ने ध्यान पूर्ण किया और पारणे के लिए चले, तो वहीं आ पहुचे । राजा ने बडे आदर-सत्कार एव श्रद्धा युक्त वन्दन किया और बचा हुआ आहार मुनिवर को प्रतिलाभित किया । मुनिराज ने वहीं पारणा किया । देवा ने पुष्पवृष्टि की । मुनिराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया । राजा ने सम्यग्दृष्टि हो कर बारह व्रत धारण किये । वन मे रहते हुए मुनिराज मासखमण, द्विमासखमण आदि उग्र तप और विविध प्रकार के आसन से ध्यान करने लगे । एक बार वे कोटिशिला पर बैठ कर ध्यान करने लगे । ध्यान की धारा बढी और वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने लगे । उधर इन्द्र बने हुए सीता के जीव ने अवधिज्ञान से महामुनि रामभद्रजी को देखा । उन्हें क्षपक श्रेणी पहुचते देख कर विचार हुआ-'मुझे तो अभी कुछ भव करना है। यदि मुनिराज मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, तो मुझे इसका सहवास नहीं मिलेगा। यदि ये अभी अपनी साधना मे ढीले बन जायँ, तो आगे मनुष्य भव में हमारा फिर सम्बन्ध जुड जाय'-इस प्रकार विचार कर इन्द्र तत्काल मुनिवर के समीप आया । उसने वहाँ बसतऋतु जैसी प्रकृति और मोहक तथा सुगन्धित पुष्पों युक्त उद्यान की विकुर्वणा की । सुगन्धित मलयानिल चलने लगा, कोयल मधुर शब्द गुजाने लगी, पुष्पो पर भ्रमर

मँडराने लग और सभी वृक्ष तथा लताओ के पुष्पा से कामोद्दीपक बसत की बहार फूटने लगा । एस वातावरण मे इन्द्र, सीता का रूप बनाकर अन्य स्त्रिया के साथ ध्यानस्थ मुनिराज के पास आया और कहने लगा–

"आर्य पुत्र । मैं आपकी प्राणपिया सीता हूँ। मैं आपसे कृपा की याचना ले कर आई हूँ। उस समय मैंने आपकी बात नहीं मानी और रूठ कर दीक्षित हो गई, किंतु अब मैं पश्चात्ताप कर रही हूँ। ये विद्याधर कुमारिकाएँ भी आपको वरण करना चाहती हैं । कृपा कर हम सब को स्वीकार कर । मैं विश्वास दिलाती हूँ कि अब आपसे कभी नहीं रूठूँगी और आपको हर प्रकार से प्रसन्न रखन का प्रयत्न करूँगी ।" साथ की किन्नरियें वादिन्त्र के साथ मधुर सगीत तथा नृत्य करने लगी । उन्हान बहुत प्रयत्न किया । महामुनि को ध्यान से गिराने की बहुत चेष्टा की, किंतु वे अडिग रहे और घातिकर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गए । वह माघ-शुक्ला द्वादशी की रात्रि का अतिम प्रहर था । सीतेन्द्रादि देवों ने केवल महोत्सव किया । सर्वज्ञ भगवान् रामभद्रजी ने धर्मोपदेश दिया। सीतेन्द्र ने अपने अपराध की क्षमा याचना कर लक्ष्मण और रावण की गति के विषय म पूछा । भगवान् ने कहा-'इस समय शबुक सहित रावण और लक्ष्मण चौथी पकप्रभा पृथ्वी मे हैं । वहा का आयुपूर्ण कर रावण और लक्ष्मण पूर्व-विदेह की विजयावती नगरी में जिनदास और सुदर्शन नाम के दो भाई के रूप में होंगे । जिनधर्म का पालन कर सौधर्म देवलोक में देव हागे । वहाँ से च्यव कर फिर विजयपुर मे श्रावक होंगे । वहाँ का आयु पूर्ण कर हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिक हागे । वहाँ से मर कर देव होगे । वहाँ से च्यव कर पुन विजयपुरी में जयकान्त और जयप्रभ नाम के राजकुमार होंगे । वहाँ सयम की आराधना करके लातककल्प म देव होंगे । उस समय तुम अच्युत कल्प से च्यव कर इस भरत क्षेत्र में सर्वरत्नमति नाम के चक्रवर्ती बनोगे और वे दोनों लातक देवलोक से च्यव कर तुम्हारे पुत्र होंगे – इन्द्रायुध और मेघरथ । तुम दीक्षित हो कर दूसरे अनुत्तर विमान में उत्पन्न हागे । रावण का जीव इन्द्रायुध तीन शुभ भव कर के तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा और तीर्थंकर होगा । उस समय तुम अनुत्तर विमान से मनुष्य हो कर तीर्थंकर के गणधर बनोगे और आयु पूर्ण कर मोक्ष प्राप्त करोगे । लक्ष्मण का जीव मेघरथ, शुभ गति प्राप्त करता हुआ पुष्करवर द्वीप के पूर्वविदेह की रत्नचित्रा नगरी म चक्रवर्ती बनेगा और दीक्षित हो क्रमश तीर्थंकर पद प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करेगा ।

भविष्य-कथन सुनकर सीतेन्द्र ने सर्वज्ञ भगवान् रामभद्रजी की वन्दना की और स्नेहवश लक्ष्मणजी के पास नरक मे आये । उस समय वहा शबुक और रावण के जीव, सिह रूप बनाकर लक्ष्मण के जीव के साथ क्रोधपूर्वक युद्ध कर के दु खी हो रहे थे । सीतेन्द्र ने उन्हें सम्बोधन कर कहा– " तुम क्यों द्वेष वश आपस में लड कर दु खी हो रहे हो । तुम मनुष्य भव में कितने

समृद्धशाली वलवान् और राज्याधिपति थे । तुमने मनुष्य भव का सदुपयोग नहीं किया और लडाई-झगडे, वैर-विरोध और जन-सहारक युद्ध कर के पाप का उपार्जन कर नरक में उत्पन्न हुए । अब यहा भी लडाई-झगडा कर वैर बढा रहे हो । तुम्हारी यह पापवृत्ति तुम्हें भवोभव दु खी करती रहेगी । अब भी समझो और वैर भाव छोडकर शान्ति धारण करोगे तो भविष्य में सुखी बनोगे । श्री रामभद्रजी ने ... का आचरण किया, तो वे वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवन्त हो गए। मैं सीता का जीव हूँ । मैंने धर्म ... रत स्वर्ग का इन्द्रपद पाया । मैंने सर्वज्ञ भगवान् से तुम्हारा भविष्य पूछा था । और तत्काल वहाँ आया ... भगवान् महावीर ... देव से हुई बात कही । भगवान् ने ... या है । अब तुम पाप भावना छोड कर धर्मप्रिय बनो और आत्मा को कहता हूँ ।" ... से उनका क्रोध शान्त हुआ। उन्होने कहा -"कृपानिधि! आपने

इसके बाद गगदत्त देव ने अप... कार किया है । आपके उपदेश से हम वैरभाव छोडते हैं । अब हम ... री क्षेत्रवेदना कौन मिटाएगा ?" सीतेन्द्र ने करुणा ला कर उन्हें सुखी करने के लिए स्वर्ग में ले जाना चाहा और हाथ में उठाया, किंतु उनका शरीर पारे के समान बिखर गया । इससे उन्हे अत्यत दु ख हुआ पुन उठाने पर फिर वही दशा हुई । अत मे उन्होंने कहा -"देवेन्द्र! आपकी हम पर पूर्ण कृपा है किंतु हमे हमारा पाप यहीं रह कर भुगतना पडेगा । आप स्वस्थान पधारें ।" सीतेन्द्र ने उन्हे पुन सद्बोध दिया और वहाँ से चल कर देवकुरु मे आ कर भामण्डल क जीव युगलिक को देखा । उन्हे भी सद्बोध दे कर अपने स्वर्ग में चले गए ।

भगवान् रामर्षिजी पच्चीस वर्ष तक केवलपर्याय से विचरे और कुल आयु पन्द्रह हजार वर्ष का पूर्ण कर शाश्वत सुख के स्वामी बने ।

॥ इति राम - चरित्र ॥

"मित्रो ! मैं ससार से विरक्त हो गया हूँ और भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के द्वारा प्रव्रजित होन चाहता हूँ । कहो तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

सभी मित्रों ने कहा – "देवप्रिय ! यदि आप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, तो हमारे लिए ससा में अन्य आधार ही क्या रह जायगा ? किसके आकर्षण से हम ससार मे टिके रहेंगे और ससार हमारे लिए भी भय रूप एव त्यागने योग्य है । अतएव हम भी आपके साथ प्रव्रजित होंगे और आप साथ जीवनपर्यन्त बनाये रखेंगे ।"

यदि तुम सब मेरे साथ ही दीक्षित होना चाहते हो तो अपने-अपने घर जाओ और अपना गृहभा ज्येष्ठ-पुत्र को सौंप कर उत्सवपूर्वक मेरे समीप आओ ।"

कार्तिकश्रेष्ठी ने अपने सगे-सम्बन्धिया और मित्र-ज्ञातिजनो को एक भोज दिया और उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ-पुत्र को अपना सभी दायित्व सौंप कर समारोहपूर्वक घर से निकला । उसके ज्येष्ठ-पुत्र आदि और एक सहस्र आठ विरक्त व्यापारी मित्रों सहित अभिनिष्क्रमण यात्रा चली । जयघोषपूर्वक हस्तिनापुर के मध्य में होते हुए सहस्राम्र वन में आये और भगवान् के छत्रादि अतिशय दृष्टिगोचर हाते ही शिविका से नीचे उतरे । फिर भक्तिपूर्वक भगवान् के समीप पहुँचे और भगवान् का वन्दन-नमस्कार कर के ईशानकोण की ओर एकान्त मे गये । उन्होंने आभूपण-अलकारादि उतारे और भगवान् के समीप उपस्थित हो कर वन्दना-नमस्कार कर प्रव्रजित करने की प्रार्थना की । भगवान् ने स्वय ही कार्तिक और उसके साथ के एक सहस्र आठ विरागियो को प्रव्रजित किया और धर्म-शिक्षा दी ।

कार्तिक अनगार सयम-साधना करते हुए स्थविर महात्मा के समीप चौदह पूर्व का अध्ययन किया और अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए बारह वर्ष पर्यन्त सयम पाला । एक मास का सथारा युक्त अनशन के साथ आयु पूण कर के प्रथम स्वर्ग क असख्य देव-देवियो और बत्तीस लाख देव विमाना के स्वामी इन्द्रपने उत्पन्न हुए । उनकी आयु स्थिति दो सागरोपम प्रमाण की है ।

२१ नमिनाथजी

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम-विदेह के भरत नाम के विजय में 'कौशाम्बी' नामक नगरी थी । वहाँ 'सिद्धार्थ' नाम का राजा राज्य करता था । वह गाभीर्य, उदारता, धैर्य और सदाचारादि गुणों से सुशोभित था । कालान्तर में राजेन्द्र ने राज्य-वैभव तथा ससार त्याग कर मुनिराज श्री सुदर्शनजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और सयम तथा तप का शुद्धता एव उत्तमतापूर्वक आचरण करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध किया और आयु पूर्ण कर अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए । उनकी देवायु की स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण थी ।

जम्बूद्वीप के इस भरत क्षेत्र में मिथिला नाम की नगरी थी । महाप्रतापी एव उच्चवशीय महाराज विजयसेन वहाँ के अधिपति थे । उनकी महारानी वप्रा थी, रूप एव शील मे श्रेष्ठ । सिद्धार्थ देव अपनी देवायु पूर्ण कर आश्विन-पूर्णिमा की रात्रि में अश्विनी नक्षत्र मे महारानी वप्रा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण-कृष्णा अष्टमी की रात्रि को अश्विनी-नक्षत्र में, पुत्र का जन्म हुआ । देवों और इन्द्रो ने तीर्थंकर-जन्म का उत्सव किया ।

जिस समय तीर्थंकर का यह जीव माता के गर्भ म आया, उसके पूर्व से ही मिथिला नगरी, शत्रुओं से घिरी हुई थी । गर्भ के प्रभाव से माता के मन में नगर की स्थिति देखने की इच्छा हुई । वह भवन के ऊपर की छत पर चढ कर देखने लगी । उनकी दृष्टि शत्रु-सेना पर पडी । माता की दृष्टि पडते ही शत्रुदल के अधिपतियो की मति पलटी । उन्हें अपनी अल्प शक्ति और मिथिलेश की प्रबल शक्ति का भान हुआ और भावी अनिष्ट की आशका हुई । उन्होंने तत्काल घेरा उठा लिया और मिथिलेश विजयसेनजी से सन्धिचर्चा की । शत्रु-दल झुक गया और मिथिलेश के सामने आ कर नमन किया । सकट टल गया और बिना लडाई के ही विजय प्राप्त हो गई । इस अनायास परिवर्तन को गर्भस्थ जीव का पुण्य-प्रभाव मान कर माता-पिता ने बालक का 'नमि कुमार' नाम दिया । क्रमश यौवन अवस्था प्राप्त होने पर आपका राजकन्या के साथ लग्न हुआ । जन्म से ढाई हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता ने आपका राज्याभिषेक करके सारा भार सौंप दिया । पाँच हजार वर्ष तक राज करने के बाद आपने वर्षी-दान दिया और अपने सुप्रभ पुत्र को राज्य दे कर आषाढ़-कृष्णा नवमी को अश्विनी-नक्षत्र में, दिन के अतिम पहर में बेले, के तप सहित, एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की । प्रव्रज्या

"महानिशाया प्रवृत्तें, कायोत्सर्गे पुराद्बहि । स्तभवत्स्कन्ध कषण वर्षा कदा मयि ।"

- मैं आधी रात के समय नगर के बाहर कायोत्सर्ग मे स्थिर हो कर खडा रहूँ और अन्धेरी रात में मेरा स्थिर शरीर, लकडी के सूखे हुए ठूँठ जैसा लगे, जिसे देख कर वृषभ-गण अपने कन्धों को खाज खुजालने के लिए, मेरे शरीर का घर्षण करे - ऐसा सुअवसर कब आयगा ।

वने पद्मासनासीन, क्रोड़स्थित मृगार्भकम् । कदाऽऽघ्रास्यन्ति वक्त्रे मा, जरन्तो मृगयूथपा ॥

- मैं वन में पद्मासन लगा कर बैठूँ । मरे खोले मे मृगशावक खेलते रहे । मेरे मुख को मृगसमूह का अधिपति सूघता रहे और मैं अपने ध्यान म मस्त रहूँ - ऐसा उत्तम समय कब आएगा ।

शत्रौमित्रे तृणे स्त्रेणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि । भवे मोक्षे भविष्यामि-निर्विशेष मति कदा ।

- शत्रु और मित्र, तृण और स्त्री, स्वर्ण और पाषाण, मणि और मिट्टी तथा ससार और मुक्ति में मेरी समबुद्धि कब होगी ?

इस प्रकार मुक्ति-महल म चढने की निसरणी रूप गुण-श्रेणी पर चढने के लिए परम आनन्दकारी मनोरथ सदैव करते ही रहना चाहिए । इस प्रकार दिन-रात की चर्या का प्रमाद-रहित हो कर पालन करता हुआ और अपने व्रतो मे पूर्ण रूप से स्थिर रहता हुआ श्रावक, गृहस्थावस्था में भी विशुद्ध होता है ।

अनेक भव्य-जीव प्रव्रजित हुए । अनेको ने श्रावकव्रत धारण किये । कुभ आदि सतरह गणधर हुए ।

प्रभु ने दो हजार चार सौ निनाणु वर्ष और तीन मास तक केवलपर्याय से विचर कर भव्य-जीवों का उद्धार करते रहे । प्रभु के २०००० साधु, ४१००० साध्वियाँ ४५० चौदहपूर्वधर, १६०० अवधिज्ञानी, १२६० मन पर्यायज्ञानी, १६०० केवलज्ञानी, ५००० वैक्रिय-लब्धिधारी, १००० वादविजयी, १७०००० श्रावक और ३४८००० श्राविकाएँ हुई ।

मोक्षकाल निकट आने पर भगवान् समेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया । एक मास के अनशन के बाद वैशाख-कृष्णा दसमी को अश्विनी-नक्षत्र के योग में, प्रभु समस्त कर्मों का अन्त कर के मोक्ष प्राप्त हुए । देवों और इन्द्रों ने प्रभु का शरीर-सस्कार तथा निर्वाण-महोत्सव किया ।

चक्रवर्ती हरिसेन

तीर्थंकर भगवान् नमिनाथजी की विद्यमानता मे ही हरिसेन नाम के दसवें चक्रवर्ती सम्राट हुए ।

भ० अनन्तनाथजी के तीर्थ मे नरपुर नगर के नराभिराम राजा थे । वे सयम की आराधना कर सनत्कुमार देवलोक में गए । पाँचाल देश के काम्पिल्य नगर के इक्ष्वाकुवशीय महाहरी नरेश की महिषी नामकी पटरानी की कुक्षि में नराभिराम देव का जीव उत्पन्न हुआ । माता को चौदह महास्वप्न आये । पुत्र जन्म हुआ । अनुक्रम से यथावसर आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ, क्रमानुसार अन्य रत्न भी प्राप्त हुए । छह खड की साधना की और चक्रवर्ती सम्राट पद का अभिषेक हुआ । अन्त में ससार का त्याग कर चारित्र की आराधना की और समस्त कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त की । वे ३२५ वर्ष कुमार अवस्था मे, ३२५ वर्ष माण्डतिक राजापने, १५० वर्ष खण्ड साधना में, ८८५० वर्ष चक्रवर्ती नरेशपने और ३५० वर्ष चारित्र-पर्याय पाली । उनकी कुल आयु १०००० वर्ष की थी ।

चक्रवर्ती जयसेन

भ० नमिनाथ के तीर्थ में ही जयसेन नाम के चक्रवर्ती हुए ।

इसी जबूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र मे श्रीपुर नगर था । वसुन्धर राजा वहाँ राज करते थे । पद्मावती उनकी पटरानी थी । पटरानी की मृत्यु हो जाने से राजा विरक्त हो गया और अपने पुत्र विनयधर को राज्य दे कर स्वय दीक्षित हो गया और चारित्र का पालन कर, मृत्यु पा कर सातवें देवलोक में देव हुआ।

मगधदेश की राजगृही नगरी के विजय, राजा की वप्रा रानी की कुक्षि मे वसुन्धर देव का जीव उत्पन्न हुआ । माता ने चौदह स्वप्न देखे । जन्म होने पर जयकुमार नाम दिया । राज्याधिकार प्राप्त हुआ । चौदह रत्न की प्राप्ति हुई । छह खड की साधना की । चक्रवर्तीपन का अभिषेक हुआ । राज्य-सुख भोग कर प्रव्रजित हुए और चारित्र का पालन कर मुक्ति प्राप्त की । ३००० वर्ष कुमार अवस्था में, ३०० वर्ष माडलिक राजा १००० वर्ष दिग्विजय मे, १९०० वर्ष चक्रवर्ती और ४०० वर्ष सयमी-जीवन। इस प्रकार कुल तीन हजार वर्ष की आयु भोग कर मुक्ति प्राप्त की ।

भ० अरिष्टनेमिजी

पूर्वभव

इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में अचलपुर नाम का महानगर था । महापराक्रमी विक्रमधन नरेश वहाँ का शासक था । उसके प्रताप से चारो ओर के राज्य प्रभावित थे । वह दुष्टो का दमन और सज्जनो का पोषण करने वाला, न्यायप्रिय शासक था । सम्पत्ति एव कीर्ति से वह समृद्ध था । सद्गुण सुलक्षण एव सौन्दर्य सम्पन्न धारणीदेवी उसकी रानी थी । रात्रि के अतिम पहर मे रानी ने स्वप्न में एक आमवृक्ष देखा, जिसमे मजरियो के गुच्छे निकले हुए हैं । भ्रमर मत्त हो कर गुञ्जारव कर रह हैं और कोकिला आनन्दित हो कर कूक रही है । महारानी उस आमवृक्ष में फल लगते देख रही थी कि उस वृक्ष को हाथ में लेकर किसी रूपसम्पन्न पुरुष ने रानी से कहा – " यह वृक्ष आज तुम्हारे आँगन में लगाया जायगा । काल-क्रम से यह उत्कृष्ट फल देता हुआ नौ बार पृथक् आँगन में लगता रहेगा ।" रानी जाग्रत हुई और स्वप्न की बात पति से निवेदन की । राजा ने स्वप्न-शास्त्र विशारदो से फल पूछा । फलादेश बतलाते हुए पण्डिता ने कहा –

"राजन् ! यह ता निश्चित-सा है कि आपके यहाँ एक उत्कृष्ट भाग्यशानी आत्मा पुत्र के रूप में उत्पन्न होगी, किन्तु हम यह नहीं समझ सके कि वृक्ष के विभिन स्थाना पर आरापण का क्या फल होगा ।"

स्वप्नफल सुन कर महारानी बहुत प्रसन्न हुई । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक पुण्यात्मा बालक का जन्म हुआ । पुत्र का 'धनकुमार' नाम दिया गया ।

कुसुमपुर के सिह नरेश की विमला रानी की कुक्षी से पुत्री का जन्म हुआ । 'धनवती' उसका नाम था । वह अनुपम सुन्दरी एवं सद्गुणों की खान थी । यौवनावस्था में वह अपनी सखियों के साथ उद्यान में वनक्रीडा के लिए गई । वसतऋतु के प्रभाव से उद्यान की शोभा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी । सुन्दर एव सुगधित पुष्पों से सारा उपवन सुरभित हो रहा था । भ्रमरगण अपनी तान अलाप रहे थे, सारस पक्षियो के युगल अपनी सुरिली ध्वनि से आनन्दानुभूति व्यक्त कर रहे थे । स्वच्छ जल से परिपूर्ण तालाब में हसों का समूह क्रीडा कर रहा था और उद्यान-पालक की पत्नियाँ का मधुर गान, कर्णगोचर हो रहा था । उस मनोहर उद्यान में राजकुमारी अपनी सहलिया के साथ सुखानुभव करती हुई विचर रही थी । हठात् उसकी दृष्टि अशोक वृक्ष के नीचे खडे हुए एक पुरुप पर पड़ी । वह हाथों में एक पट लिए कुछ लिख रहा था । राजकुमारी की सखी कमलिनी उसके पास पहुँची और झपट कर उसका वह पट छिन लिया । वह चित्रकार था । उसके चित्रपटों म एक उत्कृष्ट स्वरूपवान् पुरुप-प्रवर का भी चित्र था । उस चित्र को देख कर कमलिनी ने पूछा,-

"यह चित्र किसी साक्षात् पुरुष-श्रेष्ठ का है या आपने कल्पना एव कला का उत्कृष्ट परिचय दिया है ?"

"यह कल्पना का सर्जन नहीं, साक्षात् के यथार्थ का लघु चित्रण है" - चित्रकार ने कहा ।

"भद्रे ! अचलपुर के युवराज धनकुमार का यह चित्र है । यदि कोई उस अलौकिक महापुरुष को देख कर, फिर मेरे चित्र को देखे, तो मेरी निन्दा किये बिना नहीं रहे क्याकि मैं उनके उत्कृष्ट सौन्दर्य का पूर्णरूप से आलेखन करने मे समर्थ नहीं हूँ । यदि तुम युवराज को साक्षात् देख लो, तो तुम स्वय आश्चर्य करने लगो । जिनका रूप देख कर देवागना भी माहित हो सकती है, उनके अलौकिक रूप का पूर्णरूप से आलेखन कोई मनुष्य कैसे कर सकता है" - चित्रकार बोला ।

"महाशय ! आपका कथन यथार्थ होगा, फिर भी वह चित्र-कला का उत्कृष्ट नमूना है । आप निपुण हैं, दक्ष हैं और उत्कृष्ट कलाकार हैं" - युवती चित्रकार की प्रशसा करने लगी ।

राजकुमारी पर उस चित्र का गभीर प्रभाव पडा । वह उसी के ध्यान में मग्न हो गई । उसके मन में धनकुमार बस गया । वह उसी चिन्ता में लीन हो गई । अब उसे वह सुन्दर एव सुखद वातावरण भी अप्रिय लगने लगा । उसका मन धनकुमार से मिलने के लिए आतुर हो गया किन्तु अनुकूल सयोग के अभाव में निराशा एव उदासी से उसका चन्द्रमुख म्लान हो गया । वह खान-पान-स्नानादि भूल कर शयनागार मे अपनी शय्या पर ही पडी रहने लगी । राजकुमारी की इस दशा का कारण उसकी प्रिय सखी कमलिनी जानती थी । उसने कहा -

"सखी । मैं तेरी उदासी का कारण समझती हूँ । तेरे आकर्षण का केन्द्र एक उत्तम पुरुष है और वह तेरे लिए सर्वथा उपयुक्त है । तू चिन्ता छोड दे । मैंने एक ज्ञानी से पूछा था । उसने कहा कि "तेरी सखी का मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा । अब तू चिन्ता छोड कर स्वस्थ हो जा ।"

सखी की बात से राजकुमारी प्रसन्न हुई और शय्या से उठ कर शारीरिक नित्य-क्रिया में लग गई । जब वह अपने पिता को प्रणाम करने गई, तो पिता का ध्यान पुत्री के शारीरिक विकास की ओर गया । राजा पुत्री के योग्य वर की प्राप्ति के लिए विचार कर ही रहा था कि राजदूत ने उपस्थित हो कर राजा को प्रणाम किया । राजा ने इस दूत को अचलपुर नरेश विक्रमधन के पास भेजा था । दूत ने अपने कार्य का ब्यौरा सुनाया । तत्पचात् नरेश ने पूछा- "तेने उस राज्य की विशेषता या वहाँ कोई उत्तम वस्तु देखी है क्या ?"

"महाराज ! मैंने युवराज धनकुमार को देखा तो दग रह गया । उनके अलौकिक रूप एव उत्तम गुण का नमूना अन्यत्र नहीं मिल सकता । विद्याधरों और देवों में भी वैसा रूप नहीं मिल सकता । मैंने तो यह भी सोचा है कि -महाराज ! अपनी राजकुमारी के लिए युवराज धनकुमार ही उत्तम वर हो सकता है ।"

राजा यह सुन कर प्रसन्न हुआ । उसने राजदूत की प्रशसा करते हुए कहा,-

"तुमने बहुत अच्छा सोचा । अब तुम स्वय शीघ्र ही अचलपुर जाओ और मरी ओर से नरेश से सम्बन्ध की याचना करो ।"

जिस समय राजा और दूत के बीच उपरोक्त बात हो रही थी, उस समय राजकुमारी की छोटी बहन चन्द्रावती वहीं उपस्थित थी । उसने यह बात राजकुमारी धनवती से कही । धनवती इस समाचार से प्रसन्न हुई । उसने अपनी सखी के द्वारा दूत को अपने पास बुलाया । दूत से अचलपुर जाने का कारण जान कर राजकुमारी ने एक पत्र धनकुमार के नाम लिख कर राजदूत को दिया । दूत ने राजा विक्रमधन के समक्ष उपस्थित हो कर प्रणाम किया । दूत को सामने देख कर नरेश चकित रह गए और पुन शीघ्र आने का कारण पूछा । दूत ने विनयपूर्वक सिह नरेश द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने की प्रार्थना प्रस्तुत की, जिसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार की । अपना कार्य सिद्ध कर के राजदूत, धनकुमार के समाप आया और राजकुमारी का पत्र समर्पित किया । कुमार ने पत्र खोला और पढने लगा । उसमें लिखा था

"हृदयेश ! जब से आर्य पुत्र की छवि चित्रपट पर देखी, तभी से अपने-आप हृदय समर्पित हो गया है और यह ऋतुराज वसत मेरे लिये दु खद बन गया है। जब तक आर्यपुत्र की सुदृष्टि नहीं होगी, तब तक वसत दु खदायक रहेगा और ग्रीष्म तो भस्म ही कर देगा । अतएव अनुग्रह की प्रार्थना है ।"

पत्र ने कुमार के हृदय में स्नेह का सचार किया । वे भी कुमारी के स्नेह से प्रभावित हो गए । उन्होने पत्र लिख कर निम्न शब्दो मे अपने भाव व्यक्त किये,-

"शुभे ! बिना साक्षात्कार के ही पत्र के माध्यम से, आपकी कल्पित छवि ने इस रिक्त हृदय में आसन जमा लिया है । अब याचना करने की तो आवश्यकता ही नहीं रही । आशा है कि इस भावाकर्षण से शीघ्र ही सामीप्य का योग बन जायगा ।"

"अपन कण्ठ से सदैव सलग्न रहने वाली यह मुक्तामाला भेट स्वरूप प्रेषित है । विश्वास है कि यह स्वीकृत होकर उचित स्थान प्राप्त करेगी ।"

दूत ने राजकुमार का स्नेह दखा और नरेश द्वारा सम्बन्ध स्वीकृत हाने का शुभ सम्वाद सुनकर तथा पत्र मुक्तामाला ले कर प्रस्थान किया । राजकुमारी सम्बन्ध स्वीकृत होने का समाचार सुन कर तथा धनकुमार का पत्र और भेंट पा कर अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसने दूत का मूल्यवान् पुरस्कार दिया ।

शुभ मुहूर्त में सिह नरेश ने अपने वृद्ध मन्त्रियों और सरदारों क साथ राजकुमारी का विपुल सम्पत्ति सहित अचलपुर भेजी । प्रस्थान के समय माता ने पुत्री को योग्य शिक्षा दी और अश्रुपूर्ण नेत्रों से बिदाई दी । स्वयम्वरा राजकुमारी का अचलपुर नगर के बाहर उद्यान में पडाव हुआ । शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में लग्नोत्सव सम्पन्न हुआ और इस प्रेमी-युगल के दिन हर्षोल्लास मे व्यतीत होने लगे ।

एक दिन धनकुमार अश्वारूढ हो कर उद्यान में पहुँचा । वहाँ चार ज्ञान के धारक मुनिराज श्री वसुन्धरजी धर्मोपदेश दे रहे थे । राजकुमार घोडे पर से नीचे उतर कर धर्मोपदेश सुनने के लिए सभा में बैठा । थोडी ही देर में विक्रमधन नरेश, महारानी धारिणी देवी और युवराज्ञी धनवती भी वहाँ आई और मुनिराज श्री का उपदेश सुनने लगी । उपदेश पूर्ण होने के बाद राजा ने मुनिराज से पूछा;-

"भगवन् ! मेरा पुत्र धनकुमार गर्भ म था, तब उसकी माता ने स्वप्न मे एक आम्रवृक्ष देखा था, साथ ही एक पुरुष को यह कहते सुना था कि - "यह वृक्ष तुम्हारे आगन मे लगेगा और क्रमश नौ स्थानो पर लगता रहेगा और उत्तरोत्तर फलदायक होता रहेगा ।" इस स्वप्न के फलस्वरूप हमने पुत्र जन्म रूप फल तो प्राप्त कर लिया, किन्तु स्वप्न मे देखा हुआ आम्रवृक्ष क्रमश नौ स्थानो पर आरोपित हो कर विशेष-विशेष फलदायक होगा - इसका क्या अर्थ है ?"

राजा का प्रश्न सुन कर मुनिराज ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का उपयोग लगाया और अन्य स्थल पर रहे हुए केवली भगवान् से मौन प्रश्न किया । फिर भगवान् प्रदत्त उत्तर जान कर कहा,-

"राजन् ! तुम्हारा पुत्र धनकुमार इस भव से लगा कर उत्तरोत्तर नौ भव करेगा और नौवें भव में यादव-कुल मे बाईसवें तीर्थङ्कर होगे ।"

पुत्र का अपूर्व भाग्योदय जान कर राजा-रानी तथा समस्त परिवार प्रसन्न हुआ और सभी की जिन धर्म के प्रति श्रद्धा में वृद्धि हुई । राजकुमार, युवराज्ञी के साथ सभी ऋतुओ के अनुकूल क्रीडा करता हुआ काल-यापन करने लगा ।

एक बार युवराज, पत्नी के साथ जल-क्रीडा करने सरोवर पर गया । वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे एक मुनि मूर्च्छित हुए पडे थे । वे प्यास के परीषह से पीडित थे । उनका कठ सूख रहा था ओठो पर पपडी जमी हुई थी, पाँवो मे हुवे घावो से रक्त बह रहा था । युवराज्ञी की दृष्टि मुनिराज पर पडी । उसने कुमार का ध्यान मुनि की ओर आकर्षित किया । दोनो पति-पत्नी ने शीतापचार से मुनिजी को सावधान किया । वन्दना करके कुमार कहने लगा,-

"महात्मन् ! मैं धन्य हूँ कि मैंने आप जैसे साक्षात् धर्म को प्राप्त किया, अन्यथा इस प्रदेश मे आप जैसे महात्मा के दर्शन होना ही असभव है । प्रभो ! आपकी इस प्रकार दशा कैसे हो गई ? आपको इस दु खद स्थिति में किसने डाला ?"

"देवानुप्रिय ! सिवाय कृतकर्मों के और कौन दु ख दायक हो सकता है ? वास्तविक दु ख तो मुझे ससार के चक्र मे उलझे रहने का है । वर्तमान दशा का बाह्य कारण विहार क्रम है । मैं अपने गुरुदेव तथा साधुओ के साथ विहार कर रहा था, किन्तु मैं भूल भुलैया मे पड कर भटक गया और भूख-प्यास से आक्रान्त हो कर यहाँ आ कर गिर पडा । मेरा नाम मुनिचन्द्र है । हे महाभाग ! तुम्हारी सेवा से मैं सचेत हो कर बैठा हूँ । यह ससार दु खो का भण्डार है । इससे मुक्ति होने के लिए धर्म का सम्बल अवश्य लेना चाहिए ।" आदि ।

मुनिराज के उपदेश से प्रभावित हो कर दम्पत्ति ने सम्यक्त्व सहित अगार-धर्म स्वीकार किया । कुमार ने मुनिश्री को अपने साथ घर ला कर निर्दोष आहारादि प्रतिलाभे और आग्रहपूर्वक कुछ दिन वहीं रखे । मुनिराज के सत्सग से पति-पत्नी परम श्रमणोपासक हुए । कालान्तर में पिता द्वारा प्रदत्त राज्य का सचालन करने लगे । एकदा वसुन्धर मुनि विचरते हुए वहाँ पधारे । धर्मदशना से प्रभावित हो

मार डालेगी । फिर वह तीसरी नरक मे उत्पन्न होगी । वहाँ से निकल कर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होगी। इस प्रकार वह दु ख-परम्परा भोगती हुई ससार में अनन्त दु ख को प्राप्त करेगी ।"

रानी का दु खमय भविष्य जान कर राजा को विचार हुआ कि - "जिस पुत्र के लिए रानी ने कुमार को विष दिया वह तो यहाँ बैठा हुआ सुख भोग रहा है और वह नरक में दु ख भोग रहा है। यह कैसा विचित्र और दु खमय ससार है । धिक्कार है इस विषय और कषायरूपी आग को । आत्मार्थियों के लिए तो यह तुष्टि का स्थान है ही नहीं, उसने कहा - "मैं संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार करूँगा ।"

पिता की तत्परता देख कर कुमार सुमित्र ने कहा - 'पिताश्री ! मैं कितना अधम हूँ ! मेरे ही कारण मेरी माता को नरक मे जाना पडा । यदि मैं नहीं होता, या मैं यहा से कहीं अन्यत्र चला जाता, तो उसकी यह दशा नहीं होती । मैं स्वय अभागा हू । मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर आत्मकल्याण करूँ ।"

राजा ने पुत्र को रोका और अपनी निवृत्ति म साधक बनने का आग्रह किया । फिर आनापूर्वक राज्याभिषेक कर दीक्षित हो गया । सुमित्र राजा ने अपने सौतेले भाई पद्म को कुछ ग्राम दे कर उसे सतुष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह दुर्विनीत, असतुष्ट एव अशान्त ही रहा और वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया ।

सुमित्र राजा की बहिन कलिग देश के नरेश को ब्याही थी उसे राजा अनगसिह का पुत्र और रत्नवती का भाई कमल हरण कर के ले गया । अपनी बहिन के हरण से सुमित्र दु खी है । ये समाचार राजकुमार चित्रगति ने सुने । उन्होने सुमित्र का सन्देश भेजा - 'आपकी बहिन को खोज कर के लाऊँगा। आप धैर्य रखें ।" चित्रगति ने पता लगाया उसे ज्ञात हुआ कि कमलकुमार ने उसका हरण किया है । चित्रगति ने सेना ले कर शिवमन्दिर नगर पर धावा कर दिया और प्रथम भिडत म ही कमलकुमार को पराजित कर दिया । पुत्र की पराजय से राजा अनगसिह भडका और स्वय सेना सहित युद्ध करने लगा । युद्ध की भयकरता बढी । घोर युद्ध होने लगा । बहुत काल तक युद्ध करने पर भी चित्रगति पराजित नहीं हो सका तो अनगसिह चिन्तित हो गया । उस अपने शत्रु की शक्ति का अनुमान नहीं था । उसने अतिम और अचूक प्रयास स्वरूप देव-प्रदत्त खड्ग ग्रहण किया जिसमें से सैकडों ज्वालाएँ निकल रही थी । राजकुमार चित्रगति ने विद्या के बल से घोर अन्धकार फैला दिया और उस अन्धकार में ही अनगसिह राजा के हाथ वह खड्ग छिन लिया और सुमित्र की बहिन को ले कर चला गया । थोडी ही देर म अन्धकार मिट कर प्रकाश हो गया । जब अनगसिह ने देखा कि न तो हाथ में खड्ग है और न सामने शत्रु ही है, वह चिन्तित हो गया । किन्तु उसकी चिन्ता, प्रसन्नता में परिवर्तित हो गई । उसे भविष्यवेत्ता की भविष्यवाणी का स्मरण हुआ । उसे विश्वास हुआ कि खड्ग छिनने वाला ही मेरा जामाता बनेगा । अब प्रश्न यह था कि वह राजकुमार कौन था और कहाँ का था ? उसका पता

कैसे लगाया जाय ? उसे फिर स्मरण हुआ कि उस राजकुमार पर देवता पुष्पवर्षा करेंगे, तव पता लग जायगा ।

चित्रगति, शीलवती सती को ले कर सुमित्र के पास पहुँचा । वहिन के अपहरण से सुमित्र ससार से उदासीन हो चुका था । बहिन के प्राप्त होते ही उसने तत्काल पुत्र का राज्याभिषक किया और स्वय सर्वज्ञ भगवान् सुयशजी के पास प्रव्रजित हो गया और ज्ञानाभ्यास से उन्होने कुछ कम नौ पूर्व का अभ्यास कर लिया । फिर उन्होने एकलविहार प्रतिमा धारण की और विचरते हुए मगधदेश मे आये । एक गाँव के बाहर वे कायोत्सर्ग कर खडे हो गए । उसी समय उसका सौतेला भाई पद्म कहीं से भटकता हुआ वहाँ आ पहुँचा और सुमित्रमुनि को पहिचान कर क्रोध में भभक उठा । उसने धनुप पर बाण चढा कर ध्यानस्थ मुनिराज की छाती में मारा । मुनिराज इस भयकरतम उपसर्ग से भी विचलित नहीं हुए और आराधना का सुअवसर जान कर आलोचनादि कर, ध्यान में मग्न हो गये। वे आयु पूर्ण कर ब्रह्मदेवलोक में इन्द्र के सामानिक देव हुए ।

मुनि का बाण मार कर पद्म आगे बढा । अन्धकार में चलते हुए उसे एक विषधर ने डस लिया । वह वहीं गिर पडा और महान् रौद्रध्यान में मर कर सातवीं नरक मे उत्पन्न हुआ ।

मुनिराज सुमित्रजी का घायल हो कर आयुष्य पूरा करने के समाचार सुन कर चित्रगति शोकसतप्त हो गया । वह शोक-निवारण के लिए सर्वज्ञ भगवान् सुयशजी के दर्शनार्थ निकला । उसके साथ अनेक विद्याधर थे । अनगसिह राजा भी अपनी पुत्र रत्नवती के साथ भगवान् को वन्दना करने आया था । कुमार चित्रगति ने भगवान् की वन्दना एव स्तुति की । सुमित्रमुनि के जीव ब्रह्मदेवलोकवासी देव ने अवधिज्ञान से अपने उपकारी मित्र को गुरु भगवान् की भक्ति करते हुए देखा, तो अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने वहाँ आ कर कुमार पर पुष्पवर्षा की । विद्याधर लोग चित्रगति की प्रशसा करने लगे । अनगसिह राजा ने राजकुमार को पहिचाना । वहीं सुमित्र देव प्रत्यक्ष हुआ और बोला -

"मित्र चित्रगति । मैं सुमित्र हूँ । तुम्हारी कृपा से ही मैं जिनधर्म प्राप्त कर सका और अब दैविक सुखों का अनुभव कर रहा हू ।"

इस दृश्य को देख कर चक्रवर्ती नरेश शूरसेन आदि विद्याधरगण बहुत प्रसन्न हुए । अनगसिह की पुत्री रत्नवती चित्रगति पर मोहित हा गई । अनगसिह ने पुत्री का अनुराग देखा । उसने साचा - भविष्यवाणी और पुत्री की आसक्ति, ये सब योग मिल रहे हैं । अब सम्राट शूरसेनजी के पास सम्यन्ध का सन्देश भेजना चाहिए । स्वस्थान आ कर उसने अपने मन्त्री को भेजा परिणाम स्वरूप चित्रगति कुमार का विवाह रत्नवती के साथ हा गया । वे सुखभोगपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे ।

धनदेव और धनदत्त के जीव भी देवभव का आयुपूर्ण कर चित्रगति के छोटे भाई के रूप में जन्मे। उनका नाम मनोगति और चपलगति था । कालान्तर में शूरसेन नरेन्द्र ने चित्रगुप्त को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की और आराधना करक माक्ष प्राप्त हुए ।

चित्रगति नरश कुशलतापूर्वक राज्य का सचालन करने लगे । उनक राज्य में मणिचूल नाम का सामन्त था । उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र शशि और शूर परस्पर लडन लग । चित्रगति नरश न उसके राज्य क विभाग कर के उनका झगडा मिटा दिया किन्तु उनकी कषाय मन्द नहीं हुइ और कुछ दिन बाद वे दोना ही लडने लग । उनके युद्ध का परिणाम दोनों की मृत्यु के रूप में आया जानकर, चित्रगति नरेश उदयभाव की भयानकता का विचार करने लग । वे ससार स विरक्त हो गए और ज्येष्ठ-पुत्र पुरन्दर का राज्याभिषक कर स्वय रानी और दोना अनुजबन्धु, आचार्य श्री दमधरजी के पास दीक्षित हुए । उन्होने चिरकाल तक सयम की आराधना की और पादपोपगमन अनशन कर के माहेन्द्रकल्प में महर्द्धिक देव हुए । रत्नवती और दोना बन्धु मुनि भी उसी देवलाक म देव हुए । यह इनका चौथा भव था ।

पूर्व विदेह के पद्म नाम के विजय म सिहपुर नगर था । हरिनन्दी राजा वहाँ के शासक थे । प्रियदर्शना नाम की उनकी पटरानी थी । चित्रगति दव का जीव अपना देवभव पूर्ण कर क महारानी प्रियदर्शना की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'अपराजित' था । क्रमश यह सभी कलाओं और विद्याओं मे निपुण हो कर यौवन-वय को प्राप्त हुआ । वह कामदेव के समान रूप सम्पन्न था । विमलबोध नाम का मन्त्रीपुत्र उसका बालमित्र था ।

एक बार वे दोना मित्र अश्वारूढ हो कर वन-क्रीडा करने निकले । अश्व तीव्रगति वाले और उलटी प्रकृति के थे । वे भागते हुए उन्हे महावन मे ले गए । हताश हो कर राजकुमार और मन्त्रीकुमार ने घोडा की लगाम छोड दी । वे तत्काल खडे रह गए । कुमार घोडे से नीचे उतरे । उन्हें उन अनजान महावन में आ कर भी प्रसन्नता हुई । वन की मनोहर शोभा ने उन्हें आनन्दित कर दिया । अब वे माता-पिता के बन्धन स भी मुक्त थे । उनमें यथेच्छ विहार की कामना जागी । व परस्पर वार्तालाप करने लगे। इतने ही में - "बचाओ बचाओ रक्षा करो । शरणागत हू"- ये शब्द उनके काना में पड़। वे सावधान हुए । इतने ही में एक पुरुष घबडाता हुआ उनके पास पहुँचा । वह थर-थर धूज रहा था । राजकुमार ने उसे अभय-वचन दिया और कहा - "तू निर्भय है । तुझ कोई नहीं सता सकता ।" मन्त्रीपुत्र ने कहा - "मित्र ! सोच-समझ कर वचन दिया करो । यदि यह अपराधी हुआ, तो क्या होगा ?"

- "यह अपराधी हो या निरपराध ! शरण आये की रक्षा तो करनी ही पडती है । यह मेरा क्षात्रधर्म है ।"

वे इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि "पकड़ो मारो" चिल्लाते हुए कई आरक्षक वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथो में खड्ग भाले आदि थे । [illegible]ने आते ही कहा -

"यात्रियो । यह डाकू है । इसने [illegible] लोगों का धन लुटा है । हम इसे मारेंगे । तुम इससे दूर रहो ।"

' यह मनुष्य मेरी शरण में आया है । मैंने इसकी रक्षा करने का निश्चय किया है । अब तुम लौट जाओ । यह तुम्हे नहीं मिल सकता ।''

सैनिक क्रोधित हुए और मारपीट करने को तत्पर हो गए । खड्ग ले कर प्रहार करने को आये हुए सैनिकों पर कुमार झपटे । कुमार की तत्परता, शौर्य्य और प्रभाव से अभिभूत हो कर सभी आरक्षक भागे । उन्होंने कोशल नरेश से कुमार के हस्तक्षेप की बात कही । कोशल नरेश ने डाकू के रक्षक को दण्ड देने के लिए एक बडी सेना भेजी किन्तु कुमार के भीषण प्रहार के सामने सेना भी नहीं ठहर सकी । सेना की पराजय से राजा उत्तेजित हो गया और स्वयं अश्वसेना और गजसेना ले कर आ पहुँचा। कुमार ने राजा को दलबल सहित आया देख कर डाकू को अपने मित्र मन्त्रीपुत्र के रक्षण मे छोडा और स्वयं परिकर बद्ध होकर युद्ध-क्षेत्र मे पहुँचा । कुमार का लक्ष्य राजा पर धावा करने का था। उसने छलांग मार कर एक पाँव हाथी के दाँत पर जमाया फिर उसके चालक (महावत) को खिंचकर नीचे गिरा दिया और हाथी के मस्तक पर आरूढ होकर राजा से युद्ध करने लगा । अपराजित राजा के साथ आये एक मन्त्री ने राजकुमार को पहिचान लिया और राजा से युद्ध बन्द करने का निवेदन किया । जब राजा को ज्ञात हुआ कि यह कुमार मेरे मित्र का पुत्र है, तो उसने युद्ध बन्द करके कुमार को छाती से लगाया और युद्धबन्दी की घोषणा कर दी । उन्होंने कुमार से कहा -

''अपराजित ! तू वास्तव में अपराजित ही है । धन्य है तेरे माता-पिता । तू सिंह का पुत्र सिंह ही है तभी हस्ती पर धावा करने का साहस कर सका । हे महाभुज ! यहाँ तू अपने ही राज्य में है । यह भी तेरी ही भूमि है । चल अपने घर चलें ।''

राजा ने राजकुमार को अपने समीप हाथी पर बिठाया और राजधानी में आये । डाकू को क्षमादान किया गया । दोनो मित्र वहीं रहने लगे । राजकुमार अपराजित को योग्य वर जान कर कोशल नरेश ने अपनी कन्या कनकमाला का विवाह कर दिया । कुछ दिन वहीं रह कर राजकुमार सुखभोग करता रहा। फिर किसी दिन रात्रि के समय दोनो मित्र गुप्त रूप से वहाँ से चल निकले । चलते-चलते वे वन में बहुत दूर निकल गए । अचानक उनके कानों मे ये शब्द पडे -

''हे वनदेव ! मुझे बचाओ । इस राक्षस से मेरी रक्षा करो ।''

उपरोक्त शब्दों को सुन कर राजकुमार उसी दिशा में आगे बढा । उसने देखा अग्नि-ज्वालाएँ उठ रही है, समीप ही एक सुन्दर युवती बैठी है और उसके समीप एक पुरुष खड्ग उठाये खडा है । कुमार शीघ्र ही उस पुरुष के निकट पहुँचा और बोला,-

''रे नराधम ! इस अबला को छोड कर इधर आ । मेरे साथ युद्ध कर ।''

वह पुरुष कुमार की ओर आकर्षित हुआ । दोनों युद्ध-रत हुए । बहुत देर तक शस्त्र-युद्ध होता रहा। फिर बाहुयुद्ध हुआ । जब उस विद्याधर ने अपराजित को अजेय माना तो नागपाश फेंक कर राजकुमार को बाँध लिया, किन्तु राजकुमार ने उस पाश को भी एक झटके से तोड़ डाला । फिर

विद्याधर ने अपनी अनेक प्रकार की विद्याओं का प्रयोग किया । किन्तु राजकुमार अपराजित के सामने उसकी एक नहीं चली । अपराजित के किये हुए प्रहार से विद्याधर धराशायी हो गया । राजकुमार अपराजित का साहस शौर्य्य रूप और प्रभाव देख कर वह पीडित युवती अपनी पीड़ा भूल कर मोह-मुग्ध हो गई और कुमार को अनुराग पूर्ण दृष्टि से देखने लगी । राजकुमार ने भूलुण्ठित विद्याधर को योग्य उपचार से सचेत किया । विद्याधर सावधान हो कर अपराजित के शौर्य्य और परोपकारितादि गुणों के आगे झुक गया । उसने कहा,-

"नर-श्रेष्ठ ! आपने योग्य समय पर पहुँच कर मुझे नरक म जाने योग्य दुष्कृत्य से बचा लिया । कामवासना से निराश हो कर मैं इस सुन्दरी की हत्या करना चाहता था, किन्तु आपने मुझे नारी-हत्या के पाप से बचा लिया । लीजिये मेरे पास एक मणि और एक मूलिका है । मणि के जल से मूलिका को घिस कर मेरे घाव पर लगाने की कृपा करें ।"

कुमार ने वैसा ही किया जिससे विद्याधर का घाव भर गया और वह स्वस्थ हो गया । अब वह राजकुमार अपराजित को अपना परिचय इस प्रकार देने लगा -

"वैताढय पर्वत पर रथनूपुर नगर के विद्याधरपति अमृतसेन की यह पुत्री है । इसका नाम रत्नमाला है । इसके योग्य वर के विषय में भविष्यवेत्ता ने कहा कि - "हरिनन्दी राजा का पुत्र अपराजित इसका पति होगा ।" इस भविष्यवाणी को सुन कर यह स्त्री अपराजित की ओर आकर्षित हो गई और उसके ही सपने देखने लगी । यह अपराजित के सिवाय और किसी का विचार ही नहीं करती । एक बार मैंने इसे देखा । मेरा मन इस पर मुग्ध हा गया । मैंने इसके पिता के समक्ष इसके साथ मेरा विवाह करने की माँग रखी, किन्तु इसने स्पष्ट कह दिया कि "मेरा पति राजकुमार अपराजित ही हो सकता है दूसरा नहीं । मैं आजन्म अविवाहित रह सकती हूँ, किन्तु अपराजित को छोड़ कर और किसी को स्वीकार नहीं कर सकती ।" इसके उत्तर से मैं हताश हुआ । मैंने इसे यत्नपूर्वक प्राप्त करने का निश्चय किया ।"

"मैं श्रीसेन विद्याधर का पुत्र हूँ । 'सूरकान्त' मेरा नाम है । मैं इसे प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा । मैंने अनेक प्रकार की दु साध्य विद्याएँ सिद्ध की और इसका हरण कर के यहाँ लाया । मैंने इसके सामने प्रस्ताव रखा कि - "या तो मेरे साथ लग्न कर या इस अग्नि को अपना शरीर समर्पण कर ।" यह अपने निश्चय पर अडिग है । इसलिए मैं इसके शरीर के टुकड़ करके इस अग्नि में डाल कर भस्म करना चाहता था इतने म आप आये और मुझे स्त्री-हत्या के घोर पाप से बचा लिया । आप इसके जीवन के रक्षक हैं और मुझे भी स्त्री-हत्या क महापाप से बचाने वाले हैं । हे महाभाग ! मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ । आप किस भाग्यशाली कुल के नर-रत्न हैं ।"

"ये ही वे राजकुमार अपराजित हैं, जिन्हें बिना परिचय क ही यह राजकुमारी, मन से वरण कर चुकी है" - मन्त्रीपुत्र विमलबोध ने परिचय दिया ।

राजकुमारी रत्नमाला, अपराजित का परिचय पा कर हर्षित हुई । अनिष्ट के निमित्त से अचानक इष्ट-सिद्धि देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई । इतने में राजकुमारी की खोज करने वाले सैनिको के साथ उसके पिता अमृतसेन नरेश वहाँ आ पहुँचे । अपनी पुत्री के साथ इच्छित जामाता पा कर वे भी हर्षित हुए । पुत्री का अपहरण करने वाले सूरकात को क्षमा कर अभयदान दिया गया और राजा ने रत्नमाला का विवाह अपराजित के साथ कर दिया । सूरकान्त ने अपने रक्षक अपराजित को अपनी वह प्रभावशाली मणि और मूलिका भेंट की और मन्त्रीपुत्र को रूप-परिवर्तन करने वाली गुटिका दी । राजकुमार ने अपने श्वशुर अमृतसेन नरेश से निवेदन किया -

"मैं अभी प्रवास मे हूँ । जब मैं स्वस्थान पहुँचूँ, तब आपकी पुत्री को बुला लूँगा । इतने यह आप ही के पास रहेगी ।" दोनो मित्र वहाँ से आगे चले ।

आगे चलते हुए उन्होने एक विशाल वन में प्रवेश किया । राजकुमार को बहुत जोर की प्यास लग रही थी । वह एक आम्रवृक्ष की छाया मे बैठा और विमलबोध पानी की खोज करने के लिए चला । वह जल ले कर लौटा, तो उस आम्रवृक्ष के नीचे अपराजित को नहीं देख कर क्षुब्ध हो गया और सोचने लगा - "क्या मैं ही वह स्थान भूल कर दूसरे स्थान पर आया, या अपराजित ही प्यास से पीडित हो कर पानी की खोज में कहीं चला गया ?" वह इधर-उधर भटक कर राजकुमार को खोजने लगा । अन्त मे हताश एव थकित होने के कारण वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पडा । आतक का शमन हो जाने पर वह सचेत हुआ और कुमार के वियोग मे रोने लगा तथा कुमार को सम्बोधन कर पुकारने लगा । वह यह तो समझता था कि कुमार को क्षति पहुँचाने योग्य कोई मनुष्य नहीं है, इसलिए अमगल की आशका बिलकुल नहीं, किन्तु वह या तो प्यास की उग्रता सहन नहीं होने के कारण पानी की खोज म कहीं गया होगा, या विलम्ब होने के कारण मुझे खोजने के लिए कहीं भटक रहा होगा । उनका वियोग लम्बा हो गया । अपराजित की खोज करता हुआ विमलबोध एक गाँव से दूसरे गाँव भटकने लगा । वह भटकता हुआ नन्दीपुर पहुँचा । नगर के बाहर उद्यान में खडा वह चिन्ता कर रहा था कि दो विद्याधर उसके समक्ष उपस्थित हुए और कहने लगे,-

"एक वन में 'भुवनभानु' नाम का विद्याधर राजा रहता है । वह महाबलि और महाऋद्धि सम्पन्न है । एक विशाल भवन की विकुर्वणा करके वह रमणीय वन में ही निवास कर रहा है । उस विद्याधर नरेश के 'कमलिनी' और 'कुमुदिनी' नाम की दो सुन्दर कन्याएँ हैं । उन दोना कुमारिया का वर राजकुमार अपराजित होगा' - ऐसा किसी भविष्यवेत्ता ने कहा था । तदनुसार अपराजित की खोज करने के लिए राजा की आज्ञा से हम दोनों गए थे । उस समय आप दोनो वन में जा रहे थे । हमने आपका देखा । राजकुमार तो वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे और आप पानी लेने गए थे । उस समय हमने

राजकुमार को निद्रित कर के हरण कर लिया और अपने स्वामी के समक्ष उपस्थित किया । स्वामी ने राजकुमार का स्वागत् किया और अपनी पुत्रियो का लग्न करने की इच्छा व्यक्त की । किन्तु आपके वियोग से दु खी अपराजितकुमार ने उनकी इच्छा का आदर नहीं किया और आप ही की चिन्ता में मग्न रहे । कुमार की यह दशा देख स्वामी ने हमें आपकी खोज करने की आज्ञा दी । आप की खोज मे वन, पर्वत गाँव और नगर भटकते हुए आज आपके दर्शन हुए । अब आप शीघ्र ही हमारे साथ चलें और उनकी चिन्ता मिटावें ।''

विद्याधरो की बात, मन्त्रीपुत्र को अमृत के समान जीवनदायिनी लगी । उसके शरीर की दुर्बलता अशक्ति एव उदासीनता मिट गई और वह उसी समय अपने मे प्रसन्नता स्फूर्ति एव शक्ति का अनुभव करने लगा । वह उन विद्याधरो के साथ चल कर अपने मित्र के पास आया । दोनो बिछुडे हुए मित्रों का हार्दिक मिलन हुआ । शुभ मुहूर्त म दोनो राजकुमारियो का अपराजित के साथ लग्न हुआ और कुछ काल तक वे वहीं रह कर सुखभोग करते रहे । उनके बाद वे दोनो मित्र देशाटन के लिए निकल गए । चलते-चलते य श्रीमन्दिर नगर पहुँचे और वहाँ कुछ दिन के लिए ठहर गए । एक दिन नगर में भयानक घटना हो गई । राजा सुप्रभ के पेट में किसी व्यक्ति ने छुरी भोक दी । राजा के कोई पुत्र नहीं था । राजा घायल हो कर भूमि पर पडा हुआ तडप रहा था । राजा के घायल होने की बात कामलता वेश्या ने सुनी । उसने राज्य-मन्त्री के निकट आ कर कहा - ''नरेश का घाव सरोहनी औषधि से भर सकेगा। इस नगर म कोई दो मित्र आये हुए हैं । वे धर्मात्मा, दयालु, परोपकारपरायण और देव के समान प्रभावशाली हैं । उनकी आय का कोई साधन नहीं है, किन्तु व्यय बहुत है और अर्थ-सम्पन्न दिखाई देते हैं । मेरा विश्वास है कि उनके पास कोई चमत्कारिक औषधि होगी । आप उनसे अवश्य ही मिले ।''

मन्त्री कुमार के पास आये और आदर सहित राजप्रासाद म ले गए । अपराजितकुमार ने राजा को मणि-प्रक्षालित जल पिलाया और उसी जल से मूलिका घिस कर घाव पर लगाई । राजा का घाव तत्काल भर गया और वह स्वस्थ हो गया । राजा ने कुमार का परिचय पूछा । उसे यह सुन कर आश्चर्य के साथ प्रसन्नता हुई कि 'कुमार उनके मित्र हरिनन्दी का पुत्र है ।' उन्होने कुमार के गुणों से प्रसन्न हो कर अपनी 'रभा' नाम की पुत्री का लग्न उसके साथ कर दिया । कुमार का जीवन यहाँ भी सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा । कुछ दिन वहाँ रह कर वे दोनो मित्र फिर आगे बढे । कुण्डपुर के समीप पहुँचे । वहाँ उद्यान मे एक केवलज्ञानी भगवान् के दर्शन हुए । धर्मदेशना के उपरान्त अपराजित ने पूछा -

– "भगवन् ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?" भगवान् ने कहा,– "तुम भव्य हो और इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में बाईसवे तीर्थंकर बनोगे । यह तुम्हार मित्र, तुम्हारा गणधर होगा ।"

जनानन्द नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था । उसकी रानी का नाम धारिणी था । रत्नवती का जीव स्वर्ग से च्यव कर रानी की कुक्षि से, कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'प्रीतिमति' रखा। अनुक्रम से वह यौवनवय को प्राप्त हुई । रूप कला और स्त्रियोचित सभी उत्तम गुणों से वह सुशोभित था । वह ज्ञान-विज्ञान में इतनी बढी-चढी थी कि अच्छे कलावान् और विद्वान पुरुष भी प्रीतिमति की कला, ज्ञान और विज्ञान से प्रभावित हो जाते, किन्तु प्रीतिमति पर किसी भी पुरुष का प्रभाव नहीं पडता। वह विवाह के योग्य हो गई, परन्तु नरेश के मन में उसके योग्य कोई वर दिखाई नहीं दिया । नरेश ने साचा – "यदि प्रीतिमति, अयोग्य वर को द दी गई, तो उसका जीवन ही निस्सार हो जायगा कदाचित् वह जीवित भी नहीं रहे । उसके योग्य वर कहाँ से खाजा जाय ?"

राजा ने पुत्री को ही पूछवाया । राजकुमारी ने सखी के साथ कहलाया – "मैं उसी पुरुष को मान्य करूँगी, जो गुणों और कलाओ मे मुझे पराजित कर दे ।"

राजकुमारी की प्रतिज्ञा की बात चारो ओर फैल गई । बहुत – से राजा, राजकुमारी को प्राप्त करने के लिये कलाओ का अभ्यास करने लगे । जितशत्रु नरेश ने स्वयम्वर का आयोजन किया और नगर के बाहर एक विशाल मण्डप बना कर सभी प्रकार से सुसज्जित किया, साथ ही बडे-बडे नरेशा और राजकुमारो को आमन्त्रित किया । इस स्वयवर में राजा हरिनन्दी के सिवाय सभी नरेश और राजकुमार उपस्थित हुए । हरिनन्दी नरेश अपने सुपुत्र अपराजित कुमार के वियोग-दु ख से दु खी थे । इसलिये इस आयोजन मे नहीं आये । भाग्योदय से अपराजित कुमार भी अपने मित्र के साथ इस आयोजन में सम्मिलित हा गया और अपनी कलाओ का स्मरण करता हुआ राजकन्या के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा । उन्हाने गुटिका प्रयाग से अपना और विमलबोध का रूप अनाकर्षक एव विकृत बना लिया था। यथा-समय राजकुमारी अपनी सखिया और दासियों के साथ चामर डुलाती हुई लक्ष्मी देवी के समान शोभा को धारण किये हुए, मण्डप में उपस्थित हुई । आत्म-रक्षक और छडीदार उसके आसपास और आगे चलते हुए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे ।

राजकुमारी के साथ उसकी सखी मालती चलती हुई प्रत्येक नरश और राजकुमार का परिचय देती जा रही थी । उसने कदम्ब देश के नरेश का परिचय देते हुए कहा –

"ये कदम्ब देश के नरेश भुवनचन्द्र हैं । ये वीर हैं, प्रख्यात हैं और पूर्व-दिशा क भूषण रूप हैं ।"

"ये कामदेव के समान रूप सम्पन्न नरेश समरकेतु हैं । प्रकृति के उदार हैं और दक्षिण-दिशा के अधिपति हैं ।"

स्त्रियाँ रोती कलपती छाती और सिर पीटती जा रही है । राजा ने यह करुण दृश्य देख कर पूछा "कौन मर गया ? यह किस की अर्थी है ?" सेवक ने पता लगा कर कहा - "महाराज ! यह कल वाला सेठ का पुत्र है । इसे विशूचिका रोग हो गया था और मर गया ।" इस घटना ने राजा के हृदय पर गम्भीर प्रभाव डाला । उसके मन में संसार के प्रति विरक्ति हो गई । थोडे ही दिनों में वहां वे केवलज्ञानी भगवान् पधारे - जिनके दर्शन कुमार ने कुंडपुर में किये थे । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर राजा संसार त्यागने को तत्पर हो गया और अपने पुत्र पद्म को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गया । रानी, भाई, मन्त्री आदि भी दीक्षित हुए । सभी ने धर्म की आराधना की और काल कर के आरण नाम के ग्यारहवें देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव हुए ।

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरु नाम का देश है उसके हस्तिनापुर नगर में श्रीसेन नाम का राजा हुआ । श्रीमती उसकी महारानी थी । एक रात्रि को रानी ने स्वप्न में शंख के समान निर्मल चन्द्रमा को अपने मुँह में प्रवेश करते हुए देखा । स्वप्न-पाठकों ने स्वप्न का फल बतलाते हुए कहा 'शत्रु रूपी अन्धकार का भेदन करने वाले चन्द्र के समान एक पुत्र-रत्न का लाभ होगा ।' यह स्वप्न अपराजित देव के गर्भ में आने पर महारानी को आया था । पुत्र-जन्म होने पर महाराजा ने उसका 'शंख' नाम रखा । योग्य वय में विद्याभ्यास प्रारंभ हुआ किन्तु क्षयोपशम की तीव्रता के कारण संकेत मात्र से पूर्वजन्म की सीखी हुई सभी विद्याएँ स्मरण हो गई और सभी कलाएँ हस्तगत होगई । विमलबोध मंत्री का जीव भी आरण स्वर्ग से च्यव कर, राजा के गुणनिधि मन्त्री के पुत्रपने उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मतिप्रभ' रखा गया । यह राजकुमार शंख का प्रियमित्र और सदैव का साथी बन गया । राजकुमार यौवनवय को प्राप्त हुआ ।

राज्य की सीमा पर शशिरा नदी और चन्द्र नाम का विशाल एवं दुर्गम पर्वत था । उस पर्वत के दुर्ग का नायक समरकेतु नाम का पल्लीपति था । उसने राज्य की सीमा में बसने वाले गाँवों में हा लूटपाट मचा दी । लोग दुःखी हो कर नरेश की शरण में आये । पल्लीपति का आतंक और जनता का दुःख देख कर नरेश उत्तेजित हो गए । उन्होंने पल्लीपति पर चढ़ाइ करने के लिए सेना को कूच करने की आज्ञा दी और स्वयं भी शस्त्र-सज्ज हो प्रयाण करने की तैयारी करने लगे । जब राजकुमार शंख ने पिता के प्रयाण की बात सुनी तो पिता की सेवा में उपस्थित हो कर निवेदन किया ,-

"पूज्य ! एक गीदड़ जैसे पल्लीपति पर चढ़ाई करना उचित नहीं लगता। उस डाकू का इससे महत्त्व बढ़ता है। आप मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाकर उसका दमन करूँगा और पकड़ कर श्रीचरणों में उपस्थित करूँगा ।"

"पुत्र! वह बडा धूर्त है । धोखा दे कर वार करने मे वह प्रवीण है । उसे अधिकार मे लेना सरल नहीं है ।"

"पूज्य! उसकी धूर्त्तता उसे कभी नहीं बचा सकेगा । मैं सावधानीपूर्वक उसको पकडूँगा और उसे बन्दी बना कर सेवा में उपस्थित करूँगा । आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए। "

राजा की आज्ञा पा कर कुमार ने शस्त्र-सज्ज हो कर प्रयाण किया । सेना सहित कुमार को आया जान कर समरकेतु सावधान हो गया । उसने दुर्ग छोड कर पर्वत की कन्दराओं का आश्रय लिया । कुमार ने दुर्ग को शून्य देखा, तो वह समरकेतु की चाल समझ गया । राजकुमार ने अपने एक सामन्त को कुछ सैनिको के साथ दुर्ग म भेज कर अधिकार करवा लिया और आप स्वय शेप सेना को ले कर लौट गया, किन्तु थोडी दूर जा कर कुमार रुक गया और सेना की छोटी-छोटी टुकडियाँ बना कर उस पवत क आसपास चारो ओर वन में छुपा दिया तथा स्वय पल्लीपति की टोह लेता हुआ निकट ही झाडी म छुप गया । पल्लीपति ने घात लगा कर पूरी शक्ति के साथ दुर्ग पर हमला कर दिया । इधर राजकुमार का सकेत पा कर सेना, पल्लीपति की सेना को घेर कर प्रहार करने लगी । दुर्ग के भीतर से सामन्त की सेना और बाहर से राजकुमार की सेना के प्रहार के बीच मे समरकतु और उसके लूटेरे सैनिक फँस गए । अपनी सकटापन्न स्थिति देख कर पल्लीपति समरकेतु, शस्त्र डाल कर राजकुमार की शरण मे आया और प्रणिपात करता हुआ कहने लगा -

"स्वामिन् ! मेर ही जाल मे मुझे कोई फाँस लेगा -ऐसी कल्पना ही मैं नहीं कर सकता था । आपको भी मैं अपने जाल मे जकड कर पराजित करना चाहता था, परन्तु आप मेरे षड्यन्त्र को समझ गए । परिणाम स्वरूप मैं आपकी शरण में हूँ । आप अनुग्रह करें ।"

राजकुमार ने समरकेतु और उसके साथियो को बन्दी बना कर सेना के नियन्त्रण में दे दिया और उसके पास से निकला हुआ लूट का समस्त धन जिनका था उन्हें दे दिया और शेप धन दण्ड स्वरूप ले कर बन्दियों सहित सेना के साथ राजधानी की ओर प्रयाण किया । सायकाल सेना का पडाव हुआ । राजकुमार का डेरा एक विशाल वृक्ष के नीचे लग गया । खा-पी कर सभी आराम करन लगे । आधी रात के समय कुमार के काना में किसी स्त्री के रुदन की ध्वनि आई । कुमार चौंका सावधान हुआ और खड्ग ले कर ध्वनि की दिशा में आगे बढा । कुछ दूर चलने पर उसने एक अधेड वय की स्त्री को रोते हुए देखा । कुमार ने उस स्त्री को सात्वना देते हुए उसके रोने का कारण और परिचय पूछा ।

कुमार की सात्वना से आश्वस्त होकर महिला कहने लगी -

"अगदेश की चम्पानगरी के जितारी राजा की कीर्तिमति रानी स अनक पुत्रा के बाद एक पुत्री का जन्म हुआ । उसका नाम यशोमती है । वह इन्द्रानी के समान अनुपम सुन्दरी और सद्गुणा की खान

है । यौवनवय में आने पर राजा को उसके लिए वर की चिन्ता हुई । कई राजाओं और राजकुमारों ने, राजकुमारी के लिए राजा से याचना की किन्तु यशोमती तो एक प्रकार से पुरुषद्वैषिनी बन गई था । उसने सखी के द्वारा राजा से कह कर सभी की माँगे ठुकरा दी । एकदा यशोमती की सखी ने हस्तिनापुर नरेश श्रीसेनजी के पुत्र शखकुमार की प्रशसा की । यशोमती के मन में शखकुमार के लिए प्रीति उत्पन्न हो गई । उसने सखी के द्वारा पिता को सन्देश भेज कर शखकुमार से लग्न करने की इच्छा व्यक्त की । राजा, पुत्री की इच्छा जान कर प्रसन्न हुआ और अपना मन्त्री, श्रीसेन राजा के पास भेज कर सम्बन्ध की याचना की । इतने में विद्याधर नरेश मणिशेखर ने जितारी राजा के पास राजकुमारी की माग भेजी । राजा ने कहा -

"मेरी कन्या ने शखकुमार से लग्न करने का निश्चय कर लिया है अब इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता ।" विद्याधर क्रोधित हो गया और यशोमती का अपहरण कर लिया । मैं यशोमती का धात्री हूँ । अपहरण के समय में उसक पास थी और उसका हाथ पकड कर थामे हुए थी । दुष्ट ने उसक साथ मेरा भी हरण किया और यहा ला कर बल पूर्वक मुझे पृथक् कर के यहा छाड़ गया है । अब वह राक्षस कुमारी को न जाने कहाँ ले गया और कैसी यातना दे रहा होगा ? मैं इसी दु ख से रो रहा हूँ ! वन में मेरा और राजकुमारी का कोई सहायक नहीं है । अब क्या होगा ?"

"भद्रे ! धैर्य रख । मैं राजकुमारी को खोज करता हूँ और जहाँ भी होगा उस दुष्ट से यशोमती को मुक्त कराऊँगा -" इतना कह कर कुमार उस अटवी म राजकुमारी की खोज करने लगा । सूर्य उदय होने पर राजकुमार एक ऊँचे पर्वत क शिखर पर चढ़ा और चारो ओर देखने लगा । हठात् उसकी दृष्टि एक खोह पर पडी और एक स्त्री और पुरुष दिखाई दिये। शख तत्काल पर्वत से नीचे उतरा और उस दिशा में चल दिया । थोडी ही देर मे वह दोनों के निकट पहुँचा । उसने देखा-मणिशेखर यशोमती को बलात्कार पूर्वक वश मे करना चाहता था और यशोमती उसकी भर्त्सना करती हुई कह रहा थी-

"नीच अधम! मैं परस्त्री हूँ । मैंने अपने हृदय से पुरुष-श्रेष्ठ शखकुमार को वरण कर लिया है । अब मैं दूसरे पुरुष की छाया से भी दूर रहना चाहती हूँ । यदि तू सदाचारी है, तो मुझ से दूर रह और अपनी दुर्मति छोड़ कर मेरे साथ अपनी सगी बहन के समान व्यवहार कर ।"

यशोमती बोल रही थी कि शखकुमार वहाँ पहुँच गया । उसे देखते ही मणिशेखर ने कहा- "यह तेरा प्रियतम मृत्यु से आकर्षित हो कर यहाँ पहुँचा है। मैं अभी इस मृत्यु का ग्रास बना दता हूँ । इसके साथ ही तेरी आशा भी मर जायेगी । फिर विवश हो कर तुझे मेरे आधीन होना ही पड़ेगा ।"

" ऐ लम्पट दुराचारी ! वाचालता छोड कर इधर आ । मैं तुझे तेरे दुराचरण का दण्ड दने ही यहाँ आया हूँ ।"

दोनो योद्धा खड्ग ले कर जूझने लगे । बहुत देर तक लडते रहने पर भी जब मणिशेखर सफल नहीं हुआ, तो वह विद्या सिद्ध अस्त्रो का प्रहार करने लगा । किंतु कुमार के पुण्य उदयमान थे । उसन सभी अस्त्रों को नष्ट करके एक बाण मणिशेखर के हृदय में मार दिया । मणिशेखर घायल हो कर भूमि पर गिर पडा और अचेत हो गया । कुमार ने उस शीतल जल और वायु क उपचार से सावधान किया, शल्य निकाल कर औपधोपचार से स्वस्थ किया और पुन युद्ध करने का आव्हान किया । मणिशेखर कुमार की शक्ति का परिचय पा चुका था, उसने कहा -

"हे वीर पुरुप ! मैं आज तक अजेय रहा था । कोई भी वीर पुरुष मेरे सामने टिक नहीं सका था। आप पहले ही पुरुष हैं जिन्होने साहस, बल और कौशल से मुझे पराजित कर दिया । मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ । यशोमती ने आपको वरण किया, यह योग्य ही हुआ । तब तो मैं स्वय आपका अकृत सेवक हो गया हूँ और अनुग्रह की याचना करता हूँ ।"

- "नहीं नहीं, ! आप ऐसा क्यो सोचते हैं ? कहिये मैं आप का क्या हित करूँ" - कुमार ने नम्रतापूर्वक कहा ।

- "यदि आप प्रसन्न हैं, तो आप यशोमती सहित मरे यहा चलिये और मेरी पुत्री को भी ग्रहण करन की कृपा करिये ।"

मणिशेखर के कुछ सेवक भी वहाँ आ गए थे । कुमार ने दो खचरा का अपनी सेना में भेज कर, सेना को बन्दियों सहित हस्तिनापुर जाने की आज्ञा दी ओर एक खेचर को भेज कर यशोमती की धात्री को अपने पास बुलाया । फिर सभी जन मणिशेखर क साथ वैताढ्य पर्वत पर, मणिशेखर की राजधानी कनकपुर में आये । कुछ काल कनकपुर मे रहने के बाद कुमार ने स्वस्थान जाने की इच्छा प्रकट की । मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियो का लग्न शख के साथ करना चाहते थे, परन्तु शख ने पहले यशोमती के साथ लग्न करने के बाद दूसरी कन्याओ को ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की । मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियों को यशोमती और कुमार के साथ लेकर चम्पानगरी आये। जितारी नरेश और उनका परिवार अपनी खोई हुई प्रिय राजकुमारी और साथ ही इच्छित जामाता को पा कर बडे प्रसन्न हुए । उत्सव मनाने लगे और उस उत्सव मे ही यशोमती के लग्न शखकुमार के साथ कर दिय । इसके बाद अन्य विद्याधर कुमारिया के लग्न भी शखकुमार के साथ किये गए । कुछ दिन वहाँ रहने के बाद राजकुमार अपनी रानियों के साथ हस्तिनापुर आया ।

अपराजित के भव के अनुज बन्धु, शूर और सोम देव भी आरण देवलोक से च्यव कर शखकुमार के अनुज-बन्धु हुए । श्रीसेन महाराज ने युवराज शख का राज्याभिषेक कर के गणधर महाराज गुणधरजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की और दुष्कर तपस्या करने लगे । वर्षो तक विशुद्ध चारित्र और

घोर तप का पालन कर घातिकर्मों का नष्ट कर केवलज्ञानी हो गए । एकदा केवली भगवान् हस्तिनापुर पधारे । शंख नरेश ने भगवान् का धर्मोपदेश सुना और पूछा -

"भगवन् ! मैं समझता हूँ कि संसार में कोई किसी का सम्बन्धी नहीं होता फिर भी महारानी यशोमती पर मेरी इतनी ममता क्यों है ?"

- "यशोमती से तुम्हारा पूर्व-भवों का सम्बन्ध है । धनकुमार के भव में यह तेरी धनवती नाम की पत्नी थी । फिर सौधर्म देवलोक में दोनों मित्र देव हुए । वहाँ से च्यव कर तू अपराजित हुआ और यह प्रीतिमती पत्नी हुई । इसके बाद आरण देवलोक में मित्रदेव हुए । अब इस सातवें भव में यह तेरी रानी है । इस प्रकार भवान्तर से तुम्हारा स्नेह-सम्बन्ध चला आ रहा है । यहाँ से तुम दोनों अपराजित नाम के चौथे अनुत्तर विमान में उत्पन्न होओगे । उसके बाद तुम अरिष्टनेमि नाम के बाईसवें तीर्थंकर होओगे और यशोमती का जीव राजीमती-तुम्हारी अपरिणित अनुरागिनी होगी और तुम्हारे पास दीक्षित हो कर परमपद प्राप्त करेगी । ये तुम्हारे यशोधर और गुणधर बन्धु तथा मतिप्रभ मन्त्री गणधर हो कर मुक्ति लाभ करेंगे ।"

शंख नरेश ने अपने पुण्डरीक पुत्र को राज्य दे कर दीक्षा ग्रहण की । रानी यशोमती दोनों अनुज बन्धु और मंत्री भी दीक्षित हुए । शंख मुनि ने कठोर तप और विशुद्ध आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया और पादपोपगमन अनशन करके आयु पूर्ण कर अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए और यशोमती आदि भी अपराजित विमान में उत्पन्न हुए । यह इनका आठवां भव है ।

वसुदेवजी

इस भरतक्षेत्र की मथुरा नगरी में हरिवंश में प्रख्यात राजा 'वसु' हुए, उनके पुत्र बृहद्ध्वज के बाद अनेक राजा हो गए । फिर 'यदु' नाम का एक राजा हुआ । यदु के शूर नाम का पुत्र हुआ जो सूर्य के समान तेजस्वी था । शूर नरेश के शौरि और सुवीर नाम के दो वीर पुत्र हुए । शूर नरेश ने शौरि को राज्याधिकार और सुवीर को युवराज पद दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । शौरि ने अपने अनुजबन्धु सुवीर को मथुरा का राज्य दे कर कुशार्त देश चला गया और वहाँ शौर्यपुर नामक नगर बसा कर राज्य करने लगे । शौरि राजा के अन्धकवृष्णि आदि कई पुत्र और सुवीर से भोजवृष्णि आदि पुत्र हुए । सुवीर अपने पुत्र भोजवृष्णि को मथुरा का राज्य दे कर स्वयं सिन्धु देश चला गया और वहाँ सौवीरपुर नगर बसा कर राज करने लगा । शौरि नरेश ने अपने पुत्र अन्धकवृष्णि को राज दे कर दीक्षा ग्रहण की और संयम-तप का आराधन [illegible] हुए ।

मथुरा नरेश भोजवृष्णि के उग्रसेन नाम का एक उग्र पराक्रमी पुत्र हुआ और अन्धकवृष्णि को सुभद्रा रानी स दस पुत्र हुए । उनके नाम इस प्रकार थे - १ समुद्रविजय २ अक्षोभ ३ स्तिमित ४ सागर ५ हिमवान् ६ अचल ७ धरण ८ पूरण ९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव । ये दशों 'दशार्ह' नाम से प्रसिद्ध हुए । इनके कुन्ती और मद्री नाम की दो बहिने था । कुन्ती पाण्डु राजा को और मद्री दमघोष राजा को ब्याही थी ।

नन्दीसेन

एक समय अन्धकवृष्णि नरेश ने सुप्रतिष्ठ नाम के अवधिज्ञानी मुनि से पूछा -

"भगवन् ! मेरे वसुदेव नाम का सब से छोटा पुत्र है । वह अत्यत रूप सम्पन्न तथा सोभाग्यवान् है, कलाविद् और प्रभावशाली है । इस प्रकार की विशेषताएँ इसमे कैसे उत्पन्न हुई ?"

- "राजन् ! मगधदेश के नन्दीग्राम म एक गरीब ब्राह्मण था, उसके सामिला नाम की पत्नी से नन्दीसेन नाम का पुत्र हुआ था । वह महा मन्दभागी था और बालवय में ही माता-पिता के मर जान से अनाथ हो गया था । उदरविकार से उसका पट बढ गया था । उसके दाँत लम्बे, नेत्र खराब और मस्तक चौरस था । वह पूर्णरूप से कुरूप था । स्वजना ने उसका त्याग कर दिया था किन्तु उसक मामा ने उसे अपने यहाँ रख लिया था । उसके मामा के सात पुत्रियाँ थीं । वे विवाह के योग्य हुई । नन्दीसेन भी युवावस्था प्राप्त था । मामा ने नन्दीसेन से कहा - "मैं तुझे एक पुत्री दूँगा ।" कन्या पाने के लोभ से नन्दीसेन, मामा के घर सभी काम मन लगा कर परिश्रम क साथ करने लगा । पुत्रियो ने अपने पिता द्वारा नन्दीसन को दिया हुआ वचन सुना था । सब से बडी पुत्री का लग्न शीघ्र होने वाला था । उसे चिन्ता हुई कि "यदि पिता मुझे नन्दीसेन को ब्याह देंगे, तो क्या होगा ?" उसने पिता के पास यह सूचना भेज दी कि - "यदि मेरा विवाह इस कुरूप के साथ करने का प्रयत्न किया, तो मैं आत्मघात कर लूँगी ।" नन्दीसेन का इस बात की जानकारी हुई, तो निराश हा कर चिन्ता-मग्न हो गया । मामा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा,- 'तू चिन्ता मत कर, मैं तुझे दूसरी पुत्री दूँगा ।" यह सुन कर सभी पुत्रियों ने नन्दीसेन के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए बडी के समान ही विरोध किया । यह सुन कर नन्दीसेन सर्वथा निराश हो गया, किन्तु मामा ने विश्वास दिलाते हुए कहा - "ये छोकरियें तुझे नहीं चाहती तो जाने दे । मैं दूसरे किसी की लडकी प्राप्त करके तेरा विवाह करूँगा तू विश्वास रख ।" किन्तु नन्दीसेन को विश्वास नहीं हुआ । उसने सोचा "जब मेरे मामा की सात पुत्रियो में से एक भी मुझे नहीं चाहती, तो दूसरी ऐसी कौन होगी जो मेरे साथ लग्न करने के लिए तत्पर होगी ?" इस प्रकार विचार कर वह संसार से ही उदासीन हो गया । उसी विरक्ति बढी । वह मामा का घर छोड कर रत्नपुर नगर

आया । उसकी दृष्टि सभोगरत एक स्त्री-पुरुष के युगल पर पडी । वह अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ मृत्यु की इच्छा से, नगर छोड कर उपवन में आया और आत्मघात की चेष्टा करने लगा । उस वन में एक वृक्ष के नीचे सुस्थित नामक महात्मा ध्यानस्थ खडे थे । नन्दीसेन ने मुनि को देखा । उसने सोचा "मरने से पहले महात्मा को वन्दना करलूँ ।" उसने मुनिराज के चरणो में मस्तक टेक कर वन्दना नमस्कार किया । मुनिराज ने ज्ञान से नन्दीसेन के मनोभाव जाने और दया कर बोले;-

"अज्ञानी मनुष्य ! तू अपने मनुष्य-भव को नष्ट करना चाहता है । तेने पूर्वभव में प्रचुर पाप किये जिससे मनुष्य-भव पा कर भी दुर्भागी एव अभाव पीड़ित तथा घृणित बना, अब फिर आत्मघात का पाप कर के अपनी आत्मा को विशेष रूप से दण्डित करना चाहता है । यह तेरी कुबुद्धि है । समझ और धर्माचरण से इस मानव-भव को सफल कर । तप और सयम से आत्मा को पवित्र बना कर सभी पाप को धो दे । यह अलभ्य अवसर बार-बार नहीं मिलेगा ।"

महात्मा के उपदेश ने नन्दीसेन को जाग्रत कर दिया । उसकी मोहनिद्रा दूर हुई । उसने उसी समय प्रव्रज्या ग्रहण की और ज्ञानाभ्यास करने लगा । कुछ काल में वह गीतार्थ हो गया । उसने अभिग्रह किया कि - "मैं साधुओं की वैयावृत्य करने मे सदैव तत्पर रहूँगा ।"

अभिग्रह ग्रहण करने के बाद नन्दीसेन मुनि अग्लान-भाव से वैयावृत्य करने लगे । बाल हो या वृद्ध रोगी हो या तपस्वी, किसी भी साधु को सेवा की आवश्यकता हो, तो नन्दीसेन मुनि तत्पर रहते थे । उनकी वैयावृत्य की साधना सर्वत्र प्रशसनीय हुई, यहा तक कि सुधर्मा-सभा को सम्बोधित करते हुए सौधर्म स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र ने कहा,-

"देवगण ! वैयावृत्य रूपी आभ्यन्तर तप की साधना करने मे भरतक्षेत्र में इस समय महात्मा नन्दीसेन मुनि सर्वोच्च साधक हैं । उनके समान साधक अन्य कोई नहीं है । वे वैयावृत्य के लिए सदैव तत्पर रहते हैं । धन्य है ऐसे विशुद्ध एवं शुद्ध साधक महात्मा को ।"

देवेन्द्र की बात में सारी देवसभा सहमत हुई । बहुत-से देव भी देवेन्द्र की अनुमोदना करते हुए धन्य धन्य करते हुए महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने लगे । कई असम्यग्दृष्टि देव मौन रह कर भी बैठे रहे । किन्तु एक देव, इन्द्र की बात पर अविश्वासी हो कर उठ खडा हुआ और सच्चाई को परखने के लिए स्वर्ग छोड़ कर मनुष्यलोक में आया । उसने अपना एक रूप असाध्य रोगी मुनि जैसा बना कर उसी उपवन में एक वृक्ष के नीचे पड़ गया और दूसरा रूप बना कर नन्दीसेन मुनि के समीप आया । उस समय नन्दीसेन मुनि तपस्या का पारणा करने के लिए प्रथम ग्रास हाथ से उठा ही रहे थे कि उसने पुकारा-

"अरे ओ वैयावृत्यी नन्दीसेन मुनि ! तुम महावैयावृत्यी कहलाते हो, किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम

कवल प्रशसा के भूखे ढागी हो । वहाँ एक असाध्य रोगी मुनि तडप रहा है और यहाँ आप आनन्द से भोजन कर रहे हैं । देखी तुम्हारी वैयावृत्य । कदाचित् अपने पेट और मन की ही वैयावृत्य करते हागे तुम ?"

नन्दासेनजी का हाथ में लिया हुआ प्रथम ग्रास फिर पात्र मे गिर गया । वे तत्काल उठे और पूछा - "महात्मन् । कहाँ है वे रोग-पीडित मुनि ? क्या हुआ उन्हे ? शीघ्र बताइए, मैं सेवा के लिए तत्पर हूँ ।"

"निकट के उपवन में ही अतिसार रोग से पीडित एक मुनि पडे हैं ।" नन्दीसेन मुनि शुद्ध पानी की याचना करने निकले, किन्तु देव-माया से सभी घरो का पानी अनैषणीय होता रहा । किन्तु मुनि लब्धिधारी थे, इसलिए देव-माया भी अधिक नहीं चल सकी और महात्मा को एक स्थान से शुद्ध पानी प्राप्त हो गया, जिसे ले कर वे उन रोगी मुनि के समीप आये । नन्दीसेन मुनि के निकट आने पर रोगी बना हुआ ढागी साधु बोला,-

"अरे ओ अधम ! मैं यहाँ मर रहा हूँ और तुझे इसकी चिन्ता ही नहीं ? अपनी उदर-सेवा करने के बाद बडा मस्त बना हुआ झुमता-टहलता ला आ रहा है ? ऐसा है तेरा अभिग्रह और ऐसा है तू वैयावृत्यी ? धिक्कार है तेरे इस दाम्भिक जीवन को ।"

"मुनिवर । शान्त होवे और मुझ अधम को क्षमा प्रदान करें । मैं अब आपकी सेवा में तत्पर रहूँगा और आपकी योग्य चिकित्सा की जावेगी । मैं आपके लिए शुद्ध प्रासुक जल लाया हूँ , आप इसे पियें । आपको शाति होगी" - नन्दीसेन मुनि ने शाति से निवेदन किया और पानी पिला कर कहा - "आप जरा खडे हो जाइए, अपन उपाश्रय मे चलें । वहाँ अनुकूलता रहेगी ।"

"तू अन्धा है क्या ? अरे दम्भी । मैं कितना अशक्त हो गया हूँ । मैं करवट भी नहीं बदल सकता तो उठूगा कैसे ?"

नन्दीसेनजी ने उस रोगी दिखाई देने वाले साधु को उठा कर कन्धे पर चढाया और चलने लगे, किन्तु वह मायावी पद-पद पर वाक्-बाण छोडता रहा । वह कहता- "दुष्ट ! धीरे-धीर चल । शीघ्रता करने से मेरा शरीर हिलता है और इससे पीडा होती है ।" नन्दीसेनजी धीरे-धीरे चलने लगे, किन्तु देव को तो उनकी परीक्षा करनी थी । उस मायावी साधु ने नन्दीसेनजी पर विष्ठा कर दी और धोंस देते हुए कहा - "तू धीरे-धीरे क्यो चलता है ? मेरे पेट मे टीस उठ रही है और मल निकलने वाला है ।" नन्दीसनजी का सारा शरीर विष्ठा से लथपथ हो गया और दुर्गन्ध से आसपास का वातावरण असह्य हो गया । किन्तु नन्दीसेनजी ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । वे यही सोचने लगे कि - "इन महात्मा क रोग की उपशान्ति कैसे हो ? इन्हें भारी पीडा हो रही है," आदि ।

जय दव ने देखा कि भर्त्सना और अपमान करने पर और विष्ठा से सारा शरीर भर दन पर भी महात्मा का मन वैयावृत्य से विचलित नहीं हुआ तो उसने अपनी माया का साहरण कर लिया और स्वय देवरूप म उपस्थित हो कर नन्दीसेनजी को वन्दना की क्षमायाचना की । उसने इस परीक्षा का कारण इन्द्र द्वारा हुई प्रशसा का वर्णन किया और बोला,- "महामुनि ! आप धन्य हैं ! कहिये मैं आपको क्या दूँ ?" मुनिश्री ने कहा - "गुरुकृपा से मुझे वह दुर्लभ धर्म प्राप्त है, जो तुझ प्राप्त नहीं है । इसके सिवाय मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है ।" देव चला गया । नन्दीसेन मुनि ने बारह हजार वर्ष तक तप और सयम का शुद्धतापूर्वक पालन किया और अन्त समय निकट जान कर अनशन किया । चालू अनशन मे उन्हें अपने दुर्भाग्य एव स्त्रियो द्वारा तिरस्कृत जीवन का स्मरण हो आया उन्होंने निदान किया - "मेरे तप-सयम के फल से म "रमणीवल्लभ" बनूँ । बहुतसी रमणियों का प्राणप्रिय होऊँ ?" आयु पूर्ण होने पर वे महाशुक्र देव हुए और वहाँ से च्यव कर वसुदेव हुए । उनका स्त्रीजनवल्लभ होना उस निदान का फल है ।"

अन्धकवृष्णि राजा ने समुद्रविजय को राज्य दे कर दीक्षा ली और मुक्ति प्राप्त की ।

कंस-जन्म

राजा भोजवृष्णि ने भी उग्रसेन को राज्यभार सौंप कर निग्रथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । उग्रसनजी के धारिणी नाम की पटरानी थी । एकदा श्री उग्रसनजी उद्यान की ओर जा रह थे । उन्होने एक तापस को देखा जो मार्ग क निकट एक वृक्ष के नीच बैठा था । वह मासोपवास की तपस्या करता था । उसके यह नियम था कि - 'पारणे के दिन भिक्षार्थ जाने पर प्रथम जिस घर में जाय, उसी मे से आहार मिल तो लेना । यदि उस घर म आहार नहीं मिले तो आग दूसर घर नहीं जा कर लौट आना और फिर मासोपवास प्रारम्भ कर देना ।' उग्रसेनजी ने तापस को अपने यहाँ पारणा करन का आमन्त्रण दिया और भवन में आने के बाद भूल गए । तापस पारणे के लिए उनके यहा गया किन्तु वह भोजन नहीं पा सका और लौट कर दूसरा मासखमण कर लिया । इसके बाद उग्रसेन नरेश फिर उद्यान में गए और तापस को देख कर उन्हें अपनी भूल स्मरण हो आई । उन्होंने तापस से अपनी भूल के लिए क्षमा मागी और पारणे के दिन अपने यहाँ से ही भोजन लेने का फिर से निमन्त्रण दिया । तापस ने मान लिया । किन्तु कार्य व्यस्तता के कारण फिर भूल गए और तापस फिर बिना भोजन किए खाली लौट गया और तीसरा मासोपवास चालू कर दिया । राजा को पुन अपनी भूल मालूम हुई और उसने पुन तपस्वी से क्षमा याचना की और आग्रहपूर्वक पारणे का निमन्त्रण दिया जो स्वीकार हो गया । किन्तु भवितव्यता वश इस समय भी पारणा नहीं हो सका । तपस्वी ने तीसरी बार भी पारणा नहीं मिलने से राजा की भूल नहीं मान कर जानबूझ कर बुरी भावना से तपस्वी को सताना माना और क्रोधपूर्वक यह निदान कर लिया कि - "मेरे तप क प्रभाव स मैं भवान्तर मे इस दुष्ट को मारने वाला बनूँ । इस प्रकार निदान कर के उसने

आजीवन अनशन कर लिया और मृत्यु पा कर उग्रसेनजी की पटरानी धारिणी देवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ । गर्भ के प्रभाव से महारानी के मन में 'राजा के हृदय का मास खाने' की इच्छा उत्पन्न हुई । यह इच्छा ऐसी थी कि जिसे मुँह पर लाना भी असभव था । रानी दिनोदिन दुर्बल होने लगी । राजा ने रानी को खेद युक्त देख कर आग्रहपूर्वक कारण पूछा और अत्याग्रह के कारण रानी को अपना भाव बताना पडा । राजा ने मन्त्रियो से मन्त्रणा की और रानी को, दोहद पूरा करने का आश्वासन दिया । फिर राजा को एक अन्धेरे कमरे मे लेटा कर उनकी छाती पर खरगोश का मास रखा और उसमें से थोडा-थोडा काट कर रानी के पास भेजने लगे । जब रानी का दोहद पूरा हो गया तो वह इस दुरेच्छा से भयभीत हुई और अपने पति की मृत्यु जान कर स्वय भी मरने के लिए उद्यत हुई । जब मन्त्रियो ने रानी को विश्वास दिलाया कि 'राजा जीवित है । उनका योग्य उपचार हो रहा है और वे सात दिन में ही स्वस्थ हो जावेंगे,' तो रानी को सतोष हुआ ।

रानी को विश्वास हो गया कि गर्भस्थ जीव कोई दुष्टात्मा है । वह मेरे और स्वामी के लिए अनिष्टकारी है । उसने उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल नहीं हुई और पौषकृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को जब चन्द्रमा मूल नक्षत्र मे आया, तो एक पुत्र को जन्म दिया । रानी इस बालक से भयभीत तो थी ही, इसलिए उसको हटाने के लिए एक काँसे की पेटी पहले से बनवा कर तैयार रखी थी । पुत्र का जन्म होते ही उसे उस पेटी में सुला दिया और उसके साथ अपने और राजा के नाम से अकित दो मुद्रिका और एक पत्र रखा और कुछ रत्न रख कर दासी के द्वारा पेटी को यमुना नदी मे बहा दिया और राजा को कहला दिया कि 'महारानी के गर्भ से मरा हुआ पुत्र जन्मा है ।' सातवे दिन पति को स्वस्थ देख कर उसने बडा भारी उत्सव मनाया ।

वह पेटी यमुना नदी से बह कर शौर्यपुर नगरी समीप आई । एक 'सुभद्र' नाम का व्यापारी प्रात काल शौच के लिए नदी पर आया उसने नदी मे बहती हुई पेटी देखी और साहस कर के उसे बाहर निकाल ली । उसने पेटी खोल कर देखी, तो उसमें एक सद्यजात सुन्दर बालक और रत्नादि देखे । उसने पत्र खोल कर पढा और आश्चर्यान्वित हुआ । फिर पेटी अपने घर ला कर अपनी पत्नी इन्दुमति को दिया और पुत्रवत् पालन करने की प्रेरणा की । काँसे की पेटी मे से निकलने के कारण उन्होने उसका नाम "कस" रख दिया वे उसका दूध मधु आदि अनुकूल पदार्थों से पोषण करने लगे । कस बड़ा होने लगा तो उसका स्वभाव भी प्रकट होने लगा । वह अन्य बच्चों से झगडता, कलह करता और उन्हें मारता-पिटता । उन बच्चों के माता-पिता आ कर सेठ-सेठानी से कस की दुष्टता कह कर उपालम्भ देने लगे । जब कस दस वर्ष का हुआ और उसके उपद्रव बढने लगे, तो सेठ ने उसे राजकुमार वसुदेव के पास-सेवक के रूप में रख दिया । कस वसुदेवजी को प्रिय लगा । दोनो समान वय के थे । वसुदेव कस कोई सदैव अपने साथ ही रखने लगे । कस भी वसुदेवजी के साथ रह कर कलाआ और विद्याओं का अभ्यास करने लगा । दोनों कला-निपुण हो कर यौवन-वय को प्राप्त हुए ।

कंस का पराक्रम

सुक्तिमति नगरी के राजा वसु * का सुवसु नामक पुत्र, मन-दु ख होने से घर से निकल कर चल दिया और नागपुर पहुँचा । उसके 'बृहद्रथ' नामक पुत्र हुआ और वह भी वहाँ से चल कर राजगृह में रहने लगा । उसकी सतति म बृहद्रथ नामक राजा हुआ उसका पुत्र 'जरासध' हुआ । 'जरासध' बड़ा पराक्रमी और प्रतापी नरेश हुआ । वह बढते-बढते त्रिखण्ड का अधिपति -प्रतिवासुदेव हो गया । जरासध नरेश ने दूत भेज कर राजा समुद्रविजय को आज्ञा दी कि:-

"वैताढ्य गिरि के निकट सिहपुर नगर का राजा सिहरथ है । वह विरुद्धाचारी हो गया है । इसलिए उस बन्दी बना कर मेरे पास लाओ । मैं इस कार्य को सम्पन्न करने वाल को अपनी पुत्री कुमारी 'जीवयशा' को और एक श्रेष्ठी नगर का राज्य दूँगा । "

दूत द्वारा जरासध नरेश की आज्ञा सुनकर राजकुमार वसुदेव ने पिता से सिहरथ पर चढाई कर ने जाने की आज्ञा माँगी । समुद्रविजयजी ने कहा -'वत्स! अभी तुम सुकोमल कुमार हो । युद्ध के कठोर जटिल तथा भयानक कार्य के लिए मैं तुम्हें नहीं भज सकता ।' किन्तु कुमार का आग्रह विशेष था, अतएव समुद्रविजयजी को स्वीकार करना पडा । उन्होंने विशाल सेना और उत्तम शस्त्रास्त्र दे कर वसुदेव को विदा किया । सिहरथ भी तत्पर हो कर युद्ध-भूमि में आ डटा । दोनो पक्षों में भारी युद्ध हुआ और सिहरथ ने वसुदेव की सेना को हरा दिया । अपनी सेना की पराजय देखकर राजकुमार वसुदव स्वय रथारूढ हो कर आगे आये । कस उसके रथ का चालक बना । दोनों पक्षा में विविध शस्त्रास्त्रो से भयानक युद्ध , लम्बे समय तक चलता रहा, किन्तु परिणाम तक नहीं पहुँच रहा था । कस स्वय निर्णायक प्रहार करने के लिए तत्पर बना । उसने एक बडे अस्त्र का प्रहार कर के सिहरथ का नष्ट कर डाला । फिर सिहरथ खड्ग ले कर कस का वध करने क लिए झपटा । उस समय वसुदव ने क्षुरप्र बाण मार कर सिहरथ की मुष्टि का छदन कर दिया । छल एव बल में निपुण कस ने तत्काल सिहरथ पर झपट कर उसे पकड़ लिया और बाँध कर वसुदेव के रथ में डाल दिया । अपने राजा को बन्दी बना देख कर सेना भाग गई और युद्ध समाप्त हो गया । विजयी सेना सिहरथ को ले कर लौट गई । विजयी राजकुमार और सेना का भव्य स्वागत के साथ राजधानी में प्रवश हुआ ।

राजा समुद्रविजयजी ने एकान्त में राजकुमार वसुदेव से कहा:-

---

* जो सत्यवादी था, किन्तु बाद में असत्य बोलने के कारण देव ने क्रुद्ध हो कर मार डाला और वह नरक में उत्पन्न हुआ ।

कंस का जीवयशा से लग्न

"पुत्र! मुझ क्रोष्टुकी नामक ज्ञानी न कहा था कि-जरासध की पुत्री जीवयशा अच्छे लक्षण वाली नहीं ह । वह पितृकुल के लिए अनिष्टकारी होगी । इसलिए सावधान रहना है । सिहरथ को पकड कर लान के उपलक्ष म जरासध जीवयशा का लग्न तुम्हार साथ करगा । अपने को इससे यचना है । कहो कैसे बचाग?

समुद्रविजय ने कहा-"पिताश्री! चिन्ता की बात नहा । सिहरथ को कस ने पकडा है । इसलिए जीवयशा उसी को मिलनी चाहिये ।"

-"पुत्र ! कस क्षत्रिय जैसे पराक्रम वाला हो कर भी वणिक्पुत्र है । जरासध उसे अपनी पुत्री नहीं देगा फिर क्या होगा ?

राजा ने सुभद्र सेठ को बुला कर कस की उत्पत्ति का हाल पूछा । सुभद्र ने कहा-

"महाराज! कस मेरा पुत्र नहीं यह मथुराधिपति राजा उग्रसेन जी का पुत्र है ।" उसने कस के मिलने की सारी घटना कह सुनाई और उस पेटी से मिली हुई दोनों मुद्रिकाएँ तथा वह पत्र दिखाया।" पत्र में लिखा था कि-

"यह बालक महाराजा उग्रसेनजी का पुत्र और महारानी धारिणी का अगजात है । भयकर दोहद उत्पन्न होने के कारण अनिष्टकारी जानकर महारानी ने अपने पति की रक्षा के हित इस बालक का त्याग किया है ।"

पत्र पढ कर समुद्रविजय ने कहा-महाभुज कस यादव-कुल के महाराजा उग्रसेनजी का पुत्र है । इसी से इतना बल और शौर्य्य है।" उन्होने यह सारी बात कस को बताई और पत्र तथा मुद्रिका भी दिखाई । कस अपने को राजकुमार जान कर प्रसन्न हुआ किन्तु अपने को इस हीन दशा में धकेलने और इस हीन दशा म डालने के कारण पिता पर रोष जागृत हुआ । पूर्वभव का वैर सफल होने का समय भी परिपक्व हो रहा था ।

समुद्रविजयजी, कस को साथ ले कर बन्दी सिहरथ सहित जरासध के पास पहुँचे । बन्दी को भेट करने के बाद कस के पराक्रम का बखान किया । जरासध ने अपनी पुत्री के साथ कस का लग्न कर दिया । कस ने पिता से वैर लेने के उद्देश्य से मथुरा नगरी का राज्य माँगा । जरासध ने उसकी माँग स्वीकार कर ली और कस मथुरा पर अधिकार करने के लिए सेना के साथ रवाना हो गया । कस ने मथुरा पर अधिकार कर लिया और अपने पिता राजा उग्रसेन जी को बन्दी कर पिंजर म बन्द कर दिया।

पति के दु.ख से दुःखी महारानी का महाक्लेश

राजा उग्रसेन जी के अतिमुक्त आदि पुत्र थे । पिता के बन्दी बना लेने की घटना का अतिमुक्त कुमार के हृदय पर गभीर प्रभाव पडा।

कंस का पराक्रम

सुक्तिमति नगरी के राजा वसु * का सुवसु नामक पुत्र मन-दु ख होने से घर से निक
दिया और नागपुर पहुँचा । उसके 'बृहद्रथ' नामक पुत्र हुआ और वह भी वहाँ से चल कर
रहने लगा । उसकी सतति में बृहद्रथ नामक राजा हुआ उसका पुत्र 'जरासध' हुआ । 'य
पराक्रमी और प्रताणी नरेश हुआ । वह बढते-बढते त्रिखण्ड का अधिपति -प्रतिवासुदेव
जरासध नरेश ने दूत भेज कर राजा समुद्रविजय को आज्ञा दी कि -

''वैताढय गिरि के निकट सिहपुर नगर का राजा सिहरथ है । वह विरुद्धाचारी हो
इसलिए उसे बन्दी बना कर मेरे पास लाओ । मैं इस कार्य को सम्पन्न करने वाले को अ
कुमारी 'जीवयशा' को और एक श्रेष्ठी नगर का राज्य दूँगा । ''

दूत द्वारा जरासध नरेश की आज्ञा सुनकर राजकुमार वसुदेव ने पिता से सिहरथ पर चढ
जाने की आज्ञा माँगी । समद्रविजयजी ने कहा -'वत्स! अभी तुम सुकोमल कुमार हो । युद्ध
जटिल तथा भयानक कार्य के लिए मैं तुम्हे नहीं भज सकता ।' किन्तु कुमार का आग्रह वि
अतएव समुद्रविजयजी को स्वीकार करना पड़ा । उन्होने विशाल सेना और उत्तम शस्त्रास्त्र
वसुदेव को विदा किया । सिहरथ भी तत्पर हो कर युद्ध-भूमि में आ डटा । दोनों पक्षों में भा
हुआ और सिहरथ ने वसुदव की सेना को हरा दिया । अपनी सेना की पराजय देखकर रा
वसुदव स्वय रथारूढ हो कर आगे आये । कस उसके रथ का चालक बना । दोनो पक्षा में
शस्त्रास्त्रो से भयानक युद्ध , लम्बे समय तक चलता रहा किन्तु परिणाम तक नहीं पहुँच रहा था ।
स्वय निर्णायक प्रहार करने के लिए तत्पर बना । उसने एक बड़े अस्त्र का प्रहार कर के सिहरथ
नष्ट कर डाला । फिर सिहरथ खड्ग ले कर कस का वध करने के लिए झपटा । उस समय वसु
क्षुरप्र बाण मार कर सिहरथ की मुष्टि का छेदन कर दिया । छल एव बल म निपुण कस न तत्
सिहरथ पर झपट कर उसे पकड़ लिया और बाँध कर वसुदव के रथ मे डाल दिया । अपन राजा
बन्दी बना देख कर सेना भाग गई और युद्ध समाप्त हो गया । विजयी सेना सिहरथ को ले कर
गई । विजयी राजकुमार और सेना का भव्य स्वागत के साथ राजधानी में प्रवेश हुआ ।

राजा समुद्रविजयजी ने एकान्त में राजकुमार वसुदेव से कहा,-

* जो सत्यवादी था किन्तु बाद म असत्य बोलने क कारण दव ने क्रुद्ध हो कर मार डाला और वह नरक
उत्पन्न हुआ ।

कंस का जीवयशा से लग्न

"पुत्र! मुझ कोष्टुकी नामक ज्ञानी ने कहा था कि-जरासध की पुत्री जीवयशा अच्छे लक्षण वाली नहीं है । वह पितृकुल के लिए अनिष्टकारी होगी । इसलिए सावधान रहना है । सिहरथ को पकड कर लाने के उपलक्ष मे जरासध जीवयशा का लग्न तुम्हारे साथ करेगा । अपने को इससे बचना है । कहो, कैसे बचाए?

वसुदेव ने कहा-"पिताश्री! चिन्ता की बात नहा । सिहरथ को कस ने पकडा है । इसलिए जीवयशा उसी को मिलनी चाहिये ।"

-"पुत्र ! कस क्षत्रिय जैसे पराक्रम वाला हो कर भी वणिक्पुत्र है । जरासध उसे अपनी पुत्री नहीं देगा, फिर क्या होगा ?

राजा ने सुभद्र सेठ को बुला कर कस की उत्पत्ति का हाल पूछा । सुभद्र ने कहा-

"महाराज! कस मेरा पुत्र नहीं यह मथुराधिपति राजा उग्रसेन जी का पुत्र है ।" उसने कस के मिलने की सारी घटना कह सुनाई और उस पेटी से मिली हुई दोना मुद्रिकाएँ तथा वह पत्र दिखाया।" पत्र मे लिखा था कि-

"यह बालक महाराजा उग्रसेनजी का पुत्र और महारानी धारिणी का अगजात है । भयकर दोहद उत्पन्न होने के कारण अनिष्टकारी जानकर महारानी ने अपने पति की रक्षा के हित इस बालक का त्याग किया है ।"

पत्र पढ कर समुद्रविजय ने कहा-महाभुज कस, यादव-कुल के महाराजा उग्रसेनजी का पुत्र है । इसी से इतना बल और शौर्य्य है।" उन्होने यह सारी बात कस को बताई और पत्र तथा मुद्रिका भी दिखाई । कस अपने को राजकुमार जान कर प्रसन्न हुआ किन्तु अपने को इस हीन दशा मे धकेलने और इस हीन दशा में डालने के कारण पिता पर रोष जागृत हुआ । पूर्वभव का वैर सफल होने का समय भी परिपक्व हो रहा था ।

समुद्रविजयजी, कस को साथ ले कर बन्दी सिहरथ सहित जरासध के पास पहुँचे । बन्दी की भेट करने के बाद कस के पराक्रम का बखान किया । जरासध ने अपनी पुत्री के साथ कस का लग्न कर दिया । कस ने पिता से वैर लेने के उद्देश्य से मथुरा नगरी का राज्य माँगा । जरासध ने उसकी माँग स्वीकार कर ली और कस मथुरा पर अधिकार करने के लिए सेना के साथ रवाना हो गया । कस ने मथुरा पर अधिकार कर लिया और अपने पिता राजा उग्रसेन जी को बन्दी कर पिजर में बन्द कर दिया।

पति के दु:ख से दु:खी महारानी का महाक्लेश

राजा उग्रसेन जी के अतिमुक्त आदि पुत्र थे । पिता के बन्दी बना लेने की घटना का अतिमुक्त कुमार के हृदय पर गभीर प्रभाव पडा।

उन्होने ससार से उदासीन हो कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । राज्याधिकार पा कर कस सतुष्ट हो गया । उसने अपने पालक सुभद्र सेठ को शौर्य्य नगर से बुलाया और बहुत सा धन दे कर सम्मानित किया । महारानी धारणी देवी अपन पति के बन्दी बनाये जाने से अत्यत दु.खी थी । उन्होंने कस को समझाया -

"पुत्र! तुझे यमुना म बहाने वाली मैं हूँ, तेरे पिता नहीं । तेरे पिताजी को ता मालूम हा नहीं कि पुत्र जीवित जन्मा । मैंने उन्हें कहला दिया था कि- मृत बालक जन्मा है और तुझे पेटी में बन्द करा कर दासी द्वारा यमुना में बहा दिया । तेरे साथ मैंने जो पत्र रखा था उसमें भी यही बात लिखा था । यदि तेरा अपराध किया है, तो मैंन । तेरे पिताजी सर्वथा निर्दोष हैं । तू मुझे दण्ड द । मुझे मार डाल, पर उन निर्दोष को मुक्त कर दे ।"

कस ने माता की बात नहीं मानी । रानी हताश हो कर उन लोगा के घर गइ- जिन्हें कस मानता था और विश्वास करता था । उन्हें वह करुणापूर्ण स्वर म पति का मुक्त करवाने के लिए कहती अनुनय करती और वे कस को समझाते पर वह किसी की नहीं मानता । पूर्वभव का वैर यहाँ बाधक बन रहा था ।

वसुदेव द्वारा मृत्यु का ढोंग और विदेश गमन

वसुदेवजी अत्यत सुन्दर एव आकषक थ । वे नगर म फिरते, ता उन्हें देख कर स्त्रियाँ मुग्ध हो जाती और विवेक शून्य हो कर उन्हें घुरती रहती । कई घर से निकल कर उनके पीछे फिरने लगती । वसुदेवजी निदान के प्रभाव स रमणीयवल्लभ थे । उनका निदान सफल हो रहा था । वे अपना समय इधर-उधर घूमने और क्रीडा करने म व्यतीत करने लगे । नगर के प्रतिष्ठितजना ने वसुदेवजी के आकर्षण से स्त्रियो में व्याप्त कामुकता मर्यादाहीनता एव अनैतिकता से चिन्तित हो कर राजा समुद्रविजयजी से निवदन किया । राजा ने नागरिक शिष्टमण्डल का आश्वासन दे कर विदा किया और अवसर पा कर वसुदेव जी स कहा-"बन्धु! तुम दिनभर भ्रमण करत रहते हो । इसस तुम्हारे शरीर पर विपरीत परिणाम होता है । तुम मुझ दुर्बल दिखाई द रहे हा । इसलिए तुम भ्रमण करना बन्द करके कुछ दिन विश्राम करा और यहीं रह कर अपनी कलाआ की पुनरावृत्ति करा तथा नवीन कलाओं का अभ्यास करो । इससे मनोरञ्जन भी होगा आर कला में विकास भी हागा ।" वसुदव ने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा मानी और भवन म ही रह कर गीत नृत्यादि में काल व्यतीत करने लगे । कालान्तर म कुब्जा नाम की दासी गन्ध-पात्र ले कर उधर से निकली । वसुदवजी ने दासी स पूछा- "क्या लिये जा रही है ?" "यह गन्ध-पात्र है । महारानी शिवादेवी ने महाराज के लिए भेजा है । मैं उन्हें देने के लिये जा रही हूँ ।" वसुदेवजी ने हँसत दासी के हाथ से गन्ध-पात्र ले लिया और कहा -"इसकी ता मुझे भी आवश्यकता है ।" दासी ने कुपित हो कर कहा-' आपके ऐसे चरित्र के कारण ही आप भवन म बन्द

जीवन व्यतीति कर रहे हैं ।" दासी की बात वसुदेवजी को लग गई । उन्होने पूछा-"क्या कहती है ? स्पष्ट बता की मैं कैसे बन्दी हूँ ?" दासी सकुचाई और अपनी बात को छुपाने का प्रयत्न करने लगी । किन्तु कुमार के रोष से उसे बताना ही पडा । उसने नागरिकजनों द्वारा महाराज से की गई विनती और फलस्वरूप वसुदेव का भवन मे ही रहने की सूचना का सारा रहस्य बता दिया । वसुदेवजी ने सोचा - 'यदि महाराज यह मानते हो कि मैं स्त्रियो को आकर्षित करने के लिए ही नगर में फिरता हूँ और इससे उनके सामने कठिनाई उत्पन्न होती है, तथा इसी के लिए उन्होने मुझे भवन मे ही रहने की आज्ञा दी है, तो मुझ यहाँ रहना ही नहीं चाहिए ।' इस प्रकार विचार कर उन्हाने गुटिका के प्रयोग से अपना रूप पलटा और वेश बदल कर चल निकले । नगर के बाहर वे श्मशान म आये । वहाँ एक अनाथ मनुष्य का शव पडा था और एक ओर चिता रची हुई थी वसुदव जी ने उस शव को चिता में रख कर आग लगा दी और एक पत्र लिख कर एक खम्भे पर लगा दिया, जिसमे लिखा था -

"लोगों ने मुझ दूषित माना और मरे आप्तजन के समक्ष मुझे कलकित किया । इसलिए मेरे लिए जीवन दुभर हो गया । अब मैं अपने जीवन का अन्त करने के लिए चिता मे प्रवेश कर रहा हूँ । मरे आप्तजन और नागरिकजन मुझे क्षमा करें और मुझे भूला दें ।"

पत्र खभे पर लगा कर, वसुदवजी ब्राह्मण का वेश बना चल दिये । कुछ दूर चलने के बाद उन्होंने एक रथ जाता हुआ देखा । उसमें दा स्त्रियाँ बैठी थी - एक माता और दूसरी पुत्री । पुत्री ससुराल से अपनी माता के साथ पीहर जा रही थी । वसुदेव का देख कर पुत्री ने माता से कहा - 'इस थके हुए पथिक को रथ में बिठा लो ।' वसुदेव का रथ मे बिठाया और घर आ कर भोजनादि कराया । सध्या-काल में वसुदेव वहाँ से चले और एक यक्ष क मन्दिर म आ कर ठहरे ।

जब वसुदेवजी को भवन में नहीं देखा, तो खोज होने लगी । इतने में किसी मृतक का अग्नि-सस्कार करने के लिए श्मशान में गये लोगों न खभे पर लगा हुआ वह पत्र देखा और हलचल मच गई। यह आघातजनक समाचार शीघ्र महाराज समुद्रविजयजी के पास पहुँचाया गया और नगर भर म यह बात पहुँच गई कि - 'वसुदेवजी ने अग्नि में प्रवेश कर आत्म-घात कर लिया ।' महाराज राज्य-परिवार और सारा नगर शोक-सागर मे डूब गया । रुदन और आक्रन्द से सारा वातावरण भर गया और वसुदवजी की मृत्यु सम्बन्धी सभी प्रकार की उत्तर-क्रियाएँ की गई ।

वसुदेव के लग्न

वसुदेव कुमार आगे चलते हुए विजयखेट नामक नगर मे पहुँच । विजयखेट नगर के राजा सुग्रीव के श्यामा और विजयसेना नाम की दो पुत्रियाँ थी । वे सुन्दर आकर्षक एव मोहक रूप वाली थी और कलाओं म निपुण थी। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो पुरुष कला-प्रतियोगिता में उन्हें जीतेगा उन्हीं को वे पति रूप म स्वीकार करेगी । वसुदेव ने उन्हें जीत लिया और उनके साथ लग्न कर लिया । उनका

जीवन सुख-भोग म व्यतीत हाने लगा । कालान्तर में विजयसेना पत्नी स उनके पुत्र का जन्म हुआ जो वसुदव क समान ही सुन्दर था । उसका नाम 'अक्रूर' रखा । कुछ काल के बाद वसुदेव अकेले वहाँ से चल निकल और एक घोर वन म पहुँच गए । प्यास से पीडित हो कर वे जलावर्त नाम के जलाशय के निकट आय । उधर से एक विशाल एव मस्त हाथी दौडता हुआ वसुदेव के निकट आया । कुमार सँभल गए । वे इधर-उधर घूम-घूम कर चालाकी से हाथी को चक्कर दे कर खेदित करते रहे, फिर सिह क समान छलाग मार कर उसकी गर्दन पर चढ बैठ । वसुदेव को हाथी के साथ खेलते और सवार होते वहाँ रह हुए अर्चिमाली और पवनजय नाम के दो विद्याधरो ने देखा । वे वसुदेव को कुजरावर्त उद्यान म ले गए । उस उद्यान म अशनिवेग नामक विद्याधर नरेश अपने परिवार के मध्य रहत थ । वसुदेव कुमार राजा अशनिवेग के समक्ष आये और प्रणाम किया । राजा ने कुमार का आदर सहित अपने पास बिठाया । उसक श्यामा नाम की सुन्दरी पुत्री थी । राजा ने श्यामा का विवाह वसुदेव क साथ कर दिया । एक बार श्यामा ने वीणा बजाने में अपनी कला का पूर्ण परिचय दिया । वसुदेव उसकी उत्कृष्ट कला पर मोहित हो गए और इच्छित वस्तु माँगने का आग्रह किया । श्यामा ने कहा - 'यदि आप मुझे पर प्रसन्न हैं तो वचन दीजिये कि आप मुझे सदैव अपने पास रखेंगे मुझे छोड़ कर कभी नहीं जायगे ।'' वसुदेव ने पूछा - ''प्रिय । यह कैसी माँग है - तुम्हारी ? क्या कारण है - इसका ?'' श्यामा ने कहा--

''वैताढ्य गिरि पर किन्नरगीत नगर म अर्चिमाली राजा था । उसके ज्वलनवेग और अशनिवेग नाम क दो पुत्र थे । अर्चिमाली ने ज्वलनवेग का राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की । ज्वलनवेग के अर्चिमाला नाम की रानी से अगारक नाम का पुत्र हुआ और अशनिवेग की सुप्रभा रानी के गर्भ से मैंने जन्म लिया । ज्वलनवेग राजा अपने भाई अशनिवेग को राज्य भार दे कर स्वर्ग सिधार । इसके बाद ज्वलनवेग के पुत्र अगारक ने विद्या क बल से मेरे पिता से राज्य छिन कर अपना अधिकार कर लिया । मेरे पिता ने अंगीरस नामक चारणमुनि से पूछा कि - ''मुझे मेरा राज्य मिलेगा या नहीं ?'' मुनिराज ने कहा -

''तेरी पुत्री श्यामा के पति के प्रभाव से तुझे राज्य मिलेगा । जलावर्त सरोवर के निकट जो युवक मदोन्मत्त हाथी को जीत कर उस पर सवार हो जायगा वही तुम्हारी पुत्री का पति होगा और वही तुझे राज्य दिलायेगा ।''

मुनिराज की वाणी पर विश्वास कर के मेरे पिता यहाँ चले आये और एक नगर बसा कर रहने लगे । उन्होंने जलावर्त सरोवर के निकट आपकी खोज के लिए दो विद्याधरो की नियुक्ति कर दी । इसके बाद आप पधारे और अपना लग्न हुआ । पूर्व-काल म धरणेन्द्र नागेन्द्र और विद्याधरों ने यह निश्चय किया था कि - ''जो धर्म-साधना कर रहा हो जिसके पास स्त्री हो अथवा जो साधु के समीप रहा हो उस व्यक्ति को यदि कोई मारेगा और वो विद्यावान हुआ तो उसकी विद्या नष्ट हो

जायगी ।" इस अभिशाप के कारण मैं आपको कहीं अकेला जाने देना नहीं चाहती । पापी अगारक, पक्का शत्रु बना हुआ है । वह घात लगा कर या छल से आप को मारने की चेष्टा करेगा । आपको कहीं नहीं जाना चाहिए।

वसुदेव वहीं रह कर कला के प्रयोग से मनोरजन और सुखोपभोग करते हुए काल व्यतीत करने लगे । एकदा रात्रि के समय अगारक आया और श्यामा के साथ सोये हुए निद्रा-मग्न वसुदेव का साहरण कर ले उडा । वसुदेव की नींद खुली । उन्होने अनुभव किया कि उनका हरण किया जा रहा है। उन्होंने श्यामा के मुँह जैसा अगारक और उसके पीछे खड्ग ले कर रोषपूर्वक आती हुई श्यामा को देखा, जो चिल्ला रही थी - "ठहर, ओ पापी ! मैं तुझे अभी समाप्त करती हूँ ।" अगारक ने तत्काल श्यामा के दो टुकडे कर दिये । यह देख कर वसुदेव के हृदय को आघात लगा । किन्तु तत्काल ही उन्होने देखा कि श्यामा के शरीर के दो टुकडे दो श्यामा बन कर अगारक से लडने लगे । अब वसुदेव समझ गये कि यह तो सब इन्द्रजाल है । उन्होने अगारक के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया । उस प्रहार से पीड़ित हो कर अगारक ने वसुदेव को छोड दिया, जा चम्पानगरी के बाहर के विशाल जलाशय मे गिरे । वसुदेव सावधान थे । वे हस के समान तैरते हुए बाहर निकले और शेष रात्रि सरोवर के देवालय में व्यतीत की । प्रात काल होने पर वे एक ब्राह्मण क साथ नगरी में आये ।

प्रतियोगिता में विजय और गन्धर्वसेना से लग्न

चम्पानगरी के चारुदत्त सेठ की 'गन्धर्वसेना' नाम की सुन्दर मोहक और लावण्यवती पुत्री थी । वह गान एव वादन-कला म प्रवीण थी । उसने प्रतिज्ञा की थी कि 'जो कलाविद, मुझे सगीत-कला म जीत लेगा, वही मरा पति होगा ।' उसके रति के समान अनुपम रूप, यौवन और गुणो से आकर्षित हो कर उसे प्राप्त करने की इच्छा से कई दशी विदेशी युवक सगीत-कला का अभ्यास करने लगे थे । उस नगरी मे सुग्रीव और यशोग्रीव नाम के दो सगीताचार्य रहते थे । प्रत्याशी युवक उन्हीं के पास अभ्यास करते थे और वे ही प्रतियोगिता के निर्णायक भी थे । वसुदेव भी प्रत्याशी बन कर सगीताचार्य सुग्रीव के समीप गये । उन्होने अपना रूप एक मसखरे जैसा बना लिया था । सगीताचार्य के समीप पहुँच कर उन्हाने एक असभ्य गँवार-सा डौल करते हुए कहा;- "गुरुजी ! मैं गौतमगोत्रीय ब्राह्मण हूँ । स्कन्दिल मेरा नाम है । मैं गन्धर्वसेना के साथ लग्न करना चाहता हूँ । आप मुझे सगीत-कला सिखाइये ।" आचार्य ने एक गँवार जैसे लटपट वेशवाले असभ्य युवक को दख कर उपेक्षा से मुँह मोड लिया । अभ्यास करने वाले युवक, इस अनोखे अनघड प्रत्याशी को देख कर हँसने लगे किन्तु वसुदेव तो वहीं जम गए और ग्राम्यजन योग्य वचनो से सहपाठिया को हँसाते हुए काल व्यतीत करने लग । सगीताचार्य की पत्नी वसुदेव के हँसोडपन से प्रभावित हो कर पुत्र के तुल्य वात्सल्य भाव रखने लगी । मासिक परीक्षा का दिन आया । आचार्यपत्नी ने सुग्रीव को अपने पुत्र के वस्त्र धारण करने का दिय । वसुदव ने

अपने पास के वस्त्र और गुरु-पत्नी के दिये हुए वस्त्र पहिने और सभा स्थान पर आया। वसुदेव के हास्यास्पद वेशभूषा और बोलचाल से सभी सभासद एवं दर्शक प्रभावित हुए। उन्हें मनोरंजन का एक साधन मिल गया। लोगों ने वसुदेव का व्यंगपूर्वक आदर किया और कहा - "हां भाई! तुम हो भाग्यशाली। तुम्ही जीतोगे और गन्धर्वसेना तुम्हारे साथ ही लग्न करेगी।" वसुदेव भी तत्काल बोले - "इस सारी सभा मे मेरे समान और है ही कौन जो गन्धर्वसेना के योग्य पति हो सके?" लोग हंस और बोले - "अवश्य अवश्य। तुम से बढ़ कर और है ही कौन? जाओ आगे बैठो"- कहते हुए न्यायाचार्य के समीप ही बिठा दिया। वे भी लोगों का मन लुभाने लगे। इतने में देवांगना के समान उत्कृष्ट रूपधारिणी गन्धर्वसेना सभा मे उपस्थित हुई। सभा का वातावरण एकदम शान्त हो गया। प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। थोड़ी ही देर में अन्य सभी प्रत्याशी परास्त हो गए। अन्त में वसुदेव की बारी आई। उन्होंने अब तक अपना वास्तविक रूप बना लिया था। गन्धर्वसेना की दृष्टि वसुदेव पर पड़ी तो वह प्रभावित हो गई। कुमार को सभागृह से बजाने के लिए एक वीणा दी गई। उस वीणा को देखते ही कुमार ने लौटाते हुए कहा - "यह दूषित है।" इसी प्रकार जितनी वीणा दी गई उनमें कुछ-न-कुछ दोष बता कर लौटा दी गई। अन्त में गन्धर्वसेना ने अपनी वीणा दी। कुमार ने उसे देख-परख कर सज्ज की और पूछा - "शुभे! क्या मुझे इस वीणा के साथ गायन भी करना पड़ेगा?" गन्धर्वसेना ने कहा - "हे संगीतज्ञ! पद्म चक्रवर्ती के ज्येष्ठ-बन्धु विष्णुकुमार मुनि द्वारा रचित त्रिविक्रम सम्बन्धी गीत इस वीणा में बजाइए।"

कुमार वीणा बजाने लगे। उन्होंने इस प्रकार वीणा द्वारा उस गीत को गाया कि जैसे साक्षात् सरस्वती हो। सभासद दर्शक, संगीताचार्य और गन्धर्वसेना सभी मुग्ध हो गए। कुमार का विजय-घोष हुआ। अन्य सभी प्रतियोगी हताश हो कर लौट गए। चारुदत्त सेठ कुमार को सम्मानपूर्वक अपने घर लाया और शुभ मुहूर्त मे विवाह सम्पन्न होने लगा। विवाह-विधि के समय चारुदत्त ने कुमार से पूछा - "आपका गोत्र क्या है? मैं क्या कह कर संकल्प करूँ?" वसुदेव ने कहा - "जो आपको अच्छा लगे।" सेठ ने कहा - "आप इसे वणिक-पुत्री जान कर हँसते होंगे किन्तु मैं इसका वृत्तांत आपको फिर सुनाऊँगा।" लग्न सम्पन्न हो गया। इसके बाद दोनों संगीताचार्यों ने भी अपनी श्यामा और विजया नाम की पुत्रियाँ वसुदेव के साथ ब्याह दी।

चारुदत्त की कथा

गन्धर्वसेना का वृत्तांत सुनाते हुए चारुदत्त सेठ ने वसुदेव से कहा - "इस नगरी में भानुदत्त नाम के एक धनवान सेठ रहते थे। पुत्र-लाभ नहीं होने के कारण वे चिन्तित रहते थे। एक बार उन्होंने एक चारण मुनि से पूछा। उन्होंने कहा - "तुझे पुत्र-लाभ होगा।" कालान्तर में मेरा जन्म हुआ। यौवनवय में मैं अपने मित्र के साथ समुद्र-तट पर गया। मैंने देखा कि भूमि पर किसी आकाशगामी के

पाँवों की आकृति अंकित हैं । उसे एक पुरुष और एक स्त्री के सुन्दर चरण-चिह्न दिखाई दिये । वह उन पद-चिह्नों के अनुसार आगे बढा । एक उद्यान के कदलिगृह मे उसने एक पुष्प-शैया देखी, जिसके समीप ढाल और तलवार रखे हुए थे । उसके समीप ही एक मनुष्य को, एक वृक्ष के साथ लोहे की कीलें ठोक कर जकडा हुआ देखा । जो तलवार उसके पास रखी थी, उसके कोश (म्यान) के साथ तीन औषधियाँ बंधी हुई थी । मैंने अपनी बुद्धि से सोच कर उनमे से एक औषधि निकाली और उसका प्रयोग कर, उस पुरुष के अग पर लगी हुई कीलें निकाल कर उसे वृक्ष से पृथक् किया । दूसरी औषधि से उसके शरीर के घाव भर दिये और तीसरी औषधि से उसकी मूर्च्छा दूर करके सावचेत कर दिया । वह पुरुष सावधान हो कर मेरा उपकार मानता हुआ बोला,-

"मैं वैताढ्य गिरि के शिवमन्दिर नगर के विद्याधर नरेश महाराज महेन्द्रविक्रम का पुत्र अमितगति हूँ । मैं अपने मित्र धूमशिख और गौरमुण्ड के साथ क्रीडा करने के लिए हिमवान पर्वत पर गया । वहाँ मेरे तपस्वी मामा हिरण्यरोम की पुत्री सुकुमालिका दिखाई दी । वह अत्यत रूपवती एव मन-मोहक थी। मैं उसे देख कर कामातुर हो गया और अपने घर चला आया । मैं उदासीन रहने लगा । मेरे पिता, मेरी उदासी एव चिन्तामग्न दशा देख कर सोच मे पड गए । उन्होने मुझ-से चिन्ता का कारण पूछा, किन्तु मैं मौन रहा । मेरे मित्र ने उन्हें कारण बता दिया । फिर पिताजी न मेरा विवाह सुकुमालिका के साथ कर दिया । मैं सुखभोग पूर्वक जीवन बिताने लगा । मेरे मित्र धूमशिख की दृष्टि मेरी पत्नी सुकुमालिका पर पडी । वह उस पर मोहित हो गया । मैंने उसकी दृष्टि म विकार देखा था फिर भी मैंने अपनी मित्रता में कमी नहीं आने दी । मैं अपनी पत्नी के साथ वन-विहार करता हुआ यहाँ आया और आमोद-रत था कि वह कुमित्र यहाँ आया और अचानक आक्रमण करके मुझे इस वृक्ष के साथ कीलें ठोक कर जकड दिया और मेरी पत्नी का हरण कर के ले गया । मैं अचानक आई हुई इस विपत्ति और पीडा से बेभान हो गया और कदाचित् मर भी जाता, किन्तु आपने ऐसी विकट परिस्थिति और भयकर दुर्दशा में से मुझे बचाया और जीवनदान दिया । आप मेरे महान् उपकारी हैं । कहिये, मैं आपका क्या हित करूँ, जिससे कुछ मात्रा में भी ऋण-मुक्त बनूँ ।

"महानुभाव ! मैं तो आपके दर्शन से ही कृतार्थ हो गया । अब मुझे कुछ भी आवश्यकता नहीं है ।" इतना सुनने पर वह विद्याधर मुझे प्रणाम कर आकाश में उड कर चला गया और मैं अपने घर गया । कालान्तर मे मेरा विवाह मेरे मामा की पुत्री मित्रवती के साथ हो गया । मैं कला में अधिक रुचि रखता था इससे मेरी रुचि भोग की ओर नहीं लगी । मुझे स्त्री में अनासक्त जान कर मेरे पिता चिंतित हुए । उन्होने मुझे शृगाररस की ललित-क्रियाओ में लगाया । मैं स्वेच्छाचारी बना और एक दिन कलिगसेना वेश्या की पुत्री बसतसेना के सहवास में पहुँच गया । वहाँ मैं बारह वर्ष रहा और बाप की कमाई का सोलह करोड स्वर्ण उडा दिया । अन्त मे निर्धन जान कर, कलिगसेना ने मुझे अपने आवास से निकाल दिया । बसतसेना का मुझ पर प्रगाढ स्नेह था । किन्तु माता के आगे उसकी एक नहीं चली।

इतने में उस शिला-खण्ड के पास स एक बडा भुजग निकला और भैंसे पर झपटा । वह भैंस पर लिपट गया और अपने विशाल फण स प्रहार करन लगा । भैंसा भी भानभूल हो कर सर्प स छुटकारा पाने को भरसक चेष्टा करने लगा । मैं इस अवसर का लाभ ले कर वहाँ स भागा । भागते-भागते मैं अटवी को पार कर एक गाव के निकट पहुँचा । उस गाँव म मरे मामा का मित्र रुद्रदत्त रहता था । रुद्रदत्त ने मुझे अपनाया । मैं उसके घर रह कर अपनी दशा सुधारन लगा । कुछ ही दिना म मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया ।

वहाँ से मैं अपने मामा के मित्र के साथ सुवर्णभूमि जाने के लिए थाडा द्रव्य उधार ले कर चल दिया । मार्ग मे इषुवगवती नामक नदी थी । उस नदी को उतर कर हम गिरीकूट पहुँचे । वहाँ स आगे हमने वरु के वन में प्रवेश किया और आगे बढ कर टकण देश मे आ कर दा मेंढ (भेड जाति क पशु) लिये । उन मेंढों पर सवार हो कर हम 'अजमार्ग' (बकरा चले वैसा रास्ता) पर चले । अजमार्ग पार कर के आग बढने पर हमने देखा कि अब पाँवों से चलने जैसा मार्ग भी नहीं है । रुद्रदत्त ने कहा "अब इन मढो की हमें कोई आवश्यकता नहीं, इसलिए इनको मार कर इनका अन्तरभाग उलट दें और खाल अपने शरीर पर लपट कर बाँध ल । जब भारण्ड पक्षी यहाँ आवेंगे ता मास के लोभ से हमें उठा लेंगे और ले जा कर स्वर्णभूमि पर रख देंग । इस प्रकार हम सरलता से पहुँच जावेंग ।" रुद्रदत्त की बात सुन कर मैंने कहा – "नहीं ऐसा नहीं करना चाहिए । जिन प्राणिया की सहायता स हम विषम मार्ग पार कर यहाँ तक पहुँचे उन उपकारी प्राणियों को मार डालना महापाप है ।" रुद्रदत्त ने मेरी बात नहीं मानी और बोला – "ये दोना भेड तेरे नहीं मेरे हैं । तू मुझ नहीं रोक सकता ।" इतना कह कर तत्काल उसने एक मेंढे का मार डाला । यह दख कर दूसरा मेंढा भयपूर्ण दृष्टि से मेरा ओर देखने लगा । मैंन उससे कहा – "मैं तेरी रक्षा करन में समर्थ नहीं हूँ । मैं तुझ नहीं बचा सकता । तू जिनधर्म का शरण ले और शान्त मन स धर्म का चिन्तन कर । इससे तू मर कर भी सुखी हो जायगा ।" मेंढा मेरा बात समझ गया और धैर्यपूर्वक खडा रहा । मैं उसे नमस्कार महामन्त्र सुनाने लगा । क्रूर प्रकृति रुद्रदत्त ने उसे मेंढ को भी मार डाला । वह मेंढा शुभ भावों म मर कर देव हुआ । फिर मेंढा की खाल उलट कर हमने ओढ ली और बैठ गए । तत्पश्चात् वहाँ दो भारण्ड पक्षी आये और मास-पिण्ड समझ कर उन्होंने – एक-एक ने-हम एक-एक को उठाया और उड गये । आगे चलते हुए वे दोनों आकाश में ही लडने लगे । इस झगडे म मैं उस पक्षी की पकड स छूट गया और एक सरोवर में गिरा। मैंने तत्काल छूरी से उस चमडे को काट कर पृथक् किया और तैर कर सरोवर के किनारे आया । इसके बाद मैं वहाँ से चल कर एक पर्वत पर गया । पर्वत पर ध्यानस्थ रहे हुए मुनि को देख कर मैंने उनकी वन्दना की । उन्होंने मुझे देख कर कहा –

"चारुदत्त ! इस दुर्गम स्थान पर कैसे आए ? यहाँ पक्षी विद्याधर और देव के सिवाय कोई पादचारी तो आ ही नहीं सकता । मुझे पहिचाना ? मैं वही अमितगति हूँ, जिसे तुमने निरापद कर बचाया था । मैं यहाँ से उड कर अपने शत्रु के पीछे पडा और अष्टापद पर्वत के शिखर आया । मुझे

देख कर वह दुष्ट मेरी पत्नी को छोड कर भागा और पर्वत पर चला गया । मेरी पत्नी उस दुष्ट से बचने के लिए पर्वत पर से गिर कर प्राण देने का तत्पर थी । मुझ देख कर वह प्रसन्न हुई । मैं उसे ले कर राजधानी मे आया । मेर पिता ने मुझे राज्य दे कर, हिरण्यगर्भ और सुवणगर्भ नाम के चारण मुनि के पास दीक्षा ली । मेरी मनोरमा पत्नी से मुझे सिहयश और वराहग्रीव नाम के दो पुत्र हुए । ये भी पराक्रमी एव वीर हैं । विजयसेना नाम की दूसरी रानी से मेरे एक पुत्री हुई, जिसका नाम गन्धर्वसेना है और वह उत्तम रूप-लावण्य सम्पन्न तथा गायन-विद्या मे निपुण है । मैंने बडे पुत्र को राज्य और छोटे को युवराज पद दिया और अपने पिता गुरु के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । यह लवणसमुद्र के मध्य कभकटक दीप का कर्केटक पर्वत है । मैं यहाँ तपस्या कर रहा हूँ । अब तुम बताओ यहाँ कैसे आये ?''

चारुदत्त ने अपना वृत्तान्त सुनाया । इतने मे दो विद्याधर वहाँ आ पहुँचे, जो मुनिराज जैसे ही रूप-सम्पन्न थे । उन्होने महात्मा को प्रणाम किया । मैंने आकृति देख कर समझ लिया कि ये दोनो इन महात्मा के पुत्र हैं । महात्मा ने उन्हें मेरा परिचय कराया । उन दोनो ने मुझे प्रणाम किया । हम बातें करते थे कि इतने मे एक विमान उतरा । उसमें स एक देव ने उतर कर पहले मुझे प्रणाम किया और फिर मुनि को वन्दना की। विद्याधर बन्धुओं को यह देख कर आश्चर्य हुआ । उन्हाने देव से वन्दना के उलटे क्रम का कारण पूछा । देव ने कहा - ''यह चारुदत्त मेरा धर्माचार्य है । इसने मढे के भव में मुझे धर्म प्रदान किया था । इसीसे मैं देव-ऋद्धि पाया और इस उपकार के कारण मैंने इन्हे प्रथम प्रणाम किया ।''

मेंढे के जीव - देव ने चारुदत्त को प्रथम वन्दन करने के कारण क साथ, अपना पूर्व-भव बतलात हुए कहा - ''काशीपुर मे दो सन्यासी रहते थे । उनके सुभद्रा और सुलसा नाम की दो बहिने थी । वे दोनों विदुषी वेद और वेदाग में पारगत थी । उन्हाने वाद में बहुत-से वादियों को पराजित किया था । एक बार याज्ञवल्क्य नाम का सन्यासी उनके साथ वाद करने आया उनम आपस में प्रतिज्ञा हुई कि''जा वाद में पराजित हो जाय वह विजता का दास बन कर रहेगा ।'' वाद प्रारम्भ हुआ उसमें याज्ञवल्क्य की विजय हुई और सुलसा पराजित हो कर दासी बन गई । तरुणी सुलसा पर, नवीन तरुण्य प्राप्त याज्ञवल्क्य मोहित हो कर काम-क्रीडा करने लगा । कालान्तर में याज्ञवल्क्य के सयोग से सुलसा के पुत्र जन्मा । लोक-निन्दा के भय से वे पुत्र का पीपल के पेड के नीचे सुला कर अन्यत्र चले गये । सुभद्रा ने सुलसा के पुत्रजन्म और उस पुत्र का त्याग कर पलायन करने की बात सुनी तो वह उस पीपल के पेड के पास आई । उस समय एक पका हुआ पीपल-फल बच्चे के मुँह में गिर पडा था और वह मुँह चला कर उसे खाने का उपक्रम कर रहा था । बच्चे को इस दशा मे देख कर सुभद्रा न उठा दिया और पीपल के वृक्ष के नीचे पीपल-फल खाते हुए मिलने के कारण बच्चे का नाम 'पिप्पलाद' रखा । सुभद्रा के द्वारा यत्नपूर्वक पोषण पाया हुआ पिप्पलाद बडा हुआ और विद्याभ्यास से

वह विद्या का महापण्डित हो कर समर्थ वादी बन गया । उसने बहुत-से वादियों को वाद में जीत कर प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली । उसकी कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो गई । जब याज्ञवल्क्य ने उसकी ख्याति सुनी तो वह भी सुलसा को साथ ले कर वाद करने आया और वाद मे दोनो पति-पत्नी पराजित हो गए । पिप्पलाद को ज्ञात हुआ कि ये दोनों मेरे माता-पिता हैं और मुझे जन्म के बाद ही वन में छोड कर चले गए थे तो उसे उन पर क्रोध आया । उसने माता-पिता से वैर लेने के लिए 'मातृमेध' और 'पितृमेध' यज्ञ की स्थापना की और दोनो को मार कर होम दिया । मैं उस समय पिप्पलाद का 'वाक्वलि' नाम का शिष्य था । मैंने पशुबलि में अनेक पशुओ का वध किया और फलस्वरूप घोर नरक में गया । नरक में से निकल कर मैं पाँच बार भेड-बकरा हुआ और पाँचो बार ब्राह्मणो के द्वारा यज्ञ में मारा गया । इसके बाद मैं टंकण देश में मेंढा हुआ । वहाँ मुझे इनके साथी रुद्रदत्त ने मारा किन्तु इन चारुदत्तजी की कृपा से मुझे धर्म की प्राप्ति हुई और मैं देव गति को प्राप्त हुआ । चारुदत्तजी ही मेरे धर्मगुरु हैं । इन्हीं की कृपा से मैंने धर्म पा कर देवभव पाया । इस महोपकार के कारण मेरे लिए ये सर्व-प्रथम वन्दनीय हैं । मैंने इन्हें उस उपकार के कारण ही - मुनिराज से भी पहले - वन्दन किया है ।"

देव का पूर्वभव सुन कर दोनो विद्याधरों ने कहा - "चारुदत्त महाशय तो हमारे लिए भी वन्दनीय हैं । इन्होने हमारे पिताश्री को भी जीवन-दान दिया है ।"

देव ने चारुदत्त से कहा - "महानुभाव ! कहिये मैं आपका कौनसा हित करूँ ?" चारुदत्त ने कहा - "अभी तो कुछ नहीं परन्तु जब मैं तुम्हें स्मरण करूँ तब तुम आ कर मुझे योग्य सहायता देना ।" चारुदत्त की बात स्वीकार कर देव यथास्थान चला गया । इसके बाद वे दोनो विद्याधर भाई मुझे (चारुदत्त को) ले कर शिवमन्दिर नगर आये । वहाँ विद्याधरो की माता सुकुमालिका ने मेरा बहुत आदरपूर्वक स्वागत किया और अपने स्वजन-परिजनो के समक्ष मेरे द्वारा बचाये हुए विद्याधरपति महाराज अमितगति का वर्णन सुनाया । सभी लोग मेरा बहुत आदर और सम्मान करने लगे । मैं बहुत दिनों तक वहाँ आनन्दपूर्वक रहा एक दिन उन्होंने अपनी बहिन राजकुमारी गन्धर्वसेना का परिचय देते हुए कहा -

"पिताजी ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व हमें कहा था कि - "मुझे एक ज्ञानी ने कहा था - इस कन्या को कला-प्रदर्शन में जीत कर भूचर मनुष्य वसुदेवकुमार ग्रहण करेंगे । इसलिए मेरे भूचर मित्र चारुदत्त को इसे दे देना जिससे कि वे इसका वसुदेवकुमार के साथ लग्न कर दें । इसलिए इसको आप अपनी ही पुत्री समझ कर साथ ले जाइए ।" मैं गन्धर्वसेना को ले कर अपने घर आने को तत्पर हुआ । मेरे स्मरण करने पर देव उपस्थित हुआ और अमितगति के दोनो पुत्र अपने साथियों सहित गन्धर्वसेना को ले कर आकाश-मार्ग से मुझे यहाँ लाये । देव और विद्याधर, मुझे करोड़ों स्वर्ण रत्न मोती आदि से समृद्ध बना कर चले गये । दूसरे दिन मैं अपने मामा मेरी मित्रवती पत्नी और वसन्ततिलका× से मिला।

× चारुदत्त के विरह में मित्रवती दुःखी रहती थी । उसने श्रृंगार करना भी त्याग दिया था और बालों की वेणी नहीं बन्ध कर सूनी ही रखती थी ।

प्रेमिका वेश्या वसततसेना से मिला और हम सब सुखी हुए । हे कुमार वसुदेवजी । यह गन्धर्वसेना की कथा है । यह मेरी पुत्री नहीं, किन्तु विद्याधर नरेश अमितगति की राजकुमारी है । आप इसकी अवज्ञा नहीं करें ।"

वसुदेवजी का हरण और नीलयशा से लग्न

इस प्रकार चारुदत्त से गन्धर्वसेना का वृत्तात सुन कर वसुदेव सतुष्ट हुए और गन्धर्वसेना के साथ क्रीडा करने लगे । एक बार वसतऋतु मे वसुदेव, गन्धर्वसेना के साथ रथारूढ हो कर क्रीडा करने के लिए उद्यान मे गए । उन्होंने देखा - एक मातग युवती अपन अनेक साथियो के साथ बैठी है । मातगकुमारी का रूप देख कर कुमार मोहित हो गए और वह सुन्दरी भी कुमार पर मुग्ध हो गई । दोनो एक-दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे । गन्धर्वसेना यह देख कर रुष्ट हुई और रथ-चालक से बोली - "रथ की चाल तेज करो ।" वहाँ से आगे बढ कर वे उपवन में पहुँचे और क्रीडा करने के बाद नगर मे आये । उसी समय एक वृद्धा मातगी, वसुदेव के समीप आई और आशीष दे कर कहने लगी,-

"बहुत काल पहले भ० ऋषभदेवजी ने राज्य का विभाग करके अपने पुत्रो को दे दिया और प्रव्रजित हो गए । उनके ससार-त्याग के बाद नमि और विनमि भगवान् क पास वन म गये और राज्य का हिस्सा प्राप्त करने के लिए सेवा करने लगे। उनकी सेवा से प्रसन्न हो कर धरणेन्द्र ने दोना को वैताढ्य की दो श्रेणियो का राज्य दिया । दोना ने राज्य-सुख भोगने के बाद अपने पुत्रों को राज्य दे कर प्रव्रज्या अगीकार कर ली और मुक्ति प्राप्त की। नमि राजा के पुत्र का नाम मातग था। वह भी दीक्षा ले कर स्वर्ग पहुँचा। उसकी वश-परम्परा में अभी प्रहसित नाम का विद्याधर राजा है। मैं उसकी हिरण्यवती नाम की रानी हूँ। मेरा पुत्र सिहदृष्ट्र है और उसकी पुत्री का नाम नीलयशा है। उस नीलयशा को ही आपने राज उद्यान मे देखा है। नीलयशा ने आपको जब से देखा है, तभी से वह आप पर मुग्ध है । इसलिए आप उसे अपनी पत्नी बना कर उसकी इच्छा पूरी करें । इस समय मुहूर्त भी अच्छा है । यह विलम्ब सहन नहीं कर सकती । आप शीघ्रता करें और विरह से उत्पन्न खेद का मिटाव ।"

वसुदेव ने कहा - "मैं तुम्हारी बात पर विचार करूँगा । तुम याद म आना ।"

- "अब मैं आपक पास आऊँगी, या आप उसके पास पहुँचेगे, यह तो भविष्य ही बताएगा"- कह कर मातगिनी चली गई ।

ग्रीष्मऋतु का समय था । वसुदेव, गन्धर्वसना के साथ साये हुए थे कि एक प्रत ने वसुदव का हरण कर लिया और उन्हें एक वन में ले गया । वहाँ उन्हान देखा - एक ओर चिता रची हुई है और दूसरी ओर भयानक रूप वाली वह हिरण्यवती विद्याधरी खडी है । हिरण्यवती ने उस प्रत स आदरपूर्वक कहा- "चन्द्रवदन । अच्छा किया तुमने ।" चन्द्रवदन वसुदव कुमार का हिरण्यवती का

सौंप कर अन्तर्धान हो गया । हिरण्यवती ने हँस कर वसुदेव का स्वागत किया और पूछा - 'कुमार ! कहो क्या विचार है - तुम्हारा ? मेरा कहना मानो और नीलयशा को ग्रहण करो ।' उसी समय अनेक सुन्दरियों के साथ नीलयशा वहाँ आई । वह लक्ष्मी के समान सुसज्जित थी । हिरण्यवती ने कहा "पौत्री ! यह तेरा पति है । तू इसे ले चल ।" नीलयशा उसी समय वसुदेव को ले कर अपनी दासी और अन्य साथियों के साथ आकाश-मार्ग से चली । प्रातःकाल होने पर हिरण्यवती खेचरी ने वसुदेव से कहा - "यह मेघप्रभ वन से व्याप्त ह्रीमान पर्वत है । चारण मुनि यहाँ पधारते और ध्यान करते रहते हैं । यहाँ ज्वलनप्रभ विद्याधर का पुत्र अंगारक विद्याभ्रष्ट हो कर पुनः साधना में रत है । यह पुनः विद्याधरों का अधिपति होना चाहता है । अब उसे विद्या सिद्ध हो जायगी ।" वसुदेव ने उपेक्षा करते हुए कहा - "मैं अंगारक को देखना भी नहीं चाहता ।" हिरण्यवती उस वैताढ्य पर्वत पर गए हुए शिवमन्दिर नगर में ले गई । वहाँ सिंहदृष्ट्र राजा ने वसुदेव के साथ नीलयशा का लग्न कर दिया । उसी समय राजभवन के बाहर कोलाहल सुनाई दिया । वसुदेव ने कोलाहल का कारण पूछा । द्वारपाल ने कहा - "नील नाम का विद्याधर झगड़ा कर रहा है । वह नीलयशा को प्राप्त करना चाहता है इसके का मूल यह है कि - शकटमुख नगर के नीलवान् राजा की नीलवती रानी से एक पुत्र और पुत्री जन्मे । बहिन का नाम "नीलांजना" और भाई का नाम "नील" रखा । दोनों भाई-बहिन, परस्पर वचन बद्ध हो चुके थे कि "यदि अपने में से किसी एक पुत्र और दूसरे के पुत्री होगी, तो दोनों का परस्पर लग्न कर देंगे ।" यह नीलयशा - आपकी सद्य परिणिता पत्नी, उस नीलांजना की पुत्री है जो वचनबद्ध थी और यह झगड़ा करने वाला रानी का भाई नील है । वह कहता है कि वचन का पालन कर के नीलयशा का लग्न मेरे पुत्र नीलकंठ से होना चाहिए । उसने पहले भी सन्देश भेजा था । उसे स्वीकार करने में खास बाधा यही थी कि कुछ काल पूर्व बृहस्पति नामक मुनि ने नीलयशा का भविष्य बतलाते हुए कहा था कि - 'अर्द्ध भारतवर्ष के पति ऐसे वासुदेव के पिता और यादव-वंश में उत्तम तथा कामदेव के समान रूपसम्पन्न एवं सौभाग्यशाली राजकुमार वसुदेव इस नीलयशा के पति होंगे ।" इस भविष्य वाणी के कारण नीलयशा आपको दी जा रही है और यही नील के झगड़े का कारण है । हम नीलयशा उसे दे सकते । सिंहदृष्ट्र राजा ने नील के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर दिया है । इसी का यह कोलाहल है ।"

नीलयशा का हरण और सोमश्री से लग्न

नीलयशा के साथ क्रीड़ा करते हुए वसुदेव सुख पूर्वक रहने लगे । शरदऋतु में विद्याधर सभी विद्या साधने और औषधियें प्राप्त करने के लिए ह्रीमान पर्वत पर जाने लगे । यह जानकर वसुदेव ने नीलयशा से कहा-" मैं तुमसे कुछ विद्या सीखना चाहता हूँ । कहो तुम मेरी गुरु बनोगी ?" नीलयशा और वसुदेव ह्रीमान पर्वत पर आये । पर्वत की शोभा और मोहक दृश्य देख कर वसुदेव कामातुर हो

गए । नीलयशा ने तत्काल कदलिगृह की विकुर्वणा की । वे दोनो क्रीडा रत हुए । इतने मे उनके सामने से एक अत्यन्त सुन्दर मयूर निकला । उस मयूर की सुन्दरता एव आकर्षकता देख कर नीलयशा उसे पकडने के लिए दौडी । जब वह मयूर के पास पहुँची तो वह धूर्त उसे अपनी पीठ पर बिठा कर उसी समय उड गया । वसुदव ने उसका पीछा किया किन्तु वे उसे छुडा नहीं सके । वे चलते हुए गाँव में पहुँचे । रात वहीं व्यतीत कर दक्षिण-दिशा की आर चले और एक पर्वत की तलहटी में बसे हुए गाँव में पहुँचे । वहाँ कई ब्राह्मण मिल कर उच्च ध्वनि से वेद-पाठ कर रहे थे । वसुदेव के पूछने पर एक ब्राह्मण ने कहा -

"रावण के समय दिवाकर नाम के विद्याधर ने नारदजी को अपनी पुत्री दी थी । उनके वश में सुरदेव नाम का ब्राह्मण हे और वही इस गाँव का मुखिया है । उसके क्षत्रिया नाम की पत्नी से सोमश्री नाम की पुत्री हे । वह वद शास्त्रो की ज्ञाता है । उसके पिता ने उसके लिए वर विपय मे कराल नाम क ज्ञानी से पूछा, ता उसन कहा था कि "जो व्यक्ति वेद सम्बन्धी शास्त्रार्थ मे सोमश्री को जीतेगा वही उसका स्वामी होगा ।" ये जितने भी वेदाभ्यासी ब्राह्मण हैं, वे सभी सोमश्री पर विजय प्राप्त करने के लिए वेद पढ रहे हैं ।" वसुदेव भी ब्राह्मण का रूप बना कर वेदाचार्य ब्रह्मदत्त क पास गया और बोला-" मैं गौतम-गौत्रीय स्कन्दिल नाम का ब्राह्मण हूँ आर वेदाभ्यास करना चाहता हूँ ।" वसुदव ने अभ्यास किया और शास्त्रार्थ में सामश्री से विजय प्राप्त करके उसके साथ लग्न किये और वहीं पर सुखपूर्वक काल बिताने लगा ।

जादूगर द्वारा हरण और नर-राक्षस का मरण

एक दिन वसुदेव उद्यान मे गए । वहाँ उन्हाने इन्द्रशर्मा नामक इन्द्रजालिक के आश्चर्यकारक जादुई विद्या के चमत्कार देखे । वसुदेव ने इन्द्र शर्मा से कहा-"तुम मुझे यह विद्या सिखा दो ।" इन्द्रशर्मा ने कहा-"मैं तुम्हे मानस-मोहिनी विधा सिखा दूँगा किन्तु उसकी साधना विकट एव कठोर है । सन्ध्या समय साधना प्रारभ होती है, जो सूर्योदय तक चलती है । किन्तु साधना काल म विपत्तियाँ बहुत आती है । इसलिए किसी सहायक मित्र की आवश्यकता होगी । यदि तुम्हारे पास कोई सहायक नहीं हो तो मैं और मेरी पत्नी तुम्हारी सहायता करेंगे ।" वसुदेव साधना करने लग । उस समय उस धूर्त इन्द्रशर्मा ने वसुदेव को एक शिविका म बिठा कर हरण किया । पहल तो वसुदेव ने इसे साधना में उपसर्ग समझा और स्थिर रहे, किन्तु प्रात काल होने पर वे समझ गये कि 'मायावी इन्द्रशमा ही मुझे लिये जा रहा है ।' वे शिविका से उतरे । इन्द्रशर्मा ने उन्हे पकडने का यत्न किया किन्तु वे उसके हाथ नहीं आये और दूर निकल गये । सन्ध्या समय वे तृणशोपक ग्राम मे पहुँचे और एक खाली घर दख कर सो गए । रात का वहाँ सोदास नाम का नर-राक्षस आया और उन्हे उठाने लगा । वसुदव ने उससे

मल्लयुद्ध किया और नीचे गिरा कर मार डाला । प्रात काल, सोदास को मरा हुआ जान कर ग्र
वासियो के हर्ष का पार नहीं रहा । व सभी अपने उपकारी वसुदेव का उपकार मानते हुए उत्सव म
लगे । वे वसुदेव को रथ में बिठा कर समारोहपूर्वक ग्राम मे लाये । वसुदेव ने सोदास का वृत्तान्त पू
लोगों ने कहा -

"कलिगदेश में काचनपुर नगर म जितशत्रु राजा का यह पुत्र था *। सोदास स्वभाव से क्रूर नि
एव मास-लोलुप था । खास कर मयूर का मास उस बहुत रुचिकर था, किन्तु जितशत्रु नरेश धर्मनि
अहिंसक एव निरामिषभोजी शासक था । पुत्र की मास-लालुपता उसे खटकती थी, किन्तु मोह
कारण विवशतापूर्वक उन्हें पुत्र की क्रूरता चला लेनी पडी । उसके लिए वन से रोज एक मयूर मार
लाया और पकाया जाने लगा । एक दिन रसोईये की असावधानी से मयूर का मास, बिल्ला ले कर
गया । अब क्या किया जाय ? रसाईये न एक मृत बालक का शव मँगवा कर उसका माँस पकाया
कुमार को खिलाया । सोदास को वह बहुत स्वादिष्ट और अपूर्व लगा । उसने रसाईये स पूछा

"आज यह माँस इतना स्वादिष्ट क्यों है ?" रसोईये ने कारण बताया । तब सोदास ने कहा

"अब मरे लिये मयूर के बदल रोज बालक का मास ही बनाय करना।"

—"मैं बालक का मास कहाँ से लाऊँ ? यदि मुझे बालक का शव मिला करेगा, तो बना दि
करूँगा । पशु-पक्षिया को मारना जितना सहज है, उतना मनुष्य को नहीं और महाराज को आप जान
ही हैं । इसलिए बालक क मास का बात आप छाड दें, ता अच्छा हो"- रसोईये न कठिनाई बतलाई ।

-"तेरे पास बालक का शव पहुँच जाया करेगा"-सोदास ने कहा ।

अब सादास गुप्त रूप से बच्चा का हरण करवा कर मरवाने और खाने लगा । नगर म कोलाहल
हुआ और अन्त में राजा को पुत्र का राक्षसी-कृत्य ज्ञात होने पर देश निकाला दे दिया। इधर उधर
भटकता हुआ सोदास दुर्ग म आ कर रहा । वह सदैव मनुष्या की ताक में रहन लगा । जहाँ
मनुष्य दिखाई दिया और अनुकूलता लगती वह लपक कर पकड़ लेता और मार डालता । ऐसे नर
भक्षी राक्षस को मार कर आपने हम सब का उद्धार किया है ।

एक साथ पाँच सौ पत्नियाँ

आप हमारे परम उपकारी है । हमारा सब कुछ आप का है । हम अपनी पाँच सौ कन्याओं को
आपको अर्पण करते हैं । आप जैसे नरवीर को पा कर वे धन्य हो जायेगी ।

* सादास नामक एक नर-राक्षस का उल्लेख इसी पुस्तक क पृ ६८ म भी हुआ है । ये दोना भिन्न है ।

वसुदेव ने उन कन्याओ से लग्न किया + और रात्री वहीं पर व्यतीत की । प्रात काल चल कर अचलग्राम पहुँचे । वहाँ सार्थवाह-पुत्री मित्रश्री से भी लग्न किया । वहाँ से वे वेदस्साम नगर आये । वनमाला की दृष्टि वसुदेव पर पडते ही वह बोल उठी-"अरे देवरजी! आप यहाँ कब आये ? चलो घर चले।" वे वनमाला के साथ उसके घर गये । यह वनमाला, इन्द्रशर्मा जादूगर की पत्नी थी । वनमाला के पिता न कहा-"महाभाग! मैंने ही अपने जामाता इन्द्रशर्मा को आपका हरण कर लाने के लिए भेजा था बात यह थी कि- यहा के नरेश कपिलदेव की पुत्री कपिला के लिये आपको यहाँ लाना था । राजकुमारी कपिला के लिए एक महात्मा न गिरितट ग्राम में कहा था कि- राजकुमार वसुदेव ही इसके पति होंगे। आपको जानने के लिए उन्होंने कहा था कि 'आपकी अश्वशाला के प्रचण्ड अश्व स्फलिगवदन का जो दमन करेगा वहीं आपका जामाता होगा ।' इन्द्रशर्मा ने राजाज्ञा से आपका हरण किया था । किन्तु आप बीच मे ही लौट गए । अब आप उस अश्व का अपने वश मे कीजिए ।" वसुदेव, कूदते-फाँदते अश्व के पास बडी चतुराई से पहुँचे और लपक कर उस पर सवार हो गए । घोडा, उछला, कूदा और छलाग मारने लगा । वसुदेव ने घोडे का कान पकड कर मुँह अपनी ओर मोडा, फिर नथूने पकड कर दबाया और लगाम चढा कर बाहर निकाला । उन्हाने उसे खूब दौडाया, थकाया और वश मे कर लिया । राजा ने अपनी पुत्री कपिला का लग्न वसुदेव से कर दिया । वसुदेव वहीं रह कर सुख भोग मे समय व्यतीत करने लगे । उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा गया ।

एक बार वसुदेव, हस्तीशाला में गए और उन्होने एक नये आकर्षक हाथी को देखा। वे उस पर सवार हो गए । उनके सवार होते ही हाथी ऊपर की उठ कर आकाश में लडने लगा । वसुदेव ने उस मायावी हाथी पर मुक्के से प्रहार किया । मार की पीडा से पीडित हो कर वह नीचे गिरा और एक सरोवर के किनारे आ लगा । नीचे गिरते ही वह अपना मायावी रूप छोड कर वास्तविक रूप में आया। अब वह नीलकठ विद्याधर दिखाई देने लगा । यह वही नीलकठ है जो नीलयशा से वसुदेव के विवाह के समय युद्ध करने आया था ।

वहाँ से चल कर वसुदेव सालगृह नगर आये । वहाँ उन्होंने भाग्यसेन राजा को धनुर्वेद की शिक्षा दी । कालान्तर मे भाग्यसेन राजा पर उसका भाई मेघसेन सेना ले कर चढ आया । वसुदेव कुमार ने अपने युद्ध-कौशल से मेघसेन को जीत लिया । भाग्यसेन ने वसुदेव के पराक्रम से प्रभावित हो कर अपनी पुत्री पद्मावती का उसके साथ लग्न कर दिया और मेघसेन ने अपनी पुत्री अश्वसेना ब्याह दी । वसुदेव ने कुछ दिन वहीं पर रह कर सुखमय काल व्यतीत किया । वहा से चल कर वे भद्दिलपुर नगर गये । भद्दिलपुर के नरेश की अचानक मृत्यु हो गई थी। उनके पुत्र नहीं था । राज्य का सचालन उनकी पुंड्रा नाम की पुत्री पुरुष वेश म कर रही थी । वसुदेव कुमार के देखते ही वह मोहित हो गई । उसने

+ कैसा और कितना अधिक निदान फला है-वसुदेवजी को । जहाँ जाये वहाँ पत्नियाँ तैयार और एक साथ सैकडों की सख्या में। कदाचित् वसुदेवजी को अपनी पत्नियों की सख्या जानने के लिए हिसाब जोडने म कुछ समय लगाना पडता होगा । पुण्य का फलद्रूप वृक्ष पूर्णरूप म फल दे रहा था उन्हें ।

वसुदेव कुमार के साथ विवाह किया । कालान्तर में उसके पुंढ्र नामक पुत्र हुआ । वह यहा का राजा घोषित हुआ ।

वसुदेव, रात के समय निद्रा ले रहे थे कि अगारक विद्याधर उन्हे उठा कर ले गया और गगा नदी में डाल दिया । वसुदेव नदी में गिरते ही सभल गये और तैर कर किनारे पर आये । सूर्योदय के या वस्त्रों के सूख जाने पर व इलावर्द्धन नगर में आए और एक सार्थवाह की दूकान पर बैठ गए । उनके बैठने के बाद व्यापार खूब चला और व्यापारी को लाख-स्वर्ण मुद्राओ का लाभ हुआ । सार्थवाह न कुमार को सौभाग्यशाली और पुण्यवान जान कर आदर-सत्कार किया और रथ में बिठा कर अपने घर लाया और थोडे दिना मे अपनी रत्नवती नाम की पुत्री का विवाह-वसुदेव के साथ- कर दिया । इन्द्र महोत्सव के समय वसुदेव अपने ससुर के साथ महापुर नगर गए । उन्होने नगर के बाहर एक नवान नगर की रचना देख कर इसका कारण पूछा । सार्थवाह ने कहा-"इस नगर के सोमदत्त राजा न अपनी सामश्री पुत्री क स्वयवर के लिए इस नवीन नगर की रचना की और बहुत से राजाओ को बुलाया, किन्तु वे सभी राजा अपन बुद्धि कौशल म सही नहीं उतरे, जिससे उन्हे खाली हाथ लौट आना पड़ा । तब से यह नवीन नगर बना हुआ है ।" वसुदेव इन्द्रस्तम्भ के पास गए और नमस्कार किया । उस समय राजरानी अपने अन्त पुर के परिवार सहित इन्द्रस्तम्भ को वन्दन कर के लौट रही थी कि गजशाला का बन्धन तुड़ा कर एक हाथी भाग निकला । वह हाथी उसी ओर भागा जिस ओर से रानी सपरिवार आ रही थी । हाथी ने राजकुमारी को सूँड मे पकड कर रथ में से नीचे गिरा दिया । राजकुमारी नि सहाय हो कर एक ओर पडी थी और हाथी उस पर पुन वार करना चाहता था कि वसुदेव उसके निकट आये और हाथी को ललकारा । हाथी कुमारी को छोड कर वसुदेव पर झपटा । वसुदेव ने पहले हाथी को छलावा दे कर इधर-उधर खूब घुमाया फिर योग्य स्थान देख कर भुलावा दिया और मूर्च्छित राजकुमारी को उठा कर निकट के घर में सुलाया और वस्त्र स हवा करते हुए सावचेत करने लगे । सावचेत होने पर राजकुमारी को धायमाता के साथ उसे राज्य के अन्त पुर पहुँचा दिया । वसुदेव अपने श्वसुर के साथ कुबेर सार्थवाह के घर आये । इतने में राजा का आमन्त्रण मिला । प्रतिहारी ने कहा ,-

"राजकुमारी सोमश्री के स्वयवर की तैयारी हो रही थी । उधर सर्वाण नाम के मुनिराज का केवल-महोत्सव करने के लिए देवो का आगमन हुआ । देवागमन देख कर राजकुमारी को जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उसे अपने पूर्व के देव-भव में भोगे हुए भोग का स्मरण हो आया । वह अपने प्रिय देव के मरने के कारण शोकार्त्त हो गई थी । उसने किन्हीं केवलज्ञानी भगवान् से अपने पतिदेव का उत्पत्ति स्थान पूछा था । भगवान् ने कहा था कि- "तेरा पति भरत क्षेत्र के हरिवश के एक राजा क यहाँ पुत्रपन उत्पन्न हुआ है और तू भी आयु पूर्ण कर राजकुमारी होगी । यौवनवय में तुझ पर एक हाथी का उपद्रव होगा । उस हाथी से तेरी रक्षा वही राजकुमार करेगा और वही तेरा पति होगा ।" इसके बाद कालान्तर में वहाँ से च्यव कर वह राजकुमारी हुई । पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर राजकुमारी मौन रहने लगी । आग्रहपूर्वक मौन का कारण पूछने पर कुमारी ने अपने पूर्वभव का वृत्तात अपनी सहली क द्वारा

बताया। अब महाराज आपको स्मरण कर रहे हैं । कृपया पधारिये ।" वसुदेव राजभवन पहुँचे । उनका राजकुमारी सामश्री से विवाह हो गया । वे वहीं सुखपुर्वक रह कर समय व्यतीत करने लगे ।

वसुदेव से वेगवती का छलपूर्वक लग्न

कालान्तर मे एक दिन वसुदेव की प्रात काल नींद खुली तो उन्हें सोमश्री दिखाई नहीं दी । उन्हें गम्भीर आघात लगा । वे शून्यचित्त हो गए, फिर रुदन करते हुए तीन दिन तक शयनकक्ष मे ही रहे, बाद में मनोरजन के लिए उपवन में गए । अचानक उन्हें सोमश्री दिखाई दी । वसुदेव तत्काल उसके निकट पहुँचे और उपालम्भ पूर्वक बोले-"अरे मानिनी! मैंने तेरा कौनसा अपराध किया, सो तू मुझे छोड कर यहाँ वन में आ बैठी ? बता तू क्या रुठी और यह वनवास क्यों लिया ? "

-"नाथ मैं रुठी नहीं, किन्तु अपने नियम का पालन कर रही हूँ । मैंने आपके लिए विशेष व्रत लिया था, जिससे तीन दिन तक मौनपूर्वक रह कर, इस देव की आराधना करती रही। अब आप इस देव की पूजा कर के मुझे पुन देव साक्षी से ग्रहण करें जिससे इस व्रत की विधि पूरी हो और अपना दाम्पत्य-जीवन पूर्णरूप से सुखमय और निरापद रहे ।"

वसुदेव ने वैसा ही किया । फिर उस सुन्दरी ने कहा-'यह देव का प्रसाद ग्रहण कीजिए'-कह कर, वसुदेव को मदिरा पिलाई । वे वहीं एक कुज मे रह कर क्रीडा करते रहे । जब प्रात काल वसुदेव की नींद खुली, तो उसके पास रानी सोमश्री नहीं किन्तु कोई दूसरी ही स्त्री है । आश्चर्य के साथ वसुदेव ने पूछा- "सुन्दरी! तू कौन है ? सोमश्री कहाँ गई ?"

-" मैं दक्षिण-श्रेणी के सुवर्णाभ नगर के राजा चित्राग और अगारवती रानी की वेगवती पुत्री हूँ । मानसवेग मेरा भाई है । मेरे पिता ने भाई को राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की । मेरे भाई राजा मानसवेग ने आपकी रानी सोमश्री का अपहरण किया है और उसे समझाने के लिए मुझे भेजा किन्तु आपकी रानी ने उसकी दुरेच्छा पूरी नहीं की । सोमश्री ने मुझे अपनी सखी बना ली और आपको उसके पास ले जाने के लिए मुझे यहाँ भेजी । मैंने यहाँ आ कर आपको देखा, तो स्वय मोहित हो गई । आपको पाने के लिए मैंने सोमश्री का रूप धारण किया और छल पूर्वक आपके साथ विधिवत् लग्न किये । अब तो मैं आपकी हो ही गई हूँ । मैं आपको सोमश्री के पास भी ले चलूँगी ।"

जब वहा के लोगो ने सोमश्री के स्थान पर वेगवती को देखा तो उनको अत्यन्त आश्चर्य हुआ । वेगवती ने वसुदेव की आज्ञा से सोमश्री के हरण और अपने आगमन तथा लग्न सम्बन्धी सारा विवरण लोगों को कह सुनाया ।

वसुदेव निद्रा-मग्न थे कि मानसवेग उनको उठा कर आकाश-मार्ग से ले उडा । जब वसुदेव को अपना अपहरण लगा, तो वे मानसवेग पर मुष्टि-प्रहार करने लगे । मुष्टि-प्रहार से पीडित हुए मानसवेग ने वसुदेव को छोड दिया । वे गगानदी पर उड रहे थे । वसुदेव मानसवेग से छुट कर नीचे गगा नदी में गिरने लगे । उस समय गगा में चण्डवेग नामक विद्याधर, विद्या की साधना कर रहा था । वसुदेव उसी पर गिरे । इस आकस्मिक विपत्ति मे भी साधना मे स्थिर रहने के कारण उसकी विद्या

उसी समय सिद्ध हो गई । चण्डवेग ने वसुदेव से कहा -"महात्मन्! आपके पभाव स मेरी विद्या सिद्ध हो गई । कहिये मैं आपकी क्या सवा करूँ?" वसुदेव ने उससे आकाशगामिनी विद्या माँगा । चण्डवेग ने प्रसन्नतापूर्वक सिखाई । अव वसुदेव कनखल गाँव के द्वार मे रह कर समाहित मन स विद्या साधने लगे ।

चण्डवेग के जाने के बाद विद्युद्वेग राजा की पुत्री मदनवेगा वहाँ आई और वसुदव को दखते ही उस पर आसक्त हो गई । वसुदेव को उठा कर वह वैताढ्य पर्वत पर ले गई और पुष्पशयन उद्यान में रख दिया । फिर वह अमृतधार नगर मे गई । प्रातःकाल मदनवेगा क तीन भाई -१ दधिमुख २ दडवेग और ३ चण्डवेग, वसुदेव के पास आये । इस चण्डवग ने ही गगा नदी पर वसुदेव को आकाशगामिनी विद्या सिखाई थी । वे वसुदेव को आदर पूर्वक नगर में ले गए और अपनी बहन मदनवेगा का लग्न उनके साथ कर दिया । अब वसुदेव वही रहने लगे । वे मदनवेगा पर इतन प्रसन्न हुए कि उसे इच्छित माँगने का वचन द दिया।

अन्यदा दधिमुख ने वसुदेव से कहा -"दिवस्तिलक नगर का राजा त्रिशिखर के सूपक नाम का पुत्र है । राजा त्रिशिखर ने अपने पुत्र के लिए मेरे पिता से मदनवेगा की माँग की । मेरे पिता ने उसकी माँग स्वीकार नहीं की । एक चारण मुनि से पूछने पर पिताश्री को उन्होने कहा था कि" मदनवेगा का पति हरिवंश कुलोत्पन्न वसुदेव होंगे । कुमार वसुदव की पहचान यह है कि तुम्हारा पुत्र चडवग गगा नदी मे विद्या साधन करेगा, तब वसुदेव आकाश से चण्डवेग क कन्धे पर गिरगा और उसक गिरते ही चण्डवेग की विद्या सिद्ध हो जायेगी ।" इस भविष्यवाणी के कारण ही मरे पिताश्री ने त्रिशिखर नरश की माँग स्वीकार नहीं की। इससे क्रुद्ध हो कर बलवान् राजा त्रिशिखर ने मेरे पिता को बन्दी बना लिया और अपने यहाँ ले गया । आपने मरी बहिन मदनवेगा पर प्रसन्न हो कर जो वरदान दिया है, उसका पालन करने के लिए आप हमारे पिताश्री एव अपन ससुर को बन्धन-मुक्त कराइए । हमारे पूर्वज नमि राजा थे । उनके पुलस्त्य पुत्र था । उसके वंश क्रम म अरिंजय नगर का स्वामी मेघनाद नामक राजा हुआ । सुभूम चक्रवर्ती उसके जामाता थे । सुभूम ने अपने ससुर मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियो का राज्य और ब्रह्मास्त्र आग्नेयास्त्र आदि दिव्य-अस्त्र दिये । उसी क वंश म रावण और विभीषण हुए । विभीषण के वंश म मेरे पिता विद्युद्वेग हुए । ये दिव्यास्त्र हमारे पास हैं । आप उन्हें ग्रहण कर के हमारे पिता को मुक्त कराइए । दिव्यास्त्र भी आप जैसे भाग्यशाली का ही सफल होते हैं ।"

जब त्रिशिखर ने सुना कि 'मदनवेगा का एक भूचर मनुष्य के साथ लग्न कर दिया' तो वह क्रुद्ध हो गया और सेना ले कर युद्ध करने आया । इधर विद्याधरों ने एक मायावी रथ तैयार कर के वसुदेव को उसमे बिठाया और दधिमुख आदि सैनिक उसके सहायक बने । युद्ध प्रारम्भ हो गया । अन्त में वसुदेव ने इन्द्रास्त्र से त्रिशिखर राजा का मस्तक काट कर मार डाला और अपन ससुर को मुक्त कराया ।

वसुदेव के मदनवेगा से एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'अनादृष्टि' रखा ।

जरासंध द्वारा वसुदेव की हत्या का प्रयास

एकबार, वसुदेव ने मदनवेगा को 'वेगवती' के नाम से पुकारा । यह सुन कर मदनवेगा क्रुद्ध हो गई । उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ' मेरे पास रहते हुए भी इनके मन मे वेगवती बसी हुई है इससे उसी का नाम लेते हैं । मेरे लिए इनके हृदय में स्थान नहीं है, मरे साथ ये प्रसन्न नहीं रहते ।' इस प्रकार सोच कर वह रूठ गई और एकान्त कक्ष मे जा कर सो गई । उधर त्रिशिखर नरेश की विधवा रानी सूर्पणखा ने, अपने पति को मारने का वैर लेने के लिए मदनवेगा का रूप बना कर और मदनवेगा के कक्ष मे आग लगा कर वसुदेव को वहाँ से ले गई । फिर उन्हे राजगृही नगरी के निकट आकाश से नीचे गिरा कर लौट गई । पुण्य-योग से वसुदेव घास की गजी पर गिरे जिससे कुछ भी चाट नहीं लगी । वे वहाँ से चल कर राजगृही नगरी में पहुँचे । इधर-उधर भटकते हुए वे जुआ-घर में पहुँच गए । वहाँ द्युत-क्रीडा मे व कोटि सुवर्ण जीते और उस जीते हुए सभी स्वर्ण को याचको को बाँट दिया । उनकी उदारता की ख्याति सुन कर, सुभटो ने आ कर उन्हे पकड लिया और जरासध के दरबार म ले चले । उन्होने सुभटो से पूछा - "तुमने मुझे बिना किसी अपराध के क्यो पकडा और अब कहाँ ले जा रहे हो ?" सुभटो के अध्यक्ष ने कहा,-

"किसी ज्ञानी ने जरासध नरेश को कहा था कि "कल प्रात काल यहाँ आ कर जा कोटि-द्रव्य जीत कर दान करेगा, उसका पुत्र ही तुम्हारा घातक होगा ।" इस भविष्यवाणी से प्रेरित हो कर राजा ने तुम्हे बन्दी बनाने की आज्ञा दी है और अब तुम्हारा जीवन समाप्त होने वाला है । जब तुम ही नहीं, तो भविष्यवाणी अपने-आप निष्फल हो जायगी । यद्यपि तुम निरपराध हो, तथापि भावी अनिष्ट को टालने के लिए तुम्हारी मृत्यु आवश्यक हो गई है ।"

लोकापवाद से बचने के लिए, वसुदेवजी को गुप्तरूप से मारने की व्यवस्था की गई । उन्हें एक चमडे की धमण म बन्द किया गया और वन में एक पर्वत पर ले जा कर नीचे फेंक दिया ।

इधर रानी वेगवती की धात्रीमाता वसुदेवजी की खोज करती हुई उधर आ निकली । उसे वसुदेवजी के अपहरण और राजगृही आने का पता लग चुका था । जब मारक लोग एक चमडे का बडा-सा थेला उठा कर ले जा रहे थे, तो उसे देख कर वह शकित हुई । उसने अधर से ही उस धमण को झेल लिया और यहाँ ले आई । वसुदेव ने अनुभव किया कि मुझे भी चारुदत्त के समान कोई भारण्ड-पक्षी उठा कर आकाश मे ले जा रहा है । उन्हें पृथ्वी पर रख कर थेले का बन्धन खोला । जब वसुदेव ने बाहर देखा तो उन्हे वेगवती के पाँव दिखाई दिय । वे तत्काल थेले से बाहर निकले । उन्हे देखते ही वेगवती- 'हे नाथ !' इस प्रकार सम्बोधन करती हुई उनकी ओर बढी । वसुदेव ने वेगवती स पूछा- 'मेरा पता तुम्हें कैसे लगा ?' वेगवती ने कहा -

"स्वामिन् ! जिस समय मेरी नींद खुली और मैंने आप को नहीं देखा, तो मेरे हृदय में गम्भीर आघात लगा । मैं रोने-चिल्लाने लगी । प्रज्ञप्ति नाम की विद्या से मुझे आपके अपहरण का पता लगा । फिर मैंने सोचा कि मेरे पति के पास किसी महात्मा की बताई हुई कोई विद्या अवश्य होगी और उससे वे सुरक्षित रह कर कुछ ही दिनों में मुझसे आ मिलेंगे । इस प्रकार सोच कर कुछ काल तक तो मैंने संताप रखा । किन्तु जब अकुलाहट बढ़ी, तो पिता की आज्ञा प्राप्त कर के मैं आपकी खोज में निकली। कुछ दिनों तक तो मुझे आपका पता नहीं लगा, किन्तु एक दिन मैंने आपको मदनवेगा के साथ वन-विहार करते देख लिया । फिर मैं अदृश्य रह कर आपके पीछे-पीछे घूमती रही । एकबार आपने मेरा नाम ले कर मदनवेगा को सम्बोधित किया तो मुझे अपने मन मे बड़ा सन्तोष हुआ । मैंने सोचा कि हृदयेश के मन मे मैं बसी हुई हूँ । इससे मेरे हृदय का क्लेश मिट गया, किन्तु इसी निमित से मदनवेगा रूठ गई । उधर शूर्पणखा मदनवेगा के कक्ष को आग लगा कर, मदनवेगा का रूप बना कर आपको ले उडी तो मैं भी साथ रही । जब उसने आपको नीचे गिराया, तो मैं आपको झेलने के लिए आई, किन्तु उसने मुझे देख लिया और विद्याबल से मुझे वहाँ से हटा दिया । मैं उसके भय से इधर-उधर भागने लगी तो अचानक मुझ-से एक मुनि महात्मा का उल्लघन हो गया, इससे मेरी विद्या भ्रष्ट हो गई । किन्तु सद्भाग्य से मेरी धात्रीमाता उसी समय मुझ से आ मिली । मैंने उससे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वह आपकी खोज करने निकली । उसने जरासंध के सुभटों से आपकी रक्षा की और उसी दशा में यहां ला कर आपको मुक्त किया । यही आपसे मिलन की कहानी है ।"

बालचन्द्रा का वृत्तांत

रानी वेगवती का वृत्तांत सुन कर वसुदेव प्रसन्न हुए और उसी वन में एक तापस के आश्रम में रह गए । एक बार वे दोनों नदी किनारे घूम रहे थे कि उन्हें नागपाश में जकड़ी हुई एक युवती दिखाई दी। वेगवती से उसकी दशा देखी नहीं गई । उसकी प्रेरणा से वसुदेव ने उस युवती को नागपाश से मुक्त किया और जल-सिंचन से उसकी मूर्च्छा दूर कर सावचेत की । चैतन्यता प्राप्त युवती ने अपने उपकारी की ओर देखा और तत्काल उठ कर प्रदक्षिणा पूर्वक प्रणाम किया फिर कहने लगी--

"महानुभाव ! आपके प्रभाव से मेरी विद्या सिद्ध हो गई । वैताढ्य गिरि के गगनवल्लभ नगर का राजा विद्युद्दंष्ट्र, एक महात्मा को ध्यानस्थ अवस्था मे देख कर चौंका और बोला - "यह कोई विपत्ति का वाहक है । अवश्य ही यह उत्पात करेगा । इसलिए इसे यहाँ से वरुणाचल ले जा कर मार डालना चाहिए । उसके इन शब्दों से उसके अनुचर उन महात्मा को मारने के लिए उद्यत हुए । वे ध्यानस्थ मुनि उस समय शुक्लध्यान में वर्द्धमान हो कर क्षपकश्रेणी चढ रहे थे । उन्हें केवलज्ञान हो गया ।

रणेन्द्र वहाँ केवलमहोत्सव करने आया । धरणेन्द्र ने देखा कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के विरोधी, उन्हे कष्ट देने को तत्पर हैं, तो उसने कुपित हो कर उन्हे विद्याभ्रष्ट कर दिया । उन आक्रमणकारियो को अपनी अधमता का भान हुआ । वे अत्यन्त विनम्र हो कर दीनतापूर्वक कहने लगे -

"देवेन्द्र ! न तो हम इन महात्मा को जानते हैं और न इनसे किसी प्रकार का द्वष है । हम अपने स्वामी महाराजा विद्युदृष्ट्रजी की आज्ञा से यह अधम कृत्य करने लगे थे । आप हमें क्षमा करें ।"

- "अज्ञानियो ! मैं इन वीतरागी महात्मा के केवलज्ञान का महोत्सव करने आया हूँ । इसलिए मैं तुम जैसे पापियो की उपेक्षा करता हूँ । अब तुम जाओ । पुन साधना करने पर तुम्हें विद्या सिद्ध हो जाएगी । किन्तु यह स्मरण रहे कि यदि तुमने अरिहत और साधुआ को सताया, तो वे विद्याएँ तत्काल निष्फल हो जाएँगी और रोहिणी आदि महाविद्याएँ तो अब तुम्हारे इस राजा को प्राप्त हागी भी नहीं । इतना ही नहीं इसके किसी वशज पुरुष या स्त्री को भी ये महाविद्याएँ तभी सिद्ध होगी, जब किसी महात्मा या पुण्यात्मा के दर्शन हों ।" इस प्रकार कह कर और केवल-महोत्सव कर के धरणेन्द्र चले गए ।

राजा विद्युदृष्ट्र के वश में केतुमति नाम की एक कन्या हुई है । वह रोहिणी विद्या की साधना करने लगी । उसके लग्न पुण्डरीक वासुदेव के साथ हुए । उसके बाद ही उसको विद्या सिद्ध हुई । मैं उसी वश की पुत्री हूँ । मेरा नाम 'बालचन्द्रा' है । आपके प्रभाव से मरी साधना सफल हुई । आप जैसे भाग्यशाली पुरुष-श्रेष्ठ के चरणा मे मैं अपने आपको समर्पित करती हूँ । आपके पुण्य-प्रभाव से मेरी विद्या सिद्ध हुई है । यह विद्या भी आपके उपयोग में आएगी । वसुदेव ने उसे वगवती को भी विद्या सिखाने का आदेश दिया । उसके बाद वेगवती को साथ लेकर बालचन्द्रा गगनवल्लभ नगर मे गई और वसुदेव तपस्वी के आश्रम में पहुँचे । दा राजा, तापसी-दीक्षा ले कर तत्काल ही उस आश्रम में आए । वे अपने कुकृत्य से खेदित हो रहे थे । वसुदेव ने उनके खेद का कारण पूछा वे बोले -

प्रियंगुसुन्दरी का वृत्तांत और मूर्तियों का रहस्य

"श्रावस्ति नगरी में एणीपुत्र नाम के प्रतापी नरेश हैं । उनका जीवन एव चरित्र निर्दोष है । उनके 'प्रियगुसुन्दरी' नामकी एक पुत्री है । उसके स्वयवर के लिए बहुत स राजा एकत्रित हुए । किन्तु प्रियगुसुन्दरी को कोई भी नहीं भाया । सभी राजा हताश हुए । उन्हाने सम्मिलित रूप से हमला किया किन्तु एणीपुत्र नरेश क आगे वे ठहर नहीं सके और भाग कर जहाँ मिला छुप गए । हम भी उन प्रत्याशियो मे थे । हमें इस पलायन से बहुत लज्जा आई और हम तपस्वी बन कर इस आश्रम में आए हैं। हमें अपना जीवन भी अप्रिय लग रहा है ।" वसुदेवजी ने उन्हें जिनधम का उपदेश दिया । उपदेश से प्रभावित हो कर उन्हाने जैनदीक्षा ग्रहण की । इसके बाद वसुदेवजी श्रावस्ति नगरी गए । श्रावस्ति के बाहर उद्यान मे उन्होंने एक देवालय देखा, जिसके तीन द्वार थे । मुख्य द्वार बत्तीस अर्गलाओं से बन्द

था। उसके दूसरी ओर क द्वार से भीतर गए । उन्होंने देखा कि उस मन्दिर में तीन मूर्तियाँ है - १ मुनि की २ गृहस्थ की और ३ तीन पाँव वाले भैंसे की । उन्होंने एक ब्राह्मण से इन मूर्तिया का रहस्य पूछा। वह योला -

"यहाँ जितशत्रु राजा था । उसके मृगध्वज कुमार था । उसी नगर म कामदेव नामक एक सेठ था। एक बार कामदव सेठ अपनी पशुशाला में गया । सेठ से ग्वाले ने कहा - "सेठ ! आपकी भैंस क पाँच पाडे तो मार डाल गए किन्तु इस छठे को देख कर दया आती है । यह बडा सीधा भयभीत और कम्पित है तथा बार-बार मेर पाँवों मे सिर झुकाता है । इसलिए मैंने इसे नहीं मारा । आप भी इसे अभयदान दीजिए । यह पाडा कदाचित् जातिस्मरण वाला हो ।" ग्वाले की बात सुन कर सेठ उस पाड को ले कर राजा क पास आए और उसके लिए अभय की याचना की । राजा ने अभय स्वीकार करते हुए कहा - "यह पाडा इस नगर में निर्भय हो कर सर्वत्र घूमता रहेगा ।" अब पाड़ा उस नगर में नि शक घूमने लगा और यथेच्छ खाने लगा । कालान्तर में राजकुमार मृगध्वज न उस पाडे का एक पाँव छेद दिया । अपने पुत्र के द्वारा ही अपनी आज्ञा की अवहेलना देख कर राजा क्रोधित हो गया और कुमार को नगर छोड कर निकल जाने का आदेश दिया । कुमार ने नगर का ही त्याग नहीं किया वह ससार को ही छोड कर निकल गया और श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । पाँव टूटन के बाद अठारहवें दिन पाडा मर गया और प्रव्रज्या के बाइसवे दिन मृगध्वज महात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देव-नरेन्द्रादि ने केवलमहोत्सव किया । धर्मदेशना के पश्चात् जितशत्रु नरेश ने पूछा - "भगवन् ! उस पाड के साथ आपका पूर्वभव का कोई वैर था ?"

- "राजन् ! पूर्वकाल में अश्वग्रीव नाम का एक अर्द्धचक्री नरेश था । उसके हरिश्मश्रु नाम का मत्री था । वह नास्तिक था और धर्म की निन्दा करता रहता था । किन्तु राजा आस्तिक था और धर्म का गुणगान करता रहता था । राजा और मन्त्री के बीच धार्मिक-विवाद होता ही रहता था । राजा और मत्री को त्रिपृष्ट वासुदेव और अचल बलदेव ने मारा । वे दोना मर कर सातवीं नरक में गए । नरक से निकल कर भव-भ्रमण करत हुए अश्वग्रीव का जीव मैं आपका पुत्र हुआ और हरिश्मश्रु मन्त्री यह पाड़ा हुआ । पूर्व का वैर उदय होने से मैंने उस पाडे का पाँव ही काट डाला । वह पाडा मर कर असुरकुमार में लोहिताक्ष नामक देव हुआ और यह मुझे वन्दना करने आया है । ससार रूप रगभूमि का नाटक कितना विचित्र है ? जीव कैसे व कितने स्वाग सज कर खेल खेलता है-।" केवलज्ञानी का वचन सुन कर लोहिताक्ष देव, भगवान् को वन्दना करके चला गया और उसी ने इसी मन्दिर में मृगध्वज मुनि कामदेव सेठ और पाडे की प्रतिमा करवा कर यह मन्दिर बनाया । कामदेव सेठ का पुत्र कामदत्त और कामदत्त की पुत्री बन्धुमती यहीं रहते हैं । सेठ ने बन्धुमती क विषय में किसी भविष्यवक्ता स पूछा था, तो उन्होंने कहा था - "जो पुरुष इस देवालय के मुख्य द्वार को खोलगा, वही इसका पति होगा ।" वसुदेव ने यह बात सुन कर वह द्वार खोला । कामदत्त सेठ मन्दिर का द्वार खुला जान कर तत्काल वहा

आया और अपनी पुत्री बन्धुमती का विवाह वसुदवजी के साथ कर दिया । वसुदेव द्वारा मन्दिर का द्वार खोलने और बन्धुमती के लग्न वसुदेव से होने की बात राजा क अन्त पुर मे भी पहुँची । राजकुमारी प्रियगुसुन्दरी भी राजा के साथ सेठ के घर आई वसुदेवजी को देख कर प्रियगुसुन्दरी माहित हो गई । अन्त पुर रक्षक वसुदेवजी को, दूसरे दिन अन्त पुर म आने का कह कर चला गया ।

गौतमऋषि और अहिल्या का नाटक

उसी दिन वसुदेव ने एक नाटक देखा । उस नाटक म बताया गया था कि -

विद्याधर राजा नमि का पुत्र वासव हुआ । उसके वश मे कितने ही वासव हुए । अतिम वासव का पुत्र 'पुरुहुत' हुआ । एक दिन पुरुहुत हाथी पर बैठ कर वन-विहार करन गया । उसने एक आश्रम में गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या का देखी और काम-पीडित हो कर उसके साथ दुराचरण करने लगा। इतने में कहीं बाहर गये हुए गौतम ऋषि आ गए । उन्हान कुपित हो कर पुरुहुत का लिगच्छेद कर दिया । नाटक का यह दृश्य देख कर वसुदव भयभीत हुए । उन्होने साचा - 'राजकुमारी के पास गुपचुप जाना भी भयपूर्ण है ।' वे नहीं गए । रात को अचानक उनकी निद्रा खुली । उन्हाने अपन शयनकक्ष म एक दिव्यरूपधारिणी स्त्री देखी । उन्होने मन में ही सोचा - 'यह देवाँगना जैसी महिला कौन है ?' उसी समय देवी ने कहा - "वत्स ! तू क्या सोचता है ? चल मेरे साथ ।" इतना कह कर और वसुदेवजी का हाथ पकड कर उद्यान में ले गई और उनसे कहने लगी,-

"इस भरतक्षेत्र मे श्रीचन्दन नगर का 'अमोघरेता' राजा था । उसकी चारमती रानी का आत्मज चारुचन्द्र कुमार था । उस नगर में अनगसेना वेश्या की पुत्री कामपताका बडी सुन्दर एव आकर्षक थी। एक बार राजा ने एक बडे यज्ञ का आयोजन किया जिसम बहुत-से सन्यासी आर तापस आदि आये । उनम 'कौशिक' और 'तृणबिदु' नाम के दो उपाध्याय भी थे । उन दानो ने राजा को कुछ फल दिये । राजा ने उनसे पूछा - "अद्भूत फल कहाँ से लाये ?" उन्होंने हरिवश की उत्पत्ति से सम्बन्धित कल्पवृक्षा का वृत्तात सुनाया । उस समय राजसभा में कामपताका वश्या नृत्य करती थी । उसके सौंदर्य और नृत्य-कला स कौशिक उपाध्याय और राजकुमार चारुचन्द्र मोहित हो गए । यज्ञ पूर्ण हाने के बाद राजकुमार ने कामपताका को अपने भवन म बुलवा लिया । उधर कौशिक उपाध्याय ने राजा के सामने कामपताका की माँग उपस्थित की । राजा न कहा - "कामपताका श्राविका हा गई है और वह कुमार को वरण कर चुकी है । अब वह तुझे स्वीकार नहीं करगी ।" इस पर क्रुद्ध हो कर कौशिक न शाप दिया कि - "यदि कुमार उस कामपताका के साथ सम्भाग करगा ता अवश्य ही मर जायगा ।" राजा को माह के प्रभाव का विचार आते वैराग्य हो गया । उसन चारुचन्द्र का राज्याभिषेक कर के सन्यास

था। उसके दूसरी ओर क द्वार से भीतर गए । उन्हाने देखा कि उस मन्दिर में तीन मूर्तियाँ है - १ मुनि की २ गृहस्थ की और ३ तीन पाँव वाले भैंसे की । उन्हान एक ब्राह्मण स इन मूर्तिया का रहस्य पूछा। वह बाला -

"यहाँ जितशत्रु राजा था । उसके मृगध्वज कुमार था । उसी नगर म कामदव नामक एक सेठ था। एक बार कामदव सेठ अपनी पशुशाला में गया । सेठ से ग्वाल ने कहा - "सेठ ! आपकी भैंस क पाँच पाडे तो मार डाल गए किन्तु इस छठे को देख कर दया आती है । यह बडा सीधा, भयभात और कम्पित है तथा बार-बार मेर पाँवों मे सिर झुकाता है । इसलिए मैंने इसे नहीं मारा । आप भी इस अभयदान दीजिए । यह पाडा कदाचित् जातिस्मरण वाला हो ।" ग्वाले की बात सुन कर सेठ, उस पाड को ले कर राजा क पास आए और उसक लिए अभय की याचना की । राजा ने अभय स्वीकार करते हुए कहा - "यह पाडा इस नगर म निर्भय हो कर सर्वत्र घूमता रहेगा ।" अब पाडा उस नगर में नि शक घूमने लगा और यथेच्छ खाने लगा । कालान्तर में राजकुमार मृगध्वज ने उस पाडे का एक पाँव छेद दिया । अपने पुत्र के द्वारा ही अपनी आज्ञा की अवहेलना देख कर राजा क्रोधित हो गया और कुमार को नगर छोड कर निकल जाने का आदेश दिया । कुमार ने नगर का ही त्याग नहीं किया वह ससार को ही छाड कर निकल गया और श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । पाँव टूटने के बाद अठारहवें दिन पाडा मर गया और प्रव्रज्या के बाइसवें दिन मृगध्वज महात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवेन्द्र नरन्द्रादि ने केवलमहोत्सव किया । धर्मदशना के पश्चात् जितशत्रु नरेश ने पूछा - "भगवन् ! उस पाड़े के साथ आपका पूर्वभव का कोई वैर था ?"

- "राजन् ! पूर्वकाल में अश्वग्राव नाम का एक अर्द्धचक्री नरेश था । उसके हरिश्मश्रु नाम का मन्त्री था । वह नास्तिक था और धर्म की निन्दा करता रहता था । किन्तु राजा आस्तिक था और धर्म का गुणगान करता रहता था । राजा और मन्त्री के बीच धार्मिक-विवाद होता ही रहता था । राजा और मन्त्री को त्रिपृष्ट वासुदेव और अचल बलदव ने मारा । वे दोना मर कर सातवीं नरक में गए । नरक स निकल कर भव-भ्रमण करत हुए अश्वग्रीव का जीव मैं आपका पुत्र हुआ और हरिश्मश्रु मन्त्री यह पाडा हुआ । पूर्व का वैर उदय होने से मैंने उस पाड़े का पाँव ही काट डाला । यह पाडा मर कर असुरकुमार मे लोहिताक्ष नामक देव हुआ और यह मुझे वन्दना करन आया है । ससार रूप रगभूमि का नाटक कितना विचित्र है ? जीव कैसे व कितने स्वाग सज कर खेल खेलता है ।" केवलज्ञानी का वचन सुन कर लोहिताक्ष देव भगवान् को वन्दना करके चला गया और उसी ने इसी मन्दिर मे मृगध्वज मुनि, कामदेव सेठ और पाड की प्रतिमा करवा कर यह मन्दिर बनाया । कामदेव सठ का पुत्र कामदत्त और कामदत्त की पुत्री बन्धुमती यहीं रहते हैं । सेठ ने बन्धुमती के विषय में किसी भविष्यवक्ता स पूछा था, तो उन्हाने कहा था - "जो पुरुष इस देवालय के मुख्य द्वार को खोलेगा वही इसका पति होगा ।" वसुदेव ने यह बात सुन कर वह द्वार खोला । कामदत्त सेठ मन्दिर का द्वार खुला जान कर तत्काल वहां

आया और अपनी पुत्री बन्धुमती का विवाह वसुदेवजी के साथ कर दिया । वसुदेव द्वारा मन्दिर का द्वार खोलने और बन्धुमती के लग्न वसुदेव से होने की बात राजा के अन्त पुर मे भी पहुँची । राजकुमारी प्रियगुसुन्दरी भी राजा के साथ सेठ के घर आई वसुदेवजी को देख कर प्रियगुसुन्दरी मोहित हो गई । अन्त पुर रक्षक वसुदेवजी को, दूसरे दिन अन्त पुर म आने का कह कर चला गया ।

गौतमऋषि और अहिल्या का नाटक

उसी दिन वसुदेव ने एक नाटक देखा । उस नाटक म बताया गया था कि –

विद्याधर राजा नमि का पुत्र वासव हुआ । उसके वश मे कितने ही वासव हुए । अतिम वासव का पुत्र 'पुरुहुत' हुआ । एक दिन पुरुहुत हाथी पर बैठ कर वन-विहार करने गया । उसने एक आश्रम में गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या को देखी और काम-पीडित हो कर उसके साथ दुराचरण करने लगा। इतने में कहीं बाहर गये हुए गौतम ऋषि आ गए । उन्होंने कुपित हो कर पुरुहुत का लिगच्छेद कर दिया । नाटक का यह दृश्य देख कर वसुदेव भयभीत हुए । उन्होने सोचा – 'राजकुमारी क पास गुपचुप जाना भी भयपूर्ण है ।' वे नहीं गए । रात को अचानक उनकी निद्रा खुली । उन्होने अपने शयनकक्ष म एक दिव्यरूपधारिणी स्त्री देखी । उन्होने मन में ही सोचा – 'यह देवाँगना जैसी महिला कौन है ?' उसी समय देवी ने कहा – "वत्स ! तू क्या सोचता है ? चल मेरे साथ ।" इतना कह कर और वसुदेवजी का हाथ पकड कर उद्यान मे ले गई और उनसे कहने लगी,–

"इस भरतक्षेत्र मे श्रीचन्दन नगर का 'अमोघरेता' राजा था । उसकी चारमती रानी का आत्मज चारचन्द्र कुमार था । उस नगर में अनगसेना वेश्या की पुत्री कामपताका बडी सुन्दर एव आकर्षक थी। एक बार राजा ने एक बडे यज्ञ का आयोजन किया जिसमे बहुत-से सन्यासी और तापस आदि आये । उनमें 'कौशिक' और 'तृणबिंदु' नाम के दो उपाध्याय भी थे । उन दोनो ने राजा को कुछ फल दिये । राजा ने उनसे पूछा – "अद्भुत फल कहाँ से लाये ?" उन्होने हरिवश की उत्पत्ति से सम्बन्धित कल्पवृक्षों का वृत्तात सुनाया । उस समय राजसभा मे कामपताका वेश्या नृत्य करती थी । उसक सौंदर्य और नृत्य-कला से कौशिक उपाध्याय और राजकुमार चारुचन्द्र मोहित हो गए । यज्ञ पूर्ण होने क बाद राजकुमार ने कामपताका को अपने भवन मे बुलवा लिया । उधर कौशिक उपाध्याय ने राजा के सामने कामपताका की माँग उपस्थित की । राजा ने कहा – "कामपताका श्राविका हो गइ है और वह कुमार को वरण कर चुकी है । अब वह तुझे स्वीकार नहीं करेगी ।" इस पर क्रुद्ध हो कर कौशिक ने शाप दिया कि – "यदि कुमार उस कामपताका के साथ सम्भोग करेगा तो अवश्य ही मर जायगा ।" राजा को मोह के प्रभाव का विचार आते वैराग्य हो गया । उसने चारुचन्द्र का राज्याभिषेक कर के सन्यास

ग्रहण कर लिया और वन में चला गया । उसकी रानी चारुमती भी उसके साथ ही वन में चली गई । उस समय वह अज्ञातगर्भा थी । कुछ कालोपरान्त गर्भ प्रकट हुआ । उसने पति को अवगत कराया । उसके कन्या उत्पन्न हुई । उसका नाम 'ऋषिदत्ता' रखा । वय प्राप्त होने पर किसी चारणमुनि के उपदेश से वह श्राविका हुई । थोड़े ही दिनों में उसकी माता का देहान्त हो गया और वह पिता के साथ ही आश्रम में रहने लगी ।"

प्रियंगुसुन्दरी का वृत्तांत

ऋषिदत्ता अपने पिता के साथ आश्रम में रहती हुई युवावस्था को प्राप्त हुई । उसके समस्त अंग विकसित एवं सौन्दर्य सम्पन्न हो गए । एक बार राजा शिलायुध, मृगया के लिए वन में भटकता हुआ आश्रम में चला आया । अमोघरेता उस समय आश्रम में नहीं था । ऋषिदत्ता अकेली थी । शिलायुध और ऋषिदत्ता का मिलन, वेद-मोहनीय का पोषक बना । उस समय वह ऋतु-स्नाता थी । उसने राजा से कहा - "मैं ऋतु-स्नाता हूँ । यदि हमारा मिलन गर्भाधान का कारण बना तो क्या होगा ?" राजा ने कहा - "मैं श्रावस्ति नगरी का राजा शिलायुध हूँ । यदि तेरे पुत्र उत्पन्न हो तो उसे ले कर मेरे पास आना । मैं उसे अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा ।" इतना कह कर राजा चला गया । ऋषिदत्ता ने पिता के आने पर राजा के आगमन का वृत्तांत सुनाया । गर्भकाल पूर्ण होने पर ऋषिदत्ता के पुत्र का जन्म हुआ । पुत्र-जन्म के बाद ऋषिदत्ता की किसी रोग से मृत्यु हो गई । वह ऋषिदत्ता मैं ही हूँ । मैं ज्वलनप्रभ नागेन्द्र की अग्रमहिषी हुई । मेरी मृत्यु से मेरे पिता मेरे पुत्र को गोदी में ले कर रुदन करने लगे । मैं अपने पिता और पुत्र की दशा देख कर द्रवित हुई और हिरनी के रूप में पुत्र को स्तनपान कराने लगी । मेरा वह पुत्र 'एणीपुत्र' के नाम से विख्यात हुआ । वह कौशिक तापस मर कर मेरे पिता के आश्रम में ही दृष्टि-विष सर्प हुआ । उसने मेरे पिता को डस लिया । किन्तु मैंने पहुँच कर विष उतारा और सर्प को बोध दिया । सर्प मेरे उपदेश से प्रभावित हुआ और शुभ भावों में आयु पूर्ण कर 'बल' नामक देव हुआ ।

मैं ऋषिदत्ता का रूप धारण कर और पुत्र को ले कर श्रावस्ति नगरी के राजा शिलायुध के पास गई । किन्तु शिलायुध पुत्र को नहीं पहिचान सका । मैंने पुत्र को उसके पास रख दिया और स्वयं अंतरिक्ष में रह कर राजा को समझाने लगी -

"देख राजा ! तू मृगया करते हुए आश्रम में पहुँचा था उससे इस पुत्र का जन्म हुआ । उसके जन्म के बाद रोग-ग्रस्त हो कर ऋषिदत्ता मर गई और इन्द्राणी हुई । मैं वही हूँ । मैंने तेरे इस पुत्र का पालन किया । स्मरण कर और अपने इस पुत्र को सम्भाल ।"

राजा की स्मृति जाग्रत हुई । उसने पुत्र को उठा कर छाती से लगाया । मैं अपने स्थान चली गई । राजा ने उसी समय पुत्र का राज्याभिषेक किया और संसार की विचित्र दशा देख कर, वैराग्य प्राप्त कर

प्रव्रजित हो गया । वह सयम का पालन कर स्वर्गवासी देव हुआ । एणीपुत्र राजा ने सन्तान प्राप्ति के लिए तेले की तपस्या कर के मेरी आराधना की । मेरे निमित्त से उसके एक पुत्री हुई । प्रियगुमजरी वही है । उसने स्वयवर मे आये हुए सभी राजाओ की उपेक्षा कर दी । सभी राजाओं ने एणीपुत्र राजा पर हमला कर दिया । किन्तु मेरी सहायता से एणीपुत्र की विजय हुई और सभा राजा हार कर भाग गए । वही प्रियगुमजरी तुम पर आसक्त हुई और तुम्हें प्राप्त करने के लिए उसने मेरी आराधना की । मेरी ही आज्ञा से द्वारपाल ने तुम्हें निमन्त्रण दिया था । किन्तु तुम्हे विश्वास नहीं हुआ और तुम नहीं गए । अब कल तुम वहाँ जाना । तुम्हे द्वारपाल बुलाने आएगा । तुम उस राजकुमारी का पाणिग्रहण कर लेना । यदि तुम्हें किसी प्रकार के वरदान की आवश्यकता हो ता बोलो ।''

देवी की बात सुन कर वसुदेवजी ने कहा - ''जब मै आपको स्मरण करूँ, तब अवश्य पधारें ।'' दवी ने वसुदेवजी की बात स्वीकार की और अपने स्थान पर चली गई । दूसरे दिन द्वारपाल के बुलाने पर वसुदेवजी प्रियगुसुन्दरी के स्थान पर गए और वहीं गन्धर्व-विवाह कर लिया । इसके बाद अठारवें दिन द्वारपाल ने राजा को इस गन्धर्वविवाह की सूचना दी । राजा पुत्री और जामाता का अपने साथ राज-भवन मे ले आया ।

सोमश्री से मिलन और मानसवेग से युद्ध

वैताढ्य पर्वत पर गधसमृद्ध नाम का नगर था । गधारपिगल वहाँ का शासक था । उसके प्रभावती नाम की पुत्री थी । वय-प्राप्त होने पर वह देशाटन करती हुई सुवर्णाभ नगर आई । वहाँ अचानक उसकी रानी सोमश्री से मिलना हो गया । वे दोनों स्नेह-बन्धन में बन्ध गई । सोमश्री का पति-विरह से खेदित जान कर प्रभावती बोली - ''सखी ! तू चिन्ता मत कर । मैं अभी जाती हूँ और तेरे पति को ल कर शीघ्र लौटूँगी । मैं वेगवती जैसी वञ्चक नहीं हूँ । तू चिन्ता छोड दे ।'' इतना कह कर वह श्रावस्ति नगरी गई और वसुदेवजी को ले आई । वसुदेवजी को मानसवेग की ओर से भय था ही । इसलिए वे सावधानी पूर्वक सोमश्री के साथ रहे । कुछ दिन बाद मानसवेग ने वसुदेव को देखा और तत्काल उन्हे पकड लिया, किन्तु इससे उत्पन्न कोलाहल से आकर्षित हा कर, कई वृद्धजन वहाँ आये और उन्होने वसुदेव को मुक्त कराया । अब वसुदेव और मानसवेग के साथ सोमश्री के सम्बन्ध में विवाद होने लगा। दोनों पक्ष सोमश्री पर अपना-अपना दावा करने लगे । समाधान नहीं होने पर दोनों वहाँ से चल कर वैजयती नगरी के शासक राजा बलसिह के पास, न्याय कराने के लिए आए । वहाँ सूर्पक आदि भी पहुँच गए । मानसवेग ने कहा - ''सोमश्री सब से पहले मेरे मन म बसी हुई थी । मैंने इसे अपनी मान लिया था, किन्तु वसुदेव ने चालबाजी से उसको प्राप्त कर लिया । अतएव सोमश्री मुझे मिलनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि यह व्यक्ति बड़ा चालाक और धोखा-बाज है । इसने मेरी आज्ञा प्राप्त किये विना ही छलपूर्वक मेरी बहिन वेगवती का प्राप्त कर, उसके साथ लग्न कर लिया । यह बडा धूर्त है । इस इसकी धूर्तता का दण्ड भी मिलना चाहिए ।

वसुदेव ने कहा - "मैंने सोमश्री के साथ लग्न किये हैं । इसके पिता और माता ने अपना और सोमश्री की इच्छा से मुझे अपन पुत्री प्रदान की है । मैंने विधिवत् विवाह किया❖ । अतएव मैं ही समश्र का पति हूँ । मानसवेग दुराचारी है अनधिकारी है । इस दुराचरण में प्रवृत्त होने का दण्ड मिलना र चाहिए और वेगवती ने ता खुद ने मेर साथ छलपूर्वक, सोमश्री का रूप धारण करक लग्न किए हैं○ अतएव उसक लिए मुझे दोषी बताना असत्य है । वेगवती स्वय इस दुराचारी के दुराचार का सम् देगी । जिस अधम ने छलपूर्वक सोमश्री का अपहरण किया हैं वह कठोर दण्ड का पात्र है ।

न्याय वसुदेव के पक्ष में हुआ और मानसवेग झूठा सिद्ध हुआ । किन्तु उसने न्याय का आदर नई किया और वसुदेव से युद्ध करने के लिए तत्पर हो गया । नीलकठ* अगारक✿ और सूर्पक○ आदि भी उसके सहायक हुए । वसुदेवजी को वेगवती की माता अगारवती न दिव्य धनुष और दो तूणीर दि और प्रभावती ने प्रज्ञप्ति विद्या दी । विद्या आर दिव्यास्त्र से संनद्ध हो कर वसुदेवजी युद्ध करने लगे उनके उग्र पराक्रम से थोडी देर में ही शत्रुदल पराजित हो गया । मानसवेग को बन्दी बना कर वसुदे ने उसे रानी सोमश्री के चरणा में डाला किन्तु अगारवती के आग्रह से उसे बन्धन-मुक्त कर दिया अब तो मानसवेग वसुदेव का सवक बन कर रहने लगा । वे सभी विमानारूढ हो कर महापुर आ और वहाँ सुखपूवक रहने लगे ।

सूर्पक द्वारा वसुदेव का हरण

सूर्पक के मन म वसुदेव क लिए वैर की ज्वाला अब तक जल रही थी । उसने एकदिन अश्व का रूप धारण किया । आकर्षक अश्व ने वसुदेव को ललचाया । वे उस पर सवार हुए अश्व भा वन में पहुँच कर तो वह उडने लगा । वसुदव समझ गए कि यह किसी शत्रु का षड्यन्त्र है । उन्होंने उसके मस्तक पर जोरदार प्रहार किया । अश्व ने वसुदेव को अपनी पीठ पर स नीचे गिरा दिया । सद्भाग्य से वसुदेवजी गगानदी में गिरे । नदी पार कर के वे किनार पर रहे हुए एक सन्यासी के आश्रम में पहुँचे । उन्होंने देखा - आश्रम में एक स्त्री अपने गले म हड्डियों की माला धारण कर के खडी है । पूछने पर सन्यासी ने बताया कि 'यह स्त्री जितशत्रु राजा की नन्दिसेना रानी और जरासध की पुत्री है । इसे एक सन्यासी ने वशीभूत कर लिया था । उस सन्यासी को राजा ने मार डाला किन्तु मन्त्रयोग से प्रभावित यह स्त्री, अब तक उस सन्यासी की अस्थियो को धारण करती है ।

वसुदेवजी ने अपन मन्त्रबल से उस स्त्री के कामण छुड़ा दिये । वसुदेव की इस सफलता से प्रभावित हो कर जितशत्रु राजा न अपनी बहिन केतुमति का वसुदेव स लग्न कर दिया ।

देखो - पृ २५२ । ○ पृ २५५ । * पृ २५० । ✿ पृ २४० । ○ पृ २५१

इस घटना के समाचार सुन कर जरासध के दूत ने जितशत्रु राजा से कहा – "रानी को सन्यासी के प्रभाव से मुक्त कराने वाले महानुभाव से, महाराजा जरासधजी मिलना चाहते है । इसलिए इन्हे उनकी सेवा म भेजे ।" राजा ने वसुदेवजी को रथारूढ कर भेजा । वहाँ पहुँचते ही नगर-रक्षक ने उन्हे बन्दी बना लिया । उन्होने कारण बताया 'किसी ज्ञानी ने उन्हे कहा था कि - "तुम्हारी बहिन नन्दिसेना को सन्यासी के कामण से मुक्त करने वाले पुरुष का पुत्र ही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा ।" इस भविष्यवाणी का सम्बन्ध तुम से है । तुम्हारा पुत्र महाराज का घातक बनेगा । इसलिए हम तुम को ही समाप्त करदे कि जिससे महाराज का वह शत्रु उत्पन्न ही नहीं हो ।" वे लोग वसुदेवजी को वध-स्थल पर ले गए । वहाँ मारक लोग तैयार ही थे ।

उस समय गन्धसमृद्ध नगर के राजा गन्धारपिगल ने किसी विद्या के द्वारा अपनी पुत्री प्रभावती को वरण करने वाले वसुदेव का परिचय प्राप्त कर, प्रभावती की धात्रीमाता भगीरथी को भेजा । भगीरथी तत्काल वध-स्थल पर आई और विद्याबल से वसुदेव को मुक्त करवा कर ले गई । प्रभावती के साथ वसुदेवजी के लग्न हो गए । वहाँ अन्य कन्याओं के अतिरिक्त कुमारी सुकोशला के साथ भी वसुदवजी के लग्न हुए । वे सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगे ।

हंस-कनकवती सम्वाद

भरतक्षेत्र में पेढालपुर नामक नगर था - विद्याधरो के भव्य नगर जैसा । भव्य भवनो, प्रासादा, अट्टालिकाओ, गृहोद्यानो वाटिकाओं और ऋद्धि-सम्पत्ति से सुशोभित एव दर्शनीय था । वहाँ सभी ऋतुएँ अनुकूल रह कर जन-जीवन को सुखमय बनाती थी । न्यायनीति तथा धर्म में तत्पर महाराजा हरिश्चन्द्र वहाँ के शासक थे । उनके उत्तम चरित्र एव निष्पक्ष न्याय की यशोपताका ससार म फहरा रही थी । लज्जा शील एव उत्तम गुणा से युक्त महारानी लक्ष्मीवती राजा की प्राणवल्लभा थी । महारानी से एक पुत्री का जन्म हुआ ।

कनकवती का शरीर विद्युत्-प्रभा के समान देदीप्यमान आकर्षक मोहक यावत् सुन्दर था । वह दवलोक से च्यव कर आई थी । पूर्वभव में वह महाऋद्धिशाली कुबेर देव की अग्रमहिषी थी । वहाँ उसकी देह-काति सर्वोत्तम एव सर्वाकर्षक थी । देवागना पर अत्यत प्रीति होने के कारण जन्म-समय कुबेर ने कनक-वृष्टि की थी । इसी निमित्त राजा ने पुत्री का नाम 'कनकवती' रखा । कनकवती क्रमश विकसित और सभी कलाओ म प्रवीण हो यौवनवय को प्राप्त हुई । महाराजा ने पुत्री क योग्य वर की बहुत खोज की । अन्त में निराश हो कर स्वयवर समारोह का आयोजन किया ।

किसी समय राजकुमारी अपने प्रमोद-कक्ष में बैठी थी कि अकस्मात् एक राजहस आ कर खिडकी पर बैठ गया । हस अत्यत श्वेत वर्ण का सुन्दर था । उसकी आँखें चोंच और चरण लाल थे । उसके कठ म सोने की माला थी । उसकी बोली बडी मधुर एव सुहावनी थी । हस को दख कर

कुमारी समझ गई कि यह हस किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा पालित है । उसी ने इसे आभूषण पहिन्द हैं ।' कुमारी ने चतुराई से हस को पकड लिया । हस के रूप और कोमलता पर मोहित हो कर राजकुमारी ने अपनी सखी को हस को बन्द करने के लिए पिंजरा लाने का आदेश दिया । यह सुन कर हस बोला -

"राजकुमारी ! तू समझदार एव चतुर है । मुझे पिञ्जरे में बन्द करने से तुझे कोई लाभ नहीं होगा। मुझे खुला ही रहने दे । मैं तेरा हितैषी हूँ और तुझे एक प्रियजन का शुभ सन्देश देने आया हूँ ?"

हस की मानुषी-वाणी सुन कर कुमारी चकित हो कर बोली,-

"हस तू विलक्षण जीव है । कौन है मेरा वह प्रियजन, जिसका तू मुझे शुभ संदेश देने आया है ?"

"सुन्दरी। विद्याधर-पति कोशल नरेश की सुकोशल पुत्री के युवक पति यादव कुल-तिलक कुमार वसुदेव ही वे श्रेष्ठ पुरुष-रत्न हैं, जो रूप गुण और कलाओ में सर्वोत्तम है । उनके जैसा श्रेष्ठ पुरुष अन्य कोई नहीं है । जिस प्रकार तू स्त्रियो मे श्रेष्ठ रत्न है, वैसे ही वसुदेव भी अनुपम पुरुष रत्न हैं । मैने तुम दोनों की जोडी उपयुक्त समझ कर वसुदेव से तुम्हारी प्रशसा की और उनके मन में तुम्हारे प्रति अनुराग उत्पन्न किया । वे तुम्हारे स्वयवर में आवेंगे । स्वयवर-सभा में आए हुए सभी प्रत्याशी राजाओं म उनका रूप एव तेज विशिष्ट होगा । जिस प्रकार तारा-मण्डल में चन्द्रमा श्रेष्ठ है उसी प्रकार उस सभा में वसुदेव श्रेष्ठ पुरुष होंगे । तू उन्हें पहिचान कर उन्हीं का वरण करना । अब अब मुझे छोड दे । मैं तेरे हित में कार्य करूँगा ।"

हस की वाणी से कनकवती प्रसन्न हुई । उसे भी अपने लिए हस को मुक्त करना हितकारी लगा। उसने सोचा-'यह हस कोई मामूली पक्षी नहीं होगा । पक्षी के रूप में कोई विशिष्ट आत्मा है ।' उसने हस को छोड़ दिया । हस उड़ गया और आकाश में रह कर कुमारी के पास एक चित्रपट डाला जिसमें वसुदेवजी का रूप आलेखित था । हस आकाश में रह कर बोला-

" भद्र ! इस चित्र में उस विशिष्ट युवक का चित्र उतारा गया है । इसे भली प्रकार देख कर ध्यान मे जमा ले । यही पुरुष स्वयवर में आयेगा ।"

कनकवती चित्र देख कर प्रसन्न हुई और बोली -

"भव्यात्मा ! आप कौन है? मैं नहीं मानती की आप पक्षी हैं । अवश्य ही आप कोई महापुरुष हैं या देव हैं और मेरे हित के लिए आपने रूप परिवर्तन कर के यह कष्ट उठाया है ।"

राजकुमारी ने देखा-उस हस पर एक खचर पुरुष सवार है। वेश और आभूषण से वह सुशोभित है और देवपुरुष के,समान दिखाई देता है । उसने कहा - "मैं चन्द्रातप नामक खेचर हूँ और तुम्हारे भावी पति की सेवा में रहता हूँ । हाँ कुमार वसुदेव यहाँ स्वयवर में दूसरे व्यक्ति के दूत बन कर, तुम्हारे पास आवेंगे । तुम सावधान रहना भुलावे में मत आना । मैंने चित्रपट तुम्हारी सावधानी के लिये दिया है ।"

खेचर चला गया । राजकुमारी ने सोचा - सद्भाग्य से ही मुझे ऐसा दैविक-सन्देश प्राप्त हुआ । वह अनिमेष नयनो से चित्र देखने लगी । मोहावेग में विरह-पीडित हो कर वह नि श्वास लेने लगी । कभी उस चित्र को मस्तक पर चढाती और कभी हृदय से लगाती । उसके सोच-विचार का विषय वसुदेव कुमार ही बन गया था ।

चन्द्रातप, कनकवती के पास से विदा हो कर, विद्याधर नगर गया और विद्या शक्ति से उसी रात्रि वसुदेव के शयन-कक्ष मे पहुँचा । वसुदेव जी निद्रामग्न थे । उनके पाँव दबाने लगा । वसुदेव जागे । चन्द्रातप ने एकान्त में कनकवती का सन्देश सुनाते हुए कहा -"कनकवती आपके विरह में तडप रही हैं । मैंने आपका चित्र बना कर उसे दिया था । चित्र देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसे मस्तक और हृदय से लगाया । वह आप ही के विचारो मे मग्न हो गई । आगामी शुक्ल-पक्ष की पञ्चमी के दिन स्वयवर होगा । आज कृष्ण-पक्ष की दसवीं तिथि है । आपको वहाँ यथा समय पहुँच जाना है । वह सुन्दरी आपकी प्रतीक्षा मे ही है ।"

"मैं स्वजनो से अनुज्ञा ले कर सायकाल के समय प्रस्थान करूँगा । तुम मुझे प्रमोद वन मे मिलना। वहाँ से साथ ही चलेगे ।"

वसुदेव पर कुबेर की कृपा + कनकवती से लग्न

स्वजनों की आज्ञा ले कर वसुदेव पेढालपुर पहुँचे । हरिशचन्द्र ने वसुदेव का स्वागत-सत्कार किया और उन्हे लक्ष्मीरमण उद्यान में ठहराया । वसुदेव उद्यान की शोभा देख ही रहे थे कि वहाँ एक रत्न-जडित देव-विमान उतरा । वसुदेव को ज्ञात हुआ कि यह 'कुबेर नामक वैमानिक देव' का विमान है । विमान रुका । विमान म बैठे हुए देव की दृष्टि वसुदेव पर पडी । देव ने सोचा - 'यह मनुष्य कोई अलौकिक प्रतिभा वाला है । इस प्रकार की आकृति भूचर मनुष्य मे तो क्या, विद्याधरा और देवों में भी नहीं मिलती है । वास्तव में यह उत्तम भाग्यशाली पुरुप है । देव ने ज्ञानवल स वसुदेव को पहचाना और फिर संकेत कर क अपने पास बुलाया । वसुदेव चल कर देव के निकट आये और देव को प्रणाम किया । देव ने उचित सत्कार के बाद कहा ,-

" महाशय ! आपके योग्य ही मेरा एक काम है । मैं चाहता हूँ कि आप मर दूत बन कर राजकुमारी के पास जावें और उसे मेरा सदेश देव कि -

" देवेन्द्र के उत्तर-दिशा के लोकपाल कुबेर (जो वैश्रमण कहलाते हैं) तुम्हे चाहते हैं । पूर्वभव में तुम कुबेर की प्रिय देवागना थी । तुम्हारे स्नेह क कारण वे यहाँ आय हैं । स्वयवर में तुम उन्हे ही अपना पति बनना । मानुषी होते हुए भी कुबेर तुम्हें देवी समान ही स्वीकार करेंग ।"

"मेरी ओर से तुम यह सन्देश कनकवती को दो और उस मर अनुकूल बनाओ । मर प्रभाव से तुम दूसरों से अदृश्य रह कर कनकवती तक पहुँच सकोग ।"

वसुदेव अपने आवास में आये और राजसी-वेशभूषा उतार कर दूत के योग्य साधारण वस्त्र पहिन और राज्य के अन्त पुर में आये । कनकवती क स्वयंवर की हलचल वहाँ भी बहुत थी । दास दासियाँ इधर-उधर आ-जा रही थी । वे बिना रोक-टोक अन्त पुर में पहुँचे । दासियों की बातचीत और गमना-गमन से अनुमान लगा कर वे राजकुमारी की आर बढ रहे थे । एक दासी ने दूसरी दासी से पूछा -"राजदुलारी अभी कहाँ है ? क्या कर रही है ?" उसने कहा - " वे अपन कक्ष में अकेली बैठी है ।" यह बात सुन कर वसुदेव उसी ओर गये और राजकुमारी क समक्ष पहुँच गये । उस समय राजकुमारी चित्र देखने म तन्मय हो रही थी । वसुदेव पर दृष्टि पडते ही वह स्तब्ध रह कर अपलक देखती रही - कभी चित्र को और कभी वसुदव का । अचानक ही अपना इष्ट-सिद्धि दख कर उसका प्रसन्नता का पार नहीं रहा । वह वसुदेव का सत्कार करन उठी और बाली--

"हृदयेश्वर ! मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ कि आप अनायास घर बैठे हुए ही मुझे प्राप्त हो गए । मेरे मनोरथ सफल हुए । देव ने मुझे आप का जो सन्देश दिया था वह पूर्ण रुप से सत्य हुआ ।"

"भद्रे ! मैं तुम्हारा पति नहीं । मैं तो तुम्हार पति का सन्दश वाहक दूत हूँ । तुम्हारे पुण्य अत्यन्त प्रबल है । तुम मनुष्य नहीं, एक महान् वैभवशाली देव की पत्नी होगी । तुम्हें पहल जो सन्देश मिला था वह मेर लिए नहीं इन्द्र के लोकपाल कुबेर के लिए था । व यहाँ आये हैं । मैं तुम्हे उनका सन्देश सुनाने आया हूँ । तुम स्वयंवर में उन्हे वरण करके उनकी पटरानी बनो"- वसुदेव राजकुमारी को समझाने लगे ।

"महाभाग ! वे कुबेर देव, अब मेरे लिए आदर-सत्कार के योग्य है । उन्होंने स्यात् मेरी वर्तमान दशा की ओर नहीं देखा होगा । आप ही सोचिये कहाँ तो वे वैक्रिय-शरीरी देव और कहाँ मैं हाड-मासादि युक्त दुर्गन्धमय औदारिक शरीरधारिणी नारी ? उनका मेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? मैं समझती हूँ कि आपको दूत बनाना भी किसी सुखद उद्देश्य से हो ।"

- "शुभे ! तुम्हें देव की अवगणना नहीं करनी चाहिए । इसका परिणाम हितकारी नहीं होगा कदाचित् तुम्हें अनिष्ट परिणाम भोगना पडे । तुम्हे ज्ञात होगा कि ऐसी अवगणना का परिणाम 'दवदन्ती'(दमयन्ती) के लिए कितना अनिष्टकारी हुआ था ? सोचो और अपन निर्णय पर पुन विचार करो"- वसुदेव ने कुमारी का समझाया ।

-"आपके द्वारा 'कुबेर' का नाम सुनत ही मर मन म उनके प्रति आकर्षण बढा । मैं भी मान रही हूँ कि मेरा उनसे पूर्वभव का कोई सम्बन्ध है । फिर भी भव-सम्बन्धी अनुलंघनीय विपरीतता की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? मैं उनका आदर-सत्कार कर सकती हूँ , किन्तु पति के रूप म स्वीकार नहीं कर सकती । आप इस विषम स्थिति की ओर उनका ध्यान खिचेंगे, तो अवश्य समझ जाएँगे। हृदयेश्वर ! आप ही मेरे पति हैं । आपने मेरे हृदय म स्थान पा लिया है । अब वह स्थायी ही रहेगा । इस हृदय म पति-भाव से कोई प्रवेश नहीं कर सकता । मरी वरमाला आज आप ही के कण्ठ में आरोपित होगी"- कनकवती ने अपना निर्णय सुना दिया ।

वसुदेव लौटे और अदृश्य रह कर ही बाहर निकले । कुबेर को राजकुमारी का अभिप्राय सुनाने लगे । कुबेर ने उन्हें रोक कर कहा--

"मैं सब समझ गया हूँ । वास्तव में तुम उत्तम पुरुष हो । तुमने निर्दोष भावना से अपने कर्त्तव्य का पालन किया । मैं तुम्हारे सरल एव निष्कपट भाव से प्रसन्न हूँ ।"

देव ने तुष्ट हो कर उन्हे 'सुरेन्द्रप्रिय' गन्ध से सुवासित ऐसे दो देवदूष्य (वस्त्र) 'सूरप्रभ' नामक सिरोरत्न (मुकुट) 'जलगर्भ' नामक कुण्डल जोडी, 'शशिमयूख' नामक दो केयूर (भुजबन्द) 'अर्धशारदा' नाम की नक्षत्रमाला (२७ मोतियों का हार) सुदर्शन मणि जड़ित दो कड़े, स्मरदारुण नामक कटिसूत्र, दिव्य पुष्पमालाएँ और दिव्य विलेपन दिये । उन सभी आभूषणो को धारण कर वसुदेवजी दूसरे कुबेर दिखाई देने लगे । वसुदेव का दिव्य रूप देख कर सभी राजा और अन्य लोग मुग्ध हुए । राजा हरिश्चन्द्र ने स्वयवर सभा में पधारने की देवराज कुबेर से प्रार्थना की । कुबेर अपने विमान सहित स्वयवर सभा में आए । वे अपनी देवागनाओं के साथ सिंहासन पर बैठे । उनके समीप ही वसुदेव बैठे। सभा में बहुत से राजा अपने अपने सिंहासन पर बैठे थे । कुबेर ने अर्जुन-स्वर्ण से बनी हुई अपनी नामांकित मुद्रा वसुदेव को दी, जिसे पहनते ही दूसरो के लिये वे कुबेर की मूर्ति के समान दिखाई देने लगे ।

राजकुमारी स्वयवर-मण्डप में आई । उसने श्वेत वस्त्र धारण किये थे । वह लक्ष्मी देवी के समान सुसज्ज थी । अनेक सखियों, दासियों और धात्रीमाता से घिरी हुई और हाथ में माला लिये हुए वह आगत राजाओं और राजकुमारो का परिचय पाती हुई आगे बढने लगी । उसने सभी राजाओं और राजकुमारों को देख लिया, किन्तु वसुदेव दिखाई नहीं दिये । वह उदास हो कर स्तब्धतापूर्वक खडी रही । उसने जब किसी को भी वरण नहीं किया तो सभी प्रत्याशी विचार करने लगे-- 'क्या हम सब अयोग्य हैं ? हम में से कोई भी इसको नहीं भाया ? क्या यह आयोजन व्यर्थ रहेगा और राजकुमारी अविवाहित ही रह जायेगी ?' इस प्रकार के सकल्प-विकल्प उनके मन में उठने लगे । कुमारी सोचती थी--"हृदयेश्वर कहा छुप गए ? यहाँ क्यों नहीं आए ? क्या मेरी सभी आशाएँ निष्फल जायगी ? हा, मेरा हृदय क्यों नहीं फटता ? मृत्यु क्यों नहीं आती ?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसकी दृष्टि लोकपाल कुबेर पर पडी । उसने कुबेर को वन्दना की और विनति करने लगी --

हा, देव ! मैं आपकी पूर्वभव की प्रिया हूँ । आपने यदि मेरे साथ यह छल किया हो तो मुझे क्षमा करें । मुझे लगता है कि आपने मुझे सतप्त करने के लिए हृदयेश को अदृश्य किया है । मुझ पर दया करो, देव !

कुबेर ने हँस कर वसुदेव को कहा --"यह कुबेरकान्ता मुद्रिका अगुली से निकाल दो ।" अंगूठी निकालते ही कुमारी को वसुदेव दिखाई दिये । कुमारी की उदासी विलीन हो गई । उसने हर्षावेग युक्त वसुदेवजी के निकट आकर माला पहनाई । कुबेर की आज्ञा से देवों ने दुदुभि-नाद किया । अप्सराएँ मंगल गीत गाने लगी । दिव्य वृष्टि हुई और वसुदेव के साथ कनकवती का लग्न हो गया।

नल-दमयंती आख्यान- कुबेर द्वारा

विवाहोपरान्त वसुदेव ने लोकपाल कुबेर से पूछा - "देवलोक छोड कर आने का आपका प्रयोजन क्या है ?" देव ने कहा ,-

"इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे, अष्टापद पर्वत के निकट 'सगर' नाम का एक नगर था । वहा मम्मण नरेश और वीरमती रानी थी । धर्मविहीन और मलिन मानस राजा और रानी किसी दिन आखेट के लिए वन में गए । उधर से कुछ सन्त महात्मा आ रहे थे । उनका शरीर मैलयुक्त था । राजा की दृष्टि एक मुनि पर पडी । मलिन-गात्र मुनि का देखते ही राजा को विचार हुआ -'यह साधु मेरे लिए अपशकुन हैं । आज मुझे मृगया में सफलता नहीं मिलेगी ।' राजा ने कुपित हो कर साधु को बन्दी बना लिया । आखेट कर के लौटने पर राजा को बन्दी मुनि का स्मरण हो आया । उसने बारह घट के पश्चात् उन्हे मुक्त किया और निकट बुला कर मुनि का परिचय पूछा । मुनिवर ने पाप का दु खद फल और धर्म का महाफल बताते हुए राजदम्पति को धर्मोपदेश दिया और अभयदान का महत्त्व समझाया। राजा रानी पर मुनिराज के धर्मोपदेश का कुछ प्रभाव पडा । उन्होंने मुनिराज को आहार-पानी प्रतिलाभित किया और एक उत्तम स्थान पर ठहरने का निवेदन किया । फिर तो राजा प्रतिदिन सत सगति करता रहा और यथावसर मुनि को प्रतिलाभित भी करता रहा । राजा दम्पति न धर्म रग म रग कर श्रावक-व्रत धारण किये । मुनिराज विहार कर गए । राजा-रानी धर्म का रुचि पूर्वक पालन करने लग । धर्म का आचरण करते हुए मृत्यु पा कर दवलोक म दम्पति रूप से उत्पन हुए ।

मम्मण राजा का जीव देव-भव पूर्ण कर के इसी भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में 'धन्य' नाम का अहीर-पुत्र हुआ । वह भाग्यशाली था । वीरमती का जीव भी अहीर जाति में उत्पन हा कर धन्य का 'धूसरी' नामक पत्नी हुई । धन्य वन में भैंस चराने जाता । वर्षाऋतु में धन्य भैंस चराने गया । वर्षा जोरदार हो रही थी । उसने अपने बचाव के लिए छाता लगा लिया था । आगे चलते एक तपस्वी महात्मा ध्यानारूढ खड़े दिखाई दिये । उन पर वर्षा का पानी पड़ रहा था । शीतल वायु से शरीर कांप रहा था । धन्य के हृदय में भक्ति युक्त अनुकम्पा उत्पन हुई । वह तत्काल अपना छाता महात्मा पर लगा कर खडा हा गया । इससे तपस्वी मुनि के परीषह में कमी हुई । वृष्टि दीर्घकाल तक होती रही और धन्य भी उसी भाव से छाता ताने खडा रहा । महात्मा का ध्यान पूर्ण हुआ और वर्षा रुक गई । धन्य ने मुनिराज को वन्दना-नमस्कार कर निवदन किया -"महर्षि ! यह वर्षा लगातार सात दिन से हो रही है । आप सात दिन से यहा निराहार रहे । आप का शरीर अशक्त हो गया है । आप मेरे भैंस पर बैठे और गाँव में पधारें ।" मुनिवर ने कहा -"भद्र! साधु तो अपने पाँवों से ही चलते हैं किसी भी वाहन पर नहीं बैठते । हमारा अहिसा-धर्म किसी भी जीव को किंचित् मात्र भी कष्ट देने का निषेध करता है । इसलिए मैं पैदल ही चलूँगा ।" मुनिराज और धन्य धीरे-धीरे चल कर नगर में पहुँचे। धन्य

ने महात्मा से निवेदन किया ,-"आप थोडी देर यहाँ ठहरिये, मैं गायों का दूध दुह कर अभी आता हूँ।" मुनिराज रुक गये । भैंसे दुह कर धन्य ने मुनिवर के पर्याप्त दूध का दान कर पारणा कराया और एक स्थान मे ठहराया । वर्षा समाप्त होने पर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये ।

धन्य अहीर अपनी पत्नी के साथ श्रावक-व्रत का पालन करने लगा । कालान्तार मे वे ससार का त्याग कर सर्वविरत बने और उदय भाव से वे हिमवत क्षेत्र मे युगल रूप में उत्पन्न हुए । युगलिक आयु-पूर्ण करके देवलोक में पति-पत्नी हुए । धन्य का जीव देवायु पूर्ण कर इस भरत क्षेत्र के कोशल देश की कोशला नगरी में इक्ष्वाकु-वशीय निषध नरेश की सुन्दरा रानी की कुक्षि मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'नल' रखा गया । नल के कुबर नाम का छोटा भाई भी था । धूमरी का जीव, देव-भव पूर्ण कर के विदर्भ देश कुण्डिन नगर के राजा भीमरथ की पुष्पदती रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । रानी ने उस रात्रि को स्वप्न में, दावाग्नि से प्रेरित एक श्वेत वर्ण का हाथी को राजभवन में प्रवेश करते हुए देखा । रानी ने अपना स्वप्न राजा को सुनाया । राजा ने कहा-"देवी! कोई पुण्यात्मा तुम्हारें गर्भ में आयी है ।"

राजा और रानी, भवन-वाटिका में विचरण कर विनोद कर रहे थे कि एक श्वेत वर्ण का हाथी, कहीं से आकर उनके पास खडा रहा और दोनो को सूँड से उठा कर अपनी पीठ पर चढा लिया । फिर वह नगर में भ्रमण कर राजभवन के पास आया और राज-दम्पती को पीठ पर से उतार कर हस्तिशाला में चला गया ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर शुभ घडी में रानी क एक पुत्री का जन्म हुआ । कन्या शुभ लक्षणवाली, सुन्दर एव मनोरम थी । उसके ललाट पर जन्म से सहज ही तिलक शोभायमान हो रहा था । गर्भ में आते ही माता ने स्वप्न में, दावानल से भयभीत हो कर राजभवन में आये हुए श्वेत दन्ती (हाथी) को देखा था । इस स्वप्न के आधार पर पुत्री का नाम 'दवदन्ती' रखा, जिस बाद में 'दमयती' भी कहने लगे । ज्यों-ज्यों कन्या बढती गई, त्यो-त्यो उसका रूप-सौन्दर्य और आभा विकसित होती गई । वह अपनी सौतेली माताओ, बहिन-बन्धुओं और राजभवन के लोगो में सर्वप्रिय बन गई । उसके जन्म के पश्चात् राजश्री मे भी वृद्धि हुई और राजा का प्रभाव भी बढ गया ।

योग्य-वय में दमयती ने स्त्री-योग्य कलों का अभ्यास किया । उसका धर्मशास्त्र का अभ्यास भी असाधारण था । वह कर्मप्रकृति नवतत्त्व और स्याद्वाद आदि विषयों की असाधारणा ज्ञाता थी । पुत्री के तत्त्व-विवेचन ने पिता को भी धर्म के अभिमुख कर दिया । दमयती को यौवन-वय प्राप्त होने पर राजा उसके योग्य वर की खोज में लगा, किन्तु दमयती के योग्य कोई वर दिखाई नहीं दिया । दमयती की वय अठारह वर्ष की हुई, तब नरेश ने सोचा-'पुत्री स्वय विचक्षण है । वह अपने योग्य वर का चयन स्वय कर ले इसलिए स्वयवर का आयोजन करना ही उत्तम है ।'उसने योग्य दूतो को विभिन्न राज्यों में भेजा और स्वयवर म उपस्थित होने के लिए राजाओ और युवराजों को आमन्त्रित किया ।

निर्धारित समय पर सभी आमन्त्रित राजा अपने राजकुमारों सहित कुंडिनपुर आये । कोशल नरेश निषध भी अपने पुत्र नल और कुबेर सहित आ पहुँचे । कुंडिनपुर के अधिपति महाराज भीमरथ ने सब का उचित स्वागत-सत्कार किया । स्वयंवर मण्डप तैयार करवाया और आगत नरेशों और राजकुमारों के योग्य आसनों की व्यवस्था की । निश्चित समय पर सभी प्रत्याशी बड़ी सज-धज के साथ आये और अपने - अपने आसन पर बैठे । राजकुमारी दमयंती अपनी सखियों, दासियों और चतुर प्रतिहारी के साथ एक देवी के समान शोभायमान होती हुई मण्डप में प्रविष्ट हुई । भीमरथ नरेश के निर्देशानुसार प्रतिहारी, प्रत्येक राजा और राजकुमार का परिचय एवं विशेषता बताती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी । जब वह निषध नरेश के सुपुत्र नल के समीप आई तो उसे देखते ही, पूर्वभव के सम्बन्ध से प्रेरित हो कर युवराज नलकुमार के गले में वरमाला पहिनाकर पति रूप में वरण कर लिया । सभा ने राजकुमारी द्वारा हुए चुनाव एवं वरण की प्रशंसा की । किन्तु कृष्णराज कुमार को यह सम्बन्ध अखर गया । वह तत्काल आसन से उठ कर खड़ा हुआ और बोला -

"दमयंती ने भूल की है । ओ मूर्ख नल ! उतार यह वरमाला । तू इसके योग्य नहीं है । यह सुन्दरी मेरे लिए है । मैं इसको अपनी पत्नी बनाऊँगा । तू निकल जा यहाँ से । यदि तुझे अपनी शक्ति का घमण्ड है, तो उठ और अपने शस्त्र ले कर चल रणभूमि में । मुझ पर विजय पाये बिना तू दमयंती को प्राप्त नहीं कर सकेगा ।"

कृष्णराज की गर्वोक्ति सुन कर नल हँसता हुआ बोला -

"दुष्ट ! तू ईर्षा की आग में क्या जल रहा है ? दमयंती अपना वर चुनने में स्वतन्त्र थी । अब यह मेरी हुई और मेरी ही रहेगी । यदि तेरी मति भ्रष्ट हो गई और तुझे अपने बल का घमण्ड है, तो मैं तुझे शिक्षा देने के लिए तत्पर हूँ । चल और भुगत अपनी दुष्टता का फल ।"

दोनों ओर की सेनाएँ शस्त्र सज्ज हो कर आमने-सामने खड़ी हो गई । इस विषम परिस्थिति को देख कर दमयंती चिन्ताग्रस्त हो गई । वह सोचने लगी-- "मेरे लिए युद्ध की तैयारी हो रही है । मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ । मेरे ही कारण यह रक्तपात होने वाला है । हे देव ! हे शान्ति एवं सन्तोषप्रदायिनी शासनदेवी ! बचाओ - इस मानव-संहारक युद्ध से । सन्मति दो इन ईर्षालु जीवों को । अपनी पवित्र शांति-वर्षा से ईर्षा और युद्ध की आग को बुझा दो । हृदयेश को विजय प्राप्त हो ।"

इस प्रकार शुभ कामना करती हुई दमयंती ने नमस्कार महामन्त्र का स्मरण किया और मन में दृढ़ विश्वास से संकल्प किया -- "मैं जिनेश्वर भगवंत की उपासिका हूँ । मेरे रोम-रोम में धर्म बसा हुआ है । जिनेश्वर भगवन्त स्वयं अपरिमित शान्ति के महासागर हैं । धर्म के प्रभाव से यह उपद्रव शीघ्र ही शांत हो जाय" - इस प्रकार भावपूर्वक बोलती हुई दमयंती ने अंजलि भर कर दोनों सेनाओं पर जल छिड़का । उस जल के कुछ छींटे कृष्णराज के मस्तक पर भी पड़े । शुद्ध हृदय की पवित्र एवं उत्कृष्ट भावनायुक्त जल के छींटे लगते ही कृष्णराज ने सिर ऊँचा किया । उसने गवाक्ष में जालझरी लिए हुए

शांत एवं पवित्र भावना वाली राजकुमारी दमयती को देखा। उसे लगा जैसे कोई देवी अपने हाथ के सकेत से शांति और पवित्रता का सन्देश दे रही हो। उसकी ईर्षा की आग बुझ गई। शांत हो गया और शस्त्र झुका कर नलकुमार का सम्मान करने लगा। उसके शांत मन में नलकुमार एक भाग्यशाली उत्तम पुरुष लगा। वह तत्काल विनम्र हो कर कहने लगा-

"महाभाग! मैंने ईर्षावश आपको अपशब्दों से अपमानित किया। यह मेरी वज्र-भूल थी। मैं आपका अपराधी हूँ। कृपया मेरा अपराध क्षमा करें।"

नलकुमार ने विनम्र हो कर आये हुए कृष्णराज का सत्कार किया और मिष्ट शब्दों से संतुष्ट कर विदा किया। भीमरथ नरेश, अपने जामाता का प्रभाव देख कर अत्यंत प्रसन्न हुए और पुत्री के वर-चयन की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने स्वयंवर में आये हुए सभी नरेशों को सम्मानपूर्वक विदा किया और विवाहोत्सव रचा कर दमयंती का नल के साथ लग्न कर दिया। निषध नरेश, पुत्र का विवाह कर राजधानी लौट रहे थे। वन में वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ एक मुनिराज खड़े थे। नलकुमार की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उन्होंने पिता से कहा-

"पूज्य! उस वृक्ष के नीचे कोई महात्मा खड़े हैं, दर्शन-वन्दन करना चाहिए।" वाहन से उतर कर पिता-पुत्र मुनिराज के समीप आये। वन्दना की। कुमार ने देखा - महात्मा के शरीर पर भ्रमरवृन्द मँडरा रहा है। कई भँवर उनके शरीर को डंक दे कर पीड़ित कर रहे थे। 'कदाचित् किसी मदान्ध गजराज ने अपने मदझरित गण्डस्थल को खुजालने के लिए महात्मा के शरीर से घर्षण किया हो। उस घर्षण से गजराज का मद मुनिराज की देह से लिप्त हो गया हो और उसकी सुगन्ध से भौंरे उपद्रव कर रहे हों।" महात्मा की उत्कट साधना देख कर निषधराज प्रभावित हुए। उनकी भक्ति बढ़ी। उन्होंने महात्मा के शरीर को पोंछ कर साफ किया। भौंरों का उपद्रव दूर कर वे आगे बढ़े। दमयंती-युवराज्ञी का नगर-प्रवेश धूमधाम पूर्वक हुआ। नल-दमयंती के दिन सुखभोग पूर्वक व्यतीत होने लगे।

कुछ काल व्यतीत होने पर निषधराज ने युवराज नल का राज्याभिषेक और कुंवर को युवराज पद देकर स्वयं मोक्ष-साधना में संलग्न हो गए। नल नरेश विधिवत् राज्य-संचालन और प्रजा-रंजन में व्यस्त रहने लगे। बुद्धि और पराक्रम सम्पन्न तथा शत्रुता से रहित, नल नरेश का शासन निराबाध चलने लगा। उसके राज्य में वृद्धि हुई। उनका शासन आधे भरत क्षेत्र पर चलता था। राजधानी से दो सौ योजन दूर तक्षशिला नगरी थी। वहाँ का राजा कदंब नल नरेश के शासन को स्वीकार नहीं करता था और डाह रखता हुआ उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करता था। नल नरेश ने अपना दूत तक्षशिला भेजा और अधीनता स्वीकार करने के लिए सूचना करवाई। कदम्ब को अपने बाहुबल का गर्व था। उसने नल नरेश के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और युद्ध करने के लिए तत्पर हो गया। नल नरेश भी सेना ले कर तक्षशिला पहुँचे और नगरी को घेर लिया। दोनों ओर की सेना युद्ध-क्षेत्र में आमने-सामने जम गई और बाण-वर्षा करती हुई युद्ध करने लगी। सैनिकों और हाथी-घोड़ादि का व्यर्थ संहार रोकने के लिए

नल ने कदम्ब का द्वद्व युद्ध के लिए प्रेरित किया । सेना का युद्ध रुक गया और दोनों वीर विभिन्न रीति से लडने लगे । कदम्ब भी योद्धा था, परन्तु नल के समान नहीं । भिन्न-भिन्न प्रकार दावपच लगा कर उसने देख लिया कि नल राजा से पार पाना कठिन है । वह अवसर देख कर खिसक-गया और एकान्त में जा कर सर्वत्यागी सत हो, ध्यानारूढ हो गया । नल नरेश, कदम्ब मुनि के पास पहुँचे । उन्होंने कहा - "युद्ध म तो मैं आप से विजयी रहा, किन्तु धर्म-क्षेत्र म मैं आप की समानता नहीं कर सकता। हे मुनिराज ! आप क्षमा-श्रमण बन कर आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें । मैं आपको वन्दना करता हूँ ।"

कदम्ब-पुत्र जयशक्ति का राज्याभिषेक कर, नल नरेश राजधानी लौटे । उनका शासन निराबाध चलता रहा ।

जुआ खेल कर राज्य हारे+ वन-गमन

नल नरेश का भाई कुबर,कुलागार था । राज्य-लोभ ने उसे छिद्रान्वेषी बना दिया । वह नल पतन के निमित्त की ताक मे रहा । नल नरेश, न्याय-नीति और सदाचार से युक्त थे । परन्तु घुतक्रीडा के व्यसनी थे । जुआ खेलने म उनकी विशेष रुचि थी । बडे-बड दाव लगा कर वे पा फेंकते थे । कुबर ने नल से राज्य लेने का यही मार्ग उचित समझा । वह नल के साथ जुआ खेल लगा। कभी नल की जीत होती, तो कभी कुबर की । नल घुत-क्रीडा मे प्रवीण था किन्तु दुर्भाग्य जब उदय होता है, तो बडे-बडे निष्णात भी चूक जाते हैं । नल की पराजय का दौर चला । वह द पर गाँव, नगर और मण्डल लगा कर हारने लगा और ज्यों-ज्यो हारता गया, त्यों-त्यो अधिक द लगाता गया । उसकी हार से हितैषीजना की चिन्ता होने लगी । वे 'हा हा कार' करने लगे । दमय ने भी नल से प्रार्थना की - "स्वामी ! अब रुक जाइए । नहीं नहीं, अब मत खेलिए - यह विनाश खेल । यह खेल हमारा शत्रु बन रहा है । हम सबको विपत्ति में डाल रहा है । नाथ ! जरा ठह और सोचो, अब तक कितना खो चुके । जो बचा है, उसे ही रहने दो । यदि आपको अपने बन्धु बान्धव को राज्य देना ही है तो यों ही दे दो, जो 'दान' तो कहा जायगा । हार से तो दान अच्छा ही है, परन्तु इस पापी खेल को बन्द कर दो । स्वामिन् ! महापुरुषों ने इसे 'व्यसन' कहा है और इसक दुष्परिणाम बताये हैं। यह सब प्रत्यक्ष हो रहा है । खेल-खेल में राज्य गँवा रहे हो । इतनी आसक्ति किस काम की ? जिस धरा को अनेक भयानक युद्धो और लाखा मनुष्यों के रक्तपात से प्राप्त की, उसे खेल-खेल में गँवा कर हँसी का पात्र मत बनो-देव !"

दमयती की करुण-प्रार्थना भी नल को नहीं [illegible] । वहाँ से हट कर दमयती अपने कुल-प्रधानों के पास गई और कहने [illegible] "अपने स्[illegible] विनाशकारी खेल से रोको ।" प्रधानों ने भी प्रार्थना की, किन्तु नल [illegible] यात नह[illegible] में हार[illegible] राज्य और दमयती

सहित सारा अन्त पुर भी हार कर दरिद्र बन गया । अपने अग के आभूषण भी द्यूतार्पण कर दिये । नल को दरिद्र बना कर कुबर ने कहा -

"अब आपका राज्य भवन और किसी भी वस्तु पर कोई अधिकार नहीं रहा । इसलिए अब आपको यहाँ से चला जाना चाहिए ।"

नल ने कहा,- "पुरुषार्थी को लक्ष्मी प्राप्त करना अधिक कठिन नहीं होता, किन्तु तुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए ।"

नल अपने पहिने हुए वस्त्रो से ही वहाँ से निकल कर जाने लगा । नल को जाता हुआ देख कर दमयती भी उसके पीछे जाने लगी । दमयती को जाती देख कर कुबर क्रोधपूर्वक बोला-

"दमयती ! मैने तुझे दाँव पर जीता है । अब तू नल की पत्नी नहीं रही । तुझ पर मेरा अधिकार है । चल, तू अन्त पुर म चल और अन्त पुर को सुशोभित कर ।"

कुबर के दुष्टतापूर्ण वचन सुन कर मन्त्री आदि शिष्ट-जनो ने कुबर से कहा -

"दमयती सती है । यह दूसरे पुरुष की छाया का भी स्पर्श नहीं करती । इसलिए इसको रोकने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए । तथा ज्येष्ठ-बन्धु की भार्या तो माता के समान हाती है । कुलीन व्यक्ति उसे तुच्छ दृष्टि से भी नहीं देखते, तब राज्य-परिवार में और राज्याधिकार पाने वाले व्यक्ति के मुँह से ऐसे शब्द नहीं निकलने चाहिए । यदि कुछ दु साहस किया, तो सती का कोप तुम्ह नष्ट कर देगा । अब तुम सभ्यतापूर्वक इन्हें विदा करो और इन्ह पाथेय सहित एक रथ भी दो ।"

मन्त्रिया के परामर्श से कुबर ने दमयती को जाने दिया और पाथेय सहित रथ भी दिया । नल ने पाथेय और रथ लेना अस्वीकार करते हुए कहा-

"मैं अपना आधे भरत-क्षेत्र का राज्य छोड कर जा रहा हूँ, तब रथ क्या लूँ और पाथेय भी कब तक मेरी पूर्ति करेगा ? नहीं, मैं नहीं लूँगा ।"

-"राजेन्द्र ! हम आपके चिरकाल के सेवक हैं और आपके साथ ही वन म आना चाहते हैं, परन्तु ये कुबर हमें रोकते हैं । ये भी इस राजवश के ही वशज हैं । यहाँ के राजवश और राज्याधिकारी को सहयोग देना हमारा कर्त्तव्य है । इसलिए हम चाहते हुए भी आपके साथ नहीं आ सकते । इस विपत्ति के समय महारानी दमयती ही आपकी पत्नी, सहधर्मिणी, मन्त्री, मित्र और सेविका है । आप इनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखियेगा । हमे चिन्ता है कि महारानी दमयती शिरीष के पुष्प के समान कोमल चरणवाली ककर-पत्थर काँटे और पथरिली-भूमि पर किस प्रकार चल सकेगी ? भयानक उष्णता, तवे के समान तपती भूमि और लू की झुलसा देने वाली लपटो म यह कोमलागी किस प्रकार सुरक्षित रह सकेगी ? इसलिए हमारी प्रार्थना है कि आप रथ की भट स्वीकार कर लीजिए । आपका प्रवास कल्याणकारी हो ।"

वह धीरे-धीरे चली जा रही थी कि अचानक उसके सामने एक यमराज जैसा भयानक राक्षस आ खडा हुआ । उसका शरीर पर्वत जैसा विशाल, चेहरा विकराल, लम्बे-लम्बे दाँत और मुँह में से भट्टा के समान अग्नि-ज्वाला निकल रही थी । जीभ सर्प के समान लपलपा रही थी । उसका वर्ण काजल के समान काला और भयानक था । वैदर्भी को देखते ही वह बोला -

"अहा, कितना अच्छा भोजन मिला है । इतना अच्छा भक्ष तो मुझे कभी मिला ही नहीं । आज मे तुझे खा कर तृप्त होऊँगा ।"

राक्षस को देख कर दमयती पहले तो भयभीत हुई किन्तु थोडी ही देर में सभल गई और धैर्य के साथ बोली -

"राक्षस राज ! प्राप्त जन्म को सफल करना या निष्फल बनाना - यह मनुष्य के हाथ की बात है। मैने तो आर्हत्-धर्म की कुछ न कुछ आराधना कर ली है । इसलिए मुझे मृत्यु का भय लशमात्र भी नहीं है किन्तु तुम सोच लो । तुम्हारे मन में दया नहीं है, क्रूरता ही है । सोच लो कि इस क्रूरता का फल क्या होगा ? ऐसी क्रूर आत्माएँ ही नरक में स्थान पाती है । यदि मन मे सद्बुद्धि है, तो अब भी समझो और सँभलो और यह भी याद रखो कि मुझ पर तुम्हारी शक्ति बिलकुल नहीं चलेगी, इतना ही नहीं, मैं चाहूँ, तो तुम्हे यहीं राख का ढेर बना दूँ ।"

दमयती के धैर्य और साहस से राक्षस प्रसन्न हुआ और कहने लगा -

- "भद्रे ! मैं तेरे शील, साहस एव धैर्य्य से प्रसन्न हूँ । बता, मैं तेरा कौन-सा हित करूँ ?"

-"देव ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो, तो बताओ कि मुझे मेरे पति कब मिलेगे ?"

देव ने अवधिज्ञान से उपयोग लगा कर कहा;-

"बारह वर्ष व्यतीत होने पर तुम्हें पति का समागम होगा । तुम्हारे पिता के घर वे स्वय ही आ कर तुम्हे मिलेगे । तब तक तुम धीरज रखो । यदि तुम कहो, तो मैं तुम्हें अभी तुम्हारे पिता के यहाँ पहुँचा दूँ । तुम्हे पाँवो से चलने और वन के विविध प्रकार के कष्टो को सहन करने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही ।"

- "भद्र ! तुमने मुझे पति-समागम का भविष्य बता कर सतुष्ट कर दिया । मैं इसी से प्रसन्न हूँ । मैं पर पुरुष के साथ नहीं जाती । तुम्हारा कल्याण हो ।"

राक्षस बिजली के झबकारे के समान अदृश्य हो गया❖ । बारह वर्ष के पति-वियोग का भविष्य जान कर दमयती ने अभिग्रह किया-"जब तक पति का समागम नहीं हो, मैं कसूँबे रग के वस्त्र नहीं पहनूँगी गहने धारण नहीं करूँगी, ताम्बूल विलेपन और विकृत का सेवन नहीं करूँगी ।" इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर के दमयती ने वर्षाऋतु मे सुरक्षित रहने के लिए एक पर्वत गुफा में निवास किया और स्मरण स्वाध्याय, ध्यान और उपवासादि तप करने लगी और पक कर अपने आप पृथ्वी पर गिरे हुए फलो का पारणे में आहार करती हुई काल व्यतीत करने लगी ।

❖ राक्षस भी दो प्रकार के होते हैं - देव और मनुष्य ।

दमयंती के प्रभाव से वर्षा थमी और तापस जैन बने

दमयती सार्थवाह को सूचित किये बिना ही उसके डेरे में से निकल कर चल दी । जब सार्थवाह ने दमयती को नहीं देखा, तो वह चितित हो गया और उसकी खोज में चरण-चिहा का अनुसरण करता हुआ गुफा में पहुँच गया । उस समय दमयती धर्म-ध्यान में लीन थी । सार्थपति सतुष्ट हो कर एक ओर बैठ गया । ध्यान पूर्ण होने पर वैदर्भी ने वसत सार्थवाह को देखा और कुशल-मगल पूछा । सार्थवाह ने प्रणामपूर्वक आने का प्रयोजन बतलाया । उनकी वार्तालाप के शब्द निकट रहे हुए कुछ तापसों ने सुने । वे कुतूहलपूर्वक वहाँ आ कर बैठे और सुनने लग । इतने म घनघोर वर्षा होने लगी । तापस चिन्तित हो उठे । "अब क्या होगा ? जल-प्रवाह बढ रहा है । हमारे स्थान जलमय हो जाएँगे । कैसे बचेंगे हम - इस प्रलयकारी जल-प्रकोप से ?" दमयती ने सभी को चिन्तातुर देख कर कहा - "बन्धुओ ! निर्भय रहो । तुम सब सुरक्षित रहागे ।' वैदर्भी ने भूमि पर एक वर्तुल (मण्डलाकार घेरा) बनाया और उच्च स्वर में बोली,-

"यदि मैं सती हूँ, मेरा मन सरल और निर्दोष है और मैं जिनेश्वर की उपासिका होऊँ तो यह जलधर हमारे मण्डल की भूमि को छोड कर अन्यत्र बरसे ।"

सतीत्व के प्रभाव से वर्षा उस स्थान पर थम गई और अन्यत्र बरसने लगी । सती के प्रभाव को देख कर सभी अचरज करने लगे । 'यह कोई देवी है । मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह प्रकृति का शासक बन जाय ।' वसत सार्थवाह ने वैदर्भी से पूछा -

"देवी । आप किस देव की आराधना करती है कि जिससे आप मे ऐसी अलौकिक शक्ति उत्पन्न हुई ?"

- "बन्धु । मैं परम वीतराग अर्हंत प्रभु की उपासिका हूँ और एकनिष्ठ हो कर आराधना करती हूँ । इस आराधना के बल से ही मैं महान् क्रूर जीवो से भी सुरक्षित हूँ, निर्भय हूँ । सच्ची आराधना से आत्म-शक्ति विकसित होती है और सबल बनती हैं ।"

दमयती ने धर्म का स्वरूप समझाया । वसत सार्थवाह ने प्रतिबोध पा कर जिनधर्म स्वीकार किया और तापसों ने भी सार्थवाह का अनुसरण कर जिनधर्म स्वीकार किया । वसत सार्थवाह ने उस स्थान पर नगर बसाया और सभी सार्थजन तथा तापस लोग वहीं रहने लगे । उसने बाहर से अन्य व्यापारियों और दूसरे लोगो को भी बुला कर बसाया । नगर का नाम 'तापसपुर' रखा गया । सभी लाग शान्तिपूर्वक धर्म की आराधना करते हुए रहने लगे ।

कालान्तर में अर्द्धरात्रि के समय दमयती ने पर्वत-शिखर पर सूर्य के प्रकाश जैसा दृश्य देखा । उसने देखा - आकाश-मण्डल से अनेक देव-विमान उस पर्वत पर आ रहे हैं । उनके जय-जयकार शब्द से तापसपुर के सभी निवासी जाग गए । उन सब को बडा आश्चर्य हुआ । फिर दमयती और तापसपुर निवासी पर्वत पर पहुँचे । वहाँ श्री सिहकेसरी मुनि का केवलज्ञान हुआ था । देवगण केवल-महोत्सव कर रहे थे । सभी लोगा ने सर्वज्ञ भगवान् का वन्दन-नमस्कार किया और भगवान् के चरणों

में नत-मस्तक हो बैठ गए । उसी समय सवज्ञ भगवान् के गुरु आचार्य यशोभद्रजी वहाँ आए और अपने शिष्य को केवलज्ञानी जान कर वन्दना की । सर्वज्ञ भगवान् ने धर्मोपदेश दिया और तापसों क सन्देह का निवारण करते हुए कहा -

"इस दमयता ने तुम्ह धर्म का स्वरूप बतलाया, यह यथार्थ है । यह सरल महिला धम-माग का पथिक है । इसके आत्म-बल का चमत्कार भी तुमन देख लिया है । इसने अपने रखा-कुण्ड में मघ को प्रवेश ही नहीं करने दिया । इसके सतीत्व एव धर्म क प्रभाव स दव भी इसके सान्निध्य में रहते हैं । भयानक वन म भी यह निर्भय एव सुरक्षित रहती है । इसकी एक हुँकार मात्र से डाकू-दल भाग गया और पूरे सार्थ की रक्षा हुई । इससे अधिक और क्या प्रभाव होगा ?

हडात् एक महर्द्धिक देव वहाँ आया और भगवत को वन्दना करने के बाद दमयती से बोला;-

"यशस्विनी माता ! मैं इस तपोवन क कुलपति का कपर नाम का शिष्य था । मैं तप-साधना में लगा रहता था और सदैव पञ्चाग्नि से तपता रहता था किन्तु तपोवन क तपस्वियो म स किसी न भी मेरी तपस्या की सराहना नहीं की न मेरा अभिनन्दन किया । इस उपेक्षा से मैं क्रोधित हुआ और तपोवन छोड कर चल निकला । रात्रि के समय चलते हुए मै एक ऊँडे गड्ढे में गिर पडा । मेरा मस्तक और मुँह, एक पत्थर के गभीर आघात से क्षत-विक्षत हो गये । मेरी नाक टूट गई और दाँत भी सभी टूट गए । मैं मूर्च्छित हा कर उस खड्ड मे ही पडा रहा । मूर्च्छा दूर होने पर मरे शरीर में असह्य पाड़ा होती रही । मेरे आश्रय छोड कर निकल जाने पर भी किसी ने मेरी खोज-खबर नहीं ली, जैसे मेरा निकलना उन्हे सुखकारी लगा हो । मुझे उनकी उपेक्षा स असीम क्रोध आया । उस क्रोध ही क्रोध म धधकता हुआ, सातवें दिन मर कर मैं उसी तपोवन मे विषधर - सर्प हुआ । जव तुम उधर निकला तब मैं तुम्ह काटने के लिए तुम्हारी और दौडा । उस समय तुमने नमस्कार महामन्त्र का उच्चारण किया था । वे शब्द मेरे कानों मे पडे । मैं उसी समय रुक गया । आगे बढने की मेरी शक्ति ही नहीं रही । मैं वहाँ से लौट कर, एक गिरि-कन्दरा म रहा और मेढक आदि का भक्षण करता रहा । घनघार वर्षा के समय तुम इन तपस्वियो को धर्मोपदेश दे रही थी वह मैंने भी सुना । मुझे अपने हिसाप्रधान जीवन पर खेद हुआ । मेरी दृष्टि इन तपस्वियो पर पडी । मैंने सोचा - 'इन तपस्वियो को मैने कहीं देखे हैं ।' विचार करते-करते मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और मैने अपने पिछले जीवन को देखा । मुझे अपनी दुर्वृत्तिया का भान हुआ और ससार के प्रति निर्वेद हुआ । मैने उसी समय अहिंसा व्रत स्वीकार कर अनशन कर लिया और प्रशस्त ध्यान में मृत्यु पा कर मैं सौधर्म देवलाक क कुसुमसमृद्ध विमान में कुसुमप्रभ देव हुआ । यह तुम्हारे वचनो का प्रभाव है । यदि तुम्हार वचन मेरे कान म नहीं पडे होते तो मेरी क्या गति होती? मैंने अवधि-ज्ञान से तुम्ह यहाँ देखा और तुम्हारे दर्शन करने चला आया । मैं आज से तुम्हारा धर्म-पुत्र हूँ ।"

देव ने तापसों से कहा - "हे तपस्वियो ! मैने पूर्वभव मे तुम पर क्रोध किया था । इसके लिए मुझे क्षमा करें और अपने श्रावक-व्रत में दृढ रह कर पालन करते रहे ।"

देव ने गुफा मे से अपना पूर्वभव का सर्प-शरीर बाहर निकाला और एक वृक्ष पर लटका कर कहा;-

"बन्धुओ ! यह क्रोध का साक्षात् परिणाम है । यह सर्प पूर्वभव मे कर्पर नाम का तपस्वी था । इसने क्रोधरूपी अग्नि में जल कर अपनी आत्मा को इतना कलुषित बना लिया कि जिससे इसे सप होना पडा । फिर इस सती की कृपा से धर्म का आचरण किया, तो ऐसा दैविक सुख प्राप्त कर लिया । इससे आप को शिक्षा लेनी चाहिए और कषाय रूपी अग्नि स बच कर, धर्म रूपी शान्त सरोवर म स्नान कर शीतल एव पवित्र बनना चाहिए ।"

तापस कुलपति ने ससार से पूर्ण निर्वेद पा कर, केवलज्ञानी भगवान् से प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की । भगवान् ने कहा- "तुम्हें आचार्य यशोभद्रजी प्रव्रजित करेंगे । मैंने भी उन्हीं से प्रव्रज्या ली थी ।"

कुलपति ने पूछा;- "आपके प्रव्रजित होने का कारण क्या था ?"

- "मैं कोशला नगरी के नल नरेश के अनुज कुबर का पुत्र हूँ । मैं विवाह कर के घर आ रहा था कि मार्ग में इन आचार्य के दर्शन हुए धर्मोपदेश सुना । मैंने अपनी शेष आयु के विषय म पूछा तो आचार्यश्री ने केवल 'पाँच दिन' बतलाये । मृत्यु को निकट आया जान कर मं भयभीत हुआ । आचाय ने कहा- "भय छोड कर धर्माचरण कराग, तो सुखी बनोगे ।" मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की और तपस्या धारण कर धर्मध्यान में लीन रहने लगा । मेरा ससार-लक्षी चिन्तन रुक गया और आत्म-लक्षी विचार चलते रहे । यहाँ आने के बाद मेरे घाती-कर्म नष्ट हा गए और केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ।"

इसके बाद ही केवली भगवान् का योग निरोध हुआ और भवोपग्राही कर्म नष्ट हो कर सिद्ध-गति को प्राप्त हुए ।

कुलपति ने यशोभद्र आचार्य से प्रव्रज्या ग्रहण की । उस समय दमयती ने भी भावोल्लास म दीक्षित हाने की प्रार्थना को । आचार्यश्री ने ज्ञानोपयाग से भविष्य जान कर कहा- "भद्रे ! अभी तरे प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क का उदय शेष है । तू पति के साथ वेदमोहनीय के उदय को सफल करेगी, इसलिए प्रव्रज्या के योग्य नहीं है ।"

आचार्य श्री ने विहार किया । दमयती व्रत-नियम और विविध प्रकार के तप करती हुइ सात वर्ष पर्यन्त उस गुफा म रही ।

एक बार किसी पथिक ने दमयती से कहा - "मैंने तुम्हारे पति नल को देखा है ।" ये शब्द सुनते ही दमयती को रोमाच हुआ । वह पति के विशेष समाचार जानने की उत्सुकता से पथिक की ओर बढी । किन्तु वह गुफा के बाहर आ कर लुप्त हो चुका था । दमयती उसकी खोज करती रही, परन्तु वह नहीं मिला । इस भटकन में वह गुफा मे आने का मार्ग भी भूल गई । वह गुफा की खोज म भटक रही थी कि उसके सामने एक राक्षसी प्रकट हुई और - "खाऊँ खाऊँ" करती हुई उसकी आर हाथ फैलाये बढने लगी । दमयती पहले तो डरी, किन्तु शीघ्र ही सावधान हो कर उसने कहा - "यदि मैं सती हूँ, श्रमणोपासिका हूँ और निर्दोष चरित्र वाली हूँ, तो हे राक्षसी ! तेरा साहस नष्ट हो जाय ।" इतना कहना था कि राक्षसी हताश हो कर लौट गई । उसने समझ लिया कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है । यह अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व रखती है । दमयती का यह उपसर्ग भी दूर हुआ ।

दमयंती मौसी के घर पहुँची

दमयती आगे बढ़ी । उसे बड़ी जोर की प्यास लग रही थी । पानी का कहीं पता नहीं चल रहा था । एक निर्जल पहाडी नदी (नाला) देख कर उसकी रेती में वह आगे बढती चली गई, किन्तु पानी का कहीं कुछ भी चिह्न नहीं दिखाई दे रहा था । प्यास का परीषह उग्र हो गया घबराहट बढ गई तब सती ने स्थिर मन से सकल्प किया - "यदि मैं अपने धर्म में दृढ हूँ, निर्दोष हूँ, तो यह निर्जला नदी सजला बन जाय ।" इतना कह कर रेती मे पाद-प्रहार किया । तत्काल पानी का प्रवाह निकल कर बहने लगा । दमयती उस शीतल और स्वादिष्ट जल का पान कर सतुष्ट हुई । फिर वह आगे बढी दुर्बलता से थकी हुई और धूप से घबराई हुई दमयती, एक सघन वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम ले रही थी । उधर से एक सार्थ के कुछ पथिक आये । उन्होने देवी के समान सौम्यवदना सम्भ्रांत महिला को भयानक वन मे देखा, तो आश्चर्य करने लगे । उन्होंने देवी से परिचय पूछा । दमयती ने कहा - "मैं सार्थ से बिछुडी हुई वन में भटक रही हूँ । मुझे रास्ता बता दीजिये ।" पथिका ने कहा - "सूर्य अस्त हो, उसी दिशा मे तापसपुर है । हमे जल ले कर अपन सार्थ में शीघ्र ही जाना है । अन्यथा तुम्हारे साथ चल कर मार्ग बता देते । यदि हमारे सार्थ में चलना हो तो चलो । हम तुम्हें किसी नगर में पहुँचा देंगे ।" दमयती उनके साथ चली और सार्थ मे पहुँच गई । सार्थवाह धनदेव दयालु और अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था । उसने सती का परिचय पूछा । वैदर्भी ने कहा - "मैं अपने पति के साथ अपने पीहर जा रही थी, किन्तु मेरा वणिक-पति, मुझे सोती हुई छोड़ कर कहीं चला गया । मैं अकेली भटक रही हूँ । आप मुझे किसी नगर में पहुँचा देंगे, तो उपकार होगा ।" सार्थवाह ने कहा - "बेटी ! मैं अचलपुर जा रहा हूँ । तुम हमारे साथ चलो । मैं तुम्हें सुखपूर्वक पहुँचा दूँगा ।" दमयती उस सार्थ के साथ सुखपूर्वक अचलपुर पहुँच गई । दमयती को नगर के बाहर छोड़ कर, सार्थ अपने मार्ग पर चला । दमयती को प्यास लगी थी । वह एक बावडी में पानी पीने उतरी । वहाँ एक चन्दनगोह ने आ कर उसका पाँव पकड़ लिया । दमयती डरी । तत्काल उसन नमस्कार महामन्त्र का स्मरण किया । इसके प्रभाव से सती का पाँव छोड़ कर गोह चला गया । जलपान कर के वैदर्भी वापिका से बाहर निकल कर वृक्ष की छाया में बैठ गई और नगर का बाह्य अवलोकन करने लगी । इतने म राज्य की दासियाँ पानी भरने के लिए वहाँ आई । मलिन वस्त्र और दुर्बल गात्र वाली अलौकिक सुन्दरी ऐसी दमयती को देखी। उन्होंने सोचा - 'यह कोई विपदा की मारी उच्च कुल की महिला-रत्न है ।' वे लौट कर रानी से कहने लगी - "स्वामिनी ! वापिका पर एक ऐसी सुन्दर युवती बैठी है जो किसी सम्माननीय कुल की अनुपम सुन्दरी है । वह अकेली है और विपत्तिग्रस्त है ।' रानी ने कहा - "तुम जाओ और उसे यहाँ ले आओ । वह चन्द्रवती की सखी हो जायगी ।" दासियें आई और दमयती से राजप्रासाद में चलने का आग्रह करने लगी । दमयती दासिया के साथ रानी के पास पहुँची । रानी चन्द्रयशा दमयती को

सगी मौसी थी, किन्तु दमयंती नहीं जानती थी और महारानी भी उसे नहीं पहिचान सकी । उसने बाल्य अवस्था में दमयंती को देखी थी । अचलपुर नरेश ऋतुपर्णजी, महाराज नल की आज्ञा म रह कर राज करते थे । दमयंती को देखते ही रानी आकर्षित हो गई और वात्सल्य भाव से आलिंगन कर अपने पास बिठाई । दमयंती रानी के चरणो मे नमन कर के बैठ गई । उसका मुख-चन्द्र आँसुआ से भीग रहा था। रानी ने सान्त्वना दी और परिचय पूछा । दमयंती ने अपना सही सही परिचय देना उपयुक्त नहीं समझ कर, एक व्यापारी की वन मे छुटी हुई पत्नी के रूप मे परिचय दिया । रानी चन्द्रयशा ने दमयंती को सतोष दिलाते हुए कहा - "मैं तुझे अपनी पुत्री राजकुमारी चन्द्रवती के समान समझूँगी । तू उसके साथ सुखपूर्वक रह ।" रानी ने राजकुमारी को बुला कर दमयंती का परिचय देते हुए कहा - "पुत्री ! इसे देख । यह मेरी भानजी दमयंती जैसी लगती है । मैने उसे बाल अवस्था में देखी थी । अब वह भी इतनी ही बडी होगी । परन्तु वह यहाँ कैसे आ सकती है ? वह तो हमारी स्वामिनी है जिनके राज्य म हमारा यह छोटासा राज्य है । वह यहाँ से १४४ योजन दूर है । वह अपने यहाँ आवे भी कैसे ?"

राजकुमारी चन्द्रवती के साथ दमयंती बहिन के समान रहन लगी । रानी चन्द्रयशा प्रतिदिन नगर के बाहर जा कर दीन और अनाथजनो को दान दिया करती थी । एक दिन दमयंती ने रानी से कहा,- "यदि आप आज्ञा दें, तो आपकी ओर से मैं दान दिया करूँ । सभव है याचकों में कभी मेरे पति भी हों, तो, मिल जायँ ।" रानी ने स्वीकृति दी और दमयंती दान करन लगी । वह याचका से अपने पति की आकृति का वर्णन कर के पूछती कि ऐसी आकृति वाला पुरुष तुम ने कहीं दखा है ?"

एक दिन वैदर्भी दान कर रही थी कि उधर से आरक्षक एक बन्दी को मृत्यु-दण्ड देने ले जाते दिखाई दिये । उसने आरक्षको को बुला कर बन्दी का अपराध पूछा । उन्होने कहा - इसने राजकुमारी की रत्नो की पिटारी चुराई । इसलिये इस मृत्यु-दड दिया जा रहा है ।" बन्दी ने वैदर्भी की ओर देख कर दया की याचना करते हुए कहा-

"दवी ! आप दया की अवतार हैं । मुझे आपके दर्शन हुए हैं । अब मुझे विश्वास है कि मैं दण्ड-मुक्त हो जाऊँगा । आप ही मेरे लिए शरणभूत हैं ।" दमयंती ने चोर को निर्भय रहने का आश्वासन दिया और उच्च स्वर से बोली - "यदि मैं सती हूँ, तो इस बन्दी के बन्धन तत्काल टूट जायँ ।" इतना कहना था कि सभी बन्धन तत्काल टूट गए । लोह-शृखला टूट कर भूमि पर गिर पडी । सती का जय-जयकार होने लगा । यह समाचार सुन कर राजा स्वय वहाँ आया । उसने बन्दी को मुक्त और शृखलाएँ टूटी हुई देख कर वैदर्भी से कहा -

"राज्य-व्यवस्था से अपराधी दण्डित नहीं हो, तो जनता मे अपराध बढते जाते हैं । सुख शाति धर्म नीति और सदाचार सुरक्षित रखने के लिए ही राज्य-व्यवस्था है । इसमें हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये ।"

- "तात । आपका कहना यथार्थ है । परन्तु मेरे देखते किसी मनुष्य का वध हो तो यह मुझे ठीक नहीं लगता, फिर यह तो मेरी शरण मे आया है । इसे तो अभयदान मिलना ही चाहिये । राजा ने

सती का आग्रह मान कर चोर को मुक्त घोषित कर दिया । मुक्त होते ही सर्व प्रथम उसने वैदर्भी के चरणो मे नमन किया । यह उसे जीवनदात्री माता मान कर प्रतिदिन प्रणाम करने आने लगा । एक दिन वैदर्भी ने उसका परिचय पूछा । उसने कहा -

"मैं तापसपुर के वसत सेठ का सेवक हूँ । मेरा नाम 'पिगल' है । व्यसनों में लुब्ध हो कर सेठ के घर में ही मैने चोरी की और बहुत-सा धन ले कर भागा । वन में डाकू-दल ने मुझे लूट लिया और मार-पीट कर चले गए । मैं यहाँ आ कर राजा का सेवक बन गया । एक दिन राजकुमारी के रत्नाभरण की पिटारी पर मेरी दृष्टि पडी । मैं ललचाया और पेटी उठा कर बगल म दबाई । फिर उत्तरीय वस्त्र ओढ कर चल दिया थोडी ही दूर गया होऊंगा कि सामने से राजा आ गये । मेरे हृदय में धसका हुआ । मेरी मुखाकृति देख कर राजा को सन्देह हुआ और मैं पकड लिया गया ।"

"जब आप तापसपुर छोड कर चली गई, तो वसत सेठ को गभीर आघात लगा । उन्होंने भोजन का त्याग कर दिया । फिर नगरजनो और आचार्य यशोभद्रजी के समझान स उन्होंने सात दिन के बाद भोजन किया । कालान्तर मे वसत सेठ महाराजा कुबेर की सेवा में महामूल्यवान भेट ले कर गए थे । महाराजा ने सेठ का सत्कार किया और उन्हें तापसपुर का राज्याधिकार और छत्र-चामर आदि प्रतिष्ठा चिह्न दे कर अपना सामन्त बना लिया ।"

वैदर्भी ने पिगल से कहा;- "तुमने पूर्वभव में दुष्कर्म किय थे, उसके फलस्वरूप तुम्हारी यह दशा हुई । अब आत्म-शुद्धि के लिए तुम ससार-त्याग कर पूर्ण सयमी बन जाओ ।" पिगल ने दमयती का वचन मान्य किया और उस नगर म पधारे हुए मुनिवर के समीप प्रव्रजित हो गया ।

दमयंती का भेद खुला

विदर्भ नरेश को कालान्तर में मालूम हुआ कि उनके जामाता नल नरेश, जुए म राज्य और समस्त वैभव हार कर, दमयती सहित वन म चले गए, तो राजा और रानी बहुत चिन्तित हुए । उनके जीवन में भी उन्हें सन्देह होने लगा । रानी रुदन करने लगी । बडी कठिनाई से धीरज बँधा कर राजा न अपने हरिमित्र नाम के चतुर अनुचर को खोज करने के लिए भेजा । हरिमित्र खोज करता हुआ अचलपुर पहुँचा । नल-दमयती के राज्य-च्युत वनगमन और वर्षों तक अज्ञात होने के कारण उन्हें भा उन क जीवन म सन्देह उत्पन्न हो गया । नरेश और रानी के हृदय शोकपूरित हो गए । रानी की आँखों में आँसू बहने लगे । सारा राज्यपरिवार उदास हा गया । शोकाकुल स्थिति में हरिमित्र को सभी भूल गए । वह क्षुधा से व्याकुल था । राज्य-प्रासाद से चल कर वह दानशाला म आया और भोजन करन बैठा । दमयती की अध्यक्षता म भोजन-दान दिया जा रहा था । हरिमित्र की दृष्टि दमयती पर पड़ी । वह चौंका और उठ कर दमयती के पास जा कर प्रणाम किया । उसन कहा -

-'देवी ! आप इस दशा मे ? यहाँ ? मैं क्या देख रहा हूँ ? आप की चिन्ता में महाराज और महारानी शोक सागर में निमग्न हैं । उनकी आज्ञा से मैं आपकी खोज मे भटकता हुआ यहाँ आया हू और आज आपके दर्शन कर कृतकृत्य हुआ हू । यह मेरा धन्य भाग है ।''

इतना कह कर हरिमित्र शीघ्र ही राजप्रासाद मे आया और राजा-रानी को दमयती के यही- उन्हीं के यहाँ होने की बात कह कर आश्चर्यान्वित कर दिया । रानी चन्द्रयशा सुनते ही दानशाला म आई और दमयती को आलिगन में ले कर बोली - ''पुत्री! तू सुलक्षणी एव उत्तम सामुद्रिक लक्षणों से युक्त है, यह जानती हुई भी मैं तुझे पहिचान नहीं सकी । मुझे धिक्कार है । मेरी पुत्री के समान होती हुई, तू मुझ से अपरिचित रही । मैंने तो तुझे बचपन मे देखी थी सो पहिचान नहीं सकी । परन्तु तु अपन मातृ-कुल मे ही अपने को क्यों छुपाये रही ? क्यो बेटी ! तेरे भाल पर जो तिलक था, वह कहाँ गया ?'' रानी ने जीभ से ललाट का मार्जन किया, तो तिलक दमकने लगा ।

रानी ने दमयती को स्नान करवा कर राजकुमारी के योग्य वस्त्रा- भूषण पहिनाये और राजा के समक्ष ले गई । उस समय सध्या का अन्धकार उस कक्ष मे फैल रहा था । दीपक प्रकटाने की तैयारी थी । दमयती के पहुँचते ही भवन-कक्ष प्रकाशित हो गया । राजा आश्चर्य करने लगा -'यह बिना दीपक के प्रकाश कैसा ?' दमयती से मिल कर राजा अत्यत प्रसन्न हुआ । राजा और रानी ने अपने पास बिठा कर दमयती से राज्य-त्याग और पति-वियोग का कारण पूछा । दमयती ने रोते हुए सारी घटना सुनाई । राजा-रानी ने दमयती को आश्वस्त किया । ये बातें हो ही रही थी कि - एक देव वहा उपस्थित हुआ और हाथ जोड कर दमयती से कहने लगा ,-

''भद्रे ! मैं पिगल चोर का जीव हूँ । राजा ने मुझे प्राण-दण्ड दिया था किंतु आपने मुझे बचाया और प्रेरणा दे कर सयमी बनाया । मैं विचरता हुआ तापसपुर के श्मशान में ध्यानस्थ खडा था । वायु के जोर से चिता की आग मेरी ओर बढी और घासफूस जलाती हुई मेरे शरीर को भी जलाने लगी । मैं ध्यान में दृढ रह कर, समभाव पूर्वक मृत्यु पा कर देव हुआ और दैविक सुख-प्राप्त कर सका । आपके उपकार का स्मरण, कर मैं आपके दर्शनार्थ आया हूँ । देवी! आपकी विजय हो, आप सुखी रहे । आपकी मनोकामना पूर्ण हो ''- देव प्रणाम कर के अन्तर्धान हो गया । इस घटना ने राजा ऋतुपर्ण को भी प्रभावित किया और उन्होंने भी देवी दमयती से आर्हत्-धर्म अगीकार किया ।

दमयंती पीहर में

हरिमित्र ने राजा-रानी से निवेदन कर, दमयती को ले जाने की आज्ञा मागी । माता-पिता की चिन्ता का विचार कर राजा ने वैदर्भी को विदा करना उचित समझा और रथ वाहन और सेना तथा मार्ग के भाजनादि की पूरा व्यवस्था के साथ विदा कर दिया । एक शीघ्र-गति दूत आगे समाचार दने के लिए भी भेज दिया । दमयती का आगमन सुन कर, राजा-रानी को प्रसन्नता हुई । वे उसी दिन

वाहनारूढ हो कर दमयती की ओर चले । माता-पिता को आते हुए देख कर, दमयती वाहन से नीचे उतरी और पिता की ओर दौडी । भीम राजा भी अश्व से नीचे कूद कर पुत्री की ओर दौडे और अंक में भर लिया । पिता-पुत्री की आँखो मे से आँसू बहने लगे । माता-पुत्री के मिलन ने तो वन में ही करुणा रस का झरना बहा दिया । वे दहाडे मार कर रोने लगी । शोकावेग कम होने पर, वाहन में बैठ कर राजभवन मे आये । राजा ने हरिमित्र पर प्रसन्न हो कर पाँच सौ गाँव जागीर मे दिये और कहा - "यदि तू नल राजा को खोज कर लावेगा तो तुझे आधा राज्य दिया जायगा ।" राजा ने दमयती के आगमन का प्रसन्नता में उत्सव मनाया । सारे नगर में एक सप्ताह तक उत्सव हुआ । विदर्भ नरेश नल की खोज में पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न करने लगे ।

नल की विडम्बना और देव-सहाय्य

दमयती को सोती हुई छोड कर जाने के बाद नल इधर-उधर वन मे भटकता रहा । खाने को वन के फल-फूलादि के सिवाय और क्या मिल सकता था ? थकने पर कहीं वृक्ष के नीचे पत्थर पर, हाथ का सिरहाना कर के सो रहते । सर्दी-गर्मी और वर्षा के कष्ट सहन करने ही पड़ते थे । वन के भयंकर जीवो से तो वे नहीं डरते थे, किन्तु अचानक आक्रमण की सभावना स सावधान तो रहना ही पडता था। इस प्रकार दिन और महिने ही नहीं, वर्ष बीत गए । एक बार वे वन मे भटक ही रहे थे कि उन्हें कुछ दूर धूआँ उठता हुआ दिखाई दिया । बढते हुए उस धूम-समूह ने आकाश को आच्छादित कर लिया, फिर उसी स्थान पर अग्नि-ज्वाला प्रकट हुई और विकराल बन गई । जलते हुए यासा की गाँठों के स्फोट पशुओं के आर्त्तनाद और पक्षिया के कोलाहल से सारा वन-प्रदेश भयाक्रान्त हो गया । इतने में एक तीव्र चित्कार के साथ नल को ये शब्द सुनाई दिये,-

"हे इक्ष्वाकु-वशी क्षत्रियोत्तम नल नरेश ! मेरी रक्षा करो । आप परोपकारी हैं, दयालु हैं मुझे बचाइये । मुझे बचाने में आपका भी हित है । शीघ्रता करें । मैं जल रहा हूँ ।"

इस आर्त्त पुकार को सुन कर नल शीघ्रता से शब्दानुसार गहन लताकुज मे आया । उसने देखा - एक बड़ा भुजग "बचाओ, रक्षा करो"- बोल रहा है । नल आश्चर्यान्वित हो कर पूछने लगा -

"सर्पराज । तुम मुझे और मेरे वश को कैसे जान गए और मनुष्य की भाषा मे किस प्रकार बोलते हो ?"

- "मैं पूर्वभव में मनुष्य था । मुझे अवधिज्ञान है । इस से मैं पूर्वभव की मानवी भाषा जानता हूँ और आपका परिचय भी मुझे इस ज्ञान से ही हुआ है ।"

नल ने धन-लता पर काँपते हुए सर्प पर अपना उत्तरीय वस्त्र फेंका । सर्प, वस्त्र का किनारा पकड कर लिपट गया । नल ने अपने हाथ में रहे हुए वस्त्र के छोर को खिंच कर साँप को बाहर निकाला और उठा कर निर्भय स्थान पर ले जा कर छोडने लगा । नल ज्योंही साँप को वस्त्र पर स नीचे

उतारने लगा कि सर्प ने नल के हाथ में डस लिया । नल के शरीर में जलन के साथ घबराहट व्याप्त हो गई । नल ने सर्प से कहा,-

"आखिर तुम्हारा जाति-स्वभाव, दूध पिलाने वाले को विषाक्त करने का है न ? तुम ने उपकार का बदला अच्छा दिया ।"

नल के शरीर मे विष का प्रभाव बढने लगा । उसका वर्ण पलट गया, केश पीले और रूक्ष हो गए, होंठ बढ गए कमर झुक कर कूबड निकल आई, हाथ-पाँव दुर्बल और पेट मोटा हो गया । उस का सारा शरीर बीभत्स हो गया । नल अपना भयानक रूप देख कर सोचने लगा - "इस जीवन से तो मृत्यु ही भली ।" उसने सोचा - 'अब सयम स्वीकार कर, शेष भव को सफल करना ही श्रेयस्कर होगा ।'

नल सोच ही रहा था कि सर्प ने अपना रूप पलटा और दिव्य अलकारो तथा प्रभाव से देदीप्यमान देव रूप धारण कर नल से कहने लगा -

"वत्स ! चिन्ता मत कर । मैं तेरा पिता निषध हूँ । मैं सयम का पालन कर के देव हुआ । जब मैंने अपने ज्ञान मे तुझे इस दशा में देखा, तो तेरे उपकार के लिए यहाँ आया और सर्प का रूप बना कर तुझे डसा । अभी तेरा प्रच्छन्न रहना ही हितकारी है । जिन राजाओ को जीत कर तूने अपने आधीन बनाया था, वे सब तुझ-से शत्रुता रखते हैं । तुझे मूल रूप में देख कर, वे उपद्रव करते । उनके उपद्रव से बचाने के लिए मैने सर्प के रूप में डस कर विकृत बना दिया । अब कोई भी तुझे नहीं पहिचान सकेगा । तू ससार त्याग कर निर्ग्रंथ बनने का विचार कर रहा है, परन्तु तुझ पर उदय-भाव प्रबल है । तू फिर यहीं राज्याधिकार पा कर चिरकाल तक भोग करेगा । जब दीक्षा का शुभ समय आ तब मैं तुझे बतला दूँगा । अभी तू अपने अशुभोदय का शेष काल पूरा कर ले । मैं तुझे यह श्रीफल और पेटिका देता हूँ । इन्हें यत्नपूर्वक रखना । जब तू मूलरूप मे आना चाहे, तब इस श्रीफल को फोडना, इसमे से निर्दोष देवदूष्य निकलेंगे और पेटिका मे से दिव्य आभूषण प्राप्त होंगे । इनको धारण करते ही तेरा मूल रूप प्रकट होगा और तू देव-तुल्य दिखाई देने लगेगा ।"

- "पिताजी ! इस कुल-कलक पर आपका इतना स्नेह है कि अपना दिव्य-सुख छोड कर मुझ पर उपकार करने यहाँ पधारे और इतना कष्ट किया" - नल, नम्रतापूर्वक गद्‌गद् हो कर बोला ।

- "पुत्र ! व्यसन बहुत बुरे होते हैं । इस व्यसन के कारण तू लाखो वर्षो तक जन-चर्चा का विषय बनता रहेगा । बीती बातो को भूल कर सावधान हो जा । कुछ काल के बाद पुन तेरा भाग्योदय होगा । धर्म का अवलबन कभी मत छोड़ना । धर्म ही अभ्युदय का कारण है ।"

- "पिताजी ! आपकी पुत्रवधू दमयती कहाँ और किस दशा म है ?"

देव ने दमयती का वृत्तात सुनाने के बाद कहा - "अब वह अपने पीहर में है । अब तू भी वनवास छोड कर किसी नगर मे जा और अपना विपत्ति-काल वहीं पूरा कर । तू जहाँ जाना चाहे वहाँ मैं तुझ पहुँचा दूँ ।"

नल ने सुसुमार नगर पहुँचाने का कहा । देव ने उसे क्षणमात्र में सुसुमार नगर पहुँचा दिया और अपने स्थान लौट गया ।

नल का गज-साधन

नल ने नगर मे प्रवेश किया । गजशाला का एक हाथी मदोन्मत्त हो बन्धन तुडा कर, नगर को आतकित करता हुआ घूम रहा था । नागरिकजन भयभीत हो कर घरों में घुस गए थे । नगर का आवागमन रुक गया था । बाजार सुनसान थे । हस्तिपाल (महावत) भी उस से छुपे हुए रहते थे । वह किसी के घर का खभा उखाडता, किसी का छप्पर गिराता, बडे-बडे पत्थर उठा कर फेंकता, गाडी रथ आदि को सूँड से पकड कर पछाड़ता, तोडता-मरोडता और वृक्षो का विनाश करता हुआ घूम रहा था । गाय-भैंस आदि पशु भी उससे डर कर भाग रहे थे । कहीं कोई गधा, बकरा, बछडा या कुत्ता उसकी चपेट में आ जाता, तो वह उसे भी घास के पूले के समान पकड कर उछाल देता । मनुष्य यदि उसकी पकड में आ जाता, तो उसकी एक टाँग, पाँव के नीचे दबाता और दूसरी टाँग, सूँड से पकड कर चीर ही देता । इस प्रकार कालरूप बना हुआ हाथी, सारे नगर को भयभीत कर रहा था । दधिपर्ण नरेश के हाथी को वश में करने के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए । उन्होने उद्घोषणा करवाई;- "यदि कोई व्यक्ति गजेन्द्र को वश में कर लेगा तो उसे मैं इच्छित पुरस्कार दूँगा ।" यह उद्घोषणा नल ने सुनी । उसने हाथी को पकडने की चुनौती स्वीकार कर ली । उस समय हाथी उसी की ओर आ रहा था और नल निर्भयतापूर्वक हाथी की ओर बढ रहा था । गवाक्षो, खिडकियां और छतों पर चढे हुए लोग, नल को हाथी की ओर जाते देख कर चिल्ला उठे;-

"अरे ओ कूबडे ! क्या अन्धा है, या मरना चाहता है, जो मृत्यु के सामने जा रहा है ? भाग, पीछे की ओर भाग नहीं तो अभी कुचला जायगा ।"

नल नि सकोच साहसपूर्वक हाथी की ओर बढता रहा और निकट पहुँच कर, उसे भुलावा दे दे कर कभी सूँड और कभी पूँछ की ओर छेडने लगा । जब हाथी, सूँड फैला कर नल को पकड़ने लगता, तो नल दूसरी ओर खिसक जाता । इस प्रकार चक्कर दे-दे कर नल ने गजराज को थका दिया, खेदित कर दिया और फिर लपक कर उसकी पीठ पर चढ बैठा, फिर कुभस्थल तथा कपोल पर मुष्ठि-प्रहार कर उसे ढीला कर दिया । नल का साहस देख कर लोग विस्मित हो गए । राजा राजभवन की छत पर चढ कर यह दृश्य देख रहा था । हाथीवाना ने नल का पराक्रम देखा, तो वे भी चकित रह गए । एक हाथीवान ने निकट आ कर, नल की ओर अकुश उछाल दिया और हस्तिशाला की ओर हाथी को ले चलने का सकेत किया । नल से प्रेरित हाथी, अपने स्थान पर आ कर बध गया । नल के पराक्रम से प्रसन्न हो कर नरेश ने अपने गले का हार उतार कर नल के गले में पहिना दिया । जनता ने कूबड़े का जयघोष से स्वागत किया । दधिपर्ण नरेश ने नल की प्रशसा करते हुए कहा -

"हे कलाविद् ! तुम गजवशीकरण कला मे पारगत हो । तुमने मुझे और सारे नगर को सकट से उबार लिया । हम सब तुम्हारे आभारी हैं । लगता है कि तुम विशिष्ट व्यक्ति हो । कहो, गजसाधन कला के सिवाय और किन-किन कलाओ में तुम निपुण हो ?"

-"महाराज ! मैं सूर्य्यपाक भोजन बना सकता हूँ ।"

सूर्य्यपाक का नाम सुन कर राजा चकित हुआ । उसने तुरन्त ही सामग्री मँगवाई । नल ने सामग्री एकत्रित कर, उसके पात्र सूर्य्य के ताप मे रखे और सौरी विद्या का स्मरण किया । उसी समय दिव्य भोजन तैयार हो गया । राजा ने अपने परिवार के साथ रूचिपूर्वक भोजन किया । यह भोजन श्रम से उत्पन्न थकावट, अशक्ति और दुर्बलता मिटा कर शक्ति, तुष्टि एव प्रसन्नता प्रदान करने वाला है । भोजन करने के बाद राजा को विचार हुआ कि 'सूर्य्यपाक तो नल नरेश ही बना सकते हैं और कोई इस विद्या को नहीं जानता ।' चिरकाल तक नल की सेवा मे रहने के कारण दधिपर्ण यह बात जानता था । दधिपर्ण ने नल से कहा,-

"भाई ! सूर्य्यपाक भोजन तो महाराजाधिराज नल ही बना सकते हैं । उनके सिवाय अन्य कोई यह विद्या नहीं जानता । क्या तुम नल राजा तो नहीं हो और रूप बदल कर यहाँ आये हो ? परन्तु वे तो अत्यत प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले हैं और यहाँ से दो सौ योजन दूर हैं और वे तो महाराजाधिराज हैं । यहा इस रूप में एकाकी नहीं आ सकते । मुझे आश्चर्य है कि तुमने यह विद्या किससे प्राप्त की और तुम कौन हो ?"

"महाराज ! मैं कोशल नरेश नल राजा का 'हुडिक' नामक रसोइया हूँ । मैने यह विद्या नल नरेश से ही सीखी है । कूबर ने द्यूत में सारा राज्य जीत कर, नल को वनवासी बना दिया । उनके राज्य-त्याग के बाद मैं भी वहाँ से निकल गया और इधर-उधर फिरता हुआ यहाँ चला आया । कूबर मायावी और धूर्त है । वह योग्यता का आदर करने वाला नहीं है । इसलिए मैं वहाँ नहीं रहा ।"

नल नरेश की दुर्दशा सुन कर राजा दु खी हुआ उनके गुणो का स्मरण कर रोने लगा । राजा का दुःख और रुदन देख कर, नल मन ही मन प्रसन्न हुआ और राजा के स्नेह से परिचित भी । दधिपर्ण ने हुडिक को एक लाख टक (सिक्के) और पाँच सौ गाँव दिये । नल ने गाँव स्वीकार नहीं किये परन्तु सिक्के ले लिये । राजा ने और कुछ माँगने के लिए कहा, तो नल ने कहा - "यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आपके राज्य की सीमा म से जीव-हत्या और मदिरापान का सर्वथा निषेध कर दीजिए । इससे पाप मिटेगा और लोग सुखी रहगे ।' राजा ने उसी समय अपने राज्य में पशु-पक्षियो की हत्या और मदिरापान की निषेधाज्ञा की घोषणा करवा दी ।

कालान्तर में दधिपर्ण नरेश ने राज्य सम्बन्धी कार्यवश अपना दूत विदर्भ नरेश के पास भेजा । प्रसगोपात दूत ने राजा भीम से कहा - "हमारे यहाँ एक ऐसा रसोइया आया है, जो महाराजा नल से सीखी सूर्य्यपाक भोजन बनाने की विद्या जानता है ।" यह बात दमयती ने सुनी । उसने पिता से कहा-

"पिता श्री ! किसी चतुर दूत को भेज कर पता लगाइये कि यह सूर्य्यपाक रसोई बनाने वाला रसोइया कैसा और कौन है ? यह विद्या आर्यपुत्र के सिवाय और कोई नहीं जानता ।"

राजा ने एक कुशल दूत भेजा । दूत ने रसोइये के शरीर की दशा देखी, तो हताश हो गया । कुछ विचार के बाद दूत ने उस कूबड के सामने दो श्लोकों का उच्चारण किया, जिसमें नल नरेश की निन्दा की गई थी । उसने कहा – "ससार में जितने भी निर्दय, निर्लज्ज, नि सत्त्व और विश्वासघाती लोग हैं उन सब म नल सर्वोपरि है जो कि अपनी स्नेहशीला सती पत्नी को भयानक वन में अकेली छोड़ कर चल दिया । समझ म नहीं आता कि उस दुष्ट का हृदय इतना कठोर और क्रूर क्यों हो गया ? उस अधम ने यह भी नहीं सोचा कि 'मुझ पर पूर्ण विश्वास रखने वाली इस पवित्र स्त्री के साथ विश्वासघात कैसे करूँ ? भयानक पशुआ से भरे इस वन म वह कैसे जीएगी ?' इस प्रकार नल की निन्दा और दमयती की करुणाजनक दशा का वणन सुन कर कूबडे को रोता देख कर दूत ने पूछा;– "तू क्यों रोता है ?" कूबड ने कहा – "मेरा हृदय कच्चा है । करुणा रस सुन कर मुझे रोना आता है ।" दूत ने अपने आगमन का कारण बताते हुए कहा– "यहाँ के दूत से तुम्हारे सूर्य्यपाक भोजन बनाने की विद्या की बात सुन कर दमयती की प्रेरणा स भीम राजा न मुझे तुम्हे देखन भेजा । मुझे शकुन भी बहुत अच्छे हुए । किन्तु तुम्हें देख कर तो मैं हताश हो गया । ये अच्छे शकुन और मेरा श्रम व्यर्थ गया । कहाँ देव समान नल नरेश और कहाँ तुम्हारा कूबडा और कुरूप शरीर ?" नल, दमयती का स्मरण कर विशेष रुदन करने लगा । उसने दूत का बहुत सत्कार किया और दधिपर्ण नरेश से पुरस्कार में प्राप्त आभूषण भी द दिय । दूत वहाँ से चल कर कुडिनपुर आया और यात्रा का सारा वर्णन राजा तथा दमयती को सुना दिया । विशेष में यह भी कहा कि – "मदोन्मत्त हाथी को वश मे करने क निमित्त से कूबड़े का दधिपर्ण राजा से सम्पर्क हुआ ।"

दूत की बात सुन कर दमयती ने कहा – "पिताजी ! स्वामी का विद्रूप विपत्ति रोग, आहारदोष अथवा वन की भयकर वेदना से हुआ होगा, अन्यथा उनके सिवाय ससार में ऐसा कौन है जो सूर्यपाक विद्या जानता हो, गजवशीकरण में सिद्धहस्त हो और निस्पृहतापूर्वक इतना दान कर सकता हो ? ये विशेषताएँ उन्हीं में हैं । इसलिए किसी भी प्रकार उस कुब्ज को यहाँ लाना चाहिए । जिसस मैं उनकी इगिताादि चेष्टाओं से परीक्षा करके वास्तविकता जान लूँ ।"

दमयंती के पुनर्विवाह का आयोजन

विदर्भ नरेश राजा भीम कूबड़ को बुलाने का उपाय सोचने लगे । उन्हें विचार हुआ – 'यदि दमयती के पुनर्विवाह का औपचारिक आयोजन किया जाय और स्वयवर क निमित्त से तत्काल राजा दधिपर्ण को बुलाया जाय तो काम बन सकता है । दधिपर्ण,दमयती पर पहले ही लुब्ध था । उस समय वह उसे नहीं मिल सकी तो अब वह उसे प्राप्त करने अवश्य ही आएगा और यदि कूबड़ा स्वय नल

होगा, तो दमयंती का पुनर्विवाह सुन कर, विचलित हो कर साथ ही आएगा । फिर वह नहीं रुक सकेगा । दूसरी बात यह कि नल ही एक ऐसा व्यक्ति है जो अश्व की विशेषता तथा हृदय जानता है । थोडे समय में लम्बा मार्ग पार करने का सामर्थ्य नल मे ही है । इससे भी उसकी पहिचान हो सकेगी । राजा ने पुत्री को अपनी योजना बताई और एक विश्वस्त दूत के साथ राजा दधिपर्ण को, दमयंती के स्वयंवर मे सम्मिलित होने का आमन्त्रण दिया । आमन्त्रण मे स्वयंवर का समय इतना निकट बताया कि राजा, तत्काल चल दे और रथ-चालक अत्यंत निपुण हो तथा घोडे शीघ्रगामी हो, तो भी पहुँचना कठिन था । आमन्त्रण पा कर पहले तो दधिपर्ण प्रसन्न हुआ । उसने सोचा - यह दैव की अनुकूलता है कि निष्फल हुआ मनोरथ अकल्पित रूप से अनायास ही सफल एवं सिद्ध हो रहा है । उसके हृदय में हर्ष का आवेग उत्पन्न हुआ । किन्तु तत्काल ही वह निराशा के झूले मे झूलने लगा । 'पंचमी तो कल है और स्थान सैकडो योजन दूर है । जिस मार्ग को सन्देशवाहक कई दिना चल कर पहुँच सका उसे मैं डेढ दिन मे कैसे पूरा कर सकूँगा ।' राजा, चिन्ता-सागर मे निमग्न हो गया और उच्चाटन के कारण करवट बदलने लगा ।

विदर्भ के दूत से दमयंती के पुनर्लग्न की बात सुन कर नल के हृदय पर वज्रपात के समान आघात लगा । उसका हृदय कुंठित हो गया । थोडी देर में हृदय को स्थिर कर के उसने विदर्भ जाने का निश्चय किया और नरेश के पास आया । नरेश चिन्ता-सागर म गोते लगा रहे थे । नल ने चिन्ता का कारण पूछा । दधिपर्ण ने बताया । नल ने कहा - " आप निश्चिंत रहें और मुझे दो अच्छे घोडे और रथ दीजिये । मैं आपको निर्धारित समय के पूर्व ही पहुँचा दूँगा । दधिपर्ण का साहस बढा । नल को इच्छित अश्व और रथ मिल गया । दधिपर्ण तत्काल आवश्यक सामग्री और अपने छत्र-चामर धारक आदि चार सेवकों के साथ रथ में बैठा । नल ने देव-प्रदत्त श्रीफल और आभूषण की पेटिका को एक वस्त्र से कमर पर बाँधी और रथारूढ हो कर मन्त्राधिराज का स्मरण कर प्रस्थान किया । रथ देव-विमान के समान शीघ्रगति से चला । अति वेग से चलते हुए रथ से वायुवेग से दधिपर्ण का उत्तरीय वस्त्र उड गया । राजा ने नल को रथ रोक कर वस्त्र लाने का कहा । नल न कहा - "महाराज ! अब तक वस्त्र पच्चीस योजन दूर हो गया । अब लौटना अनुचित होगा ।" राजा ने दूर से एक अक्ष (बेडा) का वृक्ष देखा, जिस पर भरपूर फल लगे हुए थे । राजा ने नल स कहा-

- "मैं बिना गिने ही इन फलो की संख्या बता सकता हूँ । लौटते समय तुम्हें यह कौतुक बताऊँगा ।"

- "आप समय की चिन्ता नहीं करें । मैं एक ही मुष्टिप्रहार से सभी फल गिरा दूँगा और आपका समय पर ही पहुँचा दूँगा "- नल ने कहा ।

"मैं कहता हूँ कि सभी फल अठारह हजार हैं । अब तू अपनी कला बता ।"

नल ने एक मुष्टि-प्रहार से सभी फल गिरा दिये जो पूरे अठारह हजार निकले । दोनो एक-दूसर

की विद्या से चकित थे । राजा के आग्रह से नल ने अश्व-हृदय-प्रज्ञा विद्या प्रदान की और राजा ने सख्यापरिज्ञान विद्या नल को दी । वहाँ से चल कर प्रात काल होते ही राजा का रथ विदर्भा नगर के निकट पहुँच गया । दधिपर्ण अत्यत प्रसन्न हुआ ।

पति-पत्नी मिलन और राज्य प्राप्ति

वैदर्भी ने रात्रि के अतिम भाग में एक स्वप्न देखा - 'निर्वृत्ति देवी, कोशला नगरी का उद्यान आकाश-मार्ग से यहाँ ले आई । उस उद्यान में पुष्प और फल से समृद्ध एक आम्रवृक्ष भी था । देवी की आज्ञा से मैं उस वृक्ष पर चढ गई । देवी ने मेरे हाथ मे एक विकसित कमल पुष्प दिया । मेरे वृक्ष पर चढते ही उस पर बैठा हुआ पक्षी गिर कर भूमि पर पडा' - दमयती ने स्वप्न का वृत्तात पिता से कहा ।

"पुत्री ! यह स्वप्न अत्यत शुभ फल प्राप्ति का सन्देश है । निर्वृत्ति देवी के दर्शन तेरे उदय में आये हुए पुण्य-पुज की सूचना देता है । कोशला का उद्यान यहाँ लाने का अर्थ है - पुन कोशला के राज्य की प्राप्ति । आम्रवृक्ष पर तेरा चढना पति के समागम का सूचक है और पक्षी का पतन, कुबेर का राज्य-भ्रष्ट होना बतला रहा है । प्रात काल का स्वप्न तुझे आज ही अपना फल प्रदान करेगा । अब तेरी विपत्ति का अत होने ही वाला है ।"

पिता-पुत्री बातें कर ही रहे थे कि उद्यान-पालक ने आ कर निवेदन किया - "महाराज दधिपर्ण नरेश आये हैं और उद्यान में ठहरे हैं । भीम राजा उसी समय उद्यान में आये और दधिपर्ण से सुहृद मित्र की भाति - आलिगन बद्ध हो कर मिले । उनका यथोचित सत्कार किया । भीम ने कहा - "हमने सुना है कि - आपका कूबडा रसोइया सूर्यपाक भोजन बनाना जानता है । यदि यह बात सत्य है और वह साथ हो तो उसे वह भोजन बनाने की आज्ञा दीजिए । हमारी इच्छा वह भोजन करने की है । राजा ने कूबडे को आज्ञा दी । नल ने थोडी ही देर में सूर्यपाक भोजन बना दिया । सभी भोजन करने बैठे । दमयती ने भोजन का आस्वाद लेते ही समझ लिया कि यह पतिदेव का ही बनाया हुआ है । दमयती ने पिता को बुला कर कहा -

"पिताजी ! मुझे एक ज्ञानी महात्मा ने कहा था कि सूर्यपाक भोजन, इस काल में भरतक्षेत्र में केवल नल नरेश ही बना सकते हैं, दूसरा कोई मनुष्य यह विद्या नहीं जानता । इसलिए मुझे विश्वास है कि यह कूबड़ा आप के जामाता ही हैं । किसी कारण से वे इस अवस्था में रहे हुए हैं । इसकी एक परीक्षा यह भी है - यदि ये मेरे पति ही होंगे, तो इनकी अगुली के स्पर्श से मुझे रोमाञ्च हो उठेगा । आप उन्हें मेरे पास भेजें और मेरे तिलक करने का कहें ।"

राजा ने कूबड़े का एकान्त में बुला कर पूछा- "तुम कौन हो, सच बताओ ।"

- "महाराज ! मैं जो भी हूँ, आपके सामने हूँ । इसमें छुपाने की बात ही क्या है ?"

"नहीं, तुम कुबडे रसोइये नहीं, नल नरेश हो ।"

-"नहीं, नहीं, कहा देवतुल्य नल नरेश और कहाँ मैं दुर्भागी कूबडा । आप भ्रम मे नहीं रहे । मैं सच कहता हूँ ।"

राजा उसे आग्रहपूर्वक अन्त पुर मे ले गया और दमयती के तिलक करने का कहा । बडी कठिनाई से नल ने स्वीकार किया और बहुत ही हलके हाथ से दमयती के वक्षस्थल को स्पर्श किया । अगुली का स्पर्श होते ही दमयती के हृदय मे सुखानुभूति हुई और वह रोमाञ्चित हो गई । दमयती आश्वस्त हुई । उसने कहा,-

"प्राणेश ! वन में तो आप मुझे सोई हुई छोड कर भागने में सफल हो गए थे, परन्तु अब तो मैं जाग रही हूँ । आपका यह विद्रूप मुझे भूलावा नहीं दे सकता । मैं अब आपको नहीं जाने दूँगी । आज प्रातःकाल के मेरे स्वप्न ने मुझे आपका परिचय दे दिया है । सुसुमारपुर से आपको यहाँ बुलाने के लिए ही मेरे स्वयवर का आकर्षण उपस्थित किया था । छोडिये अब इस छद्मवेश को ।"

नल ने कमर खोल कर श्रीफल निकाला और उसे फोड कर दिव्य वस्त्र प्राप्त कर पहने तथा आभूषण धारण किये । वह अपन प्रकृत रूप में प्रकट हो गया । दमयती के हर्ष का पार नहीं रहा । वह पति के आलिगन में बद्ध हो गई । पत्नी के पास से चल कर नल बाहर आया । उसे देख कर भीम राजा अत्यत प्रसन्न हो कर आलिगन बद्ध हुआ और नल का हाथ पकड कर सिहासन पर बिठाया । इसके बाद वह स्वय आज्ञाकारी के समान हाथ जोड कर बोला - "आप मेरे स्वामी हैं । आज्ञा दीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?" दधिपर्ण भी नल नरेश को नमस्कार कर बोले - "आप मेरे स्वामी हैं । अनजान में मुझ-से आपके प्रति अपराध हो गया है । मैं क्षमा चाहता हूँ ।"

नल नरेश ने दधिपर्ण का सम्मान करते हुए कहा - "राजन् ! आप तो मेरे हितैषी हैं । आपके प्रेम को मैं उसी रूप में समझ सका हूँ । आप मेरी ओर से निश्चिंत रहें ।"

उत्सवो का आयोजन हुआ और बधाइयाँ बँटने लगी ।

कालान्तर में धनदेव सार्थवाह, समृद्धिपूर्वक भेट ले कर भीम राजा के समीप आये । धनदेव को अपनी पुत्री दमयती का उपकारी जान कर, बन्धु के समान सत्कार किया । पुत्री की इच्छा के अनुसार राजा ऋतुपर्ण रानी चन्द्रवती और तापसपुर के राजा वसतशेखर को आमन्त्रण दिया गया । भीम ने उनका स्नेहपूर्वक सत्कार किया । वे एक मास तक वहाँ आनन्दपूर्वक रह ।

एक दिन वे सभी भीम राजा की सभा मे बैठे थे कि एक देव प्रकट हुआ और वैदर्भी को प्रणाम कर के कहने लगा - "मैं विमलमति तापसाचार्य हूँ । आपके प्रतिबोध से धर्म की आराधना कर के मैं सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ और आपके उपकार का स्मरण कर यहाँ आया हूँ ।" देव सात कोटि स्वर्ण की वृष्टि कर के चला गया ।

वसतशेखर, दधिपर्ण, ऋतुपर्ण, भीम और अन्य बलवान नरेशों ने मिल कर नल का राज्याभिषेक किया और शुभ मुहूर्त मे सभी राजाओ और उसकी सेना सहित नल नरेश ने अयोध्या की ओर विजय-

प्रयाण किया । बडी सेना के साथ नल का आगमन सुन कर, कूबर घबडाया । अयोध्या पहुँच कर नल ने कूबर के पास एक दूत भेज कर पुनः द्युत-क्रीडा के लिए आमन्त्रण दिया । कूबर को युद्ध के बदले जुआ खेलना और जुए में नल को हरा पुनः अकिञ्चन करके निकालना सरल लगा । कूबर आमन्त्रण स्वीकार कर नल के पास पहुँचा । "पराजित, विजय पाने वाले को अपना सर्वस्व अर्पण कर देश छोड़ दे" - यह खेल की शर्त रही । नल के पुण्य का प्रबल उदय था और कूबर की पुण्य-प्रभा क्षीण हो रही थी। कूबर पराजित हुआ । किन्तु उदारमना महाराजा नल ने कूबर को क्षमा प्रदान कर पुनः युवराज पद पर स्थापित किया । नल नरेश पुनः राज्यश्री से युक्त हो सुखभोग में जीवन व्यतीत करने लगे ।

कालान्तर में निषधराज के जीव-देव ने आ कर नल नरेश को प्रतिबोध देते हुए कहा -"पुत्र ! अब आत्म-साधना का समय आ गया है । सावधान हो और भोग छोड कर त्याग-मार्ग पर चलो ।" उस समय जिनसेनाचार्य वहाँ विराजते थे । वे अवधिज्ञानी थे । राजा ने आचार्य का उपदेश सुना और अपने पूर्वभव के दुष्कर्म का विवरण पूछा । आचार्य श्री ने कहा - "तैने मुनि को क्षीर दान किया था, जिसके फलस्वरूप राजऋद्धि प्राप्त की । किन्तु मुनियों पर बारह घडी तक क्रोध किया जिसके फलस्वरूप तुम्हें बारह वर्ष तक दुःख भोगना पडा । राजा सावधान हो गया और अपने पुत्र पुष्कर को राज्य-भार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । दमयंती भी प्रव्रजित हो गई । साधना करते-करते कई वर्ष व्यतीत हो गये । एक बार नल मुनि के मन में काम-विकार उत्पन्न हुआ और दमयंती पर आसक्ति हुई। आचार्य ने विकार की दशा देख कर नल मुनि का त्याग कर दिया । इस बार भी उनके पिता देव ने आकर स्थिर किया । नल मुनि ने अनशन किया । इनके अनशन की बात जान कर सती दमयंती ने भी अनुराग वश अनशन किया ।"

लोकपाल कुबेर कहने लगे —"हे वसुदेव! नल मुनि आयुपूर्ण कर कुबेर देव हुए । वह मैं हूँ और दमयंती साध्वी आयुपूर्ण कर मेरी देवी हुई । फिर वहाँ का आयुपूर्ण कर राजकुमारी कनकवती हुई। इसके प्रति आसक्ति के कारण मैं यहाँ आया हूँ । अब तुम इसे सुखी रखना । यह इसी भव में कर्म क्षय कर के मुक्त हो जायगी । वसुदेव, कनकवती से लग्न कर सुखभोग करने लगे ।

वसुदेव का हरण और पद्मश्री आदि से लग्न

वसुदेवजी निद्रा-मग्न थे कि उनका शत्रु सूर्पक * विद्याधर आया और उनका हरण कर के ले उड़ा । सावधान होते ही वसुदेव ने मुष्टि-प्रहार कर सूर्पक की पकड़ से छुटकारा पाया । वे गोदावरी नदी में गिरे । तैर कर नदी के किनारे आये और तटवर्ती नगर कोल्लाहपुर में प्रवेश किया । वहाँ भी वे पद्मरथ नरेश की पुत्री पद्मश्री के पति हुए और सुखपूर्वक रहने लगे । उनके शत्रु उन्हें मारने की टोह में थे ही । नीलकण्ठ विद्याधर ने उन्हें निद्राधीन अवस्था में उठाया और आगे चल कर आकाश में से छोड़

* देखो पृ २५६ ।

गिरा दिया । यहाँ भी वे चम्पापुरी के निकट के सरोवर में पड़े । चम्पा के मन्त्री की पुत्री के साथ उनके लग्न हुए । सूर्पक विद्याधर ने यहाँ पर भी उनका हरण किया और नीचे गिराया । वे गंगा नदी में गिरे । नदी से निकल कर वे कुछ यात्रियों के साथ पल्ली◇ में आये और पल्लीपति की पुत्री जरा के साथ पाणिग्रहण किया । इसके गर्भ से जराकुमार का जन्म हुआ । इसके बाद वसुदेव के अवंतीसुन्दरी, सुरसेना नरद्वेषी जीवयशा और अन्य राजकुमारियों के साथ लग्न हुए ।

भ्रात-मिलन और रोहिणी के साथ लग्न

किसी समय वसुदेव के समक्ष एक देव ने आ कर कहा - "रुधिर नरेश की पुत्री 'रोहिणी' तुम्हारे योग्य है । उसका स्वयंवर होगा । तुम वहाँ जाओ । वह सुन्दरी तुम्हें प्राप्त होगी । तुम वहाँ पहुँच कर ढोल बजाने का काम करना । वसुदेव अरिष्टपुर पहुँच कर स्वयंवर में सम्मिलित हुए और ढोल बजाने लगे । देवांगना के समान अनुपम सुन्दरी रोहिणी ने स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया । उपस्थित राजाओं और राजकुमारों ने रोहिणी को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उनकी उपेक्षा करती हुई आगे बढ़ने लगी । उसे कोई भी व्यक्ति अपने अनुरूप नहीं लगा । वसुदेव ने अपने वाद्य के द्वारा रोहिणी को ऐसा सन्देश दिया,-

"हे मृगाक्षि सुन्दरी ! यहाँ आ, चली आ मेरे पास । मैं सर्वथा तेरे योग्य हूँ और तुझे चाहता हूँ । मेरी प्रीति तुझे संतुष्ट करेगी ।" रोहिणी वसुदेव के शब्द सुन कर आकर्षित हुई और देखते ही मोहित हो गई । उसे रोमाञ्च हो आया । उसने तत्काल वसुदेव के गले में वरमाला आरोपित कर दी । एक ढोली के गले में वरमाला डाल कर पति बनाना,उन प्रत्याशी राजाओं का सहन नहीं हो सका । आक्रोश भरे विभिन्न स्वर निकलने लगे । कोई कहता,-

"मारो इस ढोली को, जो अनधिकारी होते हुए भी राजकुमारी का पति होने का साहस कर रहा है ।"

"और इस रुधिर की धृष्टता तो देखो, कि हम सब कुलीन नरेशों को बुला कर अपमानित कर रहा है । यह दोष इसी का है । इसी ने पुत्री को ऐसी कुशिक्षा दी" - कोशला के राजा दंतवक्र ने कहा।

- "ठीक है, दोनों दण्ड के पात्र हैं । इन्हें अवश्य दण्डित करना चाहिए । जिससे दूसरों को भी शिक्षा मिले" - एक समर्थक ने कहा ।

- "आप अन्याय कर रहे हैं । आपका बोलने का कोई अधिकार नहीं है । स्वयंवर के नियम के अनुसार कुमारी अपना वर चुनने में पूर्णरूप से स्वतन्त्र है । वह किसी को भी अपना जीवनसाथी चुने इसमें किसी को भी टाँग अड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती । आपको कुमारी का निर्णय मान्य करना चाहिए" - रोहिणी के पिता रुधिर ने नरेश-मंडल को मुँहतोड़ उत्तर दिया ।

◇ छोटा गाँव ।

– "आपका कथन यथार्थ है तथापि इस पुरुष से इसका वश, कुल और शील आदि का परिचय प्राप्त करना चाहिए "– न्यायवक्ता विदुर ने कहा ।

"मेर कुल-शील आदि का परिचय यथावसर अपने-आप मिल जायगा । मैं यही कहता हूँ कि स्वयवर के नियम के अनुसार प्राप्त पत्नी को हरण करने अथवा मेरे अधिकार को चुनौती देने का किसी ने साहस किया है, तो मैं अपना भुजबल बता कर अपनी योग्यता तथा कुलशीलादि का परिचय अवश्य दूँगा"– वसुदेव ने विरोधियों को सावधान किया ।

वसुदेव क चुनौती भरे उद्धत वचना से क्रोधित हुए जरासध ने समुद्रपाल आदि राजाओं को आदेश देते हुए कहा –

"सर्व प्रथम यह रुधिर राजा ही इस दुरस्थिति का कारण है । इसी ने राजाओं म विरोधजन्य स्थिति उत्पन्न की है । दूसरा यह ढोली भी अपराधी है, जो राजकुमारी प्राप्त कर के घमण्डी बन गया है और अपना वामन रूप भुला कर विराट होने का दम भर रहा है । इन दोना को मार डाला ।"

जरासध की आज्ञा होते ही समुद्रविजयादि राजा युद्ध करने के लिए तत्पर हुए । उस समय दधिमुख नामक विद्याधर अपना रथ ले कर उपस्थित हुआ आर स्वय सारथी बन कर वसुदेव का सहायक बना । वसुदेव रथारूढ हो कर रानी वेगवती की माता द्वारा दिये हुए धनुष्यादि शस्त्र से युद्ध करने लगा । रुधिर नरश भी वसुदेव के पक्ष में ससैन्य युद्ध करने लगे । किन्तु जरासध के पक्ष ने उन्हें पराजित कर दिया । उनकी सेना भाग गई तब वसुदेव आगे बढ कर युद्ध करने लगे । थोड़ी दर में ही उन्होने शत्रुजय राजा को हरा दिया और दतवक्र तथा शल्य को पीछे हटने पर विवश कर दिया । अपने पक्ष की पराजय दख कर जरासध ने राजा समुद्रविजय को प्रेरित करते हुए कहा;-

"लगता है कि यह कोई ढोली या सामान्य मनुष्य नहीं है । इसे पराजित करना सामान्य राजाओं के वश की बात नहीं है । इसलिए तुम स्वय जाओ । यदि तुमने उस मार डाला तो रोहिणी तुम्हें मिल जायगी ।"

"मैं युद्ध करूँगा किन्तु रोहिणी मरे लिए ग्राह्य नहीं रही । अब वह परस्त्री हो चुकी और मेरे परस्त्री को ग्रहण करने का त्याग है ।"

समुद्रविजयजी, वसुदव के साथ युद्ध करने लगे । बहुत काल तक विविध प्रकार स आश्चर्यकारी युद्ध होता रहा । वसुदेव के पराक्रम को दख कर समुद्रविजयजी अपनी विजय में शका करने लगे । उन्होने सोचा – "यह कोइ विशिष्ट एव समर्थ पुरुष है । इसे किस ढग से पराजित किया जाय" – सोच-विचार में उनकी युद्ध की गति मन्द हो गई । वसुदेवजी, अपने ज्येष्ठ-भ्राता की स्थिति समझ गए। उन्होने एक बाण पर लिखा –

"कपटपूर्वक आपसे पृथक् हो कर निकल जाने वाला आपका कनिष्ट-भ्राता वसुदेव का नमस्कार स्वीकार करें ।"

वह बाण समुद्रविजयजी के चरणो मे गिरा । समुद्रविजयजी ने बाण उठा कर देखा । उस पर अकित अक्षर पढत ही उनके हर्ष का पार नहीं रहा । तत्काल शस्त्र फेंकते हुए वे वसुदेव की ओर दौडे वसुदेव ममुद्रविजयजी को अपनी ओर - "वत्स-वत्स" - पुकारते हुए आते देख कर, रथ पर से कूद कर समुद्रविजयजी की ओर दौंडे और उनके चरणा म पडे । समुद्रविजयजी ने वसुदेवजी को उठा कर आलिगन-बद्ध कर दिया । कुछ समय दानों इसी प्रकार गुथे रहे, फिर पृथक् होते ही समुद्रविजयजी ने पूछा -

"वत्स ! तू मुझे छोड कर क्यो चला गया और लगभग सौ वर्ष तक तू कहाँ रहा ?"

वसुदेव ने समस्त वृत्तात सुनाया । वसुदेव के पराक्रम से समुद्रविजयजी को जितना हर्ष हुआ उतना ही हर्ष रुधिर नरेश को अपने अज्ञात जामाता का पराक्रम और कुलशील जान कर हुआ । जरासध का कोप भी यह जान कर दूर हा गया कि यह अनुपम वीर मेरे ही सामन्त का भाई है - अपना ही है । सभी राजा मिलझुल कर एक हो गए और शुभ मुहूर्त म वसुदेवजी का रोहिणी के साथ विवाह हो गया । अन्य सभी गजाओ को आदरपूर्वक विदा किया गया । कस सहित यादव लोग लगभग एक वर्ष वहीं रहे ।

एक दिन वसुदेव ने रोहिणी से पूछा - "तुम बडे-बडे राजाओं को छोड कर ढोली पर मोहित क्यों हो गई ?" रोहिणी ने कहा - "मेरी प्रज्ञप्ति-विद्या ने मुझे बताया कि चोर के समान वेश बदल कर दसवें दशार्ह स्वयवर मे आएँगे और ढाल बजा कर मुझे आकर्षित करेंगे । बस वे ही तेरे पति होंगे। मैंने पहिचान कर ढोल की पोल खाल दी ।" -

एक बार समुद्रविजयजी राजसभा म बैठे थ कि एक प्रौढ स्त्री अन्तरिक्ष में से आशीर्वाद देती हुइ वहाँ उतरी । उसने वसुदेव से कहा - "मैं बालचन्द्रा की माता धनवती हूँ और उसकी पुत्री के लिए तुम्हे लिवाने आई हूँ । बालचन्द्रा तुम्हारे वियोग में दु खी है । मुझ से उसकी वेदना सही नहीं जाती । अब आप चलिए ।"

वसुदेव ने समुद्रविजयजी की ओर देखा । वसुदेवजी को जाने की अनुमति देते हुए समुद्रविजयजी ने कहा - "जाओ और उन्हे ले कर शीघ्र ही लौट आओ । अब कहीं रुक मत जाना ।" वसुदेव धनवती के साथ गगनवल्लभ नगर आये । समुद्रविजयजी कस के साथ अपने नगर म आये । वसुदेवजी ने बालचन्द्रा के साथ लग्न किये । इसके बाद वे अपनी पूर्व परिणित सभी पत्नियों का अपने-अपने स्थानों से ले कर, अनेक विद्याधरा के साथ विमान द्वारा शौर्य्यपुर आये । समुद्रविजयजी ने उत्सवपूर्वक वसुदेवजी और उनकी रानियों का नगर प्रवेश कराया ।

बलदेव का पूर्वभव और जन्म

हस्तिनापुर नगर में एक सेठ था । उसके ललित नाम का एक पुत्र था । वह अपनी माता को अत्यंत प्रिय था । ललित की माता पुनः गर्भवती हुई । वह गर्भ, माता के लिए अत्यंत संतापकारी हुआ। सेठानी ने उस गर्भ को गिराने के बहुत प्रयत्न किये किन्तु वह नहीं गिरा । यथासमय पुत्र का जन्म हुआ । सेठानी ने पुत्र को जनशून्य स्थान में डाल देने के लिए दासी को दिया । दासी जब बच्चे को फैंकने के लिए जा रही थी कि सेठ ने उसे देख लिया । दासी से अपनी पत्नी का अभिप्राय जान कर सेठ ने दासी से पुत्र ले कर गुप्त रूप से अन्यत्र प्रतिपालन करने लगा । उसका नाम "गंगदत्त" रखा । ललित माता से छुप कर गुप्त रूप से अपने छोटे भाई को देखने-खेलाने जाने लगा । उस गंगदत्त में प्रीति थी । वसंतोत्सव के अवसर पर ललित ने पिता से आग्रह कर के गंगदत्त को भी भोजन करने के लिए बुलवाया । माता से छुपाये रखने के लिए गंगदत्त को पर्दे में रख कर भोजन कराने लगे । ललित और पिता पर्दे के बाहर बैठ कर भोजन करने लगे और अपने भोजन में से कुछ भाग पर्दे में रहे हुए गंगदत्त को भी देने लगे । वायुवेग से पर्दा उलटा और गंगदत्त पर उसकी माता की दृष्टि पड़ी । गंगदत्त को देखते ही माता का रोष उमड़ा । उसने गंगदत्त को खूब पीटा । फिर बाल पकड़ कर घसीटती हुई । बाहर ले गई और धक्का दे कर गिरा दिया । सेठ और ललित गंगदत्त को उठा कर फिर गुप्त स्थान पर लाये । उसे स्नान करवा कर कपड़े बदले और समझा-बुझा कर स्वस्थान आये ।

कुछ दिन बाद वहाँ विशिष्ट ज्ञानी महात्मा पधारे । सेठ ने पूछा - "महात्मन् ! ललित और गंगदत्त सगे भाई हैं फिर भी इनकी माता ललित पर तो अत्यंत प्रीति रखती है, किन्तु गंगदत्त पर तीव्र घृणा और द्वेष रखती है । गंगदत्त को वह मीठी दृष्टि से देख ही नहीं सकती । इसका क्या कारण है ?" महात्मा ने कहा -

"एक गाँव में दो भाई रहते थे । बड़ा भाई कोमल स्वभाव का था और छोटा क्रूर । एक बार वे गाड़ी ले कर वन में लकड़ी लेने गए । लकड़ी से गाड़ी भर लौट रहे थे । बड़ा भाई आगे-आगे चल रहा था और छोटा भाई गाड़ी पर बैठा हुआ बैलों को हँकाल रहा था । आगे चलते हुए बड़े भाई ने मार्ग में एक सर्पिणी पड़ी हुई देखी । वह भाई से बोला - "मार्ग में साँपिन पड़ी है, इसे बचा कर गाड़ी चलाना ।" छोटे भाई ने बड़े भाई की बात सुन कर उपेक्षा की । सर्पिणी बड़े भाई के शब्द सुन कर आश्वस्त हो, वहीं पड़ी रही । छोटे भाई के क्रूर हृदय में साँपिन पर गाड़ी का पहिया फिरा कर, चकचूर होती हुई हड्डियों की आवाज सुनने की आकांक्षा हुई और उसने वैसा ही किया । साँपिन के मन में उस क्रूर मनुष्य पर तीव्र क्रोध आया । वह वैर-भाव में ही मर कर, इनकी माता हुई। बड़ा भाई

साँपिन को बचाने वाला प्रशस्त जीव, तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र ललित है । यह इसकी माता को अति प्रिय है और छोटा गगदत्त है । गगदत्त की क्रूरता ही उसकी माता के द्वेष का कारण बनी । कृत-कर्म का ही यह फल है ।"

महात्मा से कर्मफल की दारुणता और आत्मोद्धारक उपदेश सुन कर सेठ और ललित प्रव्रजित हुए और सयम पाल कर महाशुक्र देवलोक मे देव हुए । गगदत्त ने भी दीक्षा ग्रहण की । उसके मन म माता का द्वेष खटक रहा था । उसने 'विश्ववल्लभ' होने का निदान किया और काल कर के महाशुक्र में देव हुआ ।

ललित का जीव, देवायु पूर्ण कर वसुदेवजी की रानी रोहिणी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । रानी के उस रात्रि मे चार महास्वप्न देखे -१ हाथी २ समुद्र ३ सिह और ४ चन्द्रमा । गर्भकाल पूर्ण होने पर रोहिणी ने पुत्र को जन्म दिया । जन्मोत्सवादि के बाद पुत्र का नाम 'राम' (विख्यात नाम - बलदेव) दिया । बलदेव बडे हुए और सभी कलाओ मे पारगत हो गए ।

नारदजी का परिचय

एकदिन समुद्रविजयजी, वसुदेव और कस के साथ सपरिवार बैठे थे कि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। समुद्रविजयजी आदि ने नारदजी का सम्मान किया । आदर-सम्मान से प्रसन्न हो कर नारदजी आकाश-मार्ग से अन्यत्र चले गए । उनके जाने के बाद कस ने पूछा - "ये कौन थे ?" नारद का परिचय देते हुए समुद्रविजयजी ने कहा -

"पूर्वकाल मे इस नगर के बाहर यज्ञयश नाम का एक तपस्वी रहता था । उसके यज्ञदत्ता नाम की स्त्री थी । सुमित्र उनका पुत्र था । सुमित्र की पत्नी का नाम सोमयशा था । कोई जृभक देव च्यव कर सोमयशा की कुक्षि मे, पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । वही पुत्र यह नारद है । वे तापस लोग, एक दिन उपवास कर के दूसरे दिन उछवृत्ति से (खेत में से स्वामी के ले जाने पश्चात् रहे हुए धान्य-कण ग्रहण कर) आजीविका चलाते थे । एकबार वे तपस्वी, नारद को अशोक वृक्ष के नीचे सुला कर उछवृत्ति के लिए गये । बाद मे कोई जृभक देव उधर से निकला । नारद को देख कर उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई। उसने उपयोग लगा कर पहिचाना । वह उसके पूर्वभव का मित्र था । बालक के मुँह पर धूप आने लगी थी । देव ने बालक के स्नेह के वश हो कर छाया को स्तभित कर दी । छाया स्तभित होने क कारण अशोकवृक्ष का दूसरा नाम 'छायावृक्ष' हुआ । अपना कार्य साध कर लौटते हुए देवो ने नारद को उठाया और वैताढ्य पर्वत पर ले गए । वहा एक गुफा में रख कर उसका पालन किया । आठ वर्ष का होने पर देवो ने उसे प्रज्ञप्ति आदि अनेक विद्याएँ सिखाई । विद्या के प्रभाव से नारद आकाशगामी हुआ । यह नारद इस अवसर्पिणी काल का नौवाँ नारद है और चरम शरीरी है - ऐसा त्रिकाल ज्ञानी श्री सुप्रतिष्ठ मुनि ने मुझे कहा था । यह प्रकृति से कलहप्रिय है । अवज्ञा करन स यह कुपित हो जाता है । यह भ्रमणप्रिय है ।

वसुदेव स देवकी से गर्भ माँग लेता हूँ । यदि वह मना करेगा ता दूसरा उपाय करूँगा और स्वीकार कर लेगा तो मैं अपने शत्रु को जन्मते ही समाप्त कर दूँगा ।"

कस मद-रहित स्वस्थ था फिर भी वह मदिरा के नशे म उन्मत होने का ढोंग करता और झूमता-लथडता हुआ वसुदेव के पास पहुँचा । वसुदेव ने उसे आदर देते हुए कहा - "कहो मित्र ! आज तो वहुत प्रसन्न और मस्त लगते हो । कहो किस इच्छा से आये हो ? मैं तुम्हारा कौनसा हित करूँ ?"

- "मित्र ! आपने पहले भी जरासध से, जीवयशा दिला कर मेरा हित किया था । अब मेरी बहिन देवकी के सात बार के गर्भ से उत्पन्न बालक मुझे दे कर मुझ पर अनुग्रह करो । मैं अपनी बहिन के सुन्दर बालको को अपने पास रखूँगा । सात के बाद जो हों, उन्हें तुम रख लेना ।"

वसुदेव ने कस की बात का मर्म नहीं समझा और वचन दे दिया । देवकी भी भाई क प्रेम को जान कर अनुमत हो गई । वह जानती थी कि "कस की कृपा से ही उसे वसुदेव जैसा पति प्राप्त हुआ है । यदि मेरे बच्चे भाई के पास रहें, ता क्या हानि है ?" उसने भी स्वीकार कर लिया । कस अपने प्रयत्न में सफल हो गया । किन्तु जब वसुदेव को मुनि द्वारा बताये हुए भविष्य की बात मालूम हुई तो वह समझ गये कि 'कस ने मुझे ठग लिया है ।' उन्हें पश्चात्ताप हुआ । फिर भी उन्होंने दिये हुए वचन को पालन करने का निश्चय कर लिया ।

देवकी रानी के छह पुत्रों का जन्म और संहरण

उस समय भद्दिलपुर नगर मे 'नाग' नाम का एक समृद्ध गृहपति रहता था । सुलसा उसकी स्वरूपवान् गृहिणी थी । दम्पती श्रावक-धर्म का पालन करते थे । सुलसा के विषय में उसके बचपन में किसी भविष्यवेत्ता○ ने कहा था - "यह निन्दु (मृतपुत्रा-मृतवन्ध्या) होगी ।" सुलसा को यह भविष्यवाणी अखरी । उसने हरिणैगमेषी देव की आराधना प्रारम्भ की । वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठ कर स्नानादि करती और भीगी साडी पहिन कर हरिणैगमेषी देव की प्रतिमा का पुष्पादि से विशेष प्रकार का पूजन करती और भक्तिपूर्वक प्रणिपात करने के बाद खान-पानादि करती । कालान्तर में देव प्रसन्न हुआ । सुलसा ने उससे पुत्र की याचना की । देव ने कहा,-

- "तुम मृतपुत्रा हो । तुम्हारे गर्भ का जीव, जीवित जन्म नहीं ले सकता । तुम्हारे गर्भ के छहों पुत्र गर्भ में ही मृत्यु प्राप्त करेंगे । किन्तु मैं तुम्हारे हित के लिए तुम्हारे गर्भ के मृत-बालकों का अन्य स्त्री के जीवित बालकों स इस प्रकार परिवर्तन कर दूँगा कि जिसका किसी को आभास भी नहीं होगा । तुम भी नहीं जान सकोगी । तुम संतुष्ट रहो ।"

○ अतगड सूत्रानुसार नैमित्तिक और त्रि. श. पु. च. के अनुसार 'अतिमुक्त' नाम के चारण मुनि ने भविष्यवाणी की थी ।

देव ने अपने ज्ञान से तदनुकूल स्त्री को जाना । ठसे ज्ञात हुआ कि – 'कस ने देवकी के छह गर्भ को वसुदेव से माँग लिया है । वह उन्हे मारना चाहता हैं ।' उसने सोचा– "इन जीवों का सहरण करने से इनकी रक्षा भी होगी । इनका गर्भ एव जन्मकाल भी अनुकूल हो सकता है ।" देव ने दोनों महिलाओ को समान काल में ऋतुस्नाता बनाई । दोनो समकाल मे गर्भवती हुई और प्रसव भी समकाल में हुआ । देव ने निमेष मात्र मे सुलसा का मृत-बालक ला कर देवकी के पास रखा और देवकी के जीवित बालक को ले जा कर सुलसा के पास रखा । इस प्रकार सुलसा के छह मृत बालका का देवकी के जीवित बालकों से परिवर्तन हुआ ।

जब कस ने देवकी के पुत्रजन्म की बात सुनी तो तत्काल वहाँ आया और बालक को उठा कर पत्थर पर पछाड दिया और मान लिया कि मैंने देवकी के पुत्र की हत्या कर क अपने को, खतरे के एक निमित्त से बचा लिया । इस प्रकार छह मृत बालका को मारने का अपना मनोरथ पूरा कर लिया । उसने यह भी नहीं देखा कि – ये जीवित हैं, या मृत ?

सुलमा के यहाँ आये हुए देवकी के छह पुत्रों के नाम थे – १ अनीकसेन २ अनन्तसेन ३ अजितसेन ४ अनिहतरिपु ५ देवसेन और ६ शत्रुसेन ।

कृष्ण-जन्म

छह पुत्रों के जन्म के बाद कालान्तर मे देवकी रानी ने रात्रि के अन्तिम भाग में –१ सिह २ सूर्य ३ अग्नि ४ गज ५ ध्वज ६ विमान और ७ पद्म सरोवर – ये सात महास्वप्न देख । गगदत्त देव का जीव ✪ महाशुक्र देवलोक से च्यव कर देवकी के गर्भ म उत्पन्न हुआ । गर्भकाल पूर्ण होने पर भाद्रपद-कृष्णा अष्टमी की मध्य-रात्रि का श्यामवर्ण वाले एक पुत्र को जन्म दिया । यह पुत्र देवसान्निध्य से जन्मते ही शत्रुओ की दृष्टि से सुरक्षित रहा । देवो ने कस के पहरेदारों को इस प्रकार निद्राधीन कर दिया, जैसे वे विषपान कर मूर्च्छित पडे हो । देवकी ने अपने पति को बुला कर कहा,–

"हे नाथ ! इस बालक की रक्षा करो । दुष्ट भाई ने मेरे छह पुत्रो की हत्या कर दी । अब आप किसी भी प्रकार इस लाल को यहाँ से निकालो और गोकुल मे ले जा कर नन्द को सौंप दा । वह इसकी रक्षा करेगा ।"

वसुदेव ने बालक को ठठाया और चल दिया । पहरेदार मृतक की भाँति पडे खर्राटे ले रह थ । व आगे बढे भवन के द्वार अपने आप खुल गए । वर्षा की अन्धेरी रात थी । बादल छाये हुए थे वर्षा का धीमा दौर चल रहा था । देवो ने छत्र धारण कर बालक पर तान दिया । कुछ देव दीपक धारण कर आगे चलन लग । नगर-द्वार के समीप पहुँचने पर देवो ने परकोटे का द्वार खोल दिया । द्वार के निकट ही राजा ठग्रसेनजी एक पिंजरे म बन्द थे । कस ने उन्हें बन्दी बना कर रखा था । उन्होंने पूछा – "कौन है ?" वसुदवजी ने कहा–

✪ देखो पृ ३०२ ।

"यह कस का शत्रु है" -उन्होने बालक को दिखाया और कहा - "राजन् ! यह बालक आपके शत्रु का निग्रह करेगा और इसीसे आपका उद्धार होगा । आप इस बात को गुप्त ही रखें ।"

- "बहुत अच्छा । आप इसे तत्काल बाहर निकालें और किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दें" उग्रसेनजी ने कहा ।

नन्द के गोकुल में

वसुदेवजी बालक को ले कर नगर के बाहर निकले । आगे यमुना उग्र बाढ़ के कारण दोनों किनारे छोड कर, भयकर रूप से उफनती हुई बह रही थी । बालक के प्रबल पुण्यप्रभाव और देव सहाय से वसुदेवजी यमुना पार करने लगे । बालक का चरण-स्पर्श होते ही यमुना दो भाग में बँट गई और मार्ग बन गया । वे सकुशल नदी पार कर गोकुल म पहुँच गए✲ और नन्द अहीर को पुत्र सौंप दिया । उसी समय नन्द की पत्नी यशोदा के भी एक पुत्री का जन्म हुआ था । नन्द ने बालक को यशोदा को सौंपा और उसकी पुत्री वसुदेव को देते हुए कहा - "आप शीघ्र जा कर इसे रानी के पास सुला द, विलम्ब न करें ।" वसुदव ने बच्ची को ला कर देवकी के पास सुलाया और तत्काल निकल कर अपने कक्ष में पहुँच गए । इसके बाद पहरदारो की नींद खुली । वे हडबड़ा कर उठे और दौड़ लगाने दौड । उन्हें ज्ञात हुआ कि 'कन्या का जन्म हुआ है ।' वे उस कन्या को ले कर कस के पास पहुँचे । कन्या को देख कर कस न सोचा - 'अरे यह तो कन्या है । इससे मुझे क्या खतरा हो सकता है ? लगता है कि मुनि की वाणी केवल आक्रोश भरी और मिथ्या ही थी । अब मैं निश्चिन्त हुआ । अब व्यर्थ ही इसकी हत्या क्यों की जाय ?' फिर भी उसने उस कन्या की नासिका का एक ओर से छेदन किया और उस देवकी क पास लौटा दी । कन्या, देवकी के और बालक, नन्द के सरक्षण में रह कर बढने लग । बालक का श्याम (काला) वर्ण देख कर नन्द ने उसका नाम 'कृष्ण' रख दिया । लगभग एक मास बाद देवकी ने वसुदव से कहा -

"स्वामिन् ! मैं पुत्र को दखना चाहती हूँ । आपकी आज्ञा हो तो मैं गोकुल जा कर देख आऊँ ।"

"प्रिये ! यदि तुम अचानक, बिना किसी उपयुक्त कारण बताये जाओगी तो कस को सन्देह होगा और वह चौकन्ना हो कर उपद्रव खड़ा कर दगा । इसलिए कोई उपयुक्त कारण उपस्थित कर के जाओ तो ठीक रहेगा । तुम गो-पूजा के मिस कुछ स्त्रियो के साथ गोकुल जाओ तो सुन्दर या कारण बनेगा" - वसुदेवजी ने युक्ति बताई ।

देवकी गो-पूजा के मिस से कुछ स्त्रिया को साथ ले कर गोकुल पहुँची । उसन नीलकमल के समान कांतिवाला, विकसित कमल के समान नेत्रवाला (कमल-नयन) हृदय पर श्रीवत्स के चिन्हवाला कर-चरण में चक्रादि शुभ चिह्नवाला और निर्मल नीलमणि के समान आनन्द-दायक अपने पुत्र को

✲ यह हकीकत त्रि. श. च. में नहीं है अन्य ग्रन्थों से ली है ।

यशोदा की गोद में, हँस कर किलकारी करते हुए देखा । उसने पुत्र को अपनी गोद मे ले कर कुछ समय खेलाया और फिर लौट आई । इसके बाद तो देवकी गो-पूजा के निमित्त प्रतिदिन गोकुल जा कर पुत्र को देखने लगी । इसी निमित्त से लोगो मे गो-पूजा का व्रत चालू हुआ ।

शकुनी और पूतना का वध

वसुदेवजी का शत्रु सूर्पक ✤ विद्याधर की पुत्रियाँ शकुनी और पूतना अपने पिता का वैर लेने को तत्पर हुई । वे किसी भी प्रहार से वसुदेवजी का अहित करना चाहती थी । काई अन्य उपाय नहीं देख कर, कृष्ण को मारने के लिए वे गोकुल मं आई । उस समय नन्द और यशोदा कहीं गये हुए थे और कृष्ण, घर के आगे रही हुई गाड़ी के निकट खेल रहे थे । पूतना ने अपने स्तनो पर विष लगाया और कृष्ण का मारने के लिए स्तनपान कराने लगी । सान्निध्य रहे हुए देव के प्रभाव से विष मधुवत् हो गया। कृष्ण उसकी छाती पर चढकर स्तन-पान करने लग । देव-सहाय्य से पूतना का रक्त तक खिच गया और वह मृत्यु को प्राप्त हो गई ✿। शकुनी यह देख कर उत्तेजित हुई । उसने गाडी चला कर कृष्ण को पहिये से कुचल कर मारना चाहा, किन्तु देव-प्रभाव से कृष्ण ने उस गाडी के प्रहार स ही शकुनी का जीवन समाप्त कर दिया । जब नन्द और यशोदा घर लौटे और उन्होने अपने घर के आगे डाकिनी जैसी दो स्त्रियो को मरी हुई पडी देखी, तो घबराये और निकट ही खेल रहे कृष्ण को उठा कर छाती से लगाया । पास खड़े हुए ग्वालो से नन्द ने पूछा - "ये राक्षसी जैसी स्त्रियाँ कौन है ? ये कैसे मरी गाडी को किसने तोडी ?" ग्वालो ने कहा - "ये स्त्रियाँ न जाने कौन है । अकेले कृष्ण ने ही इन दोनों को समाप्त किया । ये दोनो कृष्ण को मारने के लिए आई थी । आपका पुत्र तो महा बलवान् है । गाडी भी इस राक्षसी को मारने के लिए इन्हीं ने तोडी है ।" नन्द और यशोदा कृष्ण के शरीर और अगोपाँग देखने लगे । उन्हें विश्वास हुआ कि कृष्ण का किसी प्रकार का अहित नहीं हुआ, तय उन्हें सतोप हुआ। नन्द ने यशोदा से कहा - "अब तुम कृष्ण को अकेला छोड कर कहीं मत जाया करो । शत्रुआ की छाया भी इस शिशु पर नहीं पडनी चाहिए । कितना ही बडा कार्य हो, तुम्हें एक क्षण के लिए भी कृष्ण को अकेला नहीं छोडना है ।" उस दिन से यशोदा, कृष्ण को अपने पास ही रखने लगी फिर भी अवसर देख कर कृष्ण इधर-उधर खिसक कर भागने लगे ।

कृष्ण बडे चञ्चल और चालाक थे । वे यशोदा की आँख बचा कर कहीं चले जाते और यशादा उन्हें खोजती फिरती । कभी-कभी वे दौड कर दूर निकल जाते, तो यशोदा को भी उनके पीछे दौडना पडता । वह तग आ जाती । कृष्ण की ऐसी चेष्टाओ से तँग आ कर यशोदा ने कृष्ण की कमर में एक रस्सी याँधी और उस रस्सी को एक मूसल के साथ बाँध दिया, जिससे कृष्ण कहीं याहर नहीं जा सके ।

✤ दखो पृ. २५६ ।

✿ त्रि पु च में देव द्वारा पूतना का वध होने का उल्लख है अन्य कथाआ में स्तनपान से रक्त खिच कर मारने का उल्लेख है ।

सूर्पक विद्याधर का पौत्र अपने पितामह का वैर, वसुदेवजी के पुत्र से लेने की ताक में गोकुल आया और छुप कर अवसर देखने लगा। यशोदा, कुछ क्षणों के लिए पडोसी के घर गई थी। कृष्ण, माता को अनुपस्थित पा कर घर से निकले। उनके साथ रस्सी से बँधा हुआ मूसल भी घसिटता जा रहा था। खेचर-शत्रु ने उपयुक्त अवसर देखा और तत्काल अर्जुन जाति के दो वृक्षों के रूप में खड़ा हो कर कृष्ण के मार्ग में अड गया। उसका उद्देश्य था कि ज्योंही कृष्ण इन दो वृक्षों के बीच हो कर निकले, उन्हें दोनों में भींच कर मार डाले। कृष्ण, उन वृक्षों के मध्य निकलने लगे। देव-सान्निध्य था ही। देवसहाय्य से कृष्ण ने मूसल का जोर लगा कर दोनों झाडों को उखाड कर तोड डाला। कोलाहल सुन कर नन्द और यशोदा दौडे आए और कृष्ण को उत्संग में ले कर चूमने लगे। कृष्ण उदर में दाम (रस्सी) बाँधने के कारण उनका दूसरा नाम 'दामोदर' प्रचलित हुआ।

कृष्ण, ग्वाल-ग्वालिनों में अत्यंत प्रिय थे। वे दिन-रात कृष्ण को उठाये फिरते। कृष्ण भी अपनी चपलता और बाल-चेष्टा से सभी गोप-गोपिकाओं के हृदय में स्थान पा चुके थे। जब यशोदा एवं गोपिकाएँ, घृत निकालने के लिए दधि-मथन करती, तो कृष्ण आँख बचा कर मटकी में हाथ डाल कर मक्खन निकाल कर खाने लगते। कुछ मुँह में जाता कुछ मुँह पर चुपड जाता और कुछ हाथों में लिपट जाता। यदि यशोदा मीठी झिडकी देती, तो मुँह में से हाथ निकाल कर उनके सामने करते हुए उन्हें भी खाने को कहते। देखने वाले सब हँस देते। उन्हें कोई रोकता नहीं था। उनकी बाल लीलाओं से सभी गोप-गोपिकाएँ प्रसन्न और आकर्षित थीं। यदि कृष्ण की चेष्टाओं से किसी का कुछ हानि भी हो जाती, तो भी वे प्रसन्न ही होते। कृष्ण का स्थान सभी के हृदय में बन चुका था। सभी गोप-गोपिकाएँ उनकी रक्षा में तत्पर रहती थी।

भ्रातृ-मिलन और कृष्ण का प्रभाव

समुद्रविजयादि दशार्ह को कृष्ण द्वारा शकुनी और पूतना के वध तथा अर्जुन-वृक्ष उन्मूलन की घटना ज्ञात हो चुकी थी। वसुदेव चिंतित थे कि कृष्ण की गुप्तता नष्ट हो रही है। वह धीरे-धीरे प्रकट हो रहा है। कंस तक भी उसकी बातें पहुँचेगी और वह उपद्रव खडा करेगा। उसे मारने का प्रयत्न करेगा। यद्यपि कृष्ण के पुण्य प्रबल हैं उसे कोई मार नहीं सकता तथापि उसकी रक्षा का समुचित प्रयत्न करना ही चाहिए। उन्होंने अपने एक पुत्र को कृष्ण की रक्षा के लिए सदैव उसके साथ रखने का विचार किया। उन्होंने सोचा - 'मुझे उसी पुत्र को भेजना चाहिए जो समर्थ भी हो और जिसे कंस नहीं जानता हो।' उन्होंने राम (बलराम) को कृष्ण के पास रखने का निश्चय किया। उन्होंने एक विश्वस्त मनुष्य को शौर्यपुर भेज कर रोहिणी सहित बलराम को बुलाया और बलराम को परिस्थिति समझा कर नन्द को सौंप दिया। बलराम भी नन्द के यहाँ पुत्र के समान रहने लगे।

बलराम के गोकुल में आने का दुहरा लाभ हुआ । कृष्ण के रक्षण के साथ धनुर्वेदादि कलाओं का शिक्षण भी दिया जाने लगा । थोडे ही दिनों मे कृष्ण सभी कलाओ मे पारगत हो गए । कृष्ण के लिए बलराम कभी आचार्य-स्थानीय होते, कभी मित्रवत् व्यवहार करते और ज्येष्ठ-भ्राता तो थे ही । दोना बन्धुओ मे स्नेह-सम्बन्ध अपार हो गया । दोनो बन्धु गोकुल मे यमुना नदी के तट पर और वन में गाप-मित्रों के साथ घूमते-खेलते और विचरते हुए रहने लगे । कृष्ण ज्यो-ज्यों बडे होते गए, त्यों-त्यों उनके पराक्रम भी बढते गए । वे चलते हुए मस्त साँड को पूँछ पकड कर रोक देते । बडे-बडे भयकर पशु भी उन्हे विचलित नहीं कर सकते थे । साहस के कार्यों म वे अग्रभाग लेने लगे थे । भाई के साहस को बलरामजी मौनपूर्वक देखा करते । वे कृष्ण का विशिष्ट बल जानते थे ।

गोपांगनाओं के प्रिय कृष्ण

कृष्ण वयवृद्धि के साथ गोपागनाओं को विशेप प्रिय लगने लगे । उनके मन मे काम-विकार उत्पन होने लगा । वे कृष्ण को घेर कर चारो ओर घुमती नाचती हुई गीत और रास गाने लगी । कभी गोपागनाएँ गाती और कृष्ण नृत्य करते, कभी कृष्ण बसी बजाते और गोपियें नृत्य करती । वे उनके आस-पास घूमने - मँडराने लगी । कृष्ण-स्नेह में वे इतनी रत रहने लगी कि उनके गृह-कार्य भी बिगडने लगे । कोई गो-दोहन करते समय दूध की धारा बरतन के बाहर भूमि पर गिराने लगती किसी का भोजन बिगड जाता, कोई दो-तीन बार नमक-मिर्च घोल देती, तो कोई किसी में अकारण ही पानी डाल देती । किसी प्रकार गृह-कार्य पूरा कर के वे कृष्ण के समीप आती और उनके आगे पीछ मँडराने लगती उन्हे अपलक देखने लगती । कृष्ण के लिए वे मयूर-पिच्छ के अलकार बनाती फूलों की मालाएँ गूँथती और पहिनाती । कृष्ण-प्रेम में वे लोक-लाज भी भूल जाती । कृष्ण भी कभी उन्हें मधुर आलाप से प्रसन्न करते, तो कभी रुष्ट हो कर तडपाते । गोपियो को प्रसन्न एव आकर्पित करने के लिए वे ऊँची टेकरी पर बैठ कर बसी का नाद पूरते । कभी उनके माँगने पर सरोवर के अगाध जल को तैर कर, कमल-पुष्प ला देते । बलरामजी उनकी सभी चेष्टाएँ देख कर हँसते रहते । कभी कोई गापी, बलरामजी से कृष्ण की शिकायत करती हुई कहती - "आप के भाई बडे निष्ठुर हैं, मेरी ओर देखते ही नहीं, मुझे-से रूठ गए हैं । आप उन्हे समझाइए ।" इस प्रकार सुखपूर्वक ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए ।

भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म

सूयपुर में समुद्रविजयजी की रानी शिवादेवी ने रात्रि के अतिम पहर म चौदह महास्वप्न दखे । वह रात्रि कार्तिक-कृष्णा द्वादशी थी । चन्द्र चित्रा-नक्षत्र से सम्बन्धित था । उस सम अपराजित नानक अनुत्तर विमान से शख देव का जीव, शिवादेवी की कुक्षि म उत्पन हुआ । उस समय नरक की

अन्धकारपूर्ण भूमि में भी उद्योत हुआ और दुःख ही दुःख में सतत पीडित रहने वाले नारकों को भी थोडी देर के लिए सुख का अनुभव हुआ - शांति मिली। शिवादेवी जाग्रत हो कर राजा समुद्रविजय के समीप आई। राजा ने रानी का स्वागत कर आसन दिया। रानी ने स्वप्न दर्शन का वर्णन किया। स्वप्नशास्त्रियों को बुलाया। वे स्वप्न-फल का विचार करने लगे। इतने में ही एक चारणमुनि वहाँ पधारे। राजा ने मुनिराज को वन्दन-नमस्कार किया। स्वप्न-पाठक ने स्वप्नफल सुनाया। चारणमुनि ने भी कहा -"भावी तीर्थंकर भगवान् का गर्भावतरण हुआ है।" राजा और रानी का स्वप्न-फल से अपूर्व हर्ष एवं संतोष हुआ। उन्हें अमृतपान-सा आनन्द हुआ। चारणमुनि पधार गए। स्वप्न पाठकों को राजा ने बहुत-सा दान दिया। रानी सुखपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी। गर्भ-काल पूर्ण होने पर श्रावण-शुक्ला पंचमी की रात्रि में चित्रा-नक्षत्र के योग में, श्याम वर्ण और शंख लांछन वाले पुत्र का जन्म हुआ। छप्पन दिशाकुमारियाँ आई, इन्द्र आये और विधिवत् जन्माभिषेक हुआ। राजा समुद्रविजयजी ने भी पुत्रजन्म का महा महोत्सव किया। गर्भकाल में माता ने स्वप्न में अरिष्टरत्नमय चक्रधारा देखी थी, इसलिए पुत्र का नाम 'अरिष्टनेमि' दिया गया। वसुदेवजी आदि ने भी अरिष्टनेमि कुमार का जन्मोत्सव मथुरा में किया। कुमार बढ़ने लगे।

शत्रु की खोज और वृन्दावन में उपद्रव

एक दिन कंस, देवकी बहिन के पास गया। उसने वहाँ उस कन्या को देखी - जिसे देवकी की सातवीं सन्तान बताया गया था और कंस ने नासिका का छेदन कर के जीवित छोड दिया था। कन्या को देखने पर कंस के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। उसने स्वस्थान आ कर भविष्यवेत्ता से पूछा -

"मुझे एक मुनि ने कहा था कि देवकी के सातवें गर्भ से तुम्हारी मृत्यु होगी। मुनि की वह भविष्यवाणी व्यर्थ हो गई क्या ? क्योंकि देवकी के सातवें गर्भ से तो एक पुत्री हुई है। वह मुझे क्या मारेगी ?"

"नहीं, ऋषि का वचन व्यर्थ नहीं होगा। आपका शत्रु देवकी का सातवाँ पुत्र है और वह कहीं सुरक्षित रूप में बड़ा हो रहा है। पुत्री किसी अन्य की होगी। आप छले गये। मेरे विचार से आपका शत्रु विशेष दूर तो नहीं है। यदि आप अपने शत्रु को पहिचानना चाहते हैं, तो अपने अरिष्ट नामक वृषभ, केशी नामक उद्दण्ड अश्व और दुर्दान्त ऐसे गधे और मेंढे को वृन्दावन भेज कर खुले छोड दें। वे यथेच्छ विचरण करें। जो मनुष्य इनको मार डाले, वही देवकी का सातवाँ पुत्र है। मैं जानता हूँ कि देवकी का सातवाँ पुत्र महापराक्रमी 'वासुदेव' होगा। उसके बल के सामने कोई भी मनुष्य नहीं टिक सकेगा। वह अपने समय का महाबली, अजेय और सार्वभौम नरेश होगा। वह महाक्रूर एसे कालिय नाग का दमन करेगा, चाणूर मल्ल को मारेगा, पद्मोत्तर और चम्पक नामक मदोन्मत्त गजराज को मारेगा और आपका भी जीवन समाप्त करेगा"-भविष्यवेत्ता ने स्पष्ट कहा।

भविष्यवेत्ता की चेतावनी सुन कर कस डरा । उसने अपने अरिष्ट वृषभ को गोकुल भेजा । वृषभ भयानक था । वह जिधर भी जाता, लोग दूर से देख कर ही भयभीत हो कर छुप जाते । उसने वृन्दावन का मार्ग ही उपद्रव-ग्रस्त कर के बन्द कर दिया । गोप लोग इस विपत्ति से दु खी हो गए । गायो का वह अपने सींगों पर उठा कर दूर फेकने लगा किसी के घर के थभे गिरा देता घृत आदि के बरतन फोड देता और वृक्षा को अपने धक्के से उखाड देता । गोकुलवासी अत्यन्त दु खी हो कर बलराम और कृष्ण को पुकारते और रक्षा की याचना करत । कृष्ण ने भयभीत गोपजनो को सान्त्वना दी और उस साँड की ओर चल दिये । उपद्रव करते हुए मस्त साँड को देख कर कृष्ण ने उसे ललकारा। कृष्ण की ललकार सुन कर साँड उछला, डकारा और प्रचण्ड बन कर पूँछ ऊँची किय हुए कृष्ण पर झपटा । वृद्ध गोपजन, कृष्ण को चिल्ला-चिल्ला कर रोकने लगे - "लौटो कृष्ण । लौट आओ । बचो, अरे भागो, भागो ।" कृष्ण ने किसी की नहीं सुनी और वेगपूर्वक आते हुए वृषभ के सींग पकड कर गर्दन ही मरोड दी । तत्काल ही उसका प्राणान्त हो गया । कृष्ण को महाबली निर्भीक और अपना रक्षक जान कर तथा विपत्ति से अपने को मुक्त समझ कर लोगो के हर्ष का पार नहीं रहा । वे उत्सव मना कर कृष्ण का अभिनन्दन करने लगे ।

गोकुल और वृन्दावन के लोग सतोष की साँस ले ही रहे थे कि दूसरा उपद्रव फिर आ खडा हुआ - उद्दड अश्व के रूप में । वह उछलता-कूदता हुआ जिधर भी निकल जाता सारा माग जन-शून्य हो जाता । वह जोर से हिनहिनाता, पाँवो की टापो से भूमि खोदता, दाँतो से काटता गायो, गधो, कुत्तों, बछडा और बैलों तथा छोटे-बडे घोडों को काटता, टापता और मारता हुआ हाहाकार मचा रहा था । कृष्ण ने लपक कर उसके जबड पकड कर मुँह खोला और मुँह में हाथ डाल कर उसकी जीभ खींच ली । बस, उस दुष्ट घोडे के प्राण पखेरू उड गए । इसके बाद वैसे ही दुष्ट गधा और मेढा भी आय परन्तु वे भी कृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त हुए ।

अपने पाले एव प्रचण्ड बनाये हुए साँड के मारे जाने का समाचार सुन कर ही कस के हृदय में धक्का पडा । इसके बाद उसने अश्वादि भेजे । उसका सन्देह विश्वास में पलटा । वह समझ गया कि वृन्दावन का कृष्ण ही मेरा शत्रु हैं और यही देवकी का सातवाँ पुत्र है । उसने सोचा - "अभी यह किशोर है फिर भी इतना बलवान है, तो बडा होने पर क्या करेगा । इसे अब शीघ्र ही समाप्त करना चाहिए ।"

सत्यभामा दॉव पर लगी

कस ने अपने शत्रु और उसकी शक्ति को आँखों स देखने के लिए एक समारोह का आयाजन किया । उसने अपने शार्ङ्ग धनुष्य का उत्सव रचा और अपनी युवती कुमारिका बहिन सत्यभामा को धनुर्पूजा के लिए उसके पास बिठाया और घोषणा करवाई कि "जो पुरुष इस धनुष की प्रत्यचा चढा देगा वही सत्यभामा को प्राप्त करेगा ।"

उद्घोषणा सुन कर अनेक राजा और वीर योद्धा आये । वसुदेवजी का पुत्र और रानी मदना का आत्मज अनाधृष्टि कुमार भी अपने को समर्थ मान कर चला । मार्ग में वह गोकुल में बलराम के पास रात रहा । कृष्ण को देख कर वह प्रसन्न हुआ । मथुरा नरेश द्वारा आयोजित धनुर्प्रतियोगिता की बात सुन कर कृष्ण का मन ललचाया । अनाधृष्टि ने कृष्ण को मथुरा का मार्गदर्शक बना कर साथ लिया । कृष्ण मार्ग बताते हुए पैदल ही चले । वृक्षों से संकीर्ण मार्ग पर चलते हुए एक वट-वृक्ष में रथ फँस गया । बहुत जोर लगाने पर भी रथ को अनाधृष्टि नहीं निकाल सका । इतने में कृष्ण ने लीलामात्र में वृक्ष को उखाड कर रथ को निकाल लिया । कृष्ण का अतुल पराक्रम देख कर अनाधृष्टि प्रसन्न हुआ। उसने कृष्ण का आलिंगन किया और प्रेमपूर्वक अपने पास रथ में बिठा लिया । यमुना को पार कर वे मथुरा आये और समारोह-स्थल पर पहुँच कर दोनों बन्धु, अन्य राजाओं के साथ मंच पर बैठ गए । सौंदर्य की देवी कमललोचना सत्यभामा धनुष्य के समीप ही बैठी थी । सत्यभामा कृष्ण को देख कर मोहित हो गई और अपने मन से ही उसने कृष्ण को अपना पति स्वीकार कर लिया । कई राजा अपना बल लगा चुके थे । अनाधृष्टि कुमार उठा और धनुष्य को उठाने लगा किन्तु धनुष्य उठाना तो दूर रहा, वह स्वयं नहीं संभल सका और जोर लगाते समय पाँव फिसल जाने से भूमि पर गिर पड़ा। उसका मुकुट दूर जा गिरा कुण्डल निकल पड़े और हार भी टूट गया । यह देख कर सत्यभामा के स्मित झलक आया और अन्य लोग जोर से हँसने लगे । अनाधृष्टि की दुर्दशा कृष्ण से सहन नहीं हो सकी । वे तत्काल उठे और लीलामात्र में धनुष्य उठा लिया और प्रत्यंचा चढ़ा कर कुण्डलाकार बनाते हुए धनुष्य को धारण कर शोभायमान हुए । लोग कृष्ण का जयजयकार करने लगे । सभी कण्ठों से कृष्ण की प्रशंसा होने लगी । कंस के आदेश से सभा तत्काल विसर्जित की गई । कंस ने अपने शत्रु को आँखों से देख लिया । उसके मन में भय ने स्थायी निवास कर लिया ।

अनाधृष्टि रथारूढ़ हो कर अपने पिता वसुदेवजी के निवास पर पहुँचा । कृष्ण को उन्होंने रथ में ही बैठे रहने दिया और आप पिता के पास पहुँचे । प्रणाम करने के बाद अपनी झूठी वीरता बताने के लिए बोले - "पिताजी ! मैंने धनुष्य की प्रत्यंचा चढ़ा दी है ।"

वसुदेवजी ने कहा - "तो तुम यहाँ से अभी चले जाओ नहीं तो कंस तुम्हें मरवा डालेगा ।"

पिता की बात सुन कर अनाधृष्टि डरा । वह शीघ्र ही रवाना हो कर गोकुल आया और वहाँ से अकेला सौर्यपुर चला गया ।

इसके बाद कंस ने मल्लयुद्ध का आयोजन किया । आगत राजागण भी रुक गए । वसुदेवजी ने कंस का दुष्ट आशय जान कर सौर्यपुर दूत भेजा और अपने वीर बन्धुओं तथा अक्रूर आदि पुत्रों को भी बुला लिया - इसलिए कि कदाचित् कंस से युद्ध करने का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो उसकी सेना के साथ युद्ध किया जा सके ।

मल्लयुद्ध की बात सुन कर कृष्ण ने बलराम से मथुरा चल कर मल्लयुद्ध देखने की इच्छा व्यक्त

की। बलराम ने यशोदा से कहा - "माता ! हम मथुरा जाएँगे । हमारे स्नान के लिए पानी आदि की व्यवस्था कर दो ।"

यशोदा कृष्ण को मथुरा भेजना नहीं चाहती थी । इसीलिए उसने बलराम के कथन की उपेक्षा कर दी। बलराम ने कृष्ण से कहा - "यह यशोदा कुछ घमण्ड मे आ कर अपना दासीपन भूल गई लगती है।" कृष्ण को यह बात अखरी । वे उदास हो गए। दोनों भाई यमुना मे स्नान करने चले गए। कृष्ण को उदास देख कर बलराम ने पूछा- "तुम उदास क्यो ?" कारण तो वे जानते ही थे । बोले -

"भाई ! यह यशोदा तुम्हारी माता नहीं है । माता है - देवकी । तुम्हें देखने और प्यार करने के लिए प्रति मास मथुरा से यहाँ आती है और पिता हैं - वसुदेवजी । दुष्ट कस के भय से तुम्हें - जन्म समय से ही - यहाँ स्थानान्तरित किया गया है । मैं कस से तुम्हारी रक्षा करने के लिए यहाँ आया हुँ । मैं तुम्हारा बडा भाई हूँ, परन्तु मेरी माता रोहिणी देवी है । तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो । नन्द-यशोदा तुम्हारा निष्ठापूर्वक पालन कर रहे हैं । हमें भी इन्हे आदर देना चाहिए, फिर भी ये हैं अपने सवक ।"

कृष्ण का समाधान तो हो गया, परन्तु कस की दुष्टता सुन कर कृष्ण का कोप ठभरा । उन्होंने कस का वध करने की प्रतिज्ञा की । फिर स्नान करने के लिए नदी म प्रवेश किया ।

नाग का दमन और हाथियों का हनन

यमुना में वे दोनों भ्राता स्नान कर ही रहे थे कि वहाँ रहने वाले कालीय नाग ने उन्हें देखा और क्रोधित हो कर उन्हें डसने के लिए उन पर झपटा । उसके फण मे रही हुई मणि के प्रकाश से प्रभावित हो कर बलराम आश्चर्यान्वित हुए और सोचने लगे कि - "यह क्या है ?" वे किसी निश्चय पर पहुँचे उसके पूर्व ही कृष्ण ने झपट कर उसे इस प्रकार पकड़ लिया जैसे कोई कमलनाल को पकडता हो । इसके बाद उन्होंने एक कमलनाल लिया और उसके फण म बाँध कर बैल के समान नाथ लिया । वे कठोर यन कर अकडे हुए उस नाग पर चढ-बैठे और यमुना मे इधर-उधर फिराने लगे । नाग का क्रोध उतरा और भय चढ-बैठा । वह थक कर हाँफने लगा । कृष्ण उसे छोड कर बाहर निकले । उस समय स्नान करने वाले ब्राह्मण और गोप आदि ने कृष्ण के पास आ कर उन्हें छाती से लगाया । बलराम और कृष्ण गोपजनों के साथ चल कर मथुरा आये । कस ने नगर-द्वार पर पद्मोत्तर और चम्पक नाम के दो उन्मत्त गजराज खडे कर दिये थे और हस्तिपालक को कृष्ण के आने पर उन्हें कुचलने के लिए, उन पर हमला करने का आदेश दिया था । कृष्ण को देखते ही प्रेरित हाथी उन पर झपटा । कृष्ण सँभले । उन्होंने पद्मोत्तर हाथी की सूँड पकडी और दाँत खींच कर उखाड दिया तथा वज्र के समान मुष्टि-प्रहार कर के उसे मार डाला । इसी प्रकार बलराम ने चम्पक हाथी को अनन्त-निद्रा में सुला दिया । राज्य क मदोन्मत्त एव प्रचण्ड हाथिया का दा लडका द्वारा मारा जाना एक अभूतपूर्व घटना थी । सार नगर में हलचल मच गई । लोग दौड-दौड कर घटनास्थल पर आने लगे और परस्पर कहन लग -

"… ? दो लड़कों ने ? क्या कहते हो ?"

"… भारी अस्त्र से मारा होगा ? परन्तु मारने वाले कौन हैं ?"

"… के न द अहीर के लडके" – तीसरा बोला ।

"न द के पुत्रों ने मारा ? नहीं, नहीं, कोई और होगे"– चौथा बोला ।

– "किस अस्त्र से मारा" – पाँचवे का प्रश्न ।

– "न अस्त्र, न शस्त्र । अपने भुज-बल से ही मार डाला" पहले का उत्तर ।

– "ऐसा कैसे हो सकता है" – चौथे का पुन प्रश्न ।

– "कैसे क्या हो सकता है, तुमने सुना नहीं ? उन लडको ने ही उन प्रचण्ड साँड और घोडे आदि को मारा था । वे महाबली हैं । तुम अपनी आँखों से देख लो । देखो, वे दोनों भाई खड़ हैं - उन हाथियों के पास । उनके हाथा में वे रक्त-सने श्वेत दण्ड जैसे क्या हैं ? दाँत होगे – हाथी के । देखो वे पलट कर अपनी ही ओर आ रहे हैं ।"

मल्लों का मर्दन और कंस का हनन

दोनो भ्राता गोप-साथियों के साथ वहाँ से चल कर मल्ल-युद्ध के अखाडे में आये । अखाडे में एक बडा सा मच था, जिस पर कस उच्चासन पर बैठा था और निकट ही समुद्रविजयजी आदि दशार्ह अन्य राजा और सामन्त बैठे थे । प्रतिष्ठित नागरिक भी मच पर यथास्थान बैठे थे । अन्य दर्शकों को जहा स्थान मिला वहाँ बैठे या खड़े रहे । दोनो भाई अपने गोप-साथियो के साथ मच की ओर आये । मच पर स्थान खाली नहीं था । उन्होंने बैठे हुए लोगों को उठाया और अपने साथियो के साथ बैठ गए। बलरामजी ने कृष्ण को सकेत से अपने शत्रु कस को बताया और साथ ही समुद्रविजयादि बाबा-काकाओ और पिता को दिखाया । वहाँ उपस्थित राजाओ, सामन्तो और दर्शका की दृष्टि उस प्रभावशाली बन्धुयुगल पर टिक गई । वे सोचने लगे –"ये देव के समान शोभायमान युवक कौन हैं ?"

कस की आज्ञा से मल्ल-युद्ध … । अनेक … उतर कर लडे । अन्त में कस द्वारा प्रेरित चाणूर मल्ल, मेघ के स… हुआ … आया । विशाल एव गठित शरीर, वज्र जैसे दृढ अगोपाग और विस्फा… । वह … करस्फोट करता हुआ गरजा –

"जो कोई … वीर योद्धा … अभिमान हो, वह अखाडे मे … आवे …

चाणूर की … कृष्ण … सम्मुख उपस्थित हुए और …

"तुझे अपने बल का इतना घमण्ड हो गया है कि किसी को कुछ समझता ही नहीं ? आ, मैं तेरी साध पूरी करता हूँ ।"

दर्शक एक-दूसरे से कहने लगे – "कहा यह दुर्धर मल्ल खूब खाया-पिया और कसरत से शरीर को वज्रवत् कठोर बनाया हुआ, राक्षस-सा प्रचण्ड और क्रूर और कहाँ यह किशोर जिसे न मल्ल-विद्या आती है और न शरीर ही उतना दृढ एव कठोर है । इस दैत्य के सामने बडे-बडे योद्धा भी नहीं आ सकते, तो इस बालक ने कैसे साहस कर लिया ? यह क्रूर राक्षस इसे अभी मसल कर मिटा देगा॥"

लोगों की चर्चा सुन कर कस बोला,-

"इन ग्वाल-बालकों को मैंने नहीं बुलाया, ये क्यो आये यहाँ ? कौन लाया इन्हे यहाँ ? ये गाय का दूध पी-पी कर उन्मत्त हो गए हैं और अपने-आपको महाभुज मानते हैं । ये अपनी इच्छा से ही मल्ल-युद्ध करने आये हैं, तो ये जाने । मैं इन्हे क्यो रोकूँ ? यदि इनकी किशोर-वय और युद्ध का दुष्परिणाम देख कर, किसी को इनकी पीडा होती हो, तो वे मेरे सामने उपस्थित होवें । मैं देखता हूँ कि इन उद्दण्डों के कौन साथी हैं ।"

कस के कठोर वचनो ने सब को चुप कर दिया । कस के दुर्वचनो के उत्तर में कृष्ण ने कहा -

"यह चाणूर मल्ल तो राज-पिण्ड से पुष्ट हो हाथी के समान मोटा और तगडा हुआ है । मल्ल-युद्ध के सतत सभ्यास से प्रचुर शक्ति सम्पन्न एव समर्थ है और मैं गाय का दूध पी कर जीने वाला किशोर हूँ किन्तु जिस प्रकार सिह-शिशु मस्त हाथी का मस्तक तोड कर मृत्यु की नींद सुला देता हैं उसी प्रकार मैं भी इसका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर दूँगा । आप सभी लोग शान्ति से देखते रहे ।"

कृष्ण के ऐसे गभीर और सशक्त वचन सुन कर कस के अन्तर मे आघात लगा । वह डरा । उसे अपने बलिष्ठ रुद्रवत् भयानक वृषभ अश्व और हाथिया के सहार का दृष्य दिखाई दिया जैसे नियति से उसे ऐसे ही परिणाम का सकेत मिल रहा हो । वह सँभला और दूसरे मल्ल को भी उसने सकत कर के अखाड़े में उतारा । मुष्टिक मल्ल को भी चाणूर का सहयोग बन कर आया देख कर बलराम उठे और अखाडे में आये। कृष्ण और चाणूर तथा बलराम और मुष्टिक भिड गए । उनके चरणन्यास से पृथ्वी कम्पायमान हुई । करस्फोट से दर्शकों के काना के पर्दे फटने लगे । उनकी घन-गजना-सी हुकार से दिशाएँ काँपने लगी । दानो बन्धुओं ने दोनो मल्लो को घास के पूले के समान आकाश म उछाल दिया । यह देख कर दर्शकों नें हर्ष-ध्वनि की, मल्ल सँभले और छल से अपने प्रतिद्वंदी का कमर से पकड कर उछाला दर्शक चिन्तित हा गए । कृष्ण ने चाणूर की छाती पर मुक्के का ऐसा प्रहार किया कि वह विचलित हो गया । उसने सावधान हो कर कृष्ण की छाती पर वज्र के समान मुष्टि प्रहार किया जिससे कृष्ण को चक्कर आया और वे मूर्च्छित हो कर गिर पड । उनक गिरत ही कस न चाणूर

को सकेत कर के गिरे हुए कृष्ण को मार डालने का निर्देश दिया । चाणूर कृष्ण की ओर बडा । चाणूर का दुष्ट आशय जान कर बलराम ने उस पर मुक्के का ऐसा प्रहार किया कि वह कितनी ही दूर पीछे खिसक गया । इतने म कृष्ण भी सँभल कर उठ-खडे हुए और चाणूर को ललकारा । उसके निकट आते ही कृष्ण ने दबाया और अपने दोनों जानुओं के बीच जकडा फिर हाथ से मस्तक मोड कर गरदन पर ऐसा प्रहार किया कि वह रक्त उगलने लगा । उसकी आँखे पथरा गई । उसकी दुर्दशा दख कर कृष्ण न उसे छोड दिया, किन्तु वह बच नहीं सका और रक्त-वमन करता हुआ ढल पड़ा । दह छोड कर प्राण निकल गए । उधर बलरामजी ने दूसरे मल्ल को भी चाणूर के मार्ग पर चलता कर दिया। अपने महाबली और सर्वोत्तम मल्लों की मृत्यु जान कर, कस क्रोधातुर हो कर बोला;-

"इन नीच ग्वालों को मार डालो और विषधरों का पोषण करने वाले नन्द को भी मार डालो । उसके सर्वस्व का हरण कर लो और जो कोई नन्द का पक्ष ले, उसे भी कुचल कर नष्ट कर दो ।"

कस की आज्ञा सुन कर कृष्ण ने कहा-

"अरे दुष्ट ! अपने प्रचण्ड हाथियो और मल्ला को नष्ट-विनष्ट देख कर भी तू अपने को सुरक्षित मानता है ? तेरी आत्मा अब तक निर्भीक है ? पहले तू अपनी खुद की रक्षा कर ले फिर दूसरों को मरवाने और लुटवान की बातें करना ।"

कृष्ण, मच पर चढ कर कस की ओर बढे और केश पकड कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया । उसका मुकुट गिर कर दूर जा पड़ा । वह स्वयँ भयभीत हो कर इधर-उधर देखने लगा । कृष्ण ने उसे उपालभ देते हुए कहा -

"अरे पापी ! तुने अपनी रक्षा के लिए, अपनी ही बहिन के गर्भ की हत्या करवाई और कितने ही अधर्म कार्य किये । इन पापों से भी तेरी रक्षा नहीं हुई । अब तू स्वय मर और अपने पापो का फल भोग। अब तू किसी भी प्रकार नहीं बच सकता ।"

कस को मृत्यु के निकट देख कर उसके रक्षक सुभट, विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र ले कर कृष्ण पर हमला करने आये । बलराम ने यह देख कर मच के एक खभे को उखाडा और उसे घुमाते हुए उन सुभटों पर प्रहार करने आगे बढे । बलराम को यमदूत की भाँति सहार करते आते देख कर सभी सुभट भाग गए । उधर कृष्ण ने कस के उठे हुए मस्तक को पाद-प्रहार से भूमि पर पछाड कर तोड डाला । कस अतिम श्वास ले कर सदा के लिए सो गया । कृष्ण ने उसके केश पकड कर घुमाया और मंच के नीचे फेंक दिया ।

कस ने अपनी रक्षा [illegible] ...रासध के कई योद्धाओ को सनद्ध कर के रखा था । कस का मरण दख कर [illegible] ने [illegible] । पर आक्रमण किया । यह देख कर समुद्रविजयजी भी उन्हें ललकार[illegible] [illegible] जरासध के सैनिक पीछे हट गए ।

उग्रसेनजी की मुक्ति + सत्यभामा से लग्न

कस की मृत्यु और सैनिकों के पलायन के बाद सभा अपने आप भग हो गई । भय एव चिन्ता लिए लोग अपने-अपने घर लौट गए । समुद्रविजयजी की आज्ञा से अनाधृष्टिकुमार, बलराम और कृष्ण को अपने रथ में बिठा कर वसुदेवजी के आवास पर ले आये । वहाँ सभी यादव एकत्रित हुए । वसुदेवजी, बलराम को अपने अर्धासन पर और कृष्ण को गोदी म बिठा कर बार-बार चुम्बन करने लगे। उनका हृदय भर आया और आँखो में आँसू झलकने लगे । यह देख कर वसुदेवजी के ज्येष्ठ-बन्धु पूछने लगे - "क्यों, वसुदेव । तुम्हारी छाती क्यो भर आई ? आँखो मे पानी क्यो उतर आया ? क्या सम्बन्ध है कृष्ण से तुम्हारा ?" वसुदेवजी ने देवकी से लग्न, अतिमुक्तकुमार श्रमण की भविष्यवाणी और उस पर से कस के लिए हुए उपद्रव आदि सभी घटनाएँ सुना दीं । समुद्रविजयजी आदि को कृष्ण जैसा महाबली पुत्र पा कर अत्यन्त हर्ष हुआ । उन्होने कृष्ण को उठा कर छाती से लगाया और बार-बार चुम्बन करने लगे । कृष्ण की रक्षा और शिक्षा देने के कारण बलरामजी की भी उन्हाने बहुत प्रशसा की । यादवों ने वसुदेवजी से पूछा,-

"हे महाभुज । तुम अकेले ही इस ससार पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो फिर भी तुम्हारे छह पुत्रों को, जन्म के साथ ही दुष्ट कस ने मार डाला । यह हृदय-दाहक क्रूर-कर्म तुमने कैसे सहन कर लिया ?"

"बन्धुओ ! उस दुष्ट ने स्नेह का प्रदर्शन कर के मुझे वचन-बद्ध कर लिया था । मैं उसकी धूर्तता नहीं समझ सका और वचन दे दिया । वचन देने के बाद उससे पलटना मेरे लिए शक्य नहीं बना। मैं सत्य-प्रिय हू । मैंने सत्य-व्रत का सदैव पालन किया है । अपने वचन की रक्षा के लिए मैं विवश रहा । देवकी के आग्रह से उसके सातवें बालक इस कृष्ण को मैं गोकुल में रख आया और उसके बदले में यशोदा की पुत्री ला कर रख दी, जिसकी नासिका के एक अश का दुष्ट कस ने छेदन कर दिया है ।"

इसके बाद समुद्रविजयजी आदि यदुवशियो की सम्मति से उग्रसेनजी (कस के पिता, जिन्हे कस ने बन्दी बना दिया था) को कारागृह से मुक्त कर के कस के शव की अतिम क्रिया सम्पन्न की । इस अंतिम क्रिया में कस की माता और अन्य रानिये तो सम्मिलित हुई, किन्तु उसकी मुख्य रानी जीवयशा सम्मिलित नहीं हुई । उसने अपने मनोभाव व्यक्त करते हुए कहा,-

"इन ग्वाल-बन्धुओ और दशार्हादि यादवों को समूल नष्ट करने के बाद ही मैं अपने पति प्रेत-कर्म करूँगी । यदि मैं ऐसा नहीं कर सकी, तो जीवित ही अग्नि-प्रवेश कर के प्राण त्याग दूँगी ।"

इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद जीवयशा मथुरा से निकलकर अपने पिता जरासध क पास राजगृही आई । इधर समुद्रविजयजी आदि ने उग्रसेनजी को मथुरा के राज्य-सिहासन पर स्थापित किया और उग्रसेनजी ने अपनी पुत्री सत्यभामा के लग्न कृष्ण के साथ कर दिये ।

जरासंध की भीषण प्रतिज्ञा और बंधुयुगल की माँग

कस की विधवा रानी जीवयशा, शाकाकुल हो कर मथुरा से निकली और अपने पिता जरासध क पास आई । उसकी दुर्दशा देख कर जरासध भी चिन्तित हुआ । उसने पुत्री को आश्वासन देत हुए शोक करने का कारण पूछा । जीवयशा ने अतिमुक्त श्रमण की भविष्यवाणी से लगा कर कस-वध का सारा घटना कह सुनाई । जरासध ने कहा -

"कस ने बडी भारी भूल की । उसे देवकी के गर्भ का मारने की क्या आवश्यकता था ? यदि वह एक देवकी को ही मार डालता, तो उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र का आधार ही नष्ट हो जाता। विष-वेली को फूलने का अवकाश ही नहीं मिलता । जब क्षेत्र ही नहीं रहता तो बीज उत्पन्न ही नहीं होता । अब जो होना था सो तो हो चुका । मैं तेरे उस शत्रु का समूल नाश करूँगा । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कस के शत्रु उन यादवो को परिवार-सहित नष्ट कर के उनकी सभी स्त्रियों को रूलाऊँगा ।"

जरासध ने जीवयशा को धैर्य्य बधा कर, अपने सामन्त राजा सोमक को बुलाया और उसे अपना अभिप्राय समझा कर समुद्रविजयजी के पास भेजा । सोमक ने राजा समुद्रविजयजी से कहा -

- "महाराजाधिराज जरासध आपके स्वामी हैं । आपके पुत्रों ने उनके जामाता कस को मार डाला । वे उनके अपराधी हैं । आप उन दोनो पुत्रो को उन की सेवा में उपस्थित करने के लिए हमें दे देवें । वे उन्हें उचित दण्ड देंगे । आपको इसमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । वैसे वसुदेव ने देवकी का सातवाँ बालक कस को दिया ही था । इसलिए कृष्ण उनका ही है । आपने उनके मनुष्य को छुपा कर रखने का अपराध किया है । आप अब भी इन दोनों भाइयों को महाराजाधिराज के समर्पित कर देंगे, तो आपके राज्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं होगा । अन्यथा आप भी दण्डित होंगे और आपका राज्य-भ्रष्ट कर दिया जायगा ।"

सोमक की बात सुन कर समुद्रविजयजी ने कहा,-

"भोले भाई ! वसुदेव ने अपने छह पुत्र, क्रूर कस को दे कर जो भूल की उसका भी मुझे दुःख है । अब मैं वैसी भूल नहीं करूँगा । राम और कृष्ण ने कोई अपराध नहीं किया । कस उनके प्राणों का गाहक बन गया था और उन्हें मारना चाहता था । उन्हे मारने के लिए उसने कई षड्यन्त्र रचे थे । इसलिए अपने शत्रु को मार कर उन्होने अपनी रक्षा ही की है । इसके सिवाय उन्ह अपने छह भाइयों को मारने का दण्ड भी कस को देना ही था । छह बालको की हत्या करने वाले राक्षस को मार डाला और अपनी रक्षा की, इसमें अपराध कौनसा हुआ ? जरासध यदि न्याय करता है तो सब से पहले उसका दामाद ही बाल-हत्या कर के हत्यारा बना था । उस हत्यारे के पाप का दण्ड उसे देना ही था । यदि वह कृष्ण की हत्या करने की कुचेष्टा नहीं करता तो उसे वह नहीं मारता । अब तुम्हारा स्वामी मेरे इन

प्राणप्रिय पुत्रो को माँग कर इन्हें मारना चाहता है । इतना दुर्बुद्धि है तुम्हारा राजा ? जाओ तुम्हे रामकृष्ण नहीं मिल सकते ।''

– ''हे राजन् ! स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का कर्त्तव्य होता है । इस मे योग्यायोग्य और उचितानुचित देखने का काम, सेवक का नहीं होता । आपके छह बालक तो गये ही हैं। अब ये दो और चले जावेंगे, तो कमी क्या हो जायगी ? आपकी सारी विपदा दूर हो जावेगी और राज्य भी बच जायगा । दो लडकों के पीछे सारे राज्य और समस्त परिवार को विपत्ति मे डाल कर दु:खी होना समझदारी नहीं है । एक बलवान और समर्थ के साथ शत्रुता करके आप बडी भारी भूल करोगे । कहाँ गजराज के समान सम्राट जरासधजी और कहाँ एक भेड के समान आप ? आप उनकी शक्ति के सामने कैसे और कितनी देर ठहर सकेंगे ?

कृष्ण, सोमक की बात सहन नहीं कर सके । अब तक वे मौन रह कर सुन रहे थे । जब सोमक ने समुद्रविजयजी को भेड के समान बताया, तो वे बोल उठे,–

''सोमक ! मेरे इन पूज्य पिताजी ने आज तक तेरे स्वामी के साथ सरलतापूर्वक स्नेह-सम्बन्ध बनाये रखा । इससे तुम्हारा स्वामी बडा और समर्थ नहीं हो गया । हम जरासध को अपना स्वामी नहीं मानते, अपितु दूसरा अत्याचारी कस ही मानते हैं जो उसके अत्याचार का समर्थक और वर्द्धक बन रहा है । अब तू यहाँ से चला जा और तेरे स्वामी को जैसा तुझे ठीक लगे – कह दे ।''

कृष्ण की बात सुन कर सोमक ने समुद्रविजयजी से कहा;–

''हे दशार्ह राज ! तुम्हारा यह पुत्र कुलागार लगता है । आप इसकी उदण्डता की उपेक्षा क्यो कर रहे हैं ? इसे रोकते क्यो नहीं हैं ?''

सोमक की बात सुन कर अनाधृष्टिकुमार बोला–

– ''ए सोमक ! तुझे लज्जा नहीं आती और बार-बार वही रोना रो रहा है । अपने दुष्ट जामाता के मरने से जरासध को दु:ख हुआ, तो हम हमारे छह भाइयो के मरने का दु:ख नहीं है क्या ? अब हम और हमारे ये भाई तेरी ऐसी अन्यायपूर्ण बात सुनना नहीं चाहते । जा चला जा यहाँ से ।''

तिरस्कृत सोमक रोषपूर्वक लौट गया ।

यादवों का स्वदेश-त्याग

सोमक के प्रस्थान के पश्चात् समुद्रविजयजी ने विचार किया । उन्हें विश्वास हो गया कि अब जरासध से भिडना ही पडेगा । दूसरे ही दिन उन्होंने अपने बन्धुओ और सम्बन्धियो की सभा बुलाई । उन्होंने कहा –

''जरासन्ध से युद्ध होना अनिवार्य हो गया है । उसकी सैन्य-शक्ति विशाल है । वह त्रिखण्ड का स्वामी है । 'हम उससे लड कर किस प्रकार सफल हो सकेंगे ' – इस पर विचार करना है । उन्होंने अपने विश्वस्त भविष्यवेत्ता के समक्ष प्रश्न रखा । भविष्यवेत्ता ने विचार करने के बाद कहा–

"आपको कष्टों का सामना तो करना ही पडेगा, किन्तु विजय आपकी होगी । ये राम-कृष्ण युगलबन्धु, जरासन्ध को मार कर त्रिखण्ड के स्वामी होगे । अभी आप अपने देश का त्याग कर पश्चिम समुद्रतट की ओर प्रयाण करें । आपके यहाँ पहुँचते ही आपके शत्रु-पक्ष का विनाश होने लगेगा । मार्ग में रानी सत्यभामा, जिस स्थान पर पुत्रयुगल को जन्म दे, वहीं आप नगर बसा कर रह जायँ । आपकी श्री-समृद्धि बढती जायगी ।"

भविष्यवेत्ता के वचनों पर विश्वास कर के सभी ने तदनुसार स्वदश त्याग कर प्रस्थान करने का निश्चय किया । समुद्रविजयजी ने उद्घोषणा करवा कर प्रस्थान के समय की सूचना प्रसारित कर दी । मथुरा से ग्यारह कुल-कोटि यादव चल कर शौर्यपुर आये । राजा उग्रसेनजी भी साथ हो लिये । शौर्यपुर से सात कुलकोटि यादवों और सम्बन्धियों के साथ चले और विन्ध्यगिरि के मध्य में हो कर आगे बढ़ने लगे ।

कालकुमार काल के गाल में

समुद्रविजयजी और कृष्ण से तिरस्कृत सोमक ने जरासध के पास आ कर समस्त वृत्तात सुनाया । जरासध क्रोधाभिभूत हो गया । उसका 'कालकुमार' नामक पुत्र भी वहाँ उपस्थित था । वह भी यादवों और कृष्ण का अपमान-कारक व्यवहार जान कर अत्यधिक क्रोधित हो गया और रोषपूर्वक बाला-

"उन यादवो का इतना साहस कि साम्राज्य के सेवक हो कर भी अपने को स्वतन्त्र शासक मानते हैं और गर्वोन्मत्त हो कर अपना दासत्व भूल जाते हैं ? त्रिखण्डाधिपति के सामने सिर उठाने वाले उद्दड भिक्षुआ को मैं नष्ट कर दूँगा । पिताश्री ! मुझे आज्ञा दीजिये । मैं उनको नष्ट कर के ही लौटूँगा । मुझ से बच कर वे इस पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकते । सुना है, कि वे देश-त्याग कर चले गए, परन्तु मैं उन्हें खोज-खोज कर मारूँगा । भले ही वे कहीं जा कर छुप जायँ । मैं उन्हें जल से थल से, आकाश से, पाताल से, समुद्र से और आग से भी खोज निकालूँगा और उनके वश का चिह्न तक मिटाने के बाद ही लौटूँगा । बिना उन्हें नष्ट-विनष्ट किये मैं यहाँ नहीं आऊँगा ।"

जरासध ने आज्ञा दी । काल अपने भाई यवन और सहदेव तथा पाँच सौ राजाओ और बड़ी भारी सेना के साथ चल निकला । प्रस्थान करते हुए उसे अनेक प्रकार के अपशकुन - दुर्भाग्य सूचक निमित्त मिले । किन्तु वह उनकी उपेक्षा करता हुआ आगे बढता ही गया । वह यादवो के पीछे, उनके गमन - पथ पर शीघ्रतापूर्वक चला जा रहा था । वह विध्याचल पर्वत के निकट पहुँच गया । यादव-सघ उसके निकट ही था । कालकुमार को भ्रम मे डालने के लिए राम-कृष्ण के रक्षक देवो ने एक विशाल पर्वत की विकुर्वणा की जिसका एक ही मार्ग था । कालकुमार उस पर्वत पर चढा । वहाँ एक विशाल चिता जल रही थी और एक स्त्री उस चिता के पास बैठ कर करुणापूर्ण स्वर में रुदन कर रही थी । कालकुमार के पूछने पर स्त्री ने कहा-

"मैं यादव-कुल के विनाश से दु खी हूँ । तुम्हारे आतक से भयभीत हो कर यादवा ने एक विशाल चिता रच कर जल मरने के लिए अग्नि म प्रवेश किया । दशार्ह भी अग्नि मे प्रवेश करने गये और उनके पीछे बलराम और कृष्ण भी, अभी-अभी अग्नि की भेंट हुए । कदाचित् वे सभी मरे नहीं होंगे । मुझे विलम्ब हो गया है । अब मैं भी अग्नि में प्रवेश करूँगी ।"

इतना कह कर वह भी अग्नि मे प्रवेश कर गई । काल ने देखा - राम-कृष्ण अभी मरे नहीं हैं, वे तडप रहे हैं । दशार्ह भी जीवित हैं । अधिक मनुष्यो के एक साथ गिरने से अग्नि कुछ मन्द भी हो गयी थी । देवों से छला हुआ कालकुमार दशार्ह और राम-कृष्ण को जीवित ही निकालने के लिए, अग्नि में प्रवेश करने के लिए तत्पर हुआ । साथ मे आये हुए अनुभव - वृद्ध राजाओ और हितैषियो ने उसे रोकना चाहा । उन्होने कहा-

"हमारे प्रयाण के समय हमे, अनेक अपशकुन हुए । प्रकृति की ओर से हमें अपने साहस के अनिष्ट परिणाम की सूचना मिल चुकी है । हमें बहुत सोच-समझ कर काम करना है । सभव है कि हमारे सामने कोई छल रचा गया हो । जब यादव-कुल-अपने आप ही आग में जल कर मर गया, तो हमें और चाहिये ही क्या ? हमारा कार्य पूरा हो चुका । वे बिना मारे ही मर गए । अब हमे लौट चलना चाहिए ।"

"नहीं, मैं उन्हे जीवित निकाल कर मारूँगा । मैंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि वे आग मे घुस जाएँगे, तो मैं उन्हें वहाँ से भी खिच लाऊँगा । तुम मुझे रोको मत । विलम्ब हो रहा है ।"

इतना कह कर कालकुमार अग्नि मे कूद पडा और थोडी ही देर में मर गया । उसकी देह लकडी के समान जल गई । सन्ध्या हो चुकी थी । राजकुमार यवन, सहदेव और साथ रहे हुए राजा आदि ने वहीं रात व्यतीत की । प्रात काल होने पर उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा । वहाँ न तो कोई पहाड था, न चिता ही थी । कुछ भी नहीं था । इतने ही में गुप्तचरा ने आ कर कहा कि यादवा का सघ बहुत दूर आगे निकल गया है । अब कालकुमार के भाइयो, सेनापतियो और राजाओ को विश्वास हो गया कि यह पहाड अग्नि और चिता आदि सब इन्द्रजाल था । हम ठगे गए और कालकुमार व्यर्थ ही मारा गया। वे सभी रोते और शोक करते हुए वहाँ से लौट कर जरासध के पास पहुँचे । पुत्र-वियोग के आघात से जरासध मूर्च्छित हो गया । मूर्च्छा दूर होने पर वह "हा, पुत्र !" - पुकारता हुआ रोने लगा ।

पुत्र प्राप्ति और द्वारिका का निर्माण

यादवा का प्रयाण चालू ही था । उनके गुप्तचरो ने आ कर कहा - "कालकुमार चिता में प्रवेश कर भस्म हो चुका है और सेना उलटे पाँव लौट गई है ।" यादवों के हर्ष का पार नहीं रहा । उन्होंने साथ आये हुए कोष्टुकी (भविष्यवेत्ता) का बहुत आदर-सम्मान किया और सन्ध्या समय एक वन में पड़ाव किया । वहाँ 'अतिमुक्त' नामक चारणमुनि आये । दशार्हराज समुद्रविजयजी आदि ने महात्मा को वन्दन-नमस्कार किया और विनय पूर्वक पूछा - "भगवन् ! इस विपत्ति का अन्त कब होगा ?" महात्मा ने कहा-

"निर्भय रहो । तुम्हारा पुत्र अरिष्टनेमि त्रिलोक-पूज्य बाईसवाँ तीर्थङ्कर होगा और राम-कृष्ण, बलदेव-वासुदेव होंगे । ये देव-निर्मित द्वारिका नगरी बसा कर रहेंगे और जरासंध को मार कर अर्ध भरत क्षेत्र के स्वामी होंगे ।"

महात्मा की भविष्यवाणी से समुद्रविजयजी आदि अत्यंत हर्षित हुए । महात्मा प्रस्थान कर गए और यादव-संघ भी चलता हुआ सौराष्ट्र देश में रैवतक (गिरनार) गिरि की वायव्य-दिशा की ओर पड़ाव डाल कर ठहरा । यहाँ कृष्ण की रानी सत्यभामा के पुत्र-युगल का जन्म हुआ । इनकी कांति शुद्ध स्वर्ण के समान थी । इनके नाम-भानु और भामर दिये गए ।

ज्योतिषी के निर्देशानुसार लवणाधिष्ठित सुस्थित देव की आराधना करने के लिए कृष्ण ने तेला किया । तेले के पूर के दिन सुस्थित देव उपस्थित हुआ और आकाश में रहा हुआ कृष्ण से आदरपूर्वक पूछा - "कहिये, क्या सेवा करूँ ?" कृष्ण ने कहा-

"हे देव ! पूर्व के वासुदेव की जो द्वारिका नगरी था वह तो जल-मग्न हो गई । अब मेरे लिए नगर बसाने का कोई योग्य स्थान बताओ ।"

देव ने स्थान बताया और कृष्ण को पंचजन्य शंख, बलदेव को सुघोष नामक शंख, दिव्य रत्नमाला और वस्त्र प्रदान कर चला गया । देव ने इन्द्र के सामने उपस्थित होकर कृष्ण सम्बन्धी निवेदन किया । इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी नगरी का निर्माण किया । वह नगरी स्वर्ण के प्रकोट से सुरक्षित बनी । प्रकोट के कंगुरे विविध प्रकार की मणियों से सुशोभित थे । उनमें सभी प्रकार की सुख-सुविधा थी । विशाल भवन अन्तःपुर, आमोद-प्रमोद और खेल-कूद के स्थान, बाजार, हाटें, दुकानें सभागृह, नाट्यगृह, अखाड़े, अश्वशाला गजशाला, रथशाला, शस्त्रागार और जलाशय आदि सभी प्रकार की सुन्दरतम व्यवस्था उस नगरी में निर्मित की गई । वन, उद्यान बाग-बगीचे, पुष्करणियें आदि से नगरी का बाह्य भाग भी सुशोभित किया गया । यह नगरी इस पृथ्वी पर इन्द्रीपुरी के समान अलौकिक एवं आल्हाकारी थी । देव ने एक ही रात्रि में इसका निर्माण किया था । इसकी पूर्व-दिशा में रैवतगिरि दक्षिण में माल्यवान् पर्वत पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था ।

प्रातःकाल होते ही देव, कृष्ण के समीप उपस्थित हुआ और दो पिताम्बर, नक्षत्रमाला, हार, मुकुट, कौस्तुभ महामणि, शार्ङ्ग धनुष, अक्षयबाणों से भरे हुए तूणीर, नन्दक खड्ग, कौमुदी गदा और गरूड़-ध्वज रथ भेंट में दिये और बलराम को वनमाला, मूसल दो नीलवस्त्र, तालध्वज-रथ, अक्षय बाणों से भरे तूणीर, धनुष और हल दिए और दशार्ह को रत्नाभरण दिये ।

कृष्ण को शत्रुजीत जान कर यादवों ने समुद्र के किनारे उनका राज्याभिषेक किया । इसके बाद बलराम, सिद्धार्थ-सारथि चालित रथ पर और कृष्ण दारुक सारथि वाले रथ पर आरूढ़ हुए । दशार्ह आदि भी नक्षत्र गण के समान वाहनारूढ हो कर चले । सभी यादवों ने जयघोष करते हुए द्वारिका में प्रवेश किया । कुबेर के निर्देशानुसार, कृष्ण की आज्ञा से सभी को अपने-अपने आवास बता कर निवास कराया गया । देव ने द्वारिका पर स्वर्ण रत्न धन, वस्त्र और धान्यादि की प्रचुर वर्षा की जिससे सभी जन समृद्ध हो गए ।

रुक्मिणी-विवाह

कृष्ण-वासुदेव सुखपूर्वक द्वारिका मे रहने लगे और श्री समुद्रपालजी आदि दशार्ह के निर्देशानुसार शासन का सचालन करने लगे । द्रव्य-तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमिजी भी सुखपूर्वक बढने लगे । श्री राम-कृष्ण आदि बन्धु, श्री अरिष्टनेमिजी से बडे थे, फिर भी वे श्री अरिष्टनेमिजी के साथ बराबरी जैसा व्यवहार करते हुए खेलते, क्रीडा करते और उद्यान आदि मे विचरण करते थे । भगवान् अरिष्टनेमिजी यौवनवय को प्राप्त हुए, किन्तु ये जन्म से ही कामविजयी थे । काम-भोग के उत्कृष्ट साधनों के होते हुए भी इन का मन अविकारी रहता था । उनके माता-पिता और राम-कृष्णादि बन्धुगण, उनसे विवाह करने का आग्रह करते, किन्तु वे स्वीकार नहीं करते थे । इधर राम-कृष्ण के पराक्रम से बहुत-से राक्षस इनके वश म हो गए । दोनो बन्धु शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के समान प्रजा का पालन करते थे ।

एक बार नारदजी घूमते-घामते द्वारिका की राज-सभा मे आये । राम-कृष्ण ने उनका आदर-सत्कार किया । नारदजी राजसभा से निकल कर अन्त पुर में आये । वहाँ भी रानियों ने बहुत आदर-सत्कार किया । वे रानी सत्यभामा के भवन मे गए उस समय सत्यभामा शृगार कर रही थी । वह दर्पण के सामने खडी रह कर बाल सवार रही थी । शृगार मे व्यस्त रहने के कारण वह नारदजी का आदर-सत्कार नहीं कर सकी । अपना अनादर देख कर नारदजी क्रोधित हुए और उलटे पाँव लौटते हुए सोचने लगे - "सत्यभामा अपने रूप-सौंदर्य के गर्व मे विवेकहीन हो गई है । अब इससे भी अधिक सौंदर्य-सम्पन्न राजकुमारी ला कर इसके ऊपर सौत नहीं बिठा दूँ, तो मेरा नाम नारद नहीं । बस, अब यही कार्य करना चाहिए ।"

इस प्रकार सोच कर उन्होने थोडी देर विचार किया और वहाँ से चल कर कुण्डिनपुर आये । कुण्डिनपुर मे भीष्मक नाम का राजा था । यशोमती उसकी रानी थी । उनके 'रुक्मि' नाम का पुत्र था और 'रुक्मिणी' नाम की अत्यत सुन्दरी पुत्री थी । नारदजी अन्त पुर में आये । रुक्मिणी का रूप-लावण्य और आकर्षक सौंदर्य देख कर मन में सोचा - "ठीक है, यह उपयुक्त है ।" रुक्मिणी को आशीर्वाद देते हुए कहा-

"त्रिखण्ड के अधिपति श्री कृष्ण तुम्हारे पति हों ।"

रुक्मिणी ने पूछा - "कृष्ण कौन है ? मैं तो उन्हें नहीं जानती ।" नारदजी ने कृष्णजी का शौर्य्य सौभाग्य आदि गुणों का वर्णन किया । नारदजी की बातों ने रुक्मिणी को कृष्ण की अनुरागिनी बना दिया । उसके मन में कृष्ण बस गए । नारदजी ने रुक्मिणी का चित्र एक पट पर अकित किया और द्वारिका आकर कृष्ण को बताया । कृष्ण उस चित्र को देख कर मुग्ध हो गए । उन्होंने नारदजी से पूछा -

"महात्मन् ! यह देवी कौन है ? क्या परिचय है - इसका ?"

कुछ काल बीतने पर रात्रि के समय रुक्मिणी ने स्वप्न देखा । उसने अपने को 'श्वेत वृषभ के ऊपर रहे हुए विमान में बैठी हुई' अनुभव किया । जाग्रत हो कर वह पति के पास आई और स्वप्न सुनाया । कृष्ण ने कहा - तुम्हारे विश्व में अद्वितीय ऐसा पुत्र होगा ।" स्वप्न की बात, वहा सेवा में उपस्थित दासी ने सुनी । दासी ने जा कर सत्यभामा को कह सुनाई । सत्यभामा ने - 'मैं पीछे नहीं रह जाऊँ' - इस विचार से उठी और पति के पास पहुँच कर एक मन-कल्पित स्वप्न सुनाया - "मैने स्वप्न में ऐरावत हाथी देखा है ।" कृष्ण ने सत्यभामा की मुखाकृति देख कर जान लिया कि इसकी बात में तथ्य नहीं है । फिर भी उसे प्रसन्न रखने के लिए कहा - तुम्हारे एक उत्तम पुत्र का जन्म होगा ।"

महाशुक्र देवलोक से च्यव कर एक महर्द्धिक देव रुक्मिणी के गर्भ म उत्पन्न हुआ और दैवयाग से सत्यभामा के भी गर्भ रहा । रुक्मिणी के गर्भ मे उत्तम जीव आया था, इसलिए उसका उदर उतना नहीं बढा, परतु सत्यभामा का पेट बढने लगा । रुक्मिणी के पेट से अपने पेट की तुलना करके सत्यभामा ने कृष्ण से कहा - "आपकी प्रिया ने आपको झूठ ही कहा था । यदि उसके भी गर्भ रहता तो मेरे समान उसका भी पेट बढता । पेट में रहा हुआ गर्भ, कहीं छुपा रह सकता है ?" उसी समय एक दासी ने आ कर बधाई देते हुए कहा - "बधाई है - महाराज ! महारानी रुक्मिणी देवी ने एक सुन्दर और स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को जन्म दिया है । महारानीजी ! आपको भी बधाई है ।" सत्यभामा बधाई सुनकर उदास हो गई और तत्काल पलट कर अपने भवन में आई । थोड़ी देर बाद उसने भी पुत्र को जन्म दिया ।

कृष्ण पुत्र-जन्म की बधाई से हर्षित हो कर रुक्मिणी के मदिर मे आये और बाहर के कक्ष में बैठकर, पुत्र को देखने के लिए मगवाया । पुत्र की देह-काति से दिशाए उद्योत युक्त हुई देख कर उन्होंनें पुत्र का नाम 'प्रद्युम्न' रखा । वे कुछ देर तक पुत्र को निरख कर स्नेह पूर्वक छाती से लगाये रहे।

प्रद्युम्न का धूमकेतु द्वारा संहरण

प्रद्युम्न का पूर्वभव का वैरी धूमकेतु नामक देव, अपने शत्रु से बदला लेने के लिए, रुक्मिणी का रूप धर कर कृष्ण के सामने आया और उनसे बालक को ले कर वैताढ्यगिरि पहुँचा । पहले तो उसने बालक को पछाड कर मार डालने का विचार किया किन्तु बाद म बाल-हत्या के पाप से बचने के लिए, वह एक पत्थर की शिला पर रख कर चल दिया । उसने सोचा - "भूख-प्यास से यह अपने-आप ही मर जायगा ।"

धूमकेतु के लौट जाने के बाद बालक हिला, तो शिला से नीचे गिर पड़ा । नीचे सूखे हुए पत्तों का ढेर था, इसलिए उसे चोट नहीं लगी । चरम-शरीरी एव निरुपक्रम आयु वाले जीव को कोई अकाल में नहीं मार सकता । कुछ समय बाद 'कालसवर' नामक विद्याधर उधर से निकला । उस

स्थान पर आते ही उसका विमान रुका । नीचे उतर कर उसने बालक को उठाया और राजभवन में ला कर पत्नी को दिया । फिर रानी के गूढ-गर्भ से पुत्र - जन्म की बात राज्य में चला कर जन्मोत्सव करने लगा ।

कुछ समय बाद रुक्मिणी ने पुत्र को मँगवाया तो कृष्ण ने कहा- "तुम खुद अभी मुझ-से ले गई हो । वह तुम्हारे पास ही है ।" जब बालक नहीं मिला, तो कृष्ण समझ गए कि किसी के द्वारा में छला गया हूँ । पुत्र-हरण के आघात ने रुक्मिणी को मूर्च्छित कर दिया । सत्यभामा को छोड कर शेष सभी रानियों, यादव-परिवार के सदस्यो और सेवको में शोक एव विषाद व्याप्त हो गया । कृष्ण ने बालक का पता लगाने के लिए चारों ओर सेवकों को भेजा, परन्तु कहीं पता नहीं लगा । रुक्मिणी की मूर्च्छा दूर होने पर उसने पति से कहा - "आप जैसे समर्थ पुरुष के पुत्र का भी पता नहीं लगे, तो दूसरे सामान्य व्यक्ति की सुरक्षा कैसे हो ?" कृष्ण और यादव-परिवार हताश हो कर चितामग्न रहने लगे । इतने में नारदजी आ पहुँचे । उन्हें देख कर कृष्ण को प्रसन्नता हुई उन्होने उनका बहुत आदर-सत्कार किया और अपने पुत्र-हरण की बात कह कर के उपाय पूछा नारदजी सोच कर बोले -

"महात्मा अतिमुक्त मुनि की मुक्ति हो गई अन्यथा उनसे पूछते । अब कोई वैसा ज्ञानी भरत में नहीं रहा । मैं पूर्व-महाविदेह जा कर भ० सीमन्धर स्वामी से पूछूँगा और आप-से कहूँगा । आप निश्चिंत रहें ।"

कृष्ण और अन्य स्वजनो ने नारदजी को अत्यत आदर के साथ विदा किया । वे यहाँ से उड कर महाविदेह आय भ० सीमन्धर स्वामी को वन्दना की और पूछा-

"भगवन् ! कृष्ण का बालक कहाँ है ?" प्रभु ने कहा -

"बालक के पूर्वभव के वैरी धूमकेतु देव ने बालक का छलपूर्वक हरण किया है । अब वह बालक कालसवर विद्याधर के यहाँ सुखपूर्वक है ।"

प्रद्युम्नकुमार और धूमकेतू के पूर्वभव का वृत्तांत

भगवान् सीमन्धर प्रभु ने कहा;-

इसी भरत-क्षेत्र के मगध-देश में शालिग्राम नाम का एक ऐश्वर्य पूर्ण ग्राम है । उसके मनोरम उद्यान का स्वामी सुमन नामक यक्ष था । उस ग्राम मे सोमदेव नामक ब्राह्मण रहता था उसके अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो पुत्र थे । वे कुशल वेदज्ञ ब्राह्मण-पुत्र यौवन के आवेग में मदोन्मत्त हो कर भोगासक्त रहते थे । आचार्य श्री नन्दीवर्द्धन स्वामी मनोरम उद्यान में पधारे । लोग महात्मा के धर्मोपदेश से लाभान्वित हो रहे थे । किसी समय वे दोनों वेदज्ञ युवक गर्विष्ट हो आचार्य के समीप आये और बोले-

"कुछ पढे-लिखे हो, या या ही ढपोरशख हो ? यदि शास्त्र जानते हो तो शास्त्रार्थ के लिए तत्पर हो जाओ ।"

"तुम कहाँ से आये हो" - आचार्य के सत्यव्रत नामक शिष्य ने पूछा ।

"इस पास वाले शालिग्राम गाँव से ।"

"अरे भाई ! मनुष्य भव में किस भव से आये हो ?"

"हम नहीं जानत कि पूर्वभव मे हम कौन थे ।"

"सुना, तुम पूवभव में जम्बुक थे और इसी ग्राम की वनस्थली में रहते थे । एक कृषक ने अपने खेत में चमडे की रस्सी रख छोडी थी । रात्रि मे वर्षा होने से वह भींज कर नरम बन गई । तुमन वह चर्मरज्जु खा ली । उसके उग्र विकार से मर कर तुम सामदेव के पुत्र हुए । वह कृषक मर कर अपनी पुत्रवधू के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । वहाँ उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ । उसने अपने ज्ञान से जाना कि मेरी पुत्र-वधू ही मरी माता बनेगी और मेरा पुत्र ही मेरा पिता हो गया । *'अब मैं इन्हे किस सम्बोधन से पुकारूँ ?'* - इस विचार से उसने मौन रहना ही पसन्द किया, जो अब तक मौन ही है । यदि तुम्हे मेरी बात मे विश्वास नहीं है, तो जाओ और उस किसान से पूछो । वह स्वय बोल कर अपना वृत्तात सुना देगा ।"

दोनो भाई और उपस्थित लोग, उस किसान के घर गए और उस गूँगे कृषक को मुनिराज के पास ले आये । महात्मा ने उससे कहा, -

"तुम अपने पूर्वभव का वृत्तात कहो । लज्जित क्यो होते हो ? कर्म के वशीभूत हो कर जीव का पिता से पुत्र और पुत्र से पिता होना असभव नहीं है । ससार - चक्र मे जीवो के ऐसा होता ही रहता है, अनादि से होता आया है ।"

इतना कहने पर भी कृषक नहीं बोला तो मुनिश्री ने उसका पूर्वभव सुनाया । सत्य वर्णन सुन कर कृषक प्रसन्न हुआ और मौन छोड़ कर मुनिराज को वन्दन-नमस्कार किया और अपना पूर्वभव कह सुनाया । कृषक की बात और मुनिराज का उपदेश सुन कर उपस्थित लोगो मे से कई विरक्त हो कर सर्वविरत बने और कई ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया । कृषक भी धर्म के सम्मुख हुआ । किन्तु अग्निभूति और वायुभूति पर विपरीत प्रभाव पड़ा । वे लोगो के द्वारा उपहास्य के पात्र बने । उनकी द्वेषाग्नि भडकी । वे अपमानित हो कर लौट गए और रात के अन्धेरे में, मुनिराज को मारने के लिए खड्ग ले कर आये । सुमन यक्ष ने उन्हें स्तभित कर दिया । प्रातःकाल जब लोगो ने उन्हें इस स्थिति में देखा तो उनकी सभी ने भर्त्सना की । उनके माता-पिता और परिवार रोने और आक्रन्द करने लगे । उस समय यक्ष ने प्रकट हो कर कहा - "ये पापी रात को मुनिराज का मारने के लिए आये थे । इसलिए मैने इन्ह यहाँ स्तभित कर दिया । अब ये इन महात्मा से क्षमा माँग कर शिष्यत्व स्वीकार करें, तो इन्हें मुक्त किया जा सकता है । अन्यथा ये अपने कुकृत्य का फल भोगते रहें ।" यक्ष का बात सुन कर वे दोनों भाई बोले-

"हमसे श्रमण-धर्म का पालन नहीं हो सकता । हम श्रावकधर्म का पालन करेंगे ।"

यक्ष ने उन्हें छोड दिया । वे दोनों श्रावकधर्म का यथाविधि पालन करने लगे, परन्तु उनके माता-पिता को यह रुचिकर नहीं हुआ । वे अपने आचार-विचार मे पूर्ववत् स्थिर रहे ।

अग्निभूति और वायुभूति मर कर सौधर्म देवलोक मे छह पल्योपम की आयु वाले देव हुए । वहा की आयु पूर्ण कर के हस्तिनापुर में अर्हद्दास व्यापारी के पुत्र - पूर्णभद्र और माणिभद्र हुए और पूर्व परिचित श्रावकधर्म का पालन करने लगे । कालान्तर से शेठ अर्हद्दास महात्मा महेन्द्रमुनि के पास दीक्षित हो गए । पूर्णभद्र और माणिभद्र, मुनियो की वन्दना करने जा रहे थे । मार्ग मे उन्हें एक चाण्डाल और एक कुतिया, साथ ही दिखाई दी । उन दोनो जीवों को देख कर, दोनो बन्धुओं के मन में प्रीति उत्पन्न हुई । उन्होने महर्षि के समीप पहुँच कर वन्दना की और पूछा-

"भगवन् ! मार्ग मे चाण्डाल और कुतिया को देख कर हमारे मन में उनके लिए स्नेह क्यों उत्पन्न हुआ ?"

महात्मा ने कहा - "यह चाण्डाल तुम्हारे पूर्वभव का पिता और कुतिया माता थी । तुम्हारा पिता सोमदेव मृत्यु पा कर शखपुर का राजा हुआ । वह पर-स्त्री लम्पट था । तुम्हारी माता उसी नगर में सोमभूमि ब्राह्मण की रुक्मिणी नामकी सुन्दर पत्नी थी । एक बार वह राजा की दृष्टि मे आ गई । राजा उस पर आसक्त हो गया । उसने सोमभूति पर अपराध मढ कर बन्दी बना लिया और उसकी पत्नी को अपने अन्त पुर में मँगवा लिया । सोमभूति का हृदय वैर एव द्वेष की प्रचण्ड ज्वाला मे जलता रहा । राजा, उस स्त्री मे भोगासक्त हो कर बहुत लम्बे काल तक जीवित रहा और अन्त में मर कर प्रथम नरक में तीन पल्योपम की आयु वाला नैरयिक हुआ । वहाँ से मर कर वह हिरन हुआ और किसी शिकारी द्वारा मारा जा कर एक सेठ का पुत्र हुआ । वह अत्यत कपटी था । वहाँ से मर कर वह हाथी हुआ । दैव-योग से उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उसे अपने पूर्वभव के कुकृत्य का पश्चाताप हुआ और अनशन कर के अठारह दिन तक निराहार रहा । फिर मृत्यु पा कर सौधर्म स्वर्ग तीन पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ और देवायु पूर्ण कर के यह चाण्डाल हुआ । तुम्हारी माता का जीव रुक्मिणी मर कर भव-भ्रमण करती हुई यह कुतिया हुई है । पूर्व सम्बन्ध के कारण तुम्हारी उन दोनो पर प्रीति उत्पन्न हुई है ।"

अपने पूर्व-जन्म का वृत्तात सुन कर पूर्णभद्र और माणिभद्र को जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उन्होने जा कर उस चाण्डाल और कुतिया को प्रतिबोध दिया । दोनों जीवो ने अनशन कर लिया और मृत्यु पा कर चाण्डाल तो नन्दीश्वर द्वीप में व्यतर देव हुआ और कुतिया शखपुर में सुदर्शना नाम की राजकुमारी हुई । कालान्तर मे महर्षि महेन्द्र मुनि विचरते हुए वहाँ आये, तब उन दोनो भाइयो ने उस चाण्डाल और कुतिया के विषय में प्रश्न पूछा । महात्मा ने उन दोनों की सद्गति बतलाई । वे श्रेष्ठिपुत्र, शखपुर गए और राजकुमारी सुदर्शना को प्रतिबोध दिया । सुदर्शना ससार से विरक्त हो कर प्रव्रजित हुई और सयम पाल कर देवलोक में गई । पूर्णभद्र और माणिभद्र भी श्रावक-धर्म का पालन कर सौधर्म कल्प में इन्द्र

के सामानिक देव हुए । वहाँ का आयु पूर्ण कर के हस्तिनापुर के नरेश विश्वक्सेन के 'मधु' और 'कैटभ' नामक पुत्र हुए । वह नन्दीश्वर देव, भवभ्रमण करता हुआ वटपुर नगर में कनकप्रभ राजा की चन्द्राभा रानी हुई । राजा विश्वक्सेन ने मधु का राज्याभिषेक किया और कैटभ को युवराज पद दे कर प्रव्रजित हो गया । कालान्तर में मृत्यु पा कर ब्रह्मदेवलोक में ऋद्धि-सम्पन्न देव हुआ ।

मधु और कैटभ ने राज्य का बहुत विस्तार किया । कई राजाओं को उन्होंने अपने अधीन कर लिया था, किंतु भीम नाम का पल्लिपति उनके राज्य में उपद्रव करता रहा । उसको नष्ट करने के लिए राजा मधु, सेना ले कर चला । मार्ग में वटपुर के राजा कनकप्रभ ने राजा मधु का स्वागत किया। भोजनादि के समय राजा की चन्द्राभा रानी भी सम्मिलित थी । रानी को देखकर मधु मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया । किंतु मंत्री के समझाने से वह मान गया । पल्लिपति को जीत कर लौटते हुए मधु ने बलपूर्वक रानी चन्द्राभा को ग्रहण कर लिया और अपने साथ ले आया। असहाय कनकप्रभ हताश हो गया और विक्षिप्त हो कर उन्मत्त के समान भटकने लगा ।

एक समय राजा मधु को राजसभा में बहुत देर लग गई । जब वह चन्द्राभा के भवन में पहुँचा, तो रानी ने विलम्ब का कारण पूछा । मधु ने कहा - "एक विषय का निर्णय करने में विलम्ब हो गया।"

"ऐसा जटिल विषय क्या था" - रानी ने पूछा ।

"व्यभिचार का अभियोग था" - राजा ने कहा ।

"व्यभिचारी को आपने निर्दोष ठहरा कर सम्मानपूर्वक मुक्त कर दिया होगा" - रानी ने पूछा ।

"नहीं, कठोर दण्ड दिया है उसे । नीति और सदाचार की रक्षा के लिए ऐसे अपराधियों को विशेष दण्ड दिया जाता है" - राजा ने कहा ।

"आपका यह न्याय दूसरों के लिए ही है । आप के लिए किसी न्याय, नीति और सदाचार की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि आप तो समर्थ हैं ?"

राजा, रानी का व्यंग समझ गया और लज्जित हो कर नीची दृष्टि कर ली ।

रानी ने कहा -

"जो स्वयं दुराचार का सेवन करता हो, उसे न्याय करने का क्या अधिकार है ? राजा तो आदर्श होना चाहिए । राजा का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है । कदाचित् उस अपराधी ने आपका अनुकरण किया होगा ?"

राजा बहुत लज्जित हुआ । उसी समय विक्षिप्त कनकप्रभ मधु को गालियां देता हुआ उधर आ निकला । चन्द्राभा ने अपने पति की दुर्दशा बताते हुए मधु से कहा -

"देख लीजिए । आपके दुराचार से मेरे पति की क्या दुर्दशा हुई । इसके सुखी जीवन को आपने दुःखी बना दिया और सारा जीवन ही नष्ट कर दिया । कितना भला और सुशील पति था । शक्ति के ऐसे दुरुपयोग का भावी परिणाम अच्छा नहीं होगा ।"

मधु को बहुत पश्चात्ताप हुआ । वह ससार से विरक्त हो गया और 'धुधु' नामक पुत्र को राज्य दे कर महात्मा विमलवाहन के पास दीक्षा ले ली । उसका भाई युवराज कैटभ भी प्रव्रजित हो गया । वे बहुत लम्बे काल तक ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना करते हुए आयु पूर्ण कर महाशुक्र देवलोक मे महर्द्धिक देव हुए । कनकप्रभ भी अपना लम्बा जीवन, वैर और द्वेष मे ही गँवा कर ज्योतिषी धूमकेतु देव हुआ । उसने अपने वैरी की खोज की, परतु वह उसकी अवधि के बाहर होने से दिखाई नहीं दिया । वह वहाँ से मर कर मनुष्य हुआ और बाल तप कर के वैमानिक देव हुआ । उसने फिर अपने शत्रु की खोज की, किंतु फिर भी वह उसे नहीं पा सका । वह ससार परिभ्रमण करता हुआ पुन धूमकेतु देव हुआ । वहाँ उसने अपने वैरी को कृष्ण की गोद मे देखा और कोपानल में जलता हुआ हरण कर गया । प्रद्युम्न चरम-शरीरी और पुण्यवान् है । इसलिए वह उसे मार नहीं सका । अब वह कालसवर विद्याधर के यहाँ सुखपूर्वक पल रहा है । रुक्मिणी से उसका मिलना सोलह वर्ष के बाद होगा ।

रुक्मिणी के पूर्व-भव

सर्वज्ञ भगवान् से प्रद्युम्न और धूमकेतु के पूर्वभव का चरित्र और वैरोदय का वर्णन सुनकर नारद ने रुक्मिणी के पुत्र-वियोग का कारण पूछा । भगवान् ने कहा -

"मगध देश के लक्ष्मी ग्राम में सोमदेव ब्राह्मण रहता था । लक्ष्मीवती उसकी पत्नी थी । एकदा उसने उपवन मे मयूरी का अण्डा देखा और अपने कुकुम-लिप्त हाथ में ले कर पुन रख दिया । जब मयूरी आई और उसने अण्डे के वर्ण-गन्धादि परिवर्तित देखे, तो शकित हो गई और अण्डे से दूर रही । अण्डा बिना सेये सोलह घडी तक रहा । फिर वर्षा होने से अण्ड पर लगा हुआ कुकुम और उसकी गन्ध धुल कर पुन वास्तविक दशा प्रकट हो गई । इसके बाद मयूरी ने अण्डा सेया और उसमें से बच्चा निकला । कालातर मे लक्ष्मीवती फिर उस उपवन में गई और मयूर के सुन्दर बच्चे पर मोहित हो कर पकड़ लाई । बिचारी मयूरी रोती कलपती रही, पर लक्ष्मीवती ने उसके दु ख की उपेक्षा कर दी । अब वह उस बच्चे को एक सुन्दर पींजरे में रख कर खिलाने-पिलाने और सुखपूर्वक रखने तथा नृत्य सिखाने लगी । उधर मयूरी को पुत्र-वियोग का दु ख बढता रहा । वह सदैव अपने बच्चे को खोजने के लिए चिल्लाती हुई उस उपवन में भटकने लगी । ग्रामवासियों से मयूरी की दशा नहीं देखी गई तो किसी ने लक्ष्मीवती से मयूरी के दु ख की बात कही । लक्ष्मीवती का हृदय पसीजा । उसने बच्चे को ले जा कर उसकी माँ के पास छोड दिया । बच्चे को माता का विरह सोलह मास रहा । प्रमाद के वशीभूत हो कर लक्ष्मीवती ने पुत्र-विरह का सोलह वर्ष की स्थिति का असातावेदनीय कर्म उपार्जन कर लिया ।

एक बार लक्ष्मीवती अपना विभूषित रूप दर्पण में तल्लीनतापूर्वक दख रही थी । उस समय समाधिगुप्त नामक तपस्वी सत भिक्षा के लिए उसके घर में आए । सोमदेव कार्यवश बाहर जा रहा था। उसने पत्नी से कहा - 'इन तपस्वी मुनि को भिक्षा दे दे ।' लक्ष्मीवती न तपस्वी को दख कर घृणापूर्वक थूक दिया और गालियाँ देते हुए उन्हें घर से बाहर निकाल कर द्वार बन्द कर दिया । तपस्वी सत की तीव्र जुगुप्सा के पाप कर्म से उसे सातवें दिन कोढ का रोग हो गया, जिसे वह सहन नहीं कर सकी और अग्नि में जल कर मर गई । मनुष्य-देह छोड कर वह उसी गाँव मे एक धोबी के यहाँ गधी के रूप में उत्पन्न हुई । गधी मर कर उसी गाँव में डुक्करी (भडुरी) हुई । फिर कुतिया हुई और दावानल में जली । उस समय मन में कुछ शुभ भाव उत्पन्न हुआ, जिससे मनुष्यायु का बन्ध किया और मर कर नर्मदा नदी के पास भृगुकच्छ नगर में मच्छमार की 'काणा' नामकी पुत्री हुई । वह दुर्भागिनी थी । उसकी देह से दुर्गन्ध निकलती थी । असह्य दुर्गन्ध मे त्रस्त हो कर उसके माता-पिता ने उसे नर्मदा के किनारे रख दिया । वय प्राप्त होने पर वह नदी पार जाने-आने वाला को नौका से पहुँचाने लगी । दैवयोग से समाधिगुप्त मुनि, नदी के उसी तट पर आ कर ध्यानस्थ रहे । शीतकाल था और सर्दी का जोर था । काणा ने मुनि को देखा और विचार करने लगी - "ये महात्मा इस असह्य सर्दी का कैसे सहन कर सकेंगे ?" उसके हृदय में दया उमडी । उसने वहाँ पडी हुई घास उठा कर, मुनि को ठीक प्रकार से ढक दिया । प्रात काल होने पर वह महात्मा के निकट आई और प्रणाम किया । मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश सुनते-सुनते काणा क मन म विचार हुआ - "मैंने इन महात्मा का कहीं देखा है ।" किन्तु उसे स्मृति नहीं हुई । उसने महात्मा से कहा - "मैंने आपको पहले दखा अवश्य है, परन्तु अभी याद नहीं आ रहा है ।" मुनिजी ने ज्ञानोपयोग से उसके पूर्वभवा को जान कर लक्ष्मीवती के भव की घटना और बाद के भव कह सुनाये । महात्मा से अपने पूर्वभव का वणन सुनते और चिन्तन करते काणा को जातिस्मरण हो आया । अपने पूर्वभव में महात्मा की की हुई भर्त्सना की उसने क्षमा याचना की और परम श्राविका बन गई । फिर महासतीजी का योग पा कर वह उन्हीं के साथ विचरने लगी । चलते-चलते वह एक ग्राम मे 'नायल' नाम के श्रावक के आश्रय में रह कर एकान्तर तप करने लगी । बारह वर्ष तक तपपूर्वक श्राविका-पर्याय पाली और अनशन करके ईशान देवलोक में देवी हुई* । वहाँ का आयु पुर्ण करके वह रुक्मिणी हुई है ।"

इस प्रकार भ०सीमन्धर स्वामी से रुक्मिणी का पूर्वभव सुन कर नारदजी ने भगवान् की वन्दना की और वहाँ से चल कर वैताढ्यगिरि के मेघकूट नगर आये । उन्होंने विद्याधरराज सवर स कहा - "तुम्हें पुत्र प्राप्ति हुई यह अच्छा हुआ ।" सवर राजा ने नारद का बहुत सम्मान किया और प्रद्युम्न का

* 'त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र' म 'अच्युतेन्द्र की इन्द्राणी होना और आयु 'पचपन पल्योपम' बतलाया है । यह सिद्धात के विरुद्ध है । क्योंकि ईशानेन्द्र तक ही देवांगना होती है । अच्युत कल्प में नहीं होती तथा इन्द्रानी की आयु भी पल्योपम से अधिक नहीं होती । पचपन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु ईशान कल्प की अपरिगृहीता देवी की होती है ।

ला कर दिखाया'। नारद ने देखा कि वह बालक, रुक्मिणी के अनुरूप है । वहाँ से चल कर द्वारिका आये और कृष्ण आदि को प्रद्युम्न तथा अपनी खोज सम्बन्धी पूरा वृत्तान्त सुनाया । रुक्मिणी को उन्होंने उसके पूर्व के लक्ष्मीवती आदि भवों का वर्णन सुनाया । अपने पूर्वभवो का वृत्तात सुन कर रुक्मिणी ने यहाँ रहे हुए ही भगवान् की वन्दना की । सोलह वर्ष के पश्चात् पुत्र का मिलन होगा - इस भविष्यवाणी से उसे इतना सतोष हुआ कि पुत्र जीवित है और सोलह वर्ष बाद उसे अवश्य मिलेगा ।

पाण्डवों की उत्पत्ति

भगवान् आदिनाथ स्वामी के 'कुरु' नाम का पुत्र था । इस कुरु के नाम से ही कुरुक्षेत्र विख्यात है। कुरु का पुत्र हस्ति हुआ । हस्तिनापुर नगर उसका बसाया हुआ है । हस्ति में अनन्तवीर्य नाम का पुत्र हुआ । इसका पुत्र कृतवीर्य और कृतवीर्य का पुत्र सुभूम चक्रवर्ती सम्राट हुआ । इसके बाद असख्य राजा हुए । इसी वश-परपरा में शान्तनु नाम का राजा हुआ । इसके गगा और सत्यवती - ये दो रानिया थीं । गगा का पुत्र 'भीष्म' हुआ, जो भीष्म पराक्रमी था । सत्यवती के चित्रागद और चित्रवीर्य -ये दो पुत्र थे । चित्रवीर्य के अबिका, अम्बालिका और अबा - ये तीन स्त्रियाँ थीं । इन तीनो के क्रमश धृतराष्ट्र, पडु और विदुर नामक पुत्र हुए । पाण्डु, मृगया मे विशेष लीन रहने लगा और धृतराष्ट्र राज्य का सचालन करने लगा । धृतराष्ट्र ने गान्धार देश के राजा शकुनि की गान्धारी आदि आठ बहिना के साथ विवाह किया, जिससे दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए । पाण्डु राजा के रानी कुती से युधिष्टिर, भीम और अर्जुन, तथा शल्य राजा की बहिन माद्री से नकुल और सहदेव - ये पाँच पुत्र हुए । ये पाँचों भाई विद्या बुद्धि और बल में सिह के समान थे । विद्याधरों के लिए भी ये अजेय थे । इन पाँचों भाइयों में परस्पर प्रेम भी बहुत था । उत्तम गुणों से युक्त ये अपने ज्येष्ठ-बन्धु के प्रति आदर एव विनय युक्त रहते थ ।

द्रौपदी का स्वयंवर और पाण्डव-वरण

काम्पिल्यपुर के द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी के लिए स्वयवर का आयोजन हुआ था । द्रुपद राजा ने पाण्डु राजा को भी कुमारों सहित आमन्त्रित किया । वे अपने पाँचों पुत्रों के साथ काम्पिल्यपुरी पहुँचे । अन्य बहुत-से राजा और राजकुमार भी वहाँ एकत्रित हुए थे । स्वयवर के समय द्रौपदी, पूर्वकृत निदान के तीव्र उदय वाली थी । उसने पति प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा लिये हुए स्नानादि किया, फिर देव-पूजा और शृगारादि कर, हाथ में वरमाला लिये, सखियों के समूह में चलती हुई मण्डप म आइ । उसकी मुख्य सखी उसे प्रत्येक राजा और राजकुमार का परिचय दे रही थी । जब द्रौपदी परिचय सुन कर नमस्कार करती, तो सखी आगे बढ कर अन्य का परिचय देती । इस प्रकार चलते-चलते वह पाँचों पाण्डव-बन्धुओं के निकट पहुँची । उन्हे देखते ही उसके मन में उन पर तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ और

उसने हाथ की बडीसी वरमाला उनके गले में आरोपित कर दी । पाँचो बन्धुओं के गले में वरमाला देख सभा चकित रह गई और चारों ओर से एकसाथ आवाजे उठी - "यह क्या ? ऐसा क्यों हुआ ? क्या पाञ्चाली के पाँच पति होगे ? नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता " आदि । सारी सभा चकित था । एक-दूसरे से इस घटना पर कानाफूसी कर रहे थे । उसी समय देवयोग से एक चारण मुनि आकाशपथ से वहाँ आ उतरे । महात्मा को देख कर श्रीकृष्ण आदि ने वन्दना की और पूछा,- "महात्मन् ! आप विशिष्टि ज्ञानी हैं । कृपया बताइये कि द्रौपदी के पाँच पति होंगे ? ऐसा होने का क्या कारण है ? क्या यह आश्चर्यजनक घटना हो कर ही रहेगी ?"

- "हा राजन् ! ऐसा ही होगा । द्रौपदी ने पूर्वभव मे निदान किया । वह अब उदय में आया है और अनिवार्य है ।"

सभाजनों के मन कुछ शान्त हुए, उत्तेजना मिटी, परन्तु जिज्ञासा जगी और प्रश्न हुआ -

"भगवन् ! द्रौपदी के पूर्वभव मे किये निदान सम्बन्धी वर्णन सुनाने की कृपा करें " - सभाजनों की ओर से श्रीकृष्ण ने निवेदन किया।

द्रौपदी-चरित्र ++ नागश्री का भव

मुनिराज द्रौपदी के पूर्वभवो का वर्णन सुनाने लगे -

"चम्पा नगरी में सोमदेव, सोमदत्त और सोमभूति नाम के तीन ब्राह्मण-बन्धु रहते थे । वे धनधान्यादि से परिपूर्ण थे । उनके क्रमश - नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री नाम की पत्नियाँ थी । वे तीनों पृथक्-पृथक् रहते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे । तीनो भाइयों में स्नेह-सम्बन्ध विशेष था । उन्होने निश्चय किया था कि 'तीनो भाई क्रमश बारी-बारी से एक-एक दिन, एक-एक के घर साथ ही भोजन करते रहेंगे ।' इस प्रकार करते हुए कालान्तर मे सोमदेव के घर भोजन करने की बारी थी । नागश्री ने रुचिपूर्वक उत्तम भोजन बनाया । उस भोजन में तुम्बी-फल का शाक भी बनाया जिसमें अनेक प्रकार के मसाले आदि डाले गए थे परन्तु वह तुम्बीफल कडुआ था । शाक बनने के बाद उसने चखा, तब उसे उसका कडुआपन मालूम हुआ । वह बहुत खेदित हुई और उस कडुए शाक को छुपा कर रख दिया । फिर दूसरा शाक बना कर सब को भोजन कराया ।

उस समय उस नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में आचार्य 'धर्मघोष' नाम के स्थविर बहुत-से शिष्यों के परिवार से पधार कर ठहरे हुए थे । उनके साथ 'धर्मरुचि' नाम के तपस्वी महात्मा भी थे । जो सतत मासखमण की तपस्या करते थे । उस दिन उनके मासोपवास का पारणा था । वे भिक्षाचरी के लिए भ्रमण करते हुए सोमदेव ब्राह्मण के घर पहुँचे । उस समय सोमदेवादि सभी ने भोजन कर लिया था । नागश्री मुनि को देख कर प्रसन्न हुई । उसने सोचा 'अच्छा हुआ जो यह साधु आ गया । अब मुझे उस कडुए तुम्बे के शाक को फेकने के लिए कहीं जाना नहीं पडेगा । मैं इसीको यह सब शाक दे दूँ ।' इस

प्रकार सोच कर उसने तपस्वी मुनि के पात्र म सारा शाक डाल दिया । पर्याप्त आहार जान कर महात्मा लौट कर गुरुदेव के समीप आये और आहार दिखाया । आचार्य ने वह शाक देखा और उसकी गन्ध से प्रभावित हो कर उसका एक बूँद अपनी हथेली पर ले कर चखा । उन्हें उसकी वास्तविकता मालूम हो गई । उन्होने तपस्वी से कहा –

"देवानुप्रिय ! इस शाक को तुम मत खाओ । यह प्राण-हारक है । इसे यहाँ से ले जा कर निर्दोष स्थान पर डाल दो और अपने लिए दूसरा आहार ला कर पारणा कर लो ।"

धर्मरुचि अनगार पात्र ले कर स्थण्डिल भूमि पर आये । भूमि की प्रतिलेखना की और अपनी आशका दूर करने के लिए, शाक का एक बूँद भूमि पर डाला । थोडा ही देर मे शाक की गन्ध से आकर्षित हो कर हजारों चिटियाँ वहाँ आ पहुँची और शाक खा-खा कर मरने लगी । यह देख कर तपस्वी धर्मरुचि के मन मे विचार हुआ कि –

"एक बूद से हजारा चिटियाँ मर गई, तो सारा शाक खा कर कितने प्राणियो का मरण हो जायगा? इसलिए इस शाक को मुझे ही खा लेना चाहिए । मेरे लिए यही हितकर और श्रेयस्कर है । यह शाक मेरे शरीर म ही समाप्त हो जाओ । यही स्थान इसके योग्य है ।"

इस प्रकार विचार कर तपस्वी सत, वह सभी शाक खा गए । थोडी ही देर में वह शाक उन महात्मा के शरीर मे परिणम कर वेदना उत्पन्न करने लगा । महात्मा अतिम आराधना करने को तत्पर हुए और पात्र आदि एकान्त निर्दोष स्थान में रख कर विधिपूर्वक सथारा किया । आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधिभाव युक्त धर्म-ध्यान करते हुए देह त्यागी । वे 'सर्वार्थसिद्ध' महा विमान में अहमिन्द्र हुए ।

तपस्वी धर्मरुचिजी को गये बहुत काल व्यतीत होने पर, आचार्यश्री धर्मघोष अनगार को चिन्ता हुई । उन्होंने साधुओ को सम्बोधित कर कहा – "आर्यो ! तपस्वी को अनिष्ट आहार परठाने गये बहुत काल बीत गया, वे नहीं लौटे । तुम जाओ खोज करो । उन्हें इतना विलम्ब क्यों हुआ ?" गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर श्रमण-निर्ग्रन्थ खोज करने गए । खोज करते उन्हे धर्मरुचि तपस्वी का सोया हुआ निश्चेष्ट देह दिखाई दिया। सभाल करने पर उन्हें विश्वास हो गया कि तपस्वी का देहावसान हो गया है। उनके हृदय को आघात लगा और सहसा मुँह से निकल गया – "हा, हा, यह अकार्य हुआ ।" वे सँभले और तत्काल धर्मरुचि तपस्वी का परिनिर्वाण (देहावसान) कायोत्सर्ग किया । इसके बाद तपस्वीजी के पात्रादि ले कर वे आचार्यश्री के समीप आये और गमना-गमन का प्रतिक्रमण कर निवेदन किया – "भगवन् ! तपस्वी सत का देहावसान हो गया है । यह उनके पात्रादि हैं ।"

"तपस्वी का देहावसान कैसे हो गया ? क्या निमित्त हुआ मृत्यु का ?" आचार्य ने पूर्वगत उपयाग लगाया और कारण जान लिया । उन्होंने साधु-साध्वियों को सम्बोध कर कहा –

"आर्यो ! मेरा अतेवासी प्रकृति से भद्र विनीत तपस्वी धर्मरुचि अनगार, नागश्री ब्राह्मणी के दिये हुए, विष समान तुम्बे के शाक को परठने गये थे । उन्होने एक बूँद भूमि पर डाल कर देखा और जावों की विराधना बचाने के लिए उन्होंने वह सारा शाक खुद खा लिया । इससे उन्हें महान् वेदना हुई और वे सथारा करके कालधर्म को प्राप्त हुए । वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे देव हुए हैं । वहाँ तेतीस सागर की आयु पूर्ण कर के वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगें और निर्ग्रंथ – प्रव्रज्या स्वीकार कर मुक्त होंगे ।"

" हे आर्यो ! उस पापिनी नागश्री ब्राह्मणी को धिक्कार है, जिसने तपस्वी सत को विष क समान आहार दे कर मार डाला । वह धिक्कार के योग्य है । अधन्या, अपुण्या एव कडवी नियोली के समान दुत्कार के योग्य है ।"

नागश्री को तपस्वीघातिनी जान कर श्रमण निर्ग्रन्थ क्षुब्ध हुए । वे नगर मे आ कर स्थान-स्थान पर बहुत-से लोगों में, नागश्री के तपस्वी-घातक दुष्कर्म को प्रकट करते हुए उसे धिक्कारने लगे । साधुओं की बात सुन कर लोग परस्पर नागश्री की निन्दा करते हुए धिक्कार देने लगे । यह बात सोमदेव आदि ब्राह्मण-बन्धुओ ने भी सुनी । वे अत्यन्त कुपित हुए और नागश्री के पास आकर उसे धिक्कारा अपमानित की और मार-पीट कर घर से निकाल दिया । घर से निकाली हुए नागश्री, नगरजनों द्वारा निन्दित तिरस्कृत और प्रताडित होती हुई इधर-उधर भटकने लगी । सुख के सिहासन से गिर कर दु ख के गड्ढे में पडी हुई नागश्री अनेक प्रकार की व्याधियों की पात्र हो गई । शीत-ताप भूख-प्यास तथा प्रतिकूल सयोग और पाप प्रकृति के तीव्र उदय से कई प्रकार के महारोग उसके शरीर में उत्पन्न हुए । वह महान् सक्लिष्ट भावों मे – रौद्र – ध्यान में, लीन रहती हुई मर कर छठी नरक में उत्पन्न हुई। वहाँ उसकी आयु बाईस सागरोपम की थी । वहाँ के महान् दु खो को भोगती हुई काल कर के वह जलचर म* उत्पन्न हुई । वहाँ भी शस्त्रघात और दाहज्वर से मर कर सातवीं नरक में गई । वहाँ की तेतीस सागर प्रमाण आयु की महान्तम वेदना भोग कर फिर जलचर म गई । वहाँ से फिर सातवीं नरक में उत्कृष्ट आयु तक तीव्रतम दु ख भोग कर फिर जलचर मे गई । जलचल से मर कर दूसरी बार छठा नरक में गई । इस प्रकार प्रत्येक नरक म दो-दो बार जा कर और तिर्यंच-योनि के दु ख भोग कर वह असज्ञी पचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय म लाखों बार उत्पन्न हुई और छेदन-भेदन और जन्म-मरण के दु ख भोगती हुई चम्पानगरी के सागरदत्त सेठ की भद्रा भार्या की कुक्षि से पुत्री क रूप में उत्पन्न हुई । वह अत्यन्त रूपवती सुकोमल सुन्दर और आकर्षक थी । उसका नाम "सुकुमालिका" था । यौवन-वय प्राप्त होने पर वह उत्कृष्ट रूप – लावण्य से अत्यन्त शोभायमान लगने लगी ।

* यह ज्ञातासूत्र का विधान है । त्रि श. पु चरित्र मं छठी नरक से निकल कर चाण्डाल जाति में उत्पन्न हुई, फिर सातवीं में जाना और वहाँ से म्लेच्छ जाति में उत्पन्न होना लिखा है जो उचित प्रतीत नहीं लगता । सातवीं से निकल कर तो मनुष्य होता ही नहीं है ।

सुकुमालिका के भव में

उसी नगर में जिनदत्त नाम का धनाढ्य सेठ था । उसका 'सागर' नामक पुत्र था । एक बार जिनदत्त सेठ सागरदत्त सेठ के भवन के निकट हो कर कहीं जा रहा था । उस समय सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका शृगार कर के अपनी दासियो के साथ भवन की छत पर, सोने की गेंद खेल रही थी । जिनदत्त की दृष्टि सुकुमालिका पर पडी । वह सुकुमालिका का रूप-लावण्य और यौवन देख कर चकित रह गया । उसने अपने सेवक को बुला कर उस युवती का परिचय पूछा । परिचय जान कर जिनदत्त अपने घर आया और अपने मित्र-बन्धु सहित सागरदत्त के घर गया । सागरदत्त ने जिनदत्त आदि का आदर-सत्कार किया और आने का कारण पूछा । जिनदत्त ने सुकुमालिका की, अपने पुत्र सागर के लिए याचना करते हुए कहा-

"आप यदि उचित समझें तो अपनी सुपुत्री मेरे पुत्र को दीजिये । मैं अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूँ । यदि आप स्वीकार करें, तो कहिये मैं उसके प्रतिदान (शुल्क) में आपको क्या दूँ ?"

जिनदत्त की माँग सुन कर सागरदत्त ने कहा -

"देवानुप्रिय ! सुकुमालिका मेरी इकलौती पुत्री है और अत्यत प्रिय है । मैं उस एक क्षण के लिए भी दूर करना नहीं चाहता और न पराई करना चाहता हूँ । यदि आपका पुत्र मेरा घर जामाता रहना स्वीकार करे और आप देना चाहें तो मैं घर जामाता बना कर उसके साथ अपनी सुपुत्री का लग्न कर सकता हूँ ।"

सागरदत्त की शर्त सुन कर जिनदत्त अपने घर आया और पुत्र को बुला कर सुकुमालिका के लिए सागरदत्त की शर्त सुनाई और पूछा - "बोल तू घर जामाता रहना चाहता है ?" सागर मौन रहा । जिनदत्त ने सागर के मौन को स्वीकृति रूप मान कर सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया और शुभ तिथि-नक्षत्रादि देख कर दिन निश्चित किया । फिर सगे-सम्बन्धियो को आमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और सब के साथ, सुसज्जित सागर को शिविका में बिठा कर, समारोहपूर्वक सागरदत्त के घर ले गया । सागरदत्त ने जिनदत्त आदि का बहुत आदर-सत्कार किया और अपनी पुत्री का सागर के साथ लग्न विधि करने लगा । पाणिग्रहण की विधि करते समय सागर के हाथ मे सुकुमालिका का हाथ दिया तो सागर को ऐसा स्पर्श लगा - मानो हाथ में उष्ण तलवार, छुरी अथवा आग रख दी गई हो । वह विवश हो कर चुपचाप उस दुखद स्पर्श को सहता रहा और लग्नविधि पूर्ण की । लग्न हो जाने के बाद सागरदत्त सेठ ने जिनदत्त आदि वरपक्ष को भोजन-पान और वस्त्रादि से सम्मानित कर विदा कर दिया ।

वर-वधू शयनगृह में आये और शयन किया । इस समय भी सागर को सुकुमालिका का स्पर्श आग के समान असह्य एव दु खदायी लगा, किन्तु वह मन मसोस कर सोया रहा । जब सुकुमालिका निद्रा में लीन हो गई तो सागर चुपचाप उठ कर चला गया और अन्यत्र भिन्न शय्या म सो गया । कुछ

देर बाद सुकुमालिका जगी, तो वह अपने को पतिविहिन अकेली जान कर चौंकी । वह उठी और सागर की शय्या थी वहाँ आ कर उसके पास सो गई । सागर को पुन सुकुमालिका का असह्य स्पर्श सहना पडा । जब वह पुन सो गई, तो उठ कर उस घर से ही निकल कर अपने घर चला गया । उसके जाने के कुछ समय बाद सुकुमालिका जाग्रत हो कर फिर पति को खोजने लगी । घर के द्वार खुले देख कर वह समझ गई कि 'वह मुझे छोड कर चला गया है ।' वह खिन्न चिन्तित और भग्नमनोरथ हो कर शोक-मग्न बैठी रही । प्रातःकाल उसकी माता ने हाथ-मुँह धुलाने के लिए दासी को भेजी । दासी ने सुकुमालिका को शोकाकुल देख कर पूछा - "इस हर्ष के समय तुम शोकमग्न क्यो हो ?"

"मेरा पति मुझे सोती हुई छोड कर चला गया है ।" सुकुमालिका की यह बात सुन कर दासी ने सागरदत्त सेठ से जामाता के चले जाने की बात कही । दासी की बात सुन कर सागरदत्त क्रोधित हुआ और जिनदत्त सेठ के पास जा कर कहने लगा ।

"देवानुप्रिय ! तुम्हारा पुत्र, मेरी पुत्री को छोड कर यहाँ चला आया है । यह उचित और उत्तम कुल के योग्य नहीं है । मेरी पतिव्रता निर्दोष पुत्री को त्याग कर वह क्यों चला आया ? क्या अपराध हुआ था मेरी पुत्री से ?"

बहुत ही दु खित मन और भग्न स्वर से कही हुई सागरदत्त की बात को सुन कर जिनदत्त अपने पुत्र सागर के पास आया और बोला - "पुत्र ! तुमने बहुत बुरा किया, जो सुकुमालिका को छोड़ कर यहाँ आए । अब तुम अभी इसी समय वहाँ जाओ । तुम्हें ऐसा नहीं करना था ।"

पिता की बात सुन कर सागर ने कहा -

"पिताजी ! मुझे पर्वत-शिखर से गिर कर, वृक्ष पर फासी लटक कर विष खा कर, कुएँ में डूब कर और आग में जल कर मरना स्वीकार है, विदेश चला जाना और साधु बन जाना भी स्वीकार है, परन्तु सागरदत्त के घर जाना स्वीकार नहीं है । मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगा ।"

सागरदत्त प्रच्छन्न रह कर अपने जामाता की बात सुन रहा था । उसने समझ लिया कि अब यह नहीं आएगा । वह निराश हो कर वहाँ से निकला और घर आ कर पुत्री को सान्त्वना देते हुए कहने लगा -

"पुत्री ! तू चिन्ता मत कर । सागर गया तो गया । मैं अब तुझ ऐसे पुरुष को दूँगा जो तुझे प्रिय होगा और तेर अनुकूल रहेगा ।"

भिखारी का संयोग और वियोग

सागरदत्त ने पुत्री को आश्वासन दे कर सतुष्ट किया । एक दिन सागरदत्त अपने भवन के गवाक्ष में बैठा राजमार्ग पुर होता हुआ । गमनागमन का दृश्य देख रहा था । उसकी दृष्टि ने एक ऐसे भिखारी

को देखा, जिसके हाथ मे एक फूटे घडे का ठिबडा और सिकोरा था कपडे फटे हुए और अनेक टुकडों से जोडे हुए थे, मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही था । उस मैलेकुचेले जवान भिखारी को देख कर सागरदत्त ने अपने सेवको से कहा – "देखो वह भिखारी जा रहा है उसे भोजन का लोभ दे कर यहाँ ले आओ । उसके फटे टूटे कपडे उतार दो, उसके बाल बनवा कर और स्नान करवा कर स्वच्छ बनाओ । फिर अच्छे वस्त्र एव अलकार पहिनाओ और भोजन करा कर मेरे पास लाओ ।"

सेवक गए और उस भिखारी को भोजन कराने का लोभ बता कर घर ले आए । उसका ठियडा और सिकोरा ले कर एक ओर डालने लगे तो वह जोर से चिल्लाया और रोने लगा, जैसे उसे कोई लूट रहा हो । उसे आश्वस्त किया । इसके बाद उसका क्षौरकर्म कराया उत्तम तेल की मालिश की और सुगन्धित द्रव्य से उबटन कर स्नान करया । फिर उत्तम वस्त्र पहिना कर आभूषणो स अलकृत किया । इसके बाद स्वादिष्ट भोजन कराया और मुखवास दे कर सेठ सागरदत्त के पास लाये । सागरदत्त ने सुकुमालिका को सुसज्जित कर उस भिखारी को देते हुए कहा – "यह मेरी एकमात्र सुन्दर पुत्री है । मैं इसे तेरी पत्नी बनाता हूँ । तू इसके साथ यहां सुख मे रह और इसे सुखी कर ।"

भिखारी सुकुमालिका के साथ रह गया । जब वह उसके साथ शय्या पर सोया, तो उसके अग स्पर्श से ही वह जलने लगा +। वह भी सुकुमालिका को सोती छोड कर उठा और सेठ के दिये वस्त्रालकार वहीं डाल कर अपने फटे कपडे और ठिकरा ले कर, ऐसे भागा जैसे वधिक के द्वारा होती हुई मृत्यु से बच कर भागा हो । सुकुमालिका फिर भग्न-मनोरथ हो कर चिन्ता-मग्न हो गई जब सागरदत्त को भिखारी के भाग जाने की बात मालूम हुई तो वह स्तब्ध रह गया और पुत्री के पास आ कर कहने लगा ।

+ सुकुमालिका का शरीर उष्ण नहीं था । उसके माता-पिता आदि भी उसका स्पर्श करते थे तो उन्हें उष्ण नहीं लगता था । किन्तु पति के स्पर्श करते ही उष्ण हो जाता । यह उसके अशुभ कर्म का उदय था । लगता है कि उसमें पति का सयोग पा कर, वेदमोहनीय का तीव्र उदय होता था और उस उदय के साथ ही उसक शरीर में तीव्र उष्णता उत्पन्न हो जाती थी । जैसे तीव्र क्रोधोदय में शरीर धूजने लगता है घयड़ाहट और पसीना हो जाता है । इसी प्रकार उसके पापोदय से उसका शरीर ऐसे ही पुद्गलों से बना कि जिसमें काम के साथ उष्णता उत्पन्न होती थी । इस कर्म का विचित्र विपाकोदय समझना चाहिए ।

कुछ विचारक इसे सुकुमालिका का 'पुनर्विवाह' बता कर श्रेष्ठिकुल में पुनर्विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित होना सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं । किन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ है । क्योंकि सुकुमालिका का सागर क साथ ही विधिवत् विवाह हुआ था भिखारी के साथ नहीं । सागरदत्त ने पुत्री को सतुष्ट करने के लिए भिखारी का सयोग मिलाया था । जिस प्रकार कामातुर स्त्री-पुरुष अवैध सम्बन्ध बनाते हैं । कहीं-कहीं तीसरा व्यक्ति भी सहायक बन जाता है । इसी प्रकार इस घटना में भी हुआ है । यहाँ पुत्री के मोह से प्रेरित हो कर पिता ने सम्बन्ध जुड़वाया । इसे 'विवाह' नहीं कह सकते ।

"पुत्री ! तू अपने पूर्वकृत पापकर्म के उदय का फल भोग रही है । अब तू पति द्वारा प्राप्त सुख का विचार त्याग कर, दान-पुण्य में मन लगा और अपनी भोजनशाला में बने हुए विपुल आहारादि का भोजनार्थियों को दान कर के पुण्य-कर्म का सचय कर ।"

सुकुमालिका ने पिता की बात मानी और भोजनार्थियो को दान देती हुई जीवन बिताने लगी ।

त्यागी श्रमण, भोग - साधन नहीं जुटाते

उस समय 'गोपालिका' नामक बहुश्रुत आर्या अपनी शिष्याओं के साथ ग्रामानुग्राम विचरती हुई चम्पानगरी पधारीं और भिक्षा देने के लिए भ्रमण करती हुई सागरदत्त के घर म प्रवेश किया । सुकुमालिका ने आहार-दान के पश्चात् आर्यिकाजी से पूछा;-

"हे श्रेष्ठ आर्या ! आप बहुश्रुत हैं । ग्रामानुग्राम विचरने से आप में अनुभवज्ञान भी विशाल होगा। आप मुझ दु खिया पर अनुग्रह करें । मेरे पति सागर ने लग्न की रात्रि को ही मेरा त्याग कर दिया । वह मेरा नाम लेना भी नहीं चाहता । मैने भिखारी से स्नेह जोडा तो वह भी मुझे छोड कर चला गया । मैं दु खियारी हूँ । आप मुझ पर दया कर के कोई मन्त्र, तन्त्र, जडी-बूँटी या विद्या का प्रयोग बता कर कृतार्थ करें । आपका मुझ पर महान् उपकार होगा । मुझे आप दु खसागर से उबारिये ।"

महासतीजी ने अपने दोनो कानों मे अगुली डाल कर कहा- "शुभे ! हम ससारत्यागिनी साध्वियाँ हैं, निर्ग्रंथधर्म का पालन करती हैं । तुम्हारे मोहजनित शब्द सुनना भी हमारे लिए निषिद्ध है, तब योग प्रयोग बताने की तो बात ही कहाँ रही ? यदि तुम चाहो, तो हम तुम्हें निर्ग्रंथधर्म सुना सकती हैं ।"

महासतीजी ने धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश सुन कर सुकुमालिका श्राविका बनी । वह श्रावक व्रत का पालन करती हुई साधु-साध्वियो को आहारादि से प्रतिलाभित करने लगी[1]।

सुकुमालिका साध्वी बनती है

कुछ दिन बाद रात्रि के समय वह शय्या में पडी हुई अपने दुर्भाग्य पर चिन्ता करने लगी । अन्त में उसने इस स्थिति से उबरने के लिए प्रव्रजित हा कर साध्वी बनने का निश्चय किया । प्रातःकाल उसने माता-पिता के सामने अपने विचार प्रस्तुत किय और अन्त में गोपालिका महासतीजी की शिष्या हो गई । अब सुकुमालिका साध्वी, सयम के साथ उपवासादि तपस्या भी करने लगी । कालान्तर में उस आर्या ने, नगर से बाहर उद्यान के एक भाग में, आतापना लेते हुए बेले-बेले का तप करते रहने का सकल्प किया और अपनी गुरुणी से आज्ञा प्रदान करने का निवेदन किया । गोपालिकाजी ने कहा -

"हम निर्ग्रंथिनी हैं । हमें खुले स्थान पर आतापना नहीं लेना चाहिए । हमारे लिए निषिद्ध है । हम सुरक्षित उपाश्रय में साध्वियों के सरक्षण में रह कर और वस्त्र से शरीर को ढके हुए, सम्मिलित पाँवो से युक्त आतापना ले सकती हैं । यदि तुम्हारी इच्छा हा, तो वैसा कर सकती हो । नगर के बाहर खुले स्थान में आतापना नहीं ले सकती ।"

आर्या सुकुमालिका को गुरुणीजी को बात नहीं रुचि । वह अपनी इच्छा से नगर के बाहर जा कर तपपूर्वक आतापना लेने लगी ।

पाँच पति पाने का निदान

सुकुमालिका आर्या उद्यान मे आतापना ले रही थी । उस समय चम्पा नगरी मे पाँच कामी-युवको की एक मित्र-मडली थी, जो नीति, सदाचार और माता-पितादि गुरुजनों से विमुख रह कर स्वच्छन्द विचरण कर रही थी । उनका अधिकाँश समय वेश्याओ के साथ बीतता था । वे एक देवदत्ता वेश्या के साथ उस उद्यान मे आये । एक युवक वेश्या को गोदी मे लिये बैठा था, दूसरा उस पर छत्र लिये खडा था, तीसरा गणिका के मस्तक पर फूलो का सेहरा रच रहा था, चौथा उसके पाँवों को गोदी में ले कर रग रहा था और पाँचवाँ उस पर चामर डुला रहा था । इस प्रकार गणिका को पाँच प्रेमिका के साथ आमोद-प्रमोद करती देखकर, सुकुमालिका आर्या के मन मे मोह का उदय हुआ । उसकी निष्फल हो कर दबी हुई भोग-कामना जगी । उसने सोचा -

"यह स्त्री कितनी सौभाग्यवती है । इसने पूर्वभव में शुभ आचरण किया था, जिसका उत्तम फल यहाँ भोग रही है । उसकी सेवा मे पाँच पुरुष उपस्थित हैं । यह पाँच सुन्दर, स्वस्थ एव स्नेही युवकों के साथ उत्तम कामभोग भोग कर सुख का अनुभव कर रही है । यदि मेरे तप, व्रत और ब्रह्मचर्यमय उत्तम आचार का कोई उत्तम फल हो तो मैं भी आगामी भव में इसके समान उत्तम भोगों की भोक्ता बनूँ ।"

इस प्रकार निदान कर लिया । फिर वह आतापना-भूमि से पीछे हटी और उपाश्रय में आई । उसके भाव शिथिल हो गए । वह अपने मलिन हुए हाथ, पाँव मुँह आदि शरीर को बार-बार धो कर सुशोभित रखने लगी । वह उठने-बैठने और सोने के स्थान पर पानी छिडकने लगी । इस प्रकार देहभाव मे आसक्त हो कर वह यथेच्छ विचरने लगी । सुकुमालिका साध्वी का यह अनाचार देख कर आर्या गोपालिकाजी ने उसे समझाते हुआ कहा -

"देवानुप्रिय! तुम यह क्या कह रही हो ? हम निर्ग्रंथधर्म की पालिका हैं । हमें अपना चारित्र निर्दोष रीति से पालना चाहिए । देह-भाव में आसक्त हो कर शरीर की शोभा बढाना और हाथ-पाँवादि अगा को धोना तथा पानी छिडक कर बैठना- सोना आदि क्रियाएँ हमारे लिये निषिद्ध हैं । इससे सयम खंडित होता है । अब तुम इस प्रवृत्ति को छोडो और आलोचना यावत् प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध बनो ।"

सुकुमालिका आर्या को गोपालिकाजी की हितशिक्षा रुचिकर नहीं हुई । उसने गुरुणीजी की आज्ञा का अनादर किया और अपनी इच्छानुसार ही प्रवृत्ति करने लगी । उसकी स्वच्छन्दता स अन्य साध्वियें उसकी आलोचना करने लगी और उसे उस दूषित प्रवृत्ति से रोकने लगी । साध्वियों की अवहेलना एव आलोचना से सुकुमालिका विचलित हो गई । उसके मन में विचार हुआ - "मैं गृहस्थ थी तब तो

स्वतन्त्र थी और अपनी इच्छानुसार करती थी । मुझे कोई कुछ नहीं कह सकता था, परन्तु साध्वी हो कर तो मैं बन्धन मे पड़ गई । अब ये सभी मेरी निन्दा करती है । अतएव अब इनके साथ रहना अच्छा नहीं है ।" इस प्रकार विचार कर वह गुरुणी के पास से निकल कर दूसरे उपाश्रय में चली गई और बहुत वर्षों तक शिथिलाचारयुक्त जीवन व्यतीत किया । फिर अर्धमास की सलेखना की और अपने दोषों की आलोचनादि किये बिना ही काल कर के ईशानकल्प में देव-गणिकापने उत्पन्न हुई । उसकी आयुस्थिति ९ पल्योपम की थी ।

देवभव पूर्ण कर के सुकुमालिका का जीव इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में पचाल जनपद के पाटनगर कम्पिलपुर के द्रुपद नरेश की चुल्लनी रानी की कुक्षि से पुत्रीपने उत्पन्न हुई । उसका नाम द्रौपदी रखा गया । द्रुपद नरेश के धृष्टधुम्न कुमार युवराज था । अनुक्रम से द्रौपदी यौवनवय को प्राप्त हुई । जब वह द्रुपद नरेश के चरणवन्दन करने आई तो नरेश ने उसे गोदी में बिठाया और उसके रूप-यौवन और अगोपाग को विकसित देखा तो उसके योग्य वर का चुनाव करने का विचार उत्पन्न हुआ । सोच विचार के पश्चात् राजा ने द्रौपदी से कहा-

"पुत्री ! तेरे योग्य वर का चुनाव करते हुए मेरे मन मे सन्देह उत्पन्न होता है कि कदाचित् मेरा चुना हुआ वर तुझे सुखी कर सकेगा या नहीं ? इसलिए मैंने निश्चय किया है कि मैं तेरे लिए स्वयवर का आयोजन करूँ । उसमें सम्मिलित होने वाले राजाओं और राजकुमारो में से अपने योग्य वर का तू स्वय चुनाव कर ले । तू जिसके गले में वरमाला पहिनाएगी, वही तेरा पति होगा ।"

पुत्री को अन्त पुर मे भेजने के बाद द्रुपद नरेश ने राजाओ, राजकुमारो और सामन्तादि को आमन्त्रण दे कर स्वयवर का आयोजन किया । इस सभा मे राजकुमारी द्रौपदी ने जो पाँच पाण्डवो को वरण किया, वह इसके पूर्वोपार्जित निदान का फल है । यह अन्यथा नहीं हो सकता । अतः आश्चर्यान्वित या विस्मित नहीं होना चाहिए ।"

मुनिराजश्री के कथन से सभा आश्वस्त हुई और द्रौपदी का पाण्डवो के साथ समारोह पूर्वक लग्न हो गया ।

राजकुमारी गंगा का प्रण

गन्धर्व नगर के राजा 'जन्हु' की पुत्री गगा, विदुषी और गुणवती थी । वह ससार व्यवहार और धर्माचार की भी ज्ञाता थी । यौवनवय में उसके योग्य वर के विषय में राजा चिन्तित हुआ । राजा ने एक बार पुत्री के सामने अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा -

"पुत्री ! मैं तेरे योग्य वर की खोज मे हूँ । परन्तु मेरे मन मे शका उठ रही है कि कदाचित् मेरा चुना हुआ वर तेरे उपयुक्त होगा या नहीं ? इसलिए अच्छा होगा कि तू शान्ति से विचार कर के अपना अभिप्राय बतला दे ।"

राजकुमारी नीचा मस्तक किये खडी रही । राजा के चले जाने के बाद राजकुमारी की सखी ने कहा - "अब तुम्हें अपनी इच्छा बतला देनी चाहिए, जिसे अपनी इच्छानुसार वर प्राप्त कर सको ।"

- "मैं पिताश्री के सामने अपने वर के विषय मे कैसे कह सकती हूँ ? परन्तु मैं चाहती हूँ कि मेरा पति सद्गुणी हो, सुशील हो, शूरवीर हो और मेरी इच्छा के अनुकूल रहने वाला हो तभी मेरा वैवाहिक जीवन सुखी हो सकता है । मैं देखती हूँ कि अनुकूलता के अभाव मे कई राजकुमारियाँ दु खी रह रही हैं । इसलिए मैं तो सद्गुणी सच्चरित्र एव मेरी इच्छा के अनुकूल रहने की प्रतिज्ञा करने वाले का ही वरण करूँगी । तू मेरी यह इच्छा पिताश्री से निवेदन कर दे ।"

राजा का पुत्री का अभिप्राय उचित लगा । उसने कई शूरवीर राजाओ और राजकुमारो को आमन्त्रित कर, अपनी पुत्री को प्राप्त करने की शर्त बतलाई । आगतुक राजादि दवकन्या के समान रूप-गुण सम्पन्न राजकुमारी को प्राप्त करना तो चाहते थे परन्तु उसके अधीन रहने की प्रतिज्ञा करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ । राजा और गगा निराश हुए । गगा का निश्चय दृढ था । अपनी इच्छानुसार वर नहीं मिले तो जीवनपर्यन्त कुमारिका रहने के लिए वह तत्पर थी । अनुकूल वर के अभाव म उसने गृह-त्याग कर वन मे साधना-रत रहने का निश्चय किया और एक उद्यान की उत्तम वाटिका मे जा कर रह गई । वह अपना मनोरथ सफल करने के लिए साधना करने लगी ।

राजा शान्तनु का गंगा के साथ लग्न

भगवान् आदिनाथ के 'कुरू' नाम का पुत्र था✿ । उसका वश 'कौरव वश' कहलाया । कुरु के पुत्र हस्ती ने हस्तिनापुर बसाया । हस्ती नरेश की वश-परम्परा मे लाखो राजा हुए । उसमें अनन्तवीर्य नाम का एक राजा हुआ । उसके कृतवीर्य नामक पुत्र था । उसका पुत्र सुभूम नाम का चक्रवर्ती महाराजा हुआ । उसने जमदग्नि के पुत्र परशुराम के साथ युद्ध किया था । इसके याद कितने ही शूरवीर नरेश इस वश-परम्परा में हुए । उन्हीं में 'शान्तनु' नाम का एक वीर प्रतापी एव सद्गुणी राजा हुआ । यह न्यायी, प्रजाप्रिय और कुशल शासक था । इतने सद्गुणा के साथ उसमें मृगया का व्यसनरूपी एक अवगुण भी था । वह अश्वारूढ हो धनुष-बाण ले कर शिकार खेलने के लिए वन में चला जाता ।

एक दिन शान्तनु आखेट के लिए निकला । उसने एक मृग-युगल पर अपना बाण फेंका, किन्तु मृग-युगल भाग कर दूर निकल गया । उसे खोजता हुआ शान्तनु उस उद्यान में पहुँच गया जिसकी एक वाटिका में राजकुमारी गगा थी । शान्तनु ने एक सुन्दर युवती को देखा जिसक शरीर पर सादे वस्त्र के अतिरिक्त कोई अलकार नहीं थे, फिर भी वह देवागना क समान सुशोभित दिखाई द रही थी । उसका युवक-हृदय आकर्षित हुआ और उसने घोडे पर से उतर कर आश्रम में प्रवेश किया । राजकुमारी की

✿ इसका सक्षिप्त उल्लेख पृष्ठ ३३८ में द्रौपदी के वर्णन में किया जा चुका है । यहाँ 'पाण्डव चरित्र ग्रन्थ के आधार से कुछ विस्तारपूर्वक लिखा जा रहा है ।

दृष्टि शान्तनु पर पड़ी । उसने देखा कि एक प्रभावशाली वीर युवक आ रहा है । वह सभ्रमयुक्त खड़ी हो गई और शान्तनु का स्वागत करती हुई एक आसन की व्यवस्था की । शान्तनु को देख कर उसने सोचा - 'यह कोइ कुलीन एव प्रभावशाली युवक है । वीर भी है ।' उसके हृदय में स्नेह का आविर्भाव हुआ। शान्तनु भी राजकुमारी के सौंदर्य पर मोहित हो गया । उसने पूछा--

"भद्रे ! क्या मैं देवी का परिचय जान सकता हूँ ?" मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जा महिलारत्न किसी भव्य राज-प्रासाद को सुशोभित कर सकती थी, वह इस वय में, निर्जन वन में रह कर तपस्विनी क्यों हुई ?" यह वय परलोक साधना क उपयुक्त नहीं है ।

राजा का प्रश्न सुन कर राजकुमारी ने अपनी सखी की ओर देखा । सखी ने राजा से कहा -

"महानुभाव ! यह रत्नपुर के विद्याधरपति महाराज जन्हु की सुपुत्री राजदुलारी गगा है । यह विदुषी है, विद्याविलासिनी है और सभी कलाओं में प्रवीण है । जब महाराजा ने इसके लिए योग्य वर का चयन करने के विषय में अभिप्राय पूछा, तो इसने स्पष्ट कहला दिया कि - "जो पुरुष सवगुण सम्पन्न होने के साथ ही सदैव मेरी इच्छा के अधीन रहने की प्रतिज्ञा करे, वही मेरा पति हो सकता है । यदि ऐसा वर नहीं मिले, तो मैं जीवनभर कुमारिका रह कर तपस्या करती रहूँगी ।" अनेक राजा और राजकुमार इसे प्राप्त करना चाहते थे परन्तु इसकी अधीनता में रहने की प्रतिज्ञा करने के लिए कोई तत्पर नहीं हुआ । इसीलिए निराश हो कर यह आश्रमवासिनी हुई है । मैं इसकी सखी हूँ और इसकी परिचर्या करती हूँ ।"

सखी के वचन सुन कर शान्तनु प्रसन्न एव उत्साहित होकर बोला -

"सुन्दरी ! देवागना को भी लज्जित करने वाल तुम जैसे अद्वितीय स्त्री-रत्न का दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ । अच्छा हुआ कि मैं उस मृग की खोज करते हुए यहाँ आ पहुँचा । यदि मेरा बाण नहीं चूकता और मृग इधर नहीं आता, तो मैं इस सुयोग से वञ्चित ही रहता । यह मृग मेरा उपकारी ही हुआ है ।"

"भद्रे ! मैं तुम्हारा प्रण सहर्ष पूर्ण करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं सदैव तुम्हारे अधीन रहूँगा। मैं अपनी इस प्रतिज्ञा से कभी विमुख नहीं बनूँगा । यदि देवयोग से कभी मुझस तुम्हारे वचनों और अपनी प्रतिज्ञा का उल्लघन हो जाय तो तुम मुझे त्याग देना । मैं तुम्हार उस दण्ड का पात्र बनूँगा ।"

राजा स्वय प्रसन्न था । राजकुमारी भी - मनाकामना पूर्ण होती जान कर प्रसन्न हो रही थी । उस समय महाराज जन्हु वहाँ आ पहुँच । उन्होंने शान्तनु को देखा शिष्टाचार का पालन हुआ । राजकुमारी लज्जित हो कर एक ओर खडी हो गई । सखी मनोरमा ने जन्हु को शान्तनु क अभिप्राय का परिचय दिया । जन्हु प्रसन्न हुआ और उस आश्रम में ही बडे समारोह के साथ उन दोनों का लग्न कर दिया ।

गांगेय का जन्म और गृह - त्याग

शान्तनु राजा, गगा को ले कर अपनी राजधानी मे आये और सुखोपभोग में समय व्यतीत करने लगे। कालान्तर मे गगा रानी गर्भवती हुई और उसके एक सुन्दर पुत्र हुआ । राजा ने पुत्र का नाम रानी के नाम के अनुसार 'गागेय' रखा । राजा को मृगया का व्यसन था । उसके मन मे आखेट पर जाने की लालसा उठी । रानी ने पहले भी राजा को मृगया से रोकने का प्रयत्न किया था, किन्तु राजा को रानी की हितशिक्षा रुचिकर नहीं हुई । मोह के तीव्रतर उदय से राजा अपने को रोक नहीं सका । उसने आखेट पर जाने का निश्चय कर लिया और शिकारी का वेश धारण कर, शस्त्र-सज्ज हो कर रानी के पास आया । रानी ने राजा की वेशभूषा देख कर समझ लिया कि शिकार पर जाने की तैयारी हुई है । उसने पूछा,-

"महाराज ! आज यह तैयारी किस लिए हुई है ?"

"प्रिये ! मैं आखेट के लिए जा रहा हूँ । बहुत दिनो के बाद आज मन नहीं माना तो थोडी देर के लिए मनोरञ्जनार्थ जा रहा हूँ । शीघ्र ही लौट आऊँगा ।"

"नहीं आर्यपुत्र ! आप नरेन्द्र हैं । उत्तम आचार एव श्रेष्ठ मर्यादा के स्थापक है । आप प्रजा के पालक और रक्षक हैं । आपके राज्यान्तर्गत वनों में रहने वाले पशुपक्षी भी आपकी प्रजा है । आपको इनका भी रक्षण करना चाहिए । इन निरपराधी जीवो का अपने व्यसन-पोषण के लिए मारना आपके लिए उचित नहीं है, अधर्म है । आपको अधर्म का आचरण नहीं करना चाहिए । प्रजा आपका अनुकरण करती है । आपको अपने आदर्श से प्रजा को प्रभावित करना चाहिए । मरी प्रार्थना है कि आप इस दुर्व्यसन से दूर ही रह ।"

"शुभे ! तुम्हारा कहना यथार्थ है । परन्तु आज तो मैं निश्चय कर के ही आया हूँ । अवश्य जाऊँगा । मुझे रोकने की चेष्टा मत करो ।"

"प्राणनाथ ! आपको अपना वचन तो याद ही होगा – जो विवाह के पूर्व मुझे दिया था ? अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मृगया खेलना सर्वथा त्याग दें । वचन का पालन नहीं करने पर मुझ कदाचित् दूसरा निर्णय करना पडे ।"

"हा, देवी ! मेरा वचन मुझे याद है । मैं उसका पालन करता आया हूँ । किन्तु इस प्रसग पर तुम मुझे मत रोको । मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा"- कहता हुआ राजा चल दिया ।

राजा के व्यवहार से गगा महारानी को आघात लगा । उसने गृह-त्याग कर पीहर जाने का निश्चय कर लिया और पुत्र को ले कर चल निकली । शिकार से लौटने पर अन्त पुर सुना देख कर राजा को क्षोभ हुआ । दासियों से पूछने पर उसे मालूम हो चुका कि मेरे वचन-भग से क्षुब्ध हो कर रानी चली गई । रानी ने मेरा त्याग कर के मेर वचन का निर्वाह किया है । राजा को रानी का विरह

शूल के समान खटकने लगा । वह शोकातुर हो कर तडपने लगा । पहले तो वह अपना ही दाप दखकर पश्चात्ताप करने लगा और भविष्य म शिकार नहीं खेलने का निश्चय कर के रानी को मना कर लाने का विचार किया । किन्तु बाद में विचार पलटा । उसने सोचा - 'रानी ने मेरे प्रेम का कुछ भी विचार नहीं किया । यदि वह मेरे लौटने तक रूक जाती, तो कौन-सा अनर्थ हो जाता । मैं उसे सतुष्ट कर देता । मेरे लौटने के पूर्व ही - मेरी अवज्ञा कर के - वह चली गई । अब मैं उसे मनाने क्यों जाऊँ और क्यों अपने गौरव को घटाऊँ ।' इस विपरीत विचारधारा ने उमे रोका । उसने निश्चय कर लिया कि वह विरह-वेदना सहन करेगा, किन्तु रानी को मनाने नहीं जायगा । राजा ने अपना मन मोड लिया । मनोरञ्जन के लिए वह फिर शिकार खेलन जाने लगा ।

सत्यवती

यमुना नदी के किनारे पर एक नाविक घूम रहा था । उसकी नौका यमुना तट से लगा पानी मे डोल रही थी और वह इधर-उधर घूम कर प्रातःकालीन मनोरम समय का आनन्द ले रहा था । वह टहलता हुआ आगे बढा और एक अशोक-वृक्ष की सघन छाया म बैठ कर शान्त सुरम्य प्रकृति की छटा का अवलोकन करने लगा । इतने में एक मनुष्य आकाश मार्ग से आया और एक सुन्दर बालक को उस अशोक वृक्ष की छाया में रख कर चला गया । नाविक यह दृश्य देख कर चकित रह गया । वह उठा और बालक के पास आया । वह एक सुन्दर कान्तिवाली बालिका थी । उस सुन्दरी बच्ची को देख कर नाविक प्रसन्न हुआ । उसे विचार हुआ - 'यह उच्च-कुलोत्पन्न बालिका है परन्तु है किसकी ? ऐसी दुर्लभ्य सन्तान यहाँ क्यों ? यहाँ ला कर छोडने वाला यह मनुष्य कौन था ?' ऐसे कई प्रश्न उसके मन म उठे । अन्त में उसने सोचा - 'यह किसी की भी हो मुझे तो कन्या-रत्न के रूप में प्राप्त हुई है।' अब मेरी पत्नी पर लगा 'बाँझ' का दोष दूर हो जायगा और हमारा घर बच्चे की बाललीला से रमणीय बन जाएगा । वह बालिका को गोद में ले कर सुखमय भविष्य के मनोरथ कर ही रहा था कि आकाश में से एक ध्वनि निकल कर उसके कानो में पडी -

"रत्नपुर नरेश रत्नागद की रत्नवती रानी से उत्पन्न यह पुत्री है । कोई दुष्ट पुरुष इसे यहाँ रख गया है । हे नाविक ! तू इस बालिका का पालन-पोषण करना । यह राजकुमारी है और यौवन वय प्राप्त होने पर हस्तिनापुर नरेश शान्तनु की रानी होगी ।"

उपरोक्त वाणी ध्यानपूर्वक सुन कर नाविक प्रसन्न हुआ और पुत्री को घर ला कर पत्नी को दिया। वह भी बहुत प्रसन्न हुई । उसका लालन-पालन बडी सावधानी से होने लगा । वह निर्दिन बढने लगी । उसकी आभा कान्ति सौन्दर्य और स्त्रियोचित गुणों में वृद्धि होने लगी । नाविकों के परिवार - समूह में वह अनोखी सुन्दरी थी । उस सारी जाति में उसके सदृश एक भी युवती नहीं थी ।

वह उस नाविक जाति के, अन्धेरी रात के समान कुरूप मनुष्यो मे चाँद के समान प्रकाशित हो रही थी। वह जिधर भी जाती लोगो में हलचल मच जाती । लोग उसे घेरे रहते । उसका आकर्षण चारो ओर व्याप्त था । नाविक का उसका विवाह करने की आवश्यकता अनुभव हुई । यद्यपि वह सत्यवती का विरह नहीं चाहता था, तथापि विवाह तो करना ही होगा यह बात वह समझता था । उसको वह भविष्य-वाणी याद थी, उसमे कहा गया था कि - 'यह कन्या हस्तिनापुर के नरेश शान्तनु की रानी होगी ।' इसलिये वह आश्वस्त था । समय बीत रहा था ।

गंगा और गांगेय का वनवास

पति से विरक्त हो कर, गृह-त्याग करने के बाद महारानी गगा अपने पीहर रत्नपुरी गई । वहाँ धर्मसाधना और पुत्र - पालन में समय व्यतीत करने लगी । गागेय कुमार ने पाँच वर्ष तक अपने मामा विद्याधरपति पवनवेग के सान्निध्य मे रह कर विद्या और कला का अभ्यास किया । वह विद्याधरो के बालकों के साथ खेलता था, किन्तु उसका तेज उन सभी बालकों से निराला और अद्वितीय था । उसने सभी विद्याएँ सरलतापूर्वक प्राप्त कर ली । गागेय ने अपने मामा से धनुर्विद्या म ऐसी निपुणता प्राप्त की कि जिसे देख कर वह महान धनुर्धर भी चकित रह गया । वय के साथ बलवृद्धि होती गई और कार्यकलाप बढते गये । उसकी चेष्टाओ और प्रभाव स परिवार के समवयस्क बालक ही नहीं, बड लोग भी आशकित रहने लगे । यह देख कर उसकी माता गगारानी पुत्र सहित भवन छाडकर उपवन में - उसी स्थान पर आ कर रहने लगी - जहाँ विवाह के पूर्व रहती थी । वह आश्रम फिर से बस गया । अब गागेय, वन के पशुओं और पक्षियों के साथ खेलने और दौडने लगा । उस उपवन में कभी-कभी चारण निर्ग्रंथ विचरण करते हुए आ जाते थे । उस समय रानी उन महात्माओ से स्वय धर्मोपदेश सुनती और कुमार को भी साथ रख कर सुनवाती । महात्माओं के उपदेश से प्रभावित हो कर कुमार ने निरपराधी जीवो की हिंसा का त्याग कर दिया । उसने आश्रम की सीमा बढा कर, उतनी लम्बी-चौडी कर ली कि जितने मे उसके पालतु मृग आदि निर्भय होकर सुखपूर्वक विचरण कर सके । उस सीमा में कोई शिकारी प्रवेश नहीं कर सकता था । उस उपवन के पशुआ को वह अपने आत्मीयजन के समान मानता था। पशु-पक्षी भी उससे प्रेम करते थे । स्वच्छ एव निमल वायुमडल में उसके आरोग्य और बल मे भी वृद्धि होती गई थी । उसका शस्त्राभ्यास भी बढ रहा था ।

एकदा शिकारियो ने आ कर उस उपवन को घेर लिया । मृग आदि पशु भयभीत हा कर इधर-उधर भागने लगे । गागेय ने दखा - रथारूढ एक भव्य पुरुष धनुष-बाण लिये शिकार की ताक में लगा है । अन्य मनुष्य पशुआ को डरा कर उसके निकट - उसके निशाने की परिधि म ला रहे हैं । वह शंकित हुआ और धनुष-बाण लिए रथ की ओर जाता हुआ, दूर से ही बोला, -

"सावधान ! यहाँ शिकार नहीं खेला जाता । अपना बाण उतार कर तरकश म रखिए ।"

राजा ने देखा - एक-दिव्य प्रभा वाला किशोर उनकी ओर चला आ रहा है । उसका मस्त: शिखर के समान उन्नत, चेहरा तेजस्वी और आकर्षक वक्षस्थल विशाल, भुजाएँ पुष्ट और घुटने त लम्बी यावत् सभी अंगोपांग शुभ लक्षण से युक्त है । ऐसा प्रभाव-शाली भव्य किशोर उसने आज त नहीं देखा था । उसे देखते ही वह शिकार को भूल कर उसी को निरखने लग गया । उसके मन प्रीति उत्पन्न हुई । कुछ समय वह स्तब्ध रहने के बाद सम्भला ।

गांगेय का पिता से युद्ध और मिलन

"मैं यहाँ शिकार खेल रहा हूँ । तुम मुझे रोकने वाले कौन हो" - राजा ने कहा ।

"आपको ऐसा क्रूर और हिंसक खेल नहीं खेलना चाहिए । अपने खेल के लिए गरीब पशुओं की हत्या करना मनुष्यता के विरुद्ध - राक्षसी कृत्य है" - गांगेय ने कहा ।

- "तू मुझे उपदेश देने वाला कौन है ?"

- "मैं आपसे विनयपूर्वक निवेदन कर रहा हूँ - महानुभाव ! उपदेश नहीं देता । मेरी प्रार्थना है कि इन मूक-पशुओं पर दया कीजिये" - गांगेय विनयपूर्वक बोला ।"

- "मैं यहाँ मृगया के लिए आया हूँ । मैं क्षत्रिय हूँ । मृगया क्षत्रिय के लिए कला शक्ति उत्सा और आल्हादवर्द्धक खेल है । इसका निषेध करना मूर्खता है । तुम्हें किसी पाखण्डी ने भरमाया होगा तुम दूर से मेरा खेल देखते रहो और यदि नहीं देख सकते तो चले जाओ । मेरा अवरोध मत करो।"

- "महानुभाव ! आपके विचार मुझे उचित नहीं लगते । शक्ति और कला के अभ्यास के लिए मृगया आवश्यक नहीं है । किसी निर्जीव वस्तु को लक्ष्य बना कर भी अभ्यास हो सकता है । मैंने ऐसा ही किया है । मृगया से तो क्रूरता में वृद्धि होती है, पाप बढ़ता है और शिकारी अनेक जीवों की दृष्टि में एक काल - राक्षस के रूप में दिखाई देता है । उसका आहट पा कर ही जीव भयभीत हो जाते हैं । यदि वह हिंसा त्याग कर प्रेम एवं वात्सल्य का व्यवहार करे, तो ये पशु, उस मनुष्य के परिजन के समान बन जाते हैं। मेरे साथ इनका ऐसा ही सम्बन्ध है । इस उपवन में रहने वाले पशु मुझसे भयभीत नहीं होते, वरन् प्रेमपूर्वक मेरे साथ खेलते हैं । यदि आप यहाँ किसी को मारेंगे तो इन पशुओं के प्रति मेरा अर्जित प्रेम नष्ट हो जायगा । मैं स्वयं इनके लिए शंकास्पद बन जाऊँगा । नहीं नहीं आप यहाँ पशुओं पर शस्त्र-प्रहार नहीं कर सकेंगे । मैं अपने आत्मीयजनों को आपके शस्त्र का लक्ष्य नहीं बनने दूँगा" - कुमार ने दृढ़ता से कहा ।

कुमार की वाणी ओज और भव्यतादि से राजा प्रभावित अवश्य था, परन्तु बिना आखेट किये लौटना उसे अपमानकारक लगा । उसने कहा -

"लड़के ! तुझे बोलना बहुत बढ़चढ़ कर आता है । चल हट यहाँ से" - कहते हुए राजा ने तरकश से बाण निकाला ।

कुमार ने देखा कि राजा अपने हठ पर ही दृढ़ है तो वह क्रुद्ध हो गया । उसने आँखें चढ़ाते हुए कहा -

"मैने कहा - आप यहाँ शिकार नहीं खेल सकते । मैं आपको यहाँ शर-सधान नहीं करने दूँगा । कृपया मान जाइए ।"

राजा ने अगरक्षक की ओर सकेत किया । वह कुमार की ओर बढा और उसे हाथ पकड कर हटाने की चेष्टा करने लगा, तो कुमार ने कहा - "मेरे उपवन मे ही तुम मेरी अवज्ञा करना चाहते हो ? चलो हटो - यहाँ से । अन्यथा पछताओगे ।"

सुभट बल प्रयोग करने लगा किन्तु एक क्षण मे ही उसने अपने को पृथ्वी पर पडा पाया । कुमार का एक धक्का भी वह सह नहीं सका । उसकी सहायता में एक साथ तीन-चार सुभट आये परन्तु उन्हें भी मार खा कर भूमि का आश्रय लेना पडा । राजा खडा-खडा यह दृश्य देख कर चकित हो रहा था । अपने सैनिकों की एक छोकरे द्वारा पराजय राजा सहन नहीं कर सका । वह क्रुद्ध हो गया और स्वय धनुष पर बाण चढा कर कुमार पर प्रहार करने को उद्यत हुआ । कुमार भी सतर्क था । उसने सोचा - 'यदि बिना किसी पर प्रहार किये ही शान्ति हो सकती हो, तो रक्तपात करने की आवश्यकता नहीं ।' उसने राजा के रथ की ध्वजा गिरा दी । इससे राजा का क्रोध विशेष उभरा । प्रेम को क्रोध ने दबा दिया । राजा ने कुमार पर बाण छोडा । कुमार ने उसे काट कर रथ के सारथी पर सम्मोहक प्रहार किया, जिससे रथी मूर्च्छित हो कर गिर गया । अब राजा कुमार पर भीषण बाण-वर्षा करने लगा । कुमार राजा के समस्त बाणो को निष्फल करने लगा । राजा का प्रयत्न निष्फल देख कर उसके सभी सुभटों ने आ कर कुमार को घेर लिया और प्रत्येक सुभट प्रहार करने लगा । कुमार की चपलता बढी और वह चारो ओर से अपनी रक्षा करता हुआ प्रहार करने लगा । थोडे ही समय में उसने राजा के सैनिको को घायल करके एक ओर हटा दिया । अब राजा के कोप की सीमा नहीं रही । वह कुमार पर सहारक प्रहार करने के लिए सन्नद्ध हुआ । वह शर-सधान कर ही रहा था कि कुमार ने राजा के धनुष की प्रत्यन्चा ही काट दी । राजा हताश हो कर व्याकुल हो गया । यह सब दृश्य गगादेवी अपने आश्रम से देख रही थी । अपने पुत्र का अद्भुत पराक्रम देख कर वह प्रसन्न हुई । पिता से भी पुत्र सवाया जान कर उसे गौरवानुभूति हुई । क्षणभर बाद ही उसका हृदय दहल गया । क्रोध और अहकार मे कहीं कुछ अनिष्ट नहीं हो जाय' - वह सँभली और तत्काल आगे बढी और पुत्र को सम्बोध कर बोली -

"पुत्र ! यह क्या ? तू किसके साथ युद्ध कर रहा है ? वत्स ! पिता पूज्य होते हैं । तुम्हें इनके सम्मुख शस्त्र उठाना नहीं चाहिए । झुक कर प्रणाम करना चाहिए ।"

इन वचनो ने गागेय को स्तम्भित कर दिया । वह सोचने लगा - क्या यह शिकारी मेरा पिता है ? उसने माता से पूछा - "आपकी बात मेरी समझ मे नहीं आई । हम वनवासी है और ये कोई नरेश दिखाई देते हैं । यदि मैं इनका पुत्र हूँ और आप रानी है तो हम वनवासी क्यों हैं ?"

"पुत्र ! मैं सत्य कहती हूँ । ये तुम्हारे पिता शान्तनु है । तू इन्हीं का पुत्र है और मैं इनकी पत्नी हूँ। इनके शिकार के व्यसन के कारण ही मैं वनवासिनी बनी हूँ ।"

गागेय बोला - "जो व्यक्ति दुर्व्यसनी हो क्रूर हो जिसके हृदय में दया में नहीं हो, जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकता हो और जिसके सुधरने की आशा नहीं हो ऐसे से सम्बन्ध-विच्छेद

करना ही उचित है । आपने सम्बन्ध विच्छेद कर के अच्छा ही किया है । मुझे ऐसे अन्यायी अधर्मी और दुर्व्यसनी राजा को पिता कहने और सत्कार करने में सकोच होता है ।"

पुत्र के वचन सुन कर गगादेवी, पति के समीप गई और प्रणाम कर कहने लगी--

"महाराज ! आपको अपने पुत्र पर क्रोध करना और निर्दय होना उचित नहीं है । पिता पुत्र का युद्ध मैं कैसे देख सकती हूँ ? पशुओ के शिकार ने आपका हृदय इतना कठोर और पाषाण तुल्य बना दिया कि मनुष्य पर भी दया नहीं रही । अपने पुत्र को मारने के लिए आपका हृदय कैसे तत्पर हुआ "प्राणेश ! यदि बालक से कोई अपराध हुआ भी तो वह क्षमा करने योग्य है और आप क्षमा प्रदान करने योग्य हैं ।"

अपने सामने अचानक गगा महारानी - वर्षों से बिछुड़ी हुई हृदयेश्वरी - को देख कर शान्तनु स्तब्ध रह गया । वह रथ से नीचे उतरा और धनुष-बाण एक ओर डाल कर हर्षयुक्त दौड़ता हुआ प्रिया के निकट आया । उसके हर्ष का पार नहीं था । वह रानी को हृदय से लगाना चाहता था परन्तु सुभटों और कुमार की उपस्थिति से रुक गया । दोनो के हृदय एव नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे और हर्षाश्रु बह रहे थे । वर्षों के वियोग के बाद मिलन की आनन्दानुभूति अवर्णनीय होती है । कुछ समय बाद राजा सम्भला और अपने कुलदीपक वीरशिरोमणि पुत्र के प्रति उमड़े हुए वात्सल्य भाव से प्रेरित हो कर दूर खड़े हुए गागेय की ओर बढ़ा । गांगेय ने पिता का अभिप्राय समझा । वह धनुषबाण छोड़ कर आगे बढ़ा और पिता के चरणो मे झुका । पिता ने उसे भुजाओ में भर कर छाती से चिपका लिया । शान्तनु राजा के हर्ष का पार नहीं था । उसे बिछुड़ी हुई प्रिया और वीरशिरोमणि, प्रतिभा का धनी पुत्र प्राप्त हो गया था । राजा ने हर्षावेश म रानी से कहा,-

"प्राणवल्लभे ! तुम्हें और इस देवोपम पुत्र को पा कर मैं आज अपने को परम सौभाग्य सम्पन्न समझता हूँ । मेरे हृदय में अपने दुष्कृत्य के प्रति पश्चात्ताप है । मैं आज सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब आजीवन आखेट नहीं करूँगा । अब चलो और विलुप्त हुई अन्त पुर की शोभा को फिर से जगमगा दो "- शान्तनु ने आग्रहपूर्वक कहा -

"आर्यपुत्र ! मैं अब ससार से विरक्त हो चुकी हूँ । अब मैं प्रव्रजित हो कर मनुष्यभव को सफल करना चाहती हूँ । इस पुत्र के कारण ही मैं रुकी हुई थी । अब पुत्र को आप ले जाइए और मुझे निर्ग्रंथ - प्रव्रज्या धारण करने की आज्ञा प्रदान कीजिए ।"

"वत्स ! तुम अपने पिता के साथ जाओ । इनकी आज्ञा का पालन करते हुए सुख से रहो । धर्म को मन से कभी दूर मत होने देना । मैं अब अपनी आत्मा का उत्थान करने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी ।"

पुत्र को मातृवियोग का आघात लगा और शान्तनु को प्राप्त हर्ष में पुन विषाद की ठेस लगी । शान्तनु और गागेय ने गगादेवी को बहुत समझाया किन्तु उसकी विरक्ति ठोस थी । वह विचलित नहीं हुई । अन्त में राजा शान्तनु को विवश हो कर अनुमति देनी पड़ी । वह पुत्र को साथ ले कर राजभवन की ओर चला गया ।

गांगेय की भीष्म-प्रतिज्ञा

एक वार महाराजा शान्तनु वनचर्या करते हुए यमुना नदी के तीर पर आ पहुँचे । वे सरिता की शोभा देख रहे थे । नदी में नौकाएँ तैर कर लोगो को एक तीर से दूसरे तीर पर ले जा रही थी । उनकी दृष्टि सत्यवती पर पडी और उसी पर अटक गई । वे उसके रूप यौवन लावण्य एव कान्ति देख कर स्तंभित रह गए । उनका मोह प्रबल हुआ । वह उसके निकट आये और पूछा -

"शुभे ! तुम किसकी पुत्री हो ? तुम्हारा शुभ नाम और परिचय क्या है ?"

"महानुभाव ! मैं नाविकों के नायक की पुत्री हूँ । मेरा नाम सत्यवती है ।"

"लगता है कि अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ ।"

-"मैं अपने माता-पिता की पुत्री ही हूँ ।"

"तुम मुझे अपनी नौका में बिठा कर उस पार ले चलोगी ?"

"नहीं, मैं यह कार्य नहीं करती । अपने मनोरजन के लिए नौका-विहार कर लेती हूँ । मेरे पिता आपको पार पहुँचा देगे ।"

"तुम्हारे पिता कहाँ ?"

सत्यवती ने अपने पिता को बुलाया । केवट आया और राजेन्द्र का अभिवादन करता हुआ बोला-

"पृथ्वीनाथ ! आज इस गरीब के घर यह सोने का सूरज कैसे उदय हो गया ? मेरी छाती हर्ष को नहीं सभाल रही है - प्रभो ! दास अनुग्रहित हुआ । आज्ञा कीजिए स्वामिन् ! सेवा का लाभ प्रदान कीजिए ।" - केवट अत्यधिक नम्र हो कर बोला ।

"नाविकराज ! यदि तुम अपनी यह पुत्री मुझे दे सकते हो, तो मैं इसे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ" - राजा ने अपनी अभिलाषा व्यक्त की ।

"महाराज ! यह तो मेरे और सत्यवती पर ही नहीं, मेरे वश पर ही देव की महान् कृपा हुई । मेरी पुत्री राजरानी बने और महाराज का मैं श्वसुर बनूँ ? महाराजाधिराज मुझसे याचना करे, इससे बढ कर और क्या सौभाग्य हो सकता है ? परन्तु महाराज !

"परन्तु ! परतु क्या केवटराज ? शीघ्र कहो । क्या चाहते हो" - महाराज ने परन्तु के अवरोध से चौंक कर पूछा -

"राजेश्वर ! सत्यवती मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है । मैं इसे सदैव हँसती-खेलती और सुखी देखना चाहता हूँ । यह राजेश्वरी बन कर भी क्लेशित रहे, इसका जीवन शोक-सतापमय बन जाय, तो वह राजवैभव भी किस काम का - महाराज ! इससे तो वह गरीबी ही भली कि जिसमें किसी प्रकार की उपाधि और क्लेश नहीं हो । प्रसन्नता पूर्वक जीवन व्यतीत होता हो । सत्ता और वैभव आत्मा को सुख नहीं दे सकते महाराज !" - नाविकराज बडा चतुर एव चालाक था । उसे विश्वास हो गया था कि राजा सत्यवती पर आसक्त है । आकाशवाणी का स्मरण भी उसे था ही । अतएव अधिकाधिक लाभान्वित होने की नीति अपना कर उसने राजा से कहा -

"स्पष्ट बोलो – नायक ! तुम किस क्लेश और सताप की बात कर रहे हो ? हस्तिनापुर और विशाल राज्य की राजमहिषी के लिए किस बात की कमी और दु ख की कल्पना कर रहे हो – तुम ! मेरे होते हुए भी इसे दु ख हो सकता है क्या ?"

"स्वामिन् ! मेरी आशका दूसरी है । ससार में सौत के झगडे प्रसिद्ध हैं । कहावत है कि – 'सौत तो मिट्टी की भी बुरी होती है' । अपार वैभव मे रहती हुई भी वह सौतिया-डाह में जलती रहती है । मैं जानता हूँ कि महारानी गगादेवी, गगा के समान पवित्र हैं और वे ससार से उदासीन हैं । फिर भी महाराज ! मेरा मन कुछ निश्चित नहीं हो पा रहा है ।"

"केवटराज ! सत्यवती को न तो सपत्नी का क्लेश होगा और न मेरी ओर से किसी प्रकार का खेद होगा । इसका जीवन सुखी और आनन्दित रहेगा । तुम किसी प्रकार की आशका मन में मत रखो और मुझ पर विश्वास रख कर सत्यवती को मुझे दे दो"– राजा आतुर हो रहा था ।

"पृथ्वीनाथ ! मुझे विश्वास है कि सत्यवती को सौत का कोई भय नहीं रहेगा । परन्तु जरा दीर्घ दृष्टि से देखिये महाराज ! यदि सत्यवती के पुत्र हुआ, तो क्या उसका राज्याभिषेक हो सकेगा ? गांगेय जैसे आदर्श एव वीर-शिरोमणि युवराज क होते हुए, मेरा दौहित्र राजा नहीं हो सकेगा । उस समय सत्यवती के मन मे सताप होगा । वह यह सोच कर जलती रहेगी कि – 'महाराजाधिराज राजराजेश्वर का पुत्र हो कर भी यह राज्यहीन मात्र सेवक ही रहा ।' यह चिन्ता उस सुखी नहीं रहने देगी – स्वामिन् ।"

– "हा राजा कुण्ठित हो गया । कुछ क्षण सोचने के बाद बोला – "नहीं, केवट ! इसका उपाय मेरे पास नहीं है । मैं गांगेय क प्रति अन्याय नहीं कर सकता । यदि तुम्हारी इच्छा नहीं है तो मैं लौट जाता हूँ । अन्याय का कार्य मुझ-से नहीं होगा"–कहते हुए महाराज शान्तनु निराशापूर्वक लौट गए । नाविक खडा-खड़ा देखता रहा ।

राजा अपनी शय्या पर सोये हुए करवट बदल रहे हैं । उनकी निद्रा लुप्त हो चुकी है । मुख म्लान और निस्तेज हो गया है । भूख-प्यास मिट गई है । वे न किसी से मिलते और न राज-काज की ओर ध्यान देते हैं । सत्यवती ही उनके मानस-भवन में उद्वेग मचा रही थी । महाराजा की दशा देख पितृ भक्त गांगेय को चिन्ता हुई । उसने पिता स चिन्ता का कारण पूछा परन्तु राजा बता नहीं सका । कुमार ने महामात्य से कहा । महामात्य के पूछने पर राजा ने कहा –

"मुझे कहते सकोच होता है, परन्तु तुम मरे मित्र भी हो । तुम से छिपाना कैसा ? नाविकों के नायक की पुत्री सत्यवती ने मेरा मन हर लिया है । मैंने उसके लिए नाविक स माँग की । नाविक सत्यवती को देने को तैयार है । परन्तु उसकी एक शर्त ऐसी है कि जिसे मैं स्वीकार नहीं कर सका । फलत मैं निराश हो कर लौटा । वह सुन्दरी मुझे तड़पा रही है । उसी के विचारों ने मेरी यह दशा बना दी है । इसके सिवाय मुझे और कोई दु ख नहीं है ।"

'वह कौनसी शर्त है – स्वामिन् ! जो पूरी नहीं की जा सकती' – मन्त्रीवर ने पूछा ।

"मित्र ! केवट बडा चालक है । वह कहता है कि 'मेरी पुत्री के पुत्र हो, तो आपका उत्तराधिकार उसी को मिलना चाहिए ।' यह शर्त मानने पर ही वह अपनी पुत्री मुझे दे सकता है । ऐसी शर्त मानना तो दूर रहा, मैं उस पर विचार ही नहीं कर सकता ।"

महामन्त्री भी अवाक् रह गया । वह क्या बोले । फिर भी केवट को समझाने का आश्वासन देकर महामन्त्री चले आये और राजकुमार गागेय को सारा वृत्तान्त सुनाया । गागेय ने विचार कर कहा -

"आपके समझाने से काम नहीं बनेगा । मैं स्वय जा कर समझाऊँगा और उसका समाधान करूँगा । आप निश्चित रहिए ।"

राजकुमार रथारूढ हो कर यमुना के तीर पर पहुँचा । केवट ने राजकुमार का स्वागत किया और आगमन का कारण पूछा । राजकुमार ने कहा -

"नाविकराज ! आपकी पुत्री के लिए महाराज ने स्वय आपसे याचना की फिर भी आपने स्वीकार नहीं की । यह अच्छा नहीं किया । महाराजा किसी से याचना नहीं करते । एक आप ही ऐस सद्भागी हैं कि आपके सामने वे याचक बने । अब भी आप स्वीकार कर के अपनी भूल सुधार लें । मैं यही कहने आया हूँ ।"

नाविक ने कहा - "महानुभाव ! मुझे भी इस बात का खेद हो रहा है कि मैने ऐसे महायाचक को खाली-हाथ लौटाया । किन्तु आप भी सोचिये कि मैं उनकी माँग कैसे स्वीकार करता ? जब मेरी प्राणों से भी अत्यधिक प्रिय पुत्री का जीवन क्लेशित और दु खमय होने की आशका हो ? मुझे और कुछ नहीं चाहिए । मैं केवल यही चाहता हूँ कि इसके जीवन में कभी खेद या दु ख का अनुभव नहीं हो ।"

"आपकी पुत्री को दु ख होगा ही कैसे ? यदि राजरानी भी दु खी हो तो फिर इतनी श्रेष्ठ सामग्री और वैभव यहाँ मिलेगा ? आप निश्चित रहिए । आपकी पुत्री को किसी की ओर से कष्ट नहीं होगा । मैं आपको इसका वचन देता हूँ ।" - गागेय ने विश्वास दिलाया ।

- "युवराज ! आपका कहन ठीक है । आप सत्पुरुष हैं, परन्तु जब मेरी पुत्री के पुत्र होगा तो वह राज्य का स्वामी नहीं हो सकेगा । राज्य के स्वामी आप होगे और वह आपका सेवक होगा । महाराजाधिराज का पुत्र हो कर राज्य का सेवक बने, राज महिषी का पुत्र राजा नहीं हो कर सेवक बने, तो उस समय उसे कितना दु ख होगा ? वह जीवनभर दु ख एव क्लेश में ही घुलती रहेगी । यह आशका रहते हुए भी मैं अपनी प्रिय पुत्री कैसे दे सकता हूँ" - नाविक ने भावी दु ख का शब्द-चित्र खिच कर राजकुमार को प्रभावित किया ।

- "नायकजी ! आपकी आशका निर्मूल है । आपकी पुत्री जब महारानी होगी तो वे मेरी भी माता होगी । मैं उसको अपनी जनेता से भी अधिक मानूँगा । मेरे छोटा भाई हा तो यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी । मैं बिना भाई के अभी एक शून्यता का अनुभव कर रहा हूँ । मेरी यह शून्यता

दूर हो जाय, तो इससे मुझे आनन्द होगा । वह मेरा प्राणप्रिय बन्धु होगा । मुझसे उसे कष्ट होने या उसका अनादर होने की आप कल्पना ही क्यों करते हैं ?" मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मेरे छोटे भाई का जन्म हुआ, तो राज्य का अधिपति वही होगा और मैं उसकी रक्षा में तत्पर रहूँगा । कहिये, अब तो आपको विश्वास हुआ ?"

राजकुमार की प्रतिज्ञा सुन कर नाविक स्तम्भित रह गया । वह गांगेय के गुणों की प्रशंसा सुन चुका था । वह राजकुमार को नीतिमान् और धर्मात्मा समझता था । परन्तु अपना राज्याधिकार छोड़ने जितनी तत्परता की उसे आशा नहीं थी । इतना सब होने पर भी नाविक पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हुआ था । उसकी पैनी दृष्टि में एक आशंका फिर भी शेष रह गई थी । उसने कहा -

- "गांगेयदेव ! आपकी प्रतिज्ञा पर मुझे विश्वास है । मुझे यह तो संतोष हो गया कि आपकी ओर से मेरी पुत्री और उसकी सन्तान को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा । परन्तु आपकी सन्तान होगी वह इस बात को कैसे सहन कर सकेगी कि अपने अधिकार के राज्य का दूसरा अनधिकारी उपभोग करे । उनकी ओर से तो भय शेष रह ही जाता है" - केवट अधिकाधिक पाने की आशा से बोला ।

-"नाविक राज ! आपकी इस आशंका को समाप्त करके, आपको निःशंक बनाने के लिए, धर्म की साक्षी से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा । स्वर्ग के देवगण मेरे साक्षी रहें । अब आपकी समस्त आशंकाएँ निर्मूल हो गईं । अब विलम्ब मत करिये और इस रथ में अपनी पुत्री को बिठा कर मेरे साथ भेजिए ।"

नाविक अवाक् रह गया । उसके मुँह से 'धन्य-धन्य' की ध्वनि निकल गई । आकाश में रहे हुए देवों ने कुमार पर पुष्प-वर्षा की और जय-जयकार किया तथा कुमार की इस प्रतिज्ञा को "भीष्म प्रतिज्ञा" बतलाया । नाविक ने गांगेय से कहा- "वीरवर ! सत्यवती मेरी औरस पुत्री नहीं है । वह भी राजकुमारी है ।" उसने उसका सारा वृत्तांत सुनाया और सत्यवती को बुला कर प्रेमालिंगन करते हुए कहा

"पुत्री ! इस भव्यात्मा राजकुमार के साथ राज-भवन में जाओ और राजरानी बनो । सुखी रहो । मुझसे तुम्हारा वियोग सहन करना कठिन होगा । किन्तु प्रसन्नता इस बात की है कि तू सुखी रहेगी । महाराजाधिराज का मैं श्वशुर और वे मेरे जामाता होंगे । वीर-शिरोमणि राजकुमार गांगेय मेरे दौहित्र होंगे। जा पुत्री ! सुखी रह और अपने इस गरीब पिता को भी कभी-कभी याद करती रहना । सत्यवती का हृदय भर आया । उसने पिता को प्रणाम किया । गांगेयकुमार ने नाविकराज को और सत्यवती को प्रणाम कर के कहा - "माता ! इस रथ में बैठो ।" सत्यवती रथ में बैठी । राज-भवन में पहुँचने पर सत्यवती को अन्तःपुर में पहुँचा दिया । महाराजा शान्तनु, मन्त्रीगण और प्रजा ने गांगेय की भीष्म प्रतिज्ञा सुन कर आश्चर्य माना । शुभ मुहूर्त में शान्तनु और सत्यवती का लग्न हुआ और वे भोग में आसक्त हो कर जीवन व्यतीत करने लगे ।

शान्तनु का देहावसान

महाराजा शान्तनु सत्यवती के साथ कामभोग मे आसक्त हो कर जीवन व्यतीत करने लगे और गाँगेयकुमार धर्म-चिन्तन और राज्य-व्यवस्था में समय बिताने लगे । महाराजा और सत्यवती का भीष्म पर अत्यधिक प्रेम था । कालान्तर में सत्यवती गर्भवती हुई । उसके पुत्र उत्पन्न हुआ । वह रूप-काति में उत्तम और आकर्षक था । उसका नाम 'चित्रागद' रखा । भीष्म को लघुभ्राता पा कर बडी प्रसन्नता हुई । उसका भ्रातृ-प्रेम उमडा । वह बालक को प्रेमपूर्वक छाती से लगा कर हर्षित हुआ । कालान्तर में एक पुत्र और हुआ, उसका नाम 'विचित्रवीर्य' रखा । वह भी आकर्षक और रूपवान् था । दोनो बन्धुआ की शिक्षा पर भीष्म ने विशेष ध्यान दिया । वे सभी कलाओ मे प्रवीण हो कर युवावस्था को प्राप्त हुए । गागेय, चित्रागद और विचित्रवीर्य का पारस्परिक स्नेह और सद्भाव देख कर राजा और रानी, सन्तुष्ट थे । राजा शान्तनु वृद्धावस्था प्राप्त कर चुके थे । उनके मन में अब ससार से विरक्ति बढ रही थी । वे अपने पिछले जीवन को धिक्कार रहे थे । अपने शिकारी – जीवन मे पशुओं की हुई हिसा और विषय-लोलुपता का पश्चात्ताप कर रहे थे । उनकी इच्छा अब त्यागमय श्रमण-साधना स्वीकार करने की हो रही थी । वे यही भावना रखते थे । उसी समय उन्हें एक भयकर व्याधि उत्पन्न हुई और थोड ही समय में उनका देहावसान हो गया ।

चित्रांगद का राज्याभिषेक और मृत्यु

शान्तनु के अवसान के बाद गागेय ने अपने छोटे भाई चित्रागद का राज्याभिषेक करवाया और स्वय राज्य और प्रजा की हित-साधना में तत्पर रहने लगा । चित्रागद स्वय राज्यभार लेना नहीं चाहता था और अपने ज्येष्ठ-भ्राता गागेय को ही राज्याभिषेक के लिए मना रहा था । परन्तु गागेय अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा और चित्रागद को ही राजा बनाया । चित्रागद विनयपूर्वक गागेय के निर्देशानुसार शासन करने लगा । कालान्तर में चित्रागद को भी विजय-यात्रा करने की इच्छा हुई । उसने अपने से विमुख राजाआ के राज्य पर चढाई की और एक के बाद दूसर राज्य पर विजय पाता गया । इन विजयो से उसमें से नम्रता एव विनयशीलता निकल गई और अभिमान जागा । वह अपने ज्येष्ठ एव हितैषी की भी उपेक्षा करने लगा । एक बार नीलागद नाम के एक राजा ने चित्रागद पर चढाई की । चित्रागद अपनी पूर्व की विजयों से घमण्डी बन गया था । उसने भीष्म (गागेय) को पूछा भी नहीं और सहसा नीलागद के साथ युद्ध में उलझ गया । नीलागद की युद्ध-चाल, चित्रागद को घेर कर मारने की थी । उसने चालाकी से चित्रागद को घेर लिया । वह उसकी सेना का सहार करता हुआ चित्रागद के निकट पहुँचा और शस्त्र प्रहार से उसका मस्तक काट कर विजयोत्सव मनाने लगा । जब भीष्म न चित्रागद की मृत्यु का समाचार सुना तो क्रोधित हुआ और युद्धभूमि में आ कर नीलागद को ललकारा । नीलाँगद का विजयोल्लास और उत्सव बन्द हो गया । पुन युद्ध छिडा और थोडी ही दर में नीलाँगद धराशायी हो गया । नीलागद के मरते ही युद्ध रुक गया । भीष्म चित्रागद का मस्तक ले कर हस्तिनापुर आया और शव की उत्तर क्रिया की ।

विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक और लग्न

चित्रागद का उत्तराधिकार विचित्रवीर्य को दिया गया और भीष्मदेव पूर्व की भाति राज्यहित में सलग्न हो गए । विचित्रवीर्य प्रकृति से विनम्र एव विनयशील था । यह भीष्म के प्रति पूज्यभाव रखता था और उनकी आज्ञानुसार कार्य करता था । भीष्म के प्रभाव से विचित्रवीर्य का राज्य निष्कटक हो गया। उसका कोई विरोधी नहीं रहा । अब भीष्म के मन में राजा विचित्रवीर्य का लग्न करने का विचार हुआ । वह किसी योग्य राजकुमारी की खोज में रहने लगा ।

काशीपुर नरेश के तीन पुत्रियाँ थीं - १ अम्बा २ अम्बिका और ३ अम्बालिका । तीनों रूप लावण्य और उत्तम गुणो से समृद्ध थी । उनके लग्न के लिए राजा ने स्वयवर का आयोजन किया । मण्डप में अनेक राज्याधिपति और राजकुमार एकत्रित थे । तीनों राजकुमारियाँ, सखीवृन्द के साथ स्वयवर - मण्डप में आई । उनके हाथ में वरमाला झूल रही थी । वे एक के बाद दूसर राजा को छोड़ कर आगे बढती जाती थी । दर्शकों की भीड जमी हुई थी । उस भीड म भीष्म भी छद्मवेश में आ कर मिल गया था । काशीपुर नरेश ने इस आयोजन में हस्तिनापुर नरेश को आमन्त्रण नहीं दिया था । भीष्म ने इसे राज्य का अपमान माना और राजकुमारिया का हरण करने के विचार से, गुप्तवश म आया । उसका रथ इस मण्डप के बाहर ही खडा था । जब राजकुमारियाँ निकट आई तो भीष्म ने भीड़ में से निकल कर उनको उठाया और ले जा कर रथ में बिठाया । कन्याएँ भयभीत हो गई थी । भीष्म ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा - "तुम निर्भय रहो । मैं काई डाकू नहीं हूँ । हस्तिनापुर नरेश का भाई हूँ । हस्तिनापुर का राज्य बहुत बड़ा है । नरेश रूप गुण और कला में अद्वितीय हैं । मैं तुम्हें उनकी रानिया बनाऊँगा । उन देव के समान प्रभावशाली के आगे यहाँ बैठे हुए सभी राजा किकर के समान लगते हैं । तुम जीवन भर आनन्द करोगी ।"

भीष्म ने सोचा - "यदि बिना युद्ध के यों ही ले जाऊँगा, ता लोगों म मैं 'डाकू" या 'उठाईगार' समझा जाऊँगा ।" उन्होंने उद्घोपणा की,-

"ओ राजा - महाराजाओ । मैं हस्तिनापुर के महाराजाधिराज विचित्रवीर्य क लिए इन राजकुमारियों का सहरण कर के ले जा रहा हूँ । यदि किसी म साहस हो, तो गागेय के सम्मुख आ कर युद्ध करे और कन्याआ को मुक्त करावें ।"

राजकुमारिया का हरण होते ही मण्डप में एक हलचल मच गई । काशी नरेश अपने योद्धाओं को सम्बोध कर - "पकडो मारो" आदि आदश दने लगे और स्वय शस्त्रसज्ज होन लगे । अन्य नरेश आश्चयान्वित हो एक-दूसरे से पूछने लगे - "कौन था, वह कहाँ से गया ? हमें क्या करना चाहिए ? अभी काशी के योद्धा उसे पकड़ लेंगे वह अकेला ही है । हमें जाने की आवश्यकता ही क्या है ?"

ये सब विचार ही कर रहे थे कि भीष्म की सिह-गर्जना सुनाई दी । अब तो सभी राजाओ को भी सन्नद्ध हो कर युद्ध के लिए आना ही पडा । कुछ तो भीष्म की भीमगर्जना से ही भयभीत हो गए, कुछ भीष्म के पराक्रम से परिचित थे, वे पीछे खिसकने लगे । लेकिन कायरता के कलक और अपमान के भय से, अन्य साहसी राजाओ और काशी नरेश के साथ उन्हे भी युद्ध मे सम्मिलित होना पडा । एक ओर भीष्म अकेले और दूसरी ओर शस्त्रसज्ज सेना सहित अनेक राजा । भयकर सग्राम हुआ । बाणवर्षा से भीष्म का सारा रथ आच्छादित हो गया, फिर भी उनका अमोघ प्रहार शत्रुओ को घायल कर के उनके साहस को समाप्त कर रहा था । शत्रुओ में शिथिलता व्याप्त हुई देख कर महाबली भीष्म ने काशीराज का सम्बोधित कर कहा -

"राजेन्द्र ! शान्ति से मेरी बात सुनो । मैं हस्तिनापुर नरेश महाराजाधिराज विचित्रवीर्य का ज्येष्ठ-भ्राता हूँ । आपने इस समारोह में हमारे महाराजाधिराज को आमन्त्रण नहीं दे कर गम्भीर भूल की । इसी से मुझे आपके आयोजन में विघ्न उत्पन्न कर के यह कार्य करना पडा । मैने जो कुछ किया, वह आपको अत्याचार लग सकता है, किन्तु इसे वीरोचित-क्षत्रियोचित तो आप को भी मानना पडेगा । राजा, स्वामी या पति बलवान ही हो सकता है । बलवान इन्हे शक्ति से प्राप्त करते एव रक्षण करते हैं । मैने भी यही किया है । आप क्षोभ एव विषाद को छोड कर प्रसन्न होइए और अपनी पुत्रियो को प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीजिए । मैं आप से आत्मीय मधुर सम्बन्ध की आशा रखता हूँ ।"

गागेयदेव का परामर्श काशीराज ने स्वीकार किया और अपनी तीनो पुत्रियो को अत्यन्त आदरपूर्वक और विपुल दहेज के साथ गाँगेयदेव को अर्पित की । तीनो राजकुमारियाँ हर्षित थी । हस्तिनापुर आने के बाद तीनो का लग्न, राजा विचित्रवीर्य के साथ हो गया । विचित्रवीर्य अप्सरा जैसी तीन रानियाँ एक साथ प्राप्त होने से प्रसन्न था । वह काम-भोग मे निमग्न रहने लगा और राज-काज भीष्मदेव चलाते रहे ।

धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर का जन्म

विचित्रवीर्य की रानी अम्बिका की कुक्षि से पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'धृतराष्ट्र' रखा गया । धृतराष्ट्र जन्मान्ध था । कालान्तर मे अम्बालिका के भी पुत्र हुआ, जिसका नाम 'पाण्डु' रखा और उसके बाद अम्बा के भी पुत्र का जन्म हुआ, उसका नाम 'विदुर' रखा गया ।

विचित्रवीर्य कामान्ध था । वह राजकाज और अन्य लोक-व्यवहार भूल कर काम भोग म ही लुब्ध रहने लगा । इस भोगासक्ति से उसकी शरीर-शक्ति क्षीण होने लगी । उसकी दुर्बलता देख कर भीष्म का चिन्ता हुई । भीष्म ने माता सत्यवती से विचित्रवीर्य की विषय-लुब्धता छुड़ान का यत्न करने क लिए कहा । सत्यवती भी चिन्तित थी । उसने और भीष्मदेव ने विचित्रवीर्य को समझाया और उसका प्रभाव भी हुआ किन्तु अस्थायी कुछ दिन वह बरबस भोग विमुख रहा । किन्तु शक्ति सचय

होते ही यह पुन भोगासक्त हो गया । प्राप्त शक्ति क्षीण होने लगी । उसे क्षय रोग हो गया और क्रमश क्षीण होते होते जीवन ही क्षय हो गया ।

पाण्डु को राज्याधिकार

विचित्रवीर्य मरणोपरान्त हस्तिनापुर के राज्याधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ । अब भीष्मदेव को राज-सिहासन पर बिठाने का प्रयत्न होने लगा । किन्तु वे इस सुझाव पर विचार भी नहीं करना चाहते थे । विचित्रवीर्य के तीनो पुत्रों की शिक्षा भीष्मदेव के सानिध्य मे हुई थी । धृतराष्ट्र सब से बड़ा था । भीष्मदेव ने उससे राजा बनने का कहा, तो उसने कहा - "पूज्य ! मैं तो अन्धा हूँ । आप पाण्डु को राज्यभार दीजिये । वह योग्य भी है ।" पाण्डु का राज्याभिषेक किया गया । भीष्मदेव को राज्य का सचालन पूर्ववत् करना पडा । वे धृतराष्ट्र से परामर्श कर राज्य-कार्य करने लगे । पाण्डु भी राज्य का कार्य करता और अपना अनुभव बढा रहा था ।

कालान्तर में गान्धार देश के राजा सुबल का पुत्र शकुनी अपनी आठ बहिनों को साथ ले कर हस्तिनापुर आया और उन आठों का लग्न धृतराष्ट्र के साथ कर दिया ।

पाण्डु का कुन्ती के साथ गन्धर्वलग्न

धृतराष्ट्र का विवाह होने के बाद पाण्डु का विवाह करना था । भीष्मदेव किसी योग्य राजकुमारी की शोध म थे । वे एक दिन पाण्डु राजा के साथ नगरचर्या कर रहे थे कि उन्हें एक विदेशी चित्रकार मिला । उन्होंने उसके चित्रपट्ट देखे । उनमें देवागना जैसी एक अनुपम सुन्दरी का चित्र भी था । भीष्म ने चित्रकार से उसका परिचय पूछा । चित्रकार बोला-

"मथुरा नगरी के राजा अन्धकवृष्णि के समुद्रविजयादि दस दशार्ह पुत्र हैं और उन दस बन्धुओं के एक छोटी बहिन राजकुमारी कुन्ती है । उस परम सुन्दरी का यह चित्र है । इस सुन्दरी का जन्म लग्न देख कर किसी ज्योतिषी ने कहा था कि यह कन्या चक्रवर्ती के समान पुत्र को जन्म देगी । यह राजकुमारी विदुषी, कलाओ से परिपूर्ण एव सद्गुणी है । युवावस्था प्राप्त होने पर राजारानी को इसके योग्य वर की चिन्ता हुई । राजा अन्धकवृष्णि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय को पुत्री के उपयुक्त वर खोजने की आज्ञा दी । समुद्रविजयजी ने अपने विश्वस्त सेवकों को वर की खोज करने विभिन्न दिशाओं में भेजा, उनमें से एक मैं भी हूँ । मैं चित्रकार भी हूँ । सफलता प्राप्त करने के लिए मैंने राजकुमारी का रूप आलेखित किया और घर से निकल पडा । अपने मार्ग म आती हुई राजधानियों में होता हुआ और राजवशों तथा राजकुमारों का परिचय प्राप्त करता हुआ मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ । आपकी और पाण्डु नरेश की कीर्ति सुन कर मैं यहाँ टिक गया । आज सुयोग से आपके दर्शन हुए । मुझे पाण्डु नरेश, राजकुमारी के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त लगे हैं । मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप यह सम्बन्ध

स्वीकार कर लीजिए । राजकुमारी कुन्ती के 'माद्री' नाम की एक छोटी बहिन भी है । उस पर चेदी नरेश दमघोषजी मुग्ध हैं । किन्तु उसका लग्न बडी बहिन कुन्ती के लग्न के बाद ही करना है । मेरी प्रार्थना स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए ।''

भीष्मदेव को यह सम्बन्ध योग्य लगा । उन्होने स्वीकृति देने के साथ ही अपने एक विश्वस्त अनुचर को मथुरा भेजा । अनुचर ने अन्धकवृष्णि राजा के सामने भीष्मदेव का अभिप्राय व्यक्त किया । अन्धकवृष्णि ने उस समय उसको कोई उत्तर नहीं दिया । किन्तु दूसरे दिन राजा ने चित्रकार के साथ दूत को कहला भेजा कि – 'पाण्डु राजा रोगी हैं, इसलिए यह सम्बन्ध स्वीकार करनै योग्य नहीं है ।' अनुचर हस्तिनापुर लौट आया ।

कुन्ती का चित्र देख कर पाण्डु भी उस पर मुग्ध हो गया । उसके हृदयपट्ट पर कुन्ती ने आसन जमा लिया । पाण्डु इतना विमोहित हो गया कि वह उचित अनुचित का विचार किये बिना ही गुप्त रूप से मथुरा पहुँचा और कुन्ती से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करने लगा । उधर कुन्ती भी चित्रकार से पाण्डु की प्रशसा सुन कर उसी पर मुग्ध हो गई और मन ही मन पाण्डु को वरण कर लिया । परन्तु पिता का उत्तर जान कर वह हताश हो गई । वह चिन्ता सागर मे गोते लगाने लगी । खान-पान और हास्य-विनोद छूट गए । उसकी उदासी, उसकी प्रिय सखी चतुरा से छुपी नहीं रह सकी । सखी के आगे मन का भेद खोलते हुए कुन्ती ने कहा – ''सखी ! यदि मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ, तो मुझे अपने जीवन का अन्त करना पडेगा ।'' सखी उसे सान्त्वना देती रही, परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ । एकबार उद्विग्नता बढने पर वह सखी के साथ पुष्प-वाटिका में चली गई और वाटिका से आगे बढ कर उद्यान मे पहुँच गई । कुन्ती को एक वृक्ष के नीचे बिठा कर उसकी सखी कुछ पुष्प-फलादि लेने के लिए चली गई । उस समय कुन्ती ने सोचा – 'आत्म-घात का ऐसा अवसर फिर मिलना कठिन होगा।' उसने अपनी साडी को वृक्ष की डाली से बाँध कर फाँसी का फन्दा बनाया और गले म डाल कर झूल गई । किन्तु उसी समय एक युवक ने खड्ग के वार से उसका फन्दा काट कर कुन्ती को बाहो में थाम लिया। कुन्ती युवक के बाहुपाश में झूल गई । वह युवक पाण्डु नरेश ही था । उसने तलवार का प्रहार करते हुए कहा – ''मुग्धे ! इतना दु साहस क्यों कर रही हो ?'' कुन्ती धक् से रह गई । उसने सोचा – 'मेरी दु ख-मुक्ति में यह विघ्न कहाँ से आ गया ? यह पुरुष कौन ?'

वह चिल्लाई – ''मुझे छोड दो । मैं तुम्हारा स्पर्श करना भी पाप समझती हूँ । हस्तिनापुर नरेश के सिवाय मेरे लिए सभी पुरुष, पिता और बन्धु के तुल्य हैं । तुम कौन हा ? छोड दो मुझे ।'' उसने उस युवक के मुँह की ओर देखा । उसे लगा कि ये प्रिय पाण्डु नरेश होंगे । चित्रकार के किये हुए वर्णन और बताये हुए लक्षण इनमे मिलते हैं और मेरा मन भी शान्त एव प्रफुल्ल लगता है । फिर भी सन्देह होता है कि वे अचानक इतनी दूर से यहाँ कैसे आ सकते हैं ? वह तडप कर पृथक् होने के लिए जोर लगाने लगी तब युवक बोला – ''प्राणवल्लभे ! मैं तर मोह में मुग्ध हो कर हस्तिनापुर से

कुमारों की कला-परीक्षा

पाण्डव और कौरव-कुमार विद्याध्ययन कर के निष्णात हो गए । द्रोणाचार्य ने उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया । वे उन्हें वन में ले गए और एक बड़े ताड़-वृक्ष की ऊँची डाल पर, मयूरपंख का चन्द्रिका लटकाई गई । वृक्ष सघन था । वृक्ष से कुछ दूर परीक्षार्थियों के साथ खड़े हो कर द्रोणाचार्य बोले -

"पुत्रो ! आज मैं तुम्हारे लक्ष्य-वेध की परीक्षा ले रहा हूँ । वह देखो, उस वृक्ष पर मयूर-चन्द्रिका लटक रही है । तुम्हें उस चन्द्रिका को वेधना है । आज की यह परीक्षा तुम्हारे आगे के अध्ययन की योग्यता सिद्ध करेगी । लक्ष्यवेध करने वाला ही आगे बढ़ सकेगा । तुम्हारा लक्ष्य ठीक होगा तो उत्तीर्ण हो सकोगे और आगे भी बढ़ सकोगे । हाँ अब चालू करो ।"

सभी परीक्षार्थी लक्ष्य की ओर टकटकी लगा-कर देखने लगे, देखते रहे । आचार्य ने पूछा - "तुम्हें क्या दिखाई देता है ?"

- "हमें वृक्ष भी दिखाई देता है वृक्ष की शाखा, प्रशाखा, पत्र पुष्प फल और मयूरपंख भी दिखाई देता है और आप भी दिखाई दे रहे हैं ।"

- "तब हट जाओ तुम ! लक्ष्य नहीं वेध सकते" - आचार्य ने आदेश दिया वह छात्र हट गया । उसके बाद दूसरा, तीसरा इस प्रकार क्रमशः आते गये । किसी ने कहा - "मुझे वृक्ष का ऊपर का हिस्सा दिखाई देता है । किसी ने कहा - मुझे शाखा और पत्र-पुष्पादि दिखाई देते हैं ।" किसी ने "लक्ष्य के निकट के पत्र-पुष्पादि दिखाई देना बताया ।" आचार्य को नहीं लगा । अन्त में अर्जुन की बारी आई । उसने कहा - "गुरुदेव ! मुझे केवल चन्द्रि...

आचार्य ने उस राधावेध के उपयुक्त माना ।

एकबार आचार्य सभी छात्रों के साथ गंगास्... नहाने लगे । इतने में एक मगर ने उसका पाँव पक... मेरा पाँव पकड़ लिया है । छुड़ाओ शीघ्रता करो ! जल में आचार्य को किस प्रकार बचाया जाय?" ... अर्जुन को पुकारा । अर्जुन जानता था कि आचार्य ... लिए ही वे अपने को मुक्त नहीं करा रहे हैं । उसने ... तीक्ष्ण लक्ष्य पर लगा । ग्राह छिद गया और आचार्य ... के लिए एकमात्र अर्जुन ही उपयुक्त है ।

एकदिन सभी कुमारों की सभी लोगों के समक्ष ... आयोजन किया गया । जिसमें राजा आदि के लिये ...

अधिकारी, प्रतिष्ठित नागरिक और दर्शकों के बैठने की उचित व्यवस्था की गई । रानियों और अन्य महिला-वर्ग के लिए पृथक् प्रबन्ध किया गया । सामने अस्त्र-शस्त्रादि साधन व्यवस्थित रूप से रखे गए। पाण्डु नरेश, भीष्म-पितामह, धृतराष्ट्र विदुर, आदि मण्डप मे पहुँच कर आसनस्थ हुए । सभी दर्शक-दर्शिकाएँ यथास्थान बैठे । मण्डप के सामने की स्वच्छ एव समतल भूमि ही परीक्षा का स्थान था । द्रोणाचार्य अपने शिष्य-समूह के साथ उपस्थित हुए । राजाज्ञा से परीक्षा प्रारभ हुई । छात्र अपनी-अपनी कला-निपुणता का प्रदर्शन करने लगे । कोई धनुष-बाण लेकर स्थिर लक्ष्य को वेधता तो कोई चल को, कोई ध्वनि का अनुसरण करके बाण फेंकता, कोई बाणो से आकाश को आच्छादित करता । द्वद्व-युद्ध, गदा-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, मल्लयुद्ध आदि अनेक प्रकार का कला-प्रदर्शन होने लगा । छात्रो की निपुणता देख कर दर्शक हर्षनाद एव करस्फोट कर सतोष व्यक्त करने लगे । युधिष्ठिर रथारूढ हो कर युद्ध करने में सर्वोपरि सिद्ध हुआ । उसके बाद दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ । दोनों इस कला के पडित थे । दोनों की चपलता और हस्तकौशल बढते-बढते इतना बढा कि दर्शन चकित रह गए । दर्शकों का एक वर्ग भीम की प्रशसा करता हुआ - 'धन्य धन्य' कह कर प्रोत्साहित करता, तो दूसरा वर्ग दुर्योधन को । भीम के प्रशसक अधिक थे । उसकी प्रशसा का घोष अत्यधिक गभीर हो रहा था । यह देख कर दुर्योधन की ईर्षा बढी । उसने क्रोधित हो कर भीम को मारने के लिए बलपूर्वक गदा प्रहार किया, परन्तु भीम अविचल रहा । दर्शकगण दुर्योधन की दुष्टता देख कर क्षुब्ध हुए । दुर्योधन के गदा-प्रहार का उत्तर भीम ने भी वैसा ही दिया, किन्तु दुर्योधन भीम की मार से तिलमिला गया । उसके मन में शत्रुता उभरी और वह भीम को समाप्त कर देने के उद्देश्य से पुन प्रहार करने को तत्पर हुआ । भीम तो शात ही था, परन्तु दुर्योधन की खेल में भी दुर्भावना एव दुष्टता देख कर वह भी क्रोधाभिभूत हो कर भयकर बन गया । उसने भी दुर्योधन को दण्ड देने के लिए गदा उठाई। यह देख कर राजा और भीष्मपितामह तथा आचार्य ने निकट आ कर उसे शात किया । दोनों की परीक्षा समाप्त कर दी गई ।

इसके बाद अर्जुन की परीक्षा प्रारभ हुई । उसने अपनी कला-निपुणता का प्रदर्शन करना प्रारभ किया । स्थिरलक्ष्य, चललक्ष्य, स्थूललक्ष्य-आदि सूक्ष्मलक्ष कलाआ मे प्रवीणता देख कर दर्शक-समूह चकित रह गया । सारी सभा हर्षविभोर हो गई । अर्जुन का एक भी लक्ष्य व्यर्थ नहीं गया, सभी अचूक रहे । उसकी चपलता चमत्कारिक थी । वह एक क्षण मे सिकुड कर सकुचित हो जाता, तो दूसरे ही क्षण विस्तृत, क्षणभर में पृथ्वी पर चिपट कर बाण चलाता, तो दूसरे ही क्षण आकाश म उछल कर लक्ष्य वेधता । चलते दौडते, कूदते हुए निशान को अचूक वेधना उसकी विशेषता थी । अग्न्यास्त्र वरुणास्त्र आदि दिव्य अस्त्रो के प्रयोग मे भी वह सर्वश्रेष्ठ रहा । अर्जुन की सर्वोपरि सफलता देख कर उसके विरोधियों और ईर्षा करने वालो के मन म खलबली मच गई । महारानी कुन्ती अपने पुत्रों के श्रेष्ठ गुणों से हृय-विभोर थी, तो गान्धारी अपने पुत्र दुर्योधन की निम्नता से उदास थी । अर्जुन की जय जयकार, दुर्योधन सहन नहीं कर सका । उसका क्रोध मुँह, नेत्र और भृकुटी पर स्पष्ट रूप से

अंकित हो गया । उसके बन्धुगण भी आवेशित हो गए । उसके मित्र, कर्ण को भी अर्जुन की सर्वोपरिता अखरी । कर्ण भी वीर योद्धा और कला-निपुण था । वह अपने आसन से उठा और सिंह के समान गर्जना करता हुआ सन्नद्ध होकर रंगभूमि में आया । उस समय पाँचों पाण्डव और द्रोणाचार्य एक ओर और सौ कौरव, अश्वत्थामा तथा कर्ण दूसरे दल में थे । कर्ण की विकराल आकृति देख कर सभी सभाजन चिन्तित हो गए । कृपाचार्य द्रोणाचार्य और सभा को सम्बोधित कर कर्ण कहने लगा -

"गुरुदेव, आप्तजन और सभासद ! संसार में एक अर्जुन ही सर्वोपरि नहीं है । आपने उसका कला-निपुणता देखी, अब मेरी भी देखिये ।

इस प्रकार गर्वोक्ति प्रकट कर के कर्ण ने अपना कौशल बताया । जितनी कलाएँ अर्जुन ने बतलाई थी, उतनी और वैसी ही और कोई विशिष्ट भी कर्ण ने प्रदर्शित की । कर्ण की अद्भुत क्षमता और श्रेष्ठता देख कर दुर्योधन की उदासीनता दूर हो गई । उसने हर्षातिरेक से कर्ण को छाती से लगा लिया और कहा -

"वीर कर्ण ! वास्तव में तू सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय कलाविद् है । तेरी समता करने वाला संसार में कोई नहीं है । शत्रुओं के गर्व को दूर करने वाले हे वीर ! मैं तेरा अभिवादन करता हूँ । तू मेरा परम मित्र है । मेरा सर्वस्व तेरा है ।"

दुर्योधन की आत्मीयता और प्रशंसा सुन कर कर्ण बोला -

"आपकी आत्मीयता का मैं पूर्ण आभारी हूँ । जब आपने मैत्री-सम्बन्ध जोड़ा है, तो इसे विकसित कर के जीवन-पर्यन्त निभाना होगा ।"

- "मित्र ! मैं वचन देता हूँ कि तुम्हारी और मेरी मैत्री जीवन-पर्यन्त अटूट रहेगी । मैं इसे शुद्ध अन्तःकरण से स्वीकार करता हूँ ।"

दुर्योधन के उद्गार सुन कर कर्ण बोला -

"मित्रराज ! अब मैं निश्चिन्त हुआ । मैं स्वयं अर्जुन की प्रशंसा सहन नहीं कर सका था । इसीलिए मैंने प्रदर्शन किया । मेरे मन का भार तो तब तक हलका नहीं होगा, जब तक कि मैं अर्जुन को युद्ध में पराजित नहीं कर दूँ ।"

कर्ण भी दुर्योधन के दल में सम्मिलित हो गया । वे सभी कर्ण की प्रशंसा और अर्जुन की निन्दा करने लगे । अर्जुन से यह अपमान सहन नहीं हुआ । उसने सिंहगर्जना करते हुए कहा;-

"कर्ण ! लगता है कि तेरी मृत्यु निकट ही आ गई है । मैं चेतावनी देता हूँ कि तू मेरी कोपज्वाला में आहुति मत बन और मुझसे बच कर रहा कर ।"

अर्जुन के वचनों ने कर्ण के अहंकार पर चोट की । वह आवेशपूर्वक बोला -

"अर्जुन ! तू किसे डराता है ? यदि मन में अपने बाहुबल का घमण्ड है, तो उठ, आ सामने । मैं तेरे अहंकार रूपी पर्वत को चूर्ण-विचूर्ण करने के लिए तत्पर हूँ ।"

कर्ण के वचनो ने अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर बना दिया । उसने आचार्य की आज्ञा ले कर युद्ध के लिए रगभूमि में प्रवेश किया । सभासद अब भी दो पक्ष मे थे । एक पक्ष अर्जुन की विजय चाहता था, तो दूसरा कर्ण की । सभा स्तब्ध, शान्त और गभीर होकर उनकी भिडन्त देखने लगी ।

कर्ण का जाति-कुल

अर्जुन और कर्ण दोनों वीर अखाडे में आमने-सामने खडे हो गये । दोनों हुँकार करते हुए भिडने वाले थे कि कृपाचार्य ने कर्ण को सम्बोधित कर कहा,-

"हे कर्ण ! अर्जुन उच्च कुलोत्पन्न है । जिस प्रकार कल्पवृक्ष की उत्पत्ति सुमेरु पर्वत से होती है, उसी प्रकार अर्जुन की उत्पत्ति पाण्डु नरेश से हुई है । जिस प्रकार मोती की उत्पत्ति शीप में होती है, उसी प्रकार अर्जुन, महारानी कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है और साथ ही यह वीरोत्तम भी है, किन्तु तू वैसा कुलोत्तम नहीं है । बता तेरी उत्पत्ति किस कुल से हुई है ? जब तक यह स्पष्ट नहीं हो जाय, तब तक अज्ञात कुल - शील वाले के साथ अर्जुन का युद्ध नहीं हो सकता । तुझे अपना कुल-शील इस सभा में बताना होगा ।"

कृपाचार्य की उठाई हुई बाधा का निवारण करने के लिए दुर्योधन ने कहा;-

"आचार्यश्री ! मनुष्य ख्यातिप्राप्त कुल, जाति अथवा पद से बडा नहीं होता, बडा होता है गुणों से । कमल की उत्पत्ति कीचड से होती है, तथापि वह अपनी उत्तम सुगन्ध से लोकप्रिय होता है । इसी प्रकार यदि कोई पुरुष नीचकुलोत्पन्न है, तो भी वह अपने पराक्रम एव सद्गुणों से उच्च स्थान प्राप्त करता है । कर्ण भी सद्गुणी और वीरोत्तम है । इसलिए एक अर्जुन से युद्ध करने में समर्थ है । इस पर भी यदि आप कहें कि - "यह राजा या राजकुमार नहीं है, इसलिए अर्जुन की बराबरी नहीं कर सकता, तो मैं आज ही इसे अग देश के राज्य का अभिषेक कर के वहाँ का अधिपति बनाता हूँ ।" इतना कह कर उसने पुरोहित को बुलाया और तीर्थोदक से कर्ण का राज्याभिषेक कर दिया* ।

अपमान के स्थान पर अपना सम्मान और राज्यदान ने कर्ण को दुर्योधन का अत्यत उपकृत बना दिया । वह भावाभिभूत हो कर बोला -

"मित्रवर ! आपने मुझ पर बडा भारी उपकार किया । मैं आपका अत्यत ऋणी हूँ । आपक लिए मेरा प्राण भी सदैव प्रस्तुत रहेंग । अधिक क्या कहूँ ?"

"मित्र कर्ण ! मैं तुमसे यही वचन प्राप्त करना चाहता हूँ कि अपना मैत्रीसम्बन्ध जीवनपर्यन्त अक्षुण्ण रहे ।"

* दुर्योधन को राज्याभिषेक करने का अधिकार ही क्या था ? उसका खुद का राज्य नहीं तो वह ऐसा कैसे कर सकता था ? - स ।

अंकित हो गया । उसके बन्धुगण भी आवेशित हो गए । उसके मित्र, कर्ण को भी अर्जुन अखरी । कर्ण भी वीर योद्धा और कला-निपुण था । वह अपने आसन से उठा औ गर्जना करता हुआ सन्नद्ध होकर रगभूमि में आया । उस समय पाँचा पाण्डव और र और सौ कौरव, अश्वत्थामा तथा कर्ण दूसरे दल में थे । कर्ण की विकराल अ सभाजन चिन्तित हो गए । कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और सभा को सम्बोधित कर कर

"गुरुदेव, आप्तजन और सभासद ! ससार में एक अर्जुन ही सर्वोपरि कला-निपुणता देखी अब मेरी भी देखिये ।

इस प्रकार गर्वोक्ति प्रकट कर के कर्ण ने अपना कौशल बताया बतलाई थी, उतनी और वैसी ही और कोई विशिष्ट भी कर्ण ने प्रदर्शित और श्रेष्ठता देख कर दुर्योधन की उदासीनता दूर हो गई । उसने हर्षा लिया और कहा -

"वीर कर्ण ! वास्तव में तू सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय कलाविद में कोई नहीं है । शत्रुओ के गर्व को दूर करने वाले हे वीर ! मैं ते मित्र है । मेरा सर्वस्व तेरा है ।"

दुर्योधन की आत्मीयता और प्रशसा सुन कर कर्ण बोला

"आपकी आत्मीयता का मैं पूर्ण आभारी हूँ । जन विकसित कर के जीवन-पर्यन्त निभाना होगा ।"

- "मित्र ! मैं वचन देता हूँ कि तुम्हारी और मेरी अन्त:करण से स्वीकार करता हूँ ।"

दुर्योधन के उद्‌गार सुन कर कर्ण बोला -

"मित्रराज ! अब मैं निश्चिन्त हुआ । मैं र इसीलिए मैंने प्रदर्शन किया । मेरे मन का भार त को युद्ध मे पराजित नहीं कर दूँ ।"

कर्ण भी दुर्योधन के दल में सम्मिलित र करने लगे । अर्जुन से यह अपमान सहन नह

"कर्ण ! लगता है कि तेरी मृत्यु कोपज्वाला में आहुति मत बन और मुय

अर्जुन के वचनों ने कर्ण के अह

"अर्जुन ! तू किसे डराता है ? तेरे अहकार रूपी पर्वत को चूर्ण-वि

युद्ध करने का कोई कार्यक्रम नहीं है । अतएव आप अब इस कार्यक्रम को समाप्त कीजिए । समय भी बहुत हो चुका है ।"

आचार्य ने खडे हो कर छात्रों से कहा - "अब कोई कार्यक्रम शेष नहीं रहा । युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । मैं आज्ञा देता हूँ कि अब स्वस्थान चलने के लिए तत्पर हो ।"

आचार्य की आज्ञा सुनते ही कौरव और पाडव शान्त हो गए और अपने अस्त्र - शस्त्र सभाल कर चलने लगे । सभा भी विसर्जित हो गई ।

राधावेध और द्रौपदी से लग्न

कम्पिलपुर के द्रुपद नरेश ने अपनी पुत्री द्रौपदी के पति - वरण के लिए नगर के बाहर एक विशाल एव भव्य मडप बनवाया । वह मण्डप सुसज्जित था । उसमें आगत नरेशों और राजकुमारो के लिए आसनों की समुचित व्यवस्था की थी । मडप के मध्य में स्वर्णमय एक विशाल स्तभ बनाया गया था । उसके बाँई और दाहिनी ओर चार-चार चक्र चल रहे थे । उस स्तभ के ऊपर रत्नमय पुतली अधोमुख किये खडी की गई थी । स्तभ के पास भूमि पर एक ओर एक धनुष रखा हुआ था और मध्य में एक बडे कडाव में तेल भरा हुआ था । मण्डप के आसपास दर्शकों की विशाल भीड थी । यथासमय द्रुपद नरेश और युवराज धृष्टद्युम्न आये और आगत नरेशो और राजकुमारों का स्वागत कर यथास्थान बिठाने लगे । सभी के आ कर बैठ जाने के बाद राजकुमारी द्रौपदी अपनी सखियों और अन्त पुर - रक्षकों के साथ गजगति से चलती हुई सभा में उपस्थित हुई । द्रौपदी का सौंदर्य अत्युत्तम था । शरीर का प्रत्येक अग आकर्षक था । उसका शरीर एक प्रकार की आभा से देदीप्यमान हो रहा था। जिसने भी द्रौपदी को देखा मोहित हो गया और प्राप्त करने के लिए लालायित हुआ । द्रौपदी के आते ही धृष्टद्युम्न ने उठ कर सभा को सम्बोधित करते हुआ कहा -

"आदरणीय सभाजनो ! आपमे से जो कलाविद् वीर पुरुष, इस धनुष से स्तभ पर रही हुई पुतली की परछाई, इस तेल में देख कर अपने बाण से पुतली की बाँई आँख वेध देगा, उसी भाग्यशाली को मेरी बहिन वरण करेगी । जो इतनी कुशलता रखता हो, वह यहाँ आ कर अपना पराक्रम दिखलावे ।"

सवप्रथम हस्तिशीर्ष नगर का राजा दमदत उठा, किन्तु उसी समय किसी ने छींक दिया । वह इस अपशकुन से शकित हो कर बैठ गया । इसस बाद मथुरा नरेश उठ कर चले, किन्तु अन्य राजाओं के हँसने और मखौल करने के कारण वे भी पुन आसनस्थ हो गए । फिर विराट देश के राजा उठे, किन्तु धनुष तेल पुतली आदि देख कर और सफलता म सन्देह होने पर लौट गए । इसी प्रकार नन्दीपुर नरेश शल्य, जरासध का पुत्र सहदेव आदि भी बिना ही प्रयत्न किये लौट गए । चेदी नरेश शिशुपाल ने प्रयत्न किया, परन्तु वह निष्फल हो गया । अब दुर्योधन से प्रेरित कर्ण उपस्थित हुआ । कर्ण को देख कर द्रौपदी चिंतित हुई - "कहीं यह हीन - कुलोत्पन्न सफल हो गया तो क्या होगा । सुना है यह उच्च कोटि का

धनुर्धर है ।" वह अपनी कुलदेवी को मना कर कर्ण के निष्फल होने की कामना करने लगी द्रौपदी को चिन्तातुर देख कर प्रतिहारिणी बोली - "चिन्ता मत करो । कर्ण राधावेध की कला नहीं जानता है ।" कर्ण भी निष्फल हो कर चला गया । अन्य नरेश राधावेध की कला नहीं जानते थे तो वे उठे ही नहीं । इसके बाद पाण्डवों की बारी आई । पाण्डवों को देखते ही द्रौपदी मोहित हो गई । वह उनकी सफलता की कामना करने लगी । प्रतिहारी की प्रशंसा ने द्रोपदी का मोह विशेष बढ़ाया और वह आशान्वित हुई । अर्जुन ने धनुष को उठा कर चढ़ाया । युधिष्ठिरादि चारों भाई अर्जुन के चारों ओर अपने शस्त्र ले कर रक्षा करने के लिए खड़े हो गए । अर्जुन धनुष पर बाण लगा कर तेलपात्र में पुतली को बाँयीं आँख से देखने लगा और दृष्टि स्थिर कर के बाण छोड़ दिया । पुतली की बाँयीं आँख बिंध गई । सभासदों ने अर्जुन की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की । युधिष्ठिरादि बन्धु, अर्जुन को छाती से लगा कर हर्षोद्गार व्यक्त करने लगे । उस समय द्रौपदी की पहिनाई हुई वरमाला पाँचों बन्धुओं के गले में आरोपित हो गई◊ ।

पाण्डवों की प्रतिज्ञा

विवाहोपरान्त द्रौपदी को ले कर पाण्डव हस्तिनापुर आये और हस्तिनापुर में विवाहोत्सव होने लगा । उसी समय नारदजी उपस्थित हुए । प्रासंगिक बातचीत के बाद नारदजी ने पाँचों बन्धुओं को उपदेश देते हुए कहा--

"मैं तुम पाँचों बन्धुओं का एक द्रोपदी के साथ लग्न होना सुन कर ही यहाँ आया हूँ । भवितव्यतावश अनहोनी घटना हो गई । किन्तु इससे कोई अनर्थ खड़ा नहीं हो जाय, इसका तुम सब को पूरा ध्यान रखना है । सभी प्रकार के अनर्थों का मूल मोहकर्म है । मोह के वशीभूत हो कर मनुष्य भान भूल जाता है । स्त्री के निमित्त से वैर की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है । रत्नपुर नगर के श्रीसेन राजा के दो पुत्र थे - इन्दुसेन और बिन्दुसेन । दोनों का परस्पर गाढ़ स्नेह था । यौवनवय प्राप्त होने पर राजा ने दोनों का लग्न कर दिया । दोनों भ्राता सुखपूर्वक रहते थे । उस नगर में अनंगसेना नाम की एक वेश्या रहती थी । उसकी रूप-सुधा देख कर दोनों राजकुमार मोहित हो गए । एक ही स्त्री पर दो राजकुमारों का मुग्ध होना और स्नेह-शान्ति बनी रहना असंभव था । साधारण मनुष्य भी एक वस्तु पर अपना एकाधिकार चाहता है, तब एक अनुपम स्त्री-रत्न पर राजकुमार जैसे अभिमानी व्यक्ति अपना पूर्ण एकाधिपत्य नहीं रख कर, दूसरे का साझा कैसे सहन कर सकते थे ? उन दोनों का स्नेह, द्वेष रूपी आग में जल गया । एक-दूसरे के शत्रु बन गए । राजा ने जब यह बात जानी तो अत्यन्त दुःखी हुआ । उसके दोनों पुत्र झगड़ने लगे । राजाज्ञा से उन्हें उस समय बलात् पृथक् पृथक् कर के झगड़ा टाला गया। किन्तु राजा के हृदय पर इस घटना ने भयंकर आघात लगाया । उसे जीवन भारभूत लगने लगा ।

◊ द्रौपदी के पूर्वभव निदान तथा लग्न का वर्णन पृ. ३३९ से ३४८ तक भी हुआ है ।

राजकुल की बदनामी उससे नहीं देखी जा सकी । वह विष-पान कर के मर गया । राजा की मृत्यु के शोक में निमग्न हो कर दोनो रानियाँ भी मर गई और निरकुश दोनो कुमार आपस में लड कर कट मरे✿। स्त्री-मोह ने दो भाइयो के स्नेह मे आग लगा कर पाँच मनुष्यो के प्राण लिये । फिर तुम तो एक स्त्री पर पाँच बन्धु अधिकार रखते हो तुम्हे आज से ही प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना चाहिए । जब एक व्यक्ति द्रौपदी के अन्त पुर मे हो, तब दूसरे को प्रवेश ही नहीं करना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक दिन के वारे से द्रौपदी के पास जाना चाहिए । यदि तुम इस प्रकार मर्यादा में रहोगे, तो तुम्हारा परस्पर स्नेह बना रहेगा । कुटुम्ब मे शान्ति रहेगी, राज्य का हित होगा और धार्मिक मर्यादा का पालन करने के कारण व्रतधारी भी हो जाओगे ।''

नारदजी के उपदेश का श्रीकृष्णचन्द्रजी ने समर्थन किया । पाँचो पाण्डव प्रतिज्ञाबद्ध हो गए द्रौपदी भी पाँचो के साथ समभावपूर्वक बरतने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हुई । नारदजी ने कहा - ''मैं इसी विचार से यहाँ आया था कि तुम्हारे भातृ-प्रेम मे द्रौपदी का निमित्त कहीं बाधक नहीं बन जाय, इसका उपाय करना चाहिए ।''

- ''आप सम्प और शान्ति के उपासक कब से बने ? स्नेह एव सम्प में सताप उत्पन्न कर के प्रसन्न हाते हुए तो मैने आपको कई बार देखा है, परन्तु आज की आपकी बात मुझे तो अनहोनी ही घटित हुई लगी । कदाचित् पाण्डवा का भाग्य प्रबल है जिससे आपको सद्बुद्धि सुझी । अन्यथा आपके मनोरञ्जन का तो यह एक नया साधन मिल गया था''- श्रीकृष्ण न व्यग्य पूर्वक नारद जी से कहा ।

-'' जब श्रीकृष्ण की ऐसी इच्छा होगी, तब वैसा भी किया जा सकेगा । वैसे पाण्डव मुझे प्रिय है। मैं इनका अहित नहीं चाहता । वैसे मुझे अपनी विद्या का प्रयोग करने के लिए सारा तो ससार है । इसकी चिन्ता मत कीजिए''- कह कर नारदजी चले गये ।

पाचों पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा अनुसार मर्यादा मे रह कर द्रौपदी के साथ सुख-पूर्वक रहने लगे और द्रौपदी भी निष्ठापूर्वक बिना किसी भेदभाव के पाँचो पाण्डवों के साथ व्यवहार करने लगी । जिस दिन जिसका बारा होता, वही द्रौपदी के आवास में जाता, दूसरा कोई भी वहा नहीं जाता । पाँचा बन्धु राजकाज में भी यथयोग्य कार्य करते थे । उन सब का जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था ।

अर्जुन द्वारा डाकुओं का दमन और विदेश-गमन

रात को सभी शयन कर रहे थे कि नगर में कोलाहल हुआ । राजभवन में पुकार हुई -''हमारा गोधन डाकू ले गए । स्वामिन् । हम लूट गए । रक्षा करो भगवन् । हम बिना मृत्यु के मर गए । हमारा

✿ यह कथा भ० शांतिनाथ के चरित्र भाग १ पृ २७७ में भी है परन्तु दोनों में कुछ अन्तर है । उसमें युद्ध-विरत हो, प्रव्रजित होकर मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है ।

क्या होगा ? डाकू-दल हमारे प्राण के समान आधारभूत गोधन हरण कर गए ।" लोगों का झुण्ड रोता चिल्लाता पुकार करने लगा । अर्जुन ने लोगो की पुकार सुनी और तत्काल उठ कर बाहर आया । उसने लोगों को सान्त्वना देते हुए कहा –

"भाइयो ! घबराओ मत । मैं डाकूओ का दमन कर के तुम्हारी सभी गायें लाऊँगा । मैं अभी जा रहा हूँ । जब तक मैं तुम्हारी गायें डाकूओ से नहीं छुडा लूँ, तब तक मैं भी अन्न-जल नहीं लूँगा और खाली हाथ नगर मे नहीं लौटूँगा । अब तुम निश्चित हो कर जाओं ।"

अर्जुन के शब्दों ने सभी गोपालो को सतुष्ट कर दिया । वे अर्जुन का जयजयकार करते हुए लौट गए । अर्जुन उसी समय डाकुओ से गौओं को मुक्त कराने के लिए जाने लगे । किन्तु उनका धनुष और बाणो से भरा तुणीर द्रौपदी के शयन-कक्ष में रखा हुआ था और उस रात युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ थे । अर्जुन के शामने समस्या खडी हुई । वे नियम के विरुद्ध वहा कैसे जावें ? उन्होंने तत्काल निर्णय कर लिया और द्रौपदी के शयन-कक्ष मे प्रविष्ट हो गए । उस समय द्रौपदी और युधिष्ठिर निद्रामग्न थे । अर्जुन अपना धनुष बाण ले कर लौट गए और डाकूओ की दिशा में वेगपूर्वक दौड़े । कुछ घटों में ही वह डाकू दल तक पहुँच गए । उन्होने डाकुओ को ललकारा । युद्ध छिड गया । थोडी ही देर में डाकू-दल-विक्षत हो गया । कुछ तो घायल हो, भूमि पर गिर कर तडपने लगे और कुछ भाग गए । डाकुओं का दमन हो जाने के बाद अर्जुन गौओं के विशाल झुण्ड को लेकर लौटे । नगर के निकट आ कर सभी गौएँ अपने-अपने स्थान पर चली गई । गोपाल लोग उनकी प्रतीक्षा में ही थे । उन्होंने हर्षोन्मत्त हो अर्जुन का जयजयकार किया । अर्जुन नगर के बाहर ही रुक गया और राजभवन में माता पिता और बन्धुवर्ग के समीप, एक गोप के द्वारा निवेदन कराया कि –

"मैने स्वीकृत प्रतिज्ञा का भग किया है । इसलिए मैं प्रायश्चित्त स्वरूप बारह वर्ष तक नगर-प्रवेश नहीं कर सकूँगा । मेरा यह काल विदेश-भ्रमण मे व्यतीत होगा । आप सब मुझे आशीर्वाद दीजिए ।"

अर्जुन का सन्देश सुन कर सभी परिवार चकित रह गया । माता – पिता और बन्धुगण नगर के बाहर आ कर, अर्जुन से नगर-त्याग का कारण पूछने लगे । अर्जुन ने कहा;–

"मैने प्रतिज्ञा की थी कि मैं नियम के विपरीत द्रौपदी के कक्ष म नहीं जाऊँगा । किन्तु गत-रात्रि में मुझे अपना धनुष-बाण लेने जाना पडा । इससे मेरी प्रतिज्ञा खडित हो गई । मुझे इसका प्रायश्चित्त करना है । प्रायश्चित्त कर के शुद्ध होने के लिए मैं बारह वर्ष के लिए विदेश में भ्रमण करता रहूँगा । आप मुझे आशीर्वाद दे कर विदा कीजिए ।"

अर्जुन की बात सुन कर पाण्डु नरेश ने कहा – "वत्स ! तुम्हारी प्रतिज्ञा अक्षुण्ण है । तुम द्रौपदी के कक्ष में मोहवश या किन्हीं ऐसे विचारों से नहीं गए, जिससे तुम्हारी प्रतिज्ञा को कुछ भी ठेस लगे ।

तुम तो प्रजा की हित-रक्षा के लिए और डाकू-वृत्ति को कुचलने के लिए गए थे । इसमे तुम्हारा स्वार्थ किञ्चित् भी नहीं था । इसलिए प्रतिज्ञा-भग का भ्रम त्याग दो और भवन में चलो ।"

नरेश की बात का समर्थन कुन्ती युधिष्ठिरादि सभी ने किया । किन्तु अर्जुन को सतोष नहीं हुआ। उसने कहा -

"आपका कथन यथार्थ है । किन्तु हमारा उच्च-कुल तनिक भी दोष को स्थान नहीं देता । यदि आज प्रतिज्ञा के बाह्य - नियम की सकारण भी उपेक्षा की गई, तो आगे चल कर दूसरा के लिए उदाहरण बन कर, मूल-व्रत ही नष्ट होने लग जायगा । मैं नहीं चाहता कि मेरी ओट ले कर कोई उत्तम मर्यादा को खडित करने लगे । आज की यह उपेक्षणीय सूक्ष्म बात आगे चल कर बडी विराट और भयानक बन सकती है । उच्च सस्कृतियो का पतन इसी प्रकार होता है । आप मुझे प्रसन्नतापूर्वक विदा कीजिए । बारह वर्ष अधिक नहीं हे । आपके शुभाशीष से मैं सकुशल लौट आऊँगा ।"

सभी को खिन्नता एव उदासीनतापूर्वक विदाई देनी पडी । अर्जुन सभी ज्येष्ठजनो को प्रणाम और कनिष्टजनो को स्नेहालिगनादि करके द्रौपदी के पास आये । द्रौपदी भी विमनस्क खडी थी । उसने धैर्यपूर्वक कहा,-

"आर्यपुत्र ! आप महान् हैं । अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए आप कठोर प्रायश्चित्त कर रहे हैं । मैं आपके बारे के दिन-रात निराहार रह कर आपका स्मरण और हितकामना करती रहूँगी । आपकी यह प्रायश्चित्त - यात्रा सफल हो । आप नयी विद्या, कला, लक्ष्मी एव विजयश्री सहित शीघ्र लौट कर स्वजना का आनन्दित करें ।"

द्रौपदी का गला रुँधने लगा । आँखा में पानी आने वाला ही था कि वह सभल गई और मुख-चन्द्र पर हास्य की झलक लाती हुई कुछ पाँवडे साथ चल कर विदाई दी । अर्जुन अपने मन को सयत एव दृढ बना ही चुका था । अपना धनुष-बाण ले कर वह अनिश्चित स्थान की ओर चलने लगा ।

सभी स्वजन - परिजन एव नागरिकजन अर्जुन के प्रयाण को खिन्नतापूर्वक देख रहे थे । गोपाल-अहीर लोगो का समुदाय, अर्जुन के इस कठोर प्रायश्चित्त का कारण अपने को ही मानता हुआ सारा अपराध अपने सिर समझ कर, ग्लानि का अनुभव करने लगा ।

मणिचूड़ की कथा

अर्जुन अपनी विदेश-यात्रा म आगे बढता हुआ एक विशाल वन-प्रदेश के मध्यभाग म पहुँच गया । जहाँ चारा और हिंसक-पशुओ का कोलाहल सुनाई दे रहा था । मनुष्य का तो वहाँ दूर-दूर तक मिलना ही कठिन था । अर्जुन वन की शोभा देखता हुआ चला ही जा रहा था कि उसक कानों में किसी स्त्री-पुरुष की बातचीत के शब्द पडे । वे शब्द भी दु ख सताप और वेदना से भरपूर लगे ।

अर्जुन शब्द की दिशा मे आगे बढा । उसने देखा - एक पुरुष आत्म-घात करने के लिए तत्पर है औ स्त्री उसे रोक रही है । अर्जुन उनके पास गया और पूछा ;-

"भद्र ! तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? लगता है कि तुम जीवन से निराश हो कर मरने का कायर जैसा कुकृत्य कर रहे हो । क्या दु ख है - तुम्हें ? यदि बताने योग्य हो तो कहो मैं यथाशक्ति तुम्हारी सहायता करूँगा ।"

अर्जुन की भव्य आकृति, निर्भयता एव शौर्यता देख कर पुरुष आकर्षित हुआ । उसे लगा - 'यह पुरुष मेरा दु ख दूर करेगा । दैव मेरे अनुकूल हुआ लगता है । इस वीर पुरुष के सामने अपना हृदय खोलना अनुचित नहीं है ।' उसने कहा -

"महानुभाव ! मैं हतभागी हूँ । मेरी घोर विपत्ति की कथा आपके हृदय का भी खेदित करगा । किन्तु आप वीर क्षत्रिय हैं और परोपकार-परायण हैं । आपके दर्शन से ही मुझे विश्वास हो गया कि आप मेरा दुर्भाग्य पलटने में समर्थ होंगे । मुझ दुर्भागी की दु खगाथा सुनिये । मैं रत्नपुर नगर के महाराज चन्द्रावतश और महारानी कनकसुन्दरी का पुत्र हूँ । मणिचूड मेरा नाम है । प्रभावती मेरी बहिन का नाम है, जिसे हिरण्यपुर नरेश हेमागद को ब्याही है । मेरा विवाह मेरे पिताजी ने चन्द्रपीड राजा की पुत्री चन्द्राननां के साथ किया । हम विद्याधर हैं । मेरे पिता ने मुझे कई विद्याएँ सिखाई । पिताजी के स्वर्गवास के बाद मैं राजा बना और पिताजी की परम्परानुसार नीतिपूर्वक राज्य करने लगा । अचानक मेरा पितृव्य -भाई विद्याधरो की बडी सेना ले कर मुझ पर चढ आया । मुझे तत्काल युद्ध करना पडा । उसके सगठित बल के आगे मेरी पराजय हुई । मैं राज्यभ्रष्ट हो कर वन में चला आया । यह मेरी रानी है । मैं राजा के उच्च पद से गिर कर एक रक से भी हीन स्थिति मे पहुँच गया हूँ । ऐसी हीनतम दशा में जीवित रहना मुझे नहीं सुहाता । मैं आत्म-घात करना चाहता हूँ । परन्तु यह मेरी रानी मुझे रोक रही है । इसका दु ख मैं जानता हूँ । परन्तु मैं इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को सहन नहीं कर सकता । इसीलिए मर रहा हूँ ।"

"विद्याधरराज ! धैर्य धारण करो । इतने हताश मत बनो । मैं तुम्हारी सहायता कर के तुम्हारी लूटी हुई राज्यश्री तुम्हे पुन प्राप्त कराऊँगा । तुम विश्वास करो । मैं पाण्डु-पुत्र अर्जुन हूँ । कायरता छोड कर साहस अपनाओ । तुम पुन अपना राज्य प्राप्त करोगे" - अर्जुन ने मणिचूड को आश्वासन दिया ।

अर्जुन का परिचय और आश्वासन सुन कर मणिचूड़ प्रसन्न हुआ । उसने अर्जुन की यशोगाथा सुन रखी थी । ऐसे महान् धनुर्धर की सहायता प्राप्त होना ही सद्भाग्य का सूचक है । उसे विश्वास हो गया कि अब राज्य प्राप्ति दुर्लभ नहीं होगी । उसने अर्जुन की प्रशसा करते हुए कहा -

"महानुभाव ! आपके दर्शन ही मेरे दुर्भाग्य रूपी अन्धकार का विनाश करने वाले हैं । मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी कृपा से मैं अपनी विलुप्त राज्यश्री पुन प्राप्त कर सकूँगा । परन्तु हम विद्याधर

जाति के हैं । हमारे पास वह विद्या या अल्प विद्या वाले से विशेष विद्या वाले को जीतना महा कठिन होता है । इसलिए पहले आप मुझसे विद्याधरी-विद्या सीख लीजिए । इससे शत्रु पर विजय पाना सरल हो जायगा ।''

अर्जुन ने विद्या सीखना स्वीकार किया । मणिचूड ने अपनी पत्नी को समझा कर पीहर भेज दिया । वह अर्जुन की सहायता पा कर आश्वस्त हो चुकी थी । उसने भी अर्जुन से, बहिन की सोहाग-रक्षा का वचन ले कर प्रयाण् किया । इसके बाद अर्जुन एकाग्र हो कर विद्या सिद्ध करने में लग गया । उसकी साधना भग करने के लिए कई प्रकार के दैविक उपसर्ग हुए, परन्तु वह निश्चल रहा । छह मास की साधना से वह विद्याधरी महाविद्या सिद्ध कर सका । विद्या की अधिष्ठात्री देवी प्रत्यक्ष हुई और अर्जुन से वर माँगने का कहा । अजुन न कहा - ''जब मैं स्मरण करू, तब उपस्थित हो कर कार्य सिद्ध करना ।'' ''तथास्तु'' - कह कर देवी अदृश्य हो गई ।

धनजय (अर्जुन) विद्यासिद्ध हो गए । वे विश्राम कर रहे थे । इतने मे आकाशमार्ग स दो विमान आये और उनके निकट ही उतरे । उनमें से मणिचूड की रानी चन्द्रानना और कई विद्याधर योद्धा उतरे । कुछ गन्धर्व भी साथ थे । उन्होने आते ही वहीं मणिचूड को स्नानादि करवा कर राज्याभिषेक किया, गायन-वादिन्त्रादि से उत्सव मनाया और अर्जुन सहित सभी विमान मे बैठ कर रत्नपुर नगर के बाहर आये । एक दूत विद्युत्वेग के पास भेजा और कहलाया -

"महाबाहु अर्जुन की आज्ञा है कि तुम मेरे मित्र मणिचूड का राज्य छिन कर स्वय राजा बन बैठे हो । यह तुम्हारा अत्याचार है । यदि तुम्हे अपना जीवन प्रिय है, तो इसी समय राज्य छोड कर निकल जाओ और राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ । यदि तुम्हें युद्ध करना है, तो अविलम्ब सामने आओ । परन्तु स्मरण रह कि मेरा अमोघ-बाण तुम्ह जीवित नहीं रहने देगा और तुम्हारा परिवार भी तुम्हारे पाप का फल भोगेगा ।''

दूत की बात सुन कर विद्युत्वेग क्रोधाभिभूत हो गया और दूत से बोला -

"अरे ओ धृष्ट ! क्यो बढचढ कर बोलता है । जा तेरे स्वामी से कह कि तरा बल मनुष्य पर चल सकता है, विद्याधर पर नहीं । क्यो सोये हुए सिह को जगा कर मृत्यु को न्यौता दे रहा है ?''

विद्युत्वेग की गर्वोक्ति सुन कर अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हो गया । उधर विद्युत्वेग भी आया और युद्ध छिड गया । घमासान युद्ध के चलते ही मणिचूड की सेना के पाँव उखड गए । वह विद्युत्वेग की सेना के भीषण-प्रहार को सहन नहीं कर सकी और रणक्षेत्र छोड़ कर भाग गई । अपन पक्ष की दुर्दशा देख कर अर्जुन आगे आया और अपने बाणों की अनवरत वर्षा स विद्युत्वग को घायल करने लगा । विद्युत्वेग समझ गया कि अर्जुन के प्रहार के आगे मेरा जीवित रहना असभव है । वह भाग गया और उसकी सेना अर्जुन की शरण में आई । इसके बाद अजुन न मणिचूड के साथ नगर में

प्रवेश किया । नागरिकों ने अपने राजा और अर्जुन का अपूर्व सत्कार किया । पुन राज्यारोहण का भव्य उत्सव हुआ और मणिचूड पूर्ववत् राजा हो गया । वह अर्जुन को अपना महान् उपकारी मानने लगा ।

हेमांगद और प्रभावती का उद्धार

थोडे दिन ठहर कर अर्जुन वहाँ से चल दिया और विमान में बैठ कर आकाशमार्ग से यात्रा करने लगा । चलता-चलता वह एक निर्जन वन में पहुँचा । उसने एक महात्मा को वहाँ ध्यानस्थ देखा । वह नमस्कार कर के उन के समीप बैठ गया । ध्यान पूर्ण होने पर महात्मा को वन्दना - नमस्कार कर वाहनारूढ हो कर आगे बढा । चलते-चलते वह एक वन मे पहुचा । वहाँ उसे किसी का आक्रन्द सुनाई दिया । वह रुका और अपने दूत को जानकारी लेने के लिए उधर भेजा । दूत ने लौट कर कहा-

"हिरण्यपुर के हेमाँगद राजा की रानी प्रभावती के रूप म आसक्त हो कर किसी दुष्ट न उसका हरण कर लिया है । रानी की चिल्लाहट सुन कर राजा, नींद से जागा और रानी को छुडाने के लिए खड्ग ले कर दौडा । उसके सैनिक भी दौंडे, किन्तु रानी का कहीं पता नहीं लगा । राजा खोज करता हुआ यहाँ आया । उसने रानी की वेणी के फूल आदि मिले । वह निराश हो कर आक्रन्द करता हुआ भटक रहा है ।"

दूत की बात सुन कर अर्जुन ने सोचा - "प्रभावती तो मेरे मित्र मणिचूड की बहिन है । उसकी खोज अवश्य करनी चाहिये ।" अर्जुन हेमागद के निकट आया और रानी को खोजने का आश्वासन दे कर धैर्य बँधाया । फिर आप विद्या के प्रभाव से आकाशमार्ग से उस ओर गया, जिस ओर प्रभावती ले जाई गई थी । हेमागद आश्वस्त हो कर वहीं रहा थोडी देर म एक घुडसवार उसके निकट आ कर बोला - "आपको एक ऋषीश्वर बुलाते हैं और आपकी रानी भी वहीं है, चलिये । राजा उत्साहित हो कर उठा और उसके साथ चला । उसने ऋषि के आश्रम में प्रभावती को देखा । हर्षावेश में वह प्रभावती की ओर दौडा । इतने मे प्रभावती चिल्लाती हुई बोली - "हे प्राणनाथ ! बचाओ !" वह भूमि पर गिर कर मूर्च्छित हो गई । उसके पास से एक विषधर निकल कर बिल में घुस गया । प्रभावती के शरीर का रग नीला होता जा रहा था । राजा के हृदय को असह्य आघात लगा । शोक के आवेग से वह भी मूर्च्छित हो गया । आश्रम के तपस्वियो ने मूर्च्छा दूर करने का प्रयास किया, जिससे हेमागद तो सावधान हो गया, परन्तु प्रभावती जैसी ही रही । हेमागद प्रिया-वियोग के असह्य दु ख से अभिभूत हो गया और रानी के शव को बाहों में भर कर जोर-जोर से आक्रन्द करन लगा । उसका करुण-विलाप श्रोताओ के हृदय को भी द्रवीभूत कर रहा था । राजा के अनुचर भी रुदन कर रह थे । अनुचरो ने राजा को ढाढस बधाने की चेष्टा की, परन्तु राजा का शोक कम नहीं हुआ । राजा, पत्नी के साथ जीवित ही जल-मरने को तत्पर हो गया । उसने किसी की बात नहीं मानी । चिता रची गई । रानी के शव को गोद मे ले कर राजा चिता पर बैठ गया । अनुचरगण आक्रन्द कर रहे थे । उन्होंने भी जल

मने के लिए एक चिता बनाई । राजा और रानी की चिता म अग्नि प्रज्वलित की गई । धूम्रस्तभ आकाश मे ऊँचा उठ रहा था । उधर अर्जुन प्रभावती को मुक्त करा कर आकाश -मार्ग से इस ओर ही आ रहा था । उसने चिता मे राजा-रानी और आसपास रोते हुए अनुचरों को देख कर आश्चर्यपूर्वक पूछा - "यह क्या हो रहा है ?"

अनुचरो ने कहा - "महारानी मिल गई किन्तु सर्प के काटने से वह मृत्यु वश हो गई, अब महाराज, महारानी के साथ ही जल कर मर रहे हैं ।

अर्जुन ने हेमागद को चिता में से खिच कर बाहर निकाला और उसे वास्तविक प्रभावती दिखाई । अपनी प्रिया को देखते ही हेमागद उससे लिपट गया । उसे अर्जुन का उपकार मानने का भान ही नहीं रहा । चिता बुझा दी गई । अर्जुन चिता पर पडी उस छलनामयी प्रभावती को देखने लगा । इतने में वह चिता पर से उठी और दौड कर वन मे चली गई । सभी लोग इस दृश्य का देख कर चकित रह गए । हेमागद तो प्रभावती में ही मग्न था । प्रभावती के सावधान करने पर हेमागद उसे छोड कर अर्जुन के चरणों में झुका और फिर बाहो मे भर कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने लगा । उसने प्रभावती प्राप्त करने का वृत्तात पूछा । अर्जुन के दूत न कहा -

"वैडूर्यपुर के राजा मेघनाद ने रानी का हरण किया था । वह रानी को हेमकूट पर्वत पर ले गया और प्रेम-याचना करने लगा । इसे महारानी बनाने का प्रलोभन दिया । किन्तु सती प्रभावती ने उसकी बहुत भर्त्सना की और अपने से दूर रहने की चेतावनी दी । मघनाद रानी को अनुकूल बनाने के लिए भाँति-भाँति से अपना स्नेह जताने लगा और प्रलोभन देने लगा, किन्तु रानी उसकी भर्त्सना ही करती रही । इतने मे हम पहुँच गए । मेरे स्वामी ने प्रभावती की दृढता और सतीत्व देख कर मघनाद को ललकारा । दोनों का द्वद्व युद्ध हुआ । अन्त मे मेघनाद घायल हो कर गिर पडा और मूर्च्छित हो गया । स्वामी ने उसका उपचार कर के सावधान किया । स्वामी का परिचय पा कर मेघनाद चरणो म झुका और रानी को बहिन बना कर परस्त्री-गमन के त्याग की प्रतिज्ञा की । साथ ही उसने कहा - "आप शीघ्र ही जाइए । हेमाँगद को छल कर मारने के लिए मैंने प्रतारणी विद्या के बल से कृत्रिम प्रभावती भेजी है । विलम्ब होने पर कहीं अनिष्ट नहीं हो जाय ।" मेघनाद की बात सुन कर हम उसी समय लौटे और यहाँ आये । यदि हमे विलम्ब हो जाता, तो महान् अनर्थ हो जाता । आप छले गय थे ।"

अर्जुन के उपकार के भार से हेमागद पूर्णरूप से दब गया । उसने अजुन से निवेदन किया -

"महाराज ! मेरा जीवन ही अब आपका है । मेरा समस्त राज्य आपक चरणो में अर्पित है । इस स्वीकार कर के मुझे कुछ अशा में उपकृत करने की कृपा करें । मैं जीवन-पयन्त आपका अनुचर रहूँगा ।"

"भद्र ! तुम्हारे राज्य की मुझे आवश्यकता नहीं । तुम स्वय सुखपूर्वक न्याय-नीति से राज करो । प्रभावती मेरी धर्म की बहिन है । मेरे मित्र मणिचूड की बहिन मेरी भी बहिन हुई । मैंने तो अपन कर्तव्य का पालन किया है । तुम सब सुखी रहो ।"

सुभद्रा के साथ लग्न और हस्तिनापुर आगमन

अर्जुन, हेमागद आदि उस वन में ही हर्षानुभूति मे मग्न थे कि बहिन के अपहरण और बहनाइ के वन-गमन के दु खद समाचार सुन कर, मणिचूड भी खोज में भटकता हुआ वहा आ पहुँचा । अर्जुन द्वारा बहिन की प्राप्ति आदि सभी वर्णन सुन कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ । स्नेहालिगन के बाद सभीजन हेमागद के साथ उसके राजभवन में आये । राजधानी में उत्सव मनाया जाने लगा । राजा और प्रजा सभी आनन्दोल्लास म मग्न थे । इतने में द्वारपाल ने आ कर सूचना दी -''हस्तिनापुर से एक राजदूत आया है । वह तत्काल दर्शन करना चाहता है ।'' हस्तिनापुर का नाम सुन कर अर्जुन चौंका और दूत को बुलाया । दूत ने प्रणाम कर निवेदन किया,-

''वीरशिरोमणि धनजयदेव ! महागजाधिराज महारानी और सारा परिवार आपके विरह स दु खी हैं । महाराजा की वृद्ध अवस्था हैं । आपके विरह ने उनकी सुखशाति हर ली । सभी चाहते हैं कि आप शीघ्र लौट कर उनकी लुप्त प्रसन्नता को पुन प्राप्त कराएँ । आपके बान्धव आपक बिना एक प्रकार का शून्यता अनुभव कर रहे हैं । आपके प्रस्थान के साथ ही हस्तिनापुर के त्यौहार आर उत्सव भी विदा हो गए । राजपरिवार ही नहीं, प्रजा भी चिन्तित रहती है । आपकी खोज क लिए कई दूत भेजे गए । मेरा सद्भाग्य है कि मैं आपके दर्शन कर कृतार्थ हुआ । अब शीघ्र पधार कर हस्तिनापुर को कृतार्थ करें ।''

दूत का निवेदन सुन कर अर्जुन ने कहा -

''भाई ! मैं आ रहा हूँ । तुम शीघ्र आगे पहुँच कर माता - पितादि ज्येष्ठजनो से मेरा प्रणाम निवेदन करो और मेरे आने की सूचना दे कर उन्हे प्रसन्न करो ।''

दूत लौट गया । अर्जुन न राजा हेमागद की अनुमति ले कर मणिचूड के साथ आकाश-मार्ग से प्रस्थान किया । मार्ग मे सौराष्ट्र देश की द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण- वासुदेव से मिलने के लिए ठहरे । कुछ दिन वहाँ रुक । श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ अपनी बहिन सुभद्रा के लग्न कर दिये । कुछ दिन वहाँ ठहर कर विपुल दहेज और विशाल सेना के साथ प्रस्थान कर हस्तिनापुर आये । माता-पिता और भ्रातृजनादि राजपरिवार ही नहीं सारे नगर और दूर-दूर तक की जनता ने अर्जुन का भव्य स्वागत कर के नगर प्रवेश कराया । हर्षोल्लास का वेग राज्यभर में व्याप्त हो गया । सभी ओर उत्सव मनाये जाने लगे ।

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

अर्जुन के लौट आने और उत्सवो का कार्यक्रम कुछ कम होते ही पाण्डु नरेश ने भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र और विदुर आदि के समक्ष राज्यभार से निवृत्त होकर धर्मसाधना म शेष जीवन व्यतीत करने की अपनी भावना व्यक्त की । उन्होने कहा -

"अब मैं वृद्ध हो गया हूँ । मेरा शरीर भी शिथिल हो चुका है । राज्यभार को वहन करने जितनी शक्ति मुझ मे नहीं रही । इतना जीवन राज-भोग मे बिताया । अब जीवन के किनारे आ कर मुझे इस भार से निवृत्त हो कर धर्मसाधना करनी है । मेरी इच्छा है कि राज्यभार युधिष्ठिर के कन्धो पर रख कर निवृत्त हो जाऊँ और आत्मोन्नति का मार्ग अपनाऊँ ।"

सभी ने नरेश के विचारो का समर्थन किया और राज्य-व्यापी उत्सवपूर्वक युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया । राज्याधिकार प्राप्त करने के बाद गुरुजनो की अनुमति से पहली ही सभा में युधिष्ठिर नरेश ने दुर्योधन को इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे कर सम्मानित किया और उसके अन्य बन्धुआ को भी विभिन्न देशो का राज्य दे कर सन्तुष्ट किया । अन्य राजाओ और सामन्तों को भी यथायोग्य सम्मानित किया गया । महाराजा युधिष्ठिर बडी कुशलता एव न्याय-नीति पूर्वक राज्य करने लगे । प्रजाहित को वे प्राथमिकता देते थे । भीम अर्जुन आदि बन्धुआ के पराक्रम से उनके राज्य में वृद्धि भी हुइ । आसपास के राज्यो में वे सर्वोपरि माने जाने लगे । उनकी कीर्ति अन्य राज्यों मे भी व्याप्त हो गई। वे सुखपूर्वक राज्य का सञ्चालन करने लगे ।

दुर्योधन की जलन

पाण्डवो का अभ्युदय, श्रीवृद्धि और यश-कीर्ति, दुर्योधन के हृदय में जलन उत्पन्न कर रही थी । वह ईर्षा की आग मे जल रहा था । उसकी उद्विग्नता बढ रही थी और सुखशाति नष्ट हो चुकी थी । वह पाण्डवो के पतन का उपाय खाजने लगा । किन्तु वैसा कोई उपाय उसे दिखाई नहीं दे रहा था । पाण्डवों के पराक्रम एव शौर्य से वह परिचित था । उनमे चारित्रिक त्रुटि भी नहीं थी । पाँचों बन्धुआ के विरुद्ध ऐसा एक भी छिद्र उसे नहीं मिल रहा था कि जिससे वह अपनी जलन को शान्त कर सके । वह हर समय इसी चिन्ता में रहने लगा ।

पाण्डवा की ओर से दुर्योधन को किसी प्रकार का भय नहीं था । वे उसे अपना भाई ही मान रहे थे और उसका भला चाहते थे । परन्तु दुर्योधन उनसे डाह रखता था और उनका विनाश चाहता था । वह इसी चिन्ता में रहता था । उसके सोचने-विचारने का प्रमुख विषय पाण्डव ही थ ।

पाण्डवों की दिग्विजय और दुर्योधन की वैरवृद्धि

पाण्डवों का प्रताप वृद्धिगत था । भीम आदि बन्धुओं क आग्रह से युधिष्ठिर नरश ने दिग्विजय करने का अभियान प्रारम्भ किया । पूर्वदिशा में भीमसेन सेना ले कर गया और बग कलिंग, कामरू देश आदि पर विजय प्राप्त कर महाराजा युधिष्ठिर जी की आज्ञा के आधीन किये । दक्षिण में अर्जुन न द्रविड महाराष्ट्र कर्णाटक, लाट, तैलग आदि से अधिनता स्वीकार कराई । पश्चिम में सौराष्ट्र आदि पर नकुल ने सत्ता जमाई और उत्तर मे कम्बोज नेपाल आदि पर सहदेव के पराक्रम ने विजयश्री प्राप्त

हुई । दिग्विजय प्राप्त कर के लौटे हुए वीरों का भव्य स्वागत किया गया । हस्तिनापुर में विजयोत्सव का आयोजन हुआ । सभी राजाओ, सामन्तो और स्वजनो को निमन्त्रित किया गया । राज्य-भवन ही नहीं सारा नगर और राज्य के अन्य जनपदो नगरों और गाँवो मे भी महोत्सव मनाया जाने लगा । हस्तिनापुर म राजाओं, रानियों, राजकुमारों आदि का समूह एकत्रित हो गया । सभी अपने-अपने दश की वेशभूषा में सुसज्जित थे । अपने-अपने साजसज्जा, अलकार, सम्मान एव राजचिह्नों से सुशोभित हो रहे थे । दुर्योधन भी अपने परिवार एव परिकर के साथ आया हुआ था ।

महोत्सव प्रारम्भ होते ही हर्षोल्लास मे एक विशेष वृद्धि हुई । अर्जुन की रानी सुभद्रा ने पुत्र को जन्म दिया । अब दोनों उत्सव साथ ही मनाये जाने लगे । महात्सव के दिन बालक का नाम 'अभिमन्यु' प्रसिद्ध किया गया ।

सारे राज्य से नगरों गावो और वहाँ के वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि भी महोत्सव में महाराजाधिराज युधिष्ठिरजी का अभिनन्दन करने आये थे । हस्तिनापुर इन्द्रपुरी के समान और चारा बन्धु चार लोकपाल के समान लग रहे थे । राजभवन के कक्ष की भित्तियाँ विविध प्रकार के जडे हुए रत्नों और मणिमुक्ताओं से सुशोभित हो रही थी । छतें विविध मणियो से खचित थीं, माना आकाश म विविध प्रकार के नक्षत्र चमक रहे हो । आँगन एक प्रकार के रत्ना से जडे हुए थे । कोई लाल सरावर जैसा लगता कोई नीला सरोवर-सा । कलाकारो की कला का उत्कृष्ट रूप भित्तिचित्रो से प्रत्यक्ष हो रहा था। महोत्सव उत्कृष्ट रूप से मनाया गया था । आगत नरेशो, सामन्ता और जनप्रतिनिधियों ने महाराजाधिराज का अभिनन्दन एव अभिवन्दन किया और भेटें समर्पित की । महाराजा ने भी सभी का यथाचित आदर किया और सिरोपाव आदि दे कर विदा किया ।

दुर्योधन भी साम्राज्य का अधिनस्थ राजा था और उसे भी महाराजाधिराज का यथोचित अभिवन्दन करना ही पडा । किन्तु महाराजा और भीम सेन आदि ने उसके साथ अपने बन्धु जैसा ही व्यवहार किया । उसे राजभवन में अपने साथ ही रखा और आग्रह कर विशेष दिन रोका । दुर्योधन पाण्डवो के बढे हुए प्रभाव एव अपार सम्पदा को देख कर मन ही मन विशेष जलने लगा । वह अपने भाग्य को धिक्कारते हुए कहता - 'हा मैं पहले क्यो नहीं जन्मा ? युधिष्ठिर बडा कैसे हो गया ? पहले जन्मा, तो मरा क्या नहीं ! यदि यह नहीं होता, तो यह सारा राज्य मेरा ही होता । आज युधिष्ठिर के स्थान पर मैं होता और मरी ही जयजयकार होती । यद्यपि हृदय से वह पाण्डवा का शत्रु था तथापि ऊपर से तो उसे भी स्नेहशील ही रहना था और वह इस व्यवहार का पालन करता भी था ।

दुर्योधन की हास्यास्पद स्थिति

महोत्सव का वेग अब उतर चुका था । फिर भी उत्सव के मगलगान का दौर चल रहा था । सभा जुडी हुई थी । रगशाला के ऊपर के गवाक्षा म रानियाँ बैठी हुई थी । गायिकाएँ गा रही थी, नर्तकियाँ

नाच रही थी और सभी दर्शक देख-सुन रहे थे । उस समय दुर्योधन आया । नीलमणियों से खचित आँगन शान्त सरोवर का आभास दे रहा था । दुर्योधन ने उसे जलाशय समझा और घुटने से ऊपर धोती उठा कर चलने लगा । उसकी भ्रमित चेष्टा ने सब को हँसा दिया । इसके बाद विश्राम कक्ष के चौक में आने पर उसने देखा – वह स्वच्छ रजत मे बना हुआ आँगन है । और वह नि सकोच चलने लगा, किंतु उसका पाँव भवन-कुण्ड के पानी की पक्ति पर पडा । उसकी धोती भींग गई और चारो ओर हँसाई हुई । दुर्योधन लज्जित तो हुआ ही, परन्तु क्रोध मे आगबबूला भी हो गया । उसका मुख विकृत हो गया । वह कुण्ड को पार कर विश्राम कक्ष तक पहुँच कर उसका द्वार खोलने लगा, किंतु वहाँ भी ठगाया । कलाकार ने भींत पर द्वार का सादृश्य आकार ऐसा बनाया था कि दर्शक को साक्षात् द्वार का ही भ्रम हो और वह प्रवेश करने लगे । दुर्योधन प्रवेश करने गया तो भींत से अथडाया । उसके क्रोध का पार नहीं रहा । तीसरी बार की हँसी के तीव्र प्रवाह और महिला कक्ष स आये हुए इस वाक्‌बाण की – 'अन्धे की सन्तान अन्धी ही होती है' – ने उसके धैर्य का किनारा ला दिया । महाराजा युधिष्ठिरजी क सकेत से हँसी का दौर रुका और अर्जुन ने उठ कर दुर्योधन को आदर सहित ला कर योग्य आसन पर बिठाया । किन्तु उसका हृदय अपनी हास्यास्पद स्थिति और ईर्षा से अत्यधिक जलने लगा । नींद उससे सर्वथा रूठ गई थी । वह शीघ्र ही वहाँ स हट कर अपनी राजधानी जाना चाहता था । दूसरे दिन महाराजाधिराज से प्रस्थान की आज्ञा माँगी । महाराजा ने रुकने का प्रेमपूर्ण आग्रह किया किंतु उसने आवश्यक कार्य होने का मिस बना कर विवशता बताई और आज्ञा प्राप्त कर चल दिया ।

षड्यन्त्र

दुर्योधन अपने कक्ष में उदास एव चिन्तामग्न बैठा था कि उसके मामा शकुनि ने प्रवश किया । भानज को चिन्ता-मग्न देख कर शकुनि बोला –

"वत्स ! मैं तुझे कई दिनो से चिन्तित देख रहा हूँ । हस्तिनापुर से आने क बाद तेरी चिन्ता में वृद्धि ही हुई है । ऐसी कौनसी वेदना है तुझे ? कौन सता रहा है तुझे ? किसके कारण दु खी हो रहा है तू ? बाल अपनी समस्या बता, तो सुलझाने का विचार करें ।"

–"मामाजी ! मेरी चिन्ता जीवन के साथ ही बनी रहेगी । मैं दुर्भागी हूँ । मेरी वेदना दूर होन का ससार म कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता" – खिन्न-वदन दुर्योधन बोला ।

–"यदि तेरी चिन्ता लौकिक है, तो उसका उपाय भी कुछ न कुछ होगा ही । अलौकिक चाह का उपाय नहीं हो सकता । यदि तू भेद की बात कहे, तो विचार किया जाय" – शकुनि ने कहा ।

–"बात हृदय-कोष में ही दबाये रखने की है परन्तु आपका आग्रह है और आप मेरे परमहितैषी पितातुल्य है । इसलिये आपके सामने भेद खोलता हूँ ।"

"मामाजी ! हस्तिनापुर पर पाण्डवों का अधिपत्य रहेगा और मैं उनका अधिनस्थ रहूँगा तब तक मेरी चिन्ता बनी ही रहेगी । पाण्डवों का पतन ही मेरी चिन्ता नष्ट होने का उपाय है, और कुछ नहीं" - दुर्योधन ने मामा के सामने हृदय खोला ।

-"वत्स ! तेरी यह चाह उचित नहीं है । पाण्डव तेरे भाई है और न्यायी है । तेरे साथ वे वैर नहीं रखते । राज्य प्राप्ति के साथ ही युधिष्ठिर ने तुझे इन्द्रप्रस्थ का बड़ा राज्य दिया और तेरे भाईयों को भी पृथक्-पृथक् राज्य दे कर सन्तुष्ट किया । यह उनका स्नेह और उदारता है । तुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए " - शकुनि ने सच्ची बात कही ।

-"मामा ! आपकी बात मेरा समाधान नहीं है । मेरी चिन्ता तभी दूर हो सकती है जब कि पाण्डवों का पतन हो । वे राज्यविहीन, मेरे दास बन कर रहे, या भटकते भिखारी हो जायँ और मैं उनके समस्त राज्य का स्वामी बनूँ । इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है ।"

शकुनि विचारों में डूब गया । उसे विचार-मग्न देख कर दुर्योधन बोला - "मामाजी ! छोडो इस बात को । वास्तव में पाण्डव बड़े पराक्रमी है । उनका भाग्यसूर्य मध्यान्ह मे प्रखर तेज से तप रहा है । मैं हतभागी हूँ । मेरे भाग्य मे क्लेश एवं सताप ही बढा है । आप इस चिन्ता को छोड़ दीजिए" - दुर्योधन ने हताश हो कर कहा ।

"नहीं राजन् ! उपाय तो है, परन्तु पापयुक्त है । धोखा दे कर उन्हें अपने जाल में फँसाना होगा तभी तुम्हारा मनोरथ सफल हो सकेगा ।"

"है, है कोई उपाय ? क्या है वह ? मामा शीघ्र कहो, बोलो,बोलो, वह कौनसा उपाय है, जिससे मेरा मनोरथ सफल हो सके " - उत्साहित हो कर दुर्योधन पूछने लगा ।

-"तुम उन्हे अपनी राजधानी में प्रेमपूर्वक आमन्त्रित करो । उनका अपूर्व सत्कार-सम्मान करने के बाद उसके चौसर खेलने का आयोजन करो। युधिष्ठिर को दाँव लगा कर पाशा खेलने का व्यसन है। वह खेलेगा । मेरे पास दैविक पासे है और उनसे मनचाहा हो सकता है । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।"

दुर्योधन सन्तुष्ट हुआ । अब उन्हें धृतराष्ट्र की अनुमति लेनी थी । वो दोनों धृतराष्ट्र के पास आये और अपनी योजना बताई । धृतराष्ट्र ने विरोध किया और पराक्रमी पाण्डवों से वैर नहीं रख कर स्नेह-सम्पन्न रहने तथा प्राप्त राज्य-वैभव में ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश दिया । किंतु दुर्योधन कब मानने वाला था ? उसने अन्त में यही कहा - " पिताजी ! आप यदि मुझे जीवित देखना चाहते है, तो आज्ञा दीजिए । मैं जीवित रहते पाण्डवों का अभ्युदय नहीं देख सकता । बस आपको दो में से एक चुनना होगा ।"

शकुनि ने समर्थन करते हुए कहा - "मैंने भी इसे खूब समझाया किन्तु अन्त में भानेज के हित के लिए मुझे सहयोग देना स्वीकार करना पड़ा । आपको भी स्वीकृति दे देनी चाहिए ।"

"अच्छा भाई ! तुम कहते हो, तो मैं तुम्हे निराश नहीं करता परन्तु विदुर को तो हस्तिनापुर से आने दो" - धृतराष्ट्र ने हताश होते हुए स्वीकृति दी ।

दुर्योधन स्वीकृति पा कर प्रसन्न हुआ ।

व्यसन का दुष्परिणाम

दुर्योधन ने जयद्रथ को भेजकर युधिष्ठिरादि पाण्डव-परिवार को आमन्त्रित किया । वे द्रौपदी सहित आये और भीष्मपितामह आदि भी आये । मायावी दुर्योधन न सीमा पर पहुँच कर उन सबका स्वागत किया और बड़ी धूमधाम से नगर-प्रवेश करा कर राज्य-प्रासाद म लाया । अनेक प्रकारो के उत्सवों का आयोजन हुआ । खल-तमाशे नृत्य-नाटक आदि का आयोजन किया । दर्शनीय स्थाना का अवलाकन कराया और पाण्डवा का हृदय अपने प्रति विश्वस्त एव नि शक बना दिया । कई प्रकार के खेल खेलने क बाद जुआ के खेल का आयोजन हुआ । एक ओर दुर्योधन, शकुनि और उनकी विश्वस्त धूर्त-मण्डली थी और दूसरी ओर युधिष्ठिरादि पाचो बन्धु थे । खेल युधिष्ठिर और दुर्योधन में होने लगा । अन्य दर्शक रहे । प्रारम्भ मे छोटी-छोटी बाजी लगने लगी और दोनों ओर हार-जीत होने लगी । खेल जमने के बाद शकुनि न अपनी माया चलाई और युधिष्ठिर की हार होने लगी । अब बड़ी-बड़ी रकमें दाव पर लगने लगी । भीष्मपितामह आदि रोकते, पर युधिष्ठिर नहीं मानते और हार को जीत मे परिवर्तित करने के लिए अधिकाधिक दाँव लगाते । होते-होते गाँव नगर आदि गाँव पर लगने लगे । युधिष्ठिर हारता जा रहा था और ज्यों-ज्यो हारता, त्यो-त्या अधिकाधिक मूल्यवान वस्तु दाँव पर लगाता । युधिष्ठिर का हार का ही दौर चल रहा था । होते-होते उन्होंने अपना समस्त राज्य होड पर लगा दिया । भीमसेन आदि अपने ज्येष्ठ-भ्राता के अनुगामी थे । वे हार स चिंतित होते हुए भी चुप थे । युधिष्ठिरजी को समस्त राज्य जुए पर लगाया देख कर भीष्मपितामह आदि हितैषीजन चिन्तित हुए । उन्होंने खेल रोक कर पहले यह निर्णय किया कि युधिष्ठिर राज्य भी हार जाय तो यह राज्य दुर्योधन के अधिकार में कब तक रहे ? विचार करने के बाद बारह वर्ष की अवधि निश्चित की गई । इसके बाद पासा फैंका गया और युधिष्ठिर हार गये । इसके बाद युधिष्ठिर ने अपन भीमसेन आदि बन्धुओं को, खुद को और अन्त में द्रौपदी का भी दाँव पर लगा कर हार गया । खेल समाप्त हो गया । स्वय को हार कर पाण्डव दुर्योधन के दास बन गये । अब दुर्योधन अधिनस्थ से अधिकारी बन गया था। पाण्डवा के दिग्विजय से प्राप्त किया हुआ साम्राज्य दुर्योधन ने मात्र पासे क बल स अधिकार में कर लिया । दुर्योधन के मनोरथ सफल हुए । उसने अपने अधिकारियों को भेज कर युधिष्ठिर क राज्य पर अधिकार जमाया । इधर दुर्योधन के आदेश से पाण्डवों का अलकार और मूल्यवान् वस्त्र उतरवा कर दासों क योग्य वस्त्र दिये गये ।

दुर्योधन की दुष्टता

दुर्योधन ने अपने भाई दु शासन को आज्ञा दी कि वह अन्त पुर से द्रौपदी को पकड कर राज-सभा म लावे । दु शासन ने अन्त पुर में जा कर द्रौपदी को आदेश सुनाया । द्रौपदी भौचक्की रह गई उसने कहा -"मैं अभी ऋतुस्नाता हूँ । सभा में नहीं आ सकती ।" दु शासन भी दुर्योधन-सा दुष्ट और पाण्डव द्वेषी था और उसे अपने द्वेष को सफल करने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ था । वह क्यों चुकता ? उसने द्रौपदी को पकडा । वह चिल्लाती रही, परन्तु दु शासन उसे घसीटता हुआ राजसभा में ले ही आया । द्रौपदी ने भीष्मपितामह और धृतराष्ट्रादि आप्तजनो से, दु शासन के नीचतापूर्ण व्यवहार से अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा करने की प्रार्थना की । वे सभी दुर्योधन और दु शासन को धिक्कार रहे थे । किन्तु वे तो अपनी सफलता एव सार्वभौमता के मद मे चूर थे । उन्हें आप्तजनों की आज्ञा और मर्यादा की अपेक्षा भी नहीं थी । पाण्डव, दास स्थिति को प्राप्त हो अधोमुख बैठे थ ।

द्रौपदी को देख कर दुर्योधन बोला -

"द्रौपदी । अब तू पाण्डवों की नहीं मेरी हुई । अब तक तुझे पाँच भाईयों को रिझाना पडता था । उस झझट से तू छुट गई । अब तू केवल मेरी ही रहेगी । पाण्डवो ने हार कर तुझे दासी बना दिया पर मैं तेरा रानी का पद अक्षुण्ण रखूँगा । तू अब मेरी हुई । आ, मेरे पास आ और मेरी गोदी में बैठ जा ।"

दुर्योधनके नीचतापूर्ण वचन सुन कर द्रौपदी क्रुद्ध हो गई और रक्त-लोचन हो कर बोली -

"अरे, निर्लज्ज कुरुकुल-ककर, कुलागार ! तेरा यह पापी-जीवन, इससे पूर्व ही समाप्त क्यों नहीं हो गया ? नीच ! इन शब्दों के उच्चारण के पूर्व तेरी यह जीभ क्यों नहीं कट गई ? इस सभा में इतने पूज्य और आप्तजन बैठे हैं, तो क्या कोई इस अत्याचार को रोक भी नहीं सकता है ? आज सभी पाप के पक्षधर हो गए हैं क्या ? यदि यहाँ मरा कोई हितैषी होता तो इस नीच का और इसके भाई दु शासन का जीवन कभी का समाप्त हो गया होता ।"

कर्ण बोला -"द्रौपदी । तू इतनी लाल-पीली क्यो होती है ? तू कितनी कुलीन है यह सभी जानते हैं । कुलीन स्त्रिया का तो एक ही पति होता है । तू तो वेश्या के समान है । तेरे पाँच पति तो थे ही अब एक और हो जाये तो इसमें क्या बुराई हो गई ? महाराजा दुर्योधन ने कोई अनुचित बात तो नहीं कही ?"

द्रौपदी की फटकार सुन कर दुर्योधन भडका । उसने दु शासन को आज्ञा दी -

- "दु शासन ! इस दासी की वाचालता अभी तक बन्द नहीं हुई । यह अब तक अपने आपको महारानी और सम्राज्ञी मान रही है । इसका वस्त्र खिच कर उतार ले जिससे इसका सारा घमण्ड चूर हो जाय ।"

द्रौपदी चिल्लाती रही, आप्तजन दिग्मूढ हो देखते रहे और शब्दो से वारण करते रहे । द्रौपदी ने कातर दृष्टि से पाण्डवों की ओर देखा और अपनी लाज बचाने की प्रार्थना की । किंतु वे तो वचनबद्ध हो कर दास-भावना से दबे हुए थे । द्रौपदी ने दूसरो की आशा छोड कर धर्म का आश्रय लिया और एकाग्रतापूर्वक महामन्त्र का चिन्तन करने लगी । आत्मा मे सतीत्व का बल था ही । वह देहभाव से परे हो कर स्मरण करने लगी । दु शासन उठा और द्रौपदी के शरीर पर लिपटी हुई साडी का छोर पकड कर खिचने लगा । द्रौपदी ध्यान मे मग्न थी । चीर खिचता गया परन्तु शरीर नग्न नहीं हो सका । खिचते-खिचते साडी के ढेर लग गये, परतु द्रौपदी के शरीर पर उतना वस्त्र लिपटा ही रहा जितना वह पहने हुए थी । सतीत्व का तेजपूर्ण चमत्कार देख कर सभी जन प्रभावित हुए । कोई प्रकट रूप से और कोई मन ही मन द्रौपदी के सतीत्व की प्रशसा और दुष्टो की निन्दा कर दुत्कारने लगे । भीमसेन, कौरवों की कुटिलता को अधिक सहन नहीं कर सका । वह क्रोधाभिभूत हो कर भूमि पर भुजदण्ड फटकारता हुआ बोला -

"सभाजनो ! जो दुष्ट अस्पृश्य द्रौपदी को जिन हाथों से घसीट कर सभा में लाया और उसे नग्न करने के लिए वस्त्र खिचा, उसके अपवित्र हाथो को मे जड से नहीं उखाड डालूँ और जिस अधम ने अपनी जघा पर बिठाने का दु साहस बताया, उस जघा को चूर्ण-विचूर्ण कर, उसके रक्त से पृथ्वी का सिंचन नहीं करूँ, तो मैं पाण्डु-पुत्र नहीं ।"

भीमसेन की भीषण प्रतिज्ञा सुनकर सभाजन क्षुब्ध हो गए । इस के बाद विदुर ने धृतराष्ट्र मे कहा, -

"भाई ! आपके इस दुरात्मा पुत्र ने अपने कुरुवश की प्रतिष्ठा, गौरव, सुखशाति और समृद्धि में आग लगा दी । इसके जन्म के समय ही यह ज्ञात हो गया था कि यह दुरात्मा कुलागार होगा और इसके द्वारा कौरव-कुल विनष्ट होगा । आज से इस भविष्यवाणी की सफलता का आधार लग गया है । भीमसेन की प्रतिज्ञा सफल होगी और कौरव-पाण्डव के वैर की ज्वाला भयकर रूप धारण कर के सर्वनाश कर देगी । भाई ! यदि इस एक दुष्ट क ही विनाश से सर्वनाश रुकता हो, तो वही करना चाहिए । यदि तू पुत्र-मोह में वैसा नहीं कर सकता हो, तो इस अनर्थ को रोक । अपने दुष्ट पुत्र पर अकुश रख ।"

इतना कह कर विदुर विचार मग्न हो गए । कुछ देर सोचने के बाद बोले -

"भाई ! अब और कोई उपाय काम नहीं आ सकता । पाण्डव द्रौपदी सहित बारह वर्ष वनवास रहेंगे । इसके बाद उनका राज्य उन्हे लौटा देना होगा । यह निर्णय तुम्हे स्वीकार है ?"

धृतराष्ट्र भी क्षुब्ध हो रहा था । उसने दुर्योधन की भर्त्सना करते हुए कहा -

"अरे नीच दुर्योधन ! तू इतना अधम हो जायगा - इसकी सम्भावना भी मुझे नहीं थी । कुलागार ! तु इन्हें दासत्व से मुक्त कर दे, अन्यथा तेरा या मेरा - दानो में से किसी का जीवन आज समाप्त हो जायगा ।"

पिता की क्रोधपूर्ण फटकार से दुर्योधन दबा । उसने विचार कर के कहा - "आपका बारह वर्ष वनवास का निर्णय स्वीकार है, साथ ही मेरी ओर से एक वर्ष का अज्ञातवास भी स्वीकार होना चाहिये। बारह वर्ष के वनवास के बाद एक वर्ष अज्ञात वास रहे । यदि एक वर्ष के गुप्तवास में ये प्रकट हो जायँ और मुझे इसका पता लग जाय, तो फिर से बारह वर्ष वनवास में रहना पड़ेगा ।"

दुर्योधन का निर्णय कठोरतम होते हुए भी पाण्डवों ने स्वीकार किया और वे दासत्व से मुक्त हो गए । पाँचों पाण्डव और द्रौपदी भीष्मपितामह आदि को प्रणाम कर इन्द्रप्रस्थ के राजभवन से निकले। उनको विदाई देने के लिए भीष्म आदि आप्तजन और अन्य स्नेहीजन साथ चले । नगर के बाहर कुछ दूर चलने के बाद युधिष्ठिर ने आग्रहपूर्वक सब को लौटाया । सभी की आँख अश्रुपूर्ण थी । वे सभी खिन्न-वदन नगर में आये । उनकी आत्मा दुर्योधन को धिक्कार रही थी । पाँचो बन्धु और द्रौपदी वन में आगे बढे। आज वे राजाधिराज से रॉक एवं निराधार बन कर वन मे जा रहे थे ।

पाण्डवों की हस्तिनापुर से बिदाई

इन्द्रप्रस्थ से चल कर वनवासीदल हस्तिनापुर आया और हस्तिनापुर से अपने अस्त्र-शस्त्रादि ले कर वन में जाने लगा । पाण्डु, भीष्म, विदुर द्रौणाचार्य, कृपाचार्य धृतराष्ट्र राजमाता कुन्ती, माद्री आदि सम्बन्धीजन और नागरिकजनों का समूह भी उनके साथ चलने लगा । नगर के बाहर आ कर, युधिष्ठिर ने गुरुजनो को प्रणाम कर लौट जाने का आग्रह किया किंतु किसी ने स्वीकार नहीं किया । सभी की आँखों मे अश्रुधारा बह रही थी । नागरिकजन अपनी श्रद्धा एवं भक्ति के केन्द्र, प्रजावत्सल महाराजाधिराज का वियोग सहन नहीं कर सकते थे । सारी प्रजा महाराज युधिष्ठिरजी के पक्ष में, दुर्योधन से विरोध करने और उसे युद्ध म कुचल देने पर तत्पर थी । किन्तु युधिष्ठिरजी नहीं माने । उन्होने धर्म का बोध दे कर समझाया और कहा -

"आपका स्नेह हम पर अपार है । यह स्नेह हमारे लिए कवच बन कर रक्षा करेगा । राजा तो बदलते रहते हैं । एक के बाद दूसरा होता है परन्तु राज्य स्थायी होता है । दुर्योधन भी हमारा भाई है । वह आपका योग्य शासक सिद्ध होगा । आप चिन्ता नहीं करें । बारह वर्ष के बाद हम फिर आपके दर्शन करेंगे । अब प्रसन्नतापूर्वक हम विदा दे कर लौट जाइए ।"

युधिष्ठिर का अनुरोध किसी ने नहीं माना और सब साथ ही चलते रहे । पहली रात काम्यवन में रहे । यहाँ सब के लिए भू-शैय्या ही थी । आधी रात के लगभग एक भयंकर राक्षस आया और द्रौपदी के निकट गर्जना करने लगा । द्रौपदी भयभीत हो कर चिल्लाई । भीम गदा ले कर राक्षस पर झपटा और एक ही प्रहार में उसको भूशायी कर दिया । वह दुष्ट राक्षस, दुर्योधन का मित्र था और उसी की प्रेरणा से पाण्डवों का विनाश करने आया था । भीम का पराक्रम देख कर सभी प्रसन्न हुए । उन्हें विश्वास हो गया कि भीम और अर्जुन की प्रबल शक्ति के कारण सारा परिवार सुरक्षित रहेगा।

प्रात काल भोजन की समस्या थी । नागरिकजनो को तो समझा कर लौटा दिया गया । परन्तु कौटुम्बिकजन रुके रहे । अर्जुन ने 'आहार आहरक' विद्या का स्मरण किया। तत्काल भोज्य-सामग्री प्राप्त हुई और द्रौपदी ने भोजन बना कर सब को खिलाया । भोजनोपरान्त सब विश्राम कर के बातचीत कर रहे थे कि द्रौपदी का भाई धृष्टद्युम्न वहाँ आ पहुँचा । प्रणाम-नमस्कार के पश्चात् उसने निवेदन किया –

"हमारे गुप्तचरों द्वारा आपके वनवास का दु खद समाचार जानकर, पूज्य पिताश्री ने मुझे आप सब को अपने यहाँ लाने के लिए भेजा है । वह घर भी आप ही का है । पधारिये वहाँ और सुखपूर्वक रहिये । दुष्ट दुर्योधन का पराभव कर पुन राज्य प्राप्ति के लिए मैं स्वय युद्ध म उतरूँगा । आप निश्चित रहिये और मेरे साथ चलिए ।"

"महाशय ! यह समय हमे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वन और विदेश भ्रमण में ही बिताना है । राज्य प्राप्ति उद्देश्य होता, तो हम स्वय ही ले-लेते । आप अपनी बहिन और भानजो को ले जा सकते हैं । वे हमारे साथ रहने के लिए बाध्य नहीं है ।"

धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी से भी बहुत आग्रह किया, परन्तु उसने एक ही उत्तर दिया –

"भाई ! पति के साथ रह कर मैं भयकर विपदाओ में भी सुखी रहूँगी और पृथक् रह कर राजसी-वैभव में भी दिन रात मन-ही-मन सुलगती रहूँगी । मैं तो इनके साथ ही रहूँगी । तुम अपने इन पाँचो भानजो को ले जाओ ।"

धृष्टद्युम्न अपने पाँचो भानजो के ले कर चला गया । दूसरे दिन द्वारिकापति श्रीकृष्ण उन्हें मिलने आये । पाण्डवो ने श्रीकृष्ण का आदर-सत्कार किया । पाण्डवों से मिल कर श्रीकृष्ण अपनी बूआजी राजमाता कुन्ती देवी के पास आये और प्रणाम किया। वृद्धा बूआ न उन्हें आशीवाद दिया । फिर वार्तालाप प्रारभ हुआ । श्रीकृष्ण ने कहा –

"राजन् ! दुष्ट दुर्योधन ने कपटपूर्वक जुआ खेल कर आपसे राज्य ले लिया । उसकी ठगाई की बात मुझे मालूम हो गई । उसके इस मायाचार मे सहायक हुए – कर्ण और शकुनि । भवितव्यता ही कुछ ऐसी थी कि उस समय आपके पास मैं नहीं था अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता । ये भीम और अर्जुन भी आपके अनुवर्ती हो कर रहे । अन्यथा ये ही उस दुष्ट को समाप्त कर सकते थे । अब भी आपके शत्रु का सहार करना कठिन नहीं हैं । यदि आप निषेध नहीं करें तो, अब भी उस बिगडी बाजी को सुधारा जा सकता है । उन दुष्टो की अधमता पर तो मैं भी क्षुब्ध हूँ – जो उन्होंने ऋतुस्नाता द्रौपदी के साथ की । उस पाप का फल तो उन्हें मिलना ही चाहिए । मैं उसे इसका दण्ड देने क लिए तत्पर हूँ ।"

"महाराज! आप वासुदेव हैं और समर्थ हैं । आप के कोपानल से बचने म कोई समर्थ नहीं है और आपकी हम पर पुरी कृपा है । किन्तु मैं वचनबद्ध हूँ । तेरह वर्ष क पूर्व तो राज्य प्राप्ति का विचार

भी नहीं कर सकता और द्रौपदी को भी मैं हार कर उसे सौंप चुका था । इसलिए विवश हो कर बैठा रहा । द्रौपदी पर हमारा अधिकार या सम्बन्ध ही नहीं रहा था । नीति और सम्बन्ध से भी द्रौपदी उसकी भावज और उसी कुल की कुलवधु थी । उसने इस दुराचरण से अपनी खुद की लाज अपने हाथों से लुटाने की चेष्टा की । मुझे भी आश्चर्य हुआ कि उसने अपने हाथों अपनी प्रतिष्ठा क्यों नष्ट की । फिर भी उसे इस अपराध का दण्ड देने की प्रतिज्ञा भाई भीमसेन ने की है । इसलिए आप यह कार्य इसी पर छोड दें ।''

युधिष्ठिर की न्याय सगत बात सुन कर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और वन में पूर्ण सावधान रहने की सूचना दी । अब वियोग का समय था । युधिष्ठिर अपने सभी बन्धुओं के साथ वृद्ध भीष्मपितामह के निकट आए और प्रणाम कर बोले -

''पितामह ! आप हम सब के बडे और गुरु हैं । आपने जीवन भर हमारा हित साधा है । हम आपके पूर्ण ऋणी है । दुर्भाग्य से हमें आपकी सेवा से वचित होना पड रहा है । अब कृपा कर हमें कुछ उपयोगी शिक्षा दे । युधिष्ठिर का विनय सुन कर भीष्मदेव का हृदय भर आया । किन्तु शीघ्र ही सम्भल कर बोले -

''वत्स ! तुम नीतिपरायण हो । सत्य और धर्म के आराधक हो । तुम्हारा धर्म, तुम्हारी रक्षा करेगा। किन्तु एक व्यसन जो तुमने अपनाया है, उसे त्याग दो । व्यसन मात्र बुरा होता है । भवितव्यता टाली नहीं टलती । हम तो तुम्हारे साथ ही रहना चाहते हैं । जो भी सुख-दु ख होगा, साथ ही सहेंगे । इसी विचार से हम हस्तिनापुर से निकले हैं । तुम हम छोडने का विचार मत करो ।''

''नहीं दादा ! यह कदापि नहीं हो सकता । आप सब को यहा रहना होगा । नहीं नहीं कहते हुए युधिष्ठिर ने चरणो में सिर रख दिया ।''

भीष्मदेव को मानना पडा । उन्होंने विदाई-शिक्षा देते हुए कहा -

''वत्स ! राजा को अपनी श्रेष्ठता के पाँच प्रतिभू (जामिन) अपनाना चाहिए । यथा - १ दान २ सद्‌ज्ञान ३ सत्पात्र सचय ४ सुकृत और ५ सुप्रभुत्व । ये पाँच प्रतिभू उत्थानकारी है । इनका ग्रहण करना और सात व्यसन अज्ञानता असत्य तथा कामक्रोधादि षड्‌रिपु, ये पन्द्रह पतनकारी है । इनका त्याग कर के सावधानीपूर्वक विचरना । विचलित नहीं होना और वनवास - काल पूर्ण होते ही शीघ्र लौट कर आना । हम सब तुम्हारी प्रतीक्षा में रहेंगे ।''

इसी प्रकार द्रौणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों को प्रणाम कर और उनका विदाई उपदेश प्राप्त कर, धृतराष्ट्र के समीप गए और प्रणाम कर बोले -

''काका ! हम आपको प्रणाम करते हैं । आप हम पर अपना स्नेह बनाये रखें और हमारी ओर से भाई दुर्योधन से कहें कि -

"भाई ! अपने कुरुवश की प्रतिष्ठा बढे, वैसे कार्य करना और उसी प्रकार से प्रजा का पालन करना ।"

धृतराष्ट्र अपने पुत्र की अधमता से मन ही मन खिन्न थे और पाण्डवों की महानता वे जानते थे । किन्तु कुपुत्र के कारण उनका सिर झुका हुआ था । वे नीचा मुँह किये मौन ही रहे ।

वृद्ध पाण्डु राजा और कुन्तीदेवी की दशा ता अत्यन्त दयनीय थी । उनका तो सर्वस्व जा रहा था। वे किस के सहारे लौटें । माता कुन्ती तो शोक की असह्यता से मूर्च्छित ही हो गई । ऐसी स्थिति में विदुर ने रास्ता निकाला ।

"भ्रातृवर ! पाण्डुदेव वृद्ध हैं रोगी भी हैं । ये वन के कष्ट सहन नहीं कर सकेंगे । फिर भी पुरुष हैं, पुत्र-विरह का दु:ख सहन कर सकेंगे । मैं छोटी भाभी और सुभद्रादेवी इनकी सेवा करेंगे । सुभद्रा का पुत्र छोटा है, इसे भी साथ नहीं जाना चाहिए । भाभी कुन्तीदेवी पुत्रों का विरह सहन नहीं कर सकेगी । इन्हें जाने देना चाहिए । ये सब इन्हें सम्भाल सकेंगे ।"

विदुर का परामर्श सब ने स्वीकार किया । कुन्ती दुविधा में पड गई । वह पति को छोडना भी नहीं चाहती थी और पुत्र-विरह भी सहन नहीं कर सकती थी । अब वह क्या करे ? अन्त में भीष्मपितामह आदि से प्रेरित पाण्डु ने उसे भरी छाती और रुँधे हुए कण्ठ से पुत्रों के साथ जाने की आज्ञा दी । कुन्ती ने भीष्मपितामह आदि ज्येष्ठजनों और पति के चरणो मे सिर झुका कर माद्री को छाती से लगाई और पति की अनवरत सेवा करती रहने की सूचना कर के कहा - "बहिन ! नकुल और सहदेव मेरे पुत्रों से भी अधिक हैं । तुम उनकी चिन्ता मत करना ।"

माद्री ने कहा - "कैसी बात करती हो बहिन ! ये तो तुम्हारे ही हैं । उनका हिताहित आज तक तुम्हीं ने सोचा है । मैं तो तुम्हारा अनुसरण करने वाली रही हूँ । न तुमने कभी भेद माना, न मैंने और भाइयों मे कभी भिन्नता न रही । फिर उनकी चिन्ता मैं क्यों करूँ ? मुझे केवल यही विचार होता है कि इतने दिन मैं तुम्हारा अनुसरण करती हुई निश्चिन्त थी । अब मैं तुम्हारी शीतल छाया से वञ्चित रहूँगी ।"

पाण्डु नरेश ने गद्‌गद् कण्ठ से पुत्रों को छाती से लगा कर कहा - "अब मेरा जीवन नि:मोह हो रहा है । मैं तुम सब के मोह मे पड कर धर्म-साधना भी नहीं कर सका और अब यह विपत्ति आ पडी ।"

उन्होंने अपनी उत्तम रत्नो से निर्मित चमत्कारी मुद्रिका युधिष्ठिर के हाथों में पहिनाते हुए कहा - "इसे सम्भाल कर रखना । यह तुम्हारी विपत्तियों का निवारण करने वाली होगी और अपनी स्नेहमयी माता को किस प्रकार का कष्ट नहीं होने देना कहते हुए पाण्डु राजा का हृदय अवरुद्ध हो गया । वे भाव-विभोर हो कर कुन्ती की ओर बढे थे कि ज्येष्ठजनों की उपस्थिति का विचार कर रुक गए । कुन्ती की दशा भी वैसी ही थी । इस स्थिति को सम्भालते हुए भीष्मपितामह ने सब को चलने का आदेश दिया । माद्री ने अन्त में अपने पुत्रों से कहा -

"माता कुन्तीदेवी और भ्रातृवरो की सेवा करने में पीछे मत रहना ।"

कुन्ती द्रौपदी और पाचों पाण्डव वन की ओर वढे और शेष सभी कुटुम्बीजन हस्तिनापुर की ओर चले ।

दुर्योधन का दुष्कर्म

यद्यपि पाण्डव राज्य-च्युत हो वनवास चले गये और दुर्योधन की राज्य-सत्ता जम चुकी थी, परन्तु दुर्योधन निश्चिन्त नहीं हो सका । उसके मन म यह भय वना रहा कि - 'तेरह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद मेरी राज्य-सत्ता वनी रहनी असम्भव हो सकती है । पाँचा भाई अजय योद्धा हैं, श्रीकृष्ण की सहानुभूति भी उनकी ओर है, भीष्मपितामह और अन्य आप्तजन भी उन्हीं का पक्ष करते हैं और दूसरा का क्या, मेरे पिता भी मुझ-से रुष्ट हैं और प्रजा में भी मेरी निन्दा हो रही है । वनवास-काल व्यतीत होते ही वे आ धमकेंगे और मुझे अपने वचन के अनुसार राज्य-सत्ता छोडने का कहेंगे । यदि मैं वचनभ्रष्ट बनूँगा, तो युद्ध अनिवार्य वन जायगा और परिणाम ? नहीं; जब तक पाण्डव जीवित रहेंगे तब तक मैं निश्चिन्त नहीं हो सकूँगा । मुझे इस बाधा को हटा ही देनी चाहिए ।

दुर्योधन ने खूब सोच-विचार कर एक योजना बनाई और कार्य प्रारम्भ कर दिया । उसने अपना एक विश्वस्त दूत पाण्डवो के पास भेज कर उन्हे प्रेम-प्रदर्शन पूर्वक आमन्त्रित किया । दूत खोज करता हुआ नासिक आया और विनयपूर्वक दुर्योधन का सन्देश निवेदन करने लगा -

"धर्मावतार ! मेरे स्वामी महाराजाधिराज दुर्योधनजी को आपके पधारने के बाद अत्यन्त खेद हुआ । वे आपको महान् उदार गम्भीर आदर्श, नीतिवान्, धर्मप्राण और पुण्यात्मा मानते हुए अपने-आपको अत्यन्त तुच्छ हीन क्षुद्र एव पापात्मा मानते हैं । ग्लानि से उनकी आत्मा, सताप की अग्नि में जलती रहती है । उन्होंने आपकी सेवा में निवेदन कराया है कि आप सत्वर हस्तिनापुर पधार कर अपना राज्य सम्भालें और मुझे इस भार से मुक्त कर दे । यह आपका मुझ पर उपकार होगा । यदि आप, अपनी प्रतिज्ञा के कारण उस अवधि तक राज्यभार ग्रहण नहीं कर सकें, तो यहाँ पधार कर सुखपूर्वक रहे, जिससे महाराज आपकी सेवा के अपने पाप का प्रायश्चित्त कर सकें । प्रजा भी आपके दर्शन कर सतुष्ट रहेगी और वृद्ध भीष्मपितामह, महाराज पाण्डुजी आदि को भी शान्ति मिलेगी । अब आप हस्तिनापुर पधारने की स्वीकृत प्रदान कर कृतार्थ करें ।"

पुरोचन पुरोहित द्वारा दुर्योधन का उपरोक्त अनपेक्षित सन्देश पा कर सभी पाण्डव प्रसन्न हुए । उन्होंने सोचा - "कदाचित् दुर्योधन में सुमति उत्पन्न हुई हो ? अथवा आप्तजनों तथा प्रजा की ओर से होती हुई आलोचना से उसे अपने कुकृत्य का भान हुआ हो और वह अपनी भूल सुधारना चाहता हो ? कुछ भी हो, वह आग्रहपूर्वक हमें आमन्त्रित कर रहा है तो हमें चलना चाहिए । हम वहाँ रह कर भी अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर सकेंगे और अवधि पूरी होने तक पृथक् आवास में रहेंगे ।"

सभी ने हर्षपूर्वक युधिष्ठिरजी की बात स्वीकार की । युधिष्ठिरजी ने पुरोहित से कहा,-

"भाई दुर्योधन का स्नेह-सन्देश पा हम सब प्रसन्न हैं । हम उसके आमन्त्रण को स्वीकार करते और यहाँ से हस्तिनापुर की ओर ही आवेगे । परन्तु हम अपनी स्वीकृत अवधि के पूर्वकाल तक पृ आवास में ही रहेंगे ।"

दूत प्रणाम कर लौट गया और प्रवासी पाण्डव भी हस्तिनापुर चलने की तैयारी कर के च निकले । जब वे हस्तिनापुर के निकट पहुँचे, तो दुर्योधन उनको बडी भक्ति एव आदर के साथ ब कर लाया और उनके लिये ही विशेषता से बनाये हुए भव्य भवन मे ठहराया । वह भवन भव्य विशालता और सभी प्रकार की उत्तम सामग्री से युक्त था । सेवक-सेविकाएँ भी सेवा मे उपस्थित र थे और दुर्योधन स्वय आ-आ कर, प्रेमपूर्वक व्यवहार से सभी को सतुष्ट करता रहता था । इ भीष्मपितामह आदि भी सतुष्ट थे । श्री कृष्ण भी इस परिवर्तन से प्रसन्न थे । जब वे द्वारिका लौटने ल ता युधिष्ठिरजी की आज्ञा से सुभद्रा भी माता से मिलने के लिए, उनके साथ द्वारिका चली गई । कु दिन आनन्दपूर्वक रहने के बाद एकदिन अचानक एक व्यक्ति ने आ कर युधिष्ठिरजी से एकान्त कहा,-

"विदुरजी ने कहलाया है कि आप सावधान रहें । आपको मारने के लिये ही दुर्योधन ने प्रे प्रदर्शन कर के यहाँ बुलाया है । इस भव्य भवन के निर्माण मे सण, घास और तेल तथा लाख उपयोग हुआ है । ये सब ज्वलनशील वस्तुएँ हैं । मुझे बहुत ही विश्वस्त सूचना मिली है कि आग कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात को यह भवन जला दिया जायगा । आप सब को मारने के लिए ही पड्यन्त्र रचा गया है । इस से बच कर निकलने के लिए विदुरजी ने एक विश्वस्त एव कुशल सु (भूगर्भ मार्ग) खोदने वाले को नियुक्त किया है । वह सुरग खोद देगा जिसमे से निकल कर अ निरापद स्थान पर जा सकेगे ।"

युधिष्ठिर को दुर्योधन का षड्यन्त्र जान कर आश्चर्य के साथ क्रोध चढ आया । सन्देशवाहक लौटा कर वे अपने बन्धुओ के निकट आये और षड्यन्त्र तथा काका विदुर के सुरग के प्रयन्ध की कह सुनाई । सुनते ही क्रोधाभिभूत हो कर भीम बोला -

"बन्धुवर ! आज्ञा दीजिये, मैं उस दुष्ट की उस छाती को चीर दूँ - जिसमें ऐसा महापाप भरा और उसके भेजे को फोड दूँ - जिसमें ऐसे षड्यन्त्र की योजना बनी है । आपकी आज्ञा होने की है फिर तो मैं ऐसे महापातकी और कौरव-कुल-कलक को इस भूमि पर से उठा दूँगा ।"

अर्जुन नकुल और सहदेव ने भी भीम का समर्थन किया । किन्तु युधिष्ठिर नहीं माने । उन्हे कहा -

"बन्धुओ ! शान्त होओ ! वैसे ही अपने को तेरह वर्ष पूरे करने ही थे । हमारे पक्ष में न्याय है, धर्म है, सदाचार है और आप्तजनों तथा प्रजाजनों की भावनाओं का बल है । अवधि पूरी होने के बाद यदि दुर्योधन अपने वचन का पालन नहीं करेगा, तो मैं आपको आज्ञा ही नहीं दूँगा, स्वय भी शस्त्र ले कर उससे लडूँगा । उसके पाप के घट को भरने दो और अपने पूर्व-सचित अशुभ-कर्म को समाप्त होने दो, उतावल मत करो सतर्क रह कर अपने व्यवहार को यथायोग्य बनाये रखो । जिसमें किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो । आज रात को हमें भी इस भवन की जाँच करनी है ।"

रात्रि के समय उन्होंने भवन की जाँच की, तो उन्हें वास्तविकता मालूम हो गई । वे सावधान हो गए । कुछ दिना में सुरग भी खुद कर तैयार हो गई । कुन्ती और द्रौपदी को सुरग में चलने का अभ्यास कराया जाने लगा ।

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का दिन आया । देवयोग से उसी दिन बाहर से एक वृद्धा अपने पाँच पुत्रों और एक पुत्रवधू के साथ वहाँ आई और उसी भवन मे रही । कुन्तीदेवी ने प्रेमपूर्वक उनको ठहराया और भोजन कराया । वे मार्ग के श्रम से थके हुए थे सो शीघ्र ही सो गए । अर्ध-रात्रि होने आई कि योजनानुसार भीमसेन को छोड कर कुन्ती और द्रौपदी सहित चारा भाई सुरग के मार्ग से चल गए । भीमसेन द्वार के समीप छुप कर टोह ले रहा था कि थोडी ही देर में पुरोचन पुरोहित आया और द्वार पर आग लगाई । छुप कर देख रहे भीमसेन ने झपट कर उसे पकड लिया और मुष्टि-प्रहार से प्राण-रहित कर वहीं पटक दिया और वह सुरग से निकल कर बाहर चला गया । चलते समय वे सभी उन आगत यात्रिया को भूल गये । ये सभी प्राणी उग्र रूप से जलते हुए उस भवन मे ही जल कर मर गए । भवितव्यता ही ऐसी थी । किन्तु इससे दुर्योधन और अन्य लोगों को यह जानने का कारण मिल गया कि प्रवासी पाण्डव-परिवार ही इस भवन में जल मरा है । पुरोचन पुरोहित का शव भी द्वार क निकट ही पडा था । वह पहिचान में आ गया । जनसमूह पाण्डव-परिवार को ही षड्यन्त्र का ग्रास होना मान कर शोकपूर्ण हृदय से आक्रन्द करने लगा और साथ ही दुर्योधन और पुरोचन को धिक्कारने लगा ।

पाण्डव-परिवार सुरग-मार्ग से निकल कर वन में आगे बढ़ा । चलते-चलते कुन्ती और द्रौपदी थक कर भूमि पर गिर पड़ी । यह देख कर युधिष्ठिर दु खित हो कर अपने दुर्भाग्य का धिक्कारने लगा और सारा दोष अपना ही मान कर सताप की ज्वाला में जलने लगा । यह देख कर भीम ने आश्वासन देते हुए कहा -

"पूज्य ! आप खेद नहीं करें । मैं इन्हें उठा लेता हूँ ।" इतना कह कर उसने माता कुन्ती और द्रौपदी को अपने कन्धो पर बिठा लिया और आगे चलने लगा । कुछ दूर चलने के बाद नकुल और सहदेव भी थक कर बैठ गए । भीम ने अपने चारों भाइयों को पीठ पर लाद लिया और आगे चलने लगा। बलवान भीमदेव, हाथी के समान सब का वाहन बन गया । सूर्यास्त होने पर वे एक वृक्ष के नीचे रात्रिवास करने के लिए ठहर गए ।

भीम के साथ हिडिम्बा के लग्न

पाण्डव-परिवार, भयकर वन में भटकता और थक कर श्रात-क्लात बना हुआ एक वृक्ष की छाया मे बैठा । वन-फल खा कर क्षुधा शान्त की । किन्तु जलाशय निकट नहीं होने से प्यास नहीं बुझाई जा सकी । भीमसेन पानी की खोज मे निकला । खोज करते उसे एक जलाशय दिखाई दिया उसने वृक्ष के पत्तों का एक पात्र बनाया और उसमें जल भर कर लौटा । थकान और प्यास से पीड़ित सभी जन निद्राधीन हो गए थे । वह ज्योंही उनके निकट पहुँचा, उसे सामने ही एक विकराल रूप वाली स्त्री आती हुई दिखाई दी । उसके देखते-देखते ही उस भयानक रूप वाली स्त्री का रूप पलट कर सुन्दर एव मोहक हो गया । भीमसेन ने उससे पूछा - "तुम कौन हो ?" उसने कहा-

"मैं राक्षसकुमारी हूँ । मेरा नाम हिडिम्बा है । इस वन मे मैं अपने भाई के साथ रहती हूँ । इस वन पर मेरे भाई का राज्य है । यदि कोई भूला-भटका मनुष्य इस वन में आ जाता है । तो वह मेरे भाई का भोजन बन जाता है । अभी वह नींद से जाग कर उठा है और उसे भूख लगी है । मैं उसके भोजन का प्रबन्ध करती हूँ । भाई को मनुष्य की गन्ध आई । उसने मुझे गन्ध की दिशा में मनुष्य को लाने के लिए भेजा है । मैं तुम सब को लेने के लिये आई हूँ, किन्तु तुम्हारे मोहक रूप ने मेरी मति पलट दी मैं तुम पर मुग्ध हूँ । तुम मुझे अपना लो । जब मैं आई, तब भक्षक बन कर आई थी । उस भावना से मेरा रूप भी भयकर हो गया था । अब मैं तुम्हारी प्रेयसी बनना चाहती हूँ । मुझे अभी इस समय स्वीकार कीजिये । विलम्ब होने पर मेरा भाई यहाँ आ जाएगा और तुम सब को भक्षण कर जायगा मेरा पाणिग्रहण करने से वह आपका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकेगा ।"

हिडिम्बा की याचना ने भीमसेन को विचार-मग्न बना दिया । थोडी देर विचार कर वह बोले -

"सुन्दरी । तेरे प्रेम को मैं समझ गया हूँ । मैं तुम्हारी इच्छा की अवहेलना नहीं करता किन्तु मैं विवश हूँ । ये सोये हुए पुरुष मेरे भाई हैं यह मेरी माता है और यह हम पाँचों की पत्नी है । मैं इससे सतुष्ट हूँ । इसके सिवाय मुझे किसी अन्य प्रियतमा की आवश्यकता नहीं है । मैं इसकी उपेक्षा कर के दूसरी पत्नी करने का विचार भी नहीं कर सकता । तुम मुझे क्षमा कर दो ।"

उनकी बात चल ही रही थी कि हिडिम्ब राक्षस, क्रोध में उतप्त होता हुआ और दाँत पीसता हुआ वहाँ आया । अपनी बहिन को एक पुरुष से प्रेमालाप करते देख कर गर्जता हुआ बोला,-

- "पापिनी, दुष्टा ! मैं वहाँ भूख के मारे तड़प रहा हूँ और तू यहाँ कामान्ध बन कर प्रेमालाप कर रही है ? ठहर ! सब से पहले मैं तुझे ही अपना भक्ष बनाता हू । इसके बाद पापी से अपना पेट भरूँगा ।"

इतना कह कर हिडिम्ब अपनी बहिन पर झपटने लगा, तब भीमसेन ने कहा -

"राक्षस ! अरे तू अपनी निरपराधिनी बहिन को ही खाना चाहता है ? मेरे देखते तेरी यह नीचता नहीं चल सकती । यदि तू नहीं मानेगा, तो आज तेरा अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा । चल हट यहाँ से और लडने का विचार हो तो सावधान हो कर आ मैं तुझसे लडने को तत्पर हूँ ।"

भीमसेन के शब्दों ने राक्षस की क्रोधाग्नि को भडका कर दावानल जितनी विकराल बना दिया। वह बहिन की उपेक्षा कर के भीमसेन पर झपटा। भीमसेन ने एक बडे वृक्ष को जड से उखाड कर प्रहार किया। प्रथम प्रहार म ही राक्षस भूशायी हो कर मूर्च्छित हो गया। थोडी ही देर में वह सचेत हुआ और एक भयकर गर्जना की। उसकी गर्जना से युधिष्ठिरादि सभी जाग्रत हो गए। कुन्ती ने अपने निकट खडी हिडिम्बा से पूछा - "भद्रे ! तुम कौन हो और यह लडने वाला कौन है ?" हिडिम्बा ने अपना वृत्तात कह सुनाया। इतने म हिडिम्ब के वज्र-प्रहार से भीमसेन मूर्च्छित हा गया। भीम को मूर्च्छित देख युधिष्ठिर ने अर्जुन को भीम की सहायता करने का आदेश दिया। अर्जुन सनद्ध हो कर पहुँचे, उतने में तो भीम सावधान हो कर राक्षस से भीड गया। दोनो वीरा का मल्लयुद्ध और घात-प्रतिघात चलने लगा। कभी किसी का पलडा भारी लगता, ता कभी किसी का। अन्त में भीमसेन ने राक्षस का गला पकड कर मरोड़ दिया और वह मर गया।

भीमसेन की विजय होते ही युधिष्ठिरजी ने प्रसन्न हो कर भाई को छाती से लगाया और उसके धूलभरे शरीर का अपने वस्त्र से पोंछने लगे। शेष तीना भाइ, वस्त्र से हवा कर ठण्डक पहुँचाने लगे। कुन्तीदेवी अपने विजयी पुत्र का माथा चूमने लगी। इस विपत्ति के समय भी द्रौपदी की प्रसन्नता का पार नहीं था। वह अपने वीर-शिरोमणि पति पर मन ही मन न्यौछावर हो रही थी।

भीमसेन पर किये गये आक्रमण स हिडिम्बा अपन भाई पर क्रुद्ध हो गई थी। वह मन ही मन भीमसेन की विजय और भाई की पराजय की कामना कर रही थी और हिडिम्ब के धराशायी होने पर वह प्रसन्न भी हुई थी। किन्तु जब उसन भाई को मरा हुआ देखा तो उसका भ्रातृ-स्नेह उमडा और वह रुदन करने लगी। कुन्तीदेवी ने उसे सान्तवना दे कर अपने पास बिठाई। भीमसेन ने भी हिडिम्बा को समवदना के साथ सान्तवना दी और आत्मीयता प्रकट की।

रात्रि व्यतीत होने के बाद वह प्रवासी दल आगे बढा। हिडिम्बा ने कुन्ती और द्रौपदी को अपनी पीठ पर बिठाया और भीम के साथ चलने लगी। कुन्तीदेवी को प्यास लगी। उनका जी घबड़ाने लगा तब हिडिम्बा उन्हें एक वृक्ष की छाया में बिठा कर, पानी लाने क लिए आकाश-मार्ग से चली गई। युधिष्ठिरादि भी पानी की खोज म विभिन्न दिशाओं म गये, किन्तु वे सब इधर-उधर भटक कर लौट आये। उन्हें पानी नहीं मिला। माता की घबडाहट बढी और मूर्च्छित हा गई। यह दशा दख कर सभी शोकाकुल हा गए। पानी के बिना माता का जीवित रहना अशक्य हा गया। इतने ही म हिडिम्बा उडती हुई आई। उसके साथ में पानी भरा पत्र-पात्र था। माता के मुँह में पानी डाल कर गले उतारा। धीरे-धीर पानी उनके हृदय में पहुँचा। ठण्डक हुई और मूर्च्छा टूटी। सब क मन प्रफुल्लित हुए और वे हिडिम्बा का उपकार मानते हुए प्रशसा करन लग। कुछ समय विश्राम ल कर प्रवासी दल आगे बढा। रात्रि का अन्धकार बढन लगा। दैव-योग स द्रौपदी अकेला पीछे रह गई और मार्ग भूल कर भटक गई। पाण्डव-दल ने द्रौपदी की कुछ समय प्रतीक्षा की। फिर चिन्तित हो कर खोज करने लगे।

द्रौपदी की सिंह और सर्प से रक्षा

द्रौपदी भटकती हुई भयानक अटवी में चली गई । उसने देखा - एक सिह उसके सामने चला आ रहा है । हटात् वह भयभीत हो गई, किन्तु शीघ्र ही सावधान हो कर अपने आसपार्स भूमि पर वर्तुलाकार रेखा बनाई और सिह को सम्बोध कर बोली -

"वनराज ! मेरे स्वामी ने अपने जीवन मे सत्य की सीमा का उल्लघन कभी नहीं किया । उसके सत्य के प्रभाव से तुम भी इस सीमा-रेखा का उल्लघन कर के मेरे पास नहीं आ सकोगे ।"

द्रौपदी की खिची हुई कमजोर रखा सिह के लिए अनुलघ्य बन गई । वह निमेष मात्र एकटक द्रौपदी को देख कर अन्यत्र चला गया । द्रौपदी आगे बढी, तो एक भयानक विषधर, पृथ्वी से हाथ भर ऊँचा फण उठाये दिखाई दिया । द्रौपदी को लगा कि वह उसी को क्रूर दृष्टि स देख रहा है । थोडी देर में वह फणिधर द्रौपद्री की ओर सरकने लगा । द्रौपदी सावचेत हुई और उसने आसपास भूमि पर रेखा खिचती हुई बोली;-

"मैने अपने पाँचो पति के प्रति, मन, वचन और काया से कभी भेदभाव नहीं रखा हो और सरलभाव से व्यवहार किया हो, तो हे फणिधर ! तुम इस रेखा के भीतर प्रवेश नहीं कर सकोगे ।"

आते हुए नागराज की गति रुक गई । वह रेखा के निकट आ कर रक गया - जैसे किसी ने उसे बरबस रोक रखा हो । कुछ क्षणा तक द्रौपदी को एकटक देख कर वह दूसरी ओर चला गया ।

पाण्डवो की खोज व्यर्थ रही । सभी द्रौपदी क नहीं मिलने पर अनिष्ट की आशका से शोकाकुल हो विलाप करने लगे । वे द्रौपदी के बिना जीवित रहना भी नहीं चाहते थे । उनकी दशा उस शक्तिहीन मानव जैसी हो गई कि जिसका समूचा रक्त खिच कर मात्र हड्डियों का ढाचा बना दिया गया हो । हिडिम्बा आकाश-मार्ग से खोज करने निकली । उसके पास चाक्षुसी विद्या थी, जिससे वह रात्रि के गहनतम अन्धकार मे भी दिन के प्रकाश की भाँति देख सकती थी । उसने द्रौपदी को दखा, उसके सामने आई और उसे अपनी पीठ पर बिठा कर उडी । थोडी देर मे वह पाण्डव-परिवार के समक्ष आ उपस्थित हुई । सभी की प्रसन्नता एव साहस लौट आया । मुरझाये मन प्रफुल्लित हो गए ।

हिडिम्बा के उपकार से उपकृत बनी हुई कुन्तीदेवी बोली-

"बहिन ! तुम राक्षसी नहीं, देवी हो । तुमने हम सब पर जो उपकार किये हैं, उनका प्रत्युपकार हम किसी भी प्रकार नहीं कर सकते, फिर भी तुम बताओ कि हम किस प्रकार तुम्हारा हित साधें ?"

"माता ! आप तो परोपकारी एव धर्मात्मा पुत्रों की माता हैं और मैं तो राक्षसी हूँ । फिर भी मैं आपका अनुग्रह अवश्य चाहती हूँ । मैंने आपके पुत्र को अपने हृदय से वरण कर लिया है । यदि आपकी कृपा हो जाय और आपकी आज्ञा से वे मुझे स्वीकार कर ले, तो मेरा मनोरथ सफल हो जाय ।"

हिडिम्बा की बात सुन कर कुन्ती ने द्रौपदी की ओर देखा । द्रौपदी भी हिडिम्बा के उपकार - भार से दबी हुई थी । उसने कहा - "मैं हिडिम्बा को अपनी बहिन बनाना स्वीकार करती हूँ ।" स्वीकृति होते ही कुन्तीदेवी, हिडिम्बा और द्रौपदी को ले कर भीम क निकट आई और प्रयोजन बतलाया । भीम ने अस्वीकार करते हुए कहा - "यद्यपि देवी हिडिम्बा ने हम पर महान् उपकार किये हैं, तथापि मेरा हृदय इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता ।"

- "आर्यपुत्र ! माताजी ही नहीं, मैं भी अनुरोध करती हूँ । जिस देवी ने माता की और मेरी प्राण-रक्षा की जो हमारे हित के लिए अपने भाई की अपराधिनी बनी और जो हम पर स्नेह सिंचन कर हमें सुरक्षित रखती है, ऐसी देवी को मैं सदा के लिए अपनी बहिन बनाना चाहती हूँ । मेरा अनुरोध स्वीकार कीजिये ।"

भीमसेन को स्वीकृत देनी पड़ी ।

हिडिम्बा अहिंसक बनी

हिडिम्बा क साथ वहीं भीम का लग्न-सम्बन्ध जोड़ा गया । हिडिम्बा ने अपनी मायिक विद्या के बल से वहाँ एक सुन्दर वाटिका और मण्डप आदि की रचना की और भीम के साथ काम-क्रीडा करने लगी । कुछ दिन वहाँ रह कर यह दल आगे बढ़ा । हिडिम्बा गर्भवती हो गई थी-। चलते-चलते यह दल एकचक्रा नगरी के निकट उपवन में पहुँचा । वहाँ एक महामुनि विराजमान थे और उनके निकट नगर का धर्मप्रिय जन-समूह बैठा हुआ था । पाण्डव - परिवार को देख कर जन-समूह चकित रह गया । उनकी सुगठित देहकान्ति शौर्य, प्रस्फुटित मुखमण्डल और विशिष्ट व्यक्तित्व देख कर दर्शक आकर्षित हुए और विचार में पड़ गये । पाण्डव-परिवार ने महामुनि को उल्लासपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और परिषद् में बैठ गए । महामुनि ने पाण्डवों को उद्देश्य कर धर्म-पुरुषार्थ का उपदेश दिया । धर्मोपदेश सुन कर हिडिम्बा विशेष प्रभावित हुई । उसने निरपराधी त्रस-जीव की हिंसा का त्याग किया। कुन्तीदेवी ने महात्मा को वन्दन कर के पूछा-

"भगवन् ! मेरे पुत्रों का विपत्तिकाल मिटेगा या नहीं ?"

- "भद्रे ! तेरे पुत्र पुन राज्य प्राप्त करेंगे और अन्त में निर्ग्रंथ - प्रव्रज्या स्वीकार कर मुक्त हो जावेंगे"- महात्मा ने उज्ज्वल भविष्य बताया ।

भविष्य - वाणी सुन कर सभी प्रसन्न हुए । धर्मोपदेश के बाद महात्मा विहार कर गए और जनता भी अपने- अपने स्थान चली गई ।

कुन्तीदेवी के निर्देश से युधिष्ठिरजी ने हिडिम्बा से कहा-

"भद्रे ! तुमने हम सब पर बहुत उपकार किये हैं । तुम्हारी सहायता से हम सब न सुरक्षित रह कर अटवी पार की । हमें तुम्हारा साथ आनन्ददायक रहा । परन्तु अब वियोग का समय आ गया । तुम

गर्भवती हो, इसलिए अभी लौट कर तुम अपने स्थान पर जाओ और तुम्हारे भाई की सम्पत्ति तथा अपने गर्भ का पालन करो । हम अभी इस एकचक्रा नगरी मे रहेगे । हम जब तुम्हारा स्मरण करें तब तुम आ कर हमसे मिलना ।''

हिडिम्बा ने भी यही उचित समझा और सभी से योग्य विनय कर लौट गई । पाण्डव-परिवार ने भी ब्राह्मण का वेश बना कर नगरी में प्रवेश किया ।

राक्षस से नगर की रक्षा

पाण्डव-परिवार ब्राह्मण के वेश में नगर में फिर रहा था कि उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण मिला । देवशर्मा अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था । अतिथि-सत्कार उसका विशेष गुण था । उसकी पत्नी भी उसके अनुरूप थी । उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी । देवशर्मा, पाण्डव-परिवार को प्रवासी विप्र-परिवार जान कर आग्रहपूर्वक अपने घर ले आया और घर के एक भाग मे ठहरा दिया । देवशर्मा की पत्नी भी अपने पति के साथ उनकी सेवा मे लग गई । कुन्ती और द्रौपदी ने ब्राह्मणी और उसके पुत्र - पुत्री को अपनी मिलनसारिता से मोह लिया । सारा पाण्डव-परिवार एक प्रकार से देवशर्मा का परिवार ही बन गया । किसी के मन में कोई भेद नहीं , कोई द्विधा नहीं । समय शान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा ।

उस नगरी पर एक राक्षस कुपित था । वह पत्थर-वर्षा से नगर को नष्ट करने लगा । तब राजा और प्रजा ने मिल कर राक्षस से दया की याचना की । राक्षस ने अपनी ओर से शर्त रखी कि-

''यदि भैरव-वन में मेरे लिए एक भव्य प्रासाद बनाया जाय और प्रतिदिन उत्तम खाद्य एव पेय पदार्थों के साथ एक मनुष्य मेरे भक्षण के लिए भेजा जाय, तो मेरा उपद्रव रुक सकता है । अन्यथा इस नगर के बराबर महाशिला गिरा कर, सभी नागरिकों का एक साथ सहार कर दूँगा ।''

राजा ने राक्षस की माँग स्वीकार कर ली और राज्य की ओर से भैरव-वन में एक भव्य प्रासाद बनाया गया । फिर प्रजा मे स क्रमानुसार प्रतिदिन एक घर से एक मनुष्य खाद्य एव पेय पदार्थ उस भवन मे पहुँचाया जाने लगा । इस प्रकार राक्षस को सतुष्ट कर के महाविनाश से बचा गया । फिर भी राक्षस को प्रतिदिन एक जीवित मनुष्य खाने के लिए देना सब को दु खदायक बन रहा था । एक बार नगर के बाहर उद्यान म एक केवलज्ञानी भगवत पधारे । नागरिको ने भगवान् से पूछा - ''इस सकट से उबरने का शुभ दिन कब आएगा - प्रभो !' भगवान् ने कहा - ''पाण्डव राज्यच्युत हो कर घूमते हुए इस नगर में आएँगे, तब राक्षसी-उपद्रव मिटेगा ।'' पुरजन पाण्डवों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे ।

एक दिन देवशर्मा का परिवार शोकाकुल हो कर विलाप करने लगा । उसे राक्षस का भक्ष बनने के लिए जाने की राजाज्ञा मिल चुकी थी । यह मृत्यु- सन्देश ही उनके महाशोक का कारण था । चारों जीव परस्पर लिपट कर रो रहे थे । देवशर्मा स्वय राक्षस का भक्ष बनने के लिए जाना चाहता था

उसकी पत्नी खुद जाने को तत्पर थी और पुत्र - पुत्री भी उसी प्रकार अपने को भक्ष्य बना कर कुटुम्ब की रक्षा करना चाहते थे और सभी आपस म रो रहे थे । विलाप सुन कर कुन्तीदेवी उनक पास आइ और रोते हुए परिवार को ढाढस बधा कर कारण पूछा । ब्राह्मणी ने विपत्ति का कारण बताया । कुन्तीदेवी ने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा;-

"आप निश्चिन्त रहें । आपमें से किसी को भी राक्षस के पास जाने की आवश्यकता नहीं है । मेरा पुत्र जाएगा । अब आप शोक छोड कर प्रसन्न हो जाइए ।"

देवशर्मा बोला - "नहीं, नहीं । ऐसा कदापि नहीं हो सकता । मेरी विपत्ति, मेरे आदरणीय अतिथियों पर नहीं डाल सकता । मैं स्वय जाऊँगा । मेरा भार मैं स्वय उठाऊँगा ।"

"भाई ! आप क्यों हठ कर रहे हैं ? यह निश्चित समझिये कि आपम से कोई भी नहीं जा सकेगा । जाएगा मेरा पुत्र और वह इस राक्षसी सकट को सदैव के लिए समाप्त कर देगा" - कुन्तीदेवी ने दृढता के साथ आगे कहा - "आप सब यहाँ से उठो और सदा की भाँति अपने अपने काम म लगो ।"

ब्राह्मणी ने कहा - "माता ! मैं अपने परिवार को बचाने के लिए आपके पुत्र को मृत्यु क मुख में नहीं भेज सकती । आप तो महान् परोपकारिणी माता हैं । आपके पुत्र भी महान् पराक्रमी हैं । परन्तु राक्षस या नहीं मर सकता । एक ज्ञानी महात्मा ने कहा था कि राक्षस का सकट पाण्डव मिटायेंगे, जो राज्य खो कर इस नगर मे आयगे । सारा नगर पाण्डवों के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है । आप हठ छोड़ दें और मुझे ही जाने द ।"

यह बात हो ही रही थी कि इतने में भीमसेन वहाँ आये । उन्होंने सारी बात सुन कर कहा--

"मैने प्रतिज्ञा कर ली है । मैं स्वय राक्षस का सामना करने जाऊँगा । यदि मैं नहीं जाऊँ, तो मेरा मातेश्वरी का वचन निरर्थक हो जाता है । माता की इच्छा आपके परिवार की रक्षा करने की है । यदि मैं अपनी माता की इच्छा पूरी नहीं करूँ, तो मेरा जीवन ही व्यर्थ हो जाय । इसलिए आप अब इस विषय को छोड दे । मैं राक्षस के पास जाता हूँ ।"

देवशर्मा न भीमसेन को रोकते हुए कहा - "आप हठ मत करिये । मैं अपनी विपत्ति का भोग आपका कदापि नहीं होने दूँगा ।" इतना कह कर देवशर्मा उठा और अपने इष्टदेव की पूजा-प्रार्थना करने लगा । देवशर्मा के जाने के बाद भीम उठा और माता आदि को प्रणाम कर चल निकला । वह राक्षस-भवन के निकट जा कर वधशिला पर लेट गया । थोडी देर म राक्षस अपने साथियों क साथ आ पहुँचा । उसने भीम को देख कर विचार किया कि इतना तगड़ा - मोटा और पुष्ट मनुष्य तो आज तक मुझ नहीं मिला । यह मनुष्य भी शान्त और निर्भीक हो कर, शान्ति क साथ सोया हुआ है । आज तक जितने भी आये, सब रोते-चिल्लाते और कल्पान्त करते हुए आते और तड़प-तडप कर पछाड़े खाते रहते । यह मनुष्य उन सब से निराला है । इसके शरीर से मास भी खूब मिलगा । उसने भीमसेन के

शरीर पर अपने बडे-बडे दाँत लगा कर मास तोडना चाहा, परन्तु जोर लगा कर भी वह अपने दाँत गढा नहीं मका, उलटे उसके दाँत टूट गए । नख से नोचने लगा तो नख टूट गए । उसे बडा आश्चर्य हुआ । आज तक इतने ठोस और दृढ शरीर वाला मनुष्य नहीं देखा था । उसने साथियों से कहा - "इसे उठा कर अपने स्थान पर ले चलो । वहाँ खड्ग से काट कर खाएँगे ।" साथियों ने जोर लगाया, परन्तु वे भीम को उठा नहीं सके । फिर बक ने स्वय बल लगा कर उठाया और भवन मे ले गया ।

उधर देवशर्मा इष्ट देव की पूजा कर के आया, तो भक्ष्य-सामग्री और भीम को नहीं देख कर घबडाया । ब्राह्मणी ने रोते हुए कहा - "वे नहीं माने और चले गये हैं ।" देवशर्मा भागा हुआ वन में आया और वध-शिला पर भीमसेन के स्थान पर उसकी गदा पडी हुई देख कर रुदन करने लगा । युधिष्ठिरजी न सब को शान्त करते हुए कहा - "कोई चिन्ता मत करो । राक्षस मेरे भाई को नहीं मार सकता । वह राक्षस को मार कर सकुशल लौटेगा ।" इतने में एक भयानक गर्जना हुई, जिसे सुन कर सभी का हृदय दहल गया । उन्हें भीम का जीवन सन्देहास्पद लगा । वे रुदन करने लगे । कुन्ती और द्रौपदी तो शोकावेग में मूर्च्छित ही हो गयी । अर्जुन धनुष-बाण ले कर राक्षस को मिटाने के लिए जाने लगा और देवशर्मा और उसकी पत्नी तो जीवित ही जल-मरने के लिए तत्पर हो गए । उन्हे अपने बदले भीम का मरना असह्य हो रहा था । इतने में भीमसेन आते दिखाई दिये । सभी के मुरझाये हुए हृदय प्रफुल्लित हो गए और हर्षध्वनि निकली । भीमसेन ने आते ही माता और ज्येष्ठ-भ्राता को प्रणाम किया और छोटों को छाती से लगाया ।

राक्षस की भयानक गर्जना से नगरी के लोग भी दहल गये । उन्ह विश्वास हो गया कि आज राक्षस का अन्त होने वाला है । उन्हें यह भी मालूम हो गया कि आज एक प्रचण्ड पुरुष हाथ म गदा ले क़र राक्षस के पास गया था । नागरिको का समूह वन में राक्षस-भवन की आर बढा । राजा भी आया । सब ने भीम को सुरक्षित तथा प्रसन्न देख कर हर्षनाद किया और भीमसेन की जयजयकार करने लगे । राजा ने भीमसेन से राक्षसवध का वृत्तात पूछा । किन्तु वह मौन रहा । इतने मे आकाशमार्ग से एक वृद्ध और एक युवक विद्याधर उतरे । उन्होंने भीमसेन से क्षमायाचना की । परिचय पूछने पर कहा -

"मैं राक्षसराज बक का मन्त्री हूँ । जब मेरे स्वामी ने इन पर खड्ग प्रहार किया तो खड्ग टूट गया । फिर ये उठ खडे हुए और एक मुष्टि-प्रहार में ही मेरे स्वामी को गिरा दिया । थोड़ी देर में स्वामी सावधान होकर उठे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इन पर प्रहार किया । ये धराशायी हो गए। मेरे स्वामी इनकी छाती पर चढ़ बैठे और घोर गर्जना की । फिर इन्होने स्वामी का उछाल कर पटक दिया और उनकी छाती पर बैठ कर कहा - "राक्षसराज ! यदि तुम मानव-हत्या नहीं करने की प्रतिज्ञा लेते हैं तो मैं तुम्हें छोड देता हूँ, अन्यथा आज मेरे हाथ से तुम्हारा जीवन समाप्त हा कर रहेगा ।" स्वामी ने क्रोधपूर्वक इनके वचन की अवहेलना की । फिर उन्होंने कहा - "अपन इष्टदेव का स्मरण कर ।" इतना कह कर एक मुष्टिका से उनके मस्तक पर प्रहार किया । बस, इसी स उनका

प्राणान्त हो गया । ये इनके पुत्र हैं और लका में रहते हैं । इन्हे बुलाया गया । ये अपने पिता का वैर लेने को तत्पर हुए । मैन इन्हें अपनी कुलदेवी का स्मरण कर के उनसे मार्गदर्शन लेने का परामर्श दिया । इन्होंने कुलदेवी का स्मरण कर आव्हान किया । कुलदेवी ने जो परामर्श दिया, वह य महायलजी आपसे निवेदन करेंगे ।"

महाबल ने कहा - "देवी ने मुझ-से कहा" - "पुत्र ! तू वैर छोड कर पाण्डवों के पास जा और विनयपूर्वक उनको सतुष्ट कर । वे महाबली हैं । उनसे उलझना और पार पाना सहज नहीं है । मैंने तेरे पिता को भी कहा था कि वह पाण्डवो से वैर नहीं करे । उनसे शत्रुता करना अपना विनाश करना है। अब तू पाण्डवो को सतुष्ट कर । तेरा राज्य शान्तिपूर्वक चलता रहेगा । मैं देवी की आज्ञानुसार आपसे क्षमा याचना करता हूँ ।" इस प्रकार कहता हुआ महायल भीम के चरणों में झुका । भीमसन ने उसे रोकते हुए कहा - "भद्र ! तुम मेरे पूज्य इन युधिष्ठिरजी को प्रणाम करो । मैं तो इनका सेवक हूँ। हा और मनुष्यवध का त्याग कर दो ।"

महाबल ने युधिष्ठिरजी को प्रणाम किया और हिंसा-त्याग की प्रतिज्ञा की । युधिष्ठिरजी ने उसे सान्त्वना दी । राजा-प्रजा और देवशर्मा यह जान कर अवाक् रह गये कि यह ब्राह्मण-परिवार ही पाण्डव-परिवार है जिनकी हम आशा लगाए बैठे थे और उनक जल मरने की झुठी यात सुन कर निराश हो गए थे । देवशर्मा के हर्ष का तो पार ही नहीं था । पाण्डव जैसे महापुरुष उसके अतिथि रहे थे । राजा-प्रजा ने पाण्डवो का जयजयकार किया और समारोहपूर्वक नगर में ला कर राज्य-प्रासाद में, निवास कराया । यहाँ वे सुखपूर्वक रहने लगे ।

दुर्योधन की चिन्ता और शकुनि का आश्वासन

एकचक्रा नगरी म यक-राक्षस वध और पाण्डवों के राज्य-व्यापी महा सम्मान की यात जब दुर्योधन तक पहुँची तो वह चिन्तामग्न हो गया । उसका लाक्षागृह का षड्यन्त्र भी व्यर्थ गया । अब तक वह पाण्डवों को मृत मान कर ही सतुष्ट था । परन्तु आज प्राप्त हुए विश्वस्त समाचारों ने उसे भयभीत यना कर उद्विग्न कर दिया । उसे भविष्य म राज्य-भ्रष्ट होने की आशका सता रही थी । वह कोई ऐसा उपाय करना चाहता था कि जिससे उसके शत्रु - पाण्डव - नष्ट हो जायँ । परन्तु उसे ऐसा कोई उपाय सूझ नहीं रहा था । इतने मे उसका मामा और राज्य का मन्त्री शकुनि उसके पास आया और दुर्योधन नरेश को चिन्तित देख कर पूछा -

"क्या कारण है कि आज महाराजाधिराज चिन्तित दिखाई द रहे हैं ?"

- "मामा ! हम याजी हार गए । हमारा पाप व्यर्थ गया । हमारे शत्रु बच कर निकल गए ।"

- "क्या कह रहे हैं - राज-राजेश्वर ! कहीं कोई स्वप्न तो नहीं देखा ?"

- "नहीं मामा ! हमारे शत्रु निरापाप निकल गए और किर्मिर हिडिम्ब और यक जैसे महाबली

योद्धाओं को मार कर वे एकचक्रा नगरी में, परम आदरणीय बन गए । वहाँ के राजा ने उनका महान् आदर किया और राज्य के महामान्य बना कर रखा है । राज्य की प्रजा उन्हें अपना परम तारक मानती है । ये विश्वस्त समाचार वहाँ से आये एक प्रवासी से मिले हैं । लगता है कि मेरा राज्य अब थोडे ही दिनों का है । यह महाचिन्ता मुझे खाये जा रही है ।"

–"राजेन्द्र ! वे बच कर निकल गए, यह उनके आयु-बल का प्रताप है । किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे इतनी शक्ति प्राप्त कर लेगे कि जिसस एक सबल साम्राज्य का सामना कर के विजय प्राप्त कर सकें । वे बलवान् हैं, तो क्या हुआ ? हैं तो पाँच भिखारी ही । वे हमारे महान् योद्धाओ और महासेना से जूझने का साहस कैसे कर सकेंगे ? आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं ।"

शकुनि के शब्दों ने उसे कुछ आश्वस्त किया । इतने म दु शासन और कर्ण भी वहाँ आ उपस्थित हुए । उन्हें भी पाण्डवो के बच निकलने का आश्चर्य तो हुआ, परन्तु उन्हाने भी शकुनि क समान दुर्योधन को निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया । विशेष में दु शासन ने कहा,-

"बन्धुवर ! आपके उत्तम शासन-प्रबन्ध ने प्रजा के मन को वशीभूत कर लिया है । आपके विशाल साम्राज्य की प्रजा, युधिष्ठिर को भूल गई और आपकी पूजक बन चुकी है । भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य आदि भी आपके वशीभूत हैं । सारे साम्राज्य मे आपका कोई विरोधी नहीं है । ऐसी दशा में उन पाँच भिक्षुओं की गिनती ही क्या जो आपके महाप्रताप को धूमिल या खडित कर सके ? आप भूल जाइये इस बात को और निश्चिन्त रहिये ।"

शकुनि ने कहा - "हा राजेन्द्र ! आ निश्चिन्त रहे । फिर हम तीनो पाण्डवो का अस्तित्व मिटाने का उपाय करेंगे ही । अतएव आप इस दुश्चिन्ता को निकाल दीजिए ।"

दुर्योधन आश्वस्त हुआ और उठ कर अन्त पुर मे चला गया ।

सावधान रहो

एकचक्रा नगरी के राज्य-अतिथि रहने के कुछ दिन बाद ही पाण्डव-परिवार, नगर छोड कर चल निकला । उनकी यशोगाथा चारों ओर व्याप्त हो गई थी । युधिष्ठिरजी ने कहा - "हम जीवित जान कर दुर्योधन फिर कुछ विपत्ति खडी करेगा । इसलिए अब अपने को चल देना चाहिए ।" वे सब चुपचाप निकल गए और द्वैत वन की ओर बढे ।

पाण्डवो के प्रबल पराक्रम की यशोगाथा हस्तिनापुर में पहुँच गई और विदुरजी के भी सुनने में आई । विदुरजी को इससे चिन्ता हुई - "कहीं दुर्योधन उन्हें फिर विपत्ति में नहीं डाल दे ।" उन्होंने पाण्डवों का सावधान करने के लिए अपने पूर्ण विश्वस्त दूत 'प्रियवद' के साथ सावधान रहने का सन्देश भेजा । प्रियवद चलता और पता लगाता हुआ द्वैत वन में पहुँचा । यह वन बहुत और भयानक था । इसमें सभी प्रकार के क्रूर और हिंस्र-पशु रहत थे । उत्तम प्रकार के पुष्पो और फलों से भी यह

भीमसेन की बात का अर्जुन आदि सभी ने समर्थन किया । अब प्रसन्न होते हुए धर्मराज युधिष्ठिरजी बोले , -

''धन्य है । क्षत्रियों के वंशजों में ऐसा ही शौर्य होना चाहिये । परन्तु बन्धुओ ! कुछ दिन और ठहर जाओ । वह दिन भी आने ही वाला है, जब तुम्हें दुष्टों को दमन करने और राज्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा । थोड़े वर्ष और सहन करलो और मेरा वचन पूरा होने दो । फिर तुम दुर्योधन और दु शासन से देवी के अपमान का भरपूर बदला लेना । फिर मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा और तुम्हारा सहयोगी रहूँगा । बस कुछ वर्षों का कष्ट शान्ति से सहन कर लो - मेरे प्रिय बन्धुओ !''

सब शान्त हो गए और अपने-अपने काम में लग गए । प्रियवद भी विदा हो गया ।

अर्जुन द्वारा तलतालव और विद्युन्माली का दमन

द्वैतवन में थोडे दिन ठहरने के बाद युधिष्ठिर ने कहा - ''अब यहाँ अधिक समय रहना उचित नहीं होगा, कदाचित् शत्रु को हमारी टोह लग जाय और वह उपद्रव खड़ा करे । अब यहाँ से चल ही देना चाहिए ।'' सारा परिवार चला और गन्धमादन पर्वत पर पहुँच कर उपयुक्त स्थान पर रुका । गन्धमादन पर्वत के पास ही इन्द्रनील पर्वत था । अर्जुन इस पर्वत पर विद्या सिद्ध करने के लिए पहले भी आया था । इस बार भी अर्जुन युधिष्ठिर की आज्ञा ले कर, इन्द्रनील पर्वत पर खचरी-विद्या का पुनरावर्तन करने आया । विद्यादेवी प्रकट हुई और प्रसन्न हो कर वर मागने का कहा । अर्जुन ने कहा -

''जब मुझे शत्रुओं का दमन करते समय आपकी सहायता की आवश्यकता लगे और मैं आपका स्मरण करूँ, तब मुझे सहायता करने के लिए आप पधारने की कृपा करें ।''

अर्जुन को वचन दे कर देवी लौट गई । सफलता से प्रसन्न हुआ अर्जुन, पर्वत के सुन्दर वन की शोभा देखता हुआ विचरण कर रहा था कि उसने एक मोटा और मदोन्मत्त वराह (सूअर) देखा । वह घायल था । उसके शरीर में एक बाण लगा था और इससे वह अत्यंत क्रुद्ध हो गया था । अर्जुन ने उस पर अपना बाण छोडा और वह वराह बाण लगते ही गिर कर मर गया । उसके निकट जा कर अर्जुन अपना बाण निकालने लगा । इतने में एक भयकर आकृति वाला प्रचण्ड पुरुष वहाँ आया और अर्जुन को रोकता हुआ बोला -

''अरे ओ ! इस वराह को मैंने मारा है और यह बाण मेरा है । मेरा बाण चुराते तुझे लज्जा नहीं आती ?''

- ''नहीं यह बाण मेरा है । मैंने इसे मारा है । मैं अपना ही बाण निकाल रहा हूँ । इसमें चोरी और लज्जा की बात ही क्या है'' - अर्जुन ने कहा ।

- ''नहीं तू झूठ बोलता है । बाण मेरा है और मैं ही इसे लूँगा । तू यहाँ से टल जा'' - आगंतुक ने रोषपूर्वक कहा ।

बात बढ गई और युद्ध का प्रसग उपस्थित हो गया । आगतुक ने धनुष पर बाण चढाया । अर्जुन ने वराह के शरीर में से बाण खिच कर शत्रु पर तान दिया । आगतुक अकेला नहीं था । उसके साथ उसकी कुछ सेना भी थी, जो इधर-उधर बिखरी हुई थी । युद्ध मे होती हुई गर्जना से वह सेना एकत्रित हो कर युद्ध में जुड गई । अर्जुन अकेला था । उसने परिस्थिति देख कर जो बाण-वर्षा की तो शत्रु की सारी सेना भाग गई । अब दोना वीर बाण-वर्षा से एक-दूसरे को पराजित करने लगे । किंतु कोई भी दबने की स्थिति में नहीं था । एक-दूसरे के बाण लक्ष्य पर पहुँचे बिना, मार्ग मे ही नष्ट हो जाते । अन्त में अर्जुन ने मुष्ठि-युद्ध चलाया । मुष्ठि-युद्ध में भी शत्रु अणनम रहा, तब अर्जुन ने शत्रु को कमर में से पकड कर ऊपर उठा लिया और चक्र के समान घुमाने लगा । घुमाने के बाद एक शिला पर पछाडने की उसकी इच्छा थी । किन्तु इसी समय वह किरात जैसा लगने वाला शत्रु अपना दिव्य रूप प्रकट कर के सम्मुख खडा हो गया । अर्जुन स्तब्ध रह कर उसे एकटक देखने लगा । अब वह पुरुष हँसता हुआ बोला,-

"महानुभाव ! मैं महाभाग्य विद्याधर नरेश विशालाक्षजी✦ का पुत्र चन्द्रशेखर हूँ । बहुत - सी विद्याएँ मैने सिद्ध की है । मेरे पूज्य पिताश्री को आपके पिताश्री ने जीवन-दान दिया था । मैने आपका पराक्रम देखने के लिए ही यह माया रची थी और आपसे युद्ध किया था । मैं आपके पराक्रम, भव्यता और परोपकार-परायणता से प्रसन्न हूँ और आपका यथेच्छ पुरस्कार माँगने की अनुमति देता हूँ । साथ ही मैं अपने मित्र के उद्धार के लिए आपकी सहायता लेना चाहता हूँ ।"

- "बन्धुवर ! आपका वरदान अभी अपने पास धरोहर के रूप में रहने दें । जब मुझे आवश्यकता होगी ले लूँगा । पहले आप अपना प्रयोजन बताइये कि आपके किस मित्र को मेरी सहायता की आवश्यकता है और उस पर किसकी ओर से कौनसी विपत्ति आई है" - अर्जुन ने पूछा ।

- "वीरवर ! वैताढ्य पर्वत पर रथनुपुर नगर है । वहाँ के विद्युत्प्रभ नरेश के दो पुत्र हैं - इन्द्र और विद्युन्माली । राजा विद्युत्प्रभ ने अपने ज्येष्ठ-पुत्र इन्द्र को राज्यासन और कनिष्ठ पुत्र विद्युन्माली को युवराज-पद दे कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । राजा इन्द्र और उनका भाई युवराज विद्युन्माली राज्य का सचालन करने लगे । राजा इन्द्र ने भाई पर विश्वास कर, राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था उसे ही सौंप दी और आप विषयभोग तथा मनोरजन में ही रहने लगे । राजा को भोगमग्न जान कर विद्युन्माली की दुर्बुद्धि जाग्रत हुई । वह प्रजा की बहू-बेटियो का अपहरण कर के दुराचार करने लगा । उसके दुराचार से नागरिको में क्षोभ एव रोष उत्पन्न हुआ । प्रजा के अग्रगण्य महाजन राजा इन्द्र के पास आये और विद्युन्माली के दुराचार की कहानी सुना कर उस पर अकुश लगाने की प्रार्थना की । राजा न प्रजा के प्रतिनिधि महाजन को आश्वासन दे कर विदा किया और भाई को एकान्त में बुला कर उचित शिक्षा दी । किन्तु दुर्मद विद्युन्माली नहीं माना और राजा से ही ईर्षा रखने लगा । उसने राजा को हटा कर खुद

✦ इसका उल्लेख पृ ३६६ पर हुआ है ।

राज्याधिकार हडपने का षड्यन्त्र रचा । राजा को भाई विद्रोह का संकेत मिला, तो वह सावधान हो गया। राजा को सावधान देख कर विद्रोही विद्युन्माली वहां से निकल कर अन्यत्र चला गया और राजा को किसी प्रकार मरवा कर खुद राजा बनने का मनोरथ करने लगा । अपने मनोरथ सिद्धि के लिए वह खर-दूषण के वंशज, सुवर्णपुर के निवातकवच राक्षस से मिला । वह अत्यन्त क्रूर और महाबली था । उसकी सेना भी अपराजेय थी । विद्युन्माली ने उसके साथ मैत्री सम्बन्ध जोडा । उस राक्षसराज के लिए कहा जाता था कि यदि कोई लक्ष्यवेधी एक साथ उसके तालु और हाथ को वेध दे, तभी वह मर सकता है, अन्य किसी उपाय से नहीं मर सकता । इस धारणा पर से उसका उपनाम 'तलतालव' प्रसिद्ध हो गया था । इस महाबली राक्षस को सेना सहित साथ ले कर विद्युन्माली ने अपने ज्येष्ठ-बन्धु राजा इन्द्र पर चढाई कर दी और उसके नगर को घेरा डाल दिया । राजा इन्द्र ने राक्षस राज के भय से नगर के द्वार बन्द करवा दिये और भयभीत तथा चिन्ताग्रस्त रहने लगा । एकबार उसने एक भविष्यवक्ता को इस विपत्ति के निवारण का उपाय और अपना भविष्य पूछा । भविष्यवेत्ता ने कहा - "राजन् ! तुम्हारे शत्रु का पराभव, पाण्डु-पुत्र वीरवर अर्जुन द्वारा हो सकता है । वही उस दुर्निवार विपत्ति का एकमात्र उपाय है । अभी वे वीरवर इन्द्रनील पर्वत पर विद्या साध रहे हैं । यदि आप उनसे विनम्र प्रार्थना करेंगे तो वे आपकी सहायता करने को अवश्य ही तत्पर होंगे और आपकी विपत्ति टल जायगी ।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर इन्द्र प्रसन्न हुआ और मुझे बुला कर आपको सहायक बनाने के लिए भेजा । मैं भी उत्साहपूर्वक आपके पास आया । मुझे अपने पिता के उपकारी मित्र के पुत्र से एक बन्धु के नाते मिलना था । आपके हाथ में यह वही अंगूठी है जिसे मेरे पिता ने आपके पिता को दी थी। आप इस अंगूठी को पानी में प्रक्षाल कर उस पानी से अपनी देह का सिंचन करें, जिससे ये घाव मिट जावेंगे और शरीर स्वस्थ हो जायगा । फिर आपको इन्द्र की विपत्ति मिटाने चलना होगा ।"

अर्जुन ने कहा - "महानुभाव ! आप तो मेरे ज्येष्ठ-बन्धु, महाराज युधिष्ठिरजी के समान हैं । मैं आपकी आज्ञानुसार इन्द्र की सहायता करने को तत्पर हूँ । चलिये शीघ्र चलिए ।"

अर्जुन रथ में बैठा और रथ पवन-वेग से चलने लगा । थोडी ही देर में वे वैताढ्य पर्वत पर पहुँच गए । चन्द्रशेखर, अर्जुन को इन्द्र के पास ले जाना चाहता था । वहां से इन्द्र की विशाल सेना के साथ युद्ध के लिए प्रयाण करने की उसकी योजना थी । परन्तु अर्जुन ने कहा - "मैं पहले शत्रु से इस राज्य की रक्षा करूँगा । उसके बाद इन्द्र के सम्मुख जाऊँगा ।" ऐसा ही हुआ । चन्द्रशेखर सारथि बना और अर्जुन शत्रु-दल को ललकार कर युद्ध में प्रवृत्त हुआ । शत्रु भी साधारण नहीं था । उसे अपने भेदियों द्वारा ज्ञात हो गया था कि इन्द्र को भविष्यवक्ता ने अर्जुन के द्वारा हमारा पराभव होना बताया था । इसलिए उसने अर्जुन को घेर कर शीघ्र मार डालने में ही अपनी भलाई समझी । शत्रु दल पूरे वेग से अर्जुन के रथ को घेर कर बाण-वर्षा करने लगा । अर्जुन ने भी भीषण बाण-वर्षा की परन्तु चतुर शत्रुदल ने उसके सारे बाण बीच में ही काट डाले और शत्रु-दल का एक भी सैनिक घायल नहीं

हुआ । अर्जुन चकित रह कर मोचने लगा । उसे द्रोणाचार्य की युक्ति स्मरण हो आई । उसी समय उसने रथ को थोडा पीछे हटाने की चन्द्रशेखर को आज्ञा दी । चन्द्रशेखर शकित हुआ, परन्तु उसे आज्ञा का पालन करना पडा । रथ पीछे हटता हुआ देख कर शत्रु-दल अपनी विजय मानता हुआ और मूँछे मरोडता हुआ हर्षोन्मत्त हो गया । बस, इसी समय अर्जुन ने लक्ष्यपूर्वक भीषण बाण-वर्षा की, जिससे शत्रुओं के हाथ (मूँछ पर रहे हुए हाथ) और कठ एक साथ बिध गए और शत्रु-दल धराशायी हो गया । तलतालव और विद्युन्माली भी मारा गया । राजा इन्द्र विमान में बैठा, आकाश से युद्ध देख रहा था । वह अर्जुन की विजय और शत्रु का विनाश देख कर प्रसन्न हुआ । उसने और अन्य खेचरो ने अर्जुन पर पुष्प-वर्षा की और जय-जयकार किया ।

बडे भारी उत्सव और समारोह के साथ अर्जुन का नगर-प्रवेश कराया । राजा इन्द्र ने अर्जुन से निवेदन किया - "यह सारा राज्य आप ही का है । मैं आपका सेवक हो कर रहूँगा ।" अर्जुन ने इस आग्रह को अस्वीकार किया और वह राज्य का अतिथि बन कर रहा । राज्य के बहुत-से युवको ने अर्जुन से धनुर्विद्या सीखी । अभ्यास पूरा होने पर गुरु-दक्षिणा देने को वे सभी उद्यत हुए, तो अर्जुन ने कहा- "जब मुझे आवश्यकता होगी तब मैं आपकी सहायता लूँगा ।" स्वजनो से मिलने अर्जुन गन्धमादन पर्वत पर गया । पाण्डव-परिवार उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा कर रहा था । अर्जुन के आगमन और वियोगकाल की घटनाओ का वर्णन सुन कर सभी प्रसन्न हुए ।

कमल-पुष्प के चक्कर में बन्दी

पाण्डव-परिवार गन्धमादन पर्वत पर रह कर अपना समय व्यतीत कर रहा था । एक दिन वे परस्पर वार्तालाप करते हुए बैठे थे कि वायु से उडता हुआ कमल का एक फूल द्रौपदी की गोद मे आ-गिरा । पुष्प की सुन्दरता और उत्तम सुगन्ध ने द्रौपदी को मोहित कर लिया । द्रौपदी उस एक पुष्प से सतोष नहीं कर सकी । उसने कहा - "ऐसे उत्तम पुष्प यदि कुछ और मिल जाय, तो मैं आभूषण बना कर पहनूँ ।" द्रौपदी की इच्छा जान कर भीमसेन उठा - "मैं अभी लाता हूँ" - कहता हुआ उस दिशा में चला गया - जिस ओर से वह फूल आया था । भीमसेन को गये बहुत समय बीत गया, परन्तु वह लौटा नहीं सभी लोग चिन्ता करने लगे । "अब क्या करें ? कैसे पता लगावें ? वह कहाँ होगा ? किस दशा में होगा और उस पर क्या बीत रही होगी" - इस प्रकार सभी के मन में भाँति-भाँति के विकल्प उठने लगे । अर्जुन ने विद्या का स्मरण कर, जानने की इच्छा व्यक्त की, तो युधिष्ठिर ने कहा - 'नहीं साधारण-सी बात पर विद्या का प्रयोग नहीं होना चाहिए ।" तब क्या किया जाय ? युधिष्ठिरजी ने हिडिम्बा का स्मरण किया । वह अपने पुत्र को लिये हुए आकाश-मार्ग से आ कर उनके सामने खडी हुई । युधिष्ठिर ने देखा कि हिडिम्बा अपने उत्सग में एक सुन्दर और मोहक बालक को लिये उपस्थित है और प्रणाम कर रही है । युधिष्ठिर ने आशीर्वाद देते हुए पूछा - "यह प्यारा-सा बच्चा तुम्हारा ही है क्या ?" हिडिम्बा ने पुत्र को युधिष्ठिर

कुन्ती और द्रौपदी ने धर्म का सहारा लिया

ऐसी स्थिति में दोनो अबलाएँ घबडाई और रोने लगी । सन्ध्या हो गई, अन्धकार बढने लगा । अब वे क्या करें ? कुन्ती सम्भली और द्रौपदी से कहा - "बेटी । हमने कभी अपने धर्म को नहीं छोडा । हमने प्राणपण से धर्म का पालन किया । धर्म ही हमारी रक्षा करेगा । और तेरा सुहाग सुरक्षित रखेगा । तेरी पुष्पमाला म्लान नहीं हुई । यह सतोष की बात है । अब हमे धर्म का ही सहारा है । ध्यानस्थ हो कर परमेष्ठी महामन्त्र का स्मरण करो । मैं भी यही करती हूँ ।" दोनो निश्चल और एकाग्र हो कर महामन्त्र का स्मरण करने लगी । उनके ध्यान की धारा समस्त आत्म-प्रदेशा में रम कर सबल होती गई। थोडी देर में उनके कानो मे परिचित शब्द पडे । एक दिव्यात्मा ने कुन्ती को प्रणाम करते हुए कहा - "माता । इधर देखो । आपके पुत्र प्रणाम कर रहे हैं ।" दो-तीन बार कहने पर ध्यान भग हुआ और अपने पाँचो पुत्रा (और द्रौपदी ने अपने पतियो) तथा एक प्रकाशमान दिव्य-पुरुष को देख कर दोनों महिलाएँ प्रसन्न हुई । माता ने पुत्रों को छाती से लगा कर मस्तक चूमा । द्रौपदी पास ही खडी, उन्हें देख कर प्रसन्न हो रही थी । माता ने पूछा-

"पुत्रो । तुम कहाँ रुक गये थे और य दिव्य-पुरुष कौन हैं ?"

- "माता । हम बन्दी हो गए थे । इन महानुभाव ने ही हमे मुक्त कराया । ये महानुभाव ही आपको हमारे बन्धन और मुक्ति का हाल सुनावेंगे"- युधिष्ठिर ने कहा । कुन्ती ने देव की ओर देखा । देव ने कहा,-

"कल्याणी । थोडे समय पूर्व सौधर्मेन्द्र, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे । मैं भी उनके साथ था । यहाँ आने पर अचानक विमान रुक गया । हम सभी ने आपको ध्यानस्थ देखा । देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से आपकी और इन बन्धुआ की विपत्ति जानी और मुझे आदेश दिया कि "इन ध्यानस्थ महिलाओं म एक पाण्डवा की माता कुन्तीदेवी और एक पत्नी द्रौपदी है । पाँचों पाण्डव इस सरोवर के दोलन और पुण्य-चयन सें नाग कुमारन्द्र के कोप-भाजन हो कर बन्दी हुए हैं । तुम उन नीतिमान् धर्मात्मा पाण्डवों को मुक्त करा कर, इन महिलाआ को सतुष्ट करो ।" इन्द्र की आज्ञा से मैं नागकुमारेन्द्र के आवास में पहुँचा । वहाँ ये पाँचों बन्धु बन्दी थे । भीमसेन ने सरोवर का खूब दोलन किया और बहुत-से पुष्प तोड लिये । यह सरोवर नागकुमारेन्द्र का प्रिय है । इसके दोलन से कुपित हुए नागकुमारेन्द्र के अनुचरो ने भीमसेन और क्रमश पाँचो बन्धुओ को आकर्षित कर हरण किया और बन्दी बना लिया ।"

"पाँचों बन्धुओं को बन्दी बना कर नागेन्द्र के सम्मुख उपस्थित किया तो इन्हें देख कर नागेन्द्र ने सोचा - "ये बलवान् और तेजस्वी पुरुष कौन हैं ?" जिस समय इनके विषय में इन्द्र विचार कर रहा था उसी समय मैं पहुँचा और मैंने इनका परिचय देते हुए कहा- "ये मनुष्यों में उत्तम न्याय-नीति

और सदाचार से सम्पन्न तथा उत्तम पुरुष हैं । ये पाण्डु-पुत्र हैं और 'पाण्डव' कहलाते हैं । लोक में इनकी यश-पताका लहरा रही है । ये आदर करने योग्य हैं । सौधर्मेन्द्र ने मुझे इन्हे मुक्त करवाने के लिए आपके पास भेजा है । इनके मन मे आपकी अवज्ञा करने का भाव नहीं था और ये यह न जानते थे कि इस जलाशय पर आपकी विशेष रुचि है । अनजान में सहज ही यह घटना घट गई । इस पर आप स्वय ही विचार करें ।''

मेरे इतना कहते ही नागेन्द्र ने तत्काल इन्हे बन्धन-मुक्त किया और आदर सहित अपनेपास बिठाया । इन्हें बन्दी बनाने वाले सेवको की भर्त्सना कर के निकाल दिया और युधिष्ठिरजी आदि स अपने सेवकों द्वारा हुए अपराध की क्षमा माँगी । इतना ही नहीं, नागेन्द्र ने इन्ह सभी प्रकार के विष को दूर करने वाली मणिमाला प्रदान की और तुम्हारी वधू के कर्णभूषण के लिए एक नीलकमल दिया और कहा कि यह तब तक विकसित रहेगा जब तक द्रौपदी के पाँचा पति कल्याणवत रहगे । यदि उन्हे किसी प्रकार का सकट होगा, तो कमल मुरझा जायगा ।'' विदा होते समय युधिष्ठिर ने नागेन्द्र से कहा – ''देवेन्द्र से मेरी प्रार्थना है कि हमारे निमित्त से जिन देवों को आपने निकाल दिया है उन्हें क्षमा कर के पुन अपनी सेवा मे रख लीजिए ।''

नागेन्द्र ने कहा – ''धर्मराज ! सरोवर का मुख्य-रक्षक चन्द्रचूड है । इसे विवेक से काम लेना था। साधारण-सी बात पर बिना चेतावनी दिये उग्र व्यवहार करना तो अत्याचार है । अब इनको तभी सेवा में लिया जायगा कि भविष्य में, कर्ण के साथ अर्जुन के होने वाले महायुद्ध में चन्द्रचूड, अर्जुन का सहायक बन कर प्रायश्चित्त कर ले ।''

इसके बाद हम आपकी सेवा मे आये । देव ने अपने कथन का उपसहार करते हुए कहा – ''माता ! आप सब मेरे विमान में बैठिये । मैं आपको यथास्थान पहुँचा दूँगा ।''

कुन्ती ने कहा – ''अब हमे द्वैत वन में जाना है ।''

देव ने उन्हें द्वैत वन में पहुँचा दिया और प्रणाम कर चला गया । पाण्डव – परिवार द्वैत वन में रह कर काल-निर्गमन करने लगा ।

पॉडवों को मारने दुर्योधन चला और बन्दी बना

दुर्योधन को मालूम हुआ कि उसके हृदय का शूल पाण्डव-परिवार द्वैत वन में है तो वह अपना दलबल ले कर द्वैत वन की ओर चला । साथ में कर्ण शकुनि और दु शासनादि भी थे । उसने इस बार पाण्डव – परिवार को अपनी आँखों के सामने समाप्त करने का निश्चय कर लिया था । दुर्योधन के साथ उसकी रानी भानुमती भी थी । उन्होने गोकुल का निरीक्षण करने के लिए जाने का प्रचार किया

था, किन्तु गुप्त उद्देश्य पाण्डव विनाश का ही था । वे द्वैत वन मे पहुँचे । द्वैत वन के एक प्रदेश में अत्यन्त रमणीय स्थान 'केलिवन' था । वहाँ विद्याधर आते और सुखोपभोग करते थे । उस रमणीय केलिवन में विद्याधर नरेश चित्रागद का एक भव्य भवन था, जो राज्य-प्रासादो से भी अत्यन्त आकर्षक और सभी प्रकार के सुख-साधनों से परिपूर्ण था । कुछ रक्षक उस भवन की रक्षा करने के लिए नियुक्त थे । दुर्योधन के अनुचरो ने उस रमणीय स्थान के विषय मे निवेदन किया तो वह उस भवन को प्राप्त करने के लिए ललचाया । दुर्योधन ने रक्षको को मारपीट कर भगा दिया और भवन पर अधिकार जमा कर रानी के साथ सुखोपभोग करने लगा ।

उधर अर्जुन को गन्धमादन पर्वत पर पहुँचा कर, विद्याधर - नरेश इन्द्र तथा चित्रागदादि लौटे और वन-विहार करते हुए स्व-स्थान के निकट जा रहे थे कि चित्रागद को नारदजी का साक्षात्कार हुआ । प्रणाम और कुशलमगलादि पृच्छा के बाद नारदजी ने पूछा,-

''वत्स ! तुम कहाँ गए थे ?''

- ''मैं अपने विद्यागुरु पाण्डवकुल-तिलक पूज्य अर्जुनजी को पहुँचाने गया था । वहाँ से लौट कर आ रहा हूँ ।''

- ''तुम्हारे गुरु पर सकट है । दुष्ट दुर्योधन उन्हें मारने के लिए सेना ले कर द्वैत वन मे गया है । यदि तुम अपने गुरु के लिए सहायक बन सको, तो यह ऋण-मुक्त होने का शुभ अवसर है'' - नारदजी ने कहा ।

चित्रागद ने नारदजी को प्रणाम कर अपने विद्याधर -साथियों और सेना के साथ दुर्योधन पर चढाई कर दी । वे सभी विमानों में बैठ कर प्रस्थान कर रहे थे कि केलिवनप्रासाद के रक्षक भी आ पहुँचे और दुर्योधन द्वारा भवन पर बलपूर्वक अधिकार कर लेने की घटना कह सुनाई । इस विशेष घटना ने चित्रागद की क्रोधाग्नि को विशेष भडकाया । उसके मित्र विचित्रागद चित्रसेन आदि भी अपने परिवल सहित आकाशमार्ग से केलिवन पहुचे और दुर्योधन को ललकारा । दुर्योधन की सेना शस्त्र ले कर विद्याधरों से भिड़ गई किन्तु थाडी ही देर में वह रणभूमि छोड़ कर भाग गई । फिर कई वीर पुरुष युद्ध-रत हुए और प्राणपण से लड़े, किन्तु विद्याधरो के मोहनास्त्र ने उन सब की शक्ति विलुप्त कर दी। मदमत्त की भाँति शस्त्र छोड कर रणभूमि में ही मूर्च्छित हो कर गिर पडे । इसके बाद वीरवर कर्ण आये । उधर विद्याधरपति भी शस्त्रसज्ज हो कर कर्ण से युद्ध करने आये । दोनों में लम्बे समय तक लोमहर्षक युद्ध हुआ । अन्त में विद्याधरपति ने कर्ण के मर्मस्थान में ऐसा प्रहार किया कि उसे भागना पडा । उसे भागते देख कर दुर्योधन, शकुनि आदि युद्ध करने लगे । घोर युद्ध हुआ । अन्त में विद्याधर ने घात लगा कर दुर्योधन और उसके प्रमुख सहायकों को बन्दी बना लिया ।

दुर्योधन की पत्नी पाण्डवों की शरण में

दुर्योधन के बन्दी होते ही कौरव-शिविर मे शोक छा गया । रानी भानुमती पर विपत्ति का पहाड टूट पडा । शोक का भार उतरने पर रानी ने सोचा – "इस समय वीरशिरोमणि पाण्डव ही इस सकट से उबार सकते हैं । वे महान् हैं, धर्मात्मा है और निकट ही ठहरे हुए हैं । मैं उनकी शरण में जाऊँ ।" इस प्रकार सोच कर भानुमती चल दी । पाण्डव-परिवार बैठा बाते कर रहा था । दूर से एक स्त्री को अपनी ओर आती देख कर विचार म पड गया – 'कौन स्त्री है – यह ? यहाँ क्यों आ रही है ? सभी की दृष्टि उसी और लग गई । भानुमती नीचा सिर किये हुए और मुँह ढके रोती हुई आई और कुन्तीदेवी के चरणो मे प्रणाम कर के युधिष्ठिर के चरणो मे झुकी और वहीं गिर गई । उन सब ने भानुमती का पहिचान लिया । कुन्ती और युधिष्ठिर बोले –

"बहुरानी ! तुम इस दशा मे यहाँ अकेली क्यों आई ? बोलो, शीघ्र बोलो ! तुम्हारी यह दशा किसने की ?"

हृदय का आवेग कम होने पर भानुमती बोली –

– "आपके बन्धु को विद्याधरो ने बन्दी बना लिया । वे यही निकट केलिवन में हैं । उन्हें छुडाइये, शीघ्र छुडाइये । मैं हताश हो कर आपके पास यह भीख माँगने आई हूँ । ज्येष्ठ ! हमारे अपराधो को भूल कर उन्हे छुडाइये । इस ससार में केवल आप ही उन्हें मुक्त करा सकते हैं । आपके सिवाय और कोई बचाने वाला नहीं हैं ।"

– "हा, महारानीजी अपने पति को छुडाने धर्मराज के पास पधारी है । परन्तु उस समय कहाँ लुप्त हो गई थी, जब भरी सभा में मेरा घोर अपमान किया था ? मेरे बाल पकड कर घसीटता हुआ वह मानवरूपी दानव सभा में ले गया था और मुझे नगी करने लगा था । तब तो तुम सब बहुत प्रसन्न हुए थे। अब किस मुँह से पधारी महारानीजी यहाँ" – द्रौपदी ने व्यग करते हुए कहा ।

– "नहीं बन्धुवर ! आप भावुक नहीं बने । उस दुष्ट को मरने दे । उस नीच ने हमारी यह दशा कर डाली । अब भी वह इस वन में हमारा शत्रु बन कर, हमें मिटाने के लिए ही आया होगा । अच्छा हुआ जो यहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसे उसके पाप का फल मिल गया" – भीमसेन ने कहा और अर्जुन आदि ने समर्थन किया । द्रौपदी और भीमसेन का विरोध सुन कर भानुमती हताश हो गई । उसने सोचा – "अब धर्मराज से सहायता नहीं मिल सकेगी ।" इतने म युधिष्ठिर बोले –

– "बन्धुओ ! आवेश छोडो और कर्त्तव्य का विचार करो । अब तक हम अपने धर्म का पालन करते रहे । विपत्तियाँ झेली, परन्तु धर्म नहीं छोडा । प्राणपण से निभाये हुए धर्म को हम आवेश में आ कर कैसे छोड सकते हैं ? नहीं, हम अपनी मर्यादा नहीं छोडेंगे । भले ही दुर्योधन ने हमारे साथ दुष्टता की और हमारा राज्य हड़प लिया । यह हमारा अपना पारस्परिक विवाद है । इससे कौटुम्बिकता नष्ट नहीं

हो सकती । यदि दूसरा कोई हमारे बन्धु को हानि पहुँचाना चाहे तो हम चुप नहीं रह सकते । दूसरो के लिए हम सब एक हैं । अर्जुन ! तुम जाओ भाई ! दुर्योधन को मुक्त कराओ ।"

"परन्तु बन्धुवर ! आप सोचिये"

"नहीं, नहीं, विवाद नहीं करना चाहिए । दुर्योधन से हमारा झगडा है, तो उसका बदला हम लेगे। अभी वह विपत्ति मे है और हमारा भाई । फिर उसकी रानी - हमारी बहुरानी - हमसे सहायता की याचना कर रही है । हमें इस समय अपने कर्त्तव्य को ही लक्ष्य में रखना है । जाओ, शीघ्र जाओ । विलम्ब नहीं करो । हम सब यहाँ परिणाम जानने के लिए उत्सुकतापूर्वक तुम्हारी राह देखेंगे ।"

अर्जुन ने दुर्योधन को छुड़ाया

युधिष्ठिर की आज्ञा होते ही अर्जुन उठा और एकान्त मे जा कर, एकाग्रतापूर्वक विद्या का स्मरण कर, विद्याधर नरेश इन्द्र को आकर्षित किया । इन्द्र ने विद्या के द्वारा अर्जुन का अभिप्राय जान कर एक विशाल विमान-सेना के साथ चन्द्रशेखर को अर्जुन के सहायतार्थ भेजा । अर्जुन सेना सहित केलिवन में पहुँचा । युद्धोपरान्त विद्याधर-गण विश्राम कर रहे थे । अर्जुन ने निकट पहुँच कर ललकार लगाई ।

"दुर्योधन को बन्दी बनाने वाले को मैं चुनौती देता हूँ । जो भी हो, शस्त्र-सज्ज हो कर शीघ्र ही सामने आवे ।"

दुर्योधन इस लक्ष्य को सुन कर प्रसन्न हुआ और विद्याधर चौंके । दोनों ओर की सेना लडने लगी। यह लडाई विद्याधरों में आपस में हो रही थी । दोनो ओर की सेना में शत्रुता का भाव नहीं था मात्र आज्ञापालन और विजय-श्री पाने के लिए ही वे युद्ध करने लगे थे ।

विद्याधर - पति चित्रागद के मन म प्रश्न उत्पन्न हुआ - "यह कौन आया - युद्ध करने ? उसकी शक्ति कितनी हैं ?"

उसने आक्रामक को पहिचाने का प्रयत्न किया । उसे अपने विद्यागुरु अर्जुनदेव दिखाई दिये । वह हर्षोन्मत्त हो उठा और युद्ध रोकने की आज्ञा दे कर, अर्जुन के निकट आकर प्रणाम किया । चित्रागद को देख अर्जुन को आश्चर्य हुआ । उसने पूछा - "तुम यहाँ कैसे और दुर्योधन को बन्दी क्यों बनाया ?"

- "महाभाग ! दुर्योधन तो आपका शत्रु है । आपके पूरे परिवार को समाप्त करने के लिए ही वह यहाँ आया और आते ही मेरे इस सुन्दर भवन पर अधिकार कर के क्रीडा करने लगा । मुझे नारदजी ने कहा कि - "दुर्योधन पाण्डव-परिवार को समाप्त करने के लिए द्वैत वन मे गया है ।" तब मैं सेना सहित यहाँ आया और युद्ध कर के उसे बन्दी बनाया । आप अपने घोर-शत्रु की सहायता करने आए, यह कितने आश्चर्य की बात है ?"

- "मित्र ! मेरे ज्येष्ठ-बन्धु युधिष्ठिरजी के पास दुर्योधन की पत्नी भानुमती आई और रो-रो कर

विराट नगर में अज्ञात वास+++ कीचक-वध

पाण्डवो के वनवास के बारह वर्ष पूर्ण हो चुके थे और अब एक वर्ष अज्ञात-वास (गुप्त) रहना था । युधिष्ठिरजी ने अज्ञात-वास की अपनी योजना बताई -

"बन्धुओ ! बीते हुए बारह वर्ष अधिकाश वन में बिताये । अब एक वर्ष हमें किसी नगर में सेवक के रूप में गुप्त रहना पडेगा । मेरा अनुमान है कि हमारा अनिष्ट चाहने वाले हमे वन में ही खोजेगे । वे सोचेंगे कि 'जब पाण्डव बारह वर्ष तक हमसे छुपे रहने के लिए वन में रहे, तब अज्ञात-वास तो वे किसी गहन और मनुष्य की पहुँच से बहुत दूर गिरी-कन्दरा म ही बितावेंगे और खाने-पीने के लिए फल आदि लेने को रात्रि के समय निकलेगे,' - इस प्रकार के विचार से वे हमें ढूँढने के लिए वनों पर्वतो और गुफाओं में भटकते रहेंगे । हमारा निवास किसी नगर में होने का तो वे अनुमान ही नहीं कर सकेंगे । हमें अपन नाम और रूप मे परिवर्तन करना होगा । शक्ति का गोपन और कषाय का शमन करना होगा ।"

"हम मत्स्य-देश के विराट नगर चलेंगे और अपनी सैनिक विशेषता को छाड कर अन्य विशेष योग्यता के कार्यो का परिचय दे कर राज्य मे स्थान प्राप्त करेंगे । हमें राजा और राज्याधिकारियो की मनोवृत्ति समझ कर उनके अनुकूल रहना और व्यवहार करना होगा । आवेश की झलक भी नहीं आने पावे, इसकी पूरी सतर्कता रखनी होगी । यह एक वर्ष, गत बारह वर्ष से भी अधिक कठिन रहेगा । यदि हमने अपनी समस्त वृत्तियों को धर्म के अवलम्बन से अकुश में रखा, तो निश्चय ही सफल होगे। अब अज्ञात-वास मे अपने नये नाम और काम बतलाता हूँ ।

१ मैं 'कक' नाम का पुरोहित बन कर विराट नरेश के समक्ष जाऊँगा और परामर्शक (सलाहकार) के रूप में अपना परिचय दूँगा ।

२ भीम का नाम 'बल्लव' होगा और यह एक निष्णात रसोइया बनेगा ।

३ अर्जुन का नाम 'बृहन्नट' (बृहन्नला) होगा और इसे सगीतज्ञ बनना होगा साथ ही अपने को षढ (नपुसक) प्रसिद्ध करना होगा, जिससे अन्त पुर में रह सके और द्रौपदी की रक्षा कर सके ।

४ नकुल का नाम 'तुरगपाल' होगा । यह अश्व-परीक्षक बनेगा ।

५ सहदेव का नाम 'ग्रथिक' होगा, यह गोपाल होगा ।

६ द्रौपदी का नाम 'सैरध्री' और काम होगा महारानी की सेविका का ।

७ मातेश्वरी को हम नगर के किसी भाग के एक घर में रखेंगे । ये स्वतन्त्र रहेगी और हम इनकी सेवा करते रहेंगे ।

यह तो हुआ हमारा जाहिर परिचय - जो हम पृथक् रहते हुए विभिन्न समय में राजा को देंगे और सर्व साधारण में प्रचलित रहेगा । किन्तु अपने गुप्त व्यवहार के लिए साकेतिक नाम क्रमश - "जय जयत, विजय

जयसेन और जयबल" होगा । हम सब के रूप और वेशभूषा भी विभिन्न प्रकार की होगी ।"

युधिष्ठिर जी की योजना सभी ने स्वीकार की । वे मत्स्य-देश के विराट नगर मे पहुँचे । उन्होने अपने अस्त्र-शस्त्र नगर के बाहर एक गुप्त स्थान मे छिपा दिये । सर्वप्रथम युधिष्ठिरजी, ब्राह्मण के वेश में राजा विराट के समक्ष पहुँचे । लम्बी शिखा, भव्य ललाट, उन्नत मस्तक, प्रशान्त एव तेजस्वी मुख-मण्डल और आकर्षक व्यक्तित्व । राजा को गुरु गभीर वाणी मे आशार्वाद दे कर कहा -

"राजेन्द्र ! मैं हस्तिनापुर का राजपुरोहित हूँ । मेरा नाम "कक" है । महाराजा युधिष्ठिरजी के वन-गमन के समय मैं भी राज-सेवा छोड कर निकल गया । मैं श्रीमान् की न्यायपूर्ण और सत्याश्रित राजनीति की प्रशसा सुन कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ । चाहता हूँ कि यह जीवन श्रीमन्त की सेवा में लगा दूँ । मैं हस्तिनापुर में महाराजा का परामर्शक था । यदि श्रीमान् का अनुग्रह हो जाय तो धन्य हो जाऊँ ।"

युधिष्ठिरजी के व्यक्तित्व दर्शन से ही राजा प्रभावित हो गया । उसने उसी समय उन्हे अपनी सभा का सभासद और अपना विशेष परामर्शक (सलाहकार) नियुक्त कर दिया । थोडी देर बाद भीमसेन आया । उसके हाथ मे एक बडा-सा कलछा (कडछा-चमच) था । उसने आते ही नरेश को अभिवादन किया और बोला - "महाराज ! मैं रसोइया हूँ । महाराजाधिराज युधिष्ठिरजी के शासनकाल में मैं हस्तिनापुर राज्य के विशाल भोजनालय के सैकडों रसोइयो का अधिकारी था । महाराज बड़े गुणज्ञ एव कलामर्मज्ञ थे । उनके राज्य - त्याग को मैं भी सहन नहीं कर सका और किसी वैसी ही स्वामी की सेवा प्राप्त करने के लिए भटकता रहा । अब तक मुझे वैसा कोई पारखी नहीं मिला । श्रीमन्त की यशोगाथा सुन कर मैं श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूँ । श्रीमन्त के दर्शन से ही मुझे विश्वास हो गया कि यहाँ मेरी कला आ आदर होगा ।"

राजा को भीम का प्रचण्ड शरीर और पुष्ट एव सुदृढ बाहु देख कर आश्चर्य हुआ वह बोला-

"तुम तो अतुल बलवान् और महान् योद्धा दिखाई दे रहे हो । हो सकता है कि तुम पाक-कला में भी प्रवीण हो । तुम्हारे जैसे वीर तो राज्य के बडे सहायक एव रक्षक हो सकते हैं । मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हे भोजनशाला का उच्चाधिकारी नियुक्त करता हूँ ।"

एकाध दिन के अन्तर में अर्जुन भी एक स्त्रीवेशी पुरुष के रूप में आया और नपुसक जैसी चेष्टा करता हुआ महाराज को प्रणाम कर के बोला -

"नराधिपति ! मैं सगीत-कला में पारगत हूँ । पाण्डु नरेश ने मुझे गान-वादन कला क आचार्य से शिक्षा दिला कर निपुण बनाया था और अन्त पुर की राजकुमारिया का सगीत-शिक्षक नियुक्त किया था। किन्तु जब दुर्योधन का चक्र चला और महाराजाधिराज युधिष्ठिरजी ने जुआ में राज्य हार कर वनवास लिया, तब राज्य में बडा क्षोभ व्याप्त हो गया । सगीत-शिक्षा बन्द हो गई । राज्य की डाँवाडोल स्थिति देख कर मैं भी वहाँ से चल दिया । इतना समय अन्य राज्यो में व्यतीत कर, अब

महाराज की शरण में आया हूँ । यदि मुझे भी कुछ सेवा का सुयोग मिल जाय, तो जीवन का कुछ काल यहीं बिता दूँ ।"

राजा को अपनी पुत्री राजकुमारी उत्तरा के लिए उच्चकोटि के सगीतज्ञ की आवश्यकता थी ही । फिर यह तो नपुसक भी था और नि सकोच अन्त पुर मे रखा जा सकता था । राजा ने तत्काल उसे रख लिया और अन्त पुर में भेज दिया ।

द्रौपदी महारानी सुदर्शना के पास पहुँची और प्रणाम कर के विनयपूर्वक बोली;-

"स्वामिनी ! मैं आजीविका के लिए आपकी शरण में आई हूँ । पहले हस्तिनापुर की महारानी द्रौपदी की सेविका थी । महारानी का शृगार करना मेरा कार्य था । वे मुझ पर बहुत प्रसन्न रहती थी और अपनी सखी के समान मानती थी । उनके वनवास गमन से मेरे हृदय को आघात लगा और मैं हस्तिनापुर छोड कर निकल गई । मेरे पति महाराजा युधिष्ठिरजी के साथ वन में चले गए । मैं अन्य राज्यो में भटकती हुई और अपने शील की रक्षा करती हुई आपकी शरण मे आई हूँ । मेरा नाम "सैरध्री" है । यदि आप मेरी सेवा स्वीकार करेंगी, तो मैं अपने शील की रक्षा करती हुई जीवन व्यतीत कर सकूँगी । पहले कुछ दिन मेरी सेवा देख लीजिये फिर स्थायी नियुक्त करियेगा ।"

द्रौपदी के चेहरे की आभा, शालीनता और कुलीनता के प्रभाव ने महारानी को प्रभावित कर लिया। उन्होने द्रौपदी को रख लिया, किन्तु उसे सावधान कर दिया कि 'जब महाराज अन्त पुर में पधारें तब तुम उनकी दृष्टि से ओझल रहना। अन्य दासियों के समान तुम महाराज के समक्ष नहीं आना।'

कामान्ध कीचक का वध

महारानी सुदर्शना पर विराट नरेश अत्यन्त अनुरक्त थे और उनकी प्रत्येक इच्छा का आदर करते थे । महारानी के एक सौ भाई वहीं रहते थे । 'कीचक' उन सब में बड़ा था और राजा के राजकाज में सहायक था । राजा, कीचक की बुद्धि और कार्यकुशलता से प्रभावित था । कीचक के भाई विराट नरेश की सौजन्यता का अनुचित लाभ ले कर नागरिकजनों पर अत्याचार करते थे । जनता उनके अत्याचार से पीडित थी । महाराज के कानों तक यह बात पहुँच चुकी थी, किन्तु वे उपेक्षा कर रहे थे । कीचक की दृष्टि द्रौपदी पर पडी और वह उसके रूप पर मोहित हो गया । उसने द्रौपदी को अपनी ओर आकर्षित करने की बहुत चेष्टा की । किन्तु द्रौपदी उससे उदासीन ही नहीं, विमुख रही । कीचक द्रौपदी को पाने के उपाय सोचने लगा । उसने अन्त पुर की एक दासी को द्रौपदी को प्राप्त करने का कार्य सौंपा । दासी ने द्रौपदी के पास पहुँच कर उसके रूप सौंदर्य की सर्वत्र होती हुई प्रशसा की चर्चा करती हुई उसे प्रसन्न करने की चेष्टा की और फिर कीचक के रूप-यौवन, बल और रसिकता की प्रशसा करती हुई उससे एक बार मिलने का आग्रह किया । द्रौपदी का क्रोध भडक उठा । एक स्त्री ही उसे दुराचार में घसीटने की चेष्टा करे, यह उसे सहन नहीं हुआ। उसने उस कुटनी को फटकारते हुए कहा -

"दुष्टा ! तू स्त्री-जाति का कलक है । तेरे स्पर्श से वायु भी दूषित हो जाती है । तेरा जीवन ही धिक्कार है । याद रख, तू और तेरा वह रसिक लम्पट, मेरा कुछ भी नहीं बिगाड सकते । मेरे गन्धर्व पति, गुप्त रह कर मेरी रक्षा करते हैं । यदि किसी ने मेरे साथ बलात्कार की चेष्टा की, तो उसका जीवन समाप्त हो जायगा । तू अपने उस लम्पट से कह देना कि भूल कर भी दु साहस नहीं करे और तू भी मुझसे दूर ही रहना ।"

द्रौपदी का क्रोध मे तमतमाया हुआ दीप्तिमान तथा राजतेज युक्त श्रीमुख देख कर दासी सहम गई। उसे लगा कि इस दासी के सामने तो राजमहिषी भी दासी के समान लगती है । वह वहाँ से हट गई और कीचक को असफलता का परिणाम सुना कर निराश कर गई । किन्तु कीचक की कुबुद्धि ने जोर लगा कर पुन उत्साहित किया है । उसने सोचा - "दासी के द्वारा आकर्षित करने से प्रच्छन्नता नहीं रहती । यदि दासी कहीं बात कर दे, तो निन्दा होने का भय रहता है और इससे सेवा से पृथक् भी की जा सकती है । कदाचित् इस भय से सैरध्री, दासी पर क्रुद्ध हुई हो । अब मुझे स्वय एकात मे उसे पकड कर अपना मनोरथ पूर्ण करना ठीक रहेगा ।"

दूसरे ही दिन कीचक ने द्रौपदी को एकान्त मे देखा और उसकी दुर्वासना भडकी । वह द्रौपदी के सामने पहुँचा और उसे पकडने का प्रयत्न करने लगा । द्रौपदी उससे बच कर राजसभा की ओर भागी और राजा से रक्षा करने की प्रार्थना की । उसने कहा -

"महाराज ! इस दुष्ट लम्पट से मेरी रक्षा कीजिए । मैं आपकी शरण में हूँ । यदि मेरे गन्धर्व पति यहाँ उपस्थित होते, तो इस दुष्ट का जीवन ही समाप्त हो जाता । मेरे पति अदृश्य रहते हुए मेरी रक्षा करते हैं । कदाचित् अभी वे कहीं चले गये हो । इसीलिए मैं आपकी शरण में आई हूँ ।"

विराट नरेश न्यायी थे, किन्तु कीचक के प्रभाव से दबे होने के कारण वे मौन रहे । कीचक की दुष्टता भीमसेन ने सुनी तो वह आवेशित हो कर राजसभा में पहुँचा और कीचक पर झपटने ही वाला था कि पुरोहित बन कर बैठे हुए युधिष्ठिर के सकेत से सभल गया और अपने को रोक लिया । राजपुरोहित बने हुए और "कक" नाम से विख्यात युधिष्ठिरजी ने द्रौपदी से कहा, -

- "भद्रे ! यदि तेरा कहना सत्य है और तेरे पति प्रच्छन्न रह कर तेरी रक्षा करते हैं, तो तू उन्हे कह कर दुष्ट को उसकी दुष्टता का दण्ड दिलवा सकती है । तुझे घबडाना नहीं चाहिये ।"

द्रौपदी समझ गई और सभा से चली गई । रात को सैरन्ध्री छुप कर भोजनशाला में गई । भीमसेन निद्रामग्न था । द्रौपदी ने उसे जगाया और उपालभ देती हुई बोली -

"आप में कुछ सत्वाश शेष रहा या सभी नष्ट हो चुका ? आपके देखते हुए एक लम्पट पुरुष आपकी अर्धांगना को प्राप्त करने के लिए आक्रमण करे और आप कायर के समान चुपचाप देखते रहे,

यह कितनी लज्जा की बात है ? मुझे स्वप्न में भी यह आशका नहीं थी कि आप जैस वीर पाँच पति की पत्नी हो कर भी मैं असुरक्षित रहूँगी । कहाँ लुप्त हो गई थी आपकी वह वीरता ? कहाँ भाग गया था वह शौर्य ? खडे-खडे एक मूर्ति की भाँति क्यों देखते रहे – मेरा अपमान ?''

''देवी ! तुम्हारा उपालम्भ और भर्त्सना यथार्थ है । हम पाँच योद्धाओ के होते हुए और हमार देखते हुए तथा तुम्हारा अपमान होते हुए भी हम निष्प्राण शव की भाँति कुछ भी नहीं कर सके एक बार नहीं दो-दो बार भी सभ ये । एक हस्तिनापुर में दु शासन द्वारा और दूसरा यहाँ । मैं कीचक का कचूमर बनाने को तत्पर हुआ ही था कि ज्येष्ठ-बन्धु धर्मराजजी ने आँख से सकेत कर के मुझे रोक दिया । उनके कथन का आशय कीचक को गुप्त रीति से दण्ड देने का है । तुम्ह जो परामर्श उन्होंने सभा में दिया उसका यही आशय है । अब तुम कीचक को आकर्षित करो और उसे मध्य रात्रि में नाट्यशाला मे आने का कहो । इसके बाद तुम्हारा वेश मुझे दे देना और निश्चिन्त हो जाना । मैं तुम्हारा वेश धारण कर के कीचक का कीचड बना दूँगा । तुम कल ही उसे मोहित कर के नाट्यग्रह में भेजो । उस दुष्ट को करणी का फल मिल जायगा ।''

द्रौपदी सतुष्ट हो कर लौटी । दूसरे दिन द्रौपदी चाह कर कीचक के दृष्टिपथ मे आई और उसके सामने स्मित एव कटाक्षपूर्वक देखा । कीचक के लिए इतना ही पर्याप्त था । वह उत्साहपूर्वक द्रौपदी के पीछे चला । एकान्त पा कर द्रौपदी ने कहा – ''यदि मुझे प्राप्त करना है तो आधी रात के समय नाट्यग्रह में आओ । मैं वहाँ तुम्हे देख कर उठ जाउँगी और एकान्त स्थान पर चल देंगे ।'' इतना कह कर द्रौपदी चल दी । उसके मुख से ये शब्द सरलता से नहीं निकल सके और न वह कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन ही कर सकी । वास्तव म सतियों के लिए प्रेम का बाह्य-प्रदर्शन भी अत्यत कठिन होता है । कीचक को द्रौपदी की बात अमृत जैसी मधुर और स्वर्ग का राज्य पाने जैसी उल्लासोत्पादक लगी । वह उसी समय से मन के मोदक बनाता और मन ही मन प्रसन्न होता हुआ रात की तैयारी करने लगा । उसके लिए घडियाँ भी वर्ष के समान बितने लगी । आधी रात के समय कीचक नाट्यशाला म पहुँचा । भीम स्त्री वेश में वहाँ पहले से ही उपस्थित था । कीचक को देखते ही वह उठा और पूर्व ही देख कर निश्चित किये हुए शून्य स्थान की ओर चला । कीचक उसके पीछे लगा । यथास्थान पहुँच कर भीम ने कीचक को बाहो मे लिया और इस प्रकार भींचा कि उसकी हड्डियो तक का कचूमर बन गया और प्राण निकल गए । उसे वहीं पटक कर भीम पुन वेश पलट कर अपने स्थान पर आ कर सो गया । प्रातःकाल कीचक का शव देख कर हाहाकार मच गया । अन्त पुर म कुहराम छा गया । महारानी का वह भाई था । कीचक के सभी भाई क्रुद्ध हो कर घातक से वैर लेने को तत्पर हो गए । बहुत खोज करने पर भी घातक का पता नहीं लग सका । क्रुद्ध भाइयों ने कीचक की हत्या का कारण सैरध्री को

माना और उसे भाई के साथ जीवित जलाने के लिए पकड कर शव-यात्रा के साथ श्मशान ले चले । द्रौपदी रोती-चिल्लाती रही और महाराजा देखते रहे, पर न्याय करने का साहस नहीं हुआ । जब भीमसेन ने यह सुना तो वह दौडता हुआ आया । शव-यात्रा नगर से निकल कर वन मे चल रही थी । भीमसेन ने आगे बढ कर रोक लगाई और दहाडते हुए पूछा -''इस स्त्री के सिर, हत्या प्रमाणित हो गई है क्या ?''

-''चल हट रास्ते से । बडा आया है पूछने वाला'' - कीचक का भाई बोला ।

- ''यदि अपराध प्रमाणित नहीं हुआ, तो इसे दण्ड नहीं दिया जा सकता । छाडों इसे'' - भीम ने रोषपूर्वक कहा - ''एक निर्दोष और सती-महिला का शील-भग करने वाले अधमाधम को दण्ड देने के बदले तुम निरपराध महिला को उस लम्पट के साथ जीवित जलाने ले जा रहे हो ? इस धर्मराज में ऐसा घोर अन्याय कर के महाराजाधिगज के शासन को कलकित होते मैं नहीं देख सकता । छोडा इसे, अन्यथा तुम सभी की शवयात्रा इस कीचक के साथ ही निकलेगी ।''

कीचक के भाई भीमसेन पर झपटे । निकट के एक वृक्ष को उखाड कर भीम, कीचक-यन्धुओं का मारने लगा । कुछ मगे और कुछ घायल हो कर भाग निकले । द्रौपदी मुक्त हो कर अन्त पुर में पहुँच गई । भीम भोजनशाला मे आ पहुँचा ।

जय महारानी ने सुना कि भोजनशाला के अध्यक्ष वल्लव ने कीचक-यन्धुओ म से कई को मार डाला और शेष को घायल कर दिया तव वह महाराज के पास पहुँची और भाइयो का वैर वल्लव से तत्काल लेने का आग्रह करने लगी । राजा ने गनी को समझाया कि - ''अपराध तुम्हारे भाइयो का ही है । उन्हें दण्ड दना मेरा कर्त्तव्य था । मैने तुम्हार प्रम के वशीभूत हो कर कर्त्तव्य का पालन नहीं किया तभी इतना अनर्थ हुआ । वल्लव न तो एक निर्दोष सती की हत्या के पाप को राकन का कार्य किया है । उसका साहस प्रशसनीय है । वह राज्य का रक्षक है । उसका सम्मान होना चाहिए । फिर भी तुम्हारे स्नेह के कारण मैं हस्तिनापुर से आये हुए मल्लराज से उसे लडा कर उसका दमन कराऊँगा । तुम चिन्ता मत करो । ।''

हस्तिनापुर से ''वृपकर्पर'' नाम का एक मल्ल अपनी विजय-यात्रा करता हुआ और मार्ग के नगरों को पराजित कर के राज्य से विजय-पत्र प्राप्त करता हुआ विराट नगर में आया था और वहाँ के मल्लों से लड़ कर विजय प्राप्त कर चुका था । महाराजा ने वल्लव (भीमसेन) से कुश्ती लड़ने का आदेश दिया । दोना का मल्लयुद्ध हुआ और अन्त में वल्लव ने वृपकर्पर को मार कर विजयश्री प्राप्त की । वल्लव की विजय से विराट नरेश अत्यत प्रसन्न हुए और वल्नव को राज्य का महान् रक्षक मान कर आदर किया । राजा क समझाने से रानी भी सतुष्ट हुई । नगरजन भी कीचक-यन्धुआ के विनाश म प्रसन्न हुए । क्योंकि उनके अत्याचार से नागरिकजन भी दु खी थ ।

गो-वर्ग पर डाका और पाण्डव-प्राकट्य

जब हस्तिनापुर का विश्वविजेता महान् मल्ल वृषकर्पर को भीमसेन ने पछाड़-मारा और यह बात दुर्योधन तक पहुँची तो उसने निश्चय हो गया कि पाण्डव विराट नगर म ही हैं । पाण्डव-प्रकाश क अनेक उपायो मे से एक यह भी था । वह जानता था कि मल्लराज वृषकर्पर की गर्वोक्ति, भीम सहन नहीं कर सकेगा और इससे वह जहाँ भी होगा प्रकट हो जायेगा । दुर्योधन ने तत्काल एक योजना बनाई और कार्य प्रारम्भ किया । उसने विराट नगर के निकट के राजा सुशर्मा को सेना ले कर भेजा और विराट-राज के दक्षिण के वन मे रहे हुए विशाल गोधन को लुटवाया । सुशर्मा ने बाण मार कर ग्वालों का भगा दिया और सभी गायो को अपने अधिकार म कर के ले चला । ग्वाले भागते हुए राजा के पास आए और गो-वर्ग लूट जाने की पुकार मचाई । राजा तत्काल सेना ले कर चढ-दौड़ा । राजा क साथ,अर्जुन के अतिरिक्त चारों पाण्डव अपने छुपाये हुए शस्त्र ले कर गये । अर्जुन अन्त पुर मे था और पुरुषत्वहीन के रूप म पसिद्ध था । इसलिए इसके जाने का अवसर ही नहीं था । दोना ओर की सेना में युद्ध छिड गया और बढते-बढते अग्रतम स्थिति तक पहुँचा । सुशमा की सेना के पाँव उखड गये । वह पीछे हटने लगी । अपनी सेना का साहस गिरता देख कर सुशर्मा आगे आया । जब उसकी भीषण बाण-वर्षा से विराट-सेना आहत एव क्षुब्ध हो कर भागने लगी तब विराट नरेश सुशर्मा के सम्मुख आ कर लडने लगे । दोनो वीर बडी देर तक लडते रहे, परन्तु किसी को विजयश्री पाप्त नहीं हुई । उनके अस्त्र चुक गये, तो वे रथ से उतर कर मल्ल युद्ध करने लगे । अन्त में सुशर्मा ने विराट नरेश के मर्मस्थल पर प्रहार कर के उन्हें गिरा दिया और बन्दी बना कर अपने रथ में डाल गिया । विराट नरेश को बन्दी बना देख कर युधिष्ठिर ने भीम को आदेश दिया – "वत्स । जाओ विराट नरेश को मुक्त कराओ । हम इनके आश्रित है । हमारे हाते इनका अनिष्ट नहीं होना चाहिए ।"

भीमसेन नकुल और सहदेव के साथ शस्त्र ले कर सुशर्मा को ललकारते हुए आगे बढे । उसका प्रचण्ड रूप देखते ही सुशर्मा की विजयघोष करने वाली सेना डरी और इधर-उधर हट गई । भीमसेन ने अपनी गदा का प्रथम प्रहार शत्रु के रथ पर किया । रथ टूट कर बिखर गया । फिर सुशर्मा से लड कर थोडी ही देर में घायल कर दिया । सुशर्मा भीम से डर कर भाग खड़ा हुआ । विराट नरेश को बन्धन-मुक्त और अपने उपकार के पाश में आबद्ध कर के भीमसेन ने गो-वर्ग लौटाया । विराट नरेश बन्दी बन कर सर्वथा निराश हो चुके थे । उन्हें बन्धन से मुक्त होने की आशा ही नहीं रही थी । व मृत्यु की कामना कर रहे थे । ऐसे समय में अपने को मुक्त कराने वाले के प्रति उनका कितना आदर

भाव होगा ? मुक्त होते ही उन्होंने अपना राज्य इन उपकारियों को भेट करने की इच्छा व्यक्त की । किन्तु वे विराट नरेश के पुण्य-प्रभाव का गुणगान करते हुए उनका विजयघोष करते रहे । सेना विजयोल्लास में उल्लसित हो कर लौटी ।

जब विराट नरेश सुशर्मा पर चढाई करने चले गये और राजकुमार उत्तर कुछ सैनिको के साथ राजधानी मे रहा तब उत्तर-दिशा का सीमा-रक्षक दौडता हुआ आया और बोला -

"हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ने विशाल सेना और कर्णादि योद्धाओं के साथ अपनी सीमा मे प्रवेश किया है और गो-वर्ग ले जा रहा है । इन दुष्टा से अपने गोधन और राज्य की रक्षा करो ।"

राजकुमार उलझन में पड गया । उसके पास पूरी सेना भी नहीं थी । वह क्या करे ? वह वीर था। अपने थोडे-से सैनिको को ले कर वह शत्रु का सामना करने को तैयार हुआ । अर्जुन समझ गया कि दुर्योधन की कूटनीति का रहस्य क्या है उत्तरकुमार शस्त्र सज कर तैयार हो गया, किन्तु उसके पास कुशल रथ-चालक नहीं था । उसे वैसा सारथी चाहिए जो युद्ध की चाल के अनुसार रथ चलाता रहे । यह चिन्ता की बात थी । महारानी भी इस चिन्ता में डूबी हुई थी । उस समय सैरंध्री नाम की दासी के रूप मे द्रौपदी ने महारानी और राजकुमार से कहा - "राजकुमारी का सगीत-शिक्षक बृहन्नट बहुत ही कुशल एव अनुपम सारथि है । मैने उसे पाण्डवो के राज्यकाल में रथ चलाते देखा है । आप उसे ले जाइए ।"

सैरन्ध्री की बात महारानी और राजकुमार को सन्देहजनक लगी । "जो पुरुषत्व से हीन है, वह भीषण-युद्ध के समय साहस ही नहीं रख सकता और न टिक ही सकता है । उससे रथ कैसे चलाया जा सकता है ?" फिर भी दूसरे के अभाव में सैरन्ध्री की बात मान कर बृहन्नट को रथ-चालक बनाया। बृहन्नट भी अपने शस्त्र ले कर रथ पर चढ बैठा और राजकुमार का ले कर युद्धभूमि में आया ।

विराट नरेश ने युद्धभूमि से लौटते ही जब दुर्योधन के आक्रमण और युवराज के युद्ध में जाने की घटना सुनी तो उसके हृदय को भारी आघात लगा । वह हताश हो कर बोला- "हा दुर्दैव ! कहाँ कौरवो की महासेना और कहाँ थोडे-से सैनिकों के साथ मेरा प्यारा पुत्र ? महा दावानल मे वह एक पतंगे के समान है । हे प्रभो ! अब क्या होगा ?"

सैरन्ध्री ने बृहन्नट के शौर्य और वीरता की प्रशसा की और राजा को निश्चिंत रहने का निवेदन किया । किन्तु राजा को विश्वास नहीं हुआ । जब युधिष्ठिरजी ने आ कर विश्वास दिलाया कि - "महाराज ! बृहन्नट साथ है तो वह एक ही उस महासेना के लिए पर्याप्त है, जैसा कि बल्लव है ।

आप मेरी बात पर विश्वास रखिये । युवराज को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी और वे विजयी हो कर लौटेंगे ।"

पुरोहित के शब्दो ने राजा की चिन्ता मिटा दी । उन्हें सन्तोष हुआ और घबडाहट मिटी ।

उधर रणभूमि मे दुर्योधन, कर्ण, द्रौणाचार्य, भीष्मपितामह आदि महान् योद्धाओं और विशाल सेना को देख कर उत्तरकुमार का साहस समाप्त हो गया । उसने सारथि से कहा,-

"रथ मोडो । इस महासागर में हम एक बिन्दु भी नहीं हैं । हमारे विनाश के सिवाय दूसरा कोइ परिणाम नहीं हो सकता । चलो लौटो ।"

- "नहीं युवराज ! क्षत्रिय हो कर मृत्यु से डरते हो ? अपमानित जीवन ले कर कौनसा सुख पा सकोगे ? मरना तो कभी-न-कभी होगा ही, फिर कायरता का कलक और कुल को कालिमा लगा कर मरना कैसे सह सकोगे ? अच्छा, तुम रास थाम कर सारथि बनो । मैं युद्ध करता हूँ ।"

कुमार सारथि बना और बृहन्नट स्त्रीवेश छोड कर युद्ध करने लगा । उसके युद्ध पराक्रम को देख कर कुमार आश्चर्य करने लगा । वह सोचता - "यह कोई विद्याधर है, देव है, या इन्द्र है ? बड़ी भारी सेना को तृणवत् गिन कर सब को रौंदने वाला यह कोई साधारण मनुष्य या नपुसक कदापि नहीं हो सकता । उसके गाण्डीव धनुष की टकार सुन कर द्रोणाचार्य और भीष्म-पितामह आदि कहने लगे - 'यह तो अर्जुन ही होना चाहिए । अर्जुन के अतिरिक्त इतना दुर्द्धर्ष साहस एव वीरता अन्य किसी में नहीं हो सकती ।"

धनुष की टकार और ये शब्द सुन कर युवराज में साहस बढा । वह रथ को अर्जुन की इच्छा एव आवश्यकतानुसार चलाने लगा । रथ जिधर और जिस ओर जाता उधर आतक छा जाता और सेना भाग जाती । बडे-बडे योद्धा भी काँप उठते । अर्जुन की मार का अर्थ वे प्रलय की आँधी और विनाशकारी विप्लव लगाते । अर्जुन की भीषण मार को द्रौणाचार्य और भीष्मपितामह जैसे महावीर भी नहीं सह सके और अग्रभाग से हट गये, तो दूसरों का कहना ही क्या है ? दुर्योधन ने कर्ण को अर्जुन से लडने के लिए छोड कर, स्वय सेना के साथ गायों का झुण्ड ले कर चलता बना ।

कर्ण और अर्जुन का युद्ध बहुत समय तक चला । दोनों वीर अपनी पूरी शक्ति से लडते रहे । कर्ण के सारथि ने कर्ण से कहा - "दुर्योधन गो- वर्ग ले कर चला गया है । अब युद्ध करने का कारण नहीं रहा । अत अब हमें भी लौट जाना चाहिए ।" किन्तु कर्ण नहीं माना । अर्जुन की मार बढती गई। अन्त मे घायल सारथि ने अकुला कर रथ मोडा और कर्ण को ले कर युद्धस्थल से निकल गया । अब अर्जुन ने युवराज से कहा - "दुर्योधन गायें ले कर चला गया है । अत रथ को

उसके पीछे लगाओ और वेगपूर्वक चलो ।" थोडी ही देर मे दुर्योधन के निकट आ कर अर्जुन ने ललकारा । युद्ध जमा । अर्जुन के मन में दुर्योधन को मारने की इच्छा नहीं थी । इसलिए उसने प्रस्वापन विद्या का स्मरण कर बाणवर्षा की, जिससे सारी सेना और दुर्योधन के हाथ से शस्त्र गिर गए और वे सब निद्राधीन हो गए । अर्जुन ने गो-वर्ग को स्वस्थान की ओर मोडा और सभी गायें भाग कर स्वस्थान पहुँच गई । अर्जुन और राजकुमार भी राजधानी लौट आए । अर्जुन तो पुन स्त्रीवेश धारण कर अन्त पुर मे चला गया और युवराज राजा के पास पहुँचा । राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और हर्षावेग कम होने पर पूछा,- "पुत्र । मैं तो हताश हो गया था । मुझे तुम्हारे सकुशल लौटने की किंचित् भी आशा नहीं थी । यह कोई दैविक-चमत्कार ही है । अन्यथा कौरव-बल रूपी महासागर में तुम एक तिनके के समान थे । कहो, तुम किस प्रकार विजयी बने ?"

"पिताश्री ! मैं क्या कहूँ । मैं तो उस महासागर को देख कर डर गया था और लौटना चाहता था, किन्तु मेरे सारथि बने हुए बृहन्नट ने मुझे फटकारा और स्वय ने स्त्री-वेश उतार कर शस्त्र उठाये। मैं सारथि बना और यह महापुरुष युद्ध करने को तत्पर हुआ । उसके धनुष की टकार स ही बड़े-बडे वीरों के हृदय दहल गए । उनका उत्साह मारा गया और आगे खडे हुए द्रौणाचार्य, भीष्मपितामह आदि के मुँह से उद्गार निकले कि,- "यह तो अर्जुन है ।" वे आगे से हट कर एक ओर खडे हो गए । इस वीर के युद्ध-कोशल को मैं कैसे बताऊँ ? मैं उसका सर-सधान ही देख सका और बाण-वर्षा से छाई हुई घटा तथा शत्रुओं के शरीर से रक्त के निकलते हुए झरनो को देख सका । परन्तु बाण छोडना और पुन बाण ग्रहण करना नहीं देख सका । पिताजी । यह वीरवर पाण्डु-कुल तिलक अर्जुनदेव ही होगा और किसी कारण अपने को गुप्त रख कर हमारे यहाँ रहता है । उसने अपने को छुपाये रखने के लिए मुझ से कहा है कि - 'महाराज या किसी के भी सामने मेरा नाम नहीं लेना और अपना ही युद्ध-पराक्रम बतलाना ।' किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सका और आपको सच्ची बात बता दी । यह महापुरुष तो हमारे लिए देव के समान पूज्य है । उसने हमार गौरव और जीवन की रक्षा की है । हमें तो यह सारा राज्य ही उसका अर्पण कर देना चाहिए ।"

"पुत्र । मैं तो पराजित हो कर बन्दी बन चुका था । यदि अपना प्रधान रसोइया वल्लव नही होता, तो मैं भी नहीं होता । वास्तव मे ये लोग हमारे सेवक नहीं स्वामी हैं । हमें इनकी पूजा कर के इनके चरणों म राज्य सहित अपने को अर्पण कर देना चाहिए ।"

विराट द्वारा पाण्डवों का अभिनन्दन

राजा ने बृहन्नट को अन्त पुर से बुलवाया । वह उसी स्त्री-वेश मे राजा के निकट आया । राजा उसके चरणो मे गिर पडा और आग्रहपूर्वक बोला - "देव ! अब इस छद्मवेश को उतार फेंकिये और सिहासन पर विराजकर राज्याभिषेक करवाइये ।"

अर्जुन ने कठिनाई से राजा से अपने पाँव छुडाये और कहा - "आपके राजपुरोहित ककदेव को बुलाइये । वे हमारे अग्रगण्य एव पूज्य है ।" युधिष्ठिरादि चारों बन्धु आये । राजा ने उन सब को उच्चासन पर बिठा कर सत्कार किया और राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगा । युधिष्ठिरजी ने कहा -

"महाराज ! आप स्वामी हैं । अपनी शक्ति के अनुसार आपकी प्रत्येक प्रकार से सेवा करना हमारा कर्तव्य था । हम अपने समक्ष आपका अनिष्ट नहीं देख सकते थे । हमने जो कुछ किया, अपना कर्त्तव्य समझ कर किया है । हमें अपना एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत कने के लिए आपका आश्रय लेना पडा । आपके आश्रय में हमारा एक वर्ष व्यतीत हो चुका है । अब हमें प्रकट होने में कोई बाधा नहीं रही । हम पाँचो भाई हस्तिनापुर नरेश महाराजाधिराज पाण्डु के पुत्र हैं । जुआ में राज्य हार कर बारह वर्ष वनवास रहे और एक वर्ष अज्ञातवास का यहाँ व्यतीत किया । अब हम पुन हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे । आपके अन्त पुर में सैरन्ध्री नामकी दासी है, वह हमारी पत्नी द्रौपदी है । हमारी मातेश्वरी नगर के एक घर मे रह रही है । हम सब आपके आभारी हैं कि आपके आश्रय से हमारा विपत्तिकाल टल गया । आपके राज्य की हमें आवश्यकता नहीं है । आप न्याय-नीतिपूर्वक अपना राज्य चलाते रहें ।"

विराट नरेश ने पाण्डवो का अपूर्व सम्मान किया । उन्हें दासता से मुक्त ही नहीं किया वरन् स्वामी के रूप मे और स्वय को उनका सेवक बताते हुए उन्हे राज्यभर के परमादरणीय परम-रक्षक घोषित किया और अब वे राज्य के परम मान्य अतिथि बन चुके थे । द्रौपदी अब सेविका नहीं रही । महारानी स्वय उसकी सेवा करने लगी । कुन्ती माता भी सम्मानपूवक राज-प्रासाद में लाई गई और सर्वत्र हर्ष छा गया ।

अभिमन्यु-उत्तरा परिणय

विराट नरेश पर पाण्डवों के महान् उपकार का भारी भार लदा हुआ था । वे इस उपकार से कुछ अशों में भी उऋण होना चाहते थे । उन्होंने युधिष्ठिरजी से कहा -

"मेरी प्रिय पुत्री उत्तरा को अर्जुनजी ने सगीत की शिक्षा दी है । कृपया मेरी पुत्री अर्जुनजी के लिए स्वीकार करें, तो मैं अपने को कुछ अशों में उपकृत मानूँगा ।"

-"राजन् ! उत्तरा तो मेरी शिष्या हो चुकी है । मैने उसे शिक्षा दी है । अतएव पुत्री-तुल्य शिष्या से विवाह मैं नहीं कर सकता । यदि आपको देना ही है, तो मेरे पुत्र और सुभद्रा के आत्मज 'अभिमन्यु' को दीजिये" - अर्जुन ने कहा -

अर्जुन की बात विराट नरेश को स्वीकार हो गई और युधिष्ठिरजी आदि बन्धुओ की भी सम्मति प्राप्त हो गई ।

अभिमन्यु का विवाह राजकुमारी उत्तरा के साथ हाना निश्चित हो गया । युधिष्ठिरजी ने एक विश्वस्त दूत द्वारिका भेजा और सुभद्रा तथा अभिमन्यु को बुलाया, साथ ही श्रीकृष्ण को भी सपरिवार निमन्त्रित किया । श्री कृष्णादि सभी विराटनगर आये । उनका पाण्डव - परिवार से बहुत लम्बे काल के बाद हुआ मिलन, अत्यन्त प्रेमपूर्वक तथा अवर्णनीय था । शुभ मुहूर्त मे उत्तरा के साथ अभिमन्यु का लग्न, बडे समारोहपूर्वक हुआ । लग्न के बाद भी पाण्डव-परिवार और श्री कृष्ण बहुत दिनो तक विराट नरेश के आग्रह पर, वहीं रह कर आतिथ्य ग्रहण करते रहे । श्रीकृष्ण के आग्रह पर पाण्डव-परिवार द्वारिका आया । दशार्हों ने बहिन कुन्ती का स्वागत किया । वे सभी सुखपूर्वक रहने लगे ।

पति को वश करने की कला

एक समय सत्यभामा ने द्रौपदी स पूछा-

"सखी ! मैं तो अपने एक पति को भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं रख सकती, तब तुम पाँच पति को सतुष्ट किस प्रकार कर सकती हो ? विभिन्न प्रकृति के पुरुषा को प्रसन्न एव सतुष्ट रखना कितना कठिन पडता होगा ?"

"सखी ! मुझे मेरी माता ने पति का वश में करने का मन्त्र दिया था । तदनुसार मैं साधना करती रही और इससे मेरे पाँचों पति मेरे वश में हैं । मैं सदैव मन, वचन और काया से पति के अनुकूल रहती हूँ । मैं उनका समान रूप् से, बिना किसी भेद-भाव के आदर-सत्कार करती हूँ और उनकी इच्छा क अनुसार व्यवहार करती हूँ । मैं अपने को उनमे ही समाविष्ट कर उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखती हूँ । उनके सुख में अपना सुख और उनके दु ख मे स्वय दु ख का वेदन करती हूँ । उन्ह भोजन कराने के बाद खाती हूँ । उन्ह शयन कराने के बाद सोती हूँ और उनके जागने के पहले ही शय्या छोड देती हूँ। मैं उन्हें असताप का कोई कारण नहीं देती । सक्षेप में यही कि मेरी ओर स ऐसा कोइ व्यवहार नहीं होने देती, जिससे उनमें से किसी एक के भी मन मे भेदभाव का सन्देह उत्पन्न हो । इस प्रकार के आचरण से सभी सतुष्ट और मुझ में अनुरक्त रहते हैं । पति के सर्वथा अनुकूल बन जाना ही वशीकरण का अमोघ उपाय है" -द्रौपदी ने कहा ।

-"तुम्हारी साधना सचमुच कठोर है । अपने-आपको सर्वथा गौण कर लेना अति कठिन है"-सत्यभामा ने कहा ।

दशार्ह-ज्येष्ठ श्री समुद्रविजयजी ने अपनी बहिन कुन्ती से कहा - "अर्जुन को तो हमने सुभद्रा पहले ही देदी थी, परन्तु अब शेष चारों बन्धुओं को - लक्ष्मीवती वेगवती विजया और रति को देना चाहते हैं।" कुन्ती ने स्वीकार किया और चारों के लग्न हो गए।

दुर्योधन को सन्देश

पाण्डव-परिवार द्वारिका में सुखपूर्वक रह रहा था। युधिष्ठिरजी भी सन्तोषपूर्वक काल व्यतीत कर रहे थे, किन्तु भीम और अर्जुन को सन्तोष नहीं था। उन्होंने श्री कृष्ण को प्रेरित किया। उन्होंने द्रुपद नरेश के पुरोहित को - जो अत्यन्त चतुर था - सन्देश ले कर हस्तिनापुर भेजा। दुर्योधन की सभा जुड़ी हुई थी। उस समय दूत ने उपस्थित हो कर महाराज दुर्योधन का अभिवादन कर के कहा -

"राजन् ! आपके बन्धु पाँचों पाण्डव अभी द्वारिका में हैं और उन्होंने मेरे साथ आपको सन्देश भिजवाया है कि - हम बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात रह चुके और अपना वचन निभा चुके हैं। अब आपको हमें आमन्त्रित कर के अपने वचन का पालन करना चाहिए। न्याय-नीति सदाचार एवं वचन का पालन करना तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, फिर आप तो न्याय-नीति एवं सदाचार का पालन ही नहीं, रक्षण भी करने वाले कुरुकुल - तिलक हैं। सभ्यता का सिद्धांत है कि छोटा भाई बड़े को आमन्त्रित करके सम्मान करे। अब आपको इस शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए।"

दूत की बात सुन कर दुर्योधन तप्त हो गया। उसकी भृकुटी चढ़ गई होठ काँपने लगे आँखें और चेहरा रक्तिम हो गया। वह रोषपूर्वक बोला -

"पुरोहित ! तू बड़ा वाचाल है। तुझे अपनी बात संक्षेप में ही कहनी थी। अपनी ओर से उपदेश दे कर नीति सिखाने की आवश्यकता नहीं थी। अब मेरा उत्तर सुन। तू मेरी ओर से उन्हें कहना कि -

"इस प्रकार भीख माँगने से राज्य नहीं मिलता और ऐसे भटकते-भिखारियों को राज दिया ही नहीं जा सकता। उनके लिए हस्तिनापुर राज्य से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। यदि उन्होंने किसी प्रकार का दुस्साहस किया, तो बिना-मौत के मारे जावेंगे। मैं उन्हें कुचल दूँगा। उनके सहायक कृष्ण को भी मैं कुछ नहीं समझता। यदि वह भी अपनी बूआ और बहिन के कारण उनका साथी बनेगा, तो इसका फल उसे भी भोगना पड़ेगा।"

दुर्योधन के वचन पुरोहित सहन नहीं कर सका। उसने कहा -

"राजन् ! विवेक मत छोड़ो। पाण्डव महान् हैं। न्याय-नीति और सत्य उनके जीवन में रग-रग में समाये हुए हैं। यद्यपि वे धोखा दे कर ठगे गए, तथापि अपने वचन पर दृढ़ रहे और राज्य छोड़ कर निकल गए और एक आप हैं जो अपने दिये हुए वचन से फिर कर, कुरु-वंश को कलंकित कर रहे हैं। पाण्डवों के बल के सामने आप तुच्छ हैं और त्रि-खण्डाधिपति श्रीकृष्ण के प्रति आपकी क्षुद्र-भावना तो चिढ़े हुए बालक जैसी है। यह अपना सद्भाग्य समझो कि उन्होंने आपकी ओर वक्र-दृष्टि नहीं की।

अन्यथा आपका इस प्रकार हस्तिनापुर के राज-सिहासन पर बैठा रहना और जीवित यचना असभव हो जाता । आप पाण्डवो के शौर्य और श्रीकृष्ण के पराक्रम को जानते हुए भी विवेकहीन हो कर बक रहे हैं। यद दुर्देव का सकेत लगता है ।"

-"बस कर, ऐ वाचाल दूत ! अपनी सीमा से बाहर क्या जा रहा है । नीच, अधम ! मृत्यु का भय नहीं है, क्या तुझे ? प्रहरी ! निकालो, इस क्षुद्र वाचाल को ।"

दूत को राजसभा से अपमानपूर्वक निकाल दिया गया । दूत से दुर्योधन का अभिप्राय जान कर श्री कृष्ण ने कहा,-

"दुर्योधन वीर है, हठी और स्वार्थी है । बिना युद्ध के राज्य देना वह कायरता मानता है । हठी मनुष्य टूट जाता हैं परन्तु झुकता नहीं । अव वह शक्ति से ही झुकेगा, या टूट जायगा । अब आपको अपना कर्त्तव्य सोचना चाहिए ।"

श्रीकृष्ण की बात सुन कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव उत्तेजित हो कर युधिष्ठिरजी से युद्ध की तैयारी करने के लिए आज्ञा देने का आग्रह करने लगे ।

युधिष्ठिर जी ने कहा -

"बन्धु-वध और नर-सहार करने के लिये मेरा मन तत्पर नहीं होता । युद्ध मे लाखो करोडों मनुष्यों का सहार हो जाता है । करोडो मनुष्य दु खी हो जाते हैं । रोग-शोक विनाश दुष्काल और महामारी के भयानक दृश्य उपस्थित हो जाते हैं । युद्धजन्य क्षति वर्षों तक पूर्ण नहीं होती और सारा राष्ट्र दु खी हो जाता है । इतना सब होते हुए भी दुर्देव से ऐसा होना अनिवार्य हो गया लगता है । अव मेरे नहीं चाहने पर टल नहीं सकता, तो मैं बाधक नहीं बनूँगा । तुम युद्ध की तैयारी करो । मैं भी तुम्हारे साथ हूँ ।"

धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को सन्देश

पाण्डवों के दूत का आगमन और दुर्योधन के दुर्व्यवहार की बात धृतराष्ट्र ने सुनी, तो चिन्ता-मग्न हो गया । वह पाण्डवो की शक्ति और न्यायपक्ष को जानता था । उसके मन में पुत्र क भावी अनिष्ट की आशका बस गई । पुत्र को समझाना उसे व्यर्थ लगा । वह किसी की हितशिक्षा मानता ही नहीं था । अपने पुत्र को विनाश से बचाने का और कोई मार्ग धृतराष्ट्र को दिखाई नहीं दिया तो उसने अपने विश्वस्त सारथि सजय को युधिष्ठिर के पास भेजा और कहलाया,-

"वत्स युधिष्ठिर ! तू धर्मात्मा और नीतिवान् है और दुर्योधन दुष्ट है । दुर्योधन के सामन मेरी कुछ भी नहीं चलती । वह मेरी बात नहीं मानता, कदाचित् उसका अनिष्ट अवश्यभावी हो । मैं तुझसे इतनी ही अपेक्षा रखता हूँ कि अपने विवेक को जाग्रत रख कर बान्धव-विग्रह से बचन का प्रयत्न करना । विग्रह विनाश का कारण होता है । मैं तुझसे इतनी ही अपेक्षा रखता हू ।"

सजय के द्वारा धृतराष्ट्र का सन्देश सुन कर युधिष्ठिरजी बोले-

"आर्य सजय ! वृद्ध पिता को मेरा नमस्कार कर के निवेदन करना कि मेरा हृदय बान्धवो का विग्रह और वध से बचने में प्रयत्नशील रहता है । किन्तु दुर्योधन की नीति मेरा प्रयत्न निष्फल कर देगी। मैं अपनी ओर से शान्त रह कर, राज्य की माँग छोड सकता हू । किन्तु मेरे भीमसेन आदि बन्धु अब सहन नहीं कर के अपना प्राक्रम प्रकट कर के रहेंगे । अब वे मेरे रोके नहीं रुक सकेंगे । फिर भी मैं उनसे एकबार पुन विचार करूँगा और जो सर्वसम्मत निर्णय होगा, उसी के अनुसार कर्त्तव्य निर्धारित करूँगा ।"

अपने ज्येष्ठ-बन्धु धर्मराज युधिष्ठिरजी की भावुकतापूर्ण नम्र बात, भीमसेन को रुचिकर नहीं लगी । वे तत्काल बोल उठे;-

"सजय ! हम दुर्योधन के साथ समझौता या सन्धि नहीं करेंगे । हमने उसके अत्याचार अत्यधिक सहन किये । उसके अपराधों और अपकारों की उपेक्षा कर के हमने विपत्ति में उसकी सहायता की और बचाया फिर भी वह दुष्ट हमारे साथ शत्रुता का ही व्यवहार करता है । उसम न नैतिकता है न कुलीनता । ऐसे अधर्मी क सामने झुकना या उपेक्षा कर के अनाचार को सफल होने देना, हम स्वीकार नहीं है । हम उसकी युद्ध की इच्छा पूरी करने को तत्पर हैं । मुझे दुर्योधन की जघा और दु शासन की बाह तोड कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना तथा द्रौपदी के अपमान का बदला भी लेना ही है । अब यह युद्ध अनिवार्य बन गया है । अब बिना युद्ध के भी वह राज्य अर्पण करे, तो हमें स्वीकार नहीं होगा । हम अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का पालन करेंगे ।"

अर्जुन, नकुल और सहदेव ने भी भीमसेन के विचारों का उत्साहपूर्वक समर्थन किया । सजय यह सब सुन कर लौट गया । उसने पाण्डवों से हुई बात का विवरण धृतराष्ट्र को सुनाया । उस समय दुर्योधन भी वहाँ बैठा था । सजय की बात सुन कर दुर्योधन भडका और चिल्लाता हुआ बोला;-

"सजय ! तुझे उन भिखारियो के पास सन्देश ले कर किसने भेजा था ? तू क्यों गया था वहाँ ? क्या तू भी उनसे मिल गया है ? याद रख, मेरा भी प्रण है कि मेरी तलवार उनका रक्त पी कर ही रहेगी। मैं तुम्हारी इस कुचेष्टा को शत्रुतापूर्ण समझता हूँ "

इतना कह कर क्रोध में तप्त हुआ दुर्योधन वहाँ से चला गया ।

दुर्योधन को धृतराष्ट्र और विदुर की हित-शिक्षा

दूसरे दिन धृतराष्ट्र ने अपने भाई विदुर को बुला कर एकान्त मे कहा;-

"बन्धु ! विपत्तियाँ कुरु-वश पर मडरा रही है । कुल-क्षय का निमित्त उपस्थित हो रहा है । दुर्योधन की मति में यदि परिवर्तन नहीं हुआ तो युद्ध अनिवार्य हो जायगा । कोई ऐसा उपाय हो तो बताओ जिससे विनाश रुके ।"

"बन्धुवर ! आपकी भूल का ही यह भयानक परिणाम है । आपको दुर्योधन के जन्म समय ही सावधान कर दिया था कि यह दुरात्मा अनिष्टकारी है । अभी ही इसका त्याग कर दो, तो भविष्य में होने वाले महान् दुष्परिणाम से बचा जा सकता है । आपने पुत्र-मोह से वह बात नहीं मानी । अब वह भविष्य वर्तमान बन कर सारे वश और अन्य लाखो मनुष्यो के सहार का दृश्य प्रत्यक्ष होने जा रहा है । अब भी यदि दुर्योधन समझ कर सत्य-मार्ग पर आ जाय, तो विनाश की जड ही नष्ट हो सकती है ।"

विदुर की वाणी धृतराष्ट्र को सत्य लगी । उसने विदुर से कहा-

"भाई हम दोनों एक बार दुर्योधन की समझावें । कदाचित् तुम्हारे प्रभावशाली वचनो से उसकी मति सुधर जाय । हम एक प्रयत्न और कर ले, फिर तो जैसी भवितव्यता होगी, वैसा होगा ।"

धृतराष्ट्र और विदुर, दुर्योधन के पास आये और शान्तिपूर्वक बाले,-

"वत्स ! तू हमारा प्रिय है । हम तुम्हारा हित चाहते हैं । तुम्हारे भले के लिए हम कहते हैं कि तुम अपने मन से पूर्वबद्ध विचारों को छोड कर शान्त हृदय से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करो ।"

"पाण्डव तुम्हारे भाई हैं । राज्य उन्हीं का है और तू प्रतिज्ञाबद्ध है । प्रतिज्ञा-काल पूर्ण हो चुका हैं। अब उनका राज्य उन्हें लौटा देना चाहिए । पाण्डव बलवान् एव अजेय हैं । न्याय उनके पक्ष में है । कई राजा उनके उपकार से दबे हुए हैं । पाण्डवा को तू शत्रु समझता है, परन्तु उन्होंने तुझे चित्रागद के बन्धन से छुडा कर, तुझ पर महान् उपकार किया है । दूसरा उपकार उन्होंने गोकुल-हरण के समय भी किया है । तुझे उनकी महानता का विचार कर के बिगडी बाजी सुधार लेनी चाहिए । जिस प्रकार खेल ही खेल में वे अपना सारा राज्य तुझे दे कर चल दिये और वनवास के दु ख सहे, उसी प्रकार तो तुम नहीं कर रहे हो । तुम्हे तो अपना वचन निभाने के लिए, उन्हीं का राज्य उन्हें सौंपना है फिर भी तुम्हारा पूर्व का राज्य तुम्हारे पास रहेगा ही । ऐसा करने से परस्पर प्रेम और सौहार्द जगेगा वैर मिटेगा और भावी अनिष्ट से हम सब और राज्य बचे रहेंगे । इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा भी बढेगी । जरा शान्ति से सोचो और सन्मार्ग अपनाओ । हम तुम्हारे हितैषी है और तुम्हें हितकारी सलाह देते हैं ।"

दुर्योधन को उपरोक्त हित-शिक्षा भी बुरी एव शत्रुतापूर्ण लगी । उसने क्रुद्ध हो कर कहा -

"तात ! आप मुझे खोटा उपदेश क्यो देते हैं ? वह क्षत्रिय ही कैसा - जो बिना युद्ध के राज्य की एक अगुल भूमि भी शत्रु के अर्पण कर दे ? मैं कायर नहीं हूँ । मैं उनसे युद्ध करूँगा और उनके दु साहस का उन्हें दड दूँगा । आप मुझे हतोत्साह नहीं कर क प्रोत्साहन दें और आशीर्वाद दे कर शुभकामना करते रह ।"

दुर्योधन की दुर्भावना का खेद लिये हुए, धृतराष्ट्र और विदुर वहाँ से चले गए ।

श्रीकृष्ण की मध्यस्थता

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने पाण्डवो का युद्धोत्साह देखा । उन्हे शान्त रहन का निर्देश दे, स्वय रथारूढ हो कर हस्तिनापुर आये । उन्होने धृतराष्ट्र के समक्ष दुर्योधन को बहुत समझाया और अन्त मे कहा - "यदि तुम पाँचा पाण्डवा को केवल पाँच गाँव ही दे दो, तो मैं उन्हे समझा कर सन्धि करवा दूँगा और ये इतने मात्र से सन्तुष्ट हो जाएँगे ।"

"गाविन्द ! मैं किसी भिखारी या याचक को प्रसन्न हो कर कुछ गाँव दान कर सकता हूँ । परन्तु उन गर्विष्ठों को सूई की नोक पर आवे, इतनी भूमि भी नहीं दे सकता । वे कैसे वीर हैं जो भीख में भूमि माँगते हैं ? उनका लेन-देन का हिसाब तो मेरी ये भुजाएँ ही कुरुक्षेत्र में समझेगी । आप अब उनकी बात ही छोड दें ।"

"दुर्योधन ! समझ । यह स्वर्ण अवसर पुन लौट कर नहीं आएगा । पाण्डवों ने पाँच गाव की भीख नहीं माँगी है । मैं इस वश-विग्रह रक्तपात एव विनाश को टालने के लिए, अपनी ओर स सुझाव दे रहा हूँ । यदि तू यह स्वर्ण-अवसर चूक गया तो अवश्य ही पछतायगा । पाण्डवों के प्रताप एव प्रचण्ड बाहुबल के प्रलयकर प्रवाह में तेरा गर्व ही नहीं तू स्वय ही बह जायगा । तेरा भयकर भावी ही तुझे दुर्बुद्धि से मुक्त नहीं होने देता, अस्तु ।"

दुर्योधन ने सकेत से कर्ण को एक ओर बुलाया और दोनों ने मिल कर श्रीकृष्ण को बाँध कर बन्दी बनाने की मन्त्रणा की । सत्यकी ने उसकी दुरेच्छा की सूचना श्रीकृष्ण को दी, तो श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध हो कर इतना ही कहा - "विनाश-काल ने ही इनकी बुद्धि भ्रष्ट कर डाली है । यह विचारा मेरा क्या बिगाड सकता है ? मैं तो उपेक्षा कर रहा हूँ, परन्तु पाण्डवों की प्रतापाग्नि म भस्म होन से यह नहीं बच सकेगा ।"

श्रीकृष्ण वहाँ से चले गए, तब द्रौणाचार्य, भीष्म-पितामह और धृतराष्ट्र ने आगे बढ कर श्रीकृष्ण को विनमतापूर्वक निवेदन कर शात किया । श्रीकृष्ण वहाँ से वृद्ध पाण्डुजी और विदुर से मिलने के लिए रथारूढ हो कर चले । साथ में आये हुए कर्ण को श्रीकृष्ण ने कहा;-

"कर्ण ! कुन्ती देवी ने तुम्हें एक सन्देश भेजा है ।" उन्होंने कहा - "तुम मेरे पुत्र और पाण्डवों के भाई हो । गुप्त कारण से तुम्हारा पालन दूसरा के द्वारा हुआ है । परन्तु तुम्हारी सच्ची माता तो मैं और पिता पाण्डु नरेश ही हैं । तुम्हें भाइयों से मिल कर रहना चाहिए । उनका द्रोह नहीं करना चाहिए और दुर्योधन का साथ भी तुझे छोड देना चाहिए । दवी ने तेरे लिए शुभाशीष भी कही ।"

"माधव ! आपका और माता का कथन यथार्थ है, । मेरा उनसे प्रणाम निवेदन करें और कहें कि मैं दुर्योधन से वचनबद्ध हो चुका हूँ, सो उनका साथ मुझे जीवनभर निभाना ही होगा । हा, मैं इतना वचन देता हूँ कि आपक चार पुत्रों का मैं अनिष्ट नहीं करूँगा । अर्जुन के प्रति मेरे मन में ईर्षा जमी हुई

है । मैं उससे तो अपनी पूरी शक्ति लगा कर लडूँगा । यदि मेरे द्वारा उसका अनिष्ट हुआ, तो मैं आपकी सेवा में आजाऊँगा और आपके पाँच पुत्र पूरे रहेगे । यदि अर्जुन से मैं मारा गया, तो आपके सभी पुत्र आपकी सेवा में हैं ही ।"

श्रीकृष्ण, पाण्डु और विदुर से मिले । पाण्डु नरेश ने श्रीकृष्ण द्वारा दुर्योधन की दुष्टता का हाल जान कर अपने पुत्रो के लिए सन्देश दिया कि "अब वे दुर्योधन से किसी प्रकार की सन्धि नहीं कर के युद्ध ही करें । दुष्ट के साथ की गई सज्जनता भी दु खदायक होती है ।"

श्रीकृष्ण द्वारिका लौट गए । विदुरजी के मन में, कुरु-कुल का विग्रह एव ससार की अनित्यता देख कर वैराग्य उत्पन्न हुआ । उसी अवसर पर मुनिराज श्री विश्वकीर्तिजी वहाँ पधारे । उनका उपदेश सुन कर विदुरजी ने ससार का त्याग कर, निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार की और मुनि-धर्म की पालना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे ।

प्रद्युम्न वृत्तांत+

प्रद्युम्नकुमार कालसवर विद्याधर के यहाँ बडा हुआ और कलाकौशल सीख कर निपुण बना । यौवन अवस्था प्राप्त कर जब वह मूर्तिमान कामदेव दिखाई देने लगा, तो कालसवर विद्याधर की रानी कनकमाला ही उस पर मुग्ध हो गई । उसने सोचा - 'प्रद्युम्न जैसा सुन्दर, सुघड़ और देवोपम पुरुष दूसरा कोई नहीं हो सकता । ससार म वही नारी सौभाग्यवती होगी जो इसकी प्रेयसी बनेगी ।' रानी चिन्तातुर हुई । विचारो मे परिवर्तन हुआ । कुतर्क रूपी कुकरी कूकी - "मैं रानी हूँ, स्वामिनी हूँ । प्रद्युम्न मेरा पालित - पोषित है, मेरा सिंचित एव रक्षित वृक्ष है । इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है । इसके यौवन रूपी फल का आस्वादन मैं कर सकती हूँ । यदि मैं इस उत्तम फल के भोग से वञ्चित रहती हूँ तो मेरा जन्म ही व्यर्थ रह जायगा ।' इस प्रकार विचार कर के उसने दृढ निश्चय कर लिया और एक दिन एकान्त पा कर प्रद्युम्न से कहा,-

"प्रिय प्रद्युम्न ! मैं तुझ पर मुग्ध हूँ और तुझे अपना प्रियतम बनाना चाहती हूँ । तू मुझे अत्यन्त प्रिय है । चल हम केलिगृह में चले और जीवन का आनन्द लूटें ।"कनकमाला को प्रद्युम्न अब तक माता ही समझ रहा था । उसके मुख से उपरोक्त शब्द सुन कर और उसके मुख एव नयन पर छाये विकार को देख कर, अवाक् रह गया । उसकी वाणी ही मूक हो गई । उसे मौन देख कर रानी बोली,-

"अरे कान्त ! तू मूक क्यों हो गया ? क्या राजा से डरता है ? नहीं मत डर तू उससे । मरी शक्ति नहीं जानता । मैं उत्तरीय श्रेणी के नलपुर नगर के प्रतापी नरश निषधराज की पुत्री हूँ । युवराज नैषध मेरा भाई हैं । पिता से मैने 'गोरी' नाम की विद्या सीखी है और पति से मैने 'प्रनप्ति' विद्या प्राप्त की है । पति मुझ में अनुरक्त है । वह मुझे छोड़ कर दूसरी स्त्री नहीं चाहता । मर पास दो विद्या ऐसी

+ प्रद्युम्नकुमार के जन्म और सहरण का वर्णन पृ. ३३२ से ३३७ तक हुआ है ।

है कि जिससे मैं पति से निर्भय हू । मेरी ही शक्ति से राजा निर्भय है और ससार को तृण के समान तुच्छ समझता है । मैं स्वय कालसवर से अधिक शक्तिशालिनी हूँ । तुझे राजा से नहीं डरना चाहिए और खुले हृदय से नि शक हो कर मेरे साथ भोग भोगना चाहिए ।"

- "शान्त पाप ! शान्त पाप ! ।" माता ! तुम्हार मुँह से ऐसी बाते निकली ही कैसे ? अर इस प्रकार के विचार तुम्हारे मन म ठठे ही कैसे ? अपने पुत्र के साथ ऐसा घोर नरक तुल्य विचार ?"

- "नहीं, नहीं, तू मेरा पुत्र नहीं है । राजा तुझ वन म से ठठा कर लाये हैं । किसी ने तुझ वन में छोड दिया था । तेरा यहाँ पालन-पोषण मात्र हुआ है । इसलिए माता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है । तुम इस भ्रम को अपने मन से निकाल दो और मुझे अपनी प्रेयसी मान कर अपना सम्पूर्ण प्रेम मुझ दे दो"- कामान्ध कनकमाला ने निर्लज्ज बन कर कहा ।

प्रद्युम्न विचार में पड़ गया । उसने सोचा - "इस दुष्टा की जाल में से किस प्रकार सुरक्षित रह कर बचा जाय ?' उसने तत्काल मार्ग पा लिया और बोला,-

"यदि आपकी बात मानी जाय तो नरेश और ठनके पुत्र मुझे जीवित नहीं रहने देगे । इसलिए मेर जीवन की रक्षा का उपाय क्या होगा ?"

"प्रियतम ! तुम निर्भय रहो" - प्रद्युम्न के उत्तर से आशान्वित हुई कनकमाला बोली - "मेरे पास गोरी और प्रज्ञप्ति विद्या है । इन दोनों विद्याओं के बल से तुम सुरक्षित रह सकोगे । मैं तुम्हें दोनों विद्याए दे कर निर्भय बना दूँगी ।"

- 'तब आप मुझे दोनो विद्याएँ दीजिए । मैं तत्पर हूँ ।"

कनकमाला ने दोना विद्याएँ प्रद्युम्न को दी और उसने साधना प्रारभ कर के थोडे ही समय में विद्या सिद्ध कर ली । विद्या सिद्ध हो जाने के बाद कनकमाला ने प्रद्युम्न से अपनी इच्छा पूर्ण करने का आग्रह किया, तब प्रद्युम्न ने कहा,-

"माता ! पहले तो आप मुझे पाल-पोष कर बडा करने वाली माता थी और अब विद्या सिखा कर गुरु-पद भी प्राप्त कर लिया । ऐसी पूज्या के प्रति मन मे बुरे भाव ठत्पन्न कैसे हा सकते हैं ? आपके मन में मेरे प्रति पुत्र-सम वात्सल्य भाव नहीं रहा और मेरा शरीर आपकी भावना बिगाड़ने का कारण बना, इसलिए मेरा अब यहाँ से टल जाना ही ठचित है"- इतना कह कर और प्रणाम कर के प्रद्युम्न चलता बना और नगर के बाहर कालाम्बुका नाम की वापिका के किनारे बैठ कर चिन्ता-मग्न हो गया ।

हताश हुई कनकमाला प्रद्युम्न पर क्रोधित हुई । ठसे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने की भी चिन्ता हुई । प्रद्युम्न से उसे वैर भी लेना था । उसने अपने कपड़े फाड़ दिये और शरीर पर नाखुन गढा-गढा कर घाव बना दिये । रक्त की बूँदे निकाली और कोलाहल मचाया । कोलाहल सुन कर उसके पुत्र दौड़े आये । उसने कहा - "दुष्ट प्रद्युम्न, कामान्ध बन कर मुझे आलिगन करने लगा उससे अपने शील की

रक्षा करने में मेरे वस्त्र फट गए और शरीर घायल हो गया । मैं चिल्लाई, तो वह भाग गया । जाओ, उसे इस नीचता का दण्ड दो ।''

उसके पुत्र दौडे और प्रद्युम्न पर प्रहार करने को उद्यत हुए । प्रद्युम्न सावधान था । प्राप्त विद्या के बल से उसने उन सभी को धराशायी कर दिया । इतने म राजा भी आया और प्रद्युम्न को मारने लगा । प्रद्युम्न ने राजा को परास्त कर दिया । इसक बाद उसने रानी के पाप की सारी कहानी राजा को सुना दी। सुन कर राजा ने प्रद्युम्न को निर्दोष मान कर छाती से लगाया और रानी के कुकृत्य पर खेदित होने लगा ।

प्रद्युम्न का कौतुक के साथ द्वारिका में प्रवेश

उसी समय नारदजी वहाँ आ पहुँचे । राजा और प्रद्युम्न ने नारदजी का विनयपूर्वक सत्कार किया। नारदजी ने उन्हें प्रद्युम्न के जन्म एव माता-पिता का परिचय देते हुए कहा-

''प्रद्युम्न । तुम्हारी माता पर सकट है । वह अपनी सौत सत्यभामा से वचनबद्ध हुई थी कि 'जिसके पुत्र का प्रथम विवाह होगा उस विवाह में दूसरी अपने सिर के बाल कटवा कर दासी बनेगी ।'' सत्यभामा के पुत्र भानु कुमार का विवाह होने वाला है । यदि तुम यहीं बैठे रहे और भानु का विवाह हो जायगा, तो तुम्हारी माता को दासी बनना पडेगा । इस दु ख से वह जीवित नहीं रह सकेगी । यदि माता के सम्मान की रक्षा करना हो, तो चलो और माता के सम्मान और प्राणो की रक्षा करो ।''

नारदजी की बात सुन कर प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति विद्या से विमान बनाया और नारदजी के साथ द्वारिका पहुँचा । नारदजी ने कहा - ''देखो, यह देव द्वारा निर्मित तुम्हारे पिता की भव्य नगरी ।'' प्रद्युम्न ने कहा - ''महात्मन् ! आप अभी थोडी देर विमान मे ही रहें । मैं कुछ चमत्कार बताने के लिए नगरी में जाता हूँ । आप उपयुक्त समय पर ही पधारें ।''

प्रद्युम्न नगरी म गया । उसने विवाह की धूमधाम देखी । भानुकुमार के साथ ब्याही जाने वाली कन्या भी वहीं थी । प्रद्युम्न ने विद्या-बल से उसका हरण कर के नारदजी के पास रख दी । नारदजी ने राजकुमार से कहा - ''वत्से! तू निर्भय रह । यह प्रद्युम्न भी श्रीकृष्ण का ही पुत्र है ।'' इसके बाद प्रद्युम्न एक वानर को ले कर उस उद्यान म गया - जहाँ विवाह-मण्डप बना था । वानर को उद्यान में छोड कर वहाँ के सारे फल-फूल नष्ट करवा दिये । इसी प्रकार उसने विद्याबल से घास का भण्डार नष्ट करवाया और जलाशयो को निर्जल बना दिया । फिर उसने एक उत्तम घोडा लिया और उस पर चढ कर भानुकुमार के सम्मुख गया और घोडे को नचा कर कौतुक दिखाने लगा । भानुकुमार घोडा देख कर मुग्ध हो गया । उसने प्रद्युम्न से घोडे का परिचय और मूल्य पूछा । प्रद्युम्न ने कहा - ''पहले इस घोडे पर सवार हो कर देख लो । इसक बाद आगे बात करेंगे ।''

भानु घोडे पर चढा । वह थोडी ही दूर गया होगा कि घोडा बिदका और भानु नीचे गिर पड़ा । प्रद्युम्न वहाँ से चल कर वेदपाठी ब्राह्मण का रूप धारण कर, बाजार में पहुँचा और मधुर स्वर मे

है कि जिससे मैं पति से निर्भय हू । मेरी ही शक्ति से राजा निर्भय है और ससार को तृण के समान तुच्छ समझता है । मैं स्वय कालसवर से अधिक शक्तिशालिनी हूँ । तुझ राजा से नहीं डरना चाहिए और खुले हृदय से नि शक हो कर मेरे साथ भोग भोगना चाहिए ।"

- "शान्त पाप ! शान्त पाप ! !" माता ! तुम्हार मुँह से ऐसी बात निकली ही कैसे ? अरे, इस प्रकार के विचार तुम्हारे मन मे उठे ही कैसे ? अपने पुत्र के साथ ऐसा घोर नरक तुल्य विचार ?"

- "नहीं, नहीं, तू मेरा पुत्र नहीं है । राजा तुझे वन म से उठा कर लाये हैं । किसी ने तुझ वन में छोड दिया था । तेरा यहाँ पालन-पोषण मात्र हुआ है । इसलिए माता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है । तुम इस भ्रम को अपने मन से निकाल दो और मुझे अपनी प्रेयसी मान कर अपना सम्पूर्ण प्रेम मुझे दे दो"- कामान्ध कनकमाला ने निर्लज्ज बन कर कहा ।

प्रद्युम्न विचार में पड गया । उसने सोचा - "इस दुष्टा की जाल में से किस प्रकार सुरक्षित रह कर बचा जाय ?' उसने तत्काल मार्ग पा लिया और बोला;-

"यदि आपकी बात मानी जाय तो नरेश और उनके पुत्र मुझ जीवित नहीं रहने देगे । इसलिए मरे जीवन की रक्षा का उपाय क्या होगा ?"

"प्रियतम ! तुम निर्भय रहो" - प्रद्युम्न के उत्तर स आशान्वित हुई कनकमाला बाली - "मेरे पास गोरी और प्रज्ञप्ति विद्या है । इन दोनों विद्याओं के बल से तुम सुरक्षित रह सकोगे । मैं तुम्ह दोनों विद्याए दे कर निर्भय बना दूँगी ।"

- 'तब आप मुझे दोनो विद्याएँ दीजिए । मैं तत्पर हूँ ।"

कनकमाला ने दानों विद्याएँ प्रद्युम्न को दी और उसने साधना प्रारभ कर क थोडे ही समय में विद्या सिद्ध कर ली । विद्या सिद्ध हो जाने के बाद कनकमाला ने प्रद्युम्न से अपनी इच्छा पूर्ण करने का आग्रह किया, तब प्रद्युम्न ने कहा;-

"माता ! पहले तो आप मुझे पाल-पोष कर बडा करने वाली माता थी और अब विद्या सिखा कर गुरु-पद भी प्राप्त कर लिया । ऐसी पूज्या के प्रति मन में बुरे भाव उत्पन्न कैसे हो सकते हैं ? आपके मन में मेरे प्रति पुत्र-सम वात्सल्य भाव नहीं रहा और मेरा शरीर आपकी भावना बिगाडने का कारण बना, इसलिए मेरा अब यहाँ से टल जाना ही उचित है"- इतना कह कर और प्रणाम कर के प्रद्युम्न चलता बना और नगर के बाहर कालाम्बुका नाम की वापिका के किनारे बैठ कर चिन्ता-मग्न हो गया ।

हताश हुई कनकमाला प्रद्युम्न पर क्रोधित हुई । उसे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने की भी चिन्ता हुई । प्रद्युम्न से उसे वैर भी लेना था । उसने अपने कपडे फाड दिये और शरीर पर नाखुन गढ़ा-गढ़ा कर घाव बना दिये । रक्त की बूँदे निकाली और कोलाहल मचाया । कोलाहल सुन कर उसके पुत्र दौड़ आये । उसने कहा - "दुष्ट प्रद्युम्न कामान्ध बन कर मुझे आलिगन करने लगा, उससे अपने शील की

रक्षा करने में मेरे वस्त्र फट गए और शरीर घायल हो गया । मैं चिल्लाई, तो वह भाग गया । जाओ उसे इस नीचता का दण्ड दो ।"

उसके पुत्र दौड़े और प्रद्युम्न पर प्रहार करने को उद्यत हुए । प्रद्युम्न सावधान था । प्राप्त विद्या के बल से उसने उन सभी को धराशायी कर दिया । इतने मे राजा भी आया और प्रद्युम्न को मारने लगा । प्रद्युम्न ने राजा को परास्त कर दिया । इसके बाद उसने रानी के पाप की सारी कहानी राजा को सुना दी। सुन कर राजा ने प्रद्युम्न को निर्दोष मान कर छाती से लगाया और रानी के कुकृत्य पर खेदित होने लगा ।

प्रद्युम्न का कौतुक के साथ द्वारिका में प्रवेश

उसी समय नारदजी वहाँ आ पहुँचे । राजा और प्रद्युम्न ने नारदजी का विनयपूर्वक सत्कार किया। नारदजी ने उन्हे प्रद्युम्न के जन्म एव माता-पिता का परिचय देते हुए कहा-

"प्रद्युम्न ! तुम्हारी माता पर सकट है । वह अपनी सौत सत्यभामा से वचनबद्ध हुई थी कि 'जिसक पुत्र का प्रथम विवाह होगा, उस विवाह मे दूसरी अपने सिर के बाल कटवा कर दासी बनेगी ।" सत्यभामा के पुत्र भानु कुमार का विवाह होने वाला है । यदि तुम यहीं बैठे रहे और भानु का विवाह हो जायगा, तो तुम्हारी माता को दासी बनना पडेगा । इस दु ख से वह जीवित नहीं रह सकेगी । यदि माता के सम्मान की रक्षा करना हो तो चलो और माता के सम्मान और प्राणो की रक्षा करो ।"

नारदजी की बात सुन कर प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति विद्या से विमान बनाया और नारदजी के साथ द्वारिका पहुँचा । नारदजी ने कहा - "देखो, यह देव द्वारा निर्मित तुम्हारे पिता की भव्य नगरी ।" प्रद्युम्न ने कहा - "महात्मन् ! आप अभी थोडी देर विमान मे ही रहे । मैं कुछ चमत्कार बताने के लिए नगरी में जाता हूँ । आप उपयुक्त समय पर ही पधारें ।"

प्रद्युम्न नगरी म गया । उसने विवाह की धूमधाम देखी । भानुकुमार के साथ ब्याही जाने वाली कन्या भी वहीं थी । प्रद्युम्न ने विद्या-बल से उसका हरण कर क नारदजी के पास रख दी । नारदजी ने राजकुमार से कहा - "वत्से! तू निर्भय रह । यह प्रद्युम्न भी श्रीकृष्ण का ही पुत्र है ।" इसके बाद प्रद्युम्न एक वानर को ले कर उस उद्यान में गया - जहाँ विवाह-मण्डप बना था । वानर को उद्यान में छोड कर वहाँ के सारे फल-फूल नष्ट करवा दिये । इसी प्रकार उसने विद्याबल से घास का भण्डार नष्ट करवाया और जलाशया का निर्जल बना दिया । फिर उसने एक उत्तम घोडा लिया और उस पर चढ कर भानुकुमार के सम्मुख गया और घाडे को नचा कर कौतुक दिखाने लगा । भानुकुमार, घोडा देख कर मुग्ध हो गया । उसने प्रद्युम्न स घोडे का परिचय और मूल्य पूछा । प्रद्युम्न ने कहा - "पहले इस घोडे पर सवार हो कर देख लो । इसक बाद आगे बात करेंगे ।"

भानु घोडे पर चढा । वह थोडी ही दूर गया होगा कि घोडा बिदका और भानु नीचे गिर पड़ा । प्रद्युम्न वहाँ से चल कर वेदपाठी ब्राह्मण का रूप धारण कर, बाजार मे पहुँचा और मधुर स्वर से

वेदपाठ करने लगा । इस प्रकार करते हुए वह अन्त पुर के निकट पहुँचा । सामने महारानी सत्यभामा की दासी आ रही थी वह कूबडी थी । उसकी कमर झुकी हुई थी । उसे देख कर प्रद्युम्न ने अपनी विद्या का चमत्कार दिखाया और मन्त्र पढ कर और हाथ फिरा कर सीधी कर दी । कुब्जा सीधी हो गई। महात्मा का चमत्कार देख कर कुब्जा दासी अत्यन्त प्रसन्न हुई । दासी ने प्रणाम किया और चरण-रज मस्तक पर लगाते हुए पूछा - "महात्माजी ! आपका स्थान कहाँ है ?"

- "भद्रे । हम तो रमते-राम हैं । जहाँ भरपेट अच्छा भोजन मिले वहीं रह जाते हैं ।"

दासी ने सोचा - "महात्मा पहुँचे हुए महापुरुष हैं । इन्हें महारानी के पास ले जा कर मोदक आदि उत्तम भोजन कराना चाहिए ।" वह उसे ले कर महारानी सत्यभामा के पास गइ । कुब्जा दासी को सीधी खडी देख कर सत्यभामा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा-

"अरी कुब्जा ! तेरी कूबड कहाँ गई ? तू सीधी कैसे हो गई ? यह चमत्कार किसने किया ?"

"स्वामिनी । एक पहुँचा हुआ महात्मा आया है । उसने मुझ पर मन्त्र पढ कर हाथ फिराया और मेरी कूबड ठीक हो गई । मेरा रूप निखर आया और मुझमे स्फूर्ति भी आ गई । बडा चमत्कारी महात्मा है वह ।"

"कहाँ है वह" - महारानी भी महात्मा की ओर आकर्षित हुई । उसके मन में भी एक आकाक्षा उत्पन्न हो गई ।

"वह नीचे द्वार पर खडा है" - दासी ने कहा ।

"उसे आदर सहित यहाँ ले आ" - महारानी सत्यभामा ने कहा ।

ब्राह्मण आया । उसने सत्यभामा को आशीर्वाद दिया । रानी ने उसे आदरपूर्वक उच्चासन पर बिठाया और कुशल-क्षेम पूछने के बाद कहा-

"महात्माजी ! आपने इस दासी पर बडी कृपा की । आप तो देव-पूज्य हैं । आपकी कृपा जिस पर हो जाय, उसके सारे मनोरथ सफल हो जाते हैं । धन्य है आपको ।"

"यह सब भगवत्-कृपा है । साधना में अपूर्व शक्ति होती है । जो साधना करता है, उसे अनेक प्रकरा की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है और उससे दु खी लोगों का बडा उपकार किया जा सकता है ।" - महात्मा बने हुए प्रद्युम्न ने कहा-

प्रद्युम्न का विमाता को ठगना

"महात्मन् ! मुझे अपनी सौत का बडा दु ख है । सौत ने पति को अपने रूप-जाल में फँसा लिया है । आप अपनी कृपा से मुझे विशेष रूप-सुन्दरी बना दें जिससे मेरे पति मेरे वशीभूत हो जाय और सौत को सर्वथा भूल जाय । मैं आपका उपकार जन्मभर नहीं भूलूँगी" - सत्यभामा ने ढोंगी महात्मा प्रद्युम्न से कहा ।

"महारानी ! तुम बडी भाग्यशाली हो । तुम्हारा रूप अब भी बहुत सुन्दर है । तुम्हे विशेष रूप का लोभ करने की आवश्यकता ही क्या है ? इतने में ही सन्तोष करना चाहिए" - प्रद्युम्न ने कहा ।

"नहीं महात्मन् ! आपने दासी पर इतनी कृपा की और उसकी कूबड और कुरूपता मिटा कर सीधी और सुन्दर बना दी, तब मुझ पर भी इतनी कृपा कर दीजिए" - दीनता भरे शब्दो में महारानी सत्यभामा ने याचना की ।

"परन्तु इसके लिए पहले तुम्हें विद्रूप बनना पडेगा, उसके बाद सुन्दरता आ सकेगी । साधना कष्टप्रद है । तुम स्वय सोच लो" - प्रद्युम्न ने विमाता को शब्दजाल में बाँधते हुए कहा ।

"आप कहे, मुझे क्या करना चाहिए" - रानी ने पूछा ।

"पहले आपको अपने मस्तक के केश कटवाना पडेगा । फिर सारे शरीर पर मसिलगा कर काला करना होगा और फटे हुए वस्त्र पहिन कर मेरे सामने आना होगा । मैं उसके बाद साधना बतलाऊँगा । परन्तु पहले अपने मन में निश्चय कर लो । साधना कठोर है ।"

"मैं अभी सब करती हूँ । आप यहीं बैठें" - कहती हुई सत्यभामा उठी । उसे अत्यन्त सुन्दर बनने की उत्कट इच्छा थी । उसे इतनी भी धीरज नहीं थी कि पहले पुत्र का विवाह तो कर ले याद मं सुन्दर बनने की साधना करे । उसने अपने सुन्दर और लम्बे बाल कटवा लिये । सारे शरीर पर स्याही पुतवाली और जीर्ण-वस्त्र धारण कर के भूतनी जैसी बन गई । विमाता का भूतनी जैसा रूप देख कर प्रद्युम्न मन में हर्षित हुआ और अपनी माता का वैर लेने का सन्तोष अनुभव करता हुआ बोला -

"मुझे भूख लगी है । भूखे-पेट साधना नहीं हो सकती । तुम्हारी दासी मुझे भोजन कराने का आश्वासन दे कर यहा लाई और नया झझट खडा कर के जाने कहाँ खिसक गई । पहले मेरे लिए भोजन की व्यवस्था करो, फिर दूसरी बात होगी ।"

भोली सत्यभामा ने रसोइये को बुला कर महात्मा को भोजन कराने की आज्ञा दी । महात्मा भोजन करने के लिए उठे और बोले - "मैं लौटूँ, तब तक तुम अपनी कुलदेवी के समक्ष ध्यान लगा कर बैठो और "सुरूपा विद्रूपा भवति स्वाहा" मन्त्र का जाप करो ।"

प्रद्युम्न अब सगी माता को ठगता है

सत्यभामा को उलटी पट्टी पढा कर मन म हर्षित होता हुआ ठग-महात्मा भोजन करने गया । भोजन करते हुए विद्या के बल से वह सर्वभक्षी बन गया और सारा भोजन समाप्त करने के बाद फिर माँगने लगा । रसोइये ने कहा - "महात्मन् ! आप किस जन्म के भूखे हैं ? इतना खा कर भी तृप्त नहीं हुए ? अब तो हम विवश हैं । नया भोजन बने तब आपको मिल सकता है ।"

"मेरी भूख मिटी नहीं । मैं जाता हूँ । जहाँ भरपेट भोजन मिलेगा वहाँ जाऊँगा तुम अपनी स्वामिनी से कह देना' - कह कर चल दिया । वहा से चल कर बालक विप्र का रूप बना कर अपनी

सगी-माता महारानी रुक्मिणी के भवन में पहुँचा । रुक्मिणी खिन्न, उदास और हताश बैठी थी । बालक को देख कर उसके हृदय में स्नेह जाग्रत हुआ । उसने उसे अपने पास बुलाया । वह जाते ही महाराजा कृष्ण के सिंहासन पर बैठ गया । रुक्मिणी चकित रह गई । क्योंकि उस सिंहासन पर श्रीकृष्ण और उनके पुत्र के सिवाय दूसरा कोई नहीं बैठ सकता था । वह देव-रक्षित सिंहासन था । माता का आश्चर्य जान कर प्रद्युम्न ने कहा – "मेरे तप के प्रभाव से देव भी मेरा अहित नहीं कर सकते । मैं स्वयं रक्षित एवं निर्भय हूँ ।"

"आपके आने का प्रयोजन क्या है" – महारानी ने पूछा ।

"मैंने निराहार तप करते हुए सोलह वर्ष व्यतीत कर दिये । अब मैं पारणे के लिए तुम्हारे यहाँ आया हूँ । मुझे भोजन दो" – माता को भी ठगता हुआ प्रद्युम्न बोला ।

"सोहल वर्ष का तप ! मैंने तो सुना कि एक वर्ष से अधिक किसी का तप नहीं चलता । फिर क्या आप जन्म से ही तप करने लगे और अब तक तपस्वी बने रहें– आश्चर्य व्यक्त करती हुई महारानी बोली ।

"यदि तुम्हे भोजन नहीं कराना है, तो रहने दो । मैं महारानी सत्यभामा के यहाँ जाता हूँ । वहाँ मुझे इच्छित भोजन मिलेगा ।"

"ठहरिये मैं भोजन बनवाती हूँ । आत्मा में अशांति होने के कारण आज मैंने भोजन नहीं बनवाया था" – रुक्मिणी बोली –

"क्यों, तुम्हें उद्वेग किस बात का है ?"

"मेरे भी एक पुत्र था । किन्तु बाल्यावस्था में ही कोई वैरी देव उसका अपहरण कर गया । उसके वियोग से मैं दुःखी हूँ । उसके समागमन की आशा से मैं कुलदेवी की आराधना करती हुई जीवन व्यतीत कर रही हूँ । बहुत प्रतीक्षा करने पर भी पुत्र का आगमन नहीं हुआ, तो मैंने कुलदेवी के सामने अपने-आपकी बलि चढ़ाने के लिए, गले पर खड्ग का प्रहार किया । कुलदेवी प्रकट हुई और मुझे रोकती हुई बोली – "पुत्री ! तू चिन्ता मत कर । तेरा पुत्र तुझे अवश्य मिलेगा । तेरे आँगन में रहा हुआ आम्रवृक्ष जब अकाल में ही विकसित हो जायगा तो उसी समय तेरा पुत्र तेरे समीप होगा ।" आम्रवृक्ष तो विकसित हो चुका किन्तु पुत्र अभी तक नहीं आया । इसी से मैं उद्विग्न हूँ । आप ज्ञानी हैं। अपने ज्ञान-बल से देख बतावें कि मेरा पुत्र कब आएगा ?"

"मैं क्षुधातुर हूँ । भोजन से तृप्त होने के पूर्व कुछ नहीं कह सकता । मुझे शीघ्र भोजन चाहिए ।"

रुक्मिणी भोजन-व्यवस्था करने के लिए उठी तो विप्र बोला – "मुझे तुम खीर बना दो – अति शीघ्र ।" रुक्मिणी खीर बनाने लगी, तो प्रद्युम्न की करतूत से चूल्हा भी नहीं सुलगा । वह खेदित हो गई । बाद में प्रद्युम्न बोला–

"तुम्हारे पास जो वस्तु हो, वही मुझे दे दो ।"

"अभी तत्काल तो सिहकेसरी-मोदक मरे पास है । किन्तु वह मैं तुम्हे नहीं दे सकती क्योकि उन्हें पचाने की शक्ति सिवाय श्रीकृष्ण के और किसी मे नहीं है और तुम तपस्वी बालक हो । तुम्हें वह मोदक मैं नहीं दे सकती" - महारानी ने कहा ।

- "भद्रे ! मैं तपस्वी हूँ । तुम्हारा सिहकेसरी -मोदक मेरा कुछ भी नहीं बिगाड सकता । तुम नि सकोच मुझे दे दो ।"

रुक्मिणी मोदक देने लगी और विप्र-बालक खाने लगा । रुक्मिणी आश्चर्यान्वित हो कर बोली- "आश्चर्य है कि आप इतने मोदक कैसे पचा लेगे ?"

प्रद्युम्न ने दासियों को भी मूँड दी

उधर सत्यभामा, देवी के सामने बैठी जाप कर रही थी कि उद्यान-रक्षक ने निवेदन कराया कि - "एक पुरुष बन्दर ले कर आया था । उसने सारे उद्यान को उजाड दिया है ।" दूसरा सन्देश आया कि - "सग्रहित घास नष्ट कर दिया गया और जलाशय खाली हो गए ।" इसके बाद यह भी समाचार पहुँचा कि "वर-राजा भानुकुमार, घोड पर से गिर पडे । उनके शरीर मे गम्भीर चाट लगी है ।" अब सत्यभामा स्थिर नहीं रह सकी । उसने दासी से पूछा - "वे महात्माजी कहाँ है ?" दासी ने कहा - "वे सारा भोजन खा चुकने पर भी तृप्त नहीं हुए और यह कह कर चले गए कि - "मैं जहाँ भोजन मिलेगा वहीं जाऊँगा ।"

सत्यभामा निराश एव खेदित हुई । महात्मा अप्रसन्न हो कर चले गए और वह सुरूपा से कुरूपा बन गई । अब क्या हो ? पहले तो उसने अपना शरीर स्वच्छ किया, नये वस्त्र पहिने, फिर उसने सोचा - "रुक्मिणी के बाल कटवा कर मगवालूँ ।" उसने अपनी दासियों को एक पात्र दे कर भेजा और कहलवाया -

"मेरे पुत्र का विवाह हो रहा है । वचन के अनुसार अपने बाल काट कर इस दासी के साथ भेजो ।"

दासियाँ पहुँची और सत्यभामा का आदेश सुनाया । रुक्मिणी के हृदय को आघात लगा । प्रद्युम्न ने बाल लेने आई दासिया के ही बाल काट कर पात्र में डाल दिये और अपने साथ लाए हुए सत्यभामा के बाल भी झोली म से निकाल कर उस पात्र मे डाले और कहा - "जाओ ये बाल अपनी स्वामिनी को देना ।" दासियाँ रोती और गालियाँ देती हुई सत्यभामा के पास पहुँची । उन सब की दशा देख कर सत्यभामा क्रुद्ध हुई और क्रोध मे ही भुनभुनाती हुई श्रीकृष्ण के पास पहुँची और बोली, -

सत्यभामा श्रीकृष्ण पर बिगड़ती है

"स्वामी ! आपकी चहेती महारानी की यह धृष्टता देखो । आपके सामने उसने वचन दिया था कि 'यदि तुम्हारे पुत्र के लग्न पहले होगे तो मैं अपने मस्तक के बाल काट कर तुम्हारे अर्पण कर दूँगी और तुम्हारी दासी बन जाऊँगी ।" मेरे पुत्र का विवाह हो रहा है । मैंने उसके बाल लेने के लिए

दासियो को भेजी तो उस चण्डिका ने सब क बाल काट कर मेरे पास भेजे । वे बिचारी सब मुडित-मस्तक रोती हुई लौट आई । उस राक्षसी का इतना दु साहस कि मेरी दासियो के साथ इस प्रकार की नीचता कर ? आपने उसे सिर पर चढा रखी है । अब आप उसके बाल ला कर दीजिये । आप उसके जामिनदार है ✦। आपको उसके बाल ला कर देना चाहिए ।''

''परन्तु महारानीजी ! आपके सुन्दर बाल ?''

''बस, बालो मत'' - श्रीकृष्ण के प्रश्न को बीच ही में रोक कर सत्यभामा बोली - ''अपने उत्तरदायित्व का पालन करो ।''

''अच्छा, अभी लो, परन्तु आपके सुन्दर बाल हँसते हुए श्रीकृष्ण ने फिर पूछा ।

सत्यभामाजी रोषपूर्वक मुँह बनाती हुई लौटी । श्रीकृष्णजी ने बलदेवजी से कहा - ''दाऊ ! आप भी जामिनदार है । आप स्वय इनके साथ जाइए और इस विपत्ती का निवारण कीजिए ।''

सत्यभामा के साथ बलदेवजी चल कर रुक्मिणी के भवन में पहुँचे, तो वे स्तभित रह गए । उन्होने देखा - कृष्ण, रुक्मिणी के पास बैठे हैं । वे शीघ्र ही लौट आये । यह करामात प्रद्युम्न की थी । उसने विमाता और बलदेवजी को दूर से आते देखा, तो विद्या बल से स्वय कृष्ण का रूप बना लिया, जिससे उसे दूर से ही लौटना पडा । किंतु उन्हें यहाँ भी स्तभित रहना पड़ा, क्योंकि कृष्ण यहाँ बैठे थे। सत्यभामा फिर बिगडी और तडुकी - ''तुम दोनों मिल कर मेरा उपहास करते हो । मुझ से भी मीठे बनते हो और गुपचुप उस चण्डिका से भी मिले रहते हो । मैं जानती हूँ, तुम आखिर हो तो ढोर चराने वाले ग्वाल ही न ? मैं भोली हूँ जो तुम पर विश्वास कर लेती हूँ '' कहती हुई रोषपूर्वक लौट गई।

''अरे प्रिये ! सुनो तो सही । मैं तो यहीं था पर सुने कौन ?'' सौतिया-डाह ने श्रीकृष्ण को भी उलझन में डाल दिया । वे वामागना को मनाने के लिए उसके पीछे-पीछे चले ।

उधर नारदजी रुक्मिणी के भवन में आये और बोले - ''भद्रे ! तुम जिस विप्र से बात कर रही हो, वही तुम्हारा पुत्र है । किन्तु है बडा छलिया । यह इतने में प्रद्युम्न माता के चरणों में झुका और अपना वास्तविक रूप प्रकट किया । रुक्मिणी के हर्ष की सीमा नहीं रही । उसका हृदय उछलने लगा मानो आनन्दातिरेक से उसके प्राण बाहर निकलने को तडप रहे हो । बडी कठिनाई से हृदय स्थिर हुआ। आज उसके वर्षों का दु ख शोक एव सताप मिटा था । उसकी प्रसन्नता का तो कहना ही क्या ? हर्षातिरेक का शमन होने पर प्रद्युम्न ने माता से कहा - ''माता ! अभी आप मेरे आगमन को छुपाये रखिये । मैं पिताश्री आदि को अपना आगमन कुछ विशेष ढग से बताना चाहता हूँ ।''

✦ देखो पृ ३३१ ।

प्रद्युम्न की पिता को चुनौती और युद्ध

इसके बाद उसने एक मायापूर्ण रथ बनाया और माता को उसमें बिठा कर, शखनादपूर्वक घोष किया – "मैं रुक्मिणी को हरण कर के ले जा रहा हूँ। यदि किसी में शक्ति हैं, तो रणभूमि मे आ कर मुक्त करावे।"

श्रीकृष्ण आदि चौंके और शस्त्र एव सेना ले कर दौडे। युद्ध जमा। किन्तु प्रारम्भ में ही प्रद्युम्न ने श्रीकृष्ण के धनुष की डोरी काट दी और श्रीकृष्ण को शस्त्रविहीन कर दिया। किन्तु उनकी दाहिनी भुजा फडकने लगी और हृदय हर्षित होने लगा। इतने में नारदजी ने आ करे प्रद्युम्न का परिचय दिया। बस, सारा वातावरण, हर्षोल्लास से परिपूर्ण हो गया। श्रीकृष्ण ने बडे ठाठ से पुत्र का नगर-प्रवेश कराया।

शाम्ब और प्रद्युम्न का विवाह

प्रद्युम्न का नगर-प्रवेश हो रहा था। उसी समय दुर्योधन ने आ कर श्रीकृष्ण से निवेदन किया – "मेरी पुत्री जो आपके पुत्र भानुक के साथ लग्न करने आई थी, किसी ने उसका हरण कर लिया। उसकी खोज होनी चाहिए।" श्रीकृष्ण ने कहा –"आप सावधान नहीं रहते। अब पता लगाने में कितना समय लगेगा? आपको मालूम है कि प्रद्युम्न कितने वर्षो में मिला है?" प्रद्युम्न बोला –"आप चिन्ता नहीं करें। मैं अपनी विद्या के बल से पता करके लौट आऊँगा।" वह गया और थोडी ही देर में उस स्वयवरी को ले आया, जिसे उसीने अपना चमत्कार दिखाने के लिए उडाया था। दुर्योधन उसके लग्न प्रद्युम्न के साथ करने लगा, परन्तु प्रद्युम्न ने अस्वीकार करते हुए कहा – "यह मेरे छोटे भाई के लिए आई, इसलिए मेरे अग्राह्य है।" उसका लग्न भानुकुमार और कुछ विद्याधर कन्याओं का तथा अन्य राजकन्याओं का लग्न प्रद्युम्न के साथ किया।

सपत्नियों की खटपट

महारानी सत्यभामा, प्रद्युम्नकुमार का प्रभाव देख कर ईर्षा से जलती भी। उसकी प्रशसा सुन कर एकबार महारानी का द्वेष भडक उठा। वह कुपित हो कर कोपगृह में जा कर सो गई। जब श्रीकृष्ण ने महारानी को नहीं देखा, तो खोजते हुए उस अन्धेरी कोठरी में आये और रुष्ट होने का कारण पूछा। सत्यभामा बोली – "मैं भी प्रद्युम्न के समान पुत्र चाहती हूँ। यदि वैसा पुत्र नहीं हुआ, तो मेरे हृदय में शान्ति नहीं हो सकती। मुझे जीवनभर जलना और घुल-घुल कर मरना पडेगा।" श्री कृष्ण ने उपाय करने का आश्वासन दे कर मनाया। फिर उन्होंने हरिनैगमेषी देव का आराधन किया। देव आया। श्री कृष्ण ने सत्यभामा का मनोरथ पूरा करने का कहा। देव ने श्री कृष्ण को एक माला दे कर कहा –

''यह हार पहिन कर जो रानी आपके ससर्ग में रहेगी उसके प्रद्युम्न जैसा पुत्र होगा ।''

सत्यभामा के रुष्ट होने और कृष्ण के साधनारत होने की बात चालाक प्रद्युम्न से छुपी नहीं रह सकी । वह अपनी तीक्ष्ण-दृष्टि चारों ओर रखता था । प्रज्ञप्ति विद्या के सहारे से उसने सभी बातें जान ली और अपनी माता को बतला दी । महारानी रुक्मिणी ने कहा - ''अच्छा मैं जाम्बवती को भेजना चाहती हू । परन्तु वह पहिचान में आ जाय, तो बात नहीं बन सकेगी ।'' प्रद्युम्न ने कहा - ''मैं उनका रूप, बडी माता जैसा बना दूँगा और बडी माता को सन्देश मिलन में विलम्ब कर दूँगा । आप छोटी माता को समझा दें ।''

यही हुआ । निर्धारित समय पर सत्यभामा के रूप म जाम्बवती पहुँची । श्रीकृष्ण ने देव-प्रदत्त हार उसके गले में पहिना दिया । जाम्बवती के लौटने के बाद सत्यभामा आई तो कृष्ण चकित रह गए। उन्होने सोचा - ''यह दूसरी बार फिर क्यो आई ?' किन्तु ऊपर से उन्होने सन्देह व्यक्त नहीं होने दिया। बातो-बातो में ही समझ लिया कि कुछ गडबड हुई है । चालाक प्रद्युम्न ने उपयुक्त समय का अनुमान लगा कर उसी समय आतक फैलाने वाली श्री कृष्ण की रणभेरी बजा दी जिसस कृष्ण और सत्यभामा चौंक उठे । उन्होंने सेवक से भेरी-वादन का कारण पूछा । सेवक ने प्रद्युम्नकुमार का नाम बताया। श्री कृष्ण समझ गए कि प्रद्युम्न ने ऐसा क्यों किया । सौत का बेटा भी सौत क समान दु खदायी होता है। सत्यभामा का मनोरथ सफल नहीं होने देने के लिए ही उसने ऐसा प्रपञ्च किया है।

कृष्ण समझ गए कि सत्यभामा के गर्भ से उत्पन्न होने वाला पुत्र भीरु होगा । दूसरे दिन कृष्ण रुक्मिणी के भवन गए । वहाँ जाम्बवती थी । जाम्बवती के कण्ठ में वह हार देख कर कृष्ण ने पूछा - ''देवी ! यह दिव्य हार तुम्हारे पास कहाँ से आया ?'' जाम्बवती ने कहा - ''आप ही ने तो कल दिया था । हाँ आज रात्रि मे मुझे एक स्वप्न आया जिसमे एक सिह उछलता-कूदता हुआ मेरे मुख में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया ।'' श्री कृष्ण ने कहा - ''देवी ! तुम्हारे गर्भ एक बालक आया है । वह प्रद्युम्न के समान पराक्रमी होगा ।''

गर्भकाल पूर्ण होने पर जाम्बवती के एक पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'शाम्ब' रखा गया । उसी रात सारथि के 'दारुक' नाम का और सुबुद्धि मन्त्री के 'जयसेन' नाम का पुत्र जन्मा । सत्यभामा के पहले 'भानु कुमार' था । अब पुत्र जन्मा, उसका नाम 'भीरु' रखा गया । जाम्बवती का पुत्र सारथि-पुत्र दारुक और मन्त्री-पुत्र जयसेन क साथ खेलते हुए बडा हुआ । शाम्बकुमार बुद्धिमान् और पराक्रमी था । उसने थोड़े ही दिनों में सभी कलाएँ सीख लीं ।

प्रद्युम्न का वैदर्भी के साथ लग्न

महारानी रुक्मिणी ने अपने भाई, - भोजकट नरेश रुक्मि के पास एक दूत भेजा और उसकी पुत्री प्रद्युम्न क लिये याचना की, साथ ही कहा कि - ''इस सम्बन्ध से पूर्व का मनमुटाव समाप्त हो कर

मधुर सम्बन्ध बन जायगा ।" दूत के द्वारा बहिन की माँग सुन कर रुक्मि नरेश का द्वेष जाग्रत हुआ । उन्होने कहा - "मैं अपनी पुत्री किसी चाण्डाल को तो दे सकता हूँ, परन्तु कृष्ण के यहाँ नहीं द सकता ।" दूत लौट आया और रुक्मिणी को उसके भाई का उत्तर कह सुनाया । रुक्मिणी को ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी । वह उदास हो गई । यह अपमानजनक बात थी । इससे लोगो में हलकापन लगने की सम्भावना थी । वह चिन्ता मे डूबी हुई थी कि इतने में प्रद्युम्नकुमार वहाँ आ गया । माता को उदास देख कर पूछा - "माता ! उदास क्यो दिखाई दे रही हो ? क्या कारण हुआ चिन्ता का ?" रुक्मिणी ने सारी बात सुनाई, तो प्रद्युम्न ने कहा-

"मेरे मामा सीधी बात से समझने वाले नहीं है । मैं उनके योग्य उपाय कर के उनकी पुत्री से लग्न करूँगा । आप निश्चित रहे ।"

माता को आश्वासन दे कर प्रद्युम्नकुमार, अपने भाई शाम्बकुमार को साथ ले कर भोजकट नगर आये । नगर के बाहर उन्होने अपना रूप पलटा । एक बना किन्नर और दूसरा चाण्डाल । दोनो सगीत की सुरिली एव मधुर स्वर-लहरी लहराते हुए नगर मे घूमने लगे । उनके सम्मोहक राग मे लीन हो कर लोगो का झुण्ड उनके साथ हो गया । उनके अलौकिक सगीत की प्रशसा राजा ने सुनी और उन्हे बुलाया। राज-सभा में गायन करने बैठे । राजकुमारी वैदर्भी भी राजा के निकट बैठ कर गायन सुनने लगी । राज-सभा और राज-परिवार, उनकी स्वर-लहरी में हिलोरे लेने लगा । जब सगीत समाप्त हुआ, तब सब सचेत हुए । राजा ने प्रसन्न हो कर उन्हें बहुत धन दिया और उनका स्थान तथा परिचय पूछा । वे बोले -

"हम स्वर्ग से उतर कर द्वारिका में आये हैं और वहीं हमारा निवास-स्थान है । वही द्वारिका जिसका निर्माण देव ने किया है ।"

द्वारिका का नाम सुनकर वैदर्भी ने पूछा -

"महारानी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार को तुम जानते हो ?"

"प्रद्युम्न को कौन नहीं जानता ? रूप में देव के समान कामदेव के तुल्य, पृथ्वी के अलकारभूत महापराक्रमी । वह तो अपने गुणो से ही सर्वप्रिय है । उस तेजस्वी नरपुगव को तो सभी जानते हैं" - शाम्ब ने कहा ।

यह सुन कर वैदर्भी प्रद्युम्न के प्रति राग-रजित हुइ । बुआ (फूफी) की ओर से सम्बन्ध की माँग ले कर आये हुए दूत सम्बन्धी विषय उसको जानकारी में था । इसी से उसने पूछा ।

राज्य का प्रधान हाथी उन्मादित हो कर नगर के बाजारों और गलियो म घूम रहा था । लोग आतकित हो कर घरों मे घुस रहे थे । जो भी वस्तु हाथी की सूँड म आई वह नष्ट हो कर रही । महावतों के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए । हाथी द्वारा विनाश का भय बढता ही जा रहा था । राजा न ढिढोरा पिटवाया - "जो हाथी को वश मे कर के गजशाला के खूँटे से बाँध देगा उसे मुँह-माँगा पुरस्कार

मिलेगा ।'' किन्तु किसी ने साहस नहीं किया । आतक बढता जा रहा था और राजा चिंतित था । उसी समय दोनों सगीतज्ञो ने कहा - ''महाराज ! हम अपने सगीत के प्रभाव से गजराज को वशीभूत कर के स्थानबद्ध कर दगे ।'' दोनो उठे और जिस ओर हाथी का उपद्रव था उस ओर चले । दूर से हाथी का अपनी ओर आते देख कर उन्होने सगीत-प्रवाह चलाया । हाथी का उपद्रव थमा और वह धीरे-धीरे उनके निकट आ कर ठहर गया । ये दोनो हाथी पर सवार हो गए और गजशाला में ला कर बाँध दिया। राजा प्रसन्न हुआ और पुरस्कार माँगने का कहा । उन्होंने कहा -

''महाराज ! हमें हाथ से भोजन बनाना पडता है । इसलिये हमे भोजन बनाने वाली चाहिये । कृपया आपकी प्रिय पुत्री दीजिये, जिससे हमारी मनोकामना पूरी हो ।''

सुनते ही राजा का क्रोध भड़का और उसी समय उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया । वे उद्यान में पहुँचे । अर्ध-रात्रि के समय प्रद्युम्न विद्याबल से चल कर राजकुमारी के शयन-कक्ष में पहुँचा और निद्रामग्न वैदर्भी को जगाया । वह जागते ही चौंकी, किन्तु अपने सम्मुख, अपने हृदय-पट पर छाये हुए को साक्षात् देखकर चकित रह गई । उसी विचार में निद्रामग्न हा कर सुखद स्वप्न देखती हुई वैदर्भी का आश्चर्य दूर करने के लिए प्रद्युम्न ने उसे एक पत्र दे कर कहा - ''यह मेरी माता अर्थात् तुम्हारी बूआ ने दिया है । तुम्हारी बूआ को भी उनकी बूआ ने सहयोग दिया था । अब तुम्हें भी तुम्हारी बूआ सुझाव दे रही है ।'' वास्तव में पत्र की योजना भी प्रद्युम्न ने ही की थी । दोनो की मनाकामना सफल हुई । प्रद्युम्न वैदर्भी के लिए विवाह का वेश साथ ले आया था सो पहिनाया और दोनों अपने-आप परिणय-बन्धन मे बन्ध गए । रात्रि के अन्तिम पहर में कुमार चला गया और वैदर्भी को कहता गया कि तुम्हारे माता-पिता पूछे तो मौन ही रहना । वैदर्भी निद्राधीन हो गयी । प्रातःकाल वैदर्भी की धायमाता उसे जगाने आई । किन्तु उसके वेश आदि देख कर स्तभित रह गई । वह दौडी हुई महारानी के पास आई । राजा-रानी मिल कर आए और पुत्री की स्थिति देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए । राजा दहाडा -

''कूलटा ! तेरे कारण मैंने बहिन और श्रीकृष्ण जैसे समर्थ बहनोई से वैर बसाया । उनकी माग ठुकराई और किन्नरों से वचन-हारा । किन्तु तेने मेरी प्रतिष्ठा, कुलीनता और स्नेह का कुचन्न कर नष्ट कर दिया । अब तू मेरे लिए मरी हुई है । मैं तुझे उन गन्धर्वों को दे कर अपना वचन निभाऊँगा ।''

राजा ने सेवक भेज कर गन्धर्वों को बुलाया और उन्ह पुत्री सौंप दी । वे राजकुमारी को ल कर उद्यान में आये । उधर थाडी ही देर बाद राजा का कोप उतरा और स्नेह जागा। वह अपने दुष्कृत्य और पुत्री का स्मरण करके रोने लगा । कुटुम्बीजन समझाने लगे । इतने में उन सब क कानों में वादित्रों की ध्वनि पडी । पता लगाने पर मालूम हुआ कि प्रद्युम्न और शाम्ब कुमार उद्यान में आ कर बसे हैं और बडे ठाठ से विवाहोत्सव मना रहे हैं । राजा प्रसन्न हुआ । उन्ह उत्सवपूर्वक राज्य भवन में लाया और विधिपूर्वक लग्न करके विपुल दहेज के साथ विदा किया । महारानी रुक्मिणी की मनाकामना सफल हुई ।

हेमागद राजा की सुहिरणा पुत्री के साथ शाम्बकुमार के लग्न हुए और वह भी सुखपूर्वक रहने लगा ।

श्रीकृष्ण और जाम्बवती भेदिये बने

शाम्बकुमार, भीरुकुमार से बहुत जलता था । वह उसे तग करता और हानि पहुँचाता रहता था । जुआ का खेल रचा कर उसका धन ले-लेता और मार-पीट भी कर देता । एक दिन शाम्ब से पिट कर भीरु अपनी माता के पास रोता हुआ गया । महारानी सत्यभामा के तन-मन में आग लग गई । वह तत्काल श्रीकृष्ण के पास गई और बोली,-

"यह देखो - अपने लाडले बेटे की दुष्टता । वह इसे फूटी आँख नहीं देखता और सदैव सताया करता है । इसके पास से धन भी छीन लेता है और मार-पीट भी करता है । आपने उसे सिर पर चढा रखा है । वह आपका प्रियपुत्र है । उसे आप हटकते ही नहीं और इस पर आपका स्नेह बिलकुल नहीं है । मैं यह दु ख कहाँ तक सहन करती रहूँ ।"

महारानी को तमतमाती आती हुई देख कर श्रीकृष्ण सहम गए थे और सोच रहे थे कि फिर कौन-सी विपत्ति आने वाली है । उन्होंने महारानी को मधुर वचन से सतुष्ट किया, भीरु के मस्तक पर वात्सल्यपूर्ण हाथ फिराया और शाम्ब को दण्ड देने का आश्वासन दे कर विसर्जित किया । रानियो की परस्पर की खटपट की सुनवाई और समाधान की झझट भी श्री कृष्ण को ही झेलनी पडती थी । उनका दायित्व था ही और वे बड़ी चतुराई से इस समस्या को सुलझाते थे । कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए वे स्वय भी एक दूसरी मे टकराहट उत्पन्न कर के दूर से ही खेल देखते रहते थे ।

शाम्बकुमार में चारित्रिक-दुर्बलता थी । श्री कृष्ण इसे जानते थे । सत्यभामा के लौटते ही वे जाम्बवती के भवन में पहुँचे और शाम्बकुमार के दुराचार की बात बताई । महारानी बोली;-

"स्वामिन् ! लोग तो द्वेषवश उसकी बुराई करते हैं । वास्तव में आपका पुत्र बहुत सीधा और सदाचारी है । आप ईर्षालुओं की बात पर ध्यान मत दीजिये ।"

"प्रिये ! तुम्हे पुत्र-स्नेह के कारण शाम्ब की बुराइये नहीं दिखाई देती । जिस प्रकार सिहनी को अपना बेटा बडा दयालु और सीधासादा ही लगता है, परन्तु उसकी क्रूरता और आतक तो वन के मृगादि पशु ही जानते हैं । तुम उसकी माता हो । तुम्हें उसकी बुराई दिखाई नहीं देती, परन्तु जो मैने सुना है, वह सत्य है । यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मेरे साथ चलो । मैं तुम्हें तुम्हारे पुत्र की सुपुत्रता प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ ।"

रूप परिवर्तन कर के श्री कृष्ण तो वृद्ध अहीर बने और महारानी जाम्बवती एक सुन्दर और सलोनी अहीरन बनी । दोनों दूध-दही के बरतन मस्तक पर उठा कर बेचने के लिए चले । अहीरन की कर्णमधुर सुरीली ध्वनि सुन कर शाबकुमार आकर्षित हुआ और अहीरन को देखते ही मुग्ध हो गया ।

उसने देखा - अहीर तो वृद्ध खूसट है श्वासभर रहा है लकडी के सहारे चलता है, फिर भी पाव धुन रहे हैं और अहीरन भर-यौवना अनुपम सुन्दरी है । इसका मोह उद्दिप्त हुआ । उसने उन्हें बुलाया । दुध-दही का भाव पूछा और भवन के भीतर आने का कहा । वृद्ध अहीर बोला -

"तुम्हारे लेना हो तो यहीं ले लो । मैं बूढ़ा, अपनी जवान पत्नी को भीतर नहीं भेजता । तुम जवान हो । तुम्हारा विश्वास नहीं है ।"

- "अरे बुड्ढे ! बैठ जा यहीं । यह अभी आती है । मैं तुम्हारा सारा गो-रस खरीद लूँगा और मूल्य भी इतना दूँगा कि तू प्रसन्न हो जायगा"- कहते हुए कुमार ने अहीरन का हाथ पकडा और अपने भवन में ले जाने लगा ।

इधर वृद्ध भी अहीरन का दूसरा हाथ पकड कर अपनी ओर खिंचने लगा । बस, खेल खतम हो गया । श्रीकृष्ण और जाम्बवती ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर और कुमार को दुत्कार कर स्तब्ध कर दिया । वह सम्भला और पलायन कर गया । श्रीकृष्ण ने महारानी से कहा -

"देखे अपने सुपुत्र के लक्षण ? और आप मेरी बात मानती ही नहीं थी ?"

- "अभी बचपन गया नहीं है स्वामिन् ! जवानी और बचपन के प्रभाव से बुरे लक्षण आ गए हैं। मैं समझा दूँगी ।"

दूसरे दिन शाम्बकुमार को श्रीकृष्ण ने बुलवाया । वह हाथ में चाकू से एक काष्ठ की खूँटी बनाता हुआ आया । श्रीकृष्ण ने पूछा - "यह क्या बना रहे हो ?"

- "जो मेरे साथ घटी, कल की घटना की बात करेगा उसके मुँह में ठोकने के लिए यह खूँटा बना रहा हूँ" - कुमार ने रोषपूर्वक कहा ।

श्री कृष्ण को पुत्र की उद्दडता पर रोष हो आया । उन्होंने उसे नगर से निकल जाने का आदेश दिया । कुमार को अपनी स्थिति का भान हुआ और आज्ञा पालन नहीं करने का परिणाम सोचा । उसे विवश होकर आज्ञा पालन करनी पडी । वह नगर त्याग के पूर्व प्रद्युम्नकुमार के पास पहुँचा और अपनी स्थिति कह सुनाई । प्रद्युम्न ने भ्रातृ-स्नेहवश शाम्ब को प्रज्ञप्ति-विद्या प्रदान की और सहायता का आश्वासन दे कर विदा किया ।

सत्यभामा फिर छली गई

शाम्बकुमार का विरह प्रद्युम्न को अखरा । उसने निर्वासन आदेश समाप्त कराने की युक्ति सोचा। वह भीरु को सताने लगा और भीरु अपनी माँ के सामने पुकार करने लगा । भीरु की पुकार पर सत्यभामा भुनभुनाती हुई प्रद्युम्न के निकट आई और रोषपूर्वक बोली--

"दुष्ट ! तू यहाँ क्यो रह गया ? जा तू भी टल यहाँ से ।"

"मैं कहाँ जाऊँ माताजी" - सस्मित प्रद्युम्न ने पूछा ।

"श्मशान में" - प्रद्युम्न को हँसता देख कर विशेष, क्रोधित होती हुई सत्यभामा बोली ।

"श्मशान मे कब तक रहूँ और वहाँ से लौट कर कब आऊँ" - मुँह लटका कर उदास बने हुए प्रद्युम्न ने पूछा ।

"जब मैं स्वय शाम्ब का हाथ पकड कर नगरी में लाऊँ तब तू भी आ जाना"-सत्यभामा ने कुछ सोच कर शर्त लगाई ।

"माता की आज्ञा शिरोधार्य" - कह कर प्रद्युम्न चल दिया । वह श्मशान-भूमि मे आया और शाम्ब भी वहाँ आ पहुँचा । दानो ने वहाँ अड्डा लगाया । उन्होंने जलाने के लिए लाये जाने वाले मूर्दों पर बहुत बडा कर लगा दिया । वे कर मिलने पर ही शव जलाने देते । कुछ-न-कुछ काम करना ही था उन्हें - श्मशान मे रह कर । इससे उनकी हलचल बढती और पिताश्री तक बात पहुँचती । वे यही चाहते थे ।

सत्यभामा प्रसन्न थी । अब उसने भीरु का लग्न करने का विचार किया । उसने ९९ कन्याओं का प्रबन्ध कर लिया । अब अपने पुत्र का महत्त्व बढाने के लिए वह १०० राजकुमारियो से एक साथ लग्न कराना चाहती थी । शेष एक कन्या की खोज की जाने लगी । प्रद्युम्न सब जानकारी प्राप्त करता था । उसे सत्यभामा का मनोरथ ज्ञात हो गया । उसने विद्याबल से अपना एक वैभवशाली राजा का ठाठ बनाया और बडे आडम्बर के साथ उद्यान मे ठहरा । शाब को उसने परम सुन्दरी राजकुमारी बनाई । वह वस्त्रालकार से सुशोभित हो कर सखियो के साथ वाटिका मे विचरण करने लगी । भीरुक की धात्री-माता की दृष्टि उस पर पडी । वह उसके यौवन और सौन्दर्य पर आकर्षित हुई । उसके कुल-शील आदि का परिचय ले कर अपनी स्वामिनी के पास आई और राजकुमारी की बहुत प्रशसा की । सत्यभामा ने दूत भेज कर जितशत्रु राजा से अपने पुत्र के लिए राजकुमारी की याचना की ।

जितशत्रु राजा बने हुए प्रद्युम्न कहा - "मैं श्री कृष्ण के सुपुत्र को अपनी पुत्री देना अपना अहोभाग्य मानता हूँ । किन्तु मेरी पुत्री बडी मानिनी है । उसने प्रण किया है कि - "मेरी सास महारानी हो और वह स्वय मेरा हाथ पकड कर मुझे समारोह सहित नगर-प्रवेश करा कर सम्मानपूर्वक ले जाय तथा रानियो में मेरा अग्रस्थान हो और हस्त-मिलाप के समय मेरा हाथ ऊपर रहना स्वीकार हो तभी मैं विवाह-बन्धन स्वीकार करूँगी ।" उसकी इस प्रतिज्ञा के कारण ही सम्बन्ध म रुकावट आ रही है । यदि आप इसकी यह मामूली-सी टेक पूरी कर सकें तो सम्बन्ध हो सकता है, अन्यथा आगे और कहीं देखेंगे ।"

दूत ने महारानी को सन्देश पहुँचाया । महारानी स्वयं उद्यान मे पहुँची । राजकुमारी का रूप और लावण्य देख कर बडी प्रसन्न हुई और राजकुमारी की शर्त स्वीकार कर ली । राजकुमारी बने हुए शाम्ब ने प्रज्ञप्ति-विद्या द्वारा ऐसा आभास उत्पन्न किया कि सत्यभामा और उसके परिजनों को तो वह एक सुन्दर राजकुमारी ही दिखाई दे किन्तु दूसरो को शाम्बकुमार अपने वास्तविक रूप म दृष्टिगोचर हो ।

करना है । आपकी आज्ञा होते ही अनायास अपशकुन हुआ और मेरा मन भी कुछ हतोत्साही हो रहा है। इससे पूर्व स्वामी ने कई बार विजय-यात्रा की और युद्ध के आयोजन हुए, तब मैं सदैव उत्साहित रहा और प्रसन्नता पूर्वक सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की । किन्तु आज प्रथम बार मेरी आत्मा अनुत्साहित हो रही है । इतना ही नहीं आपश्री की आज्ञा ने हृदय में आघात किया है । सर्व-प्रथम हमें विपक्ष की शक्ति एव प्रभाव को देखना है । मैंने कुछ प्रवासियों एव यात्रियो से द्वारिका की शासन-व्यवस्था और समृद्धि की प्रशसा सुनी है । लोग तो कहते हैं कि यादवों की नगरी और कृष्ण की द्वारिका का निर्माण देवो ने किया है और वह देवपुरी के समान है । कृष्ण का प्रताप बहुत-चढा है । आप ही सोचिये कि कालकुमार की कठोर पकड़ से अक्षुण्ण बच निकलने और उन्हीं को काल के गाल में धकेलने का कौशल रचने का साहस कोई साधारण मनुष्य कैसे कर सकता है ? ✦ बच्चे भूल कर जायँ, वे आगे-पीछे नहीं देखे और हठ पकड लें, तो बडों का उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए । कृष्ण अपने से दूर-बहुत दूर है । हम पूर्व में और वह पश्चिम म है । हमें अब उस ओर नहीं देख कर शांति स रहना चाहिए । यह मेरी हाथ जोड कर प्रार्थना है ।"

दूसरे मन्त्रियो ने भी प्रधान-मन्त्री का समर्थन किया किन्तु जरासध नहीं माना ।

पुत्री का दु ख उससे सहन नहीं हो रहा था और सुपुत्र कालकुमार की अकालमृत्यु भी उसके हृदय मे खटक ही रही थी । वह मन्त्रियों की निराशापूर्ण बात सुन कर उत्तेजित हुआ । उसने मन्त्रियों को निर्देश दिया - "साच-विचार की आवश्यकता नहीं । सेना का शीघ्र ही प्रयाण करना है । मैं स्वय भी सेना के साथ युद्ध-स्थल में पहुँच कर युद्ध करूँगा ।"

सेना सज्ज हो कर चली । सेना में जरासध के सहदेव आदि वीर पुत्र और चेदीनरेश शिशुपाल भी अपनी सेना सहित सम्मिलित हुए । महापराक्रमी राजा हिरण्यनाभ, दुर्योधन आदि अनेक राजा और हजारों सामत सम्मिलित हुए । जब महाराजाधिराज जरासध वाहनारूढ होने लगा तो मस्तक से उसका मुकुट गिर पडा और किसी वस्तु मे उलझ कर गले का हार टूट गया मोती बिखर गये उत्तराय वस्त्र में पाँव फँस गया और सम्मुख ही छींक हुई । इसके सिवाय बायाँ नेत्र फड़का हाथियों ने एक साथ विष्ठा-मूत्र किया पवन प्रतिकूल चलने लगा और आकाश में सेना के ऊपर हो गिद्ध-पक्षी मँडराने लगे। इस प्रकार अनायास ही अपशकुन हुए, जो इस प्रयाण को अनिष्टकारी और दु:खांत परिणाम की सूचना दे रहे थे । किन्तु उसका पतनकाल निकट आ रहा था और अधोगति म ले जाने वाली कषायें तीव्र हो रही थी । इसलिए वह सब की अवज्ञा करता हुआ, वाहनारूढ हो कर चला । सेना के प्रयाण से उड़ी हुई धूल ने आकाश को बादल के समान छा दिया और भूमि कम्पायमान होने लगी । सेना क्रमश आगे बढने लगी ।

✦ पृ. ३२२

श्रीकृष्ण की सेना भी सीमा पर पहुँची

जरासध का युद्ध-प्रयाण नारद जी को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने तत्काल श्री कृष्ण को सूचना दी और सावधान किया। राज्य के भेदियों ने भी सीमान्त के दूर प्रदेश से आई हुई युद्ध लहर का सन्देश भेजा। इसलिए द्वारिका में भी युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। महाराजा का सदेश पाकर राज्य के योद्धा और सामतगण शस्त्र-सज्ज हो कर आने लगे ।

समुद्र के समान दुर्धर एव गम्भीर समुद्रविजयजी अपने महाबलवान् पुत्रो - महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि, सुनेमि, भगवान् अरिष्टनेमि, जयसेन, हाजय, तेजसेन, जय, मेघ, चित्रक, गौतम, स्वफल्क, शिवनन्द और विश्वक्सेन शस्त्र धारण किये हुए उपस्थित हुए ।समुद्रविजयजी के अनुज-बधु अक्षोभ्य और उनके आठ पुत्र-उद्धव,धव शुभित महोदधि, अभोनिधि, जलनिधिस, वामनदेव और दृढव्रत सहित उपस्थित हुए। अक्षोभ्य से छोटे भाई स्तिमित और उसके पाच पुत्र- उर्मिमान्, वसुमान् , वीर, पाताल और स्थिर भी उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए। सागर और उसके-निष्कम्प, कम्पन लक्ष्मीवान्, केशरी, श्रीमान् और युगान्त नाम के छह पुत्र भी आ पहुचे। हिमवान् और उसके-विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान्-ये तीन पुत्र भी रणभूमि में अपना युद्ध कौशल दिखाने को आ पहुचे। महेन्द्र, मलय, सह्य, गिरि, शैल, नग और बल, इन सात पुत्रो के साथ अचल दशार्ह भी रथारूढ हो कर युद्धार्थ आये। कर्कोटक, धनजय विश्वरूप, श्वेतमुख, और वासुकी, इन पाच पुत्रों के साथ धरणदशार्ह भी सम्मिलित हुए। पूरण दशार्ह के साथ-दु पुर, दुर्मुख दुर्दश और दुर्धर-ये चार पुत्र, अभिचन्द्र और उसके-चन्द्र शशाक चन्द्राभ, शशि, सोम और अमृतप्रभ ये छह पुत्र और दशार्ह मे सबसे छोटे वसुदेव और उनके बहुत से पुत्र भी शत्रु से लोहा लेने के लिए आ उपस्थित हुए। श्री बलदेवजी और उनके- उल्मुक, निषध, प्रकृति द्युति, चारुदत्त, ध्रुव, शत्रुदमन, पीठ, श्रीध्वज, नदन, श्रीमान्, दशरथ, देवानद, आनद विपृथु, शातनु, पृथु, शतधनु, नरदेव, महाधनु और दृढधन्वा आदि बहुत से पुत्र भी सम्मिलित हुए। श्रीकृष्ण के पुत्रों में- भानु, भामर, महाभानु, अनुभानुक, बृहद्ध्वज, अग्निशिख, धृष्णु, सजय, अकपन, महासेन, धीर, गभीर, उदधि, गौतम वसुधर्मा, प्रसेनजित, सूर्य, चन्द्रवर्मा चारुकृष्ण, सुचारु देवदत्त, भरत, शख प्रद्युम्न और शाम्ब तथा अन्य हजारा महापराक्रमी पुत्र स्वेच्छा से उत्साह पूर्वक सन्नद्ध हो कर उपस्थित हुए।

- उग्रसेन और उनके- धर, गुणधर,शक्तिक, दुर्धर चन्द्र और सागर नाम वाले पुत्र तथा श्रीकृष्ण के अन्य सम्बन्धी भी उपस्थित हुए थे।

उधर युधिष्ठिर आदि पाण्डव दुर्योधन से प्रेरित हो कर पहले से ही युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। दुर्योधन ने सोचा कि श्रीकृष्ण पाण्डवों का पक्ष ले कर आये थे और वे पाण्डवो के सहायक बनेंगे, ऐसी दशा में जरासध जैसे महाप्रतापी और अत्यन्त शक्तिशाली का आश्रय लेने से ही मैं पाण्डवों को मिटाकर

निष्कटक राज कर सकूगा। उसने जरासध द्वारा श्रीकृष्ण पर की गई चढाई में जरासध का साथ दिया और पाण्डव द्वारिका की सेना के साथी हो गए ।

शुभ मुहूर्त में सेना का प्रयाण हुआ। श्रीकृष्ण गरुड़ध्वज युक्त रथ पर आरूढ हुए। दारुक उनका रथ-चालक था। अनेक राजाओ सामन्तों और योद्धाओ से युक्त श्रीकृष्ण-बलदेव रणभूमि की ओर बढने लगे। प्रयाण के समय उन्हें शुभ एव विजय-सूचक शकुन हुए। द्वारिका से पैंतालिस योजन दूर सेनपल्ली गाव के निकट यादवी-सेना का पडाव हुआ।

कुछ विद्याधर राजा समुद्रविजयजी के निकट आये और नम्रतापूर्वक निवेदन किया,-"राजन्! हम आपके बन्धु श्रीवसुदेवजी के गुणों पर मुग्ध हो कर वशीभूत बने हुए हैं, फिर आपके घर धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् और वासुदेव-बलदेव जैसी महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुई है। उनके प्रभाव के आगे किसी का बल काम नहीं देता। अतएव आपको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, किंतु उपयुक्त समय होने से हम भी अपनी भक्ति समर्पित करने आये है कृपया हमें भी अपने सामतो के साथ युद्ध के साथी बना लीजिये।" समुद्रविजयजी ने विद्याधरो का आग्रह स्वीकार किया, तब विद्याधर राजा बोले,-

"वैताढ्य पर्वत पर के कुछ विद्याधर राजा, जरासध के पक्ष के हैं। वे सेना ले कर आने वाले हैं। हमारा विचार है कि उनको वहीं रोक दें। इसलिए हमारी सेना के सेनापति श्री वसुदेवजी को बनावें। आप उन्हे तथा शाम्ब और प्रद्युम्न को हमारे साथ भेज दे। इससे सभी विद्याधरों पर अच्छा प्रभाव पडेगा और सरलता से विजय हो जायगी।"

समुद्रविजयजी ने विद्याधरों की बात स्वीकार की और वसुदेवजी तथा शाम्ब एव प्रद्युम्न कुमार को जाने की आज्ञा दे दी। अरिष्टनेमि कुमार ने अपने जन्मोत्सव के प्रसग पर, देव द्वारा अर्पित की गई अस्त्रवारिणी औषधी वसुदेवजी को दे दी।

श्रीकृष्ण और जरासध की सेना के पड़ाव में चार योजन की दूरी रही और दोनों सेनाएँ अपनी-अपनी व्यवस्था में सलग्न हो गई।

मन्त्रियों का परामर्श ठुकराया

जरासध के समीप उसका हसक नामक मन्त्री कुछ मन्त्रियों के साथ उपस्थित हुआ और नम्रतापूर्वक निवेदन किया;-

"स्वामिन् ! हम आपके मन्त्री हैं और आपके हित में निवेदन करते हैं। महाराज! परिस्थिति पर विचार कीजिए। यादव कुल अभी उन्नति के शिखर पर पहुँच रहा है। जिस वसुदेव को मरवाने का आपने भरपूर प्रयत्न किया वह नहीं मर सका। रोहिणी के स्वयवर में ही आपने वसुदेव के बल को

प्रत्यक्ष देख लिया है, जिसे आपके वीर योद्धा सामन्त तथा सेना नहीं जीत सके✦। उसके बलदेव और कृष्ण नाम के दो पुत्रों के बल, पराक्रम एव अभ्युदय का तो कहना ही क्या ? उनके अभ्युदय के प्रभाव से देव भी उनके सहायक हैं। युवराज कालकुमार को भमित कर के जीवित ही चिता में झोक कर भस्म करने वाला उनका दैवी प्रभाव हम देख ही चुके हैं। जिनके लिए देव ने एक रात्रि में ही देवलोक के समान अनुपम नगरी बसा दी उसके वृद्धिगत प्रभाव को देखकर हमे शात रहना चाहिए।

जिसने अपनी बाल अवस्था में राक्षसो को मार डाला, किशोरवय मे महाबली कसजी को देहगत कर दिया और अकेले बलदेवजी ने रुक्मी नरेश और शिशुपाल को सेना सहित पराजित करके रुक्मिणी को ले आये, उन महावीरों से युद्ध करने के पूर्व आपको गम्भीर विचार करना है। आपके साथी शिशुपाल, दुर्योधन आदि उनके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखते, जबकि उधर कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और शाम्ब भी राम-कृष्ण जैसे हैं और पाण्डव जैसे महाबली भी उनके आश्रय मे रहते हुए युद्ध करने आये हैं।

"महाराज! जिनके घर त्रिलोकपूज्य भावी तीर्थंकर भगवान् ने जन्म लिया, जिनका जन्मोत्सव करने देवलोक से इन्द्र आवे, उन अनन्तबली क सामने जूझने को तत्पर होना, अपने-आपको जीवित ही महानल में झोकना है। हम आपके आश्रित हैं और आपके तथा साम्राज्य के हित के लिए आपसे निवेदन करते हैं। यदि आप शाति से विचार करेंगे, तो आपको हमारे कथन की सत्यता ज्ञात होगी और वैर-विरोध का वातावरण पलट कर मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा।"

जरासध को अपने मन्त्रियों का परार्मश नहीं भाया। उसका दुर्भाग्य उसे सही दिशा में सोचने नहीं दे रहा था। वह क्रोधातुर होकर बोला,-

"हसकादि मन्त्रियो! या तो तुम शत्रुओं के प्रभाव से भयभीत हो कर कायर बन गए हो, या यादवों ने तुम्हें घूस देकर अपने पक्ष में कर लिया है। इसीसे तुम ऐसी बातो से मुझे डरा कर शत्रु के सामने झुकाना चाहते हो। किन्तु याद रखो कि केसरीसिह कभी गीदड भभकी से नहीं डरता। तुम देखोगे कि मैं इन ग्वालियो के झुण्ड को क्षण भर में नष्ट कर दूँगा। तुम्हारी दुराशययुक्त बात उपेक्षणीय ही नहीं, धिक्कार के योग्य है।"

जरासध द्वारा हसक-मन्त्री आदि के तिरस्कार से उत्साहित होता हुआ डिभक नाम का मन्त्री बोला -

"महाराज! आपका कथन यथार्थ है। रणभूमि में खडे होने के बाद पीछे हट कर जीवित रहने से तो युद्ध में कट-मरना बहुत ही अच्छा है, यशस्वी है और वीरोचित है। इसलिए आप अन्य विचार छोड कर एक अभेद्य ऐसे चक्रव्यूह की रचना कर के युद्ध प्रारभ कर दीजिए।"

✦ पृ २९९

डिभक की बात जरासध ने हर्ष के साथ स्वीकार की और अपने सेनापतियो को बुला कर चक्रव्यूह रचने की आज्ञा दी। इसके बाद हसक डिभक आदि मन्त्रियो और सेनापतियों ने मिल कर चक्रव्यूह की रचना की।

युद्ध की पूर्व रचना

एक हजार आरा वाले चक्र के आकार का व्यूह (स्थापना-रचना) बनाया गया। प्रत्येक आरक पर एक बलवान् बड़ा राजा अधिकारी बनाया गया। प्रत्येक अधिकारी राजा के साथ एक सौ हाथी, दो हजार रथ, पाँच हजार अश्व और सोलह हजार पदाति सैनिकों का जमाव किया गया। चक्र की परिधि(बाहरी वृताकार सीमा) पर सवा छह हजार राजा रहे। चक्र के मध्य में पाँच हजार राजाओं और अपने पुत्रों के साथ स्वय जरासध रहा। चक्र के पृष्ठ भाग मे गान्धार और सैंधव देश की सेना रही। दक्षिण में धृतराष्ट्र के सौ पुत्र सेना सहित रहे। बाँई ओर मध्य-प्रदेश के राजा रहे और आगे अनेक राजा सेना सहित जम गए।

चक्रव्यूह के आगे शकट-व्यूह की रचना की गई और उसके प्रत्येक सधि स्थान पर पचास-पचास राजा रहे। सन्धि के भीतर एक गुल्म(इसमें ९हाथी ९रथ, २७अश्वारोही और ४५ पदाति होते हैं) से दूसरे गुल्म में जाने योग्य रचना की गई जिसमें अनेक राजा और सैनिक रहे। चक्रव्यूह के बाहर अनेक प्रकार के व्यूह बना कर चक्रव्यूह को सुदृढ एव अभेद्य बना दिया। इसके बाद विख्यात पराक्रमी और महान् योद्धा कोशलाधिपति हिरण्यनमि का सेनापति पद पर अभिषेक किया। इस कार्य में सारा दिन व्यतीत हो गया और सध्या हो गई।

शत्रु की व्यूह-रचना देख कर, उसी रात को यादवो ने एक ऐसे गरुड-व्यूह की रचना की कि जो शत्रु से अभेद्य रह सके। उस व्यूह के अग्रभाग मे अर्धकोटि राजकुमार रहे जो महावीर थे। उनके आगे श्रीकृष्ण और बलदेव जी रहे। उनके पीछे अक्रुर कुमुद पद्म सारण विजयी जय, जराकुमार सुमुख दृढमुष्टि, विदुरथ अनाधृष्टि और दुर्मुख इत्यादि वसुदेव के एक लाख पुत्र रथारूढ हो कर रहे। उनके पीछे अग्रसेनजी एक लाख रथियो सहित रहे। उनके पीछे उनके चार पुत्र उनके रक्षक के रूप में रहे। उनके पीछे धर सारण, चन्द्र, दुर्धर और सत्यक नामक राजा रहे। राजा समुद्रविजयजी अपने महापराक्रमी दशार्ह बन्धुओ और उनके पुत्रों के साथ दक्षिण पक्ष में रहे। उनके पीछे महानेमि सत्यनेमि दृढनेमि, सुनेमि, अरिष्टनेमि विजयसेन मघ महीजय तेजसन जयसेन जय और महाद्युति नाम के समुद्रविजयजी के कुमार रहे। साथ ही अन्य राजागण पच्चीस लाख रथियों सहित समुद्रविजयजी के सहायक बन कर रहे। बलदेवजी के पुत्र और युधिष्ठिरादि पाण्डव, बाँई ओर डट गये। उल्मुक, निषध शत्रुदमन, प्रकृतिद्युति सत्यकी, श्रीध्वज देवानन्द आनद शातनु, शतधन्वा दशरथ ध्रुव पृथु, विपृथु, महाधनु, दृढ़धन्वा, अतिवीर्य और देवनद- ये सब पच्चीस लाख रथिकों से परिवृत्त हो कर,

धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्रा का सहार करने के लिये सन्नद्ध हो कर पाण्डवो के पीछे खडे हो गये। उनके पीछे चन्द्रयश, सिहल, बर्बर, काबोज, केरल और द्रविड के राजा नियत हुए, उनके पीछे धैर्य और बल के शिखर समान महासेन का पिता अपने आठ हजार रथियों सहित आ डटा। उसके सहायक हुए-भानु, भामर, भीरु, असित, सजय, भानु, धृष्णु, कम्पित, गौतम, शत्रुजय, महासेन, गभीर, बृहद्ध्वज, वसुवर्म,उदय, कृतवर्मा, प्रसेनजित, दृढवर्मा, विक्रात और चन्द्रवर्मा-ये सभी उन्हें घेर कर रक्षक बन गए। इस प्रकार गरुडध्वज(श्रीकृष्ण) ने गरुडव्यूह की रचना की।

श्री अरिष्टनेमिनाथ को भातृ-स्नेहवश युद्धस्थल पर आये जान कर, शक्रेन्द्र ने अपने विजयी शस्त्रो और रथ सहित मातलि रथी को भेजा। वह रत्नजडित रथ अपने प्रकाश से प्रकाशित होता हुआ सभी जनों को आश्चर्यान्वित कर रहा था। जब मातलि ने श्री नेमिनाथ से निवेदन किया तो वे रथारूढ हो गए।

श्री समुद्रविजयजी के परामर्श से श्रीकृष्ण ने अपने अनुज-बन्धु अनाधृष्टि का सेनापति-पद का अभिषेक किया। श्रीकृष्ण की सेना में जयजयकार की घोर ध्वनि हुई। इस ध्वनि को सुन कर शत्रु-सैन्य क्षुभित हो गया।

युद्ध वर्णन

युद्ध प्रारभ हो गया। सर्वप्रथम अग्रभाग में रही सेना जूझने लगी। एक-दूसरे पर अस्त्र-वर्षा करने लगे। इस प्रकार दोनों ओर से सघर्ष चलता रहा फिर जरासध के सैनिको ने सम्मिलित हो, व्यवस्थित प्रहार से गरुड-व्यूह के सैनिकों की पक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसी समय श्रीकृष्ण ने अपने सैनिको को आश्वस्त किया। दक्षिण तथा वाम भाग पर रहे हुए महानेमि और अर्जुन तथा अग्रभाग पर रहे हुए अनाधृष्टि- इन तीनों ने क्रोधित हो कर शखनाद किया। तीनो के शख के सम्मिलित नाद और सामूहिक वादिन्त्र की गभीर ध्वनि ने जरासध की सेना का मनोबल तोड दिया। इसके बाद नेमि, अनाधृष्टि और अर्जुन, बाणों की घोर-वर्षा करते हुए आगे बढे। इनके प्रबल-प्रहार को सहन करना विपक्ष के राजाओ के लिए अत्यत कठिन हो गया। वे अपने शकट-व्यूह का स्थान छोड़ कर भाग गए। इन तीनो वीरों ने तीन स्थान से चक्रव्यूह को खडित किया और व्यूह के भीतर घुस गए। उनके साथ उनकी सेना ने भी प्रवेश किया। इनका अवरोध करने के लिए जरासध क पक्ष के दुर्योधन रौधिरि और रुक्मि आगे आये। दुर्योधन अपने महारथियो के साथ अर्जुन के सम्मुख आया। रौधिरि, अनाधृष्टि के सामने और रुक्मि महानेमि से टक्कर लेने लगा। इन तीनों के साथ इनकी रक्षक-सेना भी थी। छहो महावीरो का द्वद्व-युद्ध प्रारभ हुआ। वीरवर महानेमि ने रुक्मि का रथ और अस्त्र नष्ट करके वध्य- स्थिति पर ला दिया। रुक्मि की दुर्दशा देख कर शत्रुतप आदि राजा उसकी रक्षार्थ आये किंतु महानेमि के महा-प्रहार से सातों के धनुष्य टूट कर व्यर्थ हो गए। शत्रुतप को अन्य कोई मार्ग दिखाई

नहीं दिया तो उसने महानेमि पर एक शक्ति फेंकी। उस दैविक- शक्ति में से विविध प्रकार के भयकर अस्त्र धारण करने वाले क्रूरकर्मी हजारों किन्नर उत्पन्न हो कर महानेमि की ओर धावा करने चले। उस जाज्वल्यमान शक्ति को देखकर यादव सेना भयभीत हो गई। इन्द्र के भेजे हुए मातलि ने राजकुमार अरिष्टनेमि से कहा-"स्वामिन्! यह वह शक्ति हैं, जिसे रावण ने धरणेन्द्र से प्राप्त की थी। इसका भेदन मात्र व्रज से ही होता है। इसलिए इससे रक्षा तभी हो सकती है, जबकि महानेमि के बाण में व्रज सक्रमित किया जाय। आज्ञा हो, तो मैं वैसा करूँ।" अरिष्टनेमि की आज्ञा प्राप्त कर मातलि ने वैसा ही किया। इससे महानेमि के बाण से वह शक्ति आहत होकर भूमि पर गिर पड़ी। इसके बाद ही शत्रुतप के रथ और धनुष को तोड कर उसे निरस्त कर दिया गया और साथ उसके साथी छह राजाओं की भी यही दशा बना दी गई। इतने मे रुक्मि शस्त्र-सज्ज होकर दूसरे रथ में बैठ कर आया और शत्रुतप युक्त साता वीर फिर महानेमि से युद्ध करने लगे। महानेमि ने रुक्मि नरेश के बीस धनुष तोड डाले तब उसने कोबेरी नामक गदा उठाकर महानेमि पर फेंकी, उसे महानेमि ने अग्न्यस्त्र से भस्म कर दी। इसके बाद अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए रुक्मि राजा ने महानेमि पर वैरोचन बाण छोड़ा जिससे लाखों बाणो की मार एक साथ हो सकती है। इस बाण को नष्ट करने के लिए महानेमि ने माहेन्द्र बाण छोड़ और साथ ही दूसरा बाण मारकर रुक्मि के ललाट पर प्रहार किया। इस प्रहार से रुक्मि घायल हो गया वेणुदारी उसे उठाकर एक ओर ले गया। उसके हटते ही शत्रुतपादि साता राजा भी रणक्षेत्र से हट गए।

उधर समुद्रविजयजी ने द्रुमक को स्तिमित ने भद्रक को और अक्षोभ ने वसुसेन को पराजित किया। सागर ने पुरिमित्र को मार डाला। हिमवान् ने धृष्टद्युम्न को नष्ट किया। धरण ने अन्वष्टक को अभिचन्द्र ने शतधन्वा को, पूरण ने द्रुपद को, सुनेमि ने कुतिभोज को, सत्यनेमि ने महापद्म को और दृढनेमि ने श्रीदेव को पराजित किया। इस प्रकार यादव कुल के वीरो द्वारा पराजित हुए शत्रुपक्ष के राजा अपने सेनापति हिरण्यनाभ की शरण में आये। दूसरी ओर भीम, अर्जुन और बलदेवजी के पुत्रों ने धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों को रणभूमि छोडकर पलायन करने पर विवश कर दिया। अर्जुन के गांडिव धनुष के घोर निर्घोष से सभी के कान बहरे हो गए। उसकी वेगपूर्वक बाण-वर्षा से निकले हुए बाण और उन बाणों मे से भी लगातार क्रमबद्ध निकले हुए अन्तबाणों से आकाश ढक कर अन्धकार छा गया। अर्जुन के प्रहार से आतंकित हो कर दुर्योधन काशी, त्रिगर्त सबल, कपोत, रोमराज चित्रसन जयद्रथ सौवीर, जयसेन शूरसेन और सोमक राजा ने युद्ध का नियम त्याग कर सभी अर्जुन पर सम्मिलित प्रहार करने लगे।

सहदेव शकुनि से भिडा, भीम ने दु शासन को लक्ष्य बनाया नकुल उलूक पर युधिष्ठिर शल्य पर और द्रोपदी के सत्यकी आदि पाँच पुत्रों ने दुर्मर्षण आदि छह राजाओं पर तथा बलदेवजी के पुत्र अन्य राजाओं पर प्रहार करने लगे। युद्ध उग्र होता गया। अकेला अर्जुन दुर्योधनादि अनेक राजाओं के साथ युद्ध करता हुआ उनके धनुष-बाण का छेदन करने लगा। अर्जुन के प्रहार से दुर्योधन का रथ भी

और चालक भग्न हो गए और दुर्योधन का कवच भी टूट कर गिर पडा। अपने को अरक्षित पा कर वह घबराया और भाग कर शकुनि के रथ पर चढ-बैठा।

अर्जुन द्वारा मेघवृष्टि के समान बाण-वर्षा होने से काशी आदि दस राजा आक्रात हुए, किंतु शल्य ने युधिष्ठिरजी के रथ की ध्वजा तोड कर गिरा दी। बदले मे युधिष्ठिरजी ने शल्य के धनुष का छेदन कर डाला। शल्य ने दूसरा धनुष लेकर बाण-वर्षा से युधिष्ठिरजी को ढक दिया। युधिष्ठिरजी ने एक दु सह शक्ति, शल्य पर फेंकी। शल्य ने उस शक्ति को खण्डित करने के लिए बहुत बाण छाडे, परतु व्यर्थ गए और शल्य का जीवन ही समाप्त हो गया। शल्य का मरण होते ही बहुत से राजा पलायन कर गये। उधर भीम ने दु शासन से द्युतक्रीडा के समय की हुई मायाचारिता और द्रोपदी के अपमान का बदला लेने के लिए उसे उनके दुष्कृत्य का स्मरण कराते हुए, काल के गाल म ठूँस दिया। सहदेव ने गाधार की मायावी चाल से क्षुब्ध हो कर एक भयकर बाण छोडा। दुर्योधन ने उस बाण को मध्य में ही नष्ट कर के शकुनि को बचा लिया। यह देखकर सहदेव ने दुर्योधन की भर्त्सना करते हुए कहा-

"अरे, ओ मायावी दुर्योधन ! द्युतक्रीडा में तेने छल-प्रयोग किया वैसा यहा भी करता है ? किन्तु अब तेरा छल नहीं चल सकेगा। अच्छा हुआ कि तुम दोनों साथ ही मेरे सामने आये। मैं तुम दोनों को साथ ही यमधाम पहुँचा कर तुम्हारा साथ अक्षुण्ण रखूँगा।"

इतना कह कर सहदेव ने बाण-वर्षा से दुर्योधन को आच्छादित कर दिया। दुर्योधन ने भी तीव्र बाण-वर्षा से सहदेव को आक्रात किया और उसका धनुप काट दिया और साथ ही एक मन्त्राधिष्ठित अमोघ-बाण सहदेव को समाप्त करने के लिए छोडा, किन्तु अर्जुन ने गरुडास्त्र छोड कर दुर्योधन के बाण का बीच ही से निवारण कर दिया। दूसरी आर से शकुनि ने भी भयकर बाण-वर्षा कर के सहदेव को आच्छादित कर दिया। किन्तु सहदेव ने अपने भीषण प्रहार से शकुनि को उसके रथ घोडे और सारथि सहित समाप्त कर दिया।

कर्ण का वध

नकुल ने उलुक राजा का रथ तोड कर नीचे गिरा दिया। उलुक भागकर दुर्मर्षण के रथ पर चढ बैठा, तो द्रोपदी के सत्यकी आदि पाँच पुत्रो ने दुर्मर्षण आदि छह राजाओं की बहुत कदर्थना की। वे भागकर दुर्योधन की शरण म पहुँचे । दुर्योधन, काशी आदि नरेशों सहित युद्ध करने के लिए अर्जुन के सम्मुख आए। अर्जुन भी बलदेवजी के पुत्रों से परिवृत हो कर बाण-वृष्टि करने लगा। अजुन की अचूक मार स दुर्योधन की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और उसके जयद्रथ नाम के महाबली योद्धा का गतप्राण कर दिया। जयद्रथ का प्राणान्त देखकर क्रोधाध हुआ वीरवर कर्ण अर्जुन को समाप्त करने के लिए कानपयत धनुष खिच कर आगे आया और बाण-वर्षा करने लगा। दोनो महावीरों के आघात-प्रत्याघात बहुत काल तक चलते रहे। अर्जुन के प्रहार से कर्ण कई बार रथविहीन हो गया और उस

नये-नये रथ और अस्त्र ले कर युद्ध करना पड़ा। अन्त में रथ-विहीन कर्ण मात्र खड्ग ले कर ही अर्जुन पर दौड़ा किंतु अर्जुन के प्रहार से वह भी कालकवलित हो गया। कर्ण के मरण से हर्षोन्मत्त हो कर भीम ने सिंहनाद किया, अर्जुन ने शङ्खनाद किया और पाण्डवों की सेना ने विजय-गर्जना कर के हर्ष व्यक्त किया। उधर शत्रु-सेना में शोक का वातावरण छा गया।

दुर्योधन का विनाश

कर्ण के विनाश से दुर्योधन क्रोधोन्मत्त हो अपनी गज सेना ले कर भीम से युद्ध करने आ पहुँचा। भीम ने भी हाथी के सामने हाथी अश्वारोही के सामने अश्वारोही रथ-सेना के साथ रथियों को भिड़ा कर इतना तीव्र प्रहार किया कि दुर्योधन की सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई। दुर्योधन ने अपनी बची-खुची सेना को साहस भर कर एकत्रित की और स्वयं भीमसेन के सम्मुख आया। दोनों वीर, सिंह के समान गर्जना करते हुए चिरकाल तक विविध प्रकार के युद्ध करते रहे। अंत में द्युतक्रीडा के समय की हुई अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए भीम ने अपनी गदा के भीषण प्रहार से दुर्योधन को उसके रथ सहित चूर्ण कर दिया। दुर्योधन का विनाश पाण्डवों की महान् सिद्धि थी। पाण्डवों के हर्ष का पार नहीं रहा।

सेनापति मारा गया

दुर्योधन की मृत्यु के बाद उसके अनाथ सैनिक, सेनाधिपति हिरण्यनाभ की शरण में गये। हिरण्यनाभ इस दुःखद घटना से अत्यन्त क्रोधित हुआ और यादवी-सेना को उपद्रवित एवं पीड़ित करता हुआ सेना के अग्रभाग पर आ कर अटसट बकने लगा। उसकी वाचालता देखकर अभिचन्द्र ने कहा- "अरे, ओ क्षुद्र! बकता क्यों है ? लड़ना हो, तो तू भी आ सामने और कर्ण तथा दुर्योधन का साथी बन जा।" अभिचन्द्र के वचन से हिरण्यनाभ विशेष उत्तेजित हुआ और तीक्ष्ण बाण-वर्षा से उसे पीड़ित करने लगा। हिरण्यनाभ के प्रहारों की भीषणता जानकर अर्जुन ने उसके बाणों को मध्य में ही काट-फेंकना प्रारंभ किया। हिरण्यनाभ अभिचन्द्र को छोड़कर अर्जुन की ओर मुड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अर्जुन पर प्रहार करने लगा। दोनों का युद्ध चल ही रहा था कि भीमसेन आ पहुँचा और अपने भारी गदा प्रहार से उसे रथ से नीचे गिरा दिया। हिरण्यनाभ उठा और लज्जा-मिश्रित क्रोध से अपने होंठ काटता हुआ पुनः रथारूढ़ हुआ और तीक्ष्ण प्रहार करने लगा। इस बार उसका सामना करने के लिए उसका भानेज जयसेन आया, जो समुद्रविजयजी का पुत्र था। हिरण्यनाभ ने जयसेन के सारथी को मार डाला। इससे विशेष कुपित हो कर जयसेन ने अपने भीषणतम प्रहार से हिरण्यनाभ के रथी को मारने के साथ उसका धनुष भी काट दिया और रथ की ध्वजा काटकर गिरा दी। हिरण्यनाभ ने लगातार ऐसे मर्मवेधी दस बाण मारे, जिससे जयसेन मारा गया। जयसेन की मृत्यु से उसका भाई महीजय क्रोधातुर हो कर रथ से नीचे उतरा और ढाल-तलवार ले कर हिरण्यनाभ पर झपटा। महीजय को अपना ओर

आता देखकर हिरण्यनाभ ने क्षुरप्र बाण मार कर उसका मस्तक छेद डाला। अपन दो बन्धुओ का वध देखकर अनाधृष्टि, हिरण्यनाभ से युद्ध करने आया और दोनो योद्धा लडने लगे।

जरासध-पक्ष के योद्धागण यादवा और पाण्डवों के साथ पृथक्-पृथक् द्वद्व युद्ध करने लगे। प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भगदत्त, हाथी पर चढ कर महानेमि के साथ युद्ध करने आया और गर्वोक्ति में बाला-"महानेमि! मैं तेरे भाई का साला रुक्मि या अश्मक नहीं हूँ जिसे तू मार सकेगा। मं नारक जीवो के शत्रु कृतात-यमराज जैसा हूँ। इसलिए तू मेरे सामने से हठ जा।" इतना कहने के बाद वह अपना हाथी महानेमि के रथ के निकट लाया और रथ को हाथी से पकडवा कर घुमाया। किन्तु महानेमि ने हाथी के उठाये हुए पाँव मे बाण मारे, जिससे हाथी भगदत्त सहित पृथ्वी पर गिर पडा। उस समय महानेमि ने हँसते हुए और व्यग-बाण पारते हुए कहा-"हा, वास्तव मे तू रुक्मि नहीं हैं और मे तुझे रुक्मि के रास्ते भेजकर हत्या का पाप लेना भी नहीं चाहता"- इतना कह कर उसे अपने धनुप का स्पर्श करा कर छोड दिया।

उधर भूरिश्रवा और सत्यकी, जरासध और श्रीकृष्ण युद्ध-रत थे और विजय प्राप्त करने के लिए मानवी और दिव्य-अस्त्रो का प्रयोग कर रहे थे। इनका घात-प्रतिघात रूप युद्ध चलता ही रहा। वे शस्त्र छोड कर परस्पर मुष्टि-युद्ध भी करते बाहुयुद्ध करते थे। इनके प्रहार और हुँकार से लोक कम्पायमान होने लगा। अन्त में सत्यकी ने भूरिश्रवा को पकड कर मार डाला।

अनाधृष्टि और हिरण्यनाभ का युद्ध उग्र रूप से चल रहा था। जब अनाधृष्टि ने हिरण्यनाभ का धनुष काट डाला, तो उसने एक थभे जैसी दृढ और बडी लोह-अर्गला उठा कर अनाधृष्टि पर इतने बल से फैंकी कि उसमे से चिनगारियाँ निकलने लगी। अनाधृष्टि ने बाण मार कर उसे बीच मे ही काट दी। अपना प्रहार व्यर्थ जाता देखकर हिरण्यनाभ रथ मे से उतरा और खड्ग ले कर अनाधृष्टि पर दौडा। यह देख कर श्री बलदेवजी रथ से उतरे और स्वय खड्ग ले कर हिरण्यनाभ से जूझने लगे। विविध प्रकार क दाव-पेच से बहुत काल तक दोनो का खड्ग-द्वद्व चलता रहा। इस दीर्घकाल के द्वद्व से हिरण्यनाभ थक गया। इसके बाद अनाधृष्टि ने ब्रह्मास्त्र से प्रहार कर उसे समाप्त कर दिया।

शिशुपाल सेनापति बना

हिरण्यनाभ के गिरते ही सेना के अन्य अधिकारी महाराजा जरासध के पास आये। जरासध ने रिक्त हुए सेनापति-पद पर शिशुपाल का अभिषेक किया। उधर यादवो और पाण्डवों से सम्मानित एव हर्ष-विभोर अनाधृष्टि कुमार, श्रीकृष्ण के निकट आये सूर्य अस्त हो कर सध्या हो गई थी। श्रीकृष्ण की आज्ञा से युद्ध स्थगित कर के सभी अपने-अपने शिविर में चल गये। प्रात काल होने पर यादवी-सेना ने पुन गरुड-व्यूह की रचना की और शिशुपाल ने चक्रव्यूह की रचना की। इस समय महाराजा जरासध स्वय निरीक्षण करने, अपनी सेना के अग्रभाग पर आया। उसका हमक मन्त्री साथ था। मन्त्री

यादवी-सेना के सेनापति और प्रमुख योद्धाओ की ओर अगुली निर्देश करता हुआ इस प्रकार परिचय देने लगा -

"महाराज! यह काले अश्व युक्त रथ और गजेन्द्र चिन्हांकित ध्वजा वाला शत्रु-पक्ष का सेनापति अनाधृष्टि है। यह नीलवर्णी रथ वाला युधिष्ठिर है, वह श्वेत अश्व के रथ में अर्जुन बैठा है, नील अश्व के रथ वाला है-भीमसेन, स्वर्ण समान वर्ण वाले अश्व के रथ और सिंहांकित ध्वजा वाले समुद्रविजय, शुक्लवर्णी अश्व युक्त रथ और वृषभांकित ध्वजा वाले हैं कुमार अरिष्टनेमि चितकबरे वर्ण के घोडे वाले रथ और कदलि चिह्न वाली ध्वजा वाला है अक्रूर तीतरवर्णी अश्व के रथ में सत्यकी, कुमुद रंग के घोड़े वाले रथ पर महानेमि है और तोते की चोंच जैसा वर्ण उग्रसेनजी के रथ के घोडे का हैं। स्वर्ण समान वर्ण का घोडा और मृगांकित पताका जराकुमार के रथ की है, कम्बोज देश के अश्व वाले रथ पर श्लक्षणराम का पुत्र सिंहल है। इस प्रकार मेरु पद्मरथ, सारण, विदुरथ आदि का परिचय देते हुए सेना के मध्य में रहे हुए श्वेत-वर्ण के अश्व और गरुडांकित ध्वजा वाले कृष्ण हैं और उनकी दाहिनी ओर अरिष्ट वर्ण वाले और ताडमंडित ध्वजाधारक रथ पर बलदेव हैं। यह समस्त सेना शत्रु-पक्ष की है।"

अपने मन्त्री से विपक्षी महारथियो का परिचय पा कर जरासंध क्रोधित हुआ और अपने धनुष का आस्फालन किया, साथ ही अपना रथ कृष्ण-बलदेव के सामने ले आया। उधर जरासंध का पुत्र युवराज यवन वसुदेव के पुत्र अक्रूर पर चढ आया। दोनो का भयंकर युद्ध हुआ। सारण ने कुशलतापूर्वक बाण-वर्षा करके यवन के प्रहार का अवरोध किया किन्तु यवन ने अपने मलय नामक गजराज को बढ़ा कर सारण के रथ को अश्व-सहित नष्ट कर डाला और ज्योंही वह हाथी क्रुद्ध हो कर अपने दंत-प्रहार से मारने के लिए धावा किया त्योंही सारण ने उछल कर खड्ग का प्रहार कर के यवन का मस्तक काट कर मार डाला और हाथी की सूँड दाँत सहित काट डाला। सारण का अद्भुत पराक्रम देख कर यादवी-सेना हर्षोत्फुल्ल हो जयनाद करने लगी।

अपने पुत्र युवराज का वध जानकर जरासंध क्रोधांध हो गया और यादवी-सेना का विनाश करने लगा। उसने बलभद्रजी के पुत्र-आनन्द शत्रुदमन नन्दन श्रीध्वज ध्रुव देवानन्द, चारुदत्त पीठ, हरिसेन और नरदेव को-जो व्यूह के अग्रभाग पर थे-मार डाला। इनके गिरते ही यादवी-सेना भागने लगी। उस समय शिशुपाल ने कृष्ण को संबोध कर कहा—"कृष्ण! यह गायों का गोकुल नहीं है। यह रणभूमि है। यहाँ तुम्हारा सारा घमण्ड चूर हो जायगा।"

—"शिशुपाल! अभी मैं रुक्मि के पुत्र से लड़ रहा हूँ। मैं नहीं चाहता कि तुझसे लड़ कर बड़ी माँ को- जो मेरी मौसी है- रुलाऊँ किन्तु तेरा काल ही आ गया होगा इसी से तू मेरी ओर आया है।"

कृष्ण के वचन सुन कर शिशुपाल क्रोधित हुआ। उसने धनुष का आस्फालन कर के कृष्ण पर बाण वर्षा प्रारंभ कर दी किन्तु कृष्ण ने उसका धनुष कवच और रथ भी तोड़ डाला। अब वह खड्ग

लेकर कृष्ण की ओर दौडा, किन्तु सामने आते ही श्रीकृष्ण ने उसका मुकुटयुक्त मस्तक काट कर गिरा दिया।

जरासंध का मरण और युद्ध समाप्त

शिशुपाल के वध से जरासध अत्यन्त उत्तेजित हो गया और यमराज के समान विकराल हो कर अपने पुत्रों और राजाओ के साथ रणभूमि म आ धमका और यादवी सेना को लक्ष्य कर कहने लगा,-

''सुनो, ओ यादव-सेना के अधिकारियो, सुभटों और सहायको । मैं व्यर्थ का रक्तपात नहीं चाहता। मेरा तुम पर रोष नहीं हैं और न मैं तुम्हारा अनिष्ट चाहता हूँ। मेरे अपराधी कृष्ण और बलभद्र हैं। इन्ह मुझे सौप दो। बस युद्ध समाप्त हो जायेगा। मैं तुम सब को अभय दान दूगा। तुम सब का जीवन बच जायेगा। दो व्यक्तिया के लिए हजारो-लाखो के काल को न्यौता मत दो। यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो मेरे कोपानल में तुम सब का जीवन नष्ट हो जायेगा।''

जरासध के वचनो ने यादवो में उत्तेजना उत्पन्न कर दी। उन्होने वाक्-बाण का उत्तर शस्त्र प्रहार से दिया। जरासध भी महावीर था। उसके रणकौशल ने यादवी-सेना और सेना के वीर अधिकारियों के छक्क छुडा दिये। वह एक भी अनेक रूप म दिखाई देने लगा। वह जिस ओर जाता, उस ओर की सेना भाग खडी होती। कुछ ही काल के युद्ध में यादवो की सेना भाग गई और उसके अधिकारी भी भयभीत हो कर इधर-उधर हो गए।

जरासध के अठाईस पुत्रो ने सम्मिलित रूप से बलभद्रजी पर आक्रमण किया और अन्य उनहत्तर पुत्रो ने कृष्णजी पर। इन्होने उन्ह चारों ओर से घेर कर नष्ट करने के लिए भयकर प्रहार करना प्रारम्भ किया। श्रीकृष्ण और बलदेव भी घूम-घूम कर प्रहार करने लगे। दोनो पक्षो के शस्त्रास्त्रो की टकराहट से चिनगारियाँ झड कर आकाश में विद्युत जैसा चमत्कार करने लगी। बलभद्रजी ने अपने हल से अठाईस पुत्रों को खिच कर मूसल से खाड कर कुचल डाला। ये सभी समाप्त हो गए। अपने अठाइस पुत्रों को एक साथ समाप्त हुए देख कर जरासध एकदम उबल पडा और अपनी वज्र के समान गदा का बलभद्रजी पर प्रहार किया जिससे वे घायल हो गए और रक्तपूर्ण वमन करने लगे। इससे यादवी-सेना में हाहाकार मच गया। बलभद्रजी को जीवन रहित करने के लिए उसने फिर गदा उठाई किन्तु अर्जुन बीच में आ कर लडने लगा। उधर श्रीकृष्ण को बन्धु की दुर्दशा देखकर भयकर क्रोध चढा। उन्होंने अपने पर प्रहार करने वाले सभी पुत्रा को समाप्त कर दिया और जरासध की ओर झपटे। जरासध को अपने ६९पुत्रों की मृत्यु का दूसरा महा आघात लगा। उसने सोचा- 'यह बलभद्र तो मरने जैसा ही है। मेरे भीषण- प्रहार से यह बच नहीं सकता। अब अर्जुन से लड कर समय नष्ट करने से क्या लाभ ? मुझ अब कृष्ण को समाप्त करना है।' इस प्रकार विचार कर के वह कृष्ण से युद्ध करने को तत्पर हुआ। बलभद्रजी की दशा देख कर सेना भी हताश हो चुकी थी। सेना पर जरासध का आतक छा गया

था। सब के मन में यही आशका व्याप्त हुई कि 'बलभद्रजी के समान कृष्णजी की भी यही दशा हो जायेगी।' इसी परकार की चर्चा होने लगी। यह चर्चा इन्द्र के भेजे हुए मातली सारथी ने सुनी तो उसन अरिष्टनेमि कुमार से निवदन किया, -

"स्वामिन्! यह समय आपके प्रभाव की अपेक्षा रखता है। यद्यपि आप इस युद्ध से निलिप्त एव शान्त हैं तथापि कुल की रक्षा के हेतु स्थिति को प्रभावित करन के लिए आपको कुछ करना चाहिए"

मातली के निवेदन पर भ अरिष्टनेमि ने अपना पौरन्दर शख फूँक कर मेघ के समान गजना की। गगन-मण्डल में सर्वत्र व्याप्त घोर- गर्जना से शत्रु-सेना थर्रा गई। उसमें भय छा गया और यादवी-सना उत्साहित हो गई। भ अरिष्टनमि की आज्ञा से उनका रथ-रणभूमि में इधर-उधर चक्कर लगाने लगा और इन्द्र प्रदत्त धनुष से बाण-वर्षा कर के किसी क रथ की ध्वजा किसी का धनुष किसी का मुकुट और किसी का रथ तोड़ने लगे। शत्रु-पक्ष प्रभु की ओर अस्त्र नहीं फेंक सका। प्रभु की ओर देखने में ही (प्रभु के प्रभाव से) उनकी आँखें चौंधियाने लगी। शत्रु-सेना स्तब्ध रह गयी। उन्हें लगा जैसे महा समुद्र म ज्वार उठा हो और हम सब को अपने में समा रहा हो। इस प्रकार की स्थिति बन चुकी थी। प्रभु के लिए जरासध भी कोई विशेष नहीं था। वे उसे सरलता पूर्वक समाप्त कर सकते थे किन्तु प्रतिवासुदेव वासुदेव क लिए ही वध्य होता है-एसी मर्यादा है। इसलिए उसकी उपेक्षा कर दी। प्रभु का रथ दोना सेनाओं के मध्य घुमता रहा इससे शत्रु-सना को आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। इतने में यादव-पक्ष के वीरगण साहस प्राप्त कर पुन युद्ध करन लगे। एक ओर पाण्डव-वीर शेष बचे हुए कौरवो को मारने लगे, तो दूसरी ओर बलदेवजी स्वस्थ होकर अपने हल रूपी शस्त्र से शत्रु-सेना का सहार करने लगे।

जरासध, श्रीकृष्ण के सामने आ कर दहाडा --

" ऐ मायावी ग्वाले! तेने कापट्य-कला से मेरे जामाता कस को मारा और मायाजाल में फँसा कर मेरे पुत्र कालकुमार को मार कर बच निकला। इस प्रकार छल-प्रपच से ही तू अब तक जीवित रहा, परन्तु तेरी धूर्तता मेरे सामने नहीं चलने की। मैं आज तेरी धूर्तता तेरे जीवन के साथ ही समाप्त कर दूँगा और मेरी पुत्री की प्रतिज्ञा पूर्ण कर क उसे सतुष्ट करूँगा।"

श्रीकृष्ण ने कहा - "अरे वाचाल! इतना घमण्ड क्यों करता है ? तेरी गर्वोक्ति अधिक देर टिकने वाली नहीं है। लगता है कि तू अपने जामाता और पुत्रों के पास आज ही चला जायगा और तेरी पुत्री भी अग्नि में प्रवेश कर काल-कवलित हो जायगी।"

श्रीकृष्ण क कटु वचनों से जरासध विशेष क्रोधी बना और धाराप्रवाह बाण-वर्षा करने लगा। श्रीकृष्ण भी अपने भरपूर कौशल से गर्जनापूर्वक शस्त्र प्रहार करने लगे। दोनों महावीरों का घोर युद्ध सिंहनाद और शस्त्रों के आस्फालन से दिशाएँ कम्पायमान हो गई समुद्र भी क्षुब्ध हो गया और पृथ्वी भी धूजने लग गई। कृष्ण जरासध के दिव्य अस्त्रों को अपने दिव्य अस्त्र से और साधारण को साधारण

के प्रहार से नष्ट करने लगे। जब सभी अस्त्र समाप्त हो गए और जरासध अपने शत्रु कृष्ण का कुछ भी नहीं बिगाड सका, तो उसने अपने अतिम अस्त्र चक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही चक्र उपस्थित हुआ, जिसे हाथ मे लेकर जोर से घुमाते हुए जरासध ने कृष्ण पर फेंक मारा। जब चक्र कृष्ण की ओर बढा, तो आकाश में रहे हुए खेचर भी उसकी भयानकता से क्षुब्ध हो गए और यादवी-सेना भी भयभीत हो गई। उस चक्र को स्खलित करने के लिए कृष्ण, बलदेव पाण्डवा और अन्य वीरों ने अपने-अपने शस्त्र छोडे, परन्तु जिस प्रकार नदी के महा-प्रवाह का वृक्ष एव पर्वत नहीं रोक सकते,उसी प्रकार चक्र भी नहीं रुका और कृष्ण के वक्ष स्थल पर वेगपूर्वक जा लगा, तथा उन्हीं के पास रुक गया। उस चक्र को श्रीकृष्ण ने ग्रहण किया। उसी समय आकाश मे रहे हुए देवा ने पुष्प-वृष्टि करते हुए घोषणा की—"श्रीकृष्ण नौवें वासुदेव हैं।" श्रीकृष्ण ने अतिम रूप से जरासध को सबोधित करते हुए कहा,—

"अरे मूर्ख! तेरा महास्त्र चक्र मेरे पास आ गया क्या यह भी मेरी माया है ? मैं अब भी तुझे एक अवसर देता हूँ। तू यहा से चला जा और अपना शेष जीवन शातिपूर्वक व्यतीत कर।

"अरे, वाचाल कृष्ण ! यह चक्र मेरा परिचित है। मैं इसके उपयोग को जानता हूँ। मुझे इससे कोई भय नहीं है। तू इसका उपयोग करके देख ले। तुझसे इसका उपयोग नहीं हो सकेगा।"

जरासध की बात सुनते ही कृष्ण ने चक्र को घुमा कर जरासध पर फेका। चक्र के अमोघ प्रहार से जरासध का मस्तक कट कर भूमि पर गिर गया। जरामध मर कर चौथे नरक मे गया। देवा ने श्रीकृष्ण का जय-जयकार करते हुए पुष्प-वर्षा की। युद्ध समाप्त हो गया।

जरासध की मृत्यु के बाद श्री अरिष्टनेमि के प्रभाव से स्तब्ध बन कर रुके हुए— जरासध के पक्ष के राजा, सामन्त और अधिकारी सम्भले। सभी ने श्री अरिष्टनेमि को प्रणाम किया और कहा,—"प्रभो ! हम तो आप से तभी से विजित हो चुके हैं, जब आप यादव कुल में उत्पन्न हुए और अब विश्वविजेता परम-तारक जिनेश्वर भगवत होने वाले हैं। हमारे ही क्या, आप सारे ससार के विजेता हैं। महात्मन् ! भवितव्यता ही ऐसी थी, अन्यथा हम और महाराज जरासधजी भी पहले से जान गये थे कि अब हमारा भाग्य अनुकूल नहीं रहा। हमारी विजय असम्भव है। आपके और यादवो के अभ्युदय से हमारा प्रभाव लुप्त होने लगा है। अब हम सब आपकी शरण में है।"

श्री अरिष्टनेमिजी उन सबको ले कर श्रीकृष्ण के निकट आए। कृष्ण ने अरिष्टनेमि को आलिगन में बाध लिया और श्री समुद्रविजयजी तथा अरिष्टनेमिजी के कथनानुसार श्रीकृष्ण ने जरासध के पुत्र सहदव का सत्कार किया और उसके पिता के राज्य मे से मगध का चौथा भाग दिया और हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल मे स्थापित किया। श्री समुद्रविजयजी के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर और धर कुमार को मथुरा का राज्य प्रदान किया। इस प्रकार शेष राजाओ और मृत्यु प्राप्त अधिकारियों के पुत्रों को यथायोग्य सम्मानित कर के बिदा किया। श्री नेमिनाथजी ने मातलि सारथि को बिदा कर दिया।

था। सब के मन में यही आशका व्याप्त हुई कि 'बलभद्रजी क समान कृष्णजी की भी यही दशा हो जायेगी।' इसी परकार की चर्चा होने लगी। यह चर्चा इन्द्र के भेजे हुए मातली सारथी ने सुनी, तो उसने अरिष्टनेमि कुमार से निवदन किया, -

"स्वामिन्! यह समय आपके प्रभाव की अपेक्षा रखता है। यद्यपि आप इस युद्ध से निर्लिप्त एव शान्त हैं, तथापि कुल की रक्षा के हेतु स्थिति को प्रभावित करने के लिए आपको कुछ करना चाहिए"

मातली के निवेदन पर भ अरिष्टनेमि ने अपना पौरन्दर शख फूँक कर मेघ के समान गर्जना की। गगन-मण्डल में सर्वत्र व्याप्त घोर- गर्जना से शत्रु-सेना थर्रा गई। उसमें भय छा गया और यादवी-सेना उत्साहित हो गई। भ अरिष्टनेमि की आज्ञा से उनका रथ-रणभूमि में इधर-उधर चक्कर लगाने लगा और इन्द्र प्रदत्त धनुष से बाण-वर्षा कर के किसी के रथ की ध्वजा, किसी का धनुष, किसी का मुकुट और किसी का रथ तोडने लगे। शत्रु-पक्ष, प्रभु की ओर अस्त्र नहीं फेक सका। प्रभु की ओर देखने में ही (प्रभु के प्रभाव से) उनकी आँखें चोधियाने लगी। शत्रु-सेना स्तब्ध रह गयी। उन्हें लगा जैस महा समुद्र मे ज्वार उठा हो और हम सब को अपने मे समा रहा हो। इस प्रकार की स्थिति बन चुकी थी। प्रभु के लिए जरासध भी कोई विशेष नहीं था। वे उसे सरलता पूर्वक समाप्त कर सकते थे किन्तु प्रतिवासुदेव, वासुदेव के लिए ही वध्य होता है-ऐसी मर्यादा है। इसलिए उसकी उपेक्षा कर दी। प्रभु का रथ दोनो सेनाओ के मध्य घुमता रहा इससे शत्रु-सेना को आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। इतने में यादव-पक्ष के वीरगण साहस प्राप्त कर पुन युद्ध करने लगे। एक ओर पाण्डय-वीर शेष बचे हुए कौरयो को मारने लगे तो दूसरी ओर बलदेवजी स्वस्थ होकर अपने हल रूपी शस्त्र से शत्रु-सेना का सहार करने लगे।

जरासध, श्रीकृष्ण के सामने आ कर दहाडा -

" ऐ मायावी ग्वाले! तेने कापट्य-कला से मेरे जामाता कस को मारा और मायाजाल में फँसा कर मेरे पुत्र कालकुमार को मार कर बच निकला। इस प्रकार छल-प्रपच से ही तू अब तक जीवित रहा परन्तु तेरी धूर्तता मेरे सामने नहीं चलने की। मैं आज तेरी धूर्तता तेरे जीवन के साथ ही समाप्त कर दूँगा और मेरी पुत्री की प्रतिज्ञा पूर्ण कर के उसे सतुष्ट करूँगा।"

श्रीकृष्ण ने कहा - "अरे,वाचाल! इतना घमण्ड क्यों करता है ? तेरी गर्वोक्ति अधिक दर टिकने वाली नहीं है। लगता है कि तू अपने जामाता और पुत्रों क पास आज ही चला जायेगा और तेरी पुत्री भी अग्नि में प्रवेश कर काल-कवलित हो जायेगी।"

श्रीकृष्ण क कटु वचनों से जरासध विशेष क्रोधी बना और धाराप्रवाह बाण-वर्षा करने लगा। श्रीकृष्ण भी अपने भरपूर कौशल से गर्जनापूर्वक शस्त्र प्रहार करने लगे। दोनों महावीरों का घोर-युद्ध सिंहनाद और शस्त्रों के आस्फालन से दिशाएँ कम्पायमान हो गईं समुद्र भी क्षुब्ध हो गया और पृथ्वी भी धूजने लग गई। कृष्ण, जरासध के दिव्य अस्त्रों का अपने दिव्य अस्त्र से और लोहास्त्रों को लोहास्त्र

प्रथम वासुदेव ने कोटिशिला उठा कर मस्तक के ऊपर ऊँचे हाथ कर हथेलियो पर रख ली थी, दूसरे वासुदेव ने मस्तक तक, तीसरे ने कण्ठ चौथे ने वक्ष पाचवे ने पेट, छठे ने कमर, सातवे ने जघा और आठवे ने घुटने तक उठाई थी और इन नौवें वासुदेव ने भूमि से चार अगुल ऊँची उठाई। अवसर्पिणी काल मे बल के ह्रास का यह परिणाम है। फिर भी वासुदेव अपने समय के सर्वोत्कृष्ट महाबली थे।

त्रिखण्ड के अधिपति बन कर श्रीकृष्ण ने द्वारिका मे प्रवेश किया। वहा सोलह हजार राजाओ और देवो ने श्रीकृष्ण का त्रिखण्ड के अधिपति वासुदेव-पद का अभिषेक कर के उत्सव मनाया। उत्सव पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने पाण्डवो को कुरुदेश का राज्य सम्भालने के लिए और अन्य राजाओं को अपने-अपने स्थान पर भेजा और देवो को भी विदा किया। समुद्रविजय आदि दशार्ह (पूज्य एव महाबलवान् पुरुष) बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम आदि साढे तीन करोड कुमार शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त-वीर योद्धा, महासेन आदि छप्पन हजार बलवर्ग-सैनिक-समूह और वीरसेन आदि इक्कीस हजार योद्धा थे। इनके अतिरिक्त इभ्य, श्रेष्ठि सार्थवाहक आदि बहुत-से समृद्धजन से युक्त श्रीकृष्णवासुदेव राज करने लगे।

अन्यदा सोलह हजार राजाओ ने आ कर अपनी दो-दो सुन्दर कुमारियाँ और उत्तम रत्नादि श्रीकृष्ण को भेंट की। उनमें से सोलह हजार का पाणिग्रहण श्रीकृष्ण ने किया, आठ हजार का बलदेवजी ने और आठ हजार का कुमारों ने।

अनगसेनादि हजारों गणिकाएँ सगीत नाट्य-वादिन्त्रादि से द्वारिका नगरी को परम आकर्षक बना रही थी।

सागरचन्द्र-कमलामेला उपाख्यान

राजा उग्रसेन के धारणी रानी से नभ सेन पुत्र और राजमती पुत्री थी। नभ सेन की सगाई द्वारिका की धनसेन गृहस्थ की पुत्री 'कमलामेला ' के साथ हुई थी। विवाह कार्य प्रारभ हो गया । उसी अवसर पर घूमते हुए नारद जी नभ सेन के आवास में चले गए। नभ सेन उस समय अपने विवाह कार्य में लग रहा था इसलिए वह नारदजी का सत्कार नहीं कर सका। नारदजी ने इसमें अपनी अवज्ञा एव अपमान माना और रुष्ट हो कर लौट गए। उनके मन में नभ सेन का विवाह बिगाडने की भावना उत्पन्न हुई। वे अपने क्रोध को सफल करने के लिए श्रीबलभद्रजी के पौत्र एव निषधकुमार के पुत्र सागरचन्द्र के निकट आये। सागरचन्द्र ने नारदजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया और उच्चासन पर बिठा कर कुशल-क्षेमादि के बाद पूछा-"महात्मन! यदि आपने अपने भ्रमण-काल में कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो तो कृपा करें।"

विजयोत्सव और त्रिखण्ड साधना

महायुद्ध की समाप्ति एव अपनी विजय के दूसर दिन यादवो ने युद्ध में मृत, जयसेन आदि की और सहदेव ने जरासध आदि की उत्तर-क्रिया की। उधर जरासध की पुत्री जीवयशा (जो कस की रानी थी) अपने पिता और बन्धुओ का विनाश जान कर और श्रीकृष्ण की विजय सुन कर हताश हुई और चिता रचवा कर जीवित ही अग्नि म जल-मरी।

श्रीकृष्ण ने विजय का आनन्दोत्सव मनाया और उस स्थान पर 'आनन्दपुर' गाव बसाने की आज्ञा प्रदान की।

विजयोत्सव चल ही रहा था कि श्रीकृष्ण के पास तीन प्रौढ विद्याधर-महिलाएँ आई और प्रणाम कर के कहने लगी;-

"वसुदेवजी, प्रद्युम्न और शाम्ब और बहुत-से विद्याधरा सहित शीघ्र ही यहाँ पहुँच रहे हैं। वहाँ उन्होने भी विजय प्राप्त की है। जब वसुदेवजी अपने दोनो पौत्रों के साथ यहा से चल कर वैताढ्य पर्वत पर पहुचे, तो शत्रु दल से उनका युद्ध प्रारम्भ हो गया। नीलकठ और अगारक आदि विद्याधर उनके पूर्व काल के शत्रु थे ही। उन्हाने तत्काल युद्ध चालू कर दिया। दोना पक्ष उग्र हो कर युद्ध करने लगे। देवों ने कल ही आ कर उन्हें सूचना दी कि जरासध मारा गया, श्रीकृष्ण की विजय हो गइ और युद्ध समाप्त हो गया। अब आप क्या लड रहे हैं ?" यह सुनकर सभी विद्याधरा ने युद्ध करना बन्द कर दिया। राजा मन्दारवेग ने विद्याधरो को आदेश दिया कि "तुम सब उत्तम प्रकार की भेंट ले कर शीघ्र आओ। अब हमें वसुदेवजी को प्रसन्न कर के इनके द्वारा श्रीकृष्ण की कृपा और आश्रय प्राप्त करना है।"

विद्याधर नरेश त्रिपथर्षभ ने वसुदेवजी को अपनी बहिन और प्रद्युम्न को अपनी पुत्री दी। राजा देवर्षभ और वायुपथ ने अपनी दो पुत्रियाँ शाम्बकुमार को दी। अब वे सभी यहा आ रहे हैं। हम आपको यह शुभ सूचना देने के लिए आगे आई हैं।

इस प्रकार खेचरी-महिलाए सुखद समाचार सुना रही थीं कि इतने ही में वसुदेवजी प्रद्युम्न शाम्ब और विद्याधर नरेशादि वहा आ कर उपस्थित हुए। सभी के हर्षोल्लास में वृद्धि हुइ। सभी स्नेहपूर्वक मिले। विद्याधरों ने विविध प्रकार की बहुमूल्य भेंटे श्रीकृष्ण को अर्पण की।

विजयोत्सव पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने बहुत-से विद्याधरों और भूचर सामन्तों को साथ ल कर तीन खण्ड को अपने अधीन करने के लिए प्रयाण किया। छह महिने म तीन खण्ड साध कर मगध देश में आये। यहाँ एक देवाधिष्ठित कोटि-शिला थी, जो एक योजन ऊँची और एक योजन विस्तार वाली थी। श्रीकृष्ण ने उसे अपन बायें हाथ से उठाई, तो वह भूमि से चार अगुल ऊपर उठ सकी। फिर उसे यथास्थान रख दी।

प्रथम वासुदेव ने कोटिशिला उठा कर मस्तक के ऊपर ऊँचे हाथ कर हथेलियो पर रख ली थी, दूसरे वासुदेव ने मस्तक तक, तीसरे ने कण्ठ, चौथे ने वक्ष पाचवे ने पेट, छठे ने कमर, सातवें ने जघा और आठवे ने घुटने तक उठाई थी और इन नौवे वासुदेव ने भूमि से चार अगुल ऊँची उठाई। अवसर्पिणी काल मे बल के ह्रास का यह परिणाम है। फिर भी वासुदेव अपने समय के सर्वोत्कृष्ट महाबली थे।

त्रिखण्ड के अधिपति बन कर श्रीकृष्ण ने द्वारिका मे प्रवेश किया। वहा सोलह हजार राजाओं और देवो ने श्रीकृष्ण का त्रिखण्ड के अधिपति वासुदेव-पद का अभिषेक कर के उत्सव मनाया। उत्सव पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने पाण्डवो को कुरुदेश का राज्य सम्भालने के लिए और अन्य राजाओं को अपने-अपने स्थान पर भेजा और देवो को भी विदा किया। समुद्रविजय आदि दशार्ह (पूज्य एव महाबलवान् पुरुष) बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम आदि साढे तीन करोड कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त-वीर योद्धा, महासेन आदि छप्पन हजार बलवर्ग-सैनिक-समूह और वीरसेन आदि इक्कीस हजार योद्धा थे। इनके अतिरिक्त इभ्य, श्रेष्ठि, सार्थवाहक आदि बहुत-से समृद्धजन से युक्त श्रीकृष्णवासुदेव राज करने लगे।

अन्यदा सोलह हजार राजाओ ने आ कर अपनी दो-दो सुन्दर कुमारियाँ और उत्तम रत्नादि श्रीकृष्ण को भेट की। उनमे से सोलह हजार का पाणिग्रहण श्रीकृष्ण ने किया आठ हजार का बलदेवजी ने और आठ हजार का कुमारों ने।

अनगसेनादि हजारो गणिकाएँ सगीत, नाट्य-वादिन्त्रादि से द्वारिका नगरी को परम आकर्षक बना रही थी।

सागरचन्द्र-कमलामेला उपाख्यान

राजा उग्रसेन के धारणी रानी से नभ सेन पुत्र और राजमती पुत्री थी। नभ सेन की सगाई द्वारिका की धनसेन गृहस्थ की पुत्री 'कमलामेला ' के साथ हुई थी। विवाह कार्य प्रारभ हो गया । उसी अवसर पर घूमते हुए नारद जी नभसेन के आवास में चले गए। नभ सेन उस समय अपने विवाह कार्य मे लग रहा था, इसलिए वह नारदजी का सत्कार नहीं कर सका। नारदजी ने इसमें अपनी अवज्ञा एव अपमान माना और रुष्ट हो कर लौट गए। उनके मन में नभ सेन का विवाह विगाडने की भावना उत्पन्न हुइ। वे अपने क्रोध को सफल करने के लिए श्रीबलभद्रजी के पौत्र एव निषधकुमार के पुत्र सागरचन्द्र के निकट आये। सागरचन्द्र ने नारदजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया और उच्चासन पर बिठा कर कुशल-क्षेमादि के बाद पूछा-"महात्मन! यदि आपने अपने भ्रमण-काल में कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो तो कृपा करें। "

नारदजी बोले-"वत्स! मैंने लाखा-करोडों स्त्रियाँ देखी परन्तु धनसेन की पुत्री कमलामेला जैसी अनुपम एव अद्वितीय सुन्दरी युवती अत्र तक नहीं देखाई दी। वह वास्तव में ससार का महान् कन्या-रत्न है। परन्तु नभ सेन भाग्यशाली है कि जिसके साथ उस भुवनसुन्दरी के लग्न होने वाले हैं।"

बस,नारदजी ने सागरचन्द्र के मन मे एक आकाक्षा उत्पन्न कर दी। फिर कुछ व्यावहारिक बातें कर चल दिए और कमलामेला के निकट पहुँचे। उसके पूछने पर नारदजी ने कहा-"ससार मे अत्यन्त कुरूप है-नभ सेन और अत्यन्त सुन्दर एव सुघड युवक है-सागरचन्द्र।" यों दूसरी ओर भी नारदजी ने चिनगारी उत्पन्न कर दी और इसकी सूचना सागरचन्द्र को दे दी। सागरचन्द्र अन्य सभी बातें भूल गया और कमलामेला का ही स्मरण करने लगा। उसके हृदय मे कमलामेला ऐसी बसी कि उसके सिवाय दूसरा कोई विचार ही उसके मन में नहीं आता था। शाम्ब कुमार आदि की सागरचन्द्र पर विशेष प्रीति थी। सागरचन्द्र की खोय हुए के समान अन्यमनस्क एव उदास और चिन्तित दशा देख कर उसकी माता और अन्य बन्धुवर्ग चिन्ता करने लगे। एक दिन शाम्बकुमार चुपके से आया और उसकी आँखें बन्द कर दी। सागरचन्द्र बोल उठा-" कमलामेला तुम आ गई।" यह सुन कर शाम्ब बोला -"मैं कमला-मेलापक "(कमला से मिलाने वाला) हूँ। और हाथ हटा लिये। सागरचन्द्र ने शाम्बकुमार से कहा-"अब आप ही मेरा कमलामेला से मिलाप करावेंगे। मेरी प्रसन्नता और स्वस्थता इसी पर आधारित है। जब आपने वचन दिया तो मेरी चिन्ता दूर हो गई। अब आप ही इसका उपाय करें।" उसने नारदजी के आने आदि की सारी घटना कह सुनाई किन्तु शाम्बकुमार चुप रहे। एक दिन कुमारों की गोष्ठी हो रही थी और मदिरापान हो रहा था। सागरचन्द्र ने मदिरा के नशे में शाम्ब से कमलामेला प्राप्त करवाने का वचन ले लिया। वचन दे चुकनेके बाद जब शाम्ब स्वस्थ हुआ तो उसने वचन पालन करने का उपाय सोचा। उसने प्रज्ञप्तिविद्या का स्मरण किया। फिर वह अपने विश्वस्त साथियों आर सागरचन्द्र के साथ धनसेन के निवास के निकट उद्यान में आया और सुरग बनाकर उसक घर में प्रवश किया। कमलामेला भी सागरचन्द्र के विरह मे विकल थी। ज्यो-ज्यों लग्न का दिन आता जाता था त्यों-त्यों उसकी विकलता बढ रही थी। शाम्ब ने कमलामेला का हरण करवा कर सागरचन्द्र के साथ लग्न करवा दिय और सभी ने विद्याधर का रूप धारण कर के वर-वधू का रक्षण करने को शस्त्रबद्ध हो गए।

घर में कमलामेला दिखाई नहीं दी तो उसकी खोज हुई। उद्यान में यादवों के बीच उसे देख कर धनसेन ने श्रीकृष्ण क सामने पुकार की। श्रीकृष्ण स्वय वहा पधारे और अत्याचारियों को दण्ड देने के लिए युद्ध करने को तत्पर हुए। उसी समय शाम्ब अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो कर श्रीकृष्ण के चरणो में गिरा और और नारदजी की करामात आदि सारी बात समझा कर क्षमा माँगी। श्रीकृष्ण, उदास हो कर बोले-"वत्स! तूने अच्छा नहीं किया। अपने आश्रित नभ सेन के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना

था।" श्रीकृष्ण ने नभ सेन को समझा-बुझा कर शात किया। नभ सेन, सागरचन्द्र कमलामेला को प्राप्त करन या उसका अहित करन में समर्थ नहीं था। अतएव वह चला गया। किन्तु सागरचन्द्र के प्रति वैरभाव लिए हुए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अनिरुद्ध- उषा विवाह

राजकुमार प्रद्युम्न की वैदर्भी रानी (जो महादेवी रुक्मिणी के भाई रुक्मि नरेश की पुत्री थी)से उत्पन अनिरुद्ध कुमार यौवनावस्था को प्राप्त हुए। उस समय शुभ निवास नगर में 'बाण' नामका एक उग्र स्वभाव का विद्याधर राजा था। उसकी 'उषा' नाम की पुत्री थी। उसने योग्य वर प्राप्ति के लिए गौरी-विद्या की आराधना की। विद्यादेवी सतुष्ट हो कर बोली-"वत्स! कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध, इन्द्र के समान रूप और बल से युक्त है। बस वही तेरे लिए योग्य वर है और वही तेरा पति होगा।"

उषा के पिता बाण नरेश ने सुखकर देव की आराधना की। यह सुखकर गौरी देवी का प्रिय था। सुखकर ने बाण को युद्ध में अजेय रहने का वरदान दिया। यह बात गौरी को ज्ञात हुई, तो उसने सुखकर से कहा-"तुमने बाण को अजेय बना कर अच्छा नहीं किया। मैंने उषा को वरदान दिया है। उसकी सफलता में यह बाधक भी हो सकता है। इसलिए अपने वरदान मे सशोधन करो।"

सुखकर ने बाण से कहा-"मैंने तुझे युद्ध मे अजेय रहने का वरदान दिया है, किन्तु तू अजेय तब तक ही रह सकेगा जब तक युद्ध का निमित्त कोई स्त्री नहीं हो। स्त्री का निमित्त होने पर मेरा वरदान तेरी रक्षा नहीं करेगा।"

उषा सर्वोत्तम सुन्दरी थी। बहुत से विद्याधर उसे प्राप्त करने के लिए, बाण नरेश से माँग कर चुके थे, किन्तु बाण ने किसी की भी माँग स्वीकार नहीं की। उषा ने अपनी चित्रलेखा नाम की विश्वस्त खेचरी के साथ, अनिरुद्ध के पास सन्देश भज कर स्नेहामन्त्रण दिया। अनिरुद्ध आया और गुपचुप गन्धर्व-विवाह कर के दोनो चल दिये। बाहर निकल कर अनिरुद्ध ने कहा-"मैं अनिरुद्ध उषा को लिये जा रहा हूँ।" यह सुनकर बाण क्रोधित हुआ और अपनी सेना लेकर युद्ध करन आया। सैनिका ने अनिरुद्ध को चारों ओर स घेर लिया। उषा ने पति को कई सिद्ध-विद्याएँ दीं जिससे अनिरुद्ध अत्यधिक सबल हो कर युद्ध करने लगा। युद्ध बहुत काल तक चला। अन्त म बाण ने अनिरुद्ध को नागपाश में बाँध लिया। अनिरुद्ध के बन्दी होने का समाचार प्रज्ञप्ति विद्या ने श्रीकृष्ण को दिया। श्रीकृष्ण बलदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब आदि तत्काल आकाश-मार्ग से वहाँ आए। अनिरुद्ध को पाशमुक्त कर के बाण के साथ युद्ध करने लगे। कृष्ण ने समझाया-"तुझे अपनी पुत्री किसी को दनी ही थी, फिर झगडने का क्या कारण है?" किन्तु बाण वरदान के भरोसे जूझ रहा था। अन्त में उसे नष्ट होना पडा और श्रीकृष्ण आदि उषा सहित द्वारिका आ कर सुखपूर्वक रहने लगे।

नेमिकुमार का बल

एक यार अरिष्टनेमि अन्य कुमारों के साथ क्रीडा करते हुए श्रीकृष्ण की आयुधशाला में आय। वहा उन्होंने सूर्य के समान प्रकाशमान सुदर्शन चक्र देखा। यह यही सुदर्शन चक्र था जो जरासध के पास था और जरासध का वध कर के श्रीकृष्ण के पास आया था। उन्होने सारग धनुष, कौमुदी गदा पञ्चजन्य शख,खड्ग आदि उत्तम शस्त्रादि देखे। नेमिकुमार न पञ्चजन्य शख लेने की चेष्टा की। यह देख कर शस्त्रागार के अधिपति चारुकृष्ण ने प्रणाम कर के निवेदन किया ,-

''कुमार! आप राजकुमार हैं और बलवान् हैं, किन्तु यह शख उठाने मे आप समर्थ नहीं हैं, फिर बजाने की तो बात ही कहाँ रही? इसे उठाने और फूँकने की शक्ति एकमात्र त्रिखडाधिपति महाराजाधिराज श्रीकृष्ण में ही है।''

अधिकारी की बात पर श्री नेमिकुमार को हँसी आ गई। उन्होंने शख उठाया और फूँका। उस शख से निकली गभीर ध्वनि ने द्वारिका ही नहीं, भवन, प्रकोष्ट वन-पर्वत और आकाश-मण्डल का कम्पायमान कर दिया। समुद्र क्षुब्ध हो उठा। गजशाला के हाथी अपना बन्धन तुड़ा कर भाग गए, घाड़े उछल-कूद कर खूँटे उखाड कर भागे। श्रीकृष्ण, बलदेव और दशार्हगण आदि क्षुभित हो कर आश्चर्य में पड गए। नागरिक-जन और सैनिक मूर्च्छित हो गए। श्रीकृष्ण सोचने लगे -''शख किसने फूँका? क्या कोई चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है या इन्द्र का प्रकोप हुआ है ? जब मैं शख फूँकता हूँ ता राजागण और लोग क्षुब्ध होते हैं, परन्तु इस शख-वादन से तो मैं भी क्षुब्ध हो गया हूँ।''

वे इस प्रकार सोच रहे ते कि इतने म शस्त्रागार-रक्षक ने उपस्थित हो कर प्रणाम किया और निवेदन किया कि

''आपके बन्धु अरिष्टनेमि कुमार ने आयुधशाला में आ कर शख फूँक दिया।''

श्रीकृष्ण यह सुनकर स्तब्ध रह गये। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि अरिष्टनेमि इतना बलवान है? इतने में स्वय अरिष्टनेमि कुमार वहाँ आ गए। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रेम से आलिगन-बद्ध कर अपने पास बिठाया और पूछा;- ''भाई! अभी शखनाद तुमने किया था? '' कुमार ने स्वीकार किया तो प्रसन्न हो कर बोले-

भाई ! यह प्रसन्नता की बात है कि मेरा छोटा भाई भी इतना बलवान है कि जिसके आग इन्द्र भी किसी गिनती म नहीं। मैं तुम्हारी शक्ति से अनभिज्ञ था। अब मैं स्वय तुम्हारी शक्ति देखना चाहता हूँ। चलो अपन आयुधशाला म चलें। वहा मैं तुम्हारे बल का परीक्षण करूँगा।''

दोनों भ्राता आयुधशाला म आये साथ में बलदेवजी और अन्य कई कुमार आदि भी थे। श्रीकृष्ण ने पूछा;—

"कहो बन्धु ! शस्त्र स युद्ध कर के परीक्षा दोगे, या मल्ल-युद्ध स ?"

"यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। मैं तो आपसे युद्ध करने की सोच भी नहीं सकता। परन्तु आप चाहे, तो बाहु झुकाने से भी काम चल सकता है।"

"ठीक है। मैं अपनी भुजा लम्बी करता हूँ, तुम झुकाओ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने श्री कृष्ण की भुजा को ग्रहण करके निमेषमात्र म कमलनाल के समान झुका दी। इसके बाद श्रीकृष्ण ने कहा—"अब तुम अपनी बाँह लम्बी करो, मैं झुकाता हूँ।" कुमार ने अपनी बाँह लम्बी कर दी। श्रीकृष्ण अपना समस्त बल लगाकर झूल ही गए, परन्तु तनिक भी नहीं झुका सके। इस पर श्रीकृष्ण ने प्रसन्न हो कर अरिष्टनेमि को अपनी छाती से लगाकर, भुज-पाश में बाँध लिया और कहने लगे;—

"जिस प्रकार ज्येष्ठबन्धु, मेरे बल से विश्वस्त हो कर ससार को तृण के समान समझते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे अलौकिक बल से मैं भी पूर्ण आश्वस्त एव सन्तुष्ट हूँ। हमारे यादव-कुल का अहोभाग्य है कि तुम्हारे जैसी लोकोत्तम विभूति प्राप्त हुई।"

अरिष्टनेमि के चले जाने के बाद श्रीकृष्ण ने बलदेवजी से कहा;—

"यो अरिष्टनेमि प्रशाँत और प्रशस्त आत्मा लगता है, परन्तु यदि यह चाहे, तो समस्त भारत का चक्रवर्ती सम्राट भी हो सकता है, फिर यह शान्त हो कर क्यो बैठा है ?"

"भाई ! जिस प्रकार वह बल में अप्रतिम है, उसी प्रकार भावो से भी अप्रतिम, गभीर, प्रशात और अलौकिक है। उसे न तो राज्य का लोभ है और न भोगों में रुचि है। यह तो योगी के समान निस्पृह लगता है"—बलदेवजी ने कहा।

देवों ने कहा—"अरिष्टनेमि कुमार, सर्वत्यागी महात्मा हो कर तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे। भगवान् नमिनाथजी ने कहा था कि—" मेरे बाद अरिष्टनेमि नाम के राजकुमार, कुमार अवस्था म ही प्रव्रजित हो कर तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे। वह भव्यात्मा यही हैं। इनके मन मे ऐसी भावना जाग्रत नहीं होती। ये समय परिपक्व होते ही ससार त्याग कर निर्ग्रंथ बन जावेंगे।"

श्रीकृष्ण और बलदेवजी अन्त पुर मे चले गए ।

अरिष्टनेमि को महादेवियों ने मनाया

माता-पिता श्री अरिष्टनेमि से विवाह करने का आग्रह करते, तो ये मौन रह कर टाल देते। जब आग्रह बढा और माता ने कहा—"पुत्र! तुम तो प्रशात हो, प्रशस्त हो और अलौकिक आत्मा हो परन्तु विवाह तो करना चाहिये। पूर्वकाल के तीर्थंकर भगवत भी विवाहित जीवन बिताने और पुत्रादि सर्ता

का पा नन करने के वाद प्रव्रजित हुए थे। यदि अपनी इच्छा से नहीं, तो हमारी प्रसन्नता--हमारे मनोरथ पूर्ण करने के लिए ही विवाह कर लो। हमारी यह किंचित् इच्छा भी पूरी नही करोगे ?"

"मातुश्री! आप तो मोह में पड कर ऐसी इच्छा कर रही हैं। विवाह के परिणाम को नहीं देखती

"नहीं पुत्र । उपदेश मत दो। मेरे मनोरथ पूरे करो"- पुत्र को बीच में ही रोक कर माता शिवादेवी बोली।

—"आप मेरी बात सुनती ही नहीं। अच्छा, मैं आपकी आज्ञा की अवहेलना नहीं करता परन्तु मैं लग्न उसी के साथ करूँगा, जो मुझ प्रिय लगेगी। मैं अपने योग्य पात्र को स्वय चुन लूँगा। आपको यह चिन्ता छोड देनी चाहिये"-कुमार ने माता को अपनी भावना के अनुरूप गभीर वचन कह और माता सतुष्ट भी हो गई।

श्रीकृष्ण श्री अरिष्टनेमि का विवाह करने के प्रयत्न म थे। शिवादेवी ने श्रीकृष्ण से भी कहा था और श्रीकृष्ण भी चाहते थे कि अरिष्टनेमि जैसी महान् आत्मा, कुछ वर्ष ससार में रहे तो अच्छा। उन्होने अरिष्टनेमि को मोहित करने का उपाय सोचा और एक दिन उन्हें अपने साथ ले कर अन्त पुर में आये। दोनो बन्धुओं ने साथ ही भोजन किया। श्रीकृष्ण ने अन्त पुर के रक्षकों से कहा-" ये मेरे भाई हैं। यदि ये अन्त पुर म आवे, तो इन्हें आने देना। इन पर किसी प्रकार की रोक नहीं है।" उन्होंने रानियों से कहा-

"अरिष्टनेमि मेरे सगे छोटे भाई के समान हैं। तुमने इन्ह कभी अपने यहा बुलाया नहीं ?"

-"ये न जाने किस गुफा में रहते हैं। न तो कभी अपनी भाभी से मिलन आते हैं और न कहीं दिखाई देते हैं। अपने होते हुए भी पराये जैसे रहने वाले ये कुछ निर्मोही होंगे"-सत्यभामा ने कहा।

"यह अलौकिक आत्मा है। स्नेह-सम्बन्ध स दूर ही रह कर, अपने ही विचारो में मग्न रहत हैं"-श्रीकृष्ण ने कहा।

-"आपने इनका विवाह नहीं किया इसी से य अबोध और निर्मोही रहे हैं। विवाह होने के बाद इनमे रस जागृत होगा"- पद्मावती ने कहा।

-"हा, यह बात तो है। अब इनके लग्न कर ही दगे"-श्रीकृष्ण ने कहा।

-"मुझे तो ये योगी जैसे अरसिक लगते हैं। नहीं तो अब तक कुँआर रहते? राजकुमारो क विवाह तो वे स्वय ही कर लेते हैं। जिस पर मन लगा उसे छिन लाये उठा लाये और लग्न कर लिए। आपके इतने लग्न किसी दूसरे ने आगे हो कर करवाये थ क्या?"-रानी जाम्बवती ने श्रीकृष्ण पर कटाक्ष किया।

-"अच्छा तो आपन अपना एक तर्कतीर मुझ पर छोड दिया। परन्तु बन्धु की आत्मा हम सब से विशिष्ट है। इनके लिए तो हमें आगे होना पडेगा"-श्रीकृष्ण ने कहा।

अरिष्टनेमि चुपचाप सुन रहे थे। उन्हे इस बात मे कोई रुचि नहीं थी। उन्होने उठते हुए कहा-"अब चलूँगा बन्धुवर।" और चल दिये।

श्रीकृष्ण ने रानियो से कहा-"बसत-ऋतु चल रही है। उत्सव भी मनाना है। मैं नन्दन-वन में इस उत्सव का आयोजन करवाता हूँ। तुम सब मिल कर इस उत्सव में अरिष्टनेमि को विवाह करने के लिये तत्पर बनाओ। वह विरक्त है। इसे किसी प्रकार मोहित कर के विवाह बन्धन मे बाँध देना है। इसके लिये एक सुलक्षणी परमसुन्दरी और अद्वितीय युवती की भी खोज करनी है। अरिष्टनेमि को रिझा कर अनुकूल बनाना तुम सब का काम है। उससे सम्पर्क रखती रहो।"

श्रीकृष्ण सभी राजमहिषियो और रानियो सहित बसन्तोत्सव में उपस्थित हुए। गान-वादन नृत्य, गीत, पुष्पचयनादि तथा गुलाब अबीर आदि से मनोरञ्जन करने के साथ परस्पर रग भरी पिचकारियाँ भी चलने लगी। रानियों के झुण्ड ने अरिष्टनेमि को घेर लिया और उन पर सभी ओर से पिचकारियो की मार पडने लगी वे भी हँसते हुए तदनुकूल बरतने लगे।

स्नानादि से निवृत्त होकर भोजन किया। गान-तान होता रहा और रात्रि निवास वही किया। श्रीकृष्ण के सकेत पर महारानी सत्यभामा ने कहा-

"देवरजी! पुरुष की शोभा अकेले रहने मे नहीं है। ससार में जितने भी पुरुष हैं, सब अपनी साथिन बना कर रखते हैं। आपके वश मे आपके अलावा सब के स्त्री साथिन है ही। आपके भ्राता और अन्य राजकुमारों के साथ तो अनेक स्त्रियाँ हैं। आपके इन जयेष्ठ-बन्धु के कितनी है? १६०००, अरे नहीं ३२०००। जिनसे एक खासी बस्ती बस सकती है और आपके एक भी नहीं? इस प्रकार अकेले रहना आप जैसे युवक को शोभा नहीं देता।"

आपका शरीर और शक्ति देखते हुए एक ही क्या सैकडो और हजारों वामागनाएँ हानी चाहिये आपके साथ"-महादेवी लक्ष्मणा ने कहा।

"भाभी साहिबा! मैं आप सब के खेल देख रहा हूँ। पराश्रित सुख तो विनष्ट हो जाता है। उधार लिया हुआ धन ब्याज सहित लौटाना पड़ता है। पराश्रित सुख म दु ख का सद्भाव रहता ही है। अपनी आत्मा में रहा हुआ सुख ही सच्चा सुख है। इस सुख-सागर की हिलारो म इस बसतोत्सव से भी अधिकाधिक सुख भरा-हुआ है। आप भी यदि आत्मिक सुख का आस्वाद लें तो आपको यह बसतोत्सव निरस लगने लगे" -कुमार अरिष्टनेमि बोले।

"देवरजी! आप तो महात्मा यन कर उपदेश देन लगे। यदि हमारी यहिन आपके उपदेश से आप जैसी निरस हो गई, तो आपसे हमारा और आपके भाई साहय का झगडा हो जायगा। इस यहिन को कितनी कठिनाई स लाये हैं-य आर्यपुत्र। और आप उपदश दे कर अपने जैसी यनाने लग गए। यह कोई न्याय है"-जाम्यवती याली।

—"भोजाई साहिया ! समय आने पर आप स्वय भी इस भूल-भूलैया से निकल कर वास्तविकता की भूमिका पर आ जाएँगी और भाई साहय भी आपको नहीं राक सकगे"-कुमार ने कहा।

"देखो कुँवरजी । व्यर्थ की यातें छोडो और सरलता से विवाह करना स्वीकार कर ला"-सत्यभामा योली।

"मुझ अपने योग्य साथिन मिलेगी, तो लग्न करने का विचार करूँगा। आपको सतोष रखना चाहिये"-कुमार बोले।

"कय तक सतोष रखे ? अच्छा हम आपको एक महिने का समय देती हैं। इस बीच आप अपन योग्य साथिन चुन ल। अन्यथा हमे कोई उपयुक्त पात्र खोजना पडेगा"-महादवी रुक्मिणी बोली।

"यसत के याद ग्रीष्म ऋतु आइ। उष्णता यढने के साथ ही शीतलता का चाह भी यढ गई। सूर्य उदय के थोडी देर याद ही गरमी यढने लगी और लोगा के हाथों म वायु सञ्चालन क लिए पखे हिलने लगे। अन्त पुर और कुमार अरिष्टनेमि को अपने साथ ले कर श्रीकृष्ण रैवतगिरि की तलहटी के उद्यान में आये और सरोवर के शीतल जल म सभी के साथ क्रीडा करने लगे। अरिष्टनेमि भी अपने ज्येष्ठ-यन्धु और भोजाइया की इच्छा के आधीन हो कर सरावर के किनारे यैठ कर स्नान करने लगे। किन्तु भोजाइयो को यह स्वीकार नहीं था। उन्हें आज दवर को प्रसन्न कर के विवाह करने की स्वीकृति लेनी थी। श्रीकृष्ण के सकेत से उन्हाने कुमार को सरोवर मे खिच लिया और चारों और से पानी की मार होने लगी। कुछ रानिया कृष्ण के साथ जल में घेरा यनाकर चारों ओर से पानी की योछारें करने लगी। कोई कृष्ण के कन्धे से झूल जाती तो कोई गले में याँहे डाल कर लटक जाती। थोडी दर महारानी सत्यभामा रुक्मिणी पद्मावती आदि अरिष्टनेमि का घेर कर कमल-पुष्प युक्त जलवर्षा करने लगी और अनेक प्रकार के उपचार से मोहावेशित करने की चेष्टा करने लगी। किन्तु जिनका मोह उपशान्त है, उन पर क्या प्रभाव हो सकता है ? जलक्रीड़ा समाप्त कर याहर निकले और वस्त्रादि यदल कर यैठने के याद महादेवी सत्यभामा योली -

"देवरजी। आपने अपने योग्य साथिन का चुनाव कर लिया हागा ? कहो कौन है यह भाग्यशालिनी ?"

—"भाभी साहिया । मेरे तो यह यात ही समझ में नहीं आई कि यिना चाह के व्याह कैसा ?"

—"देवर भाई ! आप तो निरस है, किन्तु हम आपको अकले नहीं रहने देंगी। आपके भाई के हजारों, भतीजी के भी अनेक और आप अकेले डौलते रहे। यह हमारे लिए लज्जा की बात है। हम आज आपको मना कर ही छोडेगी"-सत्यभामा ने कहा।

-"हाँ, आज हम सब आपको घेर कर बैठती हैं। आओ बहिनो ! देखे यह कब तक नहीं मानेंगे"-पद्मावती ने कहा और सब अरिष्टनेमि को अपने घेरे में ले कर बैठ गई।

"देखो महात्माजी ! पहले भी अनेक महात्मा हुए। भगवान् ऋषभदेवजी इसे भवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे, किंतु उन्होने भी लग्न किया था उनके भी दो पुत्रियाँ और सौ पुत्र थे। उनके बाद भी बहुत से तीर्थंकर ससार के सुख भोगकर दीक्षित हुए। फिर आप ही सर्वथा निरस क्यो रहते हो"-महादेवी जाम्बवती ने पूछा।

-"बहिन ! इसका रहस्य तुम नहीं जानती। जिस में पुरुषत्व हो, वही विवाह करता है और पत्नी के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, किंतु जो पुरुषत्व-हीन हो, वह तो स्त्री की छाया से भी डरता है। मुझे तो लगता है कि देवरजी पुरुषत्व-हीन हैं, तभी विवाह का नाम लेते ही अधोमुखी हो जाते हैं"-महादेवी रुक्मिणी बोली।

रुक्मिणी की बात पर अरिष्टनेमि हँस दिये। उनकी हँसी देखकर महादेवी लक्ष्मणा बोली,-

"देखो बहिन ! तुम्हारे मर्मभेदी वचनों ने इनके सुप्त रस को जाग्रत कर दिया है। इनकी यह मुस्कान स्पष्ट ही स्वीकृति दे रही है। अब पूछने की आवश्यकता नहीं रही"-महादेवी लक्ष्मणा ने कहा।

श्रीकृष्ण एक ओर पास ही खडे सुन रहे थे। उन्होंने आगे बढ कर कहा -

"हा, ये विवाह करेंगे। परन्तु इनके अनुरूप कोई अनुपम-सुन्दरी एव सुलक्षणी युवती का चुनाव तो कर लो।"

"सर्वोत्तम सुन्दरी है-मेरी छोटी बहन राजीमती। उससे बढ कर खोज करने पर भी अन्य सुन्दरी आपको नहीं मिल सकेगी" - सत्यभामा ने कहा।

"तुम्हारी बहिन! हा अवश्य सुन्दरी होगी। तुम भी क्या कम हो। परन्तु स्वभाव भी तुम्हार जैसा है क्या "-कृष्ण ने व्यगपूर्वक महादेवी से पूछा।

" चलो हटो। यहाँ भी ग्वालिये जैसी बातें"-स्मितपूर्वक घुरती हुई महारानी सत्यभामा बोली।

"अच्छा अच्छा उलझन मिटी। चलो अब नगर में चलें। मैं कल ही इस सम्बन्ध को जोडने का प्रयत्न करूँगा"-श्रीकृष्ण बोले।

अरिष्टनेमि का लग्नोत्सव

श्रीकृष्ण उग्रसेन जी के भवन पहुँचे। उग्रसेनजी ने उनका यथायोग्य सत्कार किया। कुशल-क्षेम पृच्छा के बाद श्रीकृष्ण ने राजमती की माँग की। उग्रसेनजी ने बडी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हुए कहा,-

''यह तो मुझ पर बडा अनुग्रह हुआ। इससे बढ कर प्रसन्नता का कारण क्या हो सकता है? किन्तु मेरी एक इच्छा पूर्ण करें तो मैं अपने को सफल मनोरथ समझूँ ?''

''कहिये क्या चाहते हैं आप ?''

''आप बारात लेकर मेरे यहाँ पधारें। मैं आप सभी का आदर -सत्कार करूँ और कुमार अरिष्टनेमि के साथ राजीमती के लग्न कर दूँ। सत्यभामा का ब्याह भी मैं नहीं कर सका, तो मेरी साध पूरी करने दीजिए''-उग्रसेनजी ने नम्र हो कर कहा ।

''ठीक है, ऐसा ही होगा''-श्रीकृष्ण ने स्वीकृति दी।

श्रीकृष्ण ने समुद्रविजयजी के समीप आकर अरिष्टनेमि का राजीमती के साथ सम्बन्ध होने की बात कही। समुद्रविजयजी बडे प्रसन्न हुए और बोले-

''वत्स। तेरे ही प्रयास से हमारी बहुत दिनों की साध पूरी होने जा रही है। अब मैं ज्योतिषी को बुलवा कर लग्न निकलवाता हूँ। यह कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होना चाहिए।''

समुद्रविजयजी ने ज्योतिषी को बुलवा कर लग्न का मुहूर्त पूछा। ज्योतिषी ने कहा,-

''स्वामिन!अभी मुहूर्त ठीक नहीं है और कुछ दिन बाद वर्षा-काल प्रारंभ हो रहा है जो विवाह के लिए ठीक निषिद्धकाल है। वर्षा-काल मे मुख्यतया धर्म-मँगल ही मनाया जाता है।''

''ज्योतिषीजी! निषिद्ध-काल में भी आपवादिक मार्ग तो निकलते ही हैं। बडी कठिनाई से कुमार को मनाया है। अब विलम्ब नहीं किया जा सकता। आप निकट के किसी दिन का मुहूर्त बता दीजिए''- समुद्रविजयजी इस प्रसंग को टालना नहीं चाहते थे।

ज्योतिषीजी ने गणना करके श्रावण-शुक्ला षष्ठी का मुहूर्त दिया। विवाह की तैयारी होने लगी। राज-भवन ही नहीं सारी नगरी सजाई गई। प्रत्येक घर , मण्डप तोरण और ध्वजा- पताका से सुशोभित किया गया। राज-भवन में माताओं रानियों और नगरी में नागरिक महिलाओं द्वारा मंगल-गीत गाये गये। श्रीनेमिकुमार को एक उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बिठाया और बलदेवजी और श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रीतिपूर्वक स्नान कराया। शरीर पर गोशीर्ष-चन्दन का लेप किया और वस्त्राभूषण से सुसज्ज किया। मुकुट कुण्डलादि से उत्तमांग मण्डित किया गया । हाथ में मंगलसूत्र बाँधा गया।

उधर राजा उग्रसेनजी के भवन में भी विवाह की धूम मची हुई थी। उन्होंने भवनादि और लग्न-मण्डप की सजाई में कोई कसर नहीं रखी । बारात के स्वागत-सत्कार की उच्च-कोटि की व्यवस्था

की । भोजन व्यवस्था के लिये प्रचुर सामग्री एकत्रित की गई और सैकडों-हजारो पशुओ और पक्षियो का सग्रह किया। सुहागिन-महिलाएँ मँगल-गीत गाने लगी। राजीमती को भी स्नान कराया गया और गोशीर्ष चन्दन से अगराग करने के बाद वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया गया । वह इन्द्राणी के समान दिव्य-आभा वाली परम सुन्दरी लग रही थी । उसके हृदय मे प्रसन्नता का सागर लहरा रहा था । नेमिनाथ जैसा पति प्राप्त होने की प्रसन्नता उसके हृदय मे समा नहीं रही थी ।

देवेन्द्र के समान सुशोभित श्री नेमिकुमार एक भव्य और मदोन्मत्त गजराज पर आरूढ हुए । उस रत्नजडित छत्र धराया गया था । दोनों और श्वेत चामर डुलाये जा रहे थे ।

बारात बहुत विशाल थी । नगाडे, निशान और वाद्य-मण्डल मगल-धुन बजाते हुए चल रहे थे । उनके पीछे हिनहिनाते हुए अश्वो पर आरूढ कुमार वृन्द चल रहा था । उनके पीछ वरराज नेमिकुमार एक सर्वश्रेष्ठ गजराज पर विराजमान थे । उनके दोनो पार्श्व मे राजागण, रक्षक के रूप म गजारूढ हो कर चल रहे थे । पीछे महाराजा श्रीकृष्णचन्द्रजी, बलदेवजी, समुद्रविजयजी, वसुदेव आदि दशार्ह गण थे । उनके पीछे शिविकाओं मे रानियाँ और अन्य महिला-वृन्द चल रहा था । बारात बडी धूम-धाम और हर्षोल्लास के साथ आगे बढ रही थी ।

नगर के दोनो ओर घर के द्वारो, चबुतरों और छज्जो पर दर्शक पुरुष और गवाक्षो, अट्टालिकाओं और जहाँ भी स्थान मिले, महिलायें बारात का दृश्य देखने के लिए जमी हुई थी और वरराज नेमिकुमार को देख कर भूरी-भूरी प्रशसा करती हुई राजीमती के भाग्य को सराहना कर रही थी । बारात शनै शनै चलती हुई उग्रसेन जी के भवन की ओर बढ रही थी । जयजयकारों की ललकारा से दिशाएँ गुँज रही थी । चारों और हर्ष का सागर उमड रहा था ।

राजीमती को अमंगल की आशंका

उधर राजमती भी पूर्ण रूप से सुसज्ज हो कर सहेलियो के झुण्ड म बैठी थी । सखियाँ उससे हँसी-ठठोली कर रही थी। ज्योंही बारात की वाद्यध्वनि काना मे पडी कि सखियाँ राजीमती को बरबस घसीटती हुई भवन के ऊपर की अट्टालिका में ले-आई। राजीमती का हृदय हर्षातिरक से परिपूर्ण था। अरिष्टनेमि जैसे अलौकिक प्रतिभा के धनी से सम्बन्ध स्थापित होने से वह अपने-आपको परम सौभाग्यशालिनी मान रही थी । ज्योंही उसकी दृष्टि वरराज अरिष्टनेमि पर पडी कि उसका प्रत्येक रोम पुलकित हो उठा। ऐसा त्रैलोक्य-शिरोमणि वर पा कर वह अपने को धन्य मानने लगी । सखी-वृन्द भी राजमती के भाग्य की सराहना करने लगा। राजीमती का हर्षातिरेक उमड ही रहा था कि अचानक उसकी दाहिनी आँख और दाहिनी बाहु फडकी। वह आशकित हो उठी। उसके मुख-चन्द्र की प्रफुल्लता लुप्त हो कर म्लानता छा गई। वह उदास हो कर चिन्तामग्न हो गई। अचानक राजीमती को उदास देख कर सखियाँ भी स्तब्ध हो कर पूछने लगी-- "क्या पूर्ण-चन्द्र के समान प्रफुल्ल मुख पर

यह म्लानता की बदली कैसे छा गई ? अकारण ही कौन सी दु शंका-पापिनी तुम्हारे कोमल हृदय में घुस गई - इस परम सौभाग्य के फूलने की घडी में ?"

"बहिन ! मुझे सन्देह है कि मैं इतने महान् सौभाग्य की प्राप्ति के योग्य नहीं हूँ । दाहिना-आँख और भुजा का स्वाभाविक चलन मुझे किसी अघटित-घटना की सूचना दे रहे हैं । लगता है कि कोई बाधा शीघ्र ही उपस्थित होने वाली है" - राजीमती ने हृदयगत संताप सखियों को बताया ।

"शांत पाप शांत पाप" - सभी सखियाँ बोल उठी और राजीमती को धीरज बँधाती हुई कहने लगी - "सखी ! चिन्ता मत कर । अपनी कुलदेवी का तुम और हम सब स्मरण करें । यदि कोई बाधा होगी भी, तो वे दूर कर देगी । तू धीरज रख । अब देर ही कितनी है ? मन को शान्त कर के कुलदेवी का स्मरण कर ।"

पशुओं को अभयदान +++ वरराज लौटगए

बारात आगे बढी । पर्वत के समान ऊँचे गजराज पर आरूढ़ वरराज अरिष्टनेमिजी की दृष्टि, विशाल बाड़ो और पिंजरा में घिरे हुए पशुओ पर पडी । बहुत बडी संख्या से संगृहीत व प्राणी भयाक्रांत हो कर चित्कार कर रहे थे । मृत्यु - भयभीत थे फिर भी उनकी आशा किसी दयावान् के प्रति लगी हुई थी । वे इसी आशा से जीवन की भीख माँगते हुए, एक स्वर से पुकार कर रहे थे । उनकी पुकार बारात के सदस्यों के विनोदपूर्ण वातावरण को लाँघ कर, वरराज अरिष्टनेमि के कानों तक पहुँची । उन्होंने देखा - राज-मार्ग के दोनों ओर प्राणियों से भरे हुए विशाल बाडे और अगणित पिंजरे रखे हुए हैं, जिनमें फँसे, बंधे और अवरुद्ध प्राणी भयभीत हो कर चिल्ला रहे हैं । उन्होंने महावत से कहा-

"इन पशुओं को बन्दी क्यो बनाया गया है ? ये सभी सुखपूर्वक वन में विचरने वाले प्राणी हैं । इन्हें भी सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है । ये विचारे भयभीत और दु खी दिखाई दे रहे हैं । क्या कारण है इन्हें बन्धन में डाल कर दु खी करने का ?"

"स्वामिन् । ये सभी प्राणी आपकी इस बारात के भोजन के लिए हैं । आपका लग्न होते ही ये भेडें, बकरे मृग शशक, साँभर आदि पशु और पक्षीगण मार जावेंगे और इनके मांस के खाद्यपदार्थ बनाये जा कर बारातियों को खिलाया जायगा । मृत्यु-भय से भयभीत हो कर ये चिल्ला रहे हैं ।"

"सारथि । मुझे उन बाड़ों के पास ले चलो" - कुमार ने कहा ।

"परन्तु वरघोडे का क्रम बिगड जायगा और आगे बढ रही बारात में बाधा उत्पन्न हो जायगी" - सारथि ने निवेदन किया ।

"चिन्ता मत करो गजपाल । मुझ तुरन्त वहाँ ले चलो ।"

"वरराज ने पशुओ का समूह देखा । सभी पशु-पक्षी उन्हीं की ओर देख कर करुणा जनक पुकार कर रहे थे । कुमार का हृदय दया से भर गया । उन्होने कहा;-

"जाओ सारथि ! इनके बन्धन तोड कर स्वतन्त्र कर दो ।"

सारथि ने आज्ञा का पालन किया । सभी जीवो के बन्धन खोल दिये गये । अभयदान पा कर वे सभी जीव हर्षोन्मत्त हो, वन मे चले गए, पक्षी उड गए । उधर पशु-पक्षी मुक्त हो रहे थे और इधर अरिष्टनेमिजी का चिन्तन चल रहा था - "मनुष्य कितना क्रूर बन गया है । अपनी रस-लोलुपता पूरी करने के लिए दूसरे असहाय जीवो के प्राण लेने को तत्पर हो जाता है । कितनी घोर हिसा ? कितनी क्रूरता ? मेरे लग्न पर हजारो पशु-पक्षियो की हत्या ? धिक्कार है ऐसे लग्न को । नहीं करना मुझे विवाह । यहीं से लौट चलना चाहिए, जिससे मनुष्या की आँखे खुले और हिसकवृत्ति मिटे ।"

जीवा के बन्धनमुक्त होने की प्रसन्नता मे वरराज अरिष्टनेमि कुमार ने अपने कुण्डल आदि आभूषण सारथि को प्रदान कर दिये और आज्ञा दी -

"सारथि ! लौट चलो यहाँ से, सीधे भवन की ओर धरी रहने दा बारात को । चलो लौटो ।"-

सारथि हक्का-बक्का रह गया और स्तब्ध रह कर वरराज के मुँह की ओर देखने लगा । पुन आज्ञा हुई ,-

"देखते क्या हो सारथि ! चलो लौटाओ हाथी । मुझे विवाह ही नहीं करना है ।" श्री कृष्ण ने वरराज को रुक कर पशुओ को छुडाते देखा तो उन्हे आश्चर्य नहीं हुआ । वे जानते थे कि अरिष्टनेमि इस हिंसा को सहन नहीं कर सकेंगे । यह स्वाभाविक है । उन्हें यह अच्छा ही लगा । पशुओ की मुक्ति से वे प्रसन्न ही हुए । किन्तु उनका लौटना उन्हें अखरा । वे तत्काल आगे आए और बोले,-

"बन्धु ! यह क्या कर रहे हो ? बारात मे से लौटना उचित नहीं है । चलो लग्न का समय नहीं चूकना चाहिए । विलम्ब मत करो । सारी बारात रुकी हुई हैं ।"

"बन्धुवर ! मैंने आप सभी ज्येष्ठजनों की इच्छा के अधीन हो कर ही यह अरुचिकर कार्य स्वीकार किया था । मेरी इच्छा मोह-बन्धन मे बधने की बिलकुल नहीं है । अब मैं लौट ही गया हूँ, तो मुझे रोकिये मत । मैं लग्न नहीं करूँगा

" अरे पुत्र ! यह क्या कर रह हो ? हाथी क्यों मोडा" - समुद्रविजयजी और पीछे शिवादेवी मार्ग रोक कर आगे आई । उनके चेहरे की सारी प्रसनता लुप्त हो चुकी थी । वे आतकित थे । उनके मुँह से बोल नहीं निकल रहे थे ।

कुमार ने कहा;-

"माता-पिता ! मोह छोडो । आपके मोह ने ही यह सारा झझट खडा किया है । जिस प्रकार ये हजारों पशु-पक्षी, बन्धन म पड कर छटपटा रहे थे और मुक्त हो कर प्रसन्न हुए, उसी प्रकार मैंने भी आठ कर्म रूपी बन्धन में पड कर अनन्त दु ख भोगे । अनन्त-बार बन्धा कटा और मरा ।

मैं यन्धनमुक्त होना चाहता हूँ और आप मुझे यन्धनों में विशेष जकड़ना चाहते हैं । नहीं नहीं, मैं अब किसी भी यन्धन में यधना नहीं चाहता । मुझे मुक्त होना है । मेरा हित यन्धन मे नहीं, मुक्ति में है । आप अपने मोह को छोडों । निर्मोह होना ही सुख और शाति का परम एव अक्षय निवास है । मैं मोह को नष्ट करन के लिए निर्ग्रन्थ-धर्म का आचरण करूँगा । यह मेरा अटल निश्चय है ।"

माता-पिता जानते थे कि हमारा यह पुत्र त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर हो कर भव्य-जीवों का उद्धार करेगा । गर्भ म आते समय चौदह महास्वप्न का फल ही उन्हें अपने पुत्र के विराट व्यक्तित्व का आगाही दे चुका था । किन्तु मोह का प्रयल उदय उन्ह आश्वस्त नहीं होने दे रहा था । उनके हृदय को आघात लगा और वे मूर्च्छित हो गए ।

श्री कृष्ण ने कहा - "भाई ! तुम्हें हमारी, अपने माता-पिता और यन्धुवर यलदयजी आदि ज्येष्ठजनों की यात माननी चाहिए । मैं जानता हूँ कि तुम यहुत प्रशस्त हो, तुम्हारी आत्मा यहुत पवित्र है, तुम मोह पाश म यँधन वाले नहीं हो परन्तु माता-पितादि ज्येष्ठजना के मन को शाति देने के लिए तथा उस चन्द्रमुखी कमल-लोचना को परित्यक्ता हाने के दु ख स यचाने क लिए तुम्हें लग्न करना चाहिए । लग्न करने के याद भी तुम यथाचित रूप से धर्म की आराधना नहीं कर सकोगे क्या ?"

"नहीं, यन्धुवर ! मैं अय किसी नये यन्धन में यन्धने की यात सोच ही नहीं सकता । जय मुक्त होना है तो नये यन्धन में क्यों यन्धूँ ?"

"भाई ! तुम दयालु हो । तुमने पशुओं की दया की और उन्हें यन्धन मुक्त कर के सुखी किया । यह तो ठीक किया, परन्तु तुम अपने माता-पिता और आप्तजन के दु ख दूर कर के सुखी क्यो नहीं करते ? इनकी दया करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है क्या ? क्या पशुओं से भी मनुष्य महत्त्वहीन हो गया है ? पशुआ को सुखी करना और मनुष्या को दु:खी करना उचित है क्या ? हम सभी के दु ख का कारण तो तुम स्वय यन रहे हो । यदि तुम लग्न करना स्वीकार कर लो तो हम सभी का दु ख मिट कर सुख प्राप्त हो सकता है । यह दु ख भी तुम्हीं न उत्पन्न किया है और सुखी भी तुम हा कर सकते हो । अपने निर्णय पर पुन विचार करो और लग्न-मण्डप की आर चलो । समय यीता जा रहा है" - श्रीकृष्ण ने कहा ।

- "भ्रातृवर ! पशुआ को छुड़ाना मर लिए यन्धनकारी नहीं था और न पशु अपने-आप मुक्त हो सकत थे । क्योंकि वे दूसरों क यन्धन में यन्धे थे । किन्तु आप तो अपन ही यन्धन में यन्धे हैं । आप सय का मोह ही आप सय को दु खी कर रहा है । इस मोहजनित दु ख स मुक्त होना तो आप सभी क हाथ में है । मैं आपको दु खी नहीं कर रहा हूँ, यरन् आप सभी मुझे दु खदायक यन्धन में यांध रहे हैं । अपने क्षणिक सुख के लिए मुझे यन्दी यनाना भी क्या न्यायोचित है ?"

"मैं तो आप सभी का हित ही चाहता हूँ । जिस प्रकार मैं स्वय मोहजनितयन्धन से यचना चाहता हूँ, इसी प्रकार आप सभी यचें और निर्मोही हो कर शाश्वत सुखी यनें । मोह क वश हो कर

जीव ने स्वय दु ख उत्पन्न किया है और मोह त्याग कर स्वय ही सुखी हो सकता है । आपसे मेरा निवेदन है कि मुझे स्वतन्त्र रहने दीजिये । मन को मोड लेने से मोह का आवेग हट जायगा और शान्ति हा जायगी ।''

''प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल ही भोगता है और दु ख-दावानल में जलता रहता है । प्रिय-सयोग का सुख कितने दिन रहता है ? मृत्यु तो वियोग कर ही देती है । इसके सिवाय रोग, शोक, अनिष्ट-सयोग जन्म, जरा, मरण आदि दु ख तो लगा ही रहा है । इन दु खो से कौन किसे बचा सकता है ? उदय में आये हुए कर्मों को तो जीव को स्वय भोगना पडता है । माता-पिता, भाई और अन्य सम्बन्धी, उस दु ख से न तो बचा सकते हैं और न भागीदार बन सकते हैं ।''

''पिताजी और मातेश्वरी को सतोष धारण करना चाहिए । मेरे अनुज रथनेमि आदि भी हैं ही । यदि मैं लग्न नहीं करूँ, तो यह मेरी रुचि की बात है । मेरे अन्य बन्धुओ से वे अपनी इच्छा पूरी कर सकते हैं । मैं तो ससार के दु खों से खिन्न हो गया हूँ और मुझे में भौतिक सुख की रुचि नहीं है, इसलिए मैं तो दु ख के हेतुभूत पापकर्मों को नष्ट करने में ही प्रवृत्त रहना चाहता हू । अब आप मुझ-से लग्न करने का आग्रह नहीं करें ।''

कुमार की बात सुन कर श्रीकृष्ण आदि सभी अवाक् रह गए । श्री समुद्रविजयजी बोले - ''पुत्र! तुम गर्भ से लगा कर अब तक सुखशील एव सुकोमल रहे हो, भरपूर ऐश्वर्य में पले हो । तुम्हारा शरीर सुखोपभोग के योग्य है । तुम ग्रीष्म की भीषण गर्मी, शीत की घोर ठड, वर्षा का झझावात, क्षुधा-पिपासा और अनेक प्रकार के कष्ट कैसे सहन कर सकोगे ? सयम -साधना बडी कठोर होती है - वत्स !''

''पिताश्री ! इस जीव ने नरक के घोर दु ख सहन किये हैं । उन भीषणतम दु खो के समक्ष सयम-साधना मे आते हुए कष्ट तो नगण्य है और तपपूर्ण जीवन तो अनन्तसुखों-शाश्वत सुखों की खान खोल देता है । दूसरी ओर काम-भोग के वैषयिक सुख, घोर दु खों का भण्डार है । अब आप ही सोचिये कि मनुष्य के लिए दोनो में से उपादेय क्या है ? यदि आपका पुत्र शाश्वत-सुख का मार्ग अपनाता है तो इससे आपको प्रसन्न ही होना चाहिए ।''

पुत्र के दृढ विचार सुन कर माता-पिता मोहावेग से शोक-विह्वल हो कर अश्रुपात करने लगे और कृष्ण-बलदेवादि स्वजन भी खिन्न वदन हो कर शोकमग्न हो गए । कुमार ने सारथि से कह कर हाथी बढाया और निज भवन मे आ कर अपने कक्ष में चले गए । बारात भी मार्ग में से ही लौट गई ।

यथासमय लोकान्तिक देव अरिष्टनेमि के समक्ष उपस्थित हुए और प्रणाम कर के बोले - ''भगवन् ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवों का उद्धार करो ।'' कुमार ने देवो की बात स्वीकार की और उन्हें विदा किया । इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों ने प्रचुर द्रव्य ला कर भण्डार भरपूर भरे और भगवान् अरिष्टनेमि प्रतिदिन वर्षीदान देने लगे ।

राजीमती को शोक और विरक्ति

"प्रियतम लौट गए" - यह जानते ही राजीमती मर्माहत हो कर कटी हुई पुष्पलता के समान भूमि पर गिर पड़ी। उसके हृदय-मन्दिर में जिन महत्वाकांक्षाओं के भव्य भवन बन गए थे, वे सब एक ही झपाट में नष्ट हो गए। वह संज्ञा-शून्य हो अचेत पड़ी थी। उसके गिरते ही सखियाँ भयभीत हो गई। शीतल-सुगन्धित जल के सिंचन और वायुसंचार से राजीमती सचेतन हुई और उठ कर बैठ गई। अश्रुधारा से उसकी कंचुकी भीग गई थी, मस्तक के केश बिखर कर उड़ रहे थे और कुछ अश्रु-जल से गालों पर चिपक गए थे। वह चित्कार कर उठी। अपने हार-कंगनादि आभूषण तोड़-मरोड़ कर फेंकती हुई और गम्भीर आह भरती हुई बोली -

"हा दैव ! इस हतभागिनी के साथ ऐसा खिलवाड़ क्या किया? क्यों मुझे शिखर पर चढ़ा कर पृथ्वी पर पछाड़ी? मेरे मन में यह भय था ही कि कहीं मैं ठगी न जाऊँ। ऐसा त्रिभुवन-तिलक रूप और देवापिदुर्लभ महापुरुष मेरे भाग्य में कहाँ है? मैंने कभी मनोरथ भी नहीं किया था कि नेमिकुमार मेरे प्रियतम बने। दरिद्र के हाथ में अचानक चिंतामणि-रत्न के समान आ कर हृदय में बैठे और खूब ललचाया। सोते-जागते मनोरथ के भव्य प्रासाद बनाये और जब मनोरथ पूर्ण होने की घड़ी आई तो लूट-खसोट कर फिर कंगाल बना दी गई।"

"हा, नाथ ! मेरे मन में आये ही क्यों? मैंने कब आपको पाने की इच्छा की थी? विवाह करने की स्वीकृति दी, वचन दिया, विश्वास जमाया, बारात ले कर आये और मार्ग से ही लौट गए? क्या यह वचन-भंग नहीं हुआ? क्या यह विश्वासघात नहीं है?"

"नहीं, नहीं, मैं स्वयं दुर्भागिनी हूँ। आप तो मुझ पर कृपा कर के आए, परन्तु मेरा दुर्भाग्य प्राणी-दया का रूप धारण कर के आया और आपको लौटा गया। इसमें आपका क्या दोष है?"

"नहीं, नहीं, आप दयालु नहीं, निर्दय हैं। यदि दयालु होते तो मेरी दया क्या नहीं करते? क्या मैं दया के योग्य नहीं हूँ? पशुओं को तो मेरे पिताजी ने बन्दी बनाया था, मैंने नहीं। परन्तु मेरे हृदय को तो आप ही ने कुचला है?"

"प्रियतम ! जब मैं आपकी भव्यता, दिव्य-तेज और लोकोत्तम गुणों की तुला में अपने-आपको तोलती, तो निराश हो जाती और सोचती - 'कहाँ ये चिंतामणि रत्न के समान नर-रत्न और कहाँ मैं कंकर के समान किंकरी?' किन्तु जब आपके वचन पर विश्वास करती, तो मेरी निराशा दूर हो कर आशा दृढ़ीभूत हो जाती है। फिर उसी आशा पर मन में बड़े-बड़े मनोरथ बनने लगते। मुझे स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि आप मेरे साथ विश्वासघात करेंगे और मुझे परित्यक्ता बना देंगे। आपका यह व्यवहार कैसा है? उत्तम पुरुष जो स्वीकार करते हैं, उसका जीवनपर्यन्त पालन करते हैं। फिर मैं क्यों ठुकराई गई? मैंने आपका क्या अपराध किया था?"

"प्राणेश ! मैं आपको क्यो दोष दूँ ? दोष तो मेरे कर्मों का ही है । मैने पूर्वभव म ऐसे पाप किये होंगे । किन्हीं स्नेहियो - प्रेमियो का प्रणय-बन्धन तोडा होगा किसी आशाभरी प्रेमिका के प्रेमी को भ्रमित कर विमुख किया होगा और विरह की आग में जलाया होगा । बस मेरा वही पाप उदय मे आया है । मैं उसी पाप का फल भोग रही हूँ । इसमे आपका क्या दोष है ?"

"नाथ ! आपने भले ही मुझे ठुकराया परन्तु मैं तो उसी समय आपका वरण कर चुकी हूँ -जब आपने वचन से मुझे स्वीकार किया था । मेरे मन-मन्दिर म आपका स्थान अमिट हो चुका है और मेरी माता तथा अन्य कुलागनाओ ने भी विवाह के गीतो मे आपका और मेरा सम्बन्ध गा कर स्वीकार कर लिया है । इसलिए आपके विमुख हो जाने पर भी मैं तो आपको नहीं छोड सकती । मेरे मन-मन्दिर से आप नहीं निकल सकते यह विवाह-मण्डप, लग्न-वेदिका और सभी प्रकार की साजसज्जा सब व्यर्थ हो गए । अब इनका काम ही क्या रहा ? हा दुर्दैव ! यह कैसा दुर्विपाक है" - कह कर वह दु खावेग म छाती पीटने लगी ।

सभी सखियाँ दिग्मूढ हो कर स्तब्ध खडी थी । उन्होने राजमती के हाथ पकडे और समझाने लगीं

"सखी ! तुम विलाप मत करो । वह निर्दय, निर्मोही अरिष्टनेमि तुम जैसी देवीतुल्य स्त्री-रत्न की उपेक्षा कर के लौट गया तो अब उससे तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या रहा ? अच्छा हुआ जो उसकी भीरुता, व्यवहार-हीनता, रस-हीनता और वनवासी असभ्य जैसी उज्जड़ता का पता - लग्न होने क पूर्व ही - चल गया और वह स्वय लौट गया । यदि उसके इन दुर्गुणों का पता लग्न के बाद लगता तो तू जीवनभर दु खी रहती । अरे ! उस निष्ठुर के साथ तुम्हारा सम्बन्ध हुआ ही कौन-सा ? पिताजी ने केवल वचन से सम्बन्ध स्वीकार किया था । छोडो उस दभी का विचार । ससार में अन्य अनेक अच्छ वर उपस्थित हैं। प्रद्युम्न शाम्ब आदि एक-से-एक बढ कर योग्य वर मिल सकते हैं । उन सभी मे स जो तुम्हें सर्वश्रेष्ठ लगे, उससे लग्न कर

"बस सखी ! आगे मत बोल । मरे हृदय में जो एक बार प्रवेश कर गया वही मेरा पति है । मैं अपने मन से तो कभी की उनकी हो चुकी । अब इस हृदय में से उन्हें हटा कर दूसरे को स्थान देने की बात ही मैं सुनना नहीं चाहती । मेरी दृष्टि मे यह कुलटापन है । उत्तम कुल की नारी अपने हृदय में एक को ही स्थान देती है । बहिन ! मेरे वे प्राणेश्वर सामान्य मनुष्य नहीं है । अलौकिक महापुरुष हैं । उनके समान उत्तम पुरुष इस ससार में कोई है ही नहीं । यदि कोई दूसरा हो भी, तो मर लिये वह किस काम का ? मैंने तो अपना प्रियतम उन्हे मान ही लिया है । यहाँ उन्होंने ठुकराई, तो क्या हुआ ? भोग की साथिन नहीं तो वियोग की अथवा योग की साथिन रहूँगी । अब मैं भी उन्हीं के पथ पर चलूँगी । जब प्रियतम निर्मोही हैं, तो मैं मोह कर के दु खी क्यों बनूँ और क्यो न मोहबन्धन तोड दूँ ? बस आज से न हर्ष न शोक । देखती हूँ कि व अब क्या करते हैं ।"

राजीमती स्वस्थ हुई । सखियों का विसर्जित किया और शांतिपूर्वक काल निर्गमन करने लगी । उधर श्री नेमिकुमार नित्य प्रातःकाल दान करने लगे । तीर्थंकर-परम्परा के अनुसार इन्द्र के याग से उनका वर्षीदान चल रहा था । उसके माता-पिता 'श्री शिवादेवी और समुद्रविजयजी' पुत्र की विरक्ति और भावी वियाग का चिन्तन कर शोकाकुल रहने लगे । उनकी आँखों से बार-बार अश्रु - कण गिरने लगे ।

रथनेमि की राजीमती पर आसक्ति

श्रीनेमिनाथजी के बिना लग्न किये लौट जाने के कुछ काल पश्चात् उनका छोटा भाई रथनेमि राजमती के सौन्दर्य पर मोहित हो गया । वह राजीमती के पास बहुमूल्य भेंट ले कर जाने लगा । राजीमती भी देवर का स्नेह जान कर मिलती और भेंट स्वीकार करती । राजीमती के शिष्टाचार और भेंट स्वीकार का अर्थ रथनेमि ने अपने अनुकूल लगाया । उसने सोचा कि राजीमती भी मुझ पर आसक्त है । उसने एक दिन एकांत पा कर राजीमती से कहा;-

"सुभगे ! ज्येष्ठ-भ्राता ने तुम्हारे साथ घोर अन्याय किया है । वे रसहीन, अनासक्त एवं निर्मोही हैं । उन योगी जैसे विरक्त में यदि भोग-रुचि होती, तो लग्न किये बिना ही क्या लौट जाते ? तुम्हारे जैसी अलौकिक सुन्दरी का त्याग तो कोई दुर्भागी ही कर सकता है । अब तुम्हें किसी प्रकार का खेद या चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं तुम्हारे साथ लग्न करने को तत्पर हूँ । मैं स्वयं तुमसे विवाह करने की उत्कट इच्छा के साथ प्रार्थना कर रहा हूँ । अब विलम्ब मत करो । प्राप्त यौवन को व्यर्थ नष्ट मत करो ।"

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती स्तंभित रह गई । उसके सम्पर्क साधने और मूल्यवान् भेंट देने का आशय उसे अब ज्ञात हुआ । उसने शान्तिपूर्वक रथनेमि को समझाया परन्तु वह तो कामासक्त था । समझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ । उसने सोचा - 'स्त्री लज्जाशील होती है । पुरुष के ऐसे प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं कर लेती । अभी उसके हृदय पर असफलता का आघात भी लगा हुआ है । उसे सोचने का समय भी देना चाहिये ।' इस प्रकार विचार कर और दूसरे दिन आने का कह कर वह चला गया ।

दूसरे दिन रथनेमि पुनः राजीमती के पास आया । राजीमती ने उसका कामोन्माद उतार कर विरक्ति उत्पन्न करने के लिए एक प्रभावोत्पादक उपाय सोचा और उसके वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसने भरपेट-आकण्ठ-दूध पिया और जब रथनेमि आया तो उसने मदनफल खा लिया । इसके बाद उसने रथनेमि से कहा - 'कृपया वह स्वर्ण थाल ला दीजिये ।' वह प्रसन्नतापूर्वक उठा । उसने इस राज...

का अनुग्रह माना । उसने सोचा - 'राजीमती मेरे साथ भोजन करना चाहती है ।' थाल ला कर राजमती के सामने रख दिया । उस थाल मे राजीमती ने वमन करके पिया हुआ दूध निकाल दिया और रथनेमि से कहा - 'लो, इस दूध को पी लो ।'

रथनेमि घबराया । वह समझ नहीं सका कि राजीमती क्या कह रही है । उसने पूछा - "क्या कहा ? क्या मैं इस दूध को पी लूँ ?" राजीमती ने 'हाँ' कहा, ता वह तमक कर बोला, -

"यह कौनसी शिष्टता है ? क्या मैं कुत्ता हूँ, जो तुम्हारे वमन किये हुए दूध को पी लूँ ?"

"क्यो, पूछते क्यो हो ? क्या यह पीने योग्य नहीं है ? क्या तुम समझते हो कि वमन किया हुआ मिष्टान्न भी अभक्ष्य हो जाता है" - राजीमती ने पूछा ।

"तुम कैसी बात करती हा" - रथनेमि बोला - "आबाल वृद्ध सभी जानते हैं कि वमन की हुई वस्तु मनुष्य मात्र के लिए अभक्ष्य होती है । एक मूर्ख भी ऐसा नहीं कर सकता ।"

"यदि तुम इतनी समझ रखते हो तो यह क्या नहीं समझते कि मैं भी तुम्हारे ज्येष्ठ-बन्धु द्वारा परित्यक्ता हूँ । मुझ वमन की हुई का उपभोग करने की कामना ही क्यों कर रहे हो ? अरे उस लोकोत्तम महापुरुष के भाई हो कर भी तुम ऐसी अधम मनोवृत्ति रखते हो ? नहीं नहीं, तुम्हे ऐसी अधमतापूर्ण पशुता नहीं करनी चाहिए और ऐसे दुष्टतापूर्ण विचारों को हृदय में से निकाल कर शुद्ध बनाना चाहिए ।"

सती की फटकार खा कर रथनेमि निराश हुआ और उदास हो कर घर लौट आया । राजीमती ज्ञान क अवलम्बन से अपना समय व्यतीत करने लगी ।

दीक्षा, केवलज्ञान और तीर्थंकर-पद

श्री अरिष्टनेमि कुमार, स्वर्ण दान दे रहे थे और अभाव-पीडित जनता लाभान्वित हो रही थी । श्री नेमिनाथ जी ने राजीमती की व्यथा एव शोक-सतप्तता की बात सुनी और अपने अवधिज्ञान से विशेष रूप से जानी, किन्तु उदयभाव का परिणाम जान कर निर्लिप्त रह । वर्षीदान का काल पूर्ण होने पर और ३०० वर्ष गृहवास में रह कर श्रावण-शुक्ला छठ के दिन चित्रा-नक्षत्र में, देवन्द्र और नरन्द्र द्वारा भगवान् अरिष्टनेमि का निष्क्रमणोत्सव हुआ । उत्तरकुरु नाम की रत्नजडित शिविका पर भगवान् अरिष्टनेमिजी आरूढ हुए । देवा और नरेन्द्रों ने शिविका उठाई । शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र भगवान् के दोनों ओर चामर डुलाते चले । सनत्कुमार प्रभु पर छत्र धर कर रहा माहेन्द्र खड्ग ले कर आगे हुआ ब्रह्मेन्द्र ने दर्पण लिया लातकेन्द्र पूर्ण कलशधारी रहा महाशुकेन्द्र ने स्वस्तिक महस्रारन्द्र ने धनुष प्राणतेन्द्र ने श्रीवत्स और अच्युतेन्द्र ने नन्दावत लिया । चमरन्द्र आदि ने अन्य शस्त्रास्त्र ग्रहण किये । श्री समुद्रविजयजी आदि दशार्ह - पितृवग शिवादेवी आदि मातृवर्ग और कृष्ण-बलदेवादि भातृवग से घिर हुए श्रीअरिष्टनेमिजी शिविकारूढ हो कर चले । "जय हो विजय हो काम विजेता मुक्ति क

महापथिक भगवान् अरिष्टनेमि की जय हो । भगवन् ! आप भव्य जीवों के उद्धारक बनें । स्वयं तिरें और भव्य जीवों को तारें । आपकी और आपके परमोत्तम निर्ग्रन्थ-धर्म की जय-विजय हो ।''

इस प्रकार जयघोषों और वादिन्त्रों के निनाद से युक्त वह निष्क्रमण-यात्रा आगे बढ़ी । यह वही राजमार्ग था - जिस पर एक वर्ष पूर्व इन्हीं अरिष्टनेमि जी की बारात चली थी । आज उसी राज पथ पर इन्हीं की निष्क्रमण यात्रा चल रही है । बारात में माता पिता आदि सभी हर्षोल्लास का ज्वार उमड़ रहा था परन्तु आज की इस यात्रा में माता पितादि अश्रुपात कर रहे हैं और अन्य जन भी गंभीर हैं । यह समारोह आगे बढ़ कर उग्रसेनजी के भवन के समीप पहुँचता है । अपने प्राणेश्वर की निष्क्रमण यात्रा देखने के लिए राजीमती गवाक्ष में पहुँचती है । उन्हें देख कर उसका सुसुप्त प्रेम पुनः जागृत हो जाता है और वह मुर्च्छित हो कर गिर पड़ती है ।

निष्क्रमण-यात्रा उज्जयंत पर्वत की तलहटी के सहस्राम्र वन उद्यान में पहुँची । भ० अरिष्टनेमिजी अपनी शिविका से उतर कर अशोक-वृक्ष के नीचे खड़े हुए और अपने शरीर पर से सभी आभूषण उतार दिये । इन्द्र ने वे आभूषण ले कर श्रीकृष्ण को दिये । समय दिन का पूर्वार्द्ध था और प्रभु के बेले का तप था । प्रभु ने वस्त्र भी उतार दिये और अपने केशों का पंच-मुष्टि लोच किया । शक्रेन्द्र ने प्रभु के कन्धे पर देव दूष्य रखा । प्रभु के लुंचित केशों को शक्रेन्द्र ने अपने उत्तरीय में ले कर क्षीर-समुद्र में प्रक्षिप्त किये । अब भगवान् संयम की प्रतिज्ञा कर रहे थे । देवेन्द्र की आज्ञा से वादिन्त्रादि का नाद एवं कोलाहल रुक गया । फिर भगवान् ने सिद्ध भगवान् की साक्षी से सर्व सावद्य-योग के त्याग रूप सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा करते हुए कहा -

''मैं जीवनपर्यंत सभी प्रकार के सावद्य-योगों का तीन करण तीन योग से त्याग करता हूँ ।''

चारित्र ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ । प्रभु के साथ एक हजार पुरुषों ने प्रव्रज्या ग्रहण की । जिस समय प्रभु ने प्रव्रज्या ग्रहण की, उस समय तीनों लोक में उद्योत हुआ । अन्धकार पूरित नरकावासों में भी क्षण भर के लिए उद्योत हुआ और नारक जीवों ने सुख का अनुभव किया ।

भगवान् के प्रव्रजित होने पर त्रिखण्डाधिपति राज-राजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने आशीर्वाद देते हुए कहा -

''हे दमीश्वर ! आप शीघ्र ही अपने मनोरथ को प्राप्त करें और सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप तथा क्षांति-मुक्ति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते रहें ।''

प्रभु के प्रव्रजित होने के बाद सभी देव और मनुष्य, भगवान् को वन्दन कर के स्वस्थान लौट गए ।

दूसरे दिन भगवान् ने उद्यान से निकल कर गोष्ठ में 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहाँ अपने बेले के तप का परमान्न से पारणा किया । देवों ने - ' अहोदानं अहोदानं ' का दिव्य घोष किया दुंदुभि-

नाद किया सुगन्धित जल, पुष्प दिव्य-वस्त्र और स्वर्ण की वर्षा की और वरदत्त के महादान की प्रशसा करते हुए उसे धन्यवाद दिया ।

भगवान् तप - सयम से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए भूतल पर विचरने लग । प्रव्रजित होने क ५४ दिन बाद उसी सहस्राम वन म तेले के तप सहित ध्यान करते हुए, आश्विन की अमावस्या के दिन प्रात काल चित्रा-नक्षत्र में भगवान् के घातीकर्म नष्ट हो गए । वे केवलनान-केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए ।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही देवेन्द्रा के आसन चलायमान हुए । उन्होने भगवान् का कवलज्ञानी-केवलदर्शनी होना जाना । व हर्षोल्लासपूर्वक अपने-अपने परिवार और देव-देवियो के साथ सहस्राम्र वन में आय और अरिहत्त भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर क भव्य समवसरण की रचना की । उद्यान-रक्षक अधिकारी ने श्रीकृष्ण की सेवा में उपस्थित हो कर इस अलौकिक घटना का निवदन किया । भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति का शुभ-सवाद सुन कर श्री कृष्ण प्रसन्न हुए । उन्होने उद्यान-रक्षक को साढे बारह करोड रुपये दे कर पुरस्कृत किया और स्वय बड समारोहपूर्वक अपने दशाह आदि परिजनो माताआ रानिया, बन्धुओ कुमारों, राजाओ और अधिकारिया के साथ सहस्राम्र वन में प्रभु को वन्दन करने चले । जब समवसरण दिखाई दिया, तो वे अपने-अपने वाहनो से नीचे उतरे और राजचिह्नो को वहीं छोड कर उत्तर की ओर के द्वार से समवसरण म प्रवेश किया । भगवान् अरिष्टनेमिजी महाराज एक स्फटिक-रत्नमय सिहासन पर विराजमान थे । वे अतिशया स सम्पन्न ददीप्यमान दिखाई दे रहे थ । भगवान् की वन्दना एव प्रदक्षिणा कर के श्रीकृष्ण आदि यथास्थान बैठे । देवेन्द्र और नरेन्द्र की स्तुति के पश्चात् भगवान् ने अपनी अतिशय सम्पन्न गम्भीर वाणी में धर्मदेशना दी ।

धर्म देशना

लक्ष्मी बिजली के चमत्कार के समान चचल है । प्राप्त सयोगों का स्वप्न म प्राप्त द्रव्यवत् वियोग होना ही है । यौवन भी मेघ-घटा की छाया के समान नष्ट होने वाला है और शरीर जल के बुदबुदे जैसा है । इस प्रकार इस असार ससार मे कुछ भी सार नहीं है । यदि सार है तो मात्र नान दर्शन और चारित्र क पालन म ही है । तत्त्व पर श्रद्धा हाना सम्यग्दर्शन है । तत्त्व का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है आर सावद्य-योग की विरति रूप मुक्ति का कारण सम्यक् चारित्र कहलाता है । सम्पूर्ण चारित्र मुनियों को होता है और गृहस्था को देश-चारित्र होता है । श्रावक, जीवन-पयन्त दश-चारित्र पालने म तत्पर सभी सुसाधुआ का उपासक और ससार के स्वरूप का जानने वाला होता है । श्रावक का कर्त्तव्य है कि अभक्ष्य-भक्षण का सर्व प्रथम त्याग कर । अभक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार है -

१ मदिरा २ मांस ३ मक्खन ४ मधु ५ पाँच प्रकार के उदुम्बर (बड़ पीपल गूलर प्लक्ष=पीपल की जाति का वृक्ष और काकोदुम्बर) १० अनन्तकाय (कन्दमूल) ११ अज्ञातफल १२ रात्रि-भोजन आदि त्याग तो करना ही चाहिए ।

१ जिस प्रकार पुरुष चतुर होते हुए भी दुर्भाग्य के उदय से लक्ष्मी से वंचित रहता है उसी प्रकार जो मदिरापान करता है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । जिसका चित्त मदिरापान से विकृत और परवश हो गया है ऐसा पापी पुरुष माता को पत्नी और पत्नी को माता मान लेता है । उसका चित्त चलित हो जाने से अपने पराये का विवेक नहीं रहता । वह दरिद्र होते हुए भी सम्पन्न होने का अभिमान करने लगता है सेवक होता हुआ भी स्वामीपन का ढोंग करता है और स्वामी को किंकर के समान मानता है । मद्यप मनुष्य मुर्दे के समान बाजार में गिर जाता है । उसके मुँह में कुत्ते मूतते हैं मद्यपान के रस में गृद्ध हुआ मनुष्य नग्न हो जाता है और निर्लज्ज हो कर अपना गुप्त अभिप्राय प्रकट करता है । जिस प्रकार उत्तम प्रकार का चित्र काजल लगा देने से बिगड़ कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मदिरापान से मनुष्य के शरीर की कान्ति कीर्ति मति और लक्ष्मी चले जाते हैं । शराबी मनुष्य इस प्रकार नाचता है, जैसे भूत लगा हुआ मनुष्य नाचता है । कभी वह शोकातुर हो कर रोता है कभी पृथ्वी पर इस प्रकार लोटता है, जैसे- दाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति लोटता हो । मदिरा शरीर पर विष का सा प्रभाव डाल कर गला देती है । इन्द्रियों को कमजोर करती है और मूर्च्छा उत्पन्न कर देती है । जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी से घास के भारी ढेर जल कर भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार मद्यपान से विवेक संयम ज्ञान सत्य, शौच दया और क्षमादि सद्गुण विलीन हो जाते हैं ।

मदिरा के रस में बहुत से जीव उत्पन्न होते हैं । इसलिए हिंसा के पाप से डरने वाले पुरुषों को मदिरापान नहीं करना चाहिए । मद्यप सत्य को असत्य असत्य को सत्य दिये हुए को नहीं दिया और नहीं लिये हुए को लिया किये हुए को नहीं किया और नहीं किये काम को किया हुआ कहता है और राज्य आदि की झूठी निन्दा कर के बकता रहता है । मूढ़मति वाला मद्यप वध बन्धन आदि के भय छोड़ कर घर, बाहर या रास्ते में जहाँ कहीं पराया धन देखता है वहीं लेने को तत्पर हो जाता है । मद्यपान से उन्मत्त हुआ मनुष्य बालिका युवती वृद्धा ब्राह्मणी अथवा चाण्डाली ऐसी किसी भी स्त्री की परस्त्री के साथ भोग करने को तत्पर हो जाता है । वह गाता गाता दौड़ता लोटता, क्रुद्ध होता दुःखी होता हँसता स्तब्ध रहता, झुकता खड़ा रहता या अनेक प्रकार की क्रियाएँ नट की तरह करता हुआ भटकता रहता है ।

जिस प्रकार प्राणियों के जीवन का सर्व भक्षण करता हुआ भी यमराज तृप्त नहीं होता उसी प्रकार बारम्बार नशा करते हुए भी मद्यप तृप्त नहीं होता । मद्य सभी दोषों का और सभी प्रकार की आपत्तियों का कारण है । इसलिए मद्यपान का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ।

२ जो मनुष्य, प्राणिया के प्राणो का हरण कर के माँसभक्षण की इच्छा करता है वह धर्मरूपी वृक्ष के दयारूपी मूल का उन्मूलन करता है । जो मनुष्य सदैव मास का भक्षण करता हुआ भी दयावान् कहलाना चाहता है, वह प्रज्वलित आग मे उत्तम बली का आरोपण करना चाहता है । जो मनुष्य मास-लोलुप है, उसकी बुद्धि क्रूर डाकिनी के समान प्रत्येक प्राणी का वध करने मे प्रवृत्त रहती है । जो मनुष्य उत्तम भोजन को छोड कर माँसभक्षण करता है, वह अमृत रस का छोड कर हलाहल विष-पान करता है ।

जो मनुष्य नरक रूपी अग्नि के लिए ईंधन समान अपने मास का दूसरे प्राणी के मास से पोषण करना चाहता है, उसके जैसा निर्दय और कौन होगा ?

शुक्र और रक्त से उत्पन्न हुए और विष्टा से वृद्धि पाये हुए तथा रक्त से जमे हुए और नरक के फलस्वरूप ऐसे मास का कौन बुद्धिमान मनुष्य भक्षण करेगा ?

३ जिसमें अन्तर्मुहूर्त के बाद ही✦ अनेक अतिसूक्ष्म जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे मक्खन को खाने का त्याग करना ही विवेकवान् पुरुष का कर्त्तव्य है । एक जीव की हिंसा म भी बहुत पाप रहा हुआ है, तब अनेक जन्तुओ की हिंसा वाले मक्खन का भक्षण तो कदापि नहीं करना चाहिए ।

४ मधु - शहद अनेक जन्तुओ के समूह की हिंसा से उत्पन्न होता है और जो मुँह की लार (थूक) के समान घृणा करने योग्य है । ऐसे घृणित शहद को तो मुँह म रखा ही कैसे जा सकता है ? एक एक पुष्प से रस लेकर मक्खियो के द्वारा वमन किये हुए मधु को खाना धार्मिक पुरुष तो कभी पसन्द नहीं करते ।

५ बड ६ पीपल ७ गुलर ८ पिलखा ९ कठुवर के फल में बहुत से त्रस जीव होते हैं, इसलिए इनके फलो को कभी नहीं खाना चाहिए । यदि भोजन के नहीं मिलने से दुर्बलता आ गई हो और क्षुधा से व्याकुलता हो रही हो तो भी पुण्यात्मा प्राणी ऐसे फल नहीं खाते ।

१० अनन्तकाय - सभी जाति के कन्द, सभी प्रकार की कुँपले-अकुरे (किशलय-वनस्पति की उत्पत्ति के बाद की वह अवस्था जिसमें वह कोमल रहे) सभी प्रकार के थार (?) 'लवण' नामक वृक्ष की छाल कुमारी (ग्वारपाठा?) गिरिकर्णिका शतावरी, विरूढ गडूची कोमल इमली पल्यक, अमृतवेल, सूकर जाति के वाल (?) और आलु, रतालु, पिण्डालु आदि अनेक प्रकार की अनन्तकाय वाली वनस्पति (जिसमें सूई के अग्रभाग पर आवे, उतने अश मे भी अनन्त जीव होते हैं) जिसके नाम से मिथ्यादृष्टि वचित रहते हैं, इनका खाना त्याग देना चाहिए ।

११ अज्ञात फल - शास्त्र म निषेध किये हुए फल अथवा विष फल का भक्षण नहीं हो जाय, इस हेतु से समझदार मनुष्यो और अन्य किन्हीं जानकारो के जानने म जो फल नहीं आये हो, उन अनजान फलो का खाना भी त्याग देना चाहिए ।

✦ छाछ में से बाहर निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ।

१२ रात्रि-भोजन - रात के समय भोजन कदापि नहीं करना चाहिए । क्योंकि रात का घोर अन्धकार होने के कारण भोजन में पड़ते हुए जीव दिखाई नहीं देते और खाने में आ जाते हैं तथा रात के समय प्रेत-पिशाच आदि क्षुद्र देव यथेच्छ फिरते रहते हैं और उनके द्वारा भोजन उच्छिष्ट हो जाता है ।

यदि भोजन में कीड़ी खाने में आ जाय तो बुद्धि का नाश होता है। जूँ (यूका) खाने में आ जाय तो जलोदर का रोग हो जाता है । मक्खी खा जाने से वमन होता है मकड़ी खाने में आ जाय तो कोढ़ रोग हो जाता है । काँटे या लकड़ी की फाँस आ जाय तो गले में छेद कर देती है । यदि भोजन में बिच्छु आ जाय तो तालु को बिंध देता है और केश खाने में आ जाय तो गले में अटक कर स्वर-भंग कर देता है, इत्यादि अनेक दोष रात्रि-भोजन में हैं । रात के समय सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देते, इसलिए प्रासुक (निर्जीव) पदार्थ भी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि उस समय अवश्य ही अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है । जिसमें जीवों का समूह उत्पन्न हो उस भोजन को रात के समय खाने वाला मूढ़ मनुष्य राक्षस से भी अधिक दुष्ट माना जाता है । जो मनुष्य दिन-रात खाता ही रहता है, वह बिना सींग-पूँछ का पशु है ।

रात्रि-भोजन के दोषों को जानने वाले मनुष्य को चाहिए कि दिन के प्रारम्भ और अन्त की दो-दो घड़ी छोड़ कर मध्य में भोजन करे । रात्रि-भोजन का त्याग किये बिना यदि कोई मनुष्य केवल दिन को ही खाता है, तो भी उसे रात्रि-भोजन त्याग का वास्तविक फल नहीं मिलता । जिस प्रकार उधार दिये हुए रुपयों का ब्याज तभी मिलता है जब कि ब्याज का इकरार किया हो उसी प्रकार त्याग करने पर ही रात्रि-भोजन विरति का वास्तविक लाभ मिलता है । जो मूर्ख मनुष्य दिन को भोजन नहीं कर रात को खाते हैं वे रत्न का त्याग कर के काँच ग्रहण करते हैं । रात्रि-भोजन करने से मनुष्य पर-भव में उल्लू, कौआ बिल्ली गिद्ध साभर, मृग भुंडशूर सर्प, बिच्छू और गोधा अथवा छिपकलीपने बनता है। जो धर्मात्मा मनुष्य सदा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कर देते हैं वे अपने आयुष्य का आधा भाग उपवास रूप तप में बिताते हैं । रात्रि-भोजन के त्याग में जो गुण रहे हैं, वे सद्गति ही उत्पन्न करते हैं । ऐसे गुणों की गणना करने की शक्ति किस में है ।

इसके सिवाय चलित-रस यानी मिठाई बहुत दिनों का आचार- जिसमें फूलन आदि से जीवों की उत्पत्ति हो जाय पानी का बरफ आकाश से गिरा हुआ हीम (बरफ) आदि भी अभक्ष्य हैं । इनका त्याग करना चाहिए । अभक्ष्य वस्तु के त्याग से आत्मा भारी कर्म-बन्धन से बच जाती है ।

श्रावक का खान-पान अमर्यादित नहीं हो । रसनेन्द्रिय को त्यागपूर्वक वश में रखने से आत्मा का हित होता है ।

भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर सर्वप्रथम वरदत्त नरेश संसार से विरक्त हुए और भगवान् से सर्वविरति रूप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अंगीकार की और उनके साथ दो हजार क्षत्रियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्री कृष्ण ने भगवान् से पूछा - "भगवान् या तो हम सभी आपके अनुरागी हैं, किन्तु राजमती का आपके पति अत्यधिक अनुराग क्यो हैं ? क्या रहस्य है इस उत्कट अनुराग का ?"

भगवन् ने राजीमती के साथ धन और धनवती से लगा कर अपने पूर्व-जन्मों के आठभवो का सम्बन्ध बताया, जिसे सुन कर समवसरण मे उपस्थित तीन राजाओ को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । वे तीनों भी भगवान् के धन के भव मे धनदेव और धनदत्त नाम के दो भाई थे, वे और अपराजित के भव में विमलबोध नाम का मन्त्री था । वे तीनो भी स्वामी के साथ भव-भ्रमण करते हुए इस भव में राजा हुए थे । जाति स्मरण से पूर्व वृत्तात जान कर उन्हे भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे भी दीक्षित हो गए । उन सभी मद्य-दीक्षितों मे से वरदत्त आदि ग्यारह मुनियों को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान दिया और वे भगवान् के 'गणधर' हुए । उन गणधरों ने द्वादशागी की रचना की ।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजकुमारियाँ भी प्रव्रजित हुई । उन सभी में यक्षिणी को प्रभु ने साध्वियो मे 'प्रवर्तिनी' पद प्रदान किया ।

समुद्रविजयजी आदि दस दशार्ह उग्रसेन श्री कृष्ण, बलदेव और प्रद्युम्न आदि कुमारों और अन्यजनों ने श्रावक-धर्म अगीकार किया । महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि देवियो और अन्य महिलाओं न श्राविका-धर्म स्वीकार किया । इस पकार भगवान् न चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थङ्कर नामकर्म सार्थक किया ।

राजीमती की दीक्षा

भ० नेमिनाथजी की प्रव्रज्या के बाद तो राजीमती के लिए भी यही मार्ग शेष रह गया था । जब तक नेमिनाथजी प्रव्रजित नहीं हुए, तब तक तो स्थिति अनुकूल बनने की सम्भावना उसे लगती रही किन्तु प्रव्रजित नहीं हुए, तब तक तो स्थिति अनुकूल बनने की सम्भावना उसे लगती रही किन्तु प्रव्रजित के बाद तो वह सर्वथा निराश हो गई । उसके हृदय को पुन आघात लगा । स्वस्थ होने पर उसने सोचा-

"धन्य हो भगवन् ! आपको । आपने मुझे ही नहीं त्यागा भोग-जीवन ही त्याग दिया । आप महान् हैं, किन्तु मेरी आत्मा मोह-मुग्ध रही । धिक्कार है मुझे कि मैं उन लाकोत्तम महापुरुष की अनुरागिनी हो कर भी अब तक मोह में ही रची हुई हूँ । नहीं, मोह मेरे लिए भी हेय है । अब मैं भी उसी मार्ग का अनुसरण करूँगी जिसे स्वामी ने अपनाया है । मेर लिए भी अब प्रव्रज्या ही श्रेयस्कर है । अब मुझे भी इस ससार से काई सम्बन्ध नहीं रख कर आतम-साधना करनी चाहिए ।"

राजीमती ने माता-पिता से प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा माँगी । वे भी समझ चुके थे कि अब राजीमती ससार-त्याग के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं अपनाएगी । उन्होंने आज्ञा प्रदान कर दी । शीलवती सदाचारिणी और बहुश्रुता राजीमती ने प्रव्रजित होने के लिए अपने सुन्दर एव सुशोभित कशों

का लुंचन किया और निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । उसके साथ बहुत-सी राजकुमारियाँ, सखी सहेलियाँ और अन्य अनेक महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई * ।

राजीमती की दीक्षा पर महाराजाधिराज श्रीकृष्ण वासुदेव ने मंगलकामना व्यक्त करते हुए कहा - "हे राजीमती ! तुम इस भयानक एवं दुस्तर संसार को शीघ्र ही पार कर के शाश्वत स्थान प्राप्त कर लो ।"

रथनेमि चलित हुए

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद महासती राजीमतीजी, अन्य साध्वियों के साथ भगवान् अरिष्टनेमिजी को वन्दन करने के लिए रैवताचल पर्वत पर गई । पर्वत चढ़ते हुए अचानक वर्षा प्रारम्भ हो गई और साध्वियाँ पानी से भीगने लगी । अपने को वर्षा से बचाने के लिए साध्वियाँ इधर-उधर आश्रयस्थान की ओर चली गई । राजीमती भी एक अन्धकारपूर्ण गुफा में प्रविष्ट हो गई । उसने अपने भीगे हुए वस्त्र उतारे और सूखने के लिए फैला दिये । उस गुफा में पहले से ही मुनि रथनेमि उपस्थित थे । अन्धकार के कारण सती राजीमती को दिखाई नहीं दिये । जब रथनेमि की दृष्टि राजीमती के नग्न शरीर पर पड़ी, तो वह विचलित हो गए । उनकी धर्म-भावना एवं संयम-रुचि में परिवर्तन हो गया । दृष्टिपात मात्र से उनका सुषुप्त मनोविकार जागृत हुआ । प्रकाशपूर्ण वातावरण से आने के कारण प्रवेश करते समय राजमती को रथनेमि दिखाई नहीं दिया था । किन्तु भीगे वस्त्र उतार कर सूखने के लिए फैलाने के बाद राजमती ने पुनः गुफा का अवलोकन किया । उसे एक मनुष्याकृति दिखाई दी । वह भयभीत हो गई और सिमट कर अपनी बाहों से शरीर ढक कर बैठ गई । राजीमती को भय से काँपती हुई देख कर रथनेमि बोला--

"भद्रे ! भयभीत मत हो । मैं तेरा प्रेमी रथनेमि हूँ । हे सुन्दरी ! हे मृगनयनी ! मैं अब भी तुम्हें चाहता हूँ । मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और मेरे पास आओ । देखो, भोग के योग्य ऐसा मनुष्य-भव और सुन्दर-तन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है । आओ अपन भोग भोगें । भुक्त-भोगी होने के पश्चात् फिर अपन संयम की साधना करेंगे । तुम निःशंक हो कर मुझे स्वीकार करो । तुम्हें किसी प्रकार का दोष नहीं होगा ।"

---

* त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में राजमती की दीक्षा, भ० नेमिनाथ के केवलज्ञान के [illegible] भी [illegible] मुनि के [illegible] है । [illegible] है कि भगवान् की दीक्षा के [illegible] गृहस्थ [illegible] में नहीं रही होगी । उत्तराध्ययन अ. २२ [illegible] है कि भगवान् [illegible] [illegible] राजमती भी दीक्षित हो गई [illegible] ।

रथनेमि को पथभ्रष्ट आर भग्न-चित्त देख कर राजमती सभली । उसने अपन आपको स्थिर एव सवरित किया और अपनी उच्च जाति-कुल और शील की रक्षा करती हुई निर्भयतापूवक रथनेमि से बोली -

"रथनेमि ! तुम भ्रम मे हो । सुना ! यदि तुम रूप मे वैश्रमण और लीलाविलास मे नलकूबर के समान भी हो और साक्षात् इन्द्र भी हो तो भी मै तनिक भी नहीं चाहती । मैन भोग-कामना को वमन किये हुए पदार्थ के समान सर्वथा त्याग दिया है और आत्म-साधना में सलग्न हुई हूँ । तुम भी साधु हो। तुमने भी निर्ग्रंथ-धर्म स्वीकार किया है । किन्तु तुम्हारी वासना नष्ट नहीं हुई । तुम्हे अपने कुल का भी गौरव नहीं है । अगधन कुल का सर्प जलती हुई आग मे पड कर भस्म हो जाता है परन्तु मन्त्रवादी की इच्छानुसार अपना त्यागा हुआ विष फिर नहीं चूसता । किन्तु तुम साधुवश म पापी हो । तुम्हे अपने उत्तम कुल का भी गाख नहीं है । तुम समुद्रविजयजी जैसे महानुभाव के पुत्र आर त्रिलोकपूज्य भगवान् अरिष्टनेमिजी के बन्धु हो कर भी ऐसे नीचतापूर्ण विचार रखते हो ? धिक्कार है, तुम्हार कलकित जीवन को । ऐसे कुत्सित जीवन से तो तुम्हारा मर जाना ही उत्तम है ।"

"स्त्री को देख कर कामासक्त होने वाले ए रथनेमि ! तुम सयम का पालन कैसे कर सकोग ? ग्राम-नगरादि मे विचरण करते हुए तुम जहाँ जहाँ स्त्रिया का देखोगे वहीं विचलित हा कर विकारी बनते रहोगे तो तुम्हारी दशा उस हड-वृक्ष जैसी होगी जो वायु के झोके स हिलता हुआ अस्थिर हाता है ।"

"वास्तव में तुम सयमधारी नहीं वेगारी हो । जिस प्रकार ग्वाला गो-वर्ग का स्वामी नहीं होता और भडारी, धन का स्वामी नहीं होता, उसी प्रकार तुम भी सयम रूपी धन क अधिश्वर नहीं हा चाकर हो भारवाहक हा, वेगारी हो । सयमधारी निर्ग्रंथ कहला कर भी असयमी मानस रखने वाले रथनेमि ! तुम्हे धिक्कार है । तुम कुल-कलक हो निर्लज्ज हा घृणित हो । तुम्हारा जीवन व्यर्थ है ।"

भगवती राजीमती के ऐसे ओजपूर्ण प्रभावशाली वचना ने अकुश का काम किया । उसम रथनेमि का मद उतर गया । उसका कामोन्माद नष्ट हा गया । राजमती क रूप दर्शन से उसम जो विषय-राग उत्पन्न हुआ था वह इन सुभाषित शब्द रूपी रसायन स दूर हा गया । स्थान-भ्रष्ट हा कर भागा हुआ मन्दोन्मत्त गजराज फिर अपने स्थान पर आ कर चुपचाप स्थिर हो गया ।

रथनेमि उत्तम-जाति और कुल से युक्त था । उदय-भाव की प्रबलता स वह डगमगा गया था । किन्तु भगवती राजीमती के वचना ने उसे आत्म-भान कराया । वह सभल गया । भगवान् क समीप आ कर उसने अपने पाप की आलोचना की और प्रायश्चित्त ले कर शुद्धि की । फिर वह धर्म-साधना में साहसपूर्वक जुट गया । अब उसका आत्म-वीर्य आत्म-विशुद्धि ही में लगा था । उसने क्रोधादि कषाय और इन्द्रियों के विषयो पर विजय पाप्त की । वह वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बना और सिद्ध पद प्राप्त किया ।

भगवती राजीमती भी तप-संयम का पालन कर वीतराग सर्वज्ञ - सर्वदर्शी बनी और मुक्ति प्राप्त कर परम सुख में लीन हुई।

नारद-लीला से द्रौपदी का हरण

महाभारत युद्ध में जरासंध और उसके पक्ष के कौरव आदि की पराजय एवं विनाश होने के बाद श्री कृष्ण के प्रसाद से पाण्डवों को हस्तिनापुर का राज मिल गया। वे वहाँ राज्य का पालन करते हुए सुखपूर्वक रहते थे*। एकबार नारदजी भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर आये। उस समय पाण्डु नरेश अपनी पत्नी कुंतीदेवी, युधिष्ठिरादि पाँच पाण्डव, पुत्रवधू द्रौपदी और अन्तःपुर परिवार के साथ बैठे थे। नारद को आया देख कर द्रौपदी के अतिरिक्त सभी ने नारदजी का आदर-सत्कार किया वन्दन नमस्कार किया और उच्च आसन का आमन्त्रण दिया। नारदजी ने पहले जल छिड़क फिर दर्भ बिछाया और उस पर आसन बिछा कर बैठ गए। पाण्डवादि नारदजी की सेवा करने लगे। किन्तु द्रौपदी ने नारदजी का आदर-सत्कार नहीं किया। उन्हें असंयत-अविरत-अप्रत्याख्यानी जान कर उनकी उपेक्षा कर दी। द्रौपदी के द्वारा की गई उपेक्षा एवं अनादर देख कर नारदजी क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा - "द्रौपदी को अपने रूप-लावण्य यौवन और पाँच पाण्डवों के स्नेह-बन्धन का अभिमान है। इसीसे इसने मेरा अनादर किया है। इस गर्विणी का गर्व उतारना और अपने अनादर का दण्ड देना आवश्यक है।" वे हस्तिनापुर से चले। उन्होंने विचार किया - "भरत-क्षेत्र में तो ऐसा कोई शूरमा नहीं है जो श्री कृष्ण के प्रभाव की उपेक्षा कर के द्रौपदी का अपहरण करे।" उनकी दृष्टि धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व-दिशा की ओर भरत-क्षेत्र के दक्षिण भाग की अमरकंका राजधानी के पद्मनाभ राजा की ओर गई। वे आकाश में उड़ कर अमरकंका आए। राजा पद्मनाभ ने नारदजी का अच्छा सत्कार किया। अर्घ्य दे कर उच्चासन पर बिठाया। नारदजी ने पानी छिड़क कर दर्भ बिछाया और आसन बिछा कर बैठ गये। कुशल-पृच्छा की। पद्मनाभ ने नारदजी को अपना अन्तःपुर दिखाया और रानियों के सौंदर्य आदि की प्रशंसा करते हुए पूछा -

"महात्मन्! मेरे इस अन्तःपुर जैसा उच्चकोटि का अन्तःपुर आपने कभी किसी दूसरे का देखा है?"

"अरे पद्मनाभ! तुम कुएँ के मेंढक के समान हो। हस्तिनापुर के पाण्डवों की रानी द्रौपदी के अलौकिक सौंदर्य के आगे तुम्हारा यह सारा अन्तःपुर कुछ भी नहीं है। इसका पाँव के अंगूठे की भी बराबरी नहीं कर सकता।"

---

* द्रौपदी के हरण तक का वृत्तान्त पृ. ?८ तक आया है।

+ त्रिषष्टि श. पु. च. के अनुसार ... '...' - ... था।

इस प्रकार पद्मनाभ के मन में आकाक्षा उत्पन्न कर के नारदजी चल दिये । द्रौपदी से वैर लेने का निमित्त उन्होने खडा कर दिया ।

पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी का हरण

नारदजी की बात ने पद्मनाभ के मन मे द्रौपदी को प्राप्त करने की आकाक्षा उत्पन्न कर दी । वह द्रौपदी को प्राप्त करने की युक्ति सोचने लगा । उसे लगा कि भरतक्षेत्र जैसे अति दूर और विशाल लवण-समुद्र को पार कर द्रौपदी को लाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है । उसने अपने पूर्व के साथी देव की सहायता से मनोरथ पूरा करन का निश्चय किया । वह पौषधशाला मे पहुँचा और तेला कर के अपने पूर्व-भव के सम्बन्धी देव+ का स्मरण पूछा । पद्मनाभ ने कहा -

"देवानुप्रिय ! भरत-क्षेत्र की हस्तिनापुरी नगरी के पाण्डवो की रानी द्रौपदी, उत्कृष्ट रूप-यौवन से सम्पन्न है । मैं उसका अभिलाषी हूँ और चाहता हूँ कि आप उसे यहाँ ले आवे ।"

देव ने उपयोग लगाने के बाद कहा--

"मित्र ! तुम भूल कर रहे हो । द्रौपदी सती है । वह अपने पाँच पतियो के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ भाग नहीं करेगी । उसे तुम या अन्य कोई भी पुरुष अनुकूल नहीं बना सकेगा । वह तुम्हे स्वीकार नहीं करगी - यह निश्चय जानो । फिर भी मैं तुम्हारे स्नेह क कारण उसका अपहरण कर के अभी यहाँ ले आऊँगा ।"

देव उडा और लवण-समुद्र और पर्वतादि लाघ कर हस्तिनापुर पहुँचा । उस समय द्रौपदी युधिष्ठिरजी के साथ अपने प्रासाद की छत पर सोई हुई थी । देव उस छत पर उतरा और द्रौपदी का अवस्वापिनी निद्रा (अतिगाढ निद्रा) में निमग्न कर के उठाई और ले उडा ।। अमरकका की अशोक-वाटिका में रख दिया । इसके बाद उस पर से अवस्वापिनी निद्रा हटा कर पद्मनाभ क पास आया और बोला -

मैं द्रौपदी को ले आया हूँ । वह आँख खोल कर इधर-उधर देखते ही चौंकी - "अरे, मैं कहाँ हूँ ? यह भवन और अशोक-वाटिका मेरी नहीं है । ये भवन किसक हैं ? यह उपवन किसका है ? कौन लाया मुझे यहाँ ? अवश्य ही किसी देव-दानव ने मेरा हरण किया और इस अशोक-वाटिका में ला कर रख दिया । ओह ! किसी दुष्ट या वैरी ने मुझे विपत्ति मे डाल दिया । अब मैं क्या करूँ ? हे भगवन् ! यह मेरे किन पापो का फल है ?"

इस प्रकार द्रौपदी भग्न-हृदय से चिन्ता-मग्न हो रही थी । इतने म पद्मनाभ सजधज एव अलकृत हो कर अन्त पुर के साथ उसके सामने खडा हुआ और नम्र वचनों से कहने लगा--

"सुभगे ! तुम चिन्ता मत करो । मैंने ही तुम्हें तुम्हार भवन से एक देव द्वारा हरण करवा कर यहाँ मगवाया है । तुम प्रसन्न होओ और मेरे साथ उत्तम भोग भोगती हुई जीवन सफल करा ।"

द्रौपदी नीचे देखती हुई मौनपूर्वक विचार कर रही थी कि पद्मनाभ फिर बोला;-

"मृगाक्षि ! यह धातकीखड की अमरकका राजधानी का राजभवन और उपवन है । मैं पद्मनाभ यहाँ का शक्ति-सम्पन्न अधिपति हूँ । भरत-खण्ड यहाँ से लाखो योजन दूर है । विशाल लवण-समुद्र और बडे-बडे पर्वत इसके बीच में रहे हुए हैं । भरत-क्षेत्र का कोई भी मनुष्य यहाँ नहीं आ सकता । इसलिए तुम दूसरी आशा छोड कर मेरी बात मान लो और मेरी बन जाओ । मैं तुम्हें महारानी पद दे कर सम्मानित करूँगा । और सभी प्रकार से सुखी रखूँगा ।"

द्रौपदी ने सोचा - 'अब चतुराई से अपना बचाव करना चाहिए ।' वह बोली,-

"देवानुप्रिय ! जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के स्वामी श्री कृष्ण वासुदेव, मेरे स्वामी के भ्राता हैं । यदि छह महीने × तक वे मुझे लेने के लिए नहीं आवें, तो फिर मैं आपकी आज्ञा यावत् निर्देशाधीन रह सकूँगी । अभी आप मुझे पृथक् ही रहने दीजिए ।"

पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात स्वीकार की । उसे विश्वास था कि द्रौपदी की आशा व्यर्थ जायगी । भरत-क्षेत्र से यहाँ कोई भी मनुष्य नहीं आ सकता । उसने धैर्य्य धारण किया और द्रौपदी को अपनी पुत्रियों के कक्ष में पहुँचा दिया । उसी दिन से द्रौपदी निरन्तर बेले-बेले तप और आयबिल तपपूर्वक पारणा कर के अपनी आत्मा को प्रभावित करने लगी ।

उधर युधिष्ठिर जी जागृत हुए और द्रौपदी को नहीं देख कर इधर-उधर खोजने लगे । जब कहीं भी नहीं मिली, तो चिंतित हुए । उन्हें लगा कि किसी देव-दानव ने उसका हरण किया होगा । वे अपने पिता पाण्डु नरेश के पास आये और द्रौपदी के लुप्त होने की बात कही । पाण्डु नरेश ने अपने सेवकों को नगर, वन, पर्वतादि में खोजने को दौडाये और नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि - "जो कोई मनुष्य, द्रौपदी का पता लगा कर बताएगा, उसे विपुल पुरस्कार दिया जायगा ।"

इतना करने पर भी द्रौपदी का कहीं भी पता नहीं लगा तो पाण्डु-राजा ने महारानी कुन्तीदेवी से कहा - "देवी ! तुम अपने पीहर द्वारिका जाओ और कृष्ण-वासुदेव से द्रौपदी की खोज करने का निवेदन करो । हमारे तो सभी प्रयत्न निष्फल गये हैं ।"

कुन्तीदेवी गजारूढ हो कर हस्तिनापुर एवं कुरु जनपद से [illegible] देश में प्रवेश कर के द्वारिका नगरी के उद्यान में पहुँची । [illegible] उतर कर [illegible] और एक अनुचर को, श्री कृष्ण के समीप अपने आगमन का स[illegible] बुआ को [illegible] कर [illegible] हुए और हाथी पर आरूढ हो कर गजारूढ [illegible] आदि [illegible] बूआजी का चरण-वन्दन [illegible] कराया। स्नान-मज्जन खान[illegible] ने घटना का वर्णन किया और [illegible]

× त्रि पु. चरित्र में ५ [illegible]

"बूआजी ! मैं द्रौपदी देवी की खोज कराऊँगा और पता लगने पर वह अर्धभरत में, या कहीं भी - पाताल में भी - होगी, तो खुद ले आऊँगा । आप निश्चिन्त रहे ।"

इसके बाद श्रीकृष्ण वासुदेव ने भी द्रौपदी की खोज प्रारम्भ कर दी । एक दिन श्री कृष्ण अन्त पुर में थे कि नारद आये । सत्कार-सम्मान और कुशल-पृच्छा के बाद श्री कृष्ण ने पूछा - "देवानुप्रिय ! आप ग्राम-नगरादि मे भ्रमण करते रहते हो, यदि आपने कहीं द्रौपदी को देखा हो, तो बताओ ।"

नारदजी के आने का प्रयोजन भी यही था । उन्होने कहा-

"देवानुप्रिय ! मैं एक बार धातकीखड के पूर्व के दक्षिणार्ध भरत की अमरकका राजधानी म गया था । वहाँ पद्मनाभ राजा के अन्त पुर मे द्रौपदी के समान एक स्त्री देखने में आई थी ।"

"महानुभाव ! यह आप ही की करतूत तो नहीं है" - श्री कृष्ण ने पूछा ।

इतना सुनते ही नारदजी उठ कर चले गये । श्री कृष्ण ने पाण्डु-नरेश को सन्देश भेजा - "द्रौपदी धातकीखड की अमरकका राजधानी के राजा पद्मनाभ के यहाँ है । इसलिए पाँचो पाण्डव अपनी सेना के साथ पूर्व-दिशा के समुद्र के किनारे पहुँचे । और मेरी प्रतीक्षा करें ।"

पद्मनाभ की पराजय और द्रौपदी का प्रत्यर्पण

पाण्डव-भ्राता सेना सहित समुद्र तट पर पहुँचे । लवण-समुद्र की विशालता, उसमें जलमग्न रहे हुए पर्वत, परम-दाहक बडवानल, एक ही चक्र में नष्ट कर देने वाले जलावर्त और भयकर जल-जन्तुओं को देख कर वे हताश हो गए । पर्वताकार उठने वाले ज्वार-भाटा और दृष्टि-पथ से भी अधिक विशाल - जिसमें तीर का कहीं पता नहीं, इतना विस्तृत जल विस्तार ने उन्ह चिन्ता-सागर में डुबा दिया । वे सोचने लगे, यह समुद्र मानव-शक्ति से अलघ्य है । इसे सुरक्षित रूप से पार करने का साहस ही कैसे हो सकता है । वे चिन्तामग्न थे कि श्री कृष्ण आ पहुँचे । वहाँ पहुँच कर तेले का तप कर के वे समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का स्मरण करने लगे । तेला पूर्ण होने पर सुस्थित देव उनके समक्ष उपस्थित हुआ और बोला - "कहो, देवानुप्रिय ! मैं आपका क्या हित करूँ ?"

श्री कृष्ण-वासुदेव ने कहा - "देव ! द्रौपदी देवी को अमरकका से लाने के लिए हमें इस समुद को पार करना है । तुम मेरे और पाँच पाण्डव के, इन छह रथा को इस समुद्र म मार्ग दो जिससे हम अमरकका पहुँच कर द्रौपदी को लावें ।"

देव बोला - "हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार पद्मनाभ के पूर्व का सम्बन्धी देव, द्रौपदा का हरण कर के अमरकका ले गया उसी प्रकार मैं द्रौपदी को यहाँ से उठा कर हस्तिनापुर पहुँचा दूँ और यदि आप कहें तो दड-स्वरूप पद्मनाभ, उसका परिवार और सेना आदि को इस समुद्र में डुबा दूँ ?"

"नहीं, देव ! तुम मुझे और पाँचा पाण्डव को अपने-अपने रथ सहित समुद्र में जाने का मार्ग द दो । मैं स्वय द्रौपदी को लाऊँगा ।"

- "ऐसा ही हो " - इस प्रकार कह कर छह रथा सहित उन्हे मार्ग दे दिया । श्री कृष्ण और पाँचो पाण्डव,स्थल-मार्ग के समान अपने-अपने रथ में बैठ कर समुद्र में चले और समुद्र पार कर अमरकका राजधानी के उद्यान मे पहुँचे । श्री कृष्ण ने अपने दारुक सारथि को आज्ञा दी,-

"तुम पद्मनाभ की राज-सभा में जाओ उसके पादपीठ को ठुकराओ और भाले की नोक म लगा कर मेरा पत्र उसे दो तथा क्रोधपूर्वक भृकुटी चढा कर, लाल-लाल आँखें दिखाते हुए, प्रचण्डरूप स उसे कहो कि -

"अरे ए पद्मनाभ ! कुकर्मी, कुलक्षणी, कृष्णपक्ष की हीन-चतुर्दशी का जन्मा मृत्यु का इच्छुक ! तूने श्री कृष्ण-वासुदेव की भगिनी द्रौपदी देवी को उडवा लिया ? ह अधम । तूने द्रौपदी को ला कर अपनी मृत्यु का आव्हान किया हे । यदि अब भी तू अपना जीवन और हित चाहता है तो द्रौपदी देवी श्री कृष्ण को लौटा दे । अन्यथा युद्ध करने के लिए तत्पर हा जा । श्री कृष्ण-वासुदेव, पाँच पाण्डवों सहित यहाँ आ पहुँचे हैं ।"

दूत गया और पद्मनाभ के समक्ष पहुँचा । पहल तो उसने प्रणाम किया फिर कहा - "स्वामिन् ! यह मेरा खुद का विनय है । अब स्वामी की आज्ञा का पालन करता हूँ ।" यह पद्मनाभ की पाद पीठिका ठुकराता और भाले की नोक पर पत्र देता हुआ पूर्वोक्त प्रकार से भर्त्सनापूर्वक सन्देश दिया । दारक द्वारा अपमान और भर्त्सना प्राप्त पद्मनाभ क्रोधित हुआ और रोषपूर्वक बोला - "मैं द्रौपदी का नहीं लौटाऊँगा । हा युद्ध करने को तत्पर हूँ और अभी आता हूँ ।" इसक बाद बाला - "हे दूत ! तुम धृष्ट हो । तुम्हारी दुष्टता का दण्ड तो मृत्यु ही है । किन्तु राजनीति म दूत अवध्य है । अब तुम चले जाओ यहा से ।" उसे अपमानित कर के पिछले द्वार से बाहर निकाल दिया । उसके बाद पद्मनाभ सना ले कर युद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ । पद्मनाभ को युद्ध के लिए आता देख कर श्री कृष्ण पाण्डवों से बोले;-

"कहो बच्चो ! पद्मनाभ के साथ तुम युद्ध करोगे या मैं करूँ ?"

- "स्वामिन् ! हम युद्ध करेंगे । आप देखिये" - पाण्डवा ने कहा और शस्त्र-सज्ज रथारूढ हो कर पद्मनाभ के सामने आ कर बोल -

"पद्मनाभ ! आज या तो हम रहेंगे या तुम रहोगे । आओ अपना युद्ध -कौशल दिखाओ ।"

युद्ध आरम्भ हुआ और पद्मनाभ ने थाडी ही देर में पाण्डवा पर भीषण प्रहार कर के उन्हें युद्ध-भूमि से निकल-भागने पर विवश कर दिया । वे लौट कर श्री कृष्ण के पास आ कर बोल -

"स्वामिन् ! पद्मनाभ बडा बलवान् है । उसकी सेना भी उच्च कोटि की है । हम उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सक और उसके प्रहार से भयाक्रात हो कर आपकी शरण मे आय हैं । आप जो उचित समझें वह करें ।"

श्री कृष्ण बोले- "देवानुप्रियो । तुम्हारी पराजय का आभास तो उसी समय हो गया था, जब तुमने पद्मनाथ से कहा - "हम रहेंगे, या तुम रहोगे ।" तुम्हारे मन में अपनी विजय सन्दिग्ध लगती थी, इसी से तुम्हारी पराजय हुई । यदि तुम अपने हृदय मे दृढ विश्वासी बन कर यो कहते कि - "पद्मनाभ । तुझ दुराचारी पर हमारी विजय होगी । अब तू नहीं बच सकेगा ।" इस प्रकार दृढ निश्चयपूर्वक युद्ध करते तो तुम्हारी विजय होती । अब तुम देखो । मैं कहता हूँ कि - "मैं विजयी हो कर रहूँगा और पद्मनाभ पराजित होगा ।"

श्री कृष्ण रथ पर चढ कर पद्मनाभ के समीप पहुँचे और अपना पाँचजन्य शख फूँका । शख क घोर नाद से पद्मनाभ की तीसरे भाग की सेना भयभीत हो कर भाग गई । इसके बाद श्री कृष्ण ने सारग धनुष की प्रत्यचा चढा कर टकार किया । इससे शत्रु-सेना का दूसरा तिहाई भी भाग खडा हुआ । शेष बचा हुआ भाग तथा पद्मनाभ साहसहीन, सामर्थ्यहीन और बल-विक्रम से शून्य हो कर युद्ध-भूमि से पीछे हटे और नगर मे घुस कर किले के द्वार बन्द कर दिये, फिर नगर म शत्रु प्रवेश नहीं कर जाय, इसकी सावधानी रखने लगा ।

सेना सहित पद्मनाभ को भाग कर नगर में घुसते हुए देख कर, श्री कृष्ण भी नगर के समीप आए और रथ से नीचे उतर कर वैक्रिय-समुद्घात किया फिर विशाल नरसिह का रूप धारण किया और पृथ्वी पर पाँव पछाडते हुए सिहनाद किया । इसस राजधानी का दृढ प्राकार (किला) द्वार अट्टालिकाएँ आदि प्रकम्पित हो कर टूट पडे बडे-बडे भवन और भण्डार भरपूर झटका खा कर ढह गए । पद्मनाभ स्वय भान-भूल हो गया । उसके जीवन के लाले पड गए । वह अन्त पुर मे द्रौपदी की शरण म गया और बोला - "देवी ! मैं तेरी शरण में हूँ । श्री कृष्ण सार नगर का ध्वश कर रहे हैं । अब तू ही हमारी रक्षा कर ।"

"पद्मनाभ । क्या तुम श्री कृष्ण के महाप्रताप को नहीं जानते थे ? पुरुषोत्तम कृष्ण-वासुदेव की उपेक्षा एव अवज्ञा करते हुए तुम मुझे यहाँ लाये हो । तुम्हारी दुराचारी नीति ने ही तुम्हारी दुर्दशा की हैं। अस्तु, अब तुम जाओ स्नान करो और भीगे हुए वस्त्र धारण करो । पहनने के वस्त्र का छोर नीचा रखो, अपनी रानियो को साथ लो । भेट अर्पण करने के लिए श्रेष्ठ रत्न लो और मुझे आगे कर के उनके निकट ले चलो । वहाँ पहुँच कर श्री कृष्ण के चरणों मे गिरो और क्षमा माँग कर शरण ग्रहण करो । वे पुरषोत्तम हैं । शरणागत-वत्सल हैं । वे तुम पर कृपा करेंगे । यही मार्ग तुम्हारी रक्षा का है ।"

पद्मनाभ ने द्रौपदी के कथनानुसार किया । श्री कृष्ण से क्षमा याचना की और द्रौपदी देवी को उन्हे सौंप दी ।

श्री कृष्ण ने कहा - "नीतिहीन दुराचारी पद्मनाभ । तू नहीं जानता था कि द्रौपदी देवी मेरी भगिनी है ? जा अब तू निर्भय है ।"

पद्मनाथ को विसर्जित कर के द्रौपदी को रथ मे बिठाया और उपवन मे पाण्डवों के निकट आ कर द्रौपदी उन्हें सौंप दी और सभी वहाँ से लौट चले ।

वासुदेवों का ध्वनि-मिलन

उस समय धातकी-खण्ड के पूर्वार्द्ध में 'चम्पा' नाम की नगरी थी, त्रिखण्डा धिपति 'कपिल' नामक वासुदेव की वह राजधानी थी । तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी उस समय चम्पा नगरी में धर्मदेशना दे रहे थे और कपिल-वासुदेव सुन रहे थे । उसी समय श्री कृष्ण के अमरकका में किये हुए शखनाद की ध्वनि कपिल-वासुदेव को सुनाई दी । ध्वनि सुन कर उनके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि क्या मेरे राज्य मे भी कोई दूसरा वासुदेव उत्पन्न हुआ है । मेरे ही समान शख-नाद करने वाला यह कौन है ?

कपिल के सन्देह को प्रकट करते हुए तीर्थंकर भगवान् ने कहा - "कपिल ! एक क्षेत्र एक युग एक समय मे दो तीर्थंकर दो चक्रवर्ती, दो बलदेव और दो वासुदेव हो, ऐसा कभी नहीं हुआ और न कभी होगा । यह जो शखनाद किया है, वह जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के कृष्ण-वासुदेव ने किया है । अमरकका का पद्मनाभ, द्रौपदी का हरण कर के लाया था । उसे लेने पाण्डवो के साथ कृष्ण आये । पद्मनाभ के साथ हुए सग्राम में उन्होने शखनाद किया जो तुमने सुना है ।"

कपिल का सन्देह मिटा । वह उठा और भगवान् को नमस्कार कर के बोला-

"भगवन् ! मैं जाऊँ और कृष्ण-वासुदेव जैसे उत्तम-पुरुष को देखूँ ।"

"कपिल ! ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक तीर्थंकर दूसरे तीर्थंकर को देखें एक चक्रवर्ती एक वासुदेव और एक बलदेव, दूसरे चक्रवर्ती, वसुदेव और बलदेव को देखें । किन्तु तुम लवण-समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे ।"

कपिल-वासुदेव भगवान् की वन्दना कर के समुद्र तट पर आये । उन्हे श्री कृष्ण के रथ की श्वतपीत ध्वजा का अग्रभाग दिखाई दिया । उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए कपिल नरश ने शखनाद किया और शख द्वारा सन्देश भेजा - "मैं कपिल आपका दर्शन करने का इच्छुक हूँ । कृपया लौट कर यहाँ पधारें ।" कपिल का शखनाद सुन कर कृष्ण ने भी शखनाद किया और कहा - "मित्र ! मैं आपके स्नेह को स्वीकार करता हूँ । किन्तु अब बहुत दूर आ गया हूँ । अब लौटना सम्भव नहीं है ।" दोनों उत्तम पुरुषा का शखनाद द्वारा मिलना हुआ ।

वहाँ स लौट कर कपिल नरेश अमरकका नगरी में गये और पद्मनाभ से पूछा - "पद्मनाभ ! नगरी की यह भग्नावस्था कैसे हो गई ?"

पद्मनाभ बोला- "स्वामिन् ! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के कृष्ण-वासुदव ने यहाँ आ कर आपक राज्य में आक्रमण किया और इस नगर को खण्डहर बना दिया । यह आपका भी अपमान हुआ है-स्वामिन् ।"

"पद्मनाभ ! तूने कुकृत्यु किया है । मेरे ही समान महापुरुष कृष्ण का तेने अनिष्ट किया और अपना भी अनिष्ट किया । तू राज्य करने के योग्य नहीं है । चल निकल जा तू इस राज्य से ।"

पद्मनाभ को निर्वासित कर के कपिल-वासुदेव ने उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया ।

पाण्डवों को देश-निकाला

इधर श्री कृष्ण-वासुदेव लवण-समुद्र को पार कर गगा महानदी के निकट आये और पाण्डवो से कहा - "जाओ तुम नौका से गगा पार करो फिर नौका लौटा देना । मैं सुस्थित देव से मिल कर आऊँगा ।"

पाण्डवो ने एक नौका प्राप्त की और गगा नदी को पार किया । फिर एक दूसरे से बोले - "श्री कृष्ण गगा महानदी को अपनी भुजा से तैर कर पार पहुँचने मे समर्थ हैं, या नहीं ?" उन्होने श्री कृष्ण के बल की परीक्षा करने के लिए नौका को एक ओर छुपा दिया और वहा ठहर कर प्रतीक्षा करने लगे । उधर सुस्थित देव से मिल कर श्री कृष्ण लौटे, तो उन्हे नौका कहीं दिखाई नहीं दी । फिर एक हाथ में अश्व और सारथी सहित रथ लिया और दूसरे हाथ से तैर कर नदी पार करने लगे, किन्तु मध्य में पहुँच कर वे थक गए । उस समय गगा-देवी प्रकट हुई और जल में स्थल बना दिया । श्री कृष्ण ने वहाँ विश्राम किया और फिर साढे बासठ योजन प्रमाण महानदी को पार कर किनारे पर पहुँचे । और पाण्डवा से बोले,- "तुम महाबलवान् हो जो महानदी के पार उतर गए, किन्तु पद्मनाभ को तुमने जानबूझ कर पराजित नहीं किया ।"

पाण्डव बोले - "देवानुप्रिय ! हम नौका मे बैठ कर पार पहुँचे । किन्तु आपका सामर्थ्य दखने के लिए हमने नौका नहीं भेजी ।"

पाण्डवो की बात सुन कर श्री कृष्ण कोपायमान हुए और बोले - "जब तुम पद्मनाभ से हार कर लौटे, तब मैंने पद्मनाभ उसकी सेना और नगर का विध्वश किया और द्रौपदी को लाकर तुम्हें सौंपी, उस समय तुमने मेरा बल नहीं जाना और अब निश्चित हो कर परीक्षक बन गए ।" इतना कह कर लोहदण्ड से उनके पाँचों रथ पर प्रहार कर के चूर्ण कर दिया और उन पाँचो पाण्डव को दश स निर्वासित कर दिया । रथ चूर्ण करने के स्थान पर रथमर्दन नामक कोट की स्थापना कर के नगर बसाया। इसके बाद वे सना सहित राजधानी म पहुँच ।

पाण्डव-बन्धु द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये और माता-पिता को प्रणाम करने के बाद बोल-

"पिताजी ! हमसे एक भारी भूल हो गई और श्री कृष्ण ने हमें निर्वासित कर दिया । अब हमें श्री कृष्ण की राज्य-सत्ता में रहने का कोई अधिकार नहीं रहा । हमें जाना ही पडेगा परन्तु जाएगे कहाँ ? ऐसा कोन-सा भू-भाग है जहाँ श्री कृष्ण का शासन नहीं हा ।"

"पुत्रो ! तुमने बहुत बुरा काम किया । तुम्हें कृष्ण-वासुदेव का अप्रिय नहीं होना था ।"

वृद्ध पाण्डु नरेश ने कुन्तीदेवी से कहा - "प्रिये ! पुत्रो ने बहुत बडा अनर्थ कर डाला । श्री कृष्ण ने उन्हें देश-निकाला दिया है । अब उनके लिए ठिकाना ही कहाँ रहा ? अब तुम्हीं द्वारिका जाओ और श्री कृष्ण से ही पूछो कि पाण्डव-बन्धु कहाँ जा कर रह ।"

रानी कुन्तीदेवी द्वारिका गई और श्रीकृष्ण से पाण्डवा के बसने का स्थान पूछा । श्री कृष्ण ने कहा-

"बूआजी ! चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव 'अपूतिवचन' वाले होते हैं । उनके मुख से निकले हुए वचन व्यर्थ नहीं होते । इसलिए निर्वासन की आज्ञा अप्रभावित नहीं होगी । पाँच पाण्डव दक्षिण की ओर समुद्र-तट पर जा कर 'पाण्डु-मथुरा' नामक नगर बसा कर, मेरे अदृष्ट-सेवक (मेरे समक्ष नहीं आते हुए सेवकवत्) रहें ।"

श्री कृष्ण से सत्कार-सम्मान के साथ विदा की हुई कुन्तीदेवी हस्तिनापुर आई और श्री कृष्ण का आदेश सुनाया । श्री कृष्ण की आज्ञा पा कर पाँचो पाण्डव अपने बल-वाहन हाथी-घोडे आदि ल कर हस्तिनापुर से निकले और समुद्र-तट पर 'पाण्डु मथुरा' बसा कर सुखपूर्वक रहन लगे । कालान्तर में द्रौपदी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका 'नाम 'पाण्डुसेन' रखा गया × ।

छह पुत्र सुलसा के या देवकी के ?

भद्दिलपुर नगर में 'नाग' नाम का गृहस्वामी रहता था । सुलसा उसकी पत्नी थी । जब सुलसा किशोरी-बालिका थी, तब एक भविष्यवेत्ता ने कहा था कि - "सुलसा मृत-वन्ध्या होगी ।" भविष्यवाणी को निष्फल करने के लिए सुलसा हरिणैगमेषी देव की आराधना करने लगी । वह प्रात काल स्नान कर के गीली-साडी युक्त पुष्प ले कर हरिणैगमेषी देव की प्रतिमा के आग फूला का ढेर करती और वन्दन-नमस्कार करने के बाद अन्य कार्य करती । दीर्घकाल की आराधना स प्रसन्न हो कर देव प्रकट हुआ और सुलसा से बोला - "देवानुप्रिये ! तुम मृत-वन्ध्या ही रहोगी । इस कर्म-फल को मैं अन्यथा नहीं कर सकता । किन्तु तुम्हारे जन्मे हुए मृत पुत्र, मैं अन्य सद्य-प्रसूता महिला के पास रख दूँगा और उसके जीवित पुत्र को तुम्हारे पास ले आऊँगा । इस प्रकार तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी ।"

यथासमय सुलसा के लग्न नागसेन के साथ हुए और सुखोपभोग करते उनके अनुक्रम से छह पुत्र हुए । छहों मृत, किन्तु दूसरी महिला के जीवित जन्मे पुत्रो से परिवर्तित । वे अत्यन्त सुन्दर थे । उनके

× इसके आग त्रि. श. पु. च. में लिखा हैं कि श्री कृष्ण ने हस्तिनापुर का राज्य अपनी बहिन सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को दिया ।

नाम इस प्रकार थे - १ अनीकसेन २ अनतसेन ३ अजितसेन ४ अनिहतरिपु ५ देवसेन और ६ शत्रुसेन। युवावस्था प्राप्त होने पर उन छहा के बत्तीस - बत्तीस सुन्दर कुमारिकाओ के साथ लग्न किये। वे सभी सुखपूर्वक भोग-भोगते हुए विचरते थे ।

देवकी देवी का सन्देह

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भ० अरिष्टनेमिजी भद्दिलपुर पधारे । अनीकसेनादि छहो बन्धुओ ने भगवान् का धर्मोपदेश सुना और प्रतिबोध पा कर प्रव्रजित हो गए । जिस दिन वे दीक्षित हुए, उसी दिन से निरन्तर बेले-बेले तप करते हुए जीवन बिताने का उन छहो ने अभिग्रह किया । भगवान् अरिष्टनेमिजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए द्वारिका पधारे । तपस्वी मुनि श्री अनीकसेनजी आदि छहा ने बेले के पारणे के दिन, भगवान् की आज्ञा ले कर दो-दो के तीन सघाटक पृथक्-पृथक् निकले और ऊँच-नीच-मध्यम कुलो में निर्दोष भिक्षा के लिए घूमने लगे । उनमे से एक सघाडा महारानी देवकी देवी के भवन में पहुँचा । तपस्वी-मुनियों को अपने भवन में आते देख कर देवकी देवी अत्यत प्रसन्न हुई और सात-आठ चरण सामने जा कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया । फिर वह भोजनशाला में आई और सिहकेसरी मोदक से मुनियो को प्रतिलाभित कर आदर पूर्वक विदा किये ।

उन मुनियों के जाने के बाद थोडी ही देर मे, उन्हीं में का दूसरा सघाडा देवकी देवी के भवन में आया । देवी के मन में उन्हे देख कर सन्देह हुआ - 'कहीं ये मार्ग भूल कर तो पुन नहीं आ गए - यहाँ ?' वह यह जान ही नहीं सकी थी कि ये सत दूसरे हैं । छहा भ्राता वर्ण, आकृति, डिलडौल, वय और रूप मे समान तथा लोकोत्तम थे । वह तत्काल उठी । आगे बड कर सम्मान दिया और वन्दन-नमस्कार कर भक्तिपूर्वक भोजनशाला में ले गई और उसी प्रकार सिहकेसरी मोदक वहरा कर विसर्जित किये । उनके जाने के बाद मुनियो की तीसरी जोडी भी वहीं पहुँच गई । उन्हें देख कर देवकी रानी विशेष शकित हुई, किन्तु चेहरे पर सन्देह की रेखाएँ नहीं उभरने दी और उसी आदर सत्कार के साथ सिहकेसरी मोदक बहराये । इसके बाद सन्देह निवारण के लिए देवकी ने पूछा,-

"महात्मन् ! क्या कृष्ण-वासुदेव की इस विशाल एव समृद्ध नगरी के लोगो मे सुपात्रदान की रुचि समाप्त हो गई व अन्न दुर्लभ हो गया, जिससे सत-महात्माओ को भिक्षा नहीं मिली और बार-बार एक ही घर से भिक्षा लेनी पडी ।"

सत समझ गये कि सयोगवशात् आज तीनों सघाडे यहीं आ गए हैं । उन्होंने कहा -

"नहीं, देवी ! हम पहले नहीं आये । पहले आने वाले दूसरे हैं और हम दूसरे हैं । बात यह है कि हम भद्दिलपुर के नाग-श्रेष्ठी के पुत्र और सुलसा माता के आत्मज छह भाई हैं । छहों की आकृति और वर्णादि समान हैं । हम छहों ससार और भोग-विलास छोड़ कर भगवान् नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षित हुए और निरन्तर बेले बेले तप करने लगे । आज हमारे पारणे का दिन है । भगवान् की आज्ञा

ले कर हम छहों मुनि तीन सघाडों में विभक्त हो कर माधुकरी के लिए निकले । सयोगवशात् हम तीना सघाडे क्रमश यहाँ आ गए हैं और हमारी समान आकृति ही तुम्हारे एक मानने और पुन -पुन प्रवेश के भ्रम का कारण बनी है ।''

सत लौट गए । परन्तु देवकी के मन में एक भूली स्मृति जग गई + । वह सोचने लगी;-

''अतिमुक्तकुमार श्रमण की वह भविष्यवाणी असत्य हुई । उन्होंने कहा था 'देवकी ! तुम आठ पुत्रों की माता बनोगी । तुम्हारे वे पुत्र इतने उत्कृष्ट रूप और समान आकृति वाले होगे कि जिनकी समानता भारतवर्ष की किसी भी माता के पुत्र नहीं कर सकेगे ।'' किन्तु महात्मा का यह कथन असत्य हुआ । क्योंकि मेरे छह पुत्र तो मृत हुए जब वे गर्भ से ही मृत जन्मे तो उनका होना-न-हाना समान ही हुआ । तपस्वी महात्मा का वचन असत्य नहीं होता फिर मेरे लिए असत्य क्यो हुआ ? मैं अभी अरिहत भगवान् अरिष्टनेमिजी के समीप जाऊँ और वन्दन-नमस्कार कर के अपना सन्देह दूर करूँ ।''

सन्देह-निवारण और पुत्र-दर्शन

देवकी इस प्रकार विचार कर के रथ में बैठ कर भ० नेमिनाथजी के स्थान पर पहुँची और वन्दन-नमस्कार कर क पर्युपासना करने लगी ।

भ० नेमिनाथजी ने पूछा -

''देवकी देवी ! छहो अनगारा के निमित्त से तुम्हारे मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि तपस्वी महात्मा अतिमुक्त-श्रमण की भविष्यवाणी असत्य हुई ?''

''हा प्रभु ! मैं इस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही श्री चरणों में उपस्थित हुई हूँ ।''

''देवकी देवी ! ये छहा पुत्र तुम्हारे ही हैं और तुम्हारी ही कुक्षि (कोख) से जन्मे हैं । किन्तु जन्म लेने के बाद हरिणैगमेषी देव द्वारा सहरित हो कर भद्दिलपुर में सुलसा के पास पहुँचते रहे और उसके मृतपुत्र तुम्हारे पास आते रहे । सुलसा की भक्ति से आकर्षित एव कृपालु हो कर देव ने तुम दोनों का ऋतुकाल समान किया । तुम दाना का गर्भधारण और प्रसव समकाल मे हुआ* ।''

देवकी का सन्देह दूर हुआ। वह भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के उन अनगारों के समीप आई और वन्दना कर के अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण भावा से उन्हे एकटक देखने लगी । उसका मातृत्व जागृत हुआ अग विकसित हुए और पयोधर पयपूर्ण हो गए । वह बहुत देर तक उन्हे अनिमेष निरखती रही । फिर वन्दना-नमस्कार कर के भगवान् के समीप आई और वन्दना कर के अपने भवन में लौट आई ।

+ उन्हीं छहों सन्तों के देवकी देवी के यहाँ एक ही दिन भिक्षार्थ आने म सभव है देवकी के उपादान का निमित्त बना हो कि जिससे देवकी के मन में आठवें पुत्र की लालसा उत्पन्न हुई और गजसुकुमालकुमार का जन्म हुआ ।

* हरिणैगमेषी निमित्त हुआ किन्तु उपादान दानों का काम कर रहा था । देवकी को पुत्र वियोग होना था। सुलसा का मृत-वन्ध्या होती हुई भी पुत्रवती होन का मनोरथ पूर्ण होना था और छहों का कस के उपद्रव स बचना था । व चरम शरीरी थे ।

किस पाप का फल है ?

छहो मुनियो को वन्दना कर के लौटते समय देवकी के मन में विचार हुआ,- "मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ कि देव के समान अलौकिक सात पुत्र पा कर भी मैं इन छह पुत्रो से वञ्चित रही । क्या सुख पाया मैने इन छह पुत्रों का ? होना-न-होना समान ही रहा । मैने ऐसा कौन-सा पाप किया था । भगवान् के समीप आ कर देवकी ने वन्दन-नमस्कार किया । भगवान् ने कहा,-

- "देवानुप्रिये ! यह तुम्हारे पूर्व-बद्ध पापकर्म का फल है । तुमने पूर्वभव में अपनी सौत के सात रत्न चुरा लिये थे । जब तुम्हारी सौत रोने लगी, तब तुमने उसमें से एक रत्न लौटा दिया किन्तु छह रत्न नहीं दिये । इसी का फल है कि तुम्हारा एक पुत्र तो तुम्हें पुन मिल गया परन्तु छह नहीं मिले ।"

देवकी भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने पापों की निन्दा करती हुई लौटी और भवन मे आ कर शय्या पर पड गई ।

देवकी की चिन्ता ×× गजसुकुमाल का जन्म

देवकी देवी चिन्ता-मग्न थी । वह सोच रही थी ;-

-"मैं कृष्णचन्द्र के समान लोकोत्तम अद्वितीय ऐसे सात पुत्रो की माता हूँ, फिर भी कितनी हतभागिनी हूँ कि एक भी पुत्र की बाल-क्रीडा का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकी । वे माताएँ भाग्यशालिनी हैं जो अपने बालको को गोदी में ले कर स्नेहपूर्ण दृष्टि से निरखती है, चूमती है और स्तनपान कराती है । बालक अपने छोटे-छोटे हाथो से माता के स्तन दबाता हुआ दूध और माता के स्नेह का पान करता है । माता उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखती है । बालक दुग्धपान करता-करता रुक कर माता की ओर देखता हुआ हँसता है, किलकारी करता है और माता भी बालक को चुम कर छाती से लगा लेती है । झूले में झुलाती है । अगुली पकड कर चलाती है । माता स्वय बालक से साथ तुतलाती हुई बोलती है और बच्चे की तोतली बोली सुन कर आनन्द का अनुभव करती है

धन्य हैं वे माताएँ जिन्हें अपने बालको की बाल-क्रीडा का भरपूर सुख प्राप्त होता है । मुझ हतभागिनी जैसी दु खियारी तो ससार में कोई भी नहीं होगी । मैं महाराजाधिराज और तीन खड के अधिपति की माता हुई और सात-सात उत्तमोत्तम नर-रत्न पुत्रों का जन्म दिया तो क्या हुआ इस परम सुख से तो मैं वचित ही रही न ? क्या यह वैभव यह राजसी उत्तम भोग मेरे इस सताप को मिटा सकते हैं ? क्या मुझे उन दरिद्र-स्त्रियो जितना भी सुख मिला कभी, जिनकी गोद में बालक क्रीड़ा कर रहे हैं और वे स्वय उस बाल-क्रीडा में विभोर हो कर दरिद्र अवस्था में भी भरपूर सुख का अनुभव कर रही हैं ?"

देवकी देवी इन्हीं विचारा मे डूबी हुई थी कि श्रीकृष्णचन्द्रजी माता के चरण-वन्दन करने क लिए कक्ष म प्रविष्ट हुए । उन्होंने दूर से ही माता को चिन्तामग्न दख लिया था । चरण-वन्दन के याद माता से पूछा , –

"मातुश्री ! आज आप किसी चिन्ता में मग्न दिखाई दे रही है । आज आपके श्रीमुख पर पूर्व क समान प्रसन्नता नहीं है । क्या कारण है आपकी उदासी का ?"

"वत्स ! मैं अपने दुर्भाग्य पर सतप्त हूँ । मैंने तुम्हारे समान सात पुत्रो को जन्म दिया किन्तु एक की भी वालक्रीड़ा का सुख नहीं भाग सकी । छह पुत्र तो जन्म के साथ ही चुरा लिये गये । वे छहा भद्दिलपुर के नागदत्त की पत्नी सुलसा के यहा पले । मेरे पुत्रो को पा कर वह दुर्भागिनी मृतवन्ध्या भाग्यशालिनी वन गई और उसके मृत-पुत्रों का सताप मुझे झेलना पडा । वे छहों पुत्र भ अरिष्टनेमिजी के पास दीक्षित हुए और कल यहाँ भिक्षाचरी के लिये आये थे । इस रहस्य का उद्घाटन भगवान् अरिष्टनेमि ने किया, तव मैं यह जान सकी । पुत्र ! ये छहों मुनि ठीक तुम्हारे जैसे ही है । कहो अव में कितनी दुर्भागिनी हूँ, अपने जाये पुत्रो का मुह भी आज पहली वार देख सकी और तुम्हारी वाल-लीला भी मैं नहीं देख सकी । तुम चुराये नहीं गये, किन्तु हमें चोरी छुपे तुम्हें दूर भेजना पडा और तुम नन्द और यशोदा को आनन्दित करते रहे । मैं तो यों ही रह गई । सात में से एक पुत्र की भी वाल-लीला का आनन्द नहीं भोग सकी और अव तुम भी छह महीनें में एक वार मेरे पास आते हो । तुम भी सोचो कृष्ण ! तुम्हारी माता का सताप कितना गम्भीर है ? है कोई उपाय इसका ? कर सकोगे अपनी माता का दु ख दूर ?"– खेद पूर्ण स्वर में देवकी ने कहा ।

– "हा माता ! मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करने का प्रयत्न करूँगा । तुम चिन्ता मत करो । अव मैं इसी उपाय मे लगता हूँ । "

इस प्रकार आशास्पद वचनो से माता को सन्तुष्ट कर श्रीकृष्ण वहा से चले और पौषधशाला में आये । फिर तेला कर के हरिणैगमेषी देव की आराधना करन लगे । देव का आसन कम्पित हुआ । वह पौषधशाला में आया । श्रीकृष्ण ने देव से कहा – "मुझे अपने एक अनुज वन्धु की आवश्यकता है ।"

दव ने उपयोग लगा कर कहा –

"देवानुप्रिय ! तुम्हारे छोटा भाई होगा । एक देव शीघ्र ही देवायु पूर्ण कर के तुम्हारी माता क गर्भ में आएगा । किन्तु यौवन-वय प्राप्त होते ही वह भगवान् अरिष्टनेमि स प्रव्रज्या ग्रहण कर लेगा । तुम उसे ससार में नहीं रोक सकोगे । "

भविष्य वता कर देव चला गया । श्रीकृष्ण पौषध पाल कर माता क समीप आये और वोले-

"माता ! मेरा छोटा भाई अवश्य होगा और शीघ्र होगा । आप निश्चिंत रहें । "

देव लोक से एक भव्य आत्मा च्यव कर रानी के गर्भ में उत्पन्न हुई । सिह क स्वप्न से उसकी भव्यता उच्चता एव शौर्यपूर्ण दृढता का परिचय होता था । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर सुकुमार

पुत्र का जन्म हुआ । उसका शरीर जपाकुसुम के पुष्प और हाथी के तालु के समान वर्ण एव सुकोमल था । उसका नाम 'गजसुकुमाल' दिया गया । वह माता-पिता एव बन्धुवर्ग का अत्यन्त प्रिय था । देवकी देवी की अभिलाषा पूर्ण हुई । क्रमश बढते गजसुकुमाल कुमार ने यौवन अवस्था मे प्रवेश किया । जिनेश्वर भगवान् अरिष्टनेमिजी ग्रामानुग्राम विचर कर भव्य जीवो का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे । श्रीकृष्ण-वासुदेव अपने अनुज-बन्धु गजसुकुमाल के साथ हस्ति पर आरूढ हुए और चामर छत्रादि तथा सेनायुक्त भगवान् को वन्दन करने के लिए चले ।

द्वारिका में 'सोमिल' नाम का एक ऋद्धि-सम्पन्न ब्राह्मण रहता था । वह ऋद्धि-सम्पन्न समर्थ और वद-वेदागादि शास्त्रो का पारगामी था । उसकी पत्नी सोमश्री भी सुन्दर थी । उनके सोमा नाम की एक पुत्री थी । वह अत्यन्त रूपवती उत्कृष्ट रूप लावण्य एव शरीर-सौष्ठव की स्वामिनी थी । वह भी यौवन-वय मे प्रवेश कर चुकी थी । एक बार वह विभूषित हो कर अनेक सखियो के और दासियों के साथ घर से निकल कर क्रीड़ा-स्थल पर गई और स्वर्णमय गेंद से खेलने लगी । श्रीकृष्ण-वासुदेव उसी मार्ग से हो कर भगवान् को वन्दना करन जा रहे थे । उनकी दृष्टि गेंद खेलती हुई सोमासुन्दरी पर पडी। वे उसका उत्कृष्ट सौन्दर्य देख कर चकित रह गए । उन्होने उसका परिचय पूछा और अपने विश्वस्त सेवक को आदेश दिया - "तुम सोमशर्मा के पास जाओ और उसकी पुत्री को गजसुकुमाल के लिए याचना करो× तथा उसे कुँआरे अन्त पुर में पहुँचा कर मुझे आज्ञा-पालन की सूचना दो ।"

सेवक को सोमिल की ओर भेज कर, श्रीकृष्ण भगवान् को वन्दना करने के लिये आगे बढे ।

गजसुकुमाल की प्रव्रज्या और मुक्ति

श्रीकृष्ण, सहस्राम्रवन में पहुँचे । भगवान् को वन्दना कर के धर्मोपदेश सुना और अपन राजभवन में लौट आए । गजसुकुमाल कुमार पर भगवान् के उपदेश का गभीर प्रभाव पडा । ससार की असारता समझ कर वे विरक्त हो गए और भगवान् को वन्दना कर के बोले, -

" प्रभो ! आपके उपदश से मैं विषय-विकार और ससार-सम्बन्ध से विरक्त हो गया हूँ । मैं माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर श्री-चरणो में निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार करना चाहता हूँ ।"

भगवान् ने कहा - "देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, धर्म-साधना में विलम्ब मत करो ।"

× श्री अतगड सूत्र के मूलपाठ से गजसुकुमालजी बालब्रह्मचारी लगते हैं । किन्तु त्रि श पु चरित्र म उन्हें द्रुम राजा की प्रभावती कुमारी के साथ विवाहित बताया है इतना ही नहीं इस सोमसुन्दरी के साथ भी उनका विवाह हो जाना लिखा है और यह भी लिखा है कि उनकी दोनों पत्नियाँ भी साथ ही दीक्षित हो गई थी ।

गजसुकुमालजी स्वस्थान आये और माता-पिता से बोले - "मैंने जिनेश्वर भगवत का उपदश सुना है । मैं अब ससार की मोह-ममता तोड कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार करना चाहता हूँ । मुझे आज्ञा दीजिए।"

"वत्स ! तुम हमें अत्यन्त प्रिय हो । हम तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकते । अभी तुम बालक हो । पहले तुम विवाह करो और कुल की वृद्धि करो । भुक्त-भोगी होने के बाद प्रव्रज्या लने का विचार करना ।"

गजसुकुमाल कुमार की यह बात श्रीकृष्ण तक पहुँची । वे तत्काल उनके समीप आय और लघुभ्राता को हृदय से लगा कर गोदी म बिठाया, फिर पूछा -

"वत्स ! तुम मेरे छोटे भाई हो और अत्यन्त प्रिय् हो । तुम्हें मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकार के भोगोपभोग उपलब्ध है । इनका भोग करो । मैंने तुम्हारे ही लिये परम सुन्दरी कुमारी सोमा को प्राप्त किया है । हम तुम्हे उत्कृष्ट भोग भोगते हुए देखना चाहते हैं । तुम सोचो कि तुम्हारी इस बात से मातेश्वरी की क्या दशा हो गई है । इनकी और हम सभी की आकाक्षा को नष्ट मत करो । धर्म-साधना का सुयोग बाद में भी मिल सकेगा । बस, हम सभी का अनुरोध मान लो और दीक्षा की बात छोड दो। अब हम तुम्हारे लग्न की व्यवस्था करते हैं ।"

"बन्धुवर ! आत्मा ने पूर्वजन्मों में भोग भी खूब भोगे और रोग-शोक तथा दुःख भी खूब भोगे । भोग में रोग शोक, सताप एव दु ख क बीज रहे हैं । मैंने भगवान् से सम्यग्ज्ञान पा लिया है । अब मैं इस जाल में नहीं पडूँगा । मुझे असयमी-जीवन की एक घडी भी पापयुक्त लगती है । अब मुझे हित-सुख एव मुक्ति् मार्ग पर चलने से मत रोकिये और शीघ्र ही अनुमति दीजिये ।"

श्रीकृष्ण और माता-पिता की ससार-साधक सभी युक्तियाँ व्यर्थ हुई तब अन्तिम उपाय के रूप में प्रलोभन उपस्थित किया, -

"वत्स ! जब तुम हमारी सभी बातें अस्वीकार करते हो तो एक अन्तिम इच्छा तो पूर्ण कर दो । हम चाहते हैं कि तुम एक दिन के लिये भी राज्याधिकार ग्रहण कर लो । हम तुम्हारी राज्यश्री देखना चाहते हैं ।"

कुमार ने सोचा - "इनकी इस माँग को अस्वीकार नहीं करना चाहिए । राज्याधिकार प्राप्त होते ही मेरी आज्ञा होगी - अभिनिष्क्रमण की व्यवस्था करने की । इन सभी को राजाज्ञा का पालन तो करना ही होगा" - यह सोच कर वे चुप रह गए । उन्होंने स्वीकृति भी नहीं दी और निषेध भी नहीं किया* ।

* स्पष्ट स्वीकृति इसलिए नहीं दी कि - राज्याधिकार ऐसे भव्यात्माओं के लिए उपादेय नहीं है ।

श्रीकृष्ण के आदेश से राज्याभिषेक महोत्सव हुआ और गजसुकुमालजी महाराजाधिराज हो कर राजसिहासन पर आरूढ हुए । श्रीकृष्ण ने राज्याधिपति कुमार के सम्मुख खडे रह कर पूछा, -

"राजन् ! आज्ञा दीजिये कि हम आपका किस प्रकार हित करें । हमें क्या करना चाहिए ?"

"देवानुप्रिय ! राज्य के कोपालय से तीन लाख स्वर्ण-मुद्राएँ निकालो । उनमे से दो लाख के रजोहरण तथा पात्र मँगवाओ और नापित को बुलवाओ । मैं उससे अपने बाल कटवाऊँगा और एक लाख पारितोषिक दूँगा । आप मेरे निष्क्रमण की तैयारी कीजिये"- महाराजा गजसुकुमाल ने कहा ।

श्रीकृष्ण और माता-पितादि समझ गये कि गजसुकुमाल सच्चा विरागी है । इसे कोई भी प्रलोभन नहीं रोक सकता । उन्होने दीक्षा-महोत्सव किया और गजसुकुमालजी ने भ नेमिनाथजी से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद गजसुकुमाल मुनिजी ने भगवान् से प्रार्थना की -

"भगवन् ! यदि आप आज्ञा प्रदान करें, तो मैं महाकाल श्मशान में जा कर एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर के विचरना चाहता हूँ ।"

भगवान् ने अनुमति प्रदान कर दी । मुनिजी महाकाल श्मशान में गये और विधिपूर्वक भिक्षु-प्रतिमा धारण कर के खडे रह कर कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान मे लीन हो गए ।

सोमिल ब्राह्मण यज्ञ के लिए समिधा और दर्भ-पत्र पुष्पादि लेने के लिए वन मे गया था । वह समिधादि ले कर लौटा और महाकाल श्मशान के निकट से हो कर निकला । उसकी दृष्टि ध्यानारूढ गजसुकुमाल पर पडी । उसका क्रोध भडका । पूर्वबद्ध वैर जाग्रत हुआ । उसका मन हिसक हो गया । उसने सोचा - 'इस दुष्ट ने मेरी निर्दोष पुत्री का त्याग कर दिया और यहाँ महात्मापन का ढोंग कर रहा है । इसे ऐसा दड दूँ कि सारा ढोंग समाप्त हो जाय । सध्या का समय था । मनुष्यो का आवागमन रुक गया था । उसने तलैया के किनारे की गीली मिट्टी ली और ध्यानस्थ अनगार के मस्तक पर उस मिट्टी से पाल बाँध दी । फिर एक फूटा हुआ ठीयड़ा उठाया और शव दहन के जलते हुए अगारों को भर कर मुनिराज के मस्तक पर डाल दिया । इसके बाद वह वहाँ से भाग गया ।

सिर पर अगारे पड़ते ही मस्तक जलने लगा और घोर वेदना होने लगी । एक ओर असहनीय घोरतम वेदना शरीर में बढ रही थी तो दूसरी ओर आत्म-स्थिरता एव एकाग्रता बढ रही थी । वह आग तो शरीर को ही जला रही थी, किन्तु आभ्यन्तर ध्यानाग्नि से कर्मरूपी कचरा भी जल कर भस्म हो रहा था । महात्मा क्षपक-श्रेणी पर आरूढ हुए । घाती कर्मों को नष्ट कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया और योगों का निरोध कर के सिद्धिगति को प्राप्त हो गए । सादि-अनन्त सुखों में लीन हो गए । गजसुकुमाल अनगार सिद्ध परमात्मा बन गए ।

"इस नराधम के पाँवों में रस्सी बाँध कर चाण्डालों से घसिटवाते हुए नगरी के राजमार्गों पर फिराओ और इसके कुकृत्य को लोगों में प्रकट करो । फिर नगरी के बाहर फेंक दो और इस भूमि को पानी डाल कर धुलवाओ ।"

ऐसा ही हुआ । श्री कृष्ण उदास मन से अपने भवन में प्रविष्ट हुए ।

मुनि श्री गजसुकुमालजी के वियोग का आघात बहुतों को लगा । उनकी उठती युवावस्था और अस्वाभाविक नृशंसतापूर्ण हुई मृत्यु से वसुदेवजी को छोड़कर शेष समुद्रविजयजी आदि नौ दशार्ह और अनेक यादव भगवान् अरिष्टनेमि के सात सहोदर-बन्धु माता शिवादेवी, श्रीकृष्ण के अनेक कुमार और यादव-कुल की अनेक देवियां, महिलाओं और राजकुमारियों ने * भगवान् अरिष्टनेमिनाथ के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की ।

श्रीकृष्ण ने निश्चय किया कि वे अपनी पुत्रियों को वैवाहिक-बन्धन में बाँध कर संसार के मोहजाल में नहीं उलझायेंगे और त्याग-मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न करेंगे । इससे सभी राजकुमारियाँ प्रव्रजित हो गई । वासुदेवजी की कनकावती, रोहिणी और देवकी को छोड़ कर शेष सभी रानियाँ दीक्षित हो गई । रानी कनकावती को तो गृहवास में ही, संसार की स्थिति का चिन्तन करते-करते कर्मावरण शिथिल हो गए, क्षपकश्रेणी चढ़ कर घातीकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया । उन्होंने गृहस्थ-वेश त्याग कर साध्वी-वेश धारण किया और भगवान् के समवसरण में पधारीं। उसके बाद एक मास का संथारा कर के निर्वाण प्राप्त किया ।

वैर का दुर्विपाक

श्रीबलदेवजी का पौत्र और निषधकुमार का पुत्र सागरचन्द अणुव्रतधारी श्रावक हुआ था । इसके बाद वह श्रावक-प्रतिमा की आराधना करने लगा । एकबार वह कायोत्सर्ग कर के ध्यान कर रहा था कि उसे नभ सेन ने देख लिया । नभ सेन कमलामेला के निमित्त से सागरचन्द के साथ शत्रुता रखता था+ और उससे वैर लेने का कोई निमित्त देख रहा था । उसने सागरचन्द को देखा और उसके निकट आकर बोला - "दुष्ट, अधम ! अब धर्मात्मा बन कर बैठा है । तूने कमलामेला को मुझसे छिन कर, मेरे जीवन में आग लगा दी । अब तू भी इसका फल भोग ।"

इस प्रकार कह कर उसने भी चिता के अंगारे, एक फूटे घड़े के ठीकरे में भर कर सागरचन्द के मस्तक पर रख दिये सागरचन्द शान्तभाव से सहन करता हुआ धर्मध्यान में लीन रहा और आयुपूर्ण कर देवलोक में देव हुआ ।

---

* ग्रन्थकार ने इसी समय राजीमती के भी प्रव्रजित होने का उल्लेख किया है ।

पृष्ट ४८१ पर ।

गुण-प्रशंसा

एक बार इन्द्र ने देव-सभा में कहा - "भरत क्षेत्र के कृष्ण-वासुदेव किसी भी वस्तु के दोषो की उपेक्षा कर के मात्र गुणा की ही प्रशसा करते हैं और युद्ध में हीनतम नीति काम में नहीं लेते ।" इन्द्र के इन वचनो पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ । वह श्रीकृष्ण की परीक्षा के लिये द्वारिका में आया । उस समय श्रीकृष्ण, रथ में बैठ कर वन क्रीडा करने जा रहे थे । उस देव ने मार्ग मे एक मरी हुई काली कुतिया गिरा दी, जिसके शरीर मे से उत्कट दुर्गन्ध निकल कर दूर-दूर तक पहुँच रही थी । पथिक लोग, दुर्गन्ध से बचने के लिये मुँह पर कपडा रखे हुए उस पथ से दूर हो कर आ जा रहे थे । उस कुतिया को देख कर श्रीकृष्ण ने कहा - "इस काली कुतिया के मुँह में दात बहुत सुन्दर है ।" देव ने श्रीकृष्ण का अभिप्राय जान कर एक परीक्षा से सतोष किया । इसके बाद उसने स्वय चोर का रूप धारण कर के श्रीकृष्ण के एक उत्तम अश्व-रत्न का हरण कर लिया । श्रीकृष्ण के अनेक सैनिक उस चोर को पकडने दौडे और लडे किन्तु उस चोर रूपी देव के सामने उन सैनिका को हार खानी पडी । तब श्रीकृष्ण स्वय चोर से युद्ध करने के लिए तत्पर हुए । उन्हाने चोर को ललकारते हुए कहा - "या तो तू इस अश्व को छोड दे, अन्यथा अपने जीवन की आशा छोड दे ।" देव ने कहा - "अश्व उसी के पास रहेगा जिसमे बल होगा और बल का निर्णय युद्धस्थल में होगा ।" श्रीकृष्ण ने कहा - "तू भी रथ में बैठ कर आ, फिर अपन युद्ध करेंगे ।" देव ने कहा - "मुझे रथ या हाथी किसी की भी जरूरत नहीं मैं आपसे बाहु-युद्ध करना चाहता हूँ ।" श्रीकृष्ण कुछ विचारमग्न हो कर बोले - "जा तू ले जा इस अश्व को । मैं तुझ चोर से बाहुयुद्ध करना नहीं चाहता । यह अधर्म युद्ध × है ।" श्रीकृष्ण की बात सुन कर देव सतुष्ट हुआ और अपने असली रूप में उपस्थित हो कर श्रीकृष्ण का अभिवादन किया और कहने लगा - "इन्द्र ने देवसभा मे आपकी प्रशसा की थी, किन्तु मैं विश्वास नहीं कर सका और आपकी परीक्षा लेने के लिये चला आया। मैने आपमें वे सभी गुण पाये हैं, जिनकी शक्रेन्द्र ने प्रशसा की थी । हे महाभाग ! कोई इच्छित वस्तु माँगिये जिससे मैं आपको सतुष्ट कर सकूँ ।"

श्रीकृष्ण ने कहा - "इस समय मेरी द्वारिका नगरी मे भयानक रोग फैला हुआ है । इस रोग के निवारण के लिये जो वस्तु उचित हो वही दीजिये ।" इस पर देव ने श्रीकृष्ण को एक भेरी (बडा ढोल या नगाडा) प्रदान की और कहा - "यह छह महीने मे एक बार नगरी म बजाव। इसस सभी प्रकार के रोग-उपद्रव शान्त हो जावेगे तथा छह महीने तक काई रोग उत्पन्न नहीं होगा । श्रीकृष्ण ने द्वारिका नगरी में भेरी बजवाई जिससे नगर निवासियो के समस्त रोग दूर हो गये ।

× एक चार क साथ पुरुपातम वासुदव का बाहु-युद्ध करना 'अधम-युद्ध' कहलाता है ।

भेरी के साथ भ्रष्टाचार

इस देव-प्रदत्त भेरी की प्रशंसा दूर दिगन्त तक व्याप्त हो गई । एक धनाढ्य व्यक्ति दाह-ज्वर के भयंकर रोग से पीडित था । वह भेरी की प्रशंसा सुन कर अपने देश से चल कर द्वारिका नगरी में आया। उसके एक दिन पूर्व ही भेरी-नाद हो चुका था । उसने भेरी के रक्षक से कहा - "तू इस भेरी का एक छोटा-सा टुकड़ा मुझे दे दे और बदले में एक लाख द्रव्य ले । मैं रोग से भयंकर कष्ट पा रहा हूँ और अब छह महीने तक सहन नहीं कर सकता । दया कर मुझ पर । मैं अपने जीवन-दान के बदले तुझे यह लाख मुद्रा दे रहा हूँ ।" भेरीपाल लालच में आ गया और एक छोटा-सा टुकड़ा काट कर उसे दे दिया । इससे उस रोगी का रोग उपशान्त हो गया । भेरीपाल ने चन्दन की लकडी के टुकडे से भेरी के उस खण्डित भाग को जोड कर बराबर कर दिया । भेरीपाल के भ्रष्टाचार की वृत्ति बढी । वह धन ले कर भेरी के टुकडे कर के देने लगा । होते-होते वह भेरी पूरी चन्दन के टुकडों के जोड की हो गई। इसमें मौलिक एक अंश भी नहीं रहा । कालान्तर में द्वारिका में फिर भयानक रोग व्याप्त हो गया । श्री कृष्ण ने उस भेरीपाल को भेरी बजाने की आज्ञा दी । भेरीपाल ने भेरी बजाई, लेकिन उस टूटी-फूटी और चन्दन के टुकडों से जुडी हुई भेरी का नाद, पूरी राज-सभा भी नहीं सुन सकी । श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ । उन्हें पता लग गया कि भेरीपाल के भ्रष्टाचार ने इस दैविक-निधि को नष्ट कर दिया है। उन्होंने भेरीपाल को मृत्यु-दण्ड दिया । इसके बाद श्रीकृष्ण ने तेले का तप कर के उस देव से फिर दूसरी भेरी प्राप्त की और उस महारोग को द्वारिका से हटाया ।

सदोष-निर्दोष चिकित्सा का फल

महारोग के उपद्रव के समय द्वारिका में दो वैद्य भी उपचार कर रहे थे । एक का नाम धनवंतरी तथा दूसरे का नाम वैतरणी था । धनवंतरी ने साधुओं की चिकित्सा में सदोष एवं पापजन्य औषधि बताई । साधुओं ने निर्दोष औषधि के लिये कहा तो वह चिढ गया । उसकी प्रकृति पापपूर्ण थी । दूसरी ओर वैतरणी वैद्य निर्दोष औषधि देने का प्रयत्न करता। दोनों द्वारिका नगरी में ख्याति पा चुके थे। एकबार श्री कृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से पूछा - "इन दोनों प्रसिद्ध और सेवाभावी वैद्यों की करणी का फल इन्हें क्या मिलेगा ?" भगवान् ने कहा - "धनवंतरी तो सातवीं नरक के अप्रतिष्ठान नरकावास में जायगा और वैतरणी वैद्य विंध्याचल पर्वत पर वानर-समूह का अधिपति होगा । एक सार्थ के साथ कुछ मुनि विहार करते हुए विंध्याचल पर्वत के समीप हो कर निकलेंगे । वहाँ एक मुनि के पाँव में एक काँटा गहरा पैठ जायगा । वे चलने में असमर्थ हो जाएँगे । तब वे मुनि अन्य मुनियों से कहेंगे कि इस भयानक अटवी में आप सभी का ठहरना उचित नहीं है । आप सभी पधारिये । मैं यहाँ अनशन कर के अन्तिम साधना करूँगा । इस प्रकार अत्यन्त आग्रह ... सभी मुनि विहार कर देंगे और वे

मुनि एक वृक्ष के नीचे सागारी अनशन कर के ध्यानस्थ हो जाएँगे । उसक बाद कहीं से घूमता फिरता वह वानरपति मुनि को देखेगा और विचार करते हुए उसे अपना पूर्व-भव याद आएगा जिसमें उसने साधुओ की निर्दोष औषधी से सेवा की थी । उसे अपने वैद्यक-ज्ञान की भी स्मरण हो जायगा । वह उस वन म से विशल्या और रोहिणी नाम की दो औषधियाँ लाएगा । विशल्या औषधी को खूब चबा कर मुनिराज के पाँव में लगाएगा, जिमसे वह शल्य (काँटा) खींच कर ऊपर आ जायगा । उसके बाद राहिणी औषधी लगाने से घाव भर जायगा और मुनि स्वस्थ हो जाएँगे । फिर वह वानरपति भूमि पर अक्षर लिख कर बतायगा कि " मैं द्वारिका मे वैतरणी नाम का वैद्यक था ।" इस पर से मुनि उसे धर्मोपदेश देंगे और वह अनशन करेगा । मुनिराज उसे नवकार मन्त्र सुनाएँगे और वह शुभ भावों में काल कर के आठवें देवलोक में देव रूप म उत्पन्न होगा । उत्पन्न होते ही वह अवधिज्ञान से अपना पूर्व-भव और उसमें मुनिराज को नवकार मन्त्र सुनाते हुए देखेगा और तत्काल मुनिराज के सम्मुख उपस्थित हो कर वन्दन-नमस्कार कर अपने वानर-भव का परिचय देगा । इसके बाद उस मुनि को ले कर वह देव आगे निकले हुए मुनिया के पास पहुँचा देगा ।"

भगवान् के मुख से वैद्यों का भविष्य सुन कर श्रीकृष्ण बहुत प्रभावित हुए और वन्दन-नमस्कार कर स्वस्थान पधारे ।

भविष्य-कथन

भगवान् नेमिनाथ से धर्म-परिषद् मे श्रीकृष्ण ने पूछा,-

"भगवन् ! देवपुरी के समान अत्यन्त मनोहर एव सर्वांग सुन्दर इस द्वारिका नगरी का विनाश किस निमित्त से होगा ?"

- "सूरा, अग्नि और द्वीपायन के निमित्त से यह द्वारिका नष्ट हो जायगी"- भगवान् ने कहा ।

द्वारिका नगरी का भविष्य सुन कर श्रीकृष्ण चिन्तित हुए और मन-ही-मन सोचने लगे,-

"धन्य है व जाली-मयाली आदि कुमार जो कि धन-सम्पत्ति और भोग-विलास का त्याग कर के भगवान् के समीप प्रव्रजित हुए और मुक्ति-पथ पर आगे बढ रहे हैं । मैं अधन्य हूँ, अकृत-पुण्य हूँ कि त्याग-मार्ग पर नहीं चल कर भोग में ही अटका हुआ हूँ ।"

श्रीकृष्ण के सकल्प-विकल्प को तोडते हुए भगवान् ने कहा -

"कृष्ण ! तुम्हारे मन में विचार हो रहा है कि - 'ये जाली-मयाली आदि राजकुमार धन्य हैं जो प्रव्रजित हो कर साधना कर रहे हैं । मैं अधन्य हूँ, आदि । किन्तु कृष्ण ! ऐसा नहीं हो सकता न पहले कभी हुआ और न भविष्य में कभी होगा कि तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव ससार का त्याग कर के प्रव्रजित हुए हों, या होते हो । नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता । क्योंकि सभी वासुदेव पूर्वभव में निदानकृत (सयम से प्राप्त शक्ति को किसी आकर्षक निमित्त से विचलित हो कर दाँव पर लगाये हुए) होते हैं । इसलिए उनका उदयभाव, भोगों का त्याग कर उन्हें निर्ग्रंथ नहीं बनने देता ।"

"भगवन् ! तब मैं काल कर के किस गति म जाऊँगा ।"

- "मदिरापान से उन्मत्त बने हुए यादव कुमारो के उपद्रव से क्रोधित हुए द्वीपायन ऋषि के निमित्त स आग लग कर द्वारिका प्रज्वलित हो कर नष्ट होने लगेगी तब माता-पिता और समस्त परिवार से वंचित हो कर तुम और बलदेवजी, युधिष्ठिरादि पाण्डवो के पास पाण्डु-मथुरा की ओर जाओग । मार्ग म कोशाम्र वन म एक वट-वृक्ष के नीचे शिलापट्ट पर तुम सोओगे । तुम्हारा शरीर पिताम्बर से ढका होगा । उस समय तुम्हारे भाई जराकुमार द्वारा, मृग के आभास से फेंके हुए बाण से तुम आहत हो कर मृत्यु पाओगे और बालुकाप्रभा नामक तीसरी पृथ्वी में उत्पन्न होओगे ।"

यह भविष्य-कथन सुन कर उन्हें चिन्ता एव आर्त्तध्यान उत्पन्न हो गया । तब भगवान् ने कहा -

"कृष्ण ! चिन्ता मत करो । तीसरी पृथ्वी से निकल कर तुम मनुष्य होंगे और आगामी चौबीसी में शतद्वार नगर म 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे ।"

श्रीकृष्ण को इस भविष्य-कथन से अत्यन्त प्रसन्नता हुई । हर्षातिरेक से व जोर-जोर से बोलते हुए अपनी भुजा ठोकने लगे और सिंहनाद किया । इसके बाद भगवान् की वन्दना कर के अपने भवन म आये ।

श्रीकृष्ण की उद्घोषणा

श्रीकृष्ण ने सेवको को आदेश द कर द्वारिका नगरी में उद्घोषणा करवाई,-

"सुनो ए नागरिकजनो ! इस मनोहर द्वारिका नगरी का विनाश होगा । इसलिए चेतो और सावधान हो जाओ । मोह-ममता छोड कर भगवान् अरिष्टनेमी के समीप निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर मनुष्य-जन्म सार्थक करो ।"

"जो भव्यात्माएँ ससार का त्याग कर प्रव्रजित होना चाहें, उन्हें मेरी आज्ञा है । रानियाँ राजकुमार और कुमारियाँ सेठ सेनापति आदि कोई भी व्यक्ति भगवान् के समीप जिन-दीक्षा धारण करेंगे उन सभी का निष्क्रमण महोत्सव महाराजाधिराज श्रीकृष्ण करेंगे । इतना ही नहीं दीक्षित होने वालों के पीछे जो बालक, वृद्ध अथवा रोगी मनुष्य रहेंगे उनकी साल-सभाल और पोषण भी महाराजाधिराज करेंगे । मत चुको यह उत्तम अवसर ।"

इस प्रकार सारे नगर में ढिंढोरा पिटवा कर उद्घोषणा करवाई -तीन-तीन बार ।

महारानियों की दीक्षा और पुत्रियों को प्रेरणा

भगवान् का उपदेश एव द्वारिका का भविष्य सुन कर महाराजाधिराज श्री कृष्ण की आठों पटरानियाँ और अन्य रानियाँ पुत्र-वधुएँ और राजकुमार तथा नागरिकजन ससार स विरक्त हो कर भगवान् के पास दीक्षित हुए । श्रीकृष्ण न राजकुमारियों को बुला कर पूछा--

"तुम्हें स्वामिनी बनना है या सेविका ?"

राजकुमारियो ने कहा - "हम स्वामिनी होना चाहिती हैं सेविका नहीं ।"

"यदि तुम स्वामिनी होना चाहती हो तो तुम्हारी माताओ के समान भगवान् नेमिनाथ के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर के आत्म-कल्याण करो । तुम हम सभी की पूज्य बन जाओगी । स्वामिनी बनने का एक यही उपाय है और जो ससार में रहेगी वे सेविका बनेगी । क्यो कि वे जिसके साथ विवाह करेगी, वे सभी मेरे सेवक हैं । सेवक की पत्नी बनना तो सेविका बनना ही है ।"

श्रीकृष्ण की बात सुन कर अनेक राजकुमारियो ने भ० नेमिनाथ के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और धर्मसाधना करने लगी । जिन नागरिको ने प्रव्रज्या ग्रहण की, उन सबका निष्क्रमण-महोत्सव श्री कृष्णजी ने किया और उनके पीछे रहे हुए वृद्ध माता-पिता, रोगी, बालक-बालिका और परिवार का पालन-पोषण-रक्षण और साल-सभाल श्रीकृष्ण ने राज्य की ओर से करने की व्यवस्था की ।

प्रव्रज्या की ओर मोड़ने का प्रयास

भगवान् के उपदेश और श्रीकृष्ण की प्रेरणा-प्रोत्साहन से सभी पटरानियाँ अन्य अनेक रानियाँ बहुरानियाँ और राजकुमारियाँ दीक्षित हुई, फिर भी उदयभाव की प्रबलता से कई रानियाँ और राजकुमारियाँ रही थी । एक रानी को अपनी पुत्री केतुमजरी को दीक्षा दिलाना स्वीकार नहीं हुआ । पुत्री युवावस्था प्राप्त कर चुकी थी । माता ने पुत्री को सिखाया - "तुझे तेरे पिताजी पूछेंगे कि स्वामिनी बनना है या सेविका ?" तो तू कहना - "मुझे सेविका बनना है, स्वामिनी नहीं ।" केतुमजरी पिता के चरण-वन्दन करने गई । श्रीकृष्ण ने उससे उपरोक्त प्रश्न पूछा, तो उसने माता का बताया हुआ उत्तर दिया - "मुझे सेविका बनना है ।" पुत्री के उत्तर से श्रीकृष्ण विचार-मग्न हो गए । उन्होंने सोचा - "ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे दूसरी पुत्रियो को शिक्षा मिले और वे विवाह करने के विचार को त्याग दे ।"

वीरक नाम का एक बुनकर, श्रीकृष्ण पर अत्यन्त भक्ति रखता था । उसे बुला कर पूछा -

"तूने जीवन में कोई साहस का काम किया है कभी ?"

- "नहीं महाराज ! कभी कुछ भी साहस का काम नहीं किया ।"

- "याद कर तेने कुछ-न-कुछ साहस का कार्य अवश्य किया होगा ।"

- "मैंने एकबार बैर के वृक्ष पर बैठे हुए एक प्राणी को लक्ष्य कर पत्थर फेका था, उससे वह मर गया था । एकबार शकट-पथ मे बहते हुए पानी को बायाँ पाँव अडा कर रोक दिया था और एकबार एक घडे में बहुत-सी मक्खियाँ एकत्रित हो गई थी, तो मैंने अपने बाँये हाथ से घडे का मुँह बन्द कर के उन्हें भीतर ही बन्द कर दी थी । वे घडे में ही गुनगुनाती-भिनभिनाती रही । मुझे तो ये ही काम अपने साहस के याद आते हैं महाराज !"

श्रीकृष्ण ने वीरक को घर भेज दिया और दूसरे दिन राज-सभा में अनेक राजाओ के सामने कहा -

"वीरक बुनकर क्षत्रिय तो नहीं है किन्तु उसका पराक्रम क्षत्रियोचित है । उसने बदरीफल पर बैठे हुए लाल फण वाले नाग को भू शस्त्र से मार डाला, चक्र-विदारित भूमि पर कलुषित जलयुक्त गगा-प्रवाह को इस वीर ने अपने बायें पाँव से रोक दिया और घट-सागर म घोष करती हुई बडी सेना को इसने अपने बायें हाथ से रोक रखी । इस प्रकार के उत्कट पराक्रम वाला यह वीर कुविंद वास्तव में योद्धा है । क्षत्रियोचित पराक्रमी होने के कारण यह वीरक मेरा जामाता होने के योग्य है । मैं इसे अपनी पुत्री दूँगा ।"

श्रीकृष्ण ने वीरक को बुला कर कहा - "मैं अपनी पुत्री केतुमजरी के साथ तेरा ब्याह करना चाहता हूँ ।" वीरक अचभित हो गया और अपने को सर्वथा अयोग्य बता कर कहा - "स्वामिन् ! मैं राजकुमारी के लिए सर्वथा अयोग्य हू । नहीं, नहीं, मैं राजकुमारी को ग्रहण करने का विचार ही नहीं कर सकता । स्वामिन् ! क्षमा करें मुझ दरिद्र को ।"

श्रीकृष्ण ने भृकुटी चढा कर आदेश दिया । उसे मानना ही पडा । उसी समय उसके साथ राजकुमारी का लग्न कर के विदा कर दिया । राजकुमारी, उसकी माता और समस्त स्वजन-परिजन अचभित थे । उनके हृदय इस लग्न का स्वीकार नहीं कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण के सामने बोल कर विरोध करने का साहस किसी में नहीं था ।

वीरक राजकुमारी को अपने झोंपडे में लाया और खटिया बिछा कर बिठा दिया । राजकुमारी का हृदय दु ख एव क्लेश से परिपूर्ण था । वह वीरक पर भी कुपित थी । वीरक उसका आज्ञाकारी सेवक बना हुआ था । दो दिन बाद श्रीकृष्ण न वीरक को बुला कर पूछा -

"केतुमजरी तेरे घर का सभी कार्य करती है या नहीं ?"

- "नहीं महाराज ! मैं उसका आज्ञाकारी सेवक हूँ । वह तो मुझ पर रुष्ट ही रहती है । मैंने तो आपकी आज्ञा का पालन किया है । इसमें मेरा क्या दोष है ? और मेरे पास उस छप्पर टूटी खाट, फटी गुदडी और फूटे बरतनों के अतिरिक्त है ही क्या जिससे मैं उसे सुखी रख सकूँ ? मैं उसके योग्य सुविधा

- "चुप ! तू उससे अपने घर का सभी काम कराया करो । यदि तेने उससे काम नहीं लिया, तो तुझे कारागृह में बन्द कर दूँगा ।"

वीरक घर आया और राजकुमारी स बोला -

"अब उठ और घर का काम कर । झट जा कर पानी ले आ और धान पीस कर रोटी बना । खा-पी कर फिर कपडा बुनना है ।"

- "ए दरिद्र हीन दुष्ट ! तू मुझे काम करने का कहता है ? तुझे लज्जा नहीं आती । घर हट

मेरे सामने से" – आँखे चढा कर लाल नेत्रों से देखती हुई केतुमजरी ने कहा ।

वीरक ने राजकुमारी के दो-चार हाथ जमा किये और बोला – 'तू मेरी पत्नी है । मैं तेरा पति हूँ। इतना घमण्ड क्यों करती है ? मेरे यहाँ तो तुझे वह सभी काम करना पडेगा जो मेरी जाति की दूसरी स्त्रियाँ करती है" – वीरक ने पतिपन के गर्व के साथ कहा ।

राजकुमारी एक दरिद्र के हाथ से जिससे वह घृणा करती थी, पिट गई । जीवन मे ऐसी घडी कभी नहीं आई थी । वह वहाँ से निकल कर राज-भवन में आई और पिता के चरणा में गिर कर रोने लगी । श्रीकृष्ण ने कहा – "सेविकापन का जो कर्त्तव्य है, वह तो निभाना ही पडेगा । तेरी इच्छा ही सेविका बनने की थी । अब मैं क्या करूँ ?'

– "नहीं, नहीं, अब एक पल के लिए भी मुझे सेविका नहीं रहना है । मेरी भूल हुई । मुझे क्षमा करें और इस दु खद स्थिति से उबार कर मेरी अन्य बहिनो के समान मुझे भी प्रव्रज्या दिलवा दें ।"

श्रीकृष्ण न वीरक को अनुमत कर के राजकुमारी केतुमजरी को प्रव्रज्या दिलाई । उसके साथ अन्य राजकुमारियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की । केतुमजरी का उदाहरण अन्य राजकुमारियों के लिए शिक्षा का कारण बना×।

थावच्चापुत्र की दीक्षा+

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् अरिष्टनेमिजी पुन द्वारिका नगरी के निकट रैवतक पर्वत के नन्दनवन उद्यान में पधारे । भगवान् का आगमन जान कर महाराजाधिराज श्रीकृष्णचन्द्र ने सेवको को आज्ञा दी कि सुधर्म-सभा म जा कर 'कौमुदी' नामक भेरी बजाओ । भेरी का गम्भीर एव मधुर नाद सम्पूर्ण द्वारिका तथा बाहर के वन-उपवन, गिरि शिखिर और गुफाओ तक में फैल गया । भेरीनाद सुन कर जनता सुसज्जित हो कर राजप्रासाद म एकत्रित हुई । सभी के साथ तथा सेना सहित महाराजाधिराज की भव्य सवारी भगवान् को वन्दन करने चली । वन्दन-नमस्कार के पश्चात् भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

द्वारिका में 'थावच्चा' नामकी एक गृहस्वामिनी रहती थी । वह ऋद्धि-सम्पन्न, बुद्धिमती, शक्ति-सामर्थ्ययुक्त एव प्रभावशालिनी थी । राज्य में उसका आदर होता था । उसके इकलौता पुत्र था जिसका नाम उसी के नाम पर 'थावच्चापुत्र' रखा गया था । थावच्चापुत्र भी रूप-सम्पन्न और भव्य आकृति वाला था । माता ने पुत्र का विवाह बत्तीस कुमारियों के साथ किया था । य सभी श्रेष्ठी-कुल की रूप

× कई विचारक इसे श्रीकृष्ण का अन्याय एव पुत्री पर अत्याचार मानेंगे । परन्तु उनकी हितबुद्धि पर विचार किया जाय तो समझ में आ सकेगा । जिस प्रकार बालकों को शिक्षित बनाने में और रोग-मुक्त करने के लिए कठोर बनना पड़ता है उसी प्रकार सन्मार्ग पर लगाने के लिये किया हुआ उपाय भी औषधी के समान हितकारी होता है ।

+ यह विषय त्रि श. पु चरित्र में दिखाई नहीं दिया । यहाँ ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र स लिया जा रहा है ।

यौवन आकृति और गुणा मे उत्तम थी । उनक साथ थावच्चापुत्र भाग भागता हुआ जीवन व्यतात कर रहा था । भगवान् का पदार्पण जान कर वह भी उपस्थित हुआ और उपदश सुन कर ससार स विरक्त हो गया । घर आ कर उसन माता का चरण-स्पश किया और प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा माँगी । माता न बहुत समझाया, परन्तु उस विरक्तात्मा का अपने निश्चय स चलित नहीं कर सकी । अन्त में माता ने एक भव्य महोत्सव के साथ पुत्र का निष्क्रमण महात्सव कर के प्रव्रजित कग्ने का निश्चय किया ।

माता ने बहुमूल्य भेंट ग्रहण की और अपने मित्र-ज्ञातिजना के साथ महाराजाधिराज क समाप उपस्थित हुई । भेंट समपित कर के निवेदन करने लगी--

"महाराज ! मेरा एकाकी पुत्र भगवान् नमिनाथजी के समीप दीक्षित हाना चाहता है । मैं उसका दीक्षा-महोत्सव भव्य समारोहपूर्वक करना चाहती हूँ । इस महोत्सव क लिए मुझे छत्र चामर और मुकुट प्रदान करें । इसी अभिलाषा स मैं आमकी सेवा म उपस्थित हुई हूँ ।"

"दवानुप्रिये ! तुम निश्चिंत रहो । मैं स्वय तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमण महोत्सव करूँगा । तुम जाओ । मैं स्वय अभी तुम्हार पुत्र के समीप आ रहा हूँ " - श्रीकृष्ण ने कहा ।

श्रीकृष्ण गजारूढ हो कर थावच्चा के भवन पधार । उन्हाने विरक्तात्मा थावच्चापुत्र स कहा--

"देवानुप्रिय ! तुम ससार छोड़ कर दीक्षित मत बनो और मेरी भुजा का छाया म रह कर यथेच्छ भाग भोगत रहो । "

"महाराज ! यदि आप शरीर पर आक्रमण कर के विद्रूप एव विकृत करने वाले बुढापे को रोक सके, रागातक से बचा सक और जीवन का अन्त करन वाली मृत्यु का निवारण कर क सुरक्षित रख सक तो मैं आपकी भुजा की छाया में रह कर भोग-जावन व्यतीत करने के लिए रुक जाऊँ । बताइये आप मुझ जरा, राग और मृत्यु से बचा सकेंगे ?"

- "वत्स ! जरा और मृत्यु का निवारण अशक्य है । बडे-बडे इन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सके । इनका निवारण ता जन्म की जड काटने रूप कर्म-क्षय करन से ही हो सकता है ।"

- "महाराज ! मैं इसी साधना में तत्पर होना चाहता हूँ, जिससे अज्ञान मिथ्यात्व, अविरति और कषाय से सचित कर्मों को क्षय किया जा सक ।"

थावच्चापुत्र का दृढ वैराग्य जान कर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने सेवकों को आज्ञा प्रदान की--

"तुम हाथी पर सवार हा कर नगरी के प्रत्येक मुख्य-मुख्य स्थानों मार्गों बाजारों और विथिकाओं में जा कर उद्घोषणा करो कि -

"थावच्चापुत्र ससार स विरक्त हा कर भगवान् नमिनाथ क समीप प्रव्रजित होना चाहते हैं । जो कोई इनके साथ भगवान् क पास दीक्षित हाना चाहें उन्हें श्रीकृष्ण अनुज्ञा देते हैं । उनके पीछे रहे हुए उनके मित्र ज्ञाति सम्बन्धी एव परिजन का पालन-पोषण एव रक्षा करने का भार राज्य ग्रहण करेगा ।"

"इस प्रकार उद्घोषणा कर के मुझे निवेदन करो ।"

थावच्चापुत्र के प्रति अनुराग के कारण उनके साथ एक हजार व्यक्ति दीक्षित होने के लिए तत्पर हो कर, अपने-अपने घर से, स्वजन-परिजन के साथ शिविका मे बैठ कर, थावच्चापुत्र के भवन पर आये । श्रीकृष्ण की आज्ञा से भव्य समारोहपूर्वक दीक्षा-महोत्सव प्रारम्भ हुआ । थावच्चापुत्र शिविकारूढ हो कर एक हजार मित्रो के साथ चलता है । भगवान् के छत्र-चामरादि देख कर शिविका से उतरता है और सभी के साथ चलता है । श्रीकृष्ण-वासुदेव, थावच्चापुत्र को आगे कर के चलते हैं । थावच्चापुत्र औग सभी विरक्तजन भगवान् की वन्दना कर क ईशान-कोण मे जात हैं और अलकारादि उतार कर श्रमणवेश म उपस्थित होते हैं । थावच्चापुत्र की माता, पुत्र-विरह से उत्पन्न शोक से रुदन करती एव आँसू गिराती है और पुत्र को शुद्धतापूर्वक सयम का पालन कर, विमुक्त होने की सीख देती हुई घर लौटती आती है । थावच्चापुत्र और उनके साथ के एक हजार पुरुष भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं और सयम और तप से आत्म-साधना एव ज्ञानाभ्यास करते हुए विचरते हैं ।

थावच्चापुत्र अनगार ने स्थविर महात्माओ के पास सामायिक से लगा कर चौदह पूर्व तक के श्रुत का अभ्यास किया । उसके बाद भगवान् नेमिनाथ ने, उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार श्रमणों को उन्हें शिष्य के रूप मे प्रदान किये । कालान्तर में थावच्चापुत्र अनगार ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने एक हजार शिष्या के साथ जनपद में विहार करने की आज्ञा प्राप्त की और पृथक् जनपद-विहार करने लगे ।

थावच्चापुत्र अनगार अपने शिष्यों के साथ शैलकपुर नगर के उद्यान में पधारे । शैलक नरेश और उनके पथक आदि पाँच सौ मन्त्री और नागरिकगण दर्शनाथ आये । धर्मोपदेश सुन कर शैलक नरश प्रतिबोध पाये और अपने पाँच सौ मत्री सहित श्रमणोपासक के व्रत अगीकार किये ।

सुदर्शन सेठ की धर्मचर्चा और प्रतिबोध

सौगन्धिका नाम की नगरी थी । उस नगरी मे 'सुदर्शन' नाम का नगरश्रेष्ठी रहता था । वह वडा ऋद्धिमत और शक्तिशाली था ।

उस समय 'शुक' नामक परिव्राजकाचार्य भी विचरते हुए उसी नगर मे आ कर अपने आश्रम में ठहरे । वे वेद-वेदाग के पारगामी थे । उनके साथ भी एक हजार शिष्य थे । ये अपने साख्य मत के अनुसार आत्म-साधना करते थे । उनका आगमन जान कर जनसमूह दर्शनार्थ आया नगरश्रेष्ठी सुदर्शन भी आया । आचार्य शुकदेव ने उस परिषद् को अपना शुचि-मूल धम सुनाया । सुदशन श्रेष्ठी न धर्मोपदेश सुन कर शौच-मूल-धर्म ग्रहण किया और उन परिव्राजको का भाजन-वस्त्रादि प्रदान किया। कुछ काल पश्चात् परिव्राजकाचार्य शुक्र सौगन्धिका नगरी से निकल कर अन्यत्र चले गए ।

ग्रामानुग्राम विचरते हुए थावच्चापुत्र अनगार भी अपने मुनि-सघ क साथ सौगन्धिका नगरी पधारे

और नीलाशोक उद्यान में ठहरे । नागरिकजन वन्दन करने आये । सुदर्शन सेठ भी आया । धर्मोपदश सुना । उपदेश सुनने के पश्चात् सुदर्शन ने पूछा –

"आपके धर्म का मूल क्या है ?"

"सुदर्शन ! हमारे धम का मूल 'विनय" है । यह विनय-मूल धर्म दो प्रकार का है – १ अगार-विनय-और २ अनगार-विनय । अगार-विनय में पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत (तीन गुणव्रत सहित) और ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ हैं । अनगार विनयमूल धर्म – पाँच महाव्रता का पालन रात्रि-भोजन का त्याग क्रोध-मान यावत् मिथ्यादर्शन शल्य का त्याग, दस प्रकार क प्रत्याख्यान और बारह प्रकार की भिक्षु-प्रतिमाओ का पालन करना है ।

इन दो प्रकार के विनयमूल धर्म के परिपालन से जीव क्रमश आठ कर्मों को क्षय कर के लोकाग्र पर प्रतिष्ठित होता है ।"

अपने धर्म का स्वरूप बतलाने के बाद थावच्चापुत्र अनगार ने पूछा–

"सुदर्शन ! तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?"

"देवानुप्रिय ! हमारा शुचिमूल धर्म है । उसके दो भेद हैं – १ द्रव्य-शुद्धि-पानी और मिट्टी से शरीर उपकरणादि की शुद्धि करना इत्यादि और २ भावशुद्धि-द्रव्य और मन्त्र स होती है । दोनो प्रकार की शुद्धि कर के आत्मा को पवित्र करने वाला जीव, स्वर्ग को प्राप्त होता है ।"

सुदर्शन सठ का उत्तर सुन कर महात्मा थावच्चापुत्र जी ने पूछा –

"सुदर्शन ! कोई पुरुष रक्त स लिप्त वस्त्र को स्वच्छ करने क लिए रक्त से ही धोए, तो क्या वह वस्त्र शुद्ध हो सकता है ?"

"नहीं शुद्ध नहीं हो सकता" – सुदर्शन ने कहा ।

"इसी प्रकार हे सुदशन ! तुम्हार मतानुसार क्रिया करने से आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती । प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के सेवन से आत्मा के पाप-कर्मों में उसी प्रकार से वृद्धि होती है जिस प्रकार रक्त से लिप्त वस्त्र को रक्त से धोने से होती है । "क्या सुदर्शन ! यदि ऐस वस्त्र का मल-शोधक सज्जा-क्षार युक्त जल में भिगाये, फिर चूल्हे पर चढा कर उबाले और उसक बाद स्वच्छ जल से धोये तब तो शुद्ध होता है न ?"

"हाँ महात्मन् ! इस विधि से वस्त्र शुद्ध हो जाता है"– सुदर्शन न कहा ।

"हे सुदशन ! हम भी प्राणातिपादि पापों से लिप्त आत्मा के मल को दूर करन क लिए प्राणातिपात विरमण आदि अठारह पापों का त्याग कर क अपन आत्मवस्त्र को शुद्ध करत हैं । जिस प्रकार रुधिर से लिप्त वस्त्र का रुधिर छुडान क लिये क्षारादि प्रक्रिया स वस्त्र शुद्ध होता है ।'

अनगार महर्षि का उत्तर सुन कर नगर-श्रेष्ठी सुदशन समझ गया । उसने जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझ कर श्रमणोपासक क व्रत स्वीकार किये और जिनधर्म का पालन करता हुआ विचरने लगा

परिव्राजकाचार्य से चर्चा

परिव्राजकाचार्य शुकदेवजी न सुना कि सुदर्शन सेठ ने शुचिमूल धर्म का त्याग कर विनयमूल धर्म स्वीकार कर लिया, तो वे चिंतित हो उठे । सुदर्शन उनका प्रमुख उपासक था और प्रभावशाली था । उसके परिवर्तन का गभीर प्रभाव होने की सभावना थी । उन्होंने सोचा 'मैं सौगन्धिका नगरी जाऊँ और सुदर्शन को समझा कर पुन अपना उपासक बनाऊँ ।' वे अपने एक हजार शिष्यों के साथ सोगन्धिका पहुँचे और आश्रम मे अपने भण्डोपकरण रख कर सुदर्शन सेठ के घर आये । पहले जब भी आचार्य उसके घर आते, तब वह उनका अत्यन्त आदर-सत्कार करता, वन्दन-नमस्कार करता और बहुमानपूर्वक आसनादि प्रदान करता । किन्तु इस बार आचार्य को देख कर भी उसने उपेक्षा कर दी, न तो आदर दिया, न खडा हुआ, न नमस्कार ही किया । वह मौनपूर्वक बैठा रहा । अपनी उपेक्षा और अनादर देख कर आचार्य ने पूछा -

"सुदर्शन ! तुम तो एकदम पलट गय लगते हो । पहले जब मैं आता तो तुम मेरा भक्तिपूर्वक आदर-सत्कार करते वन्दना करते, किन्तु आज तुम्हारा व्यवहार ही उलटा दिखाई दे रहा है । क्या कारण है - इसका ? क्या तुम्हारी धर्म से श्रद्धा हट गई ?"

सुदर्शन आसन से उठ खडा हुआ और हाथ जोड कर शुकदेवजी से बोला,-

"मैने विनयमूल धर्म स्वीकार कर लिया है ।"

- "किसके पास ? किसने भरमाया तुझे" - आचार्य ने पूछा ।

- "निर्ग्रंथाचार्य महर्षि थावच्चापुत्र अनगार के उपदेश से प्रभावित हो कर मैं श्रमणोपासक बना । वे सन्त महान् त्यागी हैं । उनका धर्म श्रेष्ठ है, उद्धारक है और आराधना करने योग्य है ।"

- "चल मेरे साथ । मैं देखता हूँ तेरे गुरु को । मैं उनसे धर्म का अर्थ पुछूँगा, प्रश्न करूँगा । यदि उन्होंने मेरे प्रश्नो का ठीक उत्तर दिया, तो मैं स्वय उन्हें वन्दन-नमस्कार करूँगा और यदि वे मेरे प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं दे सके, तो निरुत्तर कर के उनका दभ प्रकट कर दूँगा "- परिव्राजकाचार्य ने कहा ।

आचार्य शुकदेवजी अपने सहस्र परिव्राजको और सुदर्शन सेठ के साथ श्रीथावच्चापुत्र अनगार के स्थान पर पहुँचे । समीप जाते ही आचार्य शुक ने पूछा -

"भते ! आपके मत में यात्रा है ? यापनीय है ? अव्याबाध है ? प्रासुक विहार है ?"

"हाँ शुक ! मेर यात्रा भी है, यापनीय अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है" - अनगार महर्षि बोले ।

आपके यात्रा कौन-सी है"-शुकदेवजी ने पूछा ।

"ज्ञान दर्शन चारित्र तप और सयमादि में मन वचन औक काया क योगों को याजित रखना मेरी यात्रा है" - अनगार महर्षि ने कहा ।

"आपके यापनीय क्या है" - शुकदेवजी ने पूछा ।

"यापनीय दो प्रकार का है - इन्द्रिय और नोइन्द्रिय (मन) । मेरी श्रोत्रादि पाँचों इन्द्रियाँ वशीभूत हैं, नियन्त्रित हैं और मेरे क्रोध-मान-माया और लोभ क्षीण हो चुके हैं, उपशान्त हैं, उद नहीं है । यह मेरा नोइन्द्रिय यापनीय है अर्थात् इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषाय मेरे नियन्त्रण में है । मेरे यापनीय है" - अनगार महात्मा ने कहा ।

"भगवन् ! आपके अव्याबाध क्या है" - पुनः प्रश्न ।

"मेरे वात-पित्त-कफ और सन्निपातादि रोगातंक उदय में नहीं है (कभी रोगातंक हो भी जाय मेरी आत्मा प्रशांत रहती है । रोग मेरी साधना में बाधक नहीं बनता) *यह मेरा अव्याबाध है ।*"

"भगवन् ! आपके प्रासुक-विहार क्या है ?"

"हे शुकदेव ! हम ईर्यासमितिपूर्वक चलते हुए जहाँ भी जाते हैं, वहाँ हमारे लिए कोई स्थ आश्रम या मठ आदि निश्चित नहीं होता । हम निर्दोष स्थान देख कर ठहर जाते हैं भले ही वह आ (बगीचा)-हो, उद्यान हो, देवकुल सभा प्याऊ, कुंभकार आदि की शाला हो या फिर वृक्ष के नी ठहर जाते हैं । यह हमारा निर्दोष विहार है ।"

"भगवन् ! आपके लिए सरिसव भक्ष्य है या अभक्ष्य ।"

परिव्राजकाचार्य ने यह प्रश्न अनगार महर्षि की बुद्धि परीक्षा करने अथवा वाक्जाल में फाँस कर परा करने की इच्छा से पूछा । इसके पूर्व के प्रश्न साधना की निर्दोषता-सदोषता जानने के लिये पूछे थे ।

"सरिसव भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी ।"

"यह कैसे ? दोनों बात कैसे हो सकती है" - प्रतिप्रश्न ।

"सरिसव दो प्रकार के हैं - १ मित्र-सरिसव और २ धान्य-सरिसव ।

मित्र-सरिसव तीन प्रकार के हैं - १ साथ जन्मे हुए २ साथ वृद्धि पाये हुए और ३ साथ खे हुए । ये तीनों प्रकार के मित्र-सरिसव हमारे लिए अभक्ष्य हैं ।"

धान्य-सरिसव (सरसों) दो प्रकार के हैं - १ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र-परिणत । अशस्त्र परिणत (जो अग्नि आदि के प्रयोग से अचित्त नहीं हुए) हमारे लिए अभक्ष्य है । शस्त्र-परिणत भी प्रकार के हैं - १ प्रासुक (सर्वथा अचित्त) और २ अप्रासुक (शस्त्र-परिणत होने पर भी जो अचि नहीं हुए या मिश्र रहे) इनमें से अप्रासुक धान्य-सरिसव अभक्ष्य है ।

प्रासुक धान्य-सरिसव भी दो प्रकार का होता है - १ याचित (याचना किये हुए) और अयाचित । अयाचित अभक्ष्य है । याचित भक्ष्य है । याचित के भी दो भेद हैं - १ एषणीय (या योग्य सभी प्रकार के दोषों से रहित) और २ अनेषणीय । इनमें से अनेषणीय अभक्ष्य है* ।

---

* भगवती सूत्र श. १८ उ. १० में ये प्रश्न सोमिल ने भी किये ऐसा उल्लेख है । वहाँ शस्त्र परिणत ... याचित और लब्ध - ये चार भेद हैं । किन्तु यहाँ 'प्रासुक' भेद विशेष लिया है । यह भेद भगवती के इस प्रसंग में

एषणीय के भी दो भेद हैं - १ लब्ध (प्राप्त) और २ अलब्ध । अलब्ध तो अभक्ष्य है और जो लब्ध है, वही हम श्रमण-निर्ग्रंथो के लिए भक्ष्य है' - अनगार-महर्षि ने विस्तार के साथ उत्तर दिया ।

"भगवन् ! कुलत्था भक्ष्य है" - एक नया प्रश्न ।

"कुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी ।"

"यह कैसे" - प्रतिप्रश्न ।

"कुलत्था के दो भेद हैं - १ स्त्री-कुलत्था और २ धान्य-कुलत्था । स्त्री-कुलत्था के तीन भेद हैं - १ कुलवधू २ कुलमाता और ३ कुलपुत्री । कुलत्था के ये तीनो भेद अभक्ष्य हैं ।

धान्य-कुलत्था के दो भेद हैं - १ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र-परिणत । अशस्त्र-परिणत तो अभक्ष्य है ही । शस्त्र-परिणत भी दो प्रकार के हैं - प्रासुक (अचित्त) और अप्रासुक (सचित्त) । अप्रासुक अभक्ष्य हैं । प्रासुक भी दो प्रकार के हैं - याचित और अयाचित । अयाचित त्याज्य है। याचित के दो भेद - एषणीय और अनेषणीय । अनेषणीय अभक्ष्य है । एषणीय के दो भेद - १ प्राप्त और २ अप्राप्त । अप्राप्त अभक्ष्य और प्राप्त भक्ष्य है । हम ऐसे ही कुलत्थ को भक्ष्य मानते हैं, जो धान्य हो, शस्त्र-परिणत हो, प्रासुक हो, याचा हुआ हो, याचा हुआ हो, एषणीय हो और प्राप्त हो । शेष सभी अभक्ष्य है ।"

"भगवन् ! मास आपके लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य" - परिव्राजकाचार्य ने नया प्रश्न उठाया ।

- "देवानुप्रिय ! मास भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी ।"

- "किस प्रकार ?"

- "मास तीन प्रकार का है - १ कालमास - श्रावण-भाद्रपदादि २ अर्थमास- चाँदी और सोने का मासा और ३ धान्यमास । इनमे से कालमास और अर्थमास तो अभक्ष्य है । अब रहा धान्यमास (उड़द) । इसका स्वरूप सरिसव और कुलत्था के समान है अर्थात् शस्त्र-परिणत प्रासुक, याचित एषणीय और प्राप्त हो, तो भक्ष्य है, अन्यथा अभक्ष्य है ।'

"भगवन् ! आप एक हैं ? दो हैं ? अनेक हैं ? अक्षय हैं ? अव्यय हैं ? अवस्थित हैं ? आप भूत, भाव और भावी हैं" - परिव्राजकाचार्य ने एक साथ इतने प्रश्न उपस्थित कर दिये । उनका अभिप्राय था कि यदि वे अपने को एक कहेंगे, तो मैं उन्हें दो बता कर पराजित कर दूँगा । वे 'दो' कहेंगे, तो मैं एक या अनेक आदि कह कर विजयी बन जाऊँगा । महर्षि थावच्चापुत्र अनगार बोले -

"मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ अनेक, अक्षय अव्यय, अवस्थित तथा भूत भाव और भावी भी हूँ ।"

- "यह कैसे हो सकता है कि आप एक भी हैं दो भी है और अनेकादि भी है ?"

गर्भित है । किन्तु इसका क्रम समझ में नहीं आया । याचित होने के पूर्व ही प्रासुक होना उचित लगता है । कदाचित् लिपि करने मे आगे-पीछे हो गया हो ? पुष्पिका उपांग के तीसरे अध्ययन में भी यही विषय आया है । वहाँ ये प्रश्न सोमिल ने भ० पार्श्वनाथ स्वामी से किये थे । ये दोनों सोमिल पृथक् हैं ।

- "देवानुप्रिय ! जीव-द्रव्य की अपेक्षा मैं एक हूँ । उपयोग की अपेक्षा मैं दो हूँ - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग वाला हूँ । आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा मैं अनेक हूँ और अक्षय भी हूँ अव्यय भी हूँ और अवस्थित भी हूँ । क्योंकि प्रदेशों का कभी सर्वथा क्षय नहीं होता और न कुछ प्रदेशों का व्यय होता है। समस्त प्रदेश अवस्थित हैं । उपयोग की भूत भविष्य और वर्तमान पर्यायों की अपेक्षा मैं अनेक भूत भाव और भावी युक्त हूँ" - अनगार भगवंत ने परिव्राजक की प्रश्नावली का यथार्थ उत्तर प्रदान किया।

सहस्त्र परिव्राजकों की प्रव्रज्या

परिव्राजकाचार्य शुक का समाधान हो चुका । वे समझ गए कि इन अनगार-महर्षि की संयम-यात्रा और ज्ञान-गरिमा उत्तम है, निर्दोष है और अभिवन्दनीय है । मुझे सत्य का आदर करना चाहिए । उन्होंने अनगार महात्मा की वन्दना की नमस्कार किया और निवेदन किया - "भगवन् ! मुझे अपना धर्म सुनाइये । मैं आपके धर्म का स्वरूप समझना चाहता हूँ ।"

अनगार भगवंत ने निर्ग्रंथ-धर्म का स्वरूप समझाया । धर्मोपदेश सुन कर शुकदेवजी हर्षित हुए । उन्होंने कहा - "भगवन् ! मैं अपने एक सहस्त्र परिव्राजकों के साथ आपके समीप मुण्डित हो कर प्रव्रजित होना चाहता हूँ ।"

"देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो" - अनगार भगवंत ने कहा ।

शुकदेवजी अपने सहस्त्र परिव्राजकों के साथ ईशान-कोण की ओर गए और अपने परिव्राजक सम्बन्धी उपकरणों और वस्त्रों को एक ओर रख कर अपनी-अपनी शिखा का लुंचन किया और अनगार भगवंत के समीप आ कर प्रव्रज्या स्वीकार की । फिर ज्ञानादि की आराधना करने लगे । श्री शुक मुनिराज भी चौदह पूर्व के पाठी बन गये । इसके बाद थावच्चापुत्र मुनिराज ने उन्हें एक सहस्त्र शिष्य प्रदान किये । वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे ।

थावच्चापुत्र अनगार की मुक्ति

धर्म की साधना करते हुए थावच्चापुत्र अनगार ने अन्तिम आराधना का अवसर जानकर अपने सहस्त्र शिष्यों के साथ पुंडरीक-गिरि पर चढ़े । उस एकांत-शांत स्थान पर पहुँच कर आप सभी ने पादपोपगमन किया और एक मास के संथारे के बाद सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

शैलक-राजर्षि की दीक्षा

निर्ग्रंथाचार्य श्री शुकदेवजी अपने शिष्यों के साथ शैलकपुर के उद्यान में पधारे । शैलक नरेश और प्रजाजन अनगार-भगवंतों को वन्दनार्थ आये । आचार्य भगवंत का उपदेश सुन कर शैलक नरेश संसार से विरक्त हुए । उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया - "भगवन् ! मैं संसार त्याग कर श्रीचरणों

म निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अगीकार करना चाहता हूँ । पहले में राज्य के पथक आदि पाँच-सौ मन्त्रिया स पूछ कर, मडुक कुमार को राज्य का भार दे दूँ, फिर आपश्री से निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण करूँगा ।''

गुरुदेव ने कहा - ''जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो । धर्म-साधना मे विलम्ब नहीं करना चाहिए ।''

शैलक-नरेश ने स्वस्थान आ कर अपने मत्री-मण्डल से कहा - ''देवानुप्रियो ! अनगार भगवत का उपदेश सुन कर मैं ससार से विरक्त हो गया हूँ । अब मैं आचार्य भगवत के समीप दीक्षित हो कर अनगार-धर्म का पालन करना चाहता हूँ । बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?''

राज्य का मत्री-मण्डल राजा का मित्र-मण्डल भी था । वे सभी स्नेह-ग्रन्थी से जुडे हुए थे । न्याय-नीति और धर्मयुक्त उनका जीवन था । अर्थ एव काम-लोलुपता उनम नहीं थी । वे राज-काज में राजा के मार्ग-दर्शक थे । राजा उन मन्त्रियों की आँखों से देखता था - उनकी सुलझी हुई दृष्टियुक्त परामर्श का आदर करता हुआ राज्य का सचालन करता था । राजा का अभिप्राय सुन कर, पथकजी प्रमुख है जिसम - ऐस पाँच-सौ मन्त्रियो ने विचार किया । ससार के दारुण दु खो का भय तो उन्हे भी था ही । वे सभी राजा का अनुसरण करने के लिए तत्पर हो गए और एकमत से राजा से निवेदन किया।

''यदि आप ससार का त्याग कर के निर्ग्रंथ-धर्म की परिपूर्ण आराधना करना चाहते हैं, तो हम ससार मे रह कर क्या करेंगे ? हमारे लिये आधार ही कौन-सा रह जायगा ? किस के सहारे हम रहेगे ? यह ससार तो हमारे लिए भी दु खदायक है और हम भी इसका त्याग कर के धर्म की आराधना करनी है । हम आपको नहीं छोड सकते । इसलिए हम सब आपके साथ निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे और जिस प्रकार हम ससार में आपके साथ रह कर मार्ग-दर्शन करते रहे, उसी प्रकार धर्माचरण म भी साथ रह कर आपके लिये चक्षुभूत होगे ।''

''देवानुप्रियो ! यदि तुम सभी अनगार-धर्म धारण करना चाहते हो तो अपने-अपने घर जाओ और कुटुम्ब का भार ज्येष्ठ-पुत्र को प्रदान कर दो फिर शिविकारूढ हो कर यहाँ आओ । अपन सब साथ ही प्रव्रजित होंगे'' - राजा ने उन्हे विदा किया और युवराज मडुक का राज्याभिषेक कर के राज्य स्थापन किया । राज्याधिकार प्राप्त होने पर भूतपूर्व शैलक नरेश ने अपन पुत्र वर्तमान नरेश स दीक्षा की अनुमति माँगी । मडुक महाराज ने अपने पिता का अभिनिष्क्रमण उत्सव किया और शैलक नरेश तथा पथकादि ५०० मन्त्रियों न प्रव्रज्या ग्रहण की । शैलक मुनिराज न ग्यारह अगो का श्रुत-ज्ञान सीखा और सयम-तप से आत्मा को प्रभावित करते हुए विचरन लगे । आचार्यश्री शुकदेव महर्षि न शैलक राजर्षि को पथक आदि पाँच-सौ शिष्य प्रदान किये । आचार्य शुकदेवजी ग्रामानुग्राम विचरते रहे और उन्ह अपना अन्तिम समय निकट जाना, तो एक सहस्र शिष्यो के साथ पुण्डरीक पर्वत पर पधारे और अनशन कर के घातिकर्मों को नष्ट किया केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया यावत् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

शैलक-राजर्षि का शिथिलाचार

शैलक राजर्षि संयम और तप की आराधना करते हुए विचर रहे थे । उनका शरीर सुकुमार था और सुखोपभोग में पला हुआ था । संयम-साधना करते हुए रूखे-सूखे, तुच्छ रसविहीन स्वादहीन, न्यूनाधिक, ठण्डा और अरुचिकर आहार मिलने तथा भूख के समय भोजन नहीं मिलने आदि से उनके शरीर में रोग उत्पन्न हो गए । चमडी शुष्क-रूक्ष बन गई । पित्तोत्पन्न दाहज्वर और खुजली से उग्र एवं असहनीय वेदना होने लगी । उनका शरीर सूख कर दुर्बल हो गया । वे विचरते हुए शैलकपुर के उद्यान में पधारे । परिषद् वन्दन करने आई । मंडुक राजा भी आया और वन्दन-नमस्कार कर पर्युपासना करने लगा । राजा ने राजर्षि का उग्र रोग और शुष्क शरीर देख कर निवेदन किया -

"*भगवन् ! मैं आपकी मर्यादा के अनुसार योग्य चिकित्सकों से औषध-भेषज से चिकित्सा* करवाऊँगा । आप मेरी यानशाला में पधारिये और निर्जीव एवं निर्दोष शय्यासंस्तारक ग्रहण कर के वहीं रहिये ।"

राजर्षि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और दूसरे ही दिन नगर में प्रवेश कर, राजा की यानशाला में जा कर रह गए । राजा ने चिकित्सकों को बुला कर कहा - "तुम महात्मा की निर्जीव एवं निर्दोष औषधादि से चिकित्सा करो ।"

वैद्यों ने राजर्षि के रोग का निदान किया और उनकी मर्यादा के अनुकूल औषधी एवं भोजनादि तथा मद्यपान का परामर्श दिया । इस उपचार से शैलक अनगार का रोग शान्त हो गया । शनैः शनैः उनमें शक्ति बढ़ने लगी । थोड़े ही दिनों में वे हृष्ट पुष्ट एवं बलवान् हो गए । उनका रोग पूर्ण रूप से मिट गया ।

रोग मिट जाने और शरीर सबल हो जाने पर भी उनका खान-पान वैसा ही चलता रहा । वे उत्तम भोजन-पान मुखवास और मद्यपान में अत्यन्त आसक्त हो गए । उन्होंने साधना भुला दी और शिथिलाचारी बन गए । उनमें कुशीलियापन आ गया । उनमें नियमानुसार जनपद-विहार करने की रुचि ही नहीं रही ।

शैलकजी को पासत्थ कुशीलिया और लुब्ध देख कर एक दिन पंथक मुनि को छोड़ कर, शेष मुनियों ने रात्रि के समय एकत्रित हो कर विचार किया -

"राजर्षि ने राज-पाट भोग-विलास छोड़ कर संयम स्वीकार किया किन्तु अब वे खान-पानादि में गृद्ध हो कर सुखशील हो गये हैं । निग्रंथाचार छोड़ कर पार्श्वस्थ अवसन्न एवं कुशील बन गए हैं । श्रमण-निर्ग्रंथों को प्रमाद में लीन रहना अकल्प्य - अनाचार है । किन्तु उनकी संयम में रुचि नहीं है । इसलिए पंथक मुनि को शैलक मुनि की वैयावृत्य के लिए छोड़ कर और शैलक अनगार से पूछ कर अपने सब का जनपद-विहार करना उचित है ।"

इस प्रकार विचार कर के उन्होने शैलक राजर्षि को पूछा और पथक मुनि को उनकी वैयावृत्य के लिए वहीं रख कर शेष सभी मुनियो ने विहार कर दिया । शैलकजी का शिथिलाचार चलता रहा । पथकजी की साधना भी चलती रही ओर शैलकजी की वैयावृत्य भी होती रही ।

ग्रीष्मकाल ही नहीं, वर्षा के चार महीने भी बीत गए । कार्तिक चौमासी पूर्ण हो रही थी । शैलकजी ने उस दिन अच्छा स्वादिष्ट भोजन, पेट भर कर खाया और मद्यपान भी किया । फिर वें सायकाल ही सो गए और सुखपूर्वक नींद लेने लगे ।

शैलक-राजर्षि का प्रत्यावर्त्तन

पथक मुनि ने दैवसिक प्रतिक्रमण एव कायोत्सर्ग कर के चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने की इच्छा से शैलक-राजर्षि को वन्दना करने के लिए मस्तक झुका कर उनके चरण का स्पर्श किया । चरण-स्पर्श से शैलक-राजर्षि चौंके । उनकी नींद उचट गई । वे क्रोधित होते हुए उठे और दाँत पीसते हुए कडक कर बोले,- ''कौन है यह मृत्यु का इच्छुक ? क्या जगाया मुझे ?''

पथक अनगार ने शैलक-राजर्षि को क्रोधित देखा । वे डर गए । उन्हे दु ख हुआ । वे हाथ जोड कर नम्रतापूर्वक बोले,-

''भगवन् ! मैं पथक हूँ । मैने कायोत्सर्ग कर के दैवसिक प्रतिक्रमण किया । अब चौमासिक प्रतिक्रमण करते हुए आपको वन्दना करन लगा । इसमें आपके चरणो मे मेरे मस्तक का स्पर्श हुआ और आपकी नींद खुल गई । सचमुच मैं आपका अपराधी हूँ । भगवन् ! आप मुझे क्षमा प्रदान करें । मैं फिर कभी ऐसा अपराध नहीं करूँगा । मैं आपसे बार-बार क्षमा चाहता हूँ ।''

शैलक राजर्षि ने पथक मुनि की बात सुनी, तो विचार में पड़ गए । वे सोचने लगे;-

''अहो ! मैं कितना पतित हो गया हूँ । राज्य-वैभव और भोग-विलास छोड कर मैं त्यागी-निर्ग्रंथ बना और मुक्ति साधने के लिए आराधना करने लगा । किन्तु मैं भटक गया साधना से पतित हो कर विराधना करने लगा और फिर सुखशीलियापन में ही जीवन का अमूल्य समय नष्ट करने लगा । धिक्कार है मुझे ।''

दूसरे दिन उन्होंने मण्डुक राजा से पूछ कर और पीठफलकादि दे कर विहार कर दिया । शैलक-राजर्षि को शिथिलाचारी और कुशीलिया जान कर जो ४९९ साधु पृथक् विहार कर गए थे उन्होंने जब यह सुना कि शैलकजी शिथिलाचार छोड कर पुन शुद्धाचारी हो गए हैं, तो उन सभी ने विचार किया और पुन शैलक-राजर्षि के पास आ कर उनकी अधीनता में विचरने लगे । बहुत वर्षों तक सयम और तप की साधना करते हुए जब उन्होने अपना आयु निकट जाना तो वे सभी साधु थावच्चापत्र अनगार के समान पाँच-सौ मुनियों के साथ पुण्डरीक पर्वत पर सथारा कर के सिद्ध हो गए ।

टिप्पण - इस चरित्र मे दो बात विशेष स्पष्ट होती है । चौमासी प्रतिक्रमण में पहले दिवस सम्बन्धी हो और उसके बाद चौमासी का । जब चौमासी के दो प्रतिक्रमण किये जाते थे तो सम्वत्सरी के भी दो करना अपने-आप सिद्ध हो जाता है । यह चरित्र भ० अरिष्टनेमिजी के शासन-काल का है । उन ऋजु-प्राज्ञ साधकों के समय भी चातुर्मासिक (और साम्वत्सरिक) प्रतिक्रमण दो होते थे, तो वीरशासन में तो दो होना ही चाहिये। अतएव दो प्रतिक्रमण का पक्ष आगम-प्रमाणित है और यह शेष दो चौमासी में भी होना चाहिए ।

२ शैलक-राजर्षि कुशीलिये बन चुके थे । उनमें संयम-रुचि नहीं रही थी । वे संयम सम्बन्धी द्रव्य क्रिया भी नहीं कर रहे थे और केवल वेश से साधु रहे हुए थे । उनका कुशीलियापन देख कर ही ४९९ शिष्य उन्हें छोड़ कर चले गए थे । किन्तु उन ४९९ सन्तों ने पंथक मुनि को शैलकजी की वैयावृत्य के लिए उनके पास रखा था । पंथक मुनि संयम-प्रिय थे शुद्धाचारी थे । वे अपने असंयमी गुरु की सेवा करते थे और वन्दन-नमस्कार भी करते थे । असंयमी को संयमी सन्त वन्दना करते थे । यह स्थिति विचारणीय है । कुशीलिये को वन्दनादि करना निषिद्ध है । कुशीलिये को वन्दनादि करने का प्रायश्चित्त आता है । (निशीथ सूत्र उ. ४, ११ १३) किन्तु यह सामान्य स्थिति का विधान होगा । यदि असंयमी साधु रोगी हो तो उसकी सेवा करने का विधान भी है । उसकी सेवा करने के पश्चात् यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना होता है (व्यवहार सूत्र २, ७)

शैलक-चरित्र का उपसंहार करते हुए आगमकार लिखते हैं - "एवामेव समणाउसो.........शैलक राजर्षि के समान जो साधु-साध्वी कुशीलिया हो कर संयम की उपेक्षा करेंगे, वे बहुत से साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका द्वारा निन्दित होंगे और अनन्त संसार परिभ्रमण करेंगे ।"

शैलकजी की दशा उस समय चारित्रात्मा जैसी नहीं थी । वे स्वस्थ एवं सबल हो गए थे तो भी नहीं सम्भले थे । दूसरी ओर जमाली को मिथ्यादृष्टि जान कर, रोगावस्था में ही उसके शिष्य छोड़ कर भ० महावीर के पास पहुँच गए थे । इस स्थिति में दो बातों का अन्तर दिखाई देता है । एक तो जमाली मिथ्यादृष्टि हो गया और भगवान् का विरोधी भी । दूसरे उसके साथ उसके मत से सहमत ऐसे कुछ साधु रहे भी थे । इसलिए जो सन्त उसे छोड़ कर चले गए । उन्होंने उचित ही किया । यों मध्य के तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं इसलिये उनकी समाचारी में थोड़ा अन्तर भी है । फिर भी इतना तो निश्चित सा लगता है कि यदि कोई साधु कुशीलिया बन जाय और वह रोगी हो तो साथ के सन्तों द्वारा उसका सहसा त्याग कर देना उचित नहीं है । उसकी सेवा करना आवश्यक है । जब वह ठीक हो जाय या आयुष्य पूर्ण कर जाय तब यथायोग्य प्रायश्चित्त ले कर शुद्धि करे । यह इस वीरशासन की व्यवहार सूत्रोक्त रीति है ।

श्री शैलकऋषि धन्य थे सम्यग्दृष्टि थे । एक साधारण से निमित्त से उनकी सुषुप्त आत्मा जाग उठी । वे संभले और ऐसे संभले कि मुक्ति प्राप्त कर ली । उनकी आगे पीछे की विरक्ति एवं संयम रुचि तथा साधना अभिवन्दनीय है किन्तु मध्य में आया हुआ कुशीलियापन हेय है ।

शैलक-पंथक चरित्र गम्भीरतापूर्वक मनन का है । व्यक्ति या पक्षगत रुचि से इसे नहीं देखना चाहिए और कुशीलियापन का बचाव या पुष्टि तो कदापि नहीं करनी चाहिए ।

श्रीकृष्ण ने तीर्थंकर नाम-कर्म-बाँधा

श्रीकृष्ण ने जनता मे धर्म-रुचि जगाई और हजारो भव्यात्माओ को निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या प्रदान कराई । उत्कृष्ट भावो से उन्होने जिनेश्वर भगवत और महात्माओ की पृथक्-पृथक् विधिवत् वन्दना की । इससे उन्होने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया । उनका सम्यग्दर्शन निर्मल एव विशुद्ध था । वे आत्मार्थियो को यथायोग्य सहायता दे कर धर्म मे लगाते रहे ।

ढंढण मुनिवर का अन्तराय-कर्म

श्रीकृष्ण के एक पुत्र नाम 'ढढण' था । वह भी अपनी रानिया के साथ भोगासक्त था । किन्तु भगवान् नेमिनाथ के उपदेश ने उसकी धर्मचेतना जाग्रत कर दी । वह भी दीक्षित हो गया और विधिपूर्वक सयम-तप का पालन करने लगा । वह सभी सतों के अनुकूल रहता और यथायोग्य सेवा करता । उसके अन्तराय-कर्म का उदय विशेष था । वह आहारादि के लिए गोचरी जाता, परन्तु उसे प्राप्ति नहीं होती । कोई-न-कोई बाधा खडी हो जाती और उन्हें खाली लौटना पडता और ऐसा योग बनता कि अन्य जो साधु उनके साथ जाते, उन्ह भी खाली-हाथ लौटना पडता । उनकी ऐसी स्थिति देख कर कुछ मुनियो ने भगवान् से पूछा,-

"प्रभो ! ढढण मुनिजी श्रीकृष्ण के पुत्र हैं । निर्ग्रंथ-धर्म का पालन कर रहे हैं । द्वारिकावासियों में न धर्म-प्रेम की कमी है । न औदार्य गुण की न्यूनता है और न दुष्काल है । फिर इन ढढण मुनि को आहारादि क्यो नहीं मिलता और इनके साथ जाने वाले साधु को भी खाली-पात्र क्यो लौटना पडता है ? जब कि अन्य सभी मुनिया को यथेच्छ वस्तु प्राप्त होती है ?"

भगवान् ने कहा,-

"ढढण मुनि के अन्तराय-कर्म का विशेष उदय है । ये पूर्वभव में मगध देश के धान्यपूरक नगर क राजा के सेवक थे । 'पारासर' इनका नाम था । वे ग्राम्यजनों से राज्य के खेत जुतवाते और परिश्रम करवाते किन्तु भोजन का समय होने पर और भोजन आने पर भी ये उन श्रमिकों को छुट्टी नहीं देत और उन्हे कहते - "तुम हल से खत म एक-एक चक्कर और लगा कर हाँक दो फिर छुट्टी होगी । भोजन कहीं भागा नहीं जा रहा है ।"

वे भूखे-प्यास श्रमिक और बैल, मन मार कर फिर काम खिचन लगते । इस प्रकार उन्हे भोजन में बाधक बन कर इन्होने अन्तराय-कर्म का बन्ध कर लिया । उसी क उदय से ये भिक्षा स वचित रहत हैं"

भगवान् का निर्णय सुन कर ढंढण मुनिजी, अपने कर्म को नष्ट करन में विशप तत्पर हो गए । उन्होने भगवान् के पास अभिग्रह लिया कि "आज से मैं अपनी ही लब्धि (प्रभाव) स प्राप्त आहार ग्रहण करूँगा । दूसरे की लब्धि से उपलब्ध आहार नहीं खाऊँगा ।"

टिप्पण - इस चरित्र मे दो बाते विशेष स्पष्ट होती है । चौमासी प्रतिक्रमण में पहले दिवस सम्बन्धी हो और उसके बाद चौमासी का । जब चौमासी के दो प्रतिक्रमण किये जाते थे, तो सम्वत्सरी के भी दो करना अपने-आप सिद्ध हो जाता है । यह चरित्र भ० अरिष्टनेमिजी के शासन-काल का है । उन ऋजु-प्राज्ञ साधकों के समय भी चातुर्मासिक (और साम्वत्सरिक) प्रतिक्रमण दो होते थे, तो वीरशासन में तो दो होना ही चाहिये। अतएव दो प्रतिक्रमण का पक्ष आगम-प्रमाणित है और यह शेष दो चौमासी में भी होना चाहिए ।

२ शैलक-राजर्षि कुशीलिये बन चुके थे । उनमें संयम-रुचि नहीं रही थी । वे संयम सम्बन्धी द्रव्य-क्रिया भी नहीं कर रहे थे और केवल वेश से साधु रहे हुए थे । उनका कुशीलियापन देख कर ही ४९९ शिष्य उन्हें छोड़ कर चले गए थे । किन्तु उन ४९९ सन्तों ने पंथक मुनि को शैलकजी की वैयावृत्य के लिए उनके पास रखा था । पंथक मुनि संयम-प्रिय थे, शुद्धाचारी थे । वे अपने असंयमी गुरु की सेवा करते थे और वन्दन-नमस्कार भी करते थे । असंयमी को संयमी सन्त वन्दना करते थे । यह स्थिति विचारणीय है । कुशीलिये को वन्दनादि करना निषिद्ध है । कुशीलिये को वन्दनादि करने का प्रायश्चित्त आता है । (निशीथ सूत्र उ ४, ११ १३) किन्तु यह सामान्य स्थिति का विधान होगा । यदि असंयमी साधु रोगी हो, तो उसकी सेवा करने का विधान भी है । उसकी सेवा करने के पश्चात् यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना होता है (व्यवहार सूत्र २, ७)

शैलक-चरित्र का उपसंहार करते हुए आगमकार लिखते हैं - "एवामेव समणाउसो.......... शैलक राजर्षि के समान जो साधु-साध्वी कुशीलिया हो कर संयम की उपेक्षा करेंगे, वे बहुत से साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका द्वारा निन्दित होंगे और अनन्त संसार परिभ्रमण करेंगे ।"

शैलकजी की दशा उस समय चारित्रात्मा जैसी नहीं थी । वे स्वस्थ एवं सबल हो गए थे तो भी नहीं सम्भले थे । दूसरी ओर जमाली को मिथ्यादृष्टि जान कर, रोगावस्था में ही उसके शिष्य छोड़ कर भ० महावीर के पास पहुँच गए थे । इस स्थिति में दो बातों का अन्तर दिखाई देता है । एक तो जमाली मिथ्यादृष्टि हो गया और भगवान का विरोधी भी । दूसरे उसके साथ उसके मत से सहमत ऐसे कुछ साधु रहे भी थे । इसलिए जो सन्त उसे छोड़ कर चले गए । उन्होंने उचित ही किया । यों मध्य के तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं इसलिये उनकी समाचारी में थोड़ा अन्तर भी है । फिर भी इतना तो निश्चित-सा लगता है कि यदि कोई साधु कुशीलिया बन जाय और वह रोगी हो, तो साथ के सन्तों द्वारा उसका सहसा त्याग कर देना उचित नहीं है । उसकी सेवा करना आवश्यक है । जब यह ठीक हो जाय या आयुष्य पूर्ण कर जाय तब यथायोग्य प्रायश्चित्त ले कर शुद्धि करे । यह इस वीरशासन की व्यवहार सूत्रोक्त रीति है ।

श्री शैलकऋषि भव्य थे सम्यग्दृष्टि थे । एक साधारण से निमित्त से उनकी सुसुप्त आत्मा जाग उठी । वे संभले और ऐसे संभले कि मुक्ति प्राप्त कर ली । उनकी आगे पीछे की विरक्ति एवं संयम-रुचि तथा साधना अभिवन्दनीय है, किन्तु मध्य में आया हुआ कुशीलियापन हेय है ।

शैलक-पंथक चरित्र गम्भीरतापूर्वक सोचने का है । व्यक्ति या पक्षगत रुचि से इसे नहीं देखना चाहिए और कुशीलियापन का बचाव या पुष्टि तो कदापि नहीं करनी चाहिए ।

उस सभा मे अनेक यादव और जराकुमार भी उपस्थित थे । सब की कुदृष्टि जराकुमार पर पडी। जराकुमार भी अपने-आप को कुल-घातक और कुलागार अनुभव करने लगा । उसने सोचा - "मैं यहाँ से निकल कर वन मे बहुत दूर चला जाऊँ जिससे यह अनिष्ट टल जाय और मैं बन्धु-घात के महापाप से बच जाऊँ ।" उसने प्रभु को नमस्कार किया और धनुष-बाण ले कर वन में चला गया । द्वैपायनऋषि ने लोगों के मुँह से, भगवान् द्वारा बताये हुए भविष्य की बात जानी, तो वह भी चिन्ता में पड गया और अपने को द्वारिका-विनाश के पाप से बचाने के लिए आश्रम छोड कर दूर वन मे चला गया ।

श्रीकृष्ण ने नगर में ढिंढोरा पिटवा कर मदिरापान का सर्वथा निषेध करने की आज्ञा प्रसारित कर दी । यादवों और नागरिको के पास जितनी मदिरा थी, वह सब ले जा कर कदम्ब वन की कादम्बरी नामक पर्वत-गुफा के निकट बने हुए कुण्डो में डाल दी ।

बलदेवजी का सारथी सिद्धार्थ, यादवों और द्वारिका का दु खद भविष्य सुन कर ससार से विरक्त हो गया । उसने बलदेवजी से, दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मागी । बलदेवजी ने कहा,-

"हे पवित्रात्मा ! हे बन्धु ! मेरे हृदय का मोह तुझे छोडना नहीं चाहता, परन्तु मैं अपने मोह को तुम्हारे आत्मोत्थान मे बाधक बनाना नहीं चाहता । यदि तुम एक बात का वचन दो, तो मैं आज्ञा दे सकता हूँ । तुम सयम और तप की आराधना कर के मुक्ति प्राप्त कर लो, तब तो ठीक है । परन्तु यदि देवगति प्राप्त करो, तो मुझे प्रतिबोध दे कर सन्मार्ग पर लगाने के लिये तुम्हें आना पडेगा । यदि यह वचन दो, तो मेरी आज्ञा है ।"

सिद्धार्थ ने वचन दिया और दीक्षित हो गया । छह महीने तक घोर तप और शुद्ध सयम का पालन कर के आयु पूर्ण कर देव हुआ ।

कुमारों का उपद्रव और ऋषि का निदान

शिलाकुण्डों मे डाली हुई मदिरा, वहाँ के सुगन्धित पुष्पो तथा प्राकृतिक अनुकूलता पा कर विशेष सुगन्धित एव मधुर बन गई । एक बार गरमी के दिनो मे शाम्बकुमार का कोई सेवक उधर से निकला । उसे प्यास लग रही थी । वह उस मदिरा-कुण्ड के समीप आया और मद्यपान करने लगा । सुगन्धित और अत्यन्त मधुर स्वाद से आकर्षित हो कर उसने आकण्ठ मदिरा पी और पास की चपक भर कर ले आया । वह मदिरा उसने शाम्बकुमार को पिलाई । कुमार उसके स्वाद पर मोहित हो गया । उसने सेवक से पूछा - "तू यह उत्तम मदिरा कहाँ से लाया ?" सेवक ने कादम्बरी गुफा के कुण्ड की बात कही । दूसरे दिन शाम्बकुमार अपने बहुत-से बन्धु-बान्धवो को ले कर कादम्बरी गुफा के निकट आये और सब ने जी भर कर मदिरा पी । मद में मत्त बने हुए यादव-कुमार खेलते-कूदते और विविध प्रकार

की क्रीडा करते हुए उस स्थान के समीप हो कर निकले जहाँ द्वैपायन ऋषि ध्यान कर रहे थे। द्वैपायन को देखते ही राजकुमारों के हृदय में रोष उत्पन्न हुआ। शाम्ब ने कहा - "यही दुष्ट देवपुरी के समान हमारी द्वारिका नगरी को नष्ट करने वाला है। इसे हम समाप्त ही कर दें। यह जीवित नहीं रहेगा तो जलावेगा कैसे?"

शाम्बकुमार के वचन सुनते ही सभी कुमार द्वैपायन को पीटने लगे। कोई लात घूँसे मारने लगा, तो कोई धौल-धप्पा और कोई पत्थर मारने लगा। द्वैपायन के साहस की सीमा समाप्त हो गई। उसे गम्भीर चोटें लगी थी। उसका जीवन टिकना असम्भव हो गया था। भवितव्यता भी वैसी ही थी। घायल बने हुए द्वैपायन ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर निदान किया - "मेरी साधना के बल से मैं निश्चय करता हूँ कि इन दुष्टों सहित सारी द्वारिका को जला कर राख का ढेर करने वाला बनूँ।"

कुमार-गोष्ठी ऋषि को अधमरा कर के चली गई। श्रीकृष्ण को कुमारों के कुकृत्य की जानकारी हुई, तो वे अत्यन्त चिन्तित हुए और बलदेवजी के साथ द्वैपायन के पास आ कर विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना करने लगे। द्वैपायन ने कहा -

"राजेन्द्र! मेरा निश्चय अटल है। किन्तु मैं इतना संशोधन करता हूँ कि मेरे कोप से तुम दोनों भ्राता जीवित बच सकोगे। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकूँगा।"

भवितव्यता को अमिट जान कर श्रीकृष्ण और बलदेवजी स्वस्थान लौटे। दूसरे दिन श्रीकृष्ण ने नगर में ढिंढोरा पिटवा कर घोषणा करवाई कि -

"द्वारिका का विनाश अवश्य होगा। इसलिए सभी नागरिकजन धर्म-साधना में तत्पर बनें।"

कुछ काल पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमिजी महाराज रैवताचल के उद्यान में पधारे। भगवान् के धर्मोपदेश से अनेक राजकुमार और रानियाँ आदि ने संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की। श्रीकृष्ण ने पूछा - "भगवन्! द्वारिका का विनाश कब होगा?" भगवान् ने कहा - "आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन का जीव द्वारिका का विनाश करेगा।"

द्वारिका उसकी समृद्धि और अपनी प्रभुता का विनाश जान कर श्रीकृष्ण अत्यन्त चिंतित एवं उदास हो गए, तब प्रभु ने उनके तीसरे भव में आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होने का भविष्य सुना कर उन्हें आश्वस्त किया। तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंहनाद किया ×। भगवान् ने श्री बलदेवजी के विषय में कहा - "ये संयम की साधना कर के ब्रह्म-देवलोक में ऋद्धिशाली देव होंगे और वहाँ से च्यव कर उस समय मनुष्य-भव प्राप्त करेंगे - जब तुम भी मनुष्य होओगे और तुम्हारे तीर्थंकर में हो ये संयम की साधना कर के मुक्ति प्राप्त करेंगे।

× पृ ५२० पर इसका विशेष उल्लेख है।

द्वारिका का विनाश

कुमारो द्वारा पडी हुई मार की असह्य पीडा से तडपता, चिल्लाता और उग्रतम वैर भावयुक्त मर कर द्वैपायन भवनपति की अग्निकुमार देव-निकाय में उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होने के बाद उसने उस पूर्वबद्ध वैर का स्मरण किया और तत्काल द्वारिका पर मँडराने लगा । उसने देखा कि द्वारिका नगरी धर्म-भावना में रगी हुई है और साधना-रत है । उपवास बेले-तेले आदि तपस्या हो रही है, धर्मस्थान सामायिक-पौषधादि साधना से उभर रहे हैं । आयम्बिल तप तो व्यापक रूप से हो रहे हैं । सारी द्वारिका धर्मपुरी बनी हुई हैं । उसने सोचा,- जब तक यहाँ धर्म की ज्योति जलती रहेगी, तब तक मेरा प्रकोप सफल नहीं हो सकेगा । मेरी शक्ति वहीं काम देती है, जहाँ धर्म-बल घट कर पाप-बल बढ जाता है । देखे कहाँ तक बचे रहेंगे मुझसे - मेरे शत्रु । कभी-न-कभी तो वह दिन आएगा ही सही । इस द्वारिका का विनाश मैं नहीं कर दूँ, तब तक मेरे हृदय में शान्ति नहीं हो सकती । मेरे हृदय में धधकती हुई प्रतिशोध की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती । मैं अपना वैर ले कर ही रहूँगा ।''

धर्म के प्रभाव से विपत्ति टलती रही । इस प्रकार ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए । जब अशुभ कर्मों का उदय होता है, तो मनुष्या की मनावृत्ति पलट जाती है और वैसे निमित्त भी मिल जाते हैं । जनता के मन में शिथिलता आई और तर्क उत्पन्न हुआ - ''अब द्वैपायन शक्तिशाली देव नहीं रहा । हमारी धर्म-साधना ने उसकी आसुरी शक्ति नष्ट कर दी । इन ग्यारह वर्षों की साधना से वह हताश हो कर चला गया है । अब भय एव आशका की कोई बात नहीं रही । अब हम निर्भय हो कर पूर्ववत् सुखोपभोग कर सकते हैं ।''

इस प्रकार की भावना न धर्म-साधना छुडवा दी और जनता भोगविलास मे गृद्ध हा गई । मद्य-पान, अभक्ष्य-भक्षण और स्वच्छन्द भोगविलास से द्वारिका पर छाई हुई धर्म-रक्षण की ढाल हट गई और द्वारिका अरक्षित हो गई । द्वैपायन एसे अवसर की ताक मे ही था । उसने यह भी नहीं सोचा कि मेरे अपराधी एव शत्रु तो कुछ राजकुमार ही थे, सारी द्वारिका नहीं और उन राजकुमारो मे से भी अनेक त्यागी बन कर चले गये हैं । उनका बदला मैं द्वारिका के नागरिका से कैसे लूँ ? उसके हृदय में तो द्वारिका का विनाश करने की धुन-एक लगन लगी हुई थी । उसने अपनी पूरी शक्ति प्रतिशोध लेने में लगा दी ।

अचानक ही द्वारिका पर विविध प्रकार के उत्पात हाने लगे । आकाश से उल्कापात (अगारा का गिरना) होने लगा, पृथ्वी कम्पायमान हुई । ग्रहों में से धूमकेतु से भी बढ कर धूम्र निकल कर व्याप्त होने लगा । अग्नि-वर्षा होने लगी, सूर्य-मण्डल में छिद्र दिखाई दन लगा, सूर्य-चन्द्र के अकस्मात ग्रहण होने लगे । भवनो में रही हुई लेप्यमय पुतलिये अट्टहास करने लगी, दवों के चित्र भृकुटी चढा कर हँसने लगे और नगरी में हिंसक पशु विचरने लगे । इस समय द्वैपायन देव अनय शाकिनी भूत और

येताल आदि के साथ नगरी में घूमता हुआ लोगों को काल के समान दिखाई देने लगा । भीत-चकित लोगों के सामने अनेक प्रकार के अनिष्ट-सूचक चिह्न एव अपशकुन प्रकट होने लगे जब पुण्य क्षीण होते हैं और अनिष्ट की लहर चलती है, तो सभी उत्तम वस्तुएँ नष्ट हो जाती है, अथवा अन्यत्र चला जाती है । हरि और हलधर के चक्र, हल आदि शस्त्र-रत्न भी नष्ट हो गए । देव-निर्मित द्वारिका देव-प्रकोप से जल कर नष्ट होने लगी । उसके रत्नों के कगूरे और स्वर्ण के गवाक्षादि राख के ढर होने लगे । मनुष्यो में हा-हाकार मच गया । सभी जल कर मरने लगे । सारी नगरी जीवित मनुष्यों और पशुओ की श्मशान भूमि यन गई । चारों ओर अग्नि की आकाश छुने वाली प्रचण्ड ज्वालाएँ ही दिखाई देने लगी । अपने प्राण बचाने के लिए यदि कोई भागने का प्रयत्न करता, तो यह क्रूर देव उसे वहीं स्तभित कर देता, इतना ही नहीं याहर रहे हुए को भीतर पहुँचा कर नष्ट करता । देव ने महा भयकर सवर्तक वायु की विकुर्वणा की और घासफूस और काष्ठ को उड़ा कर आग की लपटों में गिराने लगा और अग्नि को अधिकाधिक उग्र करने लगा ।

श्रीकृष्ण और यलदेवजी इस भयकर विनाश-लीला को देख रहे थे । पुरुषों स्त्रियो और यच्चा की करुण चित्कार एव हृदयद्रावक पुकार उनका हृदय मथित कर रही थी, परन्तु वे निरुपाय थे । उन्होने उधर से ध्यान हटा कर माता-पिता को यचाने का निश्चय किया । एक रथ में वसुदेवजी, माता देवकी और रोहिणी को यिठा कर रथ को चलाने लगे, किन्तु घोड़े पाँव भी नहीं उठा सक । क्रुद्ध देव ने उन्हें स्तभित कर दिया था । श्रीकृष्ण ने घोडे को खोल दिया और दोनों यन्धु रथ खींच कर चलने लगे । रथ को एक विशाल द्वार के निकट लाये कि द्वार अपने-आप यन्द हो गया । यलदेवजी ने द्वार के लात मारी, तो वह टूट कर गिर गया । दोनो भाई रथ खींच कर आगे यढ़ने लगे, तो द्वैपायन देव योला;-

"महानुभाव ! मैने आप को कहा था कि आप दोनों यन्धुओं के सिवाय और कोइ भी द्वारिका से जीवित नहीं निकल सकेगा । फिर आप व्यर्थ ही मोह में फँस कर इन्हें निकालने की चष्टा कर रहे हैं । आपको सोचना चाहिए कि मैंने अपने जीवनभर की तपस्या दाँव पर लगा दी थी । अय मैं अपने निदान को व्यर्थ नहीं जाने दूँगा ।"

द्वैपायन की यात सुन कर श्रीवसुदेवजी और दोनो रानियाँ बोली - "पुत्रो ! अय तुम हमें यहीं छोड दो और शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ । तुम जीते रहोगे, तो सारे यादव जीवित समझेगे । जहाँ तुम होगे यहीं द्वारिका होगी । हमारा मोह छोड दो । हमने भूल की जो उस समय भ० नेमिनाथजी के पास दीक्षित नहीं हुए । धन्य है वे भव्यात्माएँ, जिन्होंने प्रभु के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ससार की माया-जाल से मुक्त हुए । अय हम भी अठारह पाप का त्याग करते हैं और प्रभु का शरण ग्रहण करते हैं । "अरिहंता सरणं पवज्जामि सिद्धासरणं पवज्जामि........" व स्मरण करने लगे और उन पर द्वार गिर पड़ा । वे वहीं काल कर के देवगति में गये । हरि-हलधर नगरी के बाहर निकल कर, एक जीर्ण उद्यान में खड़े हो, द्वारिका का विनाश देखने लगे ।

हरि-हलधर पाण्डव-मथुरा की ओर

अमरापुरी के समान द्वारिका नगरी उसका वैभव और समस्त स्वजन-परिजन का सम्पूर्ण विनाश देख कर श्रीकृष्ण विचलित हो गए । उनसे यह सर्वस्व नाश देखा नहीं गया । भवितव्यता के आगे वे विवश रहे । उन्होने बलदेवजी से कहा,-

"बन्धुवर ! अब क्या करें ? किधर चलें ? इस अशुभ घडी में अपना कौन है ? जो आज तक हमारे सेवक रहे, वे इस अवस्था मे हमें आश्रय नहीं दे सकेगे । उनम शत्रुता का उदय होना स्वाभाविक है । फिर अपन कहाँ जावें ?"

"बन्धु । इस समय अपने आत्मीय हैं तो केवल पाण्डव ही । हमे उन्हीं के पास चलना चाहिये ।"

"नहीं, आर्य ! मैने उन्हे देश-निकाला दे कर दूर कर दिया था । भला, वे हमारे आश्रयदाता कैसे हो सकते हैं ? और अपन उनके पास कैसे जा सकते हैं ?"

"उन पर हमारे बहुत उपकार हुए हैं और वे सत्पुरुष हैं । सत्पुरुष तो अपकारी पर भी उपकार करते हैं । वे अपने पर हुए अपकार को नहीं देखते । हमारे द्वारा अनेक बार उपकृत हुए पाण्डव हमारा आदर-सत्कार ही करेंगे । हमें उन्हीं के पास पहुँचना चाहिये ।"

दोनों बन्धु पाण्डव-मथुरा के लिए नैऋत्य दिशा में चलने लगे ।

द्वारिका-दाह के समय बलदेवजी के पुत्र कुब्जवारक ने भगवान् का स्मरण कर प्रव्रजित होने की उत्कृष्ट भावना की । वह चरम-शरीरी था । निकट रहे जृंभक देव ने उसे उठा कर भगवान् नेमिनाथ के समीप रख दिया । उस समय भगवान्, पाण्डवो के राज्य मे विचर रहे थे । उसने भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण की । द्वारिका मे श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी थी । उन्होने अनशन किया और भगवान् का स्मरण करती हुई दिवगत हुई । छह महीने तक द्वारिका जलती रही ।

अन्तिम युद्ध में भी विजय

कृष्ण-बलदेव चलते-चलते-हस्तिकल्प नगर के निकट आये । कृष्ण को जोर से भूख लगी थी । उन्होने ज्येष्ठ-बन्धु बलदेव से कहा, तो बलदेवजी बोले-"तुम इस वृक्ष के नीचे बैठो । मैं नगर में जा कर भोजन लाता हूँ । सावधान रहना । यदि नगर में मुझ पर कुछ सकट आया तो मैं सिहनाद करूँगा । उसे सुन कर तुम मेरी सहायतार्थ चल आना ।" बलदेवजी नगर में पहुँचे । उन्हें देख कर लोग आश्चर्य करने लगे कि- "अहो । यह अनुपम देवपुरुष कौन है ?" किसी ने उन्ह पहिचान लिया और बोला - "अरे । य तो बलदेवजी है । द्वारिका-दाह से निकल कर इधर आये हैं ।" यह बात राजा तक गइ ।

युद्ध के विनाश से बचा हुआ धृतराष्ट्र का एकमात्र पुत्र अच्छदत वहाँ का राजा था । वह कृष्ण-बलदेव पर उग्र वैर रखता था । वह सेना ले कर बलदेवजी को मारने निकला ।

बलदेवजी ने अपनी अंगुली में से बहुमूल्य अंगूठी निकाल कर हलवाई को दी और विविध प्रकार का भोजन लिया । भोजन ले कर वे नगर के बाहर जा रहे थे कि सैनिकों ने नगर के द्वार बन्द कर दिये और उन पर धावा कर दिया । बलदेवजी ने भोजन सामग्री एक ओर रख दी और हाथी बाँधने का थंभा उखाड़ कर और सिंहनाद करते हुए शत्रुसेना का संहार करने लगे । सिंहनाद सुन कर कृष्ण भी तत्काल दौड़े आए और पाद-प्रहार से नगर का बन्द द्वार तोड़ कर नगर में घुसे और द्वार की अर्गला उठा कर शत्रुओं का संहार करने लगे । थोड़ी देर में अच्छदत राजा, हार कर बन्दी बन गया । श्रीकृष्ण ने कहा - "मूर्ख ! वैभव नष्ट हो गया तो क्या हमारा बल भी मारा गया ? क्या समझ कर तू ने धृष्टता की ? हम इस बार तुझे छोड़ते हैं । जा और न्याय-नीति से अपना राज्य चला ।"

दोनों बन्धु नगर के बाहर निकले और भोजन करके आगे चलने लगे ।

भाई के बाण से श्रीकृष्ण का अवसान

हस्तिकल्प से चलते हुए दोनों बन्धु कौशांबी वन में आये । शोक, थाक, श्रम और विपत्ति के कारण क्लांत बने हुए श्रीकृष्ण को तीव्र प्यास लगी । उन्होंने बलदेवजी से कहा - "मुझे प्यास लगी है और असह्य हो रही है । जी घबरा रहा है, तालु सूख रहा है और आगे चलने में असमर्थ हो रहा हूँ ।"

"तुम इस वृक्ष की छाया में बैठो । मैं पानी लेने जाता हूँ, शीघ्र ही लौटूंगा"- कह कर श्रीबलदेवजी चल दिये । उधर श्रीकृष्ण वृक्ष तले लेट गए और अपने एक खड़े पाँव के घुटने पर दूसरा पाँव रख दिया । उन्होंने पिताम्बर ओढ़ा हुआ था । भवितव्यता वश जराकुमार मृगया के उद्देश्य से उसी वन में भटक रहे थे । उन्होंने दूर से पिताम्बर ओढ़े श्रीकृष्ण को देखा तो मृग होने का भ्रम हो गया । ऊपर उठे हुए पाँव को उन्होंने मृग का मुँह समझा और पिताम्बर के रंग ने मृग होने का भ्रम उत्पन्न किया । उसने लक्ष्य बाँध कर बाण ठोक-मारा । वह बाण श्रीकृष्ण के पाँव में घुस गया । बाण लगते ही वे उठ गए और गरजे,- "यह कौन दुष्ट है, जिसने मुझ सोये हुए पर प्रहार किया ? ए नीतिहीन कायर ! जरा सामने तो आ । मैं भी देखूँ कि तू कौन है और किस वैर का बदला लिया है ? मैंने तो आज तक किसी निरस्त्र या असावधान पर प्रहार नहीं किया था । बोल तू कौन है ?"

मृगया के लिए झाड़ी में छुपा जराकुमार चौंका । वह बारह वर्ष से वन में भटक रहा था । उसके बाल बढ़ कर जटाजूट हो गए थे । दाढ़ी बढ़ी हुई थी । वस्त्र के स्थान पर व्याघ्रचर्म पहिना हुआ था । वह धनुष-बाण लिये हुए भटकता रहता था । वह वन के फल फूल और पशुओं का मांस भक्षण कर के जीवन बिता रहा था । उसने श्रीकृष्ण की बात सुन कर कहा—

"मैं हरिवंश रूपी समुद्र में, चन्द्रमा के समान प्रकाशित, दसवें दशार्ह श्रीवसुदेवजी का पुत्र और रानी श्री जरादेवी का आत्मज जराकुमार हूँ। मैं श्रीकृष्ण-बलदेव का बन्धु हूँ। भगवान् नेमिनाथजी की भविष्यवाणी से मेरे द्वारा बन्धु-वध होने की सम्भावना जान कर, मैं उसी दिन से वनवासी हुआ हूँ। आप कौन हैं?"

"अरे भाई! तू मेरे पास आ। शीघ्र आ। मैं तेरा अनुज कृष्ण हूँ, जिसके हित के लिए तू वनवासी हुआ है। हे बन्धु! तेरा बारह वर्ष का वनवास व्यर्थ गया। आ, आ, मेरे पास आ" - श्रीकृष्ण बोले।

भ्रात के वचन सुन कर जराकुमार उनके निकट आया और अपने भाई कृष्ण को देख कर मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा हटने पर विलाप करता हुआ बोला -

"अरे भाई! तुम्हारी यह दशा कैसे हुई? तुम एकाकी क्यों हो? क्या द्वारिका जल गई? यादवकुल का नाश हो गया? तुम्हारी यह दशा देख कर लगता है कि भगवन् नेमिनाथजी की भविष्यवाणी पूर्ण सफल हो गई है।"

कृष्ण ने द्वारिका-दाह आदि सभी वृत्तांत सुनाया तो जराकुमार रोता हुआ बोला,-

"भाई! तुम्हारी रक्षा के लिए ही मैंने वनवास लिया था, किन्तु मुझ बन्धु-घातक से तुम्हारी रक्षा नहीं हो सकी। मैं तुम्हारा हत्यारा बना। हे पृथ्वी! तू मुझे अपने में समा ले। भ्रातृ-हत्या कर के अब मैं संसार में जीवित रहना नहीं चाहता।"

कृष्ण ने कहा - "बन्धु! शोक एवं पश्चात्ताप क्यों करते हो? क्या भवितव्यता का उल्लंघन किसी से हो सकता है? तुम्हें किसी भी प्रकार जीवित रहना है। यादव-कुल में एक तुम ही जीवित रहे हो इसलिये वनवास त्याग कर गृहस्थ बनो। यह मेरी कौस्तुभमणि ले जाओ और पाण्डवों को दे कर सारा वृत्तांत सुना देना। वे तुम्हारी सहायता करेंगे। अब तुम शीघ्र ही उलटे पाँव लौट जाओ, बलदाऊ जल ले कर आने ही वाले हैं। यदि उन्होंने तुम्हें देख लिया तो जीवित नहीं छोड़ेंगे। जाओ हटो यहाँ से। मेरी ओर से सभी पाण्डवों और परिवार से क्षमा याचना करना।"

कृष्ण के अत्याग्रह ने जराकुमार को विवश कर दिया। वह उनके चरणों में से बाण खींच कर और कौस्तुभ-रत्न ले कर चल दिया।

जराकुमार के जाने के बाद कृष्ण अरिहंत सिद्ध भगवान् नेमिनाथ आदि को नमस्कार कर भूमि पर सो गए और उन त्यागियों का स्मरण करने लगे जिन्होंने राजसी भोग छोड़ कर प्रव्रज्या स्वीकार की। इस प्रकार धर्मभावना करते शरीर में तीव्रतम वेदना उठी और भावना में परिवर्तन आया। दुष्ट द्वैपायन पर उनके हृदय में रौद्र परिणाम आया - "यदि वह दुष्ट मेरे सामने आ जाय, तो मैं अभी भी उसको उसकी करणी का फल चखा दूँ। मेरे कोप से कोई नहीं बच सकता। मैंने जीवनभर किसी से हार नहीं खाई। वह नीच मेरी द्वारिका और सारे नगरवासियों को मेरे देखते नष्ट कर दे। ओ अधर्म!

आ मेरे सामने आ. आदि । रौद्रध्यान में देह त्याग कर वालुकाप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न हुए ।

श्रीकृष्ण ने कुमारपने १६ वर्ष, माडलिक राजापने ५६ वर्ष त्रिखण्ड के स्वामीपने ९२० वर्ष यों कुल एक हजार वर्ष का आयु भोगा ।

बलदेवजी का भ्रातृ-मोह

श्री बलदेवजी पानी लेने गये थे । बडी कठिनाई से उन्हें पानी मिला । उनक मन मे उदासी छाई हुई थी । वे कमल के पत्र-पुट में पानी ले कर लौटन लगे, ता उन्ह अपशुकन होने लगे । वे शका-कुशकायुक्त डगमगाते हुए पानी ले कर भाई के पास पहुँचे । उन्होंने देखा - कृष्ण सो रहे हैं । कुछ देर वे उनके जागने की प्रतीक्षा करते रहे । अन्त में उनका धीरज छूट गया । उन्होंने पुकारा- "बन्धु ! जागो । मैं पानी ले आया हू ।" दो-तीन बार पुकारने पर भी जब कृष्ण नहीं बोले तो उन्होंने उनका ओढा हुआ पिताम्बर खींचा । जब उन्होने भाई को सज्ञाशून्य और घायल देखा, तो हृदय में धक्का लगा। वे मूर्च्छित हो कर, कटी हुई लता के समान, भूमि पर गिर पडे । मूर्च्छा दूर होने पर वे दहाड़े - 'कौन है यह कापुरुष । जिसने सोये हुए मेरे वीर-बन्धु को बाण मार कर घायल किया । वह कोई नीतिमान् वीर-पुरुष नहीं हो सकता । वीर पुरुष असावधान सुप्त बालक और स्त्री पर प्रहार नहीं करता। यह पामर लुक-छिप कर वार करने वाला, नीतिविहीन, दुष्ट अब कहाँ जा कर लुप्त हो गया है। मेर सामने आवे, तो उमे इसी समय यमधाम पहुँचा दूँ ।"

बलदेवजी की सिह-गजना सुन कर वन क सिंह और व्याघ्र जैसे क्रूर एव हिंस्रपशु भी भयभीत हो कर भाग गये । सामान्य पशु-पक्षी दहल उठा और पर्वत भी कपायमान हो गए, परन्तु घातक का पता नहीं लग सका । वे वन मे शत्रु की खोज करते थक गये और अन्त म भाई के शव के निकट आ कर उन्हे आलिगन-बद्ध कर विलाप करने लग;-

"हे भ्राता ! तुम बोलत क्या नहीं ? बताओ वह कौन दुष्ट है जिसने तुम्हें बाण मार कर घायल किया ? मैं उसे जीवित नहीं रहन दूँगा ।"

ह बन्धु । क्या तुम मुझ से रुष्ट हो गये हो ? हाँ, मुझे पानी लाने में विलम्ब तो हुआ परन्तु मैंने जान-बूझ कर विलम्ब नहीं किया । तुम रुष्ट मत होओ । उठो और प्रसन्न हो जाओ ।"

- "हे वीर ! मैंने तुम्हें बालकपन में अपनी गोदी में उठा कर खिलाया । तुम छोटे होते हुए भी गुणा म मुझसे बहुत बड हो । अब रोष त्याग कर प्रसन्न हो जाओ ।"

"हे विश्वोत्तम पुरुष-श्रेष्ठ ! तुम तो उत्तम पुरुष हो । तुम मुझ कहते रहते थे कि - "दाऊ ! मैं आपक बिना रह नहीं सकता न आपसे कभी रुष्ट हो सकता हू और न कभी आपक वचन का उल्लघन करूँगा फिर आज मुझसे अबोला क्यो लिया ? रूठ कर क्यों सो रहे हो ? कहाँ गई तुम्हारी वह प्रीति ?"

"हे पुरुपोत्तम ! तुमने नीति का उल्लघन कभी नहीं किया, तो आज क्यो कर रहे हो ? यह सूर्यास्त का समय महापुरुषो के सोने का नहीं है । उठो, अब विलम्ब मत करो ।"

इस प्रकार प्रलाप करते बलदेवजी ने सारी रात व्यतीत कर दी । प्रात काल होने पर भी जब कृष्ण नहीं उठे, तो बलदेवजी ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठा कर कन्धे पर लाद लिया और वन में भटकने लगे । सुगन्धित पुष्प देख कर, उन पुष्पो से वे भाई का मस्तक और वक्ष स्थल आदि सजाते और फिर उठा कर चल देते । पर्वत नदी, तलहटी औग उबड़-खाबड भूमि पर, भाई को स्नेहपूर्वक कन्धे पर लाद कर वे भटकने लगे । इस प्रकार भटकते हुए कितना ही काल व्यतीत हो गया* ।

देव द्वारा मोह-भंग

वह सिद्धार्थ बन्धु, जो बलदेवजी का सारथि था और प्रव्रजित हो कर सयम साधना कर के देवगति पाई थी उसे अपने वचन का स्मरण हुआ ×। उसने अवधिज्ञान से बलदेव जी की यह दशा देखी, तो स्वर्ग से चल कर आया । उसने एक पत्थर का रथ बनाया और बलदेव के देखते पर्वत पर से रथ को उतारा । वह रथ विषम पर्वत पर से उतर कर समतल भूमि पर आते ही टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया । अब वह कृषक रूपी देव रथ को साँधने का प्रयत्न करने लगा । बलदेवजी ने निकट आ कर कहा –

"मूर्ख । विषम-पथ में नहीं टूट कर समभूमि पर टूटा हुआ तेरा पत्थर का रथ भी अब जुड सकता है क्या ? व्यर्थ का प्रयास क्यो कर रहा है ?"

"महानुभाव ! मैं मूर्ख कैसे हुआ ? यदि सैकडो युद्धों में अप्रतिहत रहे आपके बन्धु, बिना युद्ध के ही गत-प्राण हो सकते हैं और वे पुन जीवित भी हो सकते हैं, तो मेरा रथ यथापूर्व क्यो नहीं हो सकता" – देव ने कहा ।

"तू महामूर्ख है । कौन कहता है कि मेरा भाई मर गया ? ये तो प्रगाढ निद्रा में निमग्न हैं" – रोषपूर्वक कह कर बलदेवजी आगे बढ गए ।

देव आगे पहुँचा और माली का रूप बना कर पत्थर पर कमल का पौधा लगाने का प्रयत्न करने लगा । बलदेवजी ने देखा और बोले – "तुम्हारी समझ म इतना भी नहीं आता कि पत्थर पर भी कहीं कमल लगेगा ?"

"यदि मृत कृष्ण जीवित हो सकते हैं ता पत्थर पर भी कमल खिल सकते हैं" – देव न कहा ।

बलदेवजी ने आँखे चढा कर कहा – "तुम झूठे हो ।" वे आगे बढ गए । आगे चल कर देव एक वृक्ष के जले हुए ठूँठ को पानी से सिचने लगा ।

---

*त्रि श पु च. ने छह मास व्यतीत होना लिखा है ।

× पृष्ठ ५८७ ।

"ए गँवार ! कहीं शुष्क ठूंठ भी सिंचने से हरा-भरा हो सकता है" - बलदेवजी ने टोका ।

- "आपके मृत-बन्धु जीवित हो सकते हैं, तो यह जला हुआ ठूंठ भी हरा हो सकता है ।"

रोषपूर्वक दृष्टि से उसे देख कर बलदेवजी आगे बढ़े । देव, ग्वाले के रूप में आगे बढ़ कर एक मरी हुई गाय के मुँह में हरी घास भरने लगा और पानी डालने लगा । यह देख कर बलदेवजी बोले,-

"अरे ग्वाले ! ढोर चराते-चराते तेरी बुद्धि भी ढोर जैसी हो गई है ? अरे मरी हुई गाय भी कहीं घास खाती है, पानी पीती है ?'

- "महाराज ! यदि आपके मरे हुए बन्धु पुन जीवित हो सकते हैं, तो मरी गाय घास क्यों नहीं खा सकती है ?"

देव ने इस प्रकार के और भी प्रयत्न किये तब बलदेवजी के मन में विचार हुआ - "क्या ये सब लोग मूर्ख हैं, या मैं स्वय भ्रम में हूँ ? क्या सचमुच कृष्ण मुझे छोड़ कर चले गए और यह उनका निर्जीव शरीर ही है ?"

अवधिज्ञान से बलभद्रजी को चिन्तन करते देख कर देव प्रसन्न हुआ । उपयुक्त अवसर आ गया था । वह अपने देव रूप में प्रकट हो कर बोला--

"महाराज ! मैं आपका बन्धु एव सारथि सिद्धार्थ हूँ । आपने मुझ-से वचन लेने के बाद दीक्षा की अनुज्ञा दी थी । मैं भगवान् अरिष्टनेमि के पास सयम पाल कर देव हुआ और द्वारिका-दाह तथा आपकी यह दशा जान कर यहाँ आया हूँ । आप मोह त्याग कर विचार कीजिये । भगवान् नेमिनाथजी ने क्या कहा था ? द्वारिका-दाह और जराकुमार के निमित्त से कृष्ण के देहावसान की भविष्य-वाणी भूल गये आप ? कृष्ण ने जराकुमार को अपना कौस्तुभमणि दे कर पाण्डवों के पास भेजा और बाद में देह त्याग दिया । अब आप भ्रम छोड़ कर सावधान बनें ।"

"बन्धु सिद्धार्थ ! तुम मेरे हितैषी हो । तुमने मुझे मोह-नींद से जगाया । कहो अब मुझे क्या करना चाहिए ?"

"महाराज ! बन्धु के शव का सस्कार कर के भगवान् अरिष्टनेमिजी के समीप निग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार कर, जन्म-मरण की जड़ काटने का अन्तिम पुरुषार्थ कीजिये । एक-मात्र यही आपके लिये करणीय है ।"

बलदेवजी ने समुद्र-सिन्धु सगम के स्थान पर विरक्त भाव से बन्धु के शव का अग्निसंस्कार किया और मोक्ष-साधना की भावना करने लगे । बलदेवजी की भावना जान कर भगवान् अरिष्टनेमिजी ने एक चारणमुनि को बलदेवजी के निकट भेजा । बलदेवजी ने मुनिराज से प्रव्रज्या स्वीकार की । कुछ काल गुरु के साथ रह कर बाद में एकाकी साधना करने लगे । सिद्धार्थ देव उनका रक्षक बन कर रहा

।

बलदेवजी, सुथार और मृग का स्वर्गवास

तपस्वी मुनिराज श्री बलदेवजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर मे गये । वे पनघट की ओर हो कर जा रहे थे । पनिहारियो मे एक स्त्री अपने बालक को ले कर आई थी । उसकी दृष्टि मुनिराज पर पडी । उनके अतिशय रूप पर मोहित हो कर वह एक टक उन्हीं को देखती रही और उसके हाथ, काम करते रहे । उसे यह भी भान नहीं रहा कि वह घडे को छोड कर, अपने बालक के गले में रस्सी बाँध कर कुएँ में उतार रही है । बच्चे के चिल्लाने और निकट खडी दूसरी स्त्री के कहने पर वह सभली । मुनिराज ने जब यह देखा, तो सोचा कि तपस्या करते और बिना शरीर-परिष्कार करने पर भी मेरा रूप दूसरों को मोहित कर के अनर्थ करवा रहा है, तो मुझे अब नगर मे आना ही नहीं चाहिये और वन में ही रह कर काष्ठादि के लिये वन में आने वाले वनोपजीवी लोगो से पारणे के दिन निर्दोष भिक्षा लेनी चाहिये । वे लौट कर तुगिकगिरी पर आये और सयम-तप की आराधना करने लगे । वनजीवी लोगो ने एक तेजस्वी मुनिराज को ध्यान-मग्न देखा, तो चकित रह गए । उन्होने नगर म जा कर बात की और यह बात राजा तक पहुँची । राजा ने पता लगाया । उसे सन्देह हुआ कि मेरा राज्य लेने के लिये ही यह कठोर साधना और मन्त्र सिद्ध कर रहा है । इसे तत्काल मार डालना चाहिये, जिससे मेरा राज्य सुरक्षित रहे । राजा सेना ले कर मुनिराज को मारने के लिये पर्वत पर आया । सिद्धार्थ देव, मुनिराज का रक्षण कर रहा था । उसने राजा को सेना सहित आते देख कर वैक्रिय-शक्ति से विकराल एव भयकर रूप वाले अनेक सिह प्रकट किये और उनसे सेना पर आक्रमण करवाया । सेना भाग खडी हुई । उसके शस्त्र किसी काम मे नहीं आये । अन्त मे राजा ने मुनि को वन्दना की और लौट आया । मुनिराज शान्तिपूर्वक आराधना करने लग । उनक प्रभाव से वन के सिह-व्याघ्रादि प्राणी भी आकर्षित हुए और शान्ति से रहने लगे । कुछ पशुओ पर तो इतना प्रभाव हुआ कि वे भी धर्मभावना से युक्त हो कर शान्त जीवन व्यतीत करने लगे । कोई-कोई तो उपवासादि भी करने लगे और मुनिराज के समीप ही रहने लगे । इनमें एक मृग ऐसा था कि जिसे क्षयोपशम बढने पर जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वह सवेगयुक्त मुनिराज के निकट रह कर अपने योग्य साधना करने लगा । वह वन में काष्ठादि के लिये आये हुए लोगों मे फिरता और जहाँ आहार-पानी का योग होता वहाँ तपस्वी सन्त के आगे-आगे चलता हुआ ले जाता । इस प्रकार वह मुनिराज-श्री के आहार प्राप्ति म सहायक बनता ।

एक बार कुछ सुथार, रथ बनाने के लिए लकडी लेने वन में गये । लकडी काटते-काटते मध्यान्ह का समय हो गया, तब सभी ने भोजन करने का विचार किया । उधर मृग उन्हे देख कर तपस्वी महात्मा के पास आया और झुक-झुक कर प्रणाम करने लगा । महर्षि उसका आशय समझ गये और उसक पीछे चलने लगे । सुथारों के अग्रगण्य ने मृग के पीछे एक महात्मा को अपनी ओर आते हुए देखा तो हर्षित हो उठा और सोचने लगा कि 'इस अरण्य में कल्पवृक्ष के समान य महामुनि को

भाग्य से ही पधारे हैं । अहा ! मैं कितना भाग्यशाली हूँ । ये तपस्वी सन्त मेरे आहार में से कुछ ले लें, तो मैं पवित्र हो जाऊँ ।" वह भक्तिपूर्वक महात्मा के सम्मुख आया और वन्दना कर के आहार दान करने लगा । उसकी भावना बड़ी उत्तम थी । उस समय वह मृग भी निकट खड़ा विचारने लगा - "धन्य है ये तपस्वी महात्मा ! इनकी संगत से मेरा भी उद्धार हो गया । इन महात्मा के प्रभाव से ही मेरे हृदय में धर्म का उदय हुआ । धन्य है इस दाता को जिसका आहार तपस्वी महात्मा मासखमण के पारणे के काम में आया । हा ! मैं कितना दुर्भागी हूँ कि पशुपन के कारण महात्मा को आहार देने की भी योग्यता मुझ में नहीं है ।" महात्मा तो धर्मभावनायुक्त थे ही । उसी समय अधकटी हुई वृक्ष की डाली वायु के वेग से टूट कर गिरी । तपस्वीराज श्री बलदेवजी, वह सुथार और मृग, ये तीनों उसके नीचे दब कर आयु पूर्ण कर गये और तीनों ही 'ब्रह्म' नामक पाँचवें देवलोक के पद्मोत्तर विमान में देवपने उत्पन्न हुए। महात्मा बलदेवजी एक सौ वर्ष संयम पाल कर स्वर्गगामी हुए ।

स्वर्गस्थ होने के पश्चात् बलदेवजी ने अवधिज्ञान से अपने भ्राता को वालुका प्रभा में देखा तो वे स्नेहवश वहाँ पहुँचे और उनसे मिले । वे उन्हें अपने स्थान ले जाना चाहते थे परन्तु यह अशक्य बात थी । वे लौट गए ।

पाण्डवों की मुक्ति

श्रीकृष्ण के पास से चल कर जराकुमार पाण्डवों के पास आये और उन्हें कौस्तुभमणि दे कर द्वारिका-दाह से ले कर समस्त कथा सुनाई । सुन कर पाँचों भाई और द्रौपदी आदि शोक-मग्न हो गए। वे सहोदर-बन्धु के समान हार्दिक एवं राजकीय शोक मनाते रहे । कुछ दिन बाद महात्मा धर्मघोष अनगार अपने शिष्यवृंद के साथ वहाँ पधारे । उनके धर्मोपदेश से युधिष्ठिरादि पाँच पाण्डव विरक्त हुए। उन्होंने महारानी द्रौपदी से पूछ कर अपने पुत्र एवं द्रौपदी के आत्मज पाण्डुसेन कुमार का राज्याभिषेक× कर के आचार्य श्री धर्मघोषजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और द्रौपदी भी महासती श्री सुव्रताजी के पास दीक्षित हो गई । सती द्रौपदीजी ने ग्यारह अंगों का अभ्यास किया और विविध प्रकार का तप करती हुई बहुत वर्षों तक आराधना की । फिर अन्तिम आराधना स्वरूप एक मास के तप सहित संलेखना पूर्वक काल कर के ब्रह्मलोक में देवपने उत्पन्न हुई । वहाँ का दस सागर का आयु पूर्ण कर के वह द्रुपद देव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव प्राप्त करेगा और संयम पाल कर सिद्ध होगा ।

दीक्षित होने के बाद पाँचों पाण्डव मुनियों ने संयम-साधना के साथ चौदह पूर्व का अध्ययन किया और विविध प्रकार का तप करने लगे । एक बार पाण्डव-मुनियों ने सुना कि भगवान्

× ग्रंथकार ने जराकुमार का राज्य लेना लिखा है और पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने भी अपने 'जैनधर्म के मौलिक इतिहास' पृ. २३८ में ऐसा ही लिखा है । परन्तु ज्ञाता सूत्र अ. १६ में अपने पुत्र पाण्डुसेन का राज्य [illegible] है ।

अरिष्टनेमिजी सौराष्ट्र जनपद मे विचर रहे हैं, तो उन्होने आपस में विचार-विमर्श किया और गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर भगवान् की वन्दना करने के लिए सौराष्ट्र की ओर विहार कर दिया और मासखमण तप करते हुए विचरने लगे । ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे हस्तिकल्प नगर के बाहर सहस्राम्र वन उद्यान मे (जहाँ से उज्जयतगिरि बारह योजन दूर था) आ कर ठहरे । उनके मासखमण के पारणे का दिन था, इसलिये तपस्वी महामुनि युधिष्ठिरजी की आज्ञा ले कर चारो महात्मा, पारणे के लिये आहार लेने को नगर में आये और आहार-पानी लिया । इसके बाद उन्होने लोगो स सुना कि - "भगवान् अरिष्टनेमिजी, उज्जयतगिरि पर पाँच सौ छत्तीस* मुनियो के साथ सिद्धिगति को प्राप्त हुए ।" वे चारा मुनि, महात्मा युधिष्ठिरजी के पास आये और भगवान् अरिष्टनेमिजी के सिद्ध होने की बात कही, तब पाँचा मुनियों ने परस्पर विचार किया - "अब हमे यह लाया हुआ आहार एकान्त निर्दोष स्थान में परठ दना चाहिये और शत्रुजय पर्वत पर जा कर अन्तिम मथारा-सलेखना करनी चाहिए । उन्होने आहार परठ दिया और शत्रुजय पर्वत पर चढ कर सथारा कर लिया दो महीन का अनशन और बहुत वर्षों तक सयम पाल कर पाँचो मुनिराज मुक्त हो गए ।

भगवान् अरिष्टनेमिजी तीन सौ वर्ष कुमारवास में रहे और सात सौ वर्ष सयम पाल कर सिद्ध हुए। भगवान् के वरदत्त आदि १८ गणधर हुए । १८००० साधु, ४०००० साध्वियाँ ४०० चौदह पूर्वधर १५०० अवधिज्ञानी, १५०० वैक्रिय-लब्धिधारी, १५०० कवलज्ञानी, १००० मन पर्ययनानी, ८०० वाद-लब्धिधारक १६९००० श्रावक तथा ३३६००० श्राविकाएँ हुई ।

।। भ० अरिष्टनेमिजी का चरित्र पूर्ण हुआ ।।

✿ तीर्थंकर चरित्र भाग २ समाप्त ✿

* जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ २३८ में ५३५ मुनियों के साथ मुक्त होना लिखा है परन्तु ज्ञाता सूत्र में और त्रि. श पु. च म ५३६ का उल्लेख है ।

संघ के प्रकाशन

नाम	मूल्य
१ अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	१४-००
२ अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	अप्राप्य
३ अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग ३	अप्राप्य
४ अंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	अप्राप्य
५ अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	३५-००
६ अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
७ अनंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
८ अंतगडदसा सूत्र	१०-००
९ अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०
१० आचारांग सूत्र भाग १	२५-००
११ आचारांग सूत्र भाग २	२०-००
१२ आयारो	८-००
१३ आवश्यक सूत्र (सार्थ)	५-००
१४ उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	६-००
१५ उत्तराध्ययन सूत्र	३०-००
१६ उपासक दशांग सूत्र	१५-००
१७ उववाइय सुत्त	२०-००
१८ दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	३-००
१९ दशवैकालिक सूत्र	१०-००
२० णंदी सुत्तं	३-००
२१ नन्दी सूत्र	२०-००
२२ प्रश्नव्याकरण सूत्र	२५-००
२३-२९ भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
३०-३१ स्थानाङ्ग सूत्र भा० १-२	४०-००
३२ समवायांग सूत्र	२५-००
३३ सुखविपाक सूत्र	अप्राप्य
३४ सूयगडो	६-००
३५ सूयगडांग सूत्र भाग १	२०-००
३६ सूयगडांग सूत्र भाग २	२०-००
३७. मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३०-००
३८. मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
३९-४१ तीर्थंकरचरित्र भा० १ २ ३	१३५-००
४२ तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००
४३ सम्यक्त्व विमर्श	अप्राप्य
४४ आत्म साधना संग्रह	२०-००
४५ आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	१५-००
४६ नव तत्त्वों का स्वरूप	१३-००
४७ सामण्ण सड्ढिधम्मो	अप्राप्य
४८ अगार-धर्म	१०-००
४९-५१ समर्थ समाधान भाग १ २ ३	३७-००
५२ तत्त्व पृच्छा	५-००
५३ तेतली-पुत्र	३०-००
५४ शिविर व्याख्यान	१०-००
५५ जैन स्वाध्याय माला	१५-००
५६ स्वाध्याय सुधा	५-००
५७ आनुपूर्वी	१-००
५८ भक्तामर स्तोत्र	१-१०
५९ जैन स्तुति	६-००
६० मंगल प्रभातिका	१-२५
६१ सिद्ध स्तुति	३-००
६२ संसार तरणिका	५-००
६३ आलोचना पंचक	२-००
६४ विनयचन्द चौबीसी	१- ०
६५ भवनाशिनी भावना	२-००
६६ स्तवन तरंगिणी	५-००
६७ सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	४५-००
६८ सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००
६९ सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००
७० सामायिक सूत्र	१-००
७१ सार्थ सामायिक सूत्र	२-००
७२ प्रतिक्रमण सूत्र	२-००
७३ जैन सिद्धान्त परिचय	२-००
७४ जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	२-००
७५ जैन सिद्धान्त प्रथमा	२-००
७६ जैन सिद्धान्त कोविद	३-००
७७ जैन सिद्धान्त प्रवीण	४ ००
७८ १०२ बोल का बासठिया	०-५०
७९ तीर्थंकरों का लेखा	१-००
८० जीव-धड़ा	१-००
८१ लघु-दण्डक	१-००
८२ महा-दण्डक	१-००
८३ तेतीस-बोल	१-००
८४ गुणस्थान स्वरूप	१-००
८५ गति-आगति	१-००
८६ कर्म-प्रकृति	१-००
८७ समिति-गुप्ति	१-५०
८८ समकित के ६७ बोल	१-५०
८९ २५ बोल	२ ००
९० नव तत्त्व	६-००
९१ जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग १	८-००
९२ जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग २	७-००
९३ जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग ३	१०-००
९४ जैन सिद्धान्त थोक संग्रह संयुक्त	१०-००
९५. पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००
९६ पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	६-००
९७ पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	६-००
९८ Saarth Saamaayik Sootra	10-00